विश्व-इतिहास की झलक

दूसरा खण्ड

•

लेखक
जवाहरलाल नेहरू
अनुवादक
चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

•

१९८६



सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली



सातवीं बार १९८६

मूल्य : दोनों खण्डों का . साठ रुपये



मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स
नई दिल्ली

विषय-सूची

दूसरा खण्ड



मानचित्र-सूची



विश्व-इतिहास की झलक

दूसरा खण्ड

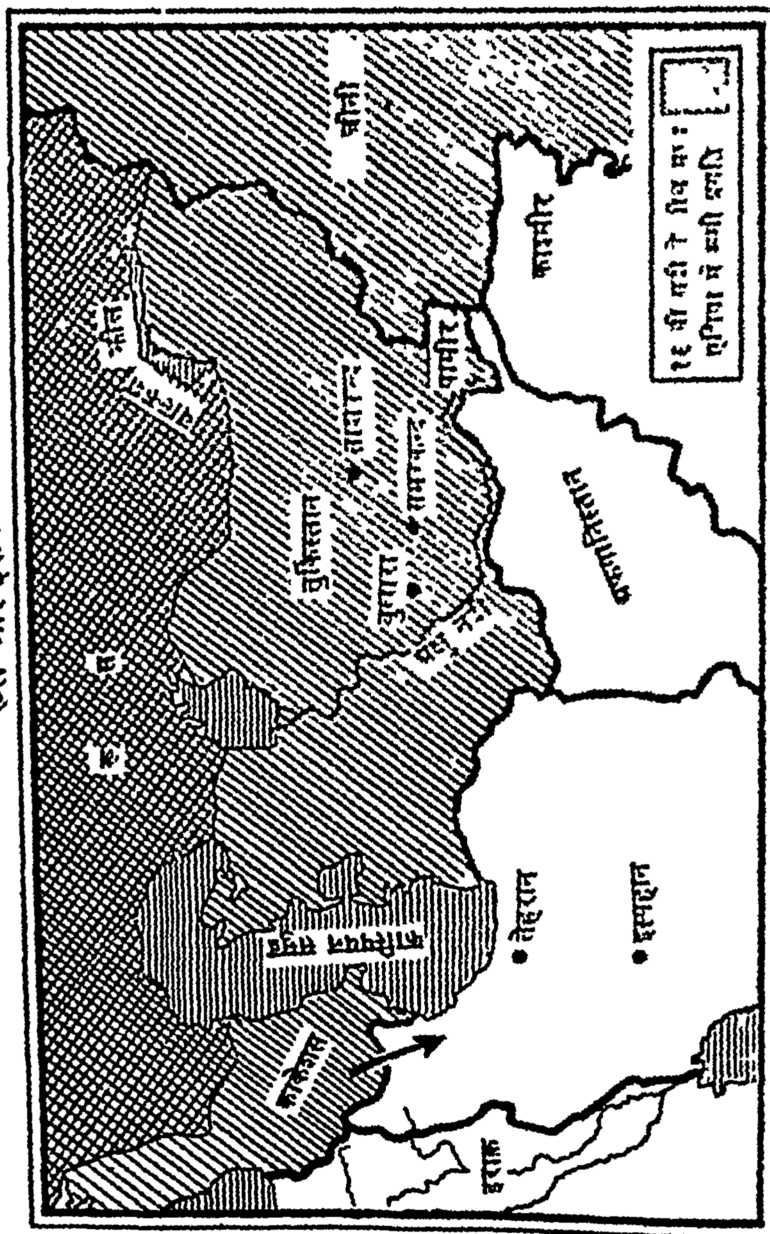
: १२५ :

ईरान में साम्राज्यशाही और राष्ट्रीयता

२१ जनवरी, १९३३

तुम्हे मुझसे शिकायत करने का हक है। इतिहास के बहुत-से दालानो मे कभी आगे और कभी पीछे दौडकर मैंने तुम्हें काफी नाराज कर दिया है। कई अलग-अलग रास्तो से उन्नीसवी सदी तक पहुँचकर मैं तुम्हे अचानक कई हज़ार वर्ष पीछे ले गया हूँ और मिस्र से भारत, चीन और ईरान मे कूदता-फाँदता रहा हूँ। इससे तुम्हारी झुँझलाहट और परेशानी ज़रूर बढी होगी और तुम्हारा जो विरोध मुझे सुनाई-सा दे रहा है, उसका मेरे पास कोई अच्छा जवाब नही है। मगर बात यह है कि रेनी ग्राउज़े की किताबो को पढकर मेरे दिमाग मे कई विचार-धाराएँ एकदम चक्कर काटने लगी, और उनमे से कुछ का परिचय तुम्हे कराये बिना मुझसे रहा न गया। मुझे यह भी लगा कि इन पत्रो मे मैंने ईरान को छोड दिया है, और मैं इस कमी को कुछ पूरी करना चाहता हूँ। अब, जब हम ईरान पर विचार कर रहे हैं, तो उसके इतिहास को आधुनिक काल तक क्यो न ले आयें?

मैंने तुम्हे ईरानी सस्कृति की पुरानी परम्पराओ व ऊँची सिद्धियो की, ईरानी कला के सुनहले-युग की और इसी तरह की दूसरी बातें बताई हैं। उन फिकरो पर फिर से गौर करने पर मालूम होता है कि भाषा कुछ लच्छेदार और ज़रा भ्रम मे डालनेवाली हो गई है। इससे कोई शायद यह सोच सकता है कि सचमुच ईरान के लोगो के लिए सुनहला-युग आ गया था, उनकी मुसीबतें दूर हो गई थी और उनका जीवन परियो की कहानियो के लोगो का-सा सुखी हो गया था। लेकिन दरअसल ऐसी कोई चीज नही हुई थी। जैसा कि बहुत हद तक आज भी है, उन दिनो कुछ मुट्ठीभर लोग सस्कृति और कला के ठेकेदार बने हुए थे। जनता का और मामूली आदमियो का उनसे कोई वास्ता नही था। वास्तव मे जनता का जीवन सदा से ही भोजन के लिए, और जीवन की दूसरी ज़रूरतो के लिए, बराबर लडता रहा है। आम लोगो के जीवन और पशुओ के जीवन मे ज्यादा फर्क नही रहा है। उन्हे और किसी बात के लिए वक्त या, फुर्सत ही नही थी। दिन-रात यही झंझट



रूस और ईरान

उनकी जान के लिए काफी था। ऐसी हालत मे वे कला और सस्कृति की क्या तो फिक्र करते और क्या कद्र ? ईरान, चीन, भारत, इटली और यूरोप के दूसरे देशो मे कला फूली-फली, लेकिन दरबारो और मालदार व निठल्ले वर्गों के मन-बहलाव की चीज़ की तरह। हाँ, मज़हबी कला का जनता पर कुछ असर पडा।

लेकिन किसी कला-प्रेमी राज-दरबार का यह मतलब नही था कि हुकूमत भी अच्छी थी। कला और साहित्य को पनाह देने का अभिमान करनेवाले शासक अक्सर नालायक और ज़ालिम शासक साबित होते थे। ईरान की समाज-व्यवस्था उस समय लगभग सभी देशो की समाज-व्यवस्था की तरह बहुत-कुछ सामन्ती ढग की थी। ज़ोरदार बादशाह अपने सामन्तो की छोटी-मोटी लूट-खसोटें बन्द करके लोकप्रिय बन जाते थे। किसी वक्त शासन कुछ अच्छा हो जाता था और किसी वक्त बिलकुल ही बुरा।

जब भारत मे मुगल राज आखिरी साँसें ले रहा था, ठीक उसी समय, यानी १७२५ ई० के आसपास, सफावी राजवश का अन्त हुआ। हस्ब मामूल, इस राजवश का भी खेल खत्म हो गया। सामन्त-प्रथा धीरे-धीरे टूट रही थी। देश मे आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे और पुरानी व्यवस्था को उलट रहे थे। टैक्सो के भारी बोझ ने और भी बुरी हालत कर दी थी और जनता मे असन्तोष फैल रहा था। अफगानो ने, जो उस समय सफावियो के अधीन थे, विद्रोह खडा कर दिया। वे न सिर्फ अपने ही देश मे सफल हुए, बल्कि उन्होंने इस्पहान पर कब्ज़ा करके शाह को भी गद्दी से उतार दिया। पर थोडे ही दिनो बाद ईरानी सरदार नादिरशाह ने अफग़ानों को निकाल दिया और खुद बादशाह बन बैठा। इसी नादिरशाह ने बोदे मुग़लो के आखिरी दिनो मे भारत पर हमला किया था, इसीने दिल्लीवालो का कत्ले-आम किया था और यही शाहजहाँ का तख्ते-ताऊस और बेशुमार दौलत लूटकर ले गया था।

अठारहवी सदी का ईरानी इतिहास गृह-युद्ध और बदलते हुए शासनो व बुरे शासनो का दुखभरा आलेख है।

उन्नीसवी सदी के साथ नई आफतें भी आईं। यूरोप की पाँव पसारती हुई व हमलावर साम्राज्यशाही की ईरान के साथ भी टक्कर शुरू हुई। उत्तर मे रूस का लगातार दबाव पड रहा था और दक्षिण मे ईरान की खाडी की ओर से अग्रेज़ बढ़े चले आ रहे थे। ईरान भारत से दूर न था। दोनो की सरहदें दिन-पर-दिन पास आती जा रही थी और आज तो सचमुच एक जगह पर दोनो की सरहदें मिली हुई हैं। ईरान भारत को जानेवाले सीधे खुश्की के रास्ते मे पडता था और भारत के समुद्री रास्ते से भी लगा हुआ था। अग्रेज़ो की सारी नीति का आधार यह था कि उनका भारतीय साम्राज्य और उसको जानेवाले सारे रास्ते खतरे से खाली रहे। वे किसी हालत मे यह बर्दाश्त करने को तैयार न थे कि उनका जबर्दस्त मुकाबलेदार

रूस रास्ता रोककर भारत पर घात लगाये बैठा रहे। इस कारण अंग्रेजो और रूसियो ने ईरान पर दांत लगा रक्खे थे और वे उस गरीब को तग करते थे। वहाँ के शाह बिल्कुल नालायक और बेवकूफ थे। वे या तो उनसे बेमौके भिडकर या अपनी ही प्रजा से लडकर सदा रूस और ब्रिटेन के हाथो मे खेलते रहते। अगर इन दोनो शक्तियो के बीच लाग-डाट न होती तो ईरान कभी का या तो पूरी तरह रूस मे चला गया होता या इग्लैण्ड के कब्जे मे, या दोनो मे मे कोई या तो उसे अपने राज्य मे मिला लेता या मिस्र की तरह उसे अपनी मातहती रियासत बना लेता।

बीसवी सदी के शुरू मे एक और वजह से भी ईरान लोभ-लालच की चीज बन गया। वहाँ पेट्रोल मिल गया जो बहुत कीमती चीज थी। बूढे शाह को राजी करके साठ वर्ष के लम्बे समय के लिए ईरान के तेल के इलाको से तेल निकालने का, डार्सी नामक इग्लैण्ड-निवासी को, बहुत रियायती शर्तों पर, १९०१ ई० मे ठेका दिलाया गया। कुछ साल बाद इस काम के लिए एग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी नाम से एक ब्रिटिश कम्पनी बन गई। तबसे यही कम्पनी वहाँ काम कर रही है और इसने तेल के व्यवसाय से जबर्दस्त मुनाफा कमाया है। मुनाफे का बहुत-थोडा-सा हिस्सा ईरानी सरकार को मिलता है, लेकिन उसका ज्यादा हिस्सा देश के बाहर कम्पनी के हिस्सेदारो की जेब मे ही जाता है, और सबसे बडे हिस्सेदारो मे ब्रिटिश सरकार भी एक है। ईरान की मौजूदा सरकार कट्टर राष्ट्रवादी है। उसे इस बात पर बडा ऐतराज है कि विदेशी लोग ईरान से नाजायज फायदा उठायें। उसने डार्सी के साथ किया हुआ १९०१ ई० का साठ वर्षवाला पुराना ठेका रद्द कर दिया, जिसके मातहत एग्लो-पर्शियन ऑयल कम्पनी काम कर रही थी। ब्रिटिश सरकार इसपर बडी झल्लाई और उसने ईरान की सरकार को डरा-धमकाकर दबाना चाहा। लेकिन वह भूल गई कि जमाना बदल गया है और अब एशियावालो पर रौब गाँठना उतना आसान नही है।

मगर मैं तो आगे के इतिहास की बातें करने लग गया। जब साम्राज्यशाही ईरान के लिए खतरा बनने लगी और शाह दिन-दिन उसका औजार बनने लगा तो इसके नतीजो से राष्ट्रीयता का विकास लाजिमी तौर पर होने लगा। एक राष्ट्रीय दल कायम हुआ। इस दल ने विदेशी दस्तन्दाजी पर नाराजी जाहिर की और शाह की निरकुशता का भी उतने ही जोर से विरोध किया। उन्होंने लोकतन्त्री सविधान और आधुनिक सुधारो की माँग की। देश मे बुरा शासन था और टैक्सो की भरमार थी। उधर रूसी और अग्रेज बराबर दखल दे रहे थे। सुधार-विरोधी शाह का जितना लगाव इन विदेशी सरकारो के साथ था, उतनी अपनी उस प्रजा के साथ नही था, जो आजादी के उपायो की माँग कर रही थी। लोकतन्त्री सविधान की यह माँग खासतौर पर नये मध्यम-वर्ग के

और पढे-लिखे लोग कर रहे थे। १९०४ ई० मे जारशाही रूस पर जापान की विजय का ईरानी राष्ट्रवादियो पर ज़बर्दस्त प्रभाव पडा और उनमे उत्तेजना फैल गई। इसके दो सबब थे। एक तो यह कि यूरोपीय शक्ति पर एक एशियाई शक्ति की विजय थी, दूसरे ज़ारशाही रूस ईरान के लिए एक हमलावर और दुःखदायी पडौसी था। १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति हालाँकि असफल रही और बेरहमी से कुचल दी गई, लेकिन उसने ईरानी राष्ट्रवादियो का जोश और कुछ कर गुज़रने का हौसला और भी बढा दिया। शाह पर इतने ज़ोर का दबाव पडा कि मर्ज़ी न होते हुए भी उसे १९०६ ई० मे लोकतन्त्री सविधान के लिए राज़ी होना पडा। 'मजलिस' नामक राष्ट्रीय विधानसभा कायम हुई और ऐसा दिखाई देने लगा कि ईरान की क्रान्ति सफल हो गई।

पर मुसीबत सामने खडी थी। शाह का अपने-आपको मिटाने का कोई इरादा नही था। और रूसी व अग्रेज़ ऐसे लोकतन्त्री ईरान को कभी पसन्द नही कर सकते थे, जो मज़बूत होकर उनके लिए सिर-दर्द बन जाय। शाह मे और मजलिस मे झगडा हुआ और शाह ने सचमुच अपनी ही पार्लमेण्ट पर बमबारी कर दी। मगर सेना के सिपाही और जनता मजलिस और राष्ट्रवादियो के साथ थे, और शाह को सिर्फ रूसी सिपाहियो ने ही बचाया। रूस और इग्लैण्ड दोनो किसी-न-किसी बहाने से, आमतौर पर अपनी प्रजा की रक्षा का बहाना बनाकर, अपने सिपाही लाकर बैठा देते थे। ईरानियो को डराने-धमकाने के लिए रूसियो के पास खूँख्वार कज्ज़ाक सिपाही और इग्लैण्ड के पास भारतीय सिपाही थे, हालाँकि हमारा उनसे कोई झगडा नही था।

ईरान बडी कठिनाइयो मे था। उसके पास रुपया नही था और लोगो की हालत खराब थी। मजलिस हालत को सुधारने की जी-तोड कोशिश करती थी, लेकिन उसकी ज़्यादातर कोशिशें रूसी या ब्रिटिश या दोनो के विरोध के सबब से बीच मे ही विफल कर दी जाती थी। आख़िरकार ईरानियो ने अमेरिका से मदद माँगी और एक काबिल अमेरिकी वित्त-विशेषज्ञ को अपनी वित्तीय व्यवस्था सुधारने के लिए मुकर्रर किया। इसका नाम मोर्गन शुस्टर था। इसने अपने काम मे भरसक कोशिश की, लेकिन इसे सदा रूसी या ब्रिटिश विरोध की ठोस दीवारो से टक्कर लेनी पडती थी। अन्त मे तग आकर और निराश होकर वह ईरान छोडकर घर चला गया। बाद मे शुस्टर ने एक किताब लिखी, जिसमे यह बतलाया कि रूसी और ब्रिटिश साम्राज्यशाहियाँ ईरान का खून किस तरह चूस रही हैं। इस किताब का नाम 'ईरान का गला घोटना' (The Strangling of Persia) खास मतलब रखता है और एक कहानी कहता है।

ऐसा मालूम होने लगा कि ईरानी राज्य की स्वाधीन हस्ती मिटनेवाली है।

इस दिशा मे रूस और इग्लैण्ड पहला कदम उठा ही चुके थे, क्योंकि उन्होंने ईरान को अपने-अपने 'प्रभाव क्षेत्रों' मे बांट लिया था। महत्व के केन्द्रों मे उनके सिपाही तैनात थे। एक ब्रिटिश कम्पनी उसके तेल-भण्डारो से खूब फायदा उठा रही थी। ईरान बहुत ही मुसीबत की हालत मे था। अगर कोई विदेशी शक्ति पूरी तरह कब्ज़ा कर लेती तो भी इससे अच्छी हालत होती, क्योंकि उसकी कुछ जिम्मेदारी तो होती। खैर, उसके बाद ही १९१४ ई० मे महायुद्ध छिड़ गया।

इस लडाई मे ईरान ने तटस्थ रहने की घोषणा की, मगर कमजोरो की घोषणाओ का बलवानो पर कुछ असर नही होता। ईरान की तटस्थ हैसियत की किसी भी पक्ष ने परवाह न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी सोचा-समझा करे, विदेशी फौजें आ-आकर उसकी ज़मीन पर आपस मे लड़ती रही। ईरान के चारो तरफ युद्ध मे लडनेवाले थे। एक तरफ इग्लैण्ड और रूस आपस मे दोस्त थे। दूसरी तरफ तुर्की, जिसके राज्य मे उस समय इराक और अरब शामिल थे, जर्मनी का साथी था। १९१८ ई० मे महायुद्ध खत्म हुआ और इसमे इग्लैण्ड, फ्रान्स और उनके साथियो की जीत हुई। उस वक्त सारे ईरान पर ब्रिटिश फौजो का कब्ज़ा था। इग्लैण्ड ईरान को अपनी मातहती रियासत ऐलान करने ही वाला था, जो कब्ज़ा करने का मुलायम रूप था और साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और भारत तक एक लम्बा-चौडा ब्रिटिश मध्य-पूर्वी साम्राज्य कायम करने के सपने भी देख रहा था। मगर ये सपने पूरे नही हुए। इग्लैण्ड की बदकिस्मती से रूस मे जारशाही का अन्त हो गया था और रूस सोवियत बन गया था। इग्लैण्ड की यह भी बदकिस्मती रही कि तुर्की मे उसकी चालें बेकार हुई और कमाल पाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रो की दाढो से छुडाकर निकाल लिया।

इन सब घटनाओ से ईरानी राष्ट्रवादियो को मदद मिली, और ईरान सिर्फ नाम के लिए, आज़ाद बना रहने में सफल हो गया। १९२१ ई० मे एक ईरानी सिपाही रिज़ाखाँ अचानक चालबाज़ी करके आगे आया। उसने फौजो पर कब्ज़ा कर लिया और फिर प्रधान-मन्त्री बन गया। १९२५ ई० मे शाह को गद्दी मे उतार दिया गया और सविधान-सभा की राय से रिज़ाखाँ नया शाह चुन लिया गया। उसने अपना नाम व खिताब रिज़ाशाह पहलवी रक्खा।

रिज़ाशाह बिना लडाई-झगडे के और ज़ाहिरा तौर पर लोकतन्त्री उपायो से गद्दी पर पहुँचा। मजलिस अब भी काम कर रही है और शाह निरकुश शासक होने की हिम्मत नही करता है। मगर यह साफ है कि वह एक ज़ोरदार आदमी है और ईरानी सरकार की बागडोर उसके हाथ मे है। पिछले वर्षों मे ईरान बहुत ज्यादा बदल गया है और रिज़ाशाह कई ऐसे सुधार करने पर तुला हुआ है, जिनसे देश नये साँचे मे ढल जाय। ज़ोरदार राष्ट्रीय चेतना फिर से जाग रही

है, जिसने देश में नई जान डाल दी है। जहाँ कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थों का ताल्लुक़ होता है, वहाँ यह राष्ट्रीय चेतना सरगर्म राष्ट्रीयता की शक्ल बना लेती है।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि यह राष्ट्रीय चेतना ईरान की दो हज़ार वर्ष की सच्ची परम्परा है। उसकी नज़र शुरू के दिनों की, इस्लाम से पहले की, ईरान की महानता पर लौट रही है और यह उसीसे प्रेरणा लेने की कोशिश कर रही है। रिज़ाशाह ने अपना जो 'पहलवी' नाम रक्खा है, वह भी पुराने ज़माने के एक राजवंश का नाम है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान हैं, मगर जहाँ उनके देश का सवाल है वहाँतक राष्ट्रीयता इस्लाम से भी ज्यादा ज़ोरदार बल है। एशियाभर में यही हो रहा है। यूरोप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले यानी उन्नीसवीं सदी में हुआ था। लेकिन आज तो वहाँ कई लोग राष्ट्रवाद को भी एक जूना विश्वास मानने लगे हैं और ऐसे नये मज़हबों व विश्वासों की तलाश में हैं, जो मौजूदा हालतों से ज्यादा मेल खाते हों।

ईरान को पहले फारस (पर्शिया) कहते थे, पर अब इसका सरकारी नाम ईरान कर दिया गया है। रिज़ाशाह ने आज्ञा निकाल दी है कि फारस नाम का अब इस्तेमाल नहीं किया जाय।

: १२६ :

क्रान्तियाँ, और खासकर यूरोप में १८४८ की क्रान्तियाँ

२८ जनवरी, १९३३
ईदुल-फित्र

अब हमें फिर यूरोप चलकर उन्नीसवीं सदी में वहाँ की पेचीदा और सदा बदलती रहनेवाली तसवीर पर एक नज़र और डालनी चाहिए। दो महीने पहले के कुछ पत्रों में हम भी इस सदी का सिंहावलोकन कर चुके हैं और मैंने इसकी कुछ खास-खास बातें भी बताई थीं। उस समय मैंने जिन 'वादों' का ज़िक्र किया था उन सबको याद रखने की तुमसे आशा नहीं की जा सकती। दुबारा गिनाया जाय तो उनमें से कुछ ये थे—उद्योगवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद। मैंने तुम्हें लोकतन्त्र और विज्ञान का, और माल व सवारी लाने ले-जाने के तरीकों में ज़बर्दस्त परिवर्तनों का, और सार्वजनिक शिक्षा व उसके नतीजों का और आजकल के अखबारों का हाल भी बताया था। उस समय की यूरोपीय सभ्यता इन चीज़ों से और ऐसी ही कई दूसरी चीज़ों से बनी थी। यह मध्यम-वर्गी सभ्यता थी, जिसमें पूंजीवादी प्रणाली के मातहत उद्योगों के साधनों पर नये मध्यम-वर्गों का कब्ज़ा था। मध्यम-वर्गी यूरोप की यह सभ्यता

सफलता पर सफलता हासिल करती चली गई, एक चोटी से दूसरी चोटी पर चढती गई; और सदी का अन्त होते-होते इसने अपनी जबर्दस्त ताकत का सिक्का सारी दुनिया पर जमा लिया था कि इतने ही मे आफत आ गई।

एशिया मे भी हम कुछ तफसील के साथ इस सभ्यता को काम करती हुई देख चुके हैं। अपने बढते हुए उद्योगवाद से हांके गये यूरोप ने दूर-दूर देशो मे अपने हाथ-पैर फैलाये, उन्हे हडपने, उनपर कब्जा जमाने और आमतौर पर उनमे दखल देने की कोशिश की और इन चीजो से फ़ायदा भी उठाया। यहाँ यूरोप से मेरा मतलब खास तौर पर पश्चिमी यूरोप से है, जिसने उद्योगवाद मे सबसे आगे कदम उठाया। और बहुत दिनो तक इन सब पश्चिमी देशो का माना हुआ अगुआ था इग्लैण्ड, जो औरो से बहुत आगे था और इस अगुवाई से खूब फायदा उठा रहा था।

इग्लैण्ड और दूसरे पश्चिमी देशो मे होनेवाले ये जबर्दस्त परिवर्तन सदी के शुरू मे बादशाहो और सम्राटो को दिखाई नही दिये। जो नई ताकतें पैदा हो रही थी, उनके महत्व को उन्होंने नही समझा। नेपोलियन को बिलकुल खत्म कर देने के बाद यूरोप के इन शासको को सिर्फ यही चिन्ता थी कि अपने-आपको और सदा के लिए अपनी जमात को कायम रक्खे और दुनिया मे निरकुशशाही पर कोई आँच न आने दें। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति और नेपोलियन का जबर्दस्त आतक अभी उनके दिलो से पूरी तरह नही निकला था और वे अब कोई जोखिम नही उठाना चाहते थे। मैं तुम्हे किसी पिछले पत्र मे बता चुका हूँ कि इन लोगो ने मिलकर 'पवित्र गठ-बन्धन' और इसी क़िस्म के गठ-बन्धन बना लिये थे कि 'बादशाह का दैवी अधिकार' बना रहे, वे मनमानी करते रहे और जनता को सिर न उठाने दिया जाय। इस काम के लिए, जैसा कि पहले भी अक्सर हो चुका था, निरकुशशाही और मजहब दोनो मिल बैठे। इन गठ-बन्धनो के पीछे कर्ता-धर्ता था रूस का जार अलक्सान्दर। उसके देश मे उद्योगवाद या नई रोशनी की हवा भी नही पहुँच पाई थी और रूस की हालत मध्यकालीन और बहुत पिछडी हुई थी। बडे-बडे शहर बहुत कम थे, व्यवसाय का विकास नही हुआ था और दस्तकारियाँ भी ऊँचे दर्जे की नहीं थी। निरंकुशशाही का बेरोक दौरदौरा था। दूसरे यूरोपीय देशो की हालतें इससे जुदा थी। ज्यो-ज्यो पश्चिम की तरफ बढते त्यो-त्यो मध्यम-वर्ग ज्यादा दिखाई देता था। जैसा मैं तुम्हें बता चुका हूँ, इग्लैण्ड मे निरकुशशाही नही थी। बादशाह पर पार्लमेण्ट का अकुश था, मगर खुद पार्लमेण्ट की बागडोर मुट्ठीभर धनवानो के हाथो मे थी। रूस के निरकुश शासक और इग्लैण्ड के इस धनवान शासकवर्ग मे बहुत बडा फर्क था। पर दोनो मे एक बात समान थी। दोनो जनता से और क्रान्ति से डरते थे।

इस तरह यूरोप-भर मे प्रगति-विरोध का बोलबाला था और जिस किसी चीज़ मे उदारता की ज़रा भी झलक दिखाई देती थी वही बेदर्दी से कुचल दी जाती थी। १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस के फ़ैसलो के अनुसार कई राष्ट्रीय इकाइयाँ मसलन इटली और पूर्वी यूरोप की, विदेशी शासन के अधीन रख दी गई थी। उन्हे ज़ोर-ज़बर्दस्ती से दबाये रखना पडता था। लेकिन इस तरह की बातें बहुत दिन तक नही चल सकती। आगे-पीछे झगडा होता ही है। यह ऐसी ही बात है जैसे उबलती हुई पतीली के ढक्कन को हाथ से दबाये रखने की कोशिश करना। यूरोप मे भी उबाल आ रहा था और बार-बार उसकी भाप बाहर फट निकलती थी। मैं किसी पिछले पत्र मे १८३० ई० के बलवो का ज़िक्र करते हुए बता चुका हूँ कि उस समय यूरोप मे कई परिवर्तन हुए और खास तौर पर फ्रान्स में तो बोर्बनो को हमेशा के लिए निकाल दिया गया। इन बलवो ने बादशाहो, सम्राटो और उनके मन्त्रियो के दिल और भी ज्यादा दहला दिये और उन्होने जनता पर दमन और अत्याचार करने मे और भी ज्यादा ज़ोर लगा दिया।

इन पत्रो के दौरान अक्सर हमारे सामने वे महान् परिवर्तन भी आये है, जो देशो मे युद्धो और क्रान्तियो के सबब से हुए हैं। पुराने ज़माने के युद्ध कभी तो मज़हबी युद्ध होते थे और कभी राजवशो के। अक्सर ये युद्ध राजनीतिक हमले होते थे, जो एक राष्ट्रीय इकाई दूसरी पर किया करती थी। इन सब कारणो के पीछे आमतौर पर कोई-न-कोई आर्थिक कारण भी होता था। मसलन मध्य-एशियाई कबीलो ने यूरोप और एशिया पर जितने हमले किये, उनमे से ज्यादातर हमलो की वजह यह थी कि भूख ने उन्हे पश्चिम की तरफ़ खदेड दिया था। आर्थिक उन्नति भी कौमो या राष्ट्रो को ताकतवर बना देती है और उनकी हैसियत दूसरो के ऊपर बना देती है। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि यूरोप मे और दूसरी जगह भी जिन्हे मज़हबी युद्ध कहा जाता था, उनकी तह मे भी आर्थिक कारण काम कर रहे थे। जैसे-जैसे हम आधुनिक काल की तरफ़ आते हैं वैसे-वैसे हम मज़हबी और राजवशो के युद्धो को बन्द होता हुआ पाते है। अलबत्ता युद्ध बन्द नही होते। दुःख की बात है कि वे ज्यादा हत्यारे हो जाते हैं। मगर अब इनके कारण साफ़-साफ़ राजनीतिक व आर्थिक हो जाते हैं। राजनीतिक कारणो का सम्बन्ध सबसे ज्यादा राष्ट्रीयता से होता है, या तो एक राष्ट्र के हाथो दूसरे राष्ट्र का दबाया जाना या दो सरगर्म राष्ट्रीयताओ की आपसी टक्कर। यह टक्कर भी ज्यादातर आर्थिक कारणों से होती है, मसलन जब आधुनिक उद्योगवादी देश कच्चे माल और बाज़ारो की माँग करते है। इस तरह हम देखते हैं, युद्ध मे आर्थिक कारणो का महत्व बढता जाता है और आज तो दर असल वे ही सबमे ज़ोरदार हैं।

क्रान्तियो मे भी पिछले दिनो इसी तरह के परिवर्तन हुए हैं। शुरू-शुरू

की क्रान्तियां राजमहलो की क्रान्तियां थी। राज-घरानो के लोग एक दूसरे के खिलाफ साज़िशें करते थे, लडते थे और एक दूसरे की हत्याएँ करते थे। या कोई तग आई हुई प्रजा भडक उठती थी और ज़ालिम शासक का काम तमाम कर डालती थी। या कोई हौसलेबाज़ सिपाही फौज की मदद से राजगद्दी पर क़ब्ज़ा जमा बैठता था। राजमहलो की इन बहुत-सी क्रान्तियो मे कुछ गिने-चुने लोग हिस्सा लेते थे, आम लोगो पर न तो इनका कोई ख़ास असर पडता था और न वे इनकी परवाह करते थे। शासक बदल जाते; मगर तरीका वही बना रहता और लोगो की ज़िन्दगी वैसी ही चलती रहती जैसे पहले चलती थी। हाँ, कोई बुरा शासक बहुत ज़ुल्म करता तो उसे बर्दाश्त नही किया जाता था और अच्छे शासक को लोग ज्यादा बर्दाश्त कर सकते थे। मगर शासक अच्छा हो या बुरा, कोरे राजनीतिक परिवर्तन से आमतौर पर जनता की समाजी व आर्थिक हालत मे फर्क नही पडता था। समाजी क्रान्ति नही होती थी।

राष्ट्रीय क्रान्तियो मे इससे ज्यादा बडे परिवर्तन होते हैं। जब किसी राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र की हुकूमत होती है तो विदेशी शासकवर्ग के हाथ मे सत्ता रहती है। इससे कई तरह के नुकसान होते हैं, क्योकि अधीन देश का शासन दूसरे के फायदे के लिए किया जाता है या ऐसे शासन से विदेशी-वर्ग फायदा उठाता है। अधीन लोगो के स्वाभिमान को इससे ज़बर्दस्त ठेस पहुँचती ही है। इसके अलावा विदेशी शासकवर्ग अधीन देश के ऊँचे वर्गों के लोगो को सत्ता और अधिकार के उन ओहदो से अलग रखता है जो उन्हे मिल सकते हैं। सफल राष्ट्रीय क्रान्ति कम-से-कम विदेशी तत्वो को तो हटा ही देती है और देश के प्रभावशाली तत्व फौरन उनकी जगह ले लेते हैं। इस तरह इन वर्गों को तो यह बडा फ़ायदा होता है कि ऊपरवाला विदेशी वर्ग हट जाता है, और देश को यह आम फायदा होता है कि उसका शासन दूसरे देश के हितो के लिए होना बन्द हो जाता है। हाँ, अगर राष्ट्रीय क्रान्ति के साथ-साथ समाजी क्रान्ति न हो तो देश के नीचे के वर्गों का कुछ ज्यादा फायदा नही होता।

समाजी क्रान्ति इन दूसरी क्रान्तियो से, जिनमे सिर्फ ऊपर-ऊपर की चीज़ो मे ही परिवर्तन होता है, बिलकुल ही अलग मामला है। समाजी क्रान्ति मे भी राजनीतिक क्रान्ति तो शामिल होती ही है, मगर यह राजनीतिक क्रान्ति से बहुत ज्यादा गहरी होती है, क्योकि इससे तो समाज की बनावट ही बदल जाती है। इग्लैण्ड की क्रान्ति, जिसने पार्लमेण्ट की सत्ता क़ायम कर दी थी, सिर्फ राजनीतिक क्रान्ति ही न थी, यह क्रान्ति एक हद तक समाजी भी थी, क्योकि इसने ऊँचे मध्यम-वर्ग को सत्ताधारियो के साथ ला बैठाया। इस तरह इस ऊँचे मध्यम-वर्ग का राजनीतिक व समाजी दर्जा बढ गया और नीचे के मध्यम-वर्ग व जनता पर

कोई खास असर नहीं पड़ा। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति और भी ज्यादा समाजी थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसने समाज की सारी व्यवस्था ही उलट दी और कुछ समय के लिए जनता के हाथ मे अधिकार आ गया। आखिरकार यहाँ भी मध्यम-वर्ग की ही जीत हुई। जनता क्रान्ति मे अपना हिस्सा अदा कर ही चुकी थी, अब उसे फिर अपनी पुरानी जगह पर भेज दिया गया। हाँ, खास अधिकारोवाले अमीर-सरदार सदा के लिए जाते रहे।

जाहिर है कि ऐसी समाजी क्रान्तियो के नतीजे कोरे राजनीतिक परिवर्तनो से बहुत ज्यादा गहरे होते हैं और उनका समाजी हालतो से नजदीकी सम्बन्ध होता है। किसी हौसलेबाज या मनचले आदमी या समुदाय का यह काम नही है कि वह समाजी क्रान्ति पैदा कर सके, जबतक कि हालतें ऐसी न हो जिनसे कि जनता उसके लिए तैयार हो। तैयार होने से मेरा मतलब यह नही है कि लोगो से पहले तैयार होने को कह दिया गया हो और वे इरादा करके तैयार हो। बल्कि मेरा मतलब यह है कि समाजी और आर्थिक हालतें ऐसी होती हैं कि लोगो के लिए जिन्दगी हद से ज्यादा भारी बोझ बन जाती है, और ऐसे परिवर्तन के सिवा उन्हें राहत की या ठीक ढग से बैठने की सूरत नजर नही आती। सच तो यह है कि युग-के-युग बीत गये, मगर अनगिनती लोगो का जीवन उनके लिए ऐसा ही बोझ बना हुआ है, और ताज्जुब तो यह है कि उन्होंने इसे अब तक बर्दाश्त कैसे किया। कभी-कभी तो उन्होंने विद्रोह कर दिये हैं, खासकर किसानो के विद्रोह हुए हैं, और गुस्से मे पागल होकर उन्होंने जो उनके हाथ पड गया, उसी को अन्धा-धुन्ध तहस-नहस कर दिया है। लेकिन समाजी व्यवस्था को बदल डालने का जानकर कोई इरादा इनमे नही था। पर इस बे-खबरी के होते हुए भी प्राचीन काल मे रोम मे, और मध्य-युगो मे यूरोप मे, भारत मे व चीन मे, बार-बार मौजूदा समाजी हालतें डाँवाडोल हुई हैं और उनकी वजह से कितने ही साम्राज्यों का पतन हुआ है।

पुराने जमाने मे समाजी व आर्थिक परिवर्तन धीरे-धीरे होते थे और लम्बे अर्से तक उत्पादन, वितरण और माल ढोने के तरीके लगभग वैसे-के-वैसे बने रहते थे। इसलिए लोगो को परिवर्तन की क्रिया का भान नहीं होता था और वे समझ लेते थे कि पुरानी समाज-व्यवस्था अमर और अटल है। मजहब ने इस व्यवस्था और उसके साथ लगे हुए रीति-रिवाजो और विश्वासो के चारो ओर दैवी प्रभा-मण्डल बना दिया था। लोगो का यह विश्वास इतना पक्का हो गया था कि जब हालतें बदलने से यह व्यवस्था साफ तौर पर जमाने से बेमेल हो गई तब भी उन्होंने इसे बदल डालने का कभी इरादा नहीं किया। औद्योगिक क्रान्ति के आने से और उसके सबब से माल ढोने के तरीको मे भारी परिवर्तन होने से, समाजी

परिवर्तन भी बहुत तेज़ी से होने लगे। नये वर्ग सामने आये और मालदार हो गये। औद्योगिक मज़दूरो का एक नया वर्ग पैदा हो गया, जो कारीगरो और खेतो पर काम करनेवाले मज़दूरो से बहुत जुदा था। इन सब बातो के लिए नई अर्थ-व्यवस्था और राजनीतिक परिवर्तनो की ज़रूरत हुई। पश्चिमी यूरोप की निगली ही बेढगी हालत थी। समझदार समाज, जब कभी परिवर्तनो की ज़रूरत होती है तब, ज़रूरी परिवर्तन कर लेता है और इस तरह बदलती हुई हालतो का पूरा फायदा उठा लेता है। मगर समाजो मे समझदारी नही होती और सारा समाज एक साथ मिलकर विचार नही करता। हरेक आदमी अपनी ही और अपने ही फायदे की बात सोचता है। एक-से स्वार्थ रखनेवाले वर्ग भी ऐसा ही करते हैं। अगर कोई वर्ग किसी समाज पर राज करता है तो वह वही बना रहना और अपने से नीचे वर्गों को चूसकर फायदा उठाते रहना चाहता है। अक्लमन्दी और दूरन्देशी तकाज़ा करती है कि अन्त मे अपना भला करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि जिस समाज के हम अग हैं, उस सारे समाज का भला किया जाय। मगर सत्ताधारी व्यक्ति या वर्ग तो जो कुछ उसे मिला हुआ है, उसीको पकडे रहना चाहता है। इसका सबसे आसान तरीका दूसरे वर्गों और लोगो को यह यकीन दिलाते रहना है कि समाज की मौजूदा व्यवस्था से अच्छी और कोई व्यवस्था हो ही नही सकती। लोगो के दिलो पर यकीन जमाने के लिए मज़हब को बीच मे घुसेड दिया जाता है, शिक्षा के ज़रिये भी यही पाठ पढाया जाता है। बात अचम्भे की है, मगर होता यहाँतक है कि अन्त मे लगभग सभी लोग इसमे पूरी तरह यक़ीन करने लगते हैं और व्यवस्था को बदलने का विचार ही नही करते। इस ढग से मुसीबत उठानेवाले लोग भी सचमुच यह समझ बैठते हैं कि इस व्यवस्था का बना रहना अच्छा है और उनके लिए ठोकरें व घूंसे खाना और भूखो मरना ही ठीक है, भले ही दूसरे लोग गुलछर्रे उडावें।

इस तरह लोग ख़याल कर लेते हैं कि समाज-व्यवस्था अटल है और अगर ज़्यादातर आदमियो को इसमे दुख भोगना पडता है तो उसमे किसीका कसूर नहीं है। कसूर खुद उनका है, या उनकी किस्मत ही ऐसी है या उनके पिछले पापो की सज़ा है। समाज हमेशा रूढिवादी होता है, और परिवर्तन पसन्द नही करता। एक बार जिस लीक मे पड जाता है, उसीपर चलते रहने मे उसे मज़ा आता है और उसे यह पक्का विश्वास होता है कि वह सदा उसी लकीर पर चलने को बना है। यहाँतक कि जो व्यक्ति उसकी हालत सुधारने के इरादे से उसे लीक छोडकर चलने को कहते हैं, वह ज़्यादातर उन्ही को सज़ा देता है।

लेकिन समाजी व आर्थिक हालतें उन लोगो की मर्ज़ी का इन्तज़ार नहीं करतीं, जो समाज के बारे मे कुछ नहीं सोचते या आराम से बैठे रहते हैं। वे आगे

बढी चली जाती हैं, भले ही लोगो के विचार जैसे-के-तैसे बने रहे। इन पुराने विचारो और असलियत के बीच का फासला बढ़ता रहता है, और अगर इस खाई को पाट कर दोनो को मिलाने का कुछ भी उपाय नही किया जाता है, तो ढाँचा तड़क जाता है और आफतो का पहाड टूट पडता है। असली समाजी क्रान्तियाँ इसी तरह से होती हैं। अगर हालतें ऐसी हो, तो क्रान्ति हुए बिना नहीं रह सकती। यह दूसरी बात है कि दकियानूसी विचार उसे पीछे की ओर खींचकर देर लगवा दें। अगर हालतें ऐसी नही हो तो कुछ व्यक्ति चाहे कितना ही ज़ोर लगायें, क्रान्ति नही पैदा कर सकते। जब क्रान्ति फूट ही पड़ती है तो फिर असली हालतो को लोगो की आँखो से छिपानेवाला पर्दा हट जाता है और वे बहुत जल्दी असलियत को समझ लेते हैं। एक बार लीक के बाहर निकलते ही वे सरपट दौडते हैं। यही वजह है कि क्रान्ति के समय मे लोग ज़बर्दस्त वेग से आगे बढते हैं। इस तरह क्रान्ति रूढिवाद और पीछे रुके रहने का अटल नतीजा होती है। अगर समाज इस बेवकूफी की भूल मे न फँसे कि कोई अटल समाज-व्यवस्था भी होती है, बल्कि हमेशा बदलती हुई हालतो के साथ-साथ चलता रहे, तो समाजी क्रान्ति होगी ही नही। फिर तो लगातार विकास होता चला जायगा।

पहले कोई इरादा बिना किये ही मैं क्रान्तियो के बारे मे ज़रा विस्तार से लिख गया हूँ। यह विषय मुझे पसन्द है, क्योकि आज दुनियाभर मे बेमेल बातें नज़र आ रही हैं और बहुत-सी जगहो मे समाजी ढाँचा टूटता दिखाई दे रहा है। पिछली समाजी क्रान्तियो का ऐलान इसी तरह हुआ है और इसीलिए सहज ही विश्वास होने लगता है कि हम भी दुनिया मे होनेवाले महान् परिवर्तनो के दरवाज़े पर खडे हैं। विदेशी राज के अधीन सारे देशो की तरह भारत मे भी राष्ट्रीयता और देश को विदेशी राज से छुडाने की इच्छा ज़ोर पकड रही है। मगर यह राष्ट्रीय उमग ज्यादातर आसूदा वर्गों मे ही है। यह लाज़िमी बात है कि किसान-वर्ग, मज़दूरो और दूसरे लोगो को, जो हमेशा तगी भुगतते रहते हैं, राष्ट्रीयता के इन धुंधले सपनो मे इतनी दिलचस्पी नही है, जितनी अपने खाली पेट भरने की चिन्ता मे। उनके लिए राष्ट्रीयता या स्वराज्य बे-मतलब है, अगर उसके साथ उन्हे ज्यादा खूराक न मिले और उनकी हालत सुधर न जाय। इसलिए आज भारत मे सवाल सिर्फ राजनीतिक नही है, इससे भी ज्यादा वह समाजी है।

क्रान्तियो के बारे मे मेरा यह असली विषय से भटक जाना इसलिए लम्बा हो गया कि जिस उन्नीसवी सदी पर मैं विचार कर रहा था, उसमे यूरोप मे कई विद्रोह व उपद्रव हुए हैं। इन विद्रोहो मे से कितने ही विद्रोह, खासकर इस सदी के शुरू मे होनेवाले, विदेशी हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रीय बलवे थे। इसके साथ-साथ

उद्योगों वाले देशों में समाजी विद्रोह के विचार नये मजदूर-वर्ग और उसके पूंजीशाही मालिकों के बीच झगड़ा फैलाने लगे। लोग समाजी क्रान्ति लाने के लिए समझ-बूझकर विचार करने लगे और कोशिश करने लगे।

१८४८ ई० का साल यूरोप में क्रान्तियों का साल कहलाता है। इस साल कितने ही देशों में बलवे हुए। उनमें से कुछ सफल हुए, लेकिन ज्यादातर विफल होकर खत्म हो गये। पोलैण्ड, इटली, बोहेमिया और हंगरी के बलवों की तह में दबाई हुई राष्ट्रीयता थी। पोलैण्ड का विद्रोह प्रशिया के खिलाफ था और बोहेमिया व उत्तर-इटली का आस्ट्रिया के खिलाफ। ये सब दबा दिये गए। इन विद्रोहों में आस्ट्रिया के खिलाफ हंगरी का विद्रोह सबसे बड़ा था। इसका नेता लोयोस कोशूथ था। वह हंगरी के इतिहास में एक देशभक्त और आजादी के लिए लड़नेवाला मशहूर है। दो वर्षों तक लोहा लेने के बावजूद यह विद्रोह भी दबा दिया गया। कुछ साल बाद हंगरी को सफलता मिली, मगर इस बार उसका लड़ाई का ढंग दूसरा था, और इस लड़ाई का नायक एक दूसरा बड़ा नेता देआक था। ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि देआक ने निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके अपनाये। १८६७ ई० में हंगरी और आस्ट्रिया ने बहुत-कुछ बराबरी के आधार पर मिलकर हैप्सबर्ग सम्राट् फ्रान्सिस जोजफ के अधीन 'दोहरी राजशाही' बनाई। पचास वर्ष बाद देआक के निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीकों की नकल आयर्लैण्डवालों ने अंग्रेजों के खिलाफ की। जब १९२० ई० में भारत में असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ तो कुछ लोगों को देआक की लड़ाई याद आई। लेकिन इन दोनों तरीकों में बहुत बड़ा फर्क था।

१८४८ ई० में जर्मनी में भी विद्रोह हुए, मगर वे बहुत गम्भीर नहीं थे। वे दबा दिए गए और कुछ सुधारों का वादा कर दिया गया। फ्रान्स में बड़ा परिवर्तन हुआ। १८३० ई० में जबसे बोर्बनों को निकाल दिया गया था, तभी से लुई फ़िलिप की बादशाहत थी। यह एक किस्म का आधा-सवैधानिक राजा था। १८४८ ई० तक लोग उससे ऊब गये और उसे गद्दी छोड़नी पड़ी। फिर गणराज्य कायम हुआ। यह दूसरा गणराज्य कहलाया, क्योंकि पहला तो बड़ी राज्य-क्रान्ति के दौरान कायम हुआ था। इस गड़बड़ से फायदा उठाकर नेपोलियन का एक भतीजा लुई बोनापार्ट पेरिस में आया और स्वतन्त्रता का बड़ा हामी बनकर गणराज्य का राष्ट्रपति चुन लिया गया। यह सत्ता हथियाने का सिर्फ ढोंग था। जब उसकी जड़ जम गई तो उसने फौज पर भी कब्जा कर लिया और १८५१ ई० में वह चाल खेली जो राजनीतिक चालबाजी कहलाती है। उसने अपने सिपाहियों के बल पर पेरिस पर आतंक जमाया, बहुत लोगों को गोलियों से उड़ा दिया और असेम्बली को डराकर दबा दिया। अगले साल वह सम्राट् बन बैठा और उसने

अपना नाम नेपोलियन तृतीय रख लिया, क्योकि महान् नेपोलियन का पुत्र नेपोलियन द्वितीय माना जाता था, हालाँकि उसने कभी राज नही किया। इस तरह चार वर्षों से कुछ ही ज्यादा समय की छोटी-सी और बदनाम ज़िन्दगी के बाद यह दूसरा गणराज्य खत्म हो गया।

इग्लैण्ड मे १८४८ ई० मे कोई विद्रोह तो नही हुआ, मगर झगडे और उपद्रव बहुत हुए। इग्लैण्ड का यह ढग है कि जब सचमुच मुसीबत सामने आ जाती है तो वह उसके समाने झुककर उससे बच जाता है। उसका सविधान लचीला होने की वजह से इसमे मदद करता है। बहुत दिनो के अभ्यास ने अग्रेज़ को ऐसा बना दिया है कि जब और कोई रास्ता न दिखाई दे तो वह कोई-न-कोई समझौता कर लेता है। इस तरीके से अग्रेज़ो ने किसी-न-किसी तरह ऐसे बडे-बडे और अचानक परिवर्तनो को टाल दिया है, जो ज्यादा सख्त सविधानो और कम समझौता-पसन्द लोगो के देशो मे हुए हैं। १८३२ ई० मे इग्लैण्ड मे एक सुधार-बिल को लेकर बडी भारी हलचल मची। इस बिल मे कुछ ज्यादा लोगो को पार्लमेण्ट के सदस्य चुनने का हक दिया गया था। आजकल के पैमाने से देखें तो यह बिल बहुत मुलायम था और कोई बुरा लगनेवाला नही था। मध्यम-वर्ग के कुछ ज्यादा लोगो को वोट का अधिकार दिया गया था। मज़दूरो व दूसरे ज्यादातर लोगो को अब भी वोट का हक नही था। मगर उन दिनो पार्लमेण्ट थोडे-से मालदार लोगो के हाथो मे थी। उन्हें अपने खास अधिकारो और 'सडे हुए चुनाव-क्षेत्रों' के छिन जाने का डर था, जिनसे वे पार्लमेण्ट की कॉमन्स-सभा मे बिना किसी दिक्कत के चुनकर आ जाते थे। इसलिए इन लोगो ने अपना सारा ज़ोर लगाकर सुधार-बिल का विरोध किया और कहा कि अगर यह बिल पास हो गया तो इग्लैण्ड बर्बाद हो जायगा और दुनिया डूब जायगी। इग्लैण्ड मे गृह-युद्ध छिडने ही वाला था कि सार्वजनिक आन्दोलन ने विरोधी दल के छक्के छुडा दिये और वे बिल को पास कराने के लिए राज़ी हो गये। कहना न होगा कि इग्लैण्ड बच गया और पार्लमेण्ट की बागडोर भी पहले ही की तरह मालदारो के हाथो मे बनी रही। आसूदा मध्यम-वर्गों के हाथ मे कुछ ज्यादा सत्ता आ गई।

१८४८ ई० के आसपास इग्लैण्ड को एक और बडी हलचल ने हिला डाला। यह 'अधिकारपत्री आन्दोलन'[1] कहलाया, क्योकि इसने कई तरह के सुधारो की माँग का 'जनता का अधिकार-पत्र'[2] एक भारी-भरकम अर्ज़ी के साथ पार्लमेण्ट मे पेश करने का इरादा किया था। शासकवर्गों के दिलो को खूब दहलाने के बाद यह आन्दोलन दबा दिया गया। कारखानो के मज़दूर-वर्गों मे बहुत मुसीबत

[1] Chartist Agitation.

[2] People's Charter

और बेचैनी थी। इसी समय मजदूरों के बारे में कुछ कानून बनने लगे और इनसे मजदूरों की हालत जरा सुधरी। इंग्लैण्ड अपने बढ़ते हुए व्यापार से खूब धन कमा रहा था। वह 'दुनिया का कारखाना-घर' बन रहा था। यह मुनाफा ज्यादातर तो कारखानों के मालिकों को मिलता था, पर मजदूरों तक भी उसकी कुछ बूँदें पहुँच जाती थी। इन सब कारणों से १८४८ ई० में बलवा होने से बच गया। मगर उस समय तो वह नजदीक दिखाई दे रहा था।

अभी मैंने १८४८ ई० का हाल पूरा नहीं किया है। उस साल रोम में जो हुआ, वह बताना अभी बाकी है। इसे दूसरे पत्र के लिए उठा रखना पड़ेगा।

: १२७ :

इटली संयुक्त और आजाद राष्ट्र बन जाता है

३० जनवरी, १९३३
वसन्त-पंचमी

१८४८ ई० के बयान में मैंने इटली की कहानी सबके बाद रखी है। इस वर्ष की थर्रानेवाली घटनाओं में सबसे ज्यादा आकर्षक रोम की लड़ाई थी।

नेपोलियन के समय से पहले इटली छोटे-छोटे राज्यों और छुटभैय्ये राजाओं की पैबन्दकारी-सा था। कुछ अर्से के लिए नेपोलियन ने उसे एक कर दिया था। नेपोलियन के बाद उसकी फिर पहले-जैसी या उससे भी बुरी हालत हो गई। विजयी मित्र-राष्ट्रों ने १८१५ ई० की वियेना-कांग्रेस में बड़ा लिहाज करके इस देश को आपस में बाँट लिया। आस्ट्रिया ने वेनिस और उसके चारों ओर का बड़ा-सा इलाका ले लिया। आस्ट्रिया के कई राजाओं को बढ़िया-बढ़िया हिस्से दे दिये गए। पोप ने आकर रोम और उसके आसपास के राज्यों में अपना राज बना लिया। नेपल्स और दक्षिण इटली को मिलाकर दोनों सिसलियों का एक राज्य एक बोर्बन राजा के मातहत कर दिया गया। फ्रान्स की सरहद के पास, उत्तर पश्चिम में, पीदमॉन्त और सार्डीनिया का बादशाह था। पीदमॉन्त को छोड़कर बाकी के इन सब छोटे-छोटे बादशाहों व राजाओं ने बड़ा निरंकुश राज किया और अपनी प्रजाओं को इतना सताया जितना कि नेपोलियन से पहले इन्होंने या और किसी ने नहीं सताया था। लेकिन नेपोलियन के हमले ने देश को हिला दिया था, नवयुवकों में आजाद और संयुक्त इटली की भावनाएँ भर दी थी। शासकों के अत्याचारों के बावजूद, या और शायद उनके सबब से, कई छोटे-मोटे बलवे हुए और गुप्त समितियों का जाल बिछ गया।

जल्द ही वहाँ एक सरगर्म नवयुवक आगे आया, जो आजादी के आन्दोलन

का नेता मान लिया गया। यह इटली की राष्ट्रीयता का पैगम्बर ग्वीसेप मैज़िनी था। १८३१ ई० मे उसने 'जिओवेन इतालिया' (नौजवान इटली) नामक समिति का सगठन किया, जिसका उद्देश्य इटालवी गणराज्य कायम करना था। उसने इस उद्देश्य के लिए वर्षों तक काम किया। उसे देश-निकाले मे भी रहना पडा और अक्सर अपनी जान जोखिम मे डालनी पडी। उसकी कई रचनाएँ राष्ट्रवादी साहित्य के रत्न बन गई हैं। १८४८ ई० मे जब उत्तरी इटली मे जगह-जगह विद्रोह की आग भडक रही थी, मैज़िनी को मौका मिल गया और वह रोम चला आया। पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियो की समिति के मातहत गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। इस समिति को पुराने रोमन इतिहास के एक शब्द के अनुसार 'त्रियमवीर' नाम दिया गया। इनमे एक मैज़िनी था। इस नये गणराज्य पर चारो तरफ से हमले होने लगे, आस्ट्रियावालो का, नेपल्सवालो का और यहाँतक कि फ्रान्सीसियो का भी, जो पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए आये। रोम गणराज्य की तरफ से लडनेवालो का सरदार गैरीबाल्दी था। उसने आस्ट्रियावालो को रोक रक्खा, नेपल्सवालो को हरा दिया और फ्रान्सीसियो को भी आगे न बढने दिया। यह सब, स्वयसेवको की मदद से किया गया और गणराज्य को बचाने के वास्ते रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवको ने अपनी जानें दी। पर अन्त मे बडी वीरता से लडने के बाद रोम गणराज्य फ्रान्सीसियो से हार गया, और उन लोगो ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह लडाई के पहले दौर का अन्त हुआ। प्रचार और अगले बडे मोर्चे की तैयारी के रूप मे मैज़िनी व गैरीबाल्दी अपना-अपना काम अलग-अलग तरीको से करते रहे। इन दोनो मे आपस मे बहुत फर्क था। एक विचारक और आदर्शवादी था, और दूसरा सिपाही था और छापा-मार युद्ध-कला का उस्ताद था। दोनो मे इटली की आज़ादी और एकता के लिए ज़बर्दस्त लगन थी। इसी समय इस बडे खेल मे एक तीसरा खिलाडी और आगे आया। यह पीदमॉन्त के राजा विक्टर इम्मैनुएल का प्रधानमन्त्री कावूर था। उसका खास इरादा विक्टर इम्मैनुएल को इटली का बादशाह बनाना था। चूंकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओ को दबाने और हटाने की जरूरत थी, इसलिए कावूर मैज़िनी और गैरीबाल्दी की हलचलो का फायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ्रान्सीसियो से मिलकर साज़िश की और उन्हें अपने दुश्मन आस्ट्रियावालो के साथ लडाई मे फँसा दिया। उस समय फ्रान्स का शासक नेपोलियन तृतीय था। यह १८५९ ई० की बात है। फ्रान्सीसियो के हाथो आस्ट्रियावालो की हार से गैरीबाल्दी ने फायदा उठाया और नेपल्स व सिसली के बादशाह पर अपने ही बल-बूते पर और अपनी ही कमान मे एक अनोखी चढाई कर दी। गैरीबाल्दी और उसके एक हज़ार

'लाल-कुर्तों' की यह मशहूर चढ़ाई थी। इन लोगों ने, जिन्हें न तो सैनिक ट्रेनिंग मिली थी और न जिनके पास ठीक हथियार और सामान थे, अपने सामने डटी हुई सीखी-सिखाई सेनाओं का मुकाबला किया। दुश्मन की सेना इन एक हजार लाल-कुर्तों से बहुत ज्यादा थी, लेकिन उनके जोश और जनता की हिमायत ने उन्हें विजय-पर-विजय हासिल करा दी। गैरीबाल्डी की कीर्ति चारों तरफ़ फैल गई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके नजदीक पहुँचते ही फौजें तितर-बितर हो जाती थीं। फिर भी गैरीबाल्डी का काम मुश्किल था और कितनी ही बार वह और उसके स्वयंसेवक पराजय और तबाही के किनारे पहुँच जाते थे। लेकिन पराजय की घड़ियों में भी नसीब उसका साथ देता था और पराजय को विजय में बदल देता था। जान झोंकने की हिम्मत करनेवालों का किस्मत अक्सर इसी तरह साथ देती है।

गैरीबाल्डी और उसके हजार साथी सिसली के तट पर उतरे। वहाँ से वे लड़ते-लड़ते धीरे-धीरे इटली तक जा पहुँचे। दक्षिण इटली के गाँवों में होकर कूच करता हुआ वह स्वयंसेवकों की माँग करता जाता था और उन्हें निराले ही इनाम देने की बात करता था। वह कहता था—"चले आओ! चले आओ! जो घर में घुसा रहता है, वह कायर है। मैं तुम्हें थकान, तकलीफ़ें और लड़ाइयाँ देने का वादा करता हूँ। लेकिन हम या तो जीतेंगे या मर मिटेंगे।" दुनिया सफलता की कद्र करती है। गैरीबाल्डी की शुरू की सफलताओं ने इटली के लोगों की राष्ट्रीय भावना को ऐसा उभारा कि स्वयंसेवकों का तांता बँध गया और वे गैरीबाल्डी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ बढ़े। उस गीत का आशय यह है :

उघड़ गई हैं क़ब्रें, मुर्दे दूर-दूर से आते उठकर।
ले तलवारें हाथों में, औ' कीर्ति ध्वजों के साथ,
युद्ध के लिए खड़े हो रहे प्रेतगण, अमर शहीदों के अपने,
जिनके मृत हृदयों में गर्मी, इटली का नाम रहा है भर।
आओ, दो उनका साथ, देश के नवयुवको!
तुम चलो उन्हींके पीछे!
आओ, फहरा दो झण्डा अपना औ' बाजे बंसी सब साजो!
आ जाओ, सब लेकर ठण्डी फौलादी तलवारें, लेकिन हो आग हृदय में भरी हुई, आ जाओ सब लेकर इटली की आशाओं की ज्योति अरे!
इटली से बाहर हो, ओ परदेशी,
तू बाहर निकल हमारे प्यारे वतन इटाली से!

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने समान होते हैं।

कावूर ने गैरीबाल्डी की सफलताओं से फायदा उठाया। और इस सबका

नतीजा यह हुआ कि १८६१ ई० मे पीदमॉन्त का विक्टर इम्मैनुएल इटली का बादशाह हो गया। रोम पर अभी तक फ्रान्सीसी सिपाहियो का कब्ज़ा था और वेनिस पर आस्ट्रियावालो का। दस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाकी इटली मे मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आखिर इटली एक सयुक्त राष्ट्र हो गया। लेकिन मैज़िनी को इससे खुशी नही हुई। उसने सारी उम्र गणराज्य के आदर्श के लिए जान लडाई थी और अब इटली सिर्फ पीदमॉन्त के विक्टर इम्मैनुएल की रियासत बन गया। यह सही है कि नया राज्य संविधानी राज्य था, और विक्टर इम्मैनुएल के राजा बनते ही फौरन त्यूरिन मे इटली की पार्लमेण्ट की बैठक हुई।

इस तरह इटली का राष्ट्र फिर से विदेशी राज से आजाद हो गया। यह तीन आदमियो की—मैज़िनी, गैरीबाल्दी और कावूर की करामात थी। इन तीनो मे से एक भी न होता तो शायद इस आज़ादी को आने मे बहुत देर लगती। कई वर्ष बाद अंग्रेज़ कवि और उपन्यासकार जॉर्ज मेरिडिथ ने इस पर एक कविता लिखी थी, जिसका आशय यह है:

हमने इटॅलिया को घोर पीडा मे देखा है,
वह उठने भी न पाई थी कि उसे
फिर ज़मीन पर फेंक दिया गया,
और आज जब वह गेहूँ के पके हुए खेत की तरह,
जहाँ कभी हल चलते थे,
वरदानमयी तथा सुन्दर है,
तब हमे उनकी याद आती है,
जिन्होंने उसके ढाँचे मे जीवन की साँस फूंकी.
कावूर, मैज़िनी, गैरीबाल्दी: तीनो:
एक उसका मस्तिष्क, एक आत्मा, एक तलवार;
जिन्होंने एक प्रकाशमान उद्देश्य को लेकर
विनाशकारी आन्तरिक कलह से
उसका उद्धार किया।

मैंने तुम्हे थोडे-से शब्दो मे और मोटी-मोटी बातो को उभारकर इटली की आज़ादी की लडाई की कहानी सुना दी है। यह छोटा-सा बयान तुम्हे मुर्दा इतिहास के किसी भी दूसरे टुकडे की तरह लगेगा। मगर मैं तुम्हे बताता हूँ कि तुम इस कहानी को जानदार कैसे बना सकती हो, और अपने दिल को इस लडाई की खुशी और तडप से कैसे भर सकती हो। कम-से-कम मुझे तो बहुत समय पहले जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था, ऐसा ही महसूस हुआ था,। मैंने यह कहानी ट्रेविलियन

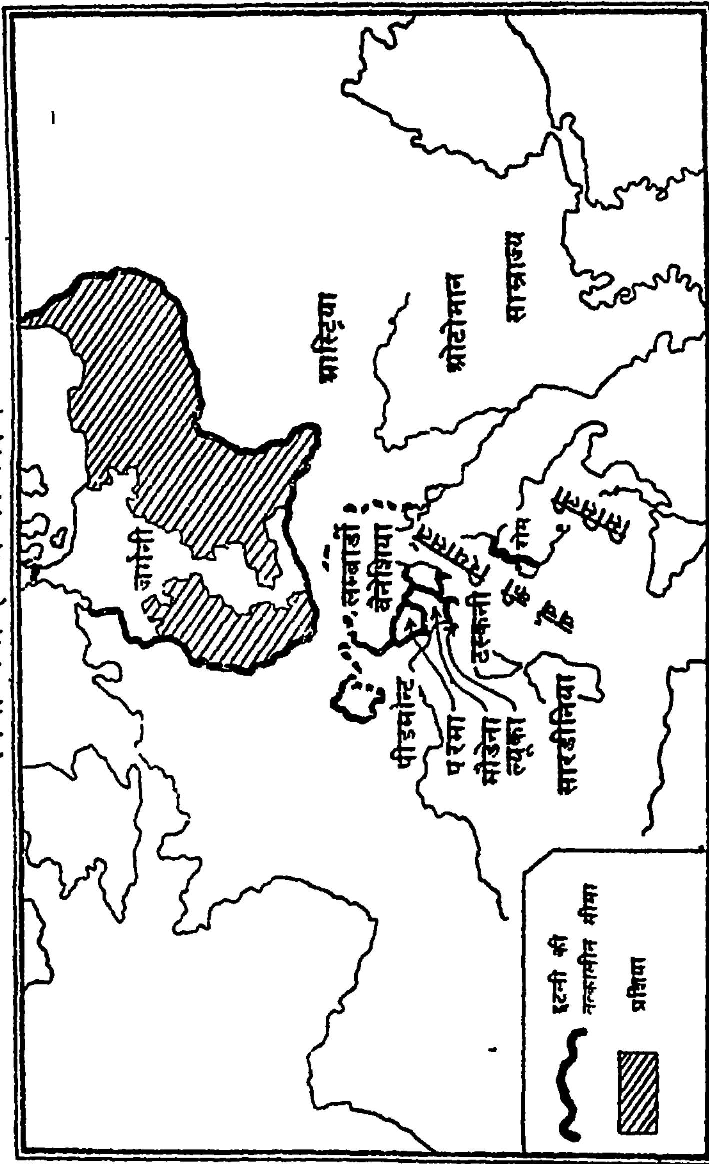
की तीन पुस्तकों में पढ़ी थी। वे थी, 'गैरीबाल्डी और रोमन गणराज्य के लिए युद्ध',[१] 'गैरीबाल्डी और उसके हजार सिपाही',[२] 'गैरीबाल्डी और इटली का निर्माण'।[३]

इटली की आजादी की लड़ाई के दिनों में अंग्रेज जनता की सहानुभूति गैरीबाल्डी और उसके लाल कुर्तों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज कवियों ने इस लड़ाई पर जोशीली कविताएँ लिखी थी। यह अजीब बात है कि जहाँ अंग्रेजों का स्वार्थ आड़े नहीं आता वहाँ उनकी सहानुभूति अक्सर आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के साथ किस तरह हो जाती है! यूनान आजादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन को और दूसरे लोगों को भेज देते हैं। इटली को वे अपनी सारी शुभ-कामनाएँ भेजते हैं और उसे हिम्मत दिलाते हैं। मगर अपने पड़ौसी आयर्लैण्ड या दूर के मिस्र और भारत या दूसरे देशों में उनके दूत मशीनगनें और तबाही ले जाते हैं। उस समय इटली के बारे में स्विनबर्न, मेरेडिथ और एलिज़ाबेथ बैरेट ब्राउनिंग ने बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी थीं। मेरिडिथ ने तो इस विषय पर उपन्यास भी लिखे थे। मैं यहाँ स्विनबर्न की एक कविता का आशय देता हूँ, जो 'रोम के सामने पड़ाव'[४] के नाम से मशहूर है। यह उस समय लिखी गई थी जबकि इटली की लड़ाई जारी थी, और उसमें बहुत रुकावटें सामने आ रही थी, और उसके कई देशद्रोही विदेशी मालिकों का काम कर रहे थे।

तुम क्रीतदास जिस स्वामी के, वह ही देगा उपहार तुम्हें,
उपहार भला क्या दे सकती है स्वतन्त्रता की देवि तुम्हें;
वह आश्रयहीना स्वतन्त्रता, आवास नहीं जिसका कोई,
वह बिना रुकावट सीमा के, प्रेरित करती जिन सेनाओं को,
बढ़ने को आगे नित ही।
वे सेनाएँ खोकर निज आँखों की निद्रा,
भूखो मरती, औ' खून बहाती चलती हैं,
निज प्राणों से आज़ादी के बोती जाती हैं बीज, तथा
बढ़ती जाती हैं, यह इच्छा लेकर—
उनकी मिट्टी से फिर निर्माण राष्ट्र का हो जाये,
औ' आत्माएँ उनकी करदें ज्योतित उसके ही तारे को।

---

[१] Garibaldi and the Fight for the Roman Republic
[२] Garibaldi and the Thousand
[३] Garibaldi and the Making of Italy.
[४] The Halt Before Rome



जर्मनी तथा इटली का उत्कर्ष

: १२८ :

जर्मनी का उत्थान

३१ जनवरी, १९३३

पिछले पत्र मे हम यूरोप के एक बड़े राष्ट्र का निर्माण देख चुके है, जिसे आज हम इतनी अच्छी तरह जानते हैं। अब हमे एक और आधुनिक बड़े राष्ट्र जर्मनी का निर्माण देखना है।

एक भाषा और दूसरे कितने ही एक-से लक्षण होते हुए भी जर्मन क़ौम बहुत-सी छोटी-बडी रियासतो मे बॅटी हुई थी। कई सदियों तक हैप्सबुर्गों का आस्ट्रिया सबसे बडी जर्मन-शक्ति था। बाद मे प्रशिया आगे आया और इन दोनों शक्तियो के बीच जर्मन कौम की नेतागिरी के लिए बड़ी लाग-डॉट रही। नेपोलियन ने इन दोनो को नीचा दिखाया। इसके सबब से जर्मन राष्ट्रीयता ज़ोरदार हो गई और वही नेपोलियन की आखिरी पराजय मे सहायक हुई। इस तरह इटली और जर्मनी दोनो मे नेपोलियन ने, अनजान मे और बिना चाहे, राष्ट्रीय भावना और आजादी के विचारो को उत्तेजना दी। नेपोलियन के ज़माने के जर्मन राष्ट्रवादी नेताओ मे एक फिक्टे था, जो दार्शनिक भी था और लगनवाला देशभक्त भी। उसने अपने देशवासियों को जगाने का बहुत काम किया था।

नेपोलियन के पचास वर्ष बाद तक जर्मनी की छोटी-छोटी रियासते बनी रही। उनका सघ बनाने की कई बार कोशिशें हुईं, मगर वे असफल हुईं, क्योंकि आस्ट्रिया और प्रशिया दोनों के शासक और सरकारें सघ के मुखिया बनना चाहते थे। इस बीच मे सभी उदार विचारो का खूब दमन हुआ। १८३० ई० और १८४८ ई० मे विद्रोह हुए। मगर वे दबा दिये गए। जनता का मुंह बन्द करने के लिए कुछ छोटे-छोटे सुधार जारी किये गए।

इग्लैण्ड की तरह जर्मनी के कुछ हिस्सो मे कोयले और कच्चे लोहे की खानें थी। इससे वहाँ की हालत उद्योगो के विकास के लिए अनुकूल थी। जर्मनी भी अपने दार्शनिको, वैज्ञानिको और सिपाहियो के लिए मशहूर था। वहाँ कारखाने खड़े हो गये और औद्योगिक मज़दूरो का एक वर्ग पैदा हो गया।

इस स्थिति मे, उन्नीसवी सदी के बीच के लगभग, प्रशिया मे एक व्यक्ति उठा, जो आगे चलकर बहुत दिनो तक न सिर्फ जर्मनी पर बल्कि यूरोप की राजनीति पर हावी होनेवाला था। यह व्यक्ति प्रशिया का एक ज़मीदार था और इसका नाम ओटोवान बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लडाई के साल[1] मे पैदा

---

[1] सन् १८१५ ई०।

हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारो मे कई वर्ष राजनयिक राजदूत का काम किया था। १८६२ ई० मे वह प्रशिया का प्रधानमन्त्री बना और फौरन ही उसने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। प्रधानमन्त्री बनने के एक हफ्ते के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान मे कहा—"इस ज़माने की बड़ी समस्याएँ भाषणो और बहुमत के प्रस्तावो से नही बल्कि लोहे और खून से हल होगी।"

लोहा और खून! ये शब्द, जो मशहूर हो गये, सचमुच उसकी उस नीति को दर्शाते थे, जिसे उसने दूरन्देशी और सख्ती के साथ निभाया। उसे लोकतन्त्र से नफरत थी और वह पार्लमेण्टो और लोकप्रिय विधान-सभाओ को हिकारत की नजर से देखता था। वह पुराने ज़माने की एक निशानी मालूम होता था, मगर इतना काबिल व पक्के इरादेवाला था कि उसने वर्तमान को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। उसने आधुनिक जर्मनी को बनाया और उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से मे यूरोप के इतिहास को अपने साँचे मे ढाला। दार्शनिको और वैज्ञानिको का जर्मनी तो पीछे रह गया, और खून व लोहेवाला और बहुत बढिया फौजोवाला नया जर्मनी यूरोप के महाद्वीप पर हावी होने लगा। उस समय के एक नामी जर्मन ने कहा था, "बिस्मार्क जर्मनी को महान् बना रहा है और जर्मनो को छोटा।" जर्मनी को यूरोप मे और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे महान् शक्ति बनाने की उसकी नीति से जर्मन लोग खुश होते थे, और बढती हुई राष्ट्रीय शान की चकाचौध से वे बिस्मार्क के सब तरह के अत्याचारो को बर्दाश्त कर लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ मे जब बागडोर आई तब उसके दिमाग मे साफ-साफ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है, और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी। वह पक्के इरादे से उस योजना पर डटा रहा और उसे अद्भुत सफलता मिली। वह जर्मनी की, और जर्मनी के ज़रिये प्रशिया की, यूरोप मे प्रभुता कायम करना चाहता था। उस समय नेपोलियन तृतीय के मातहत फ्रान्स यूरोप का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बडा मुकाबलेदार था। पुराने ढग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के एक पाठ की तरह यह देखकर बडा मज़ा आता है कि बिस्मार्क दूसरी शक्तियो को किस तरह खेल खिलाता था और बारी-बारी से एक-एक करके उनसे कैसे निबटता था। सबसे पहली चीज़, जिसे करने का उसने बीडा उठाया था, यह थी कि जर्मनी की नेतागिरी का सवाल सदा के लिए हल कर दिया जाय। प्रशिया और आस्ट्रिया की पुरानी लाग-डाँट जारी रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का आखिरी फैसला प्रशिया के पक्ष मे होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दर्जा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के बाद फ्रान्स की बारी थी। (यह याद रखना कि जब मैं प्रशिया, आस्ट्रिया और फ्रान्स की बात करता हूँ तब मेरा मतलब वहाँ की सरकारो

से है। ये सरकारें थोडी या बहुत निरकुश थी और यहाँ की पार्लमेण्टो के हाथ मे कोई सत्ता नही थी।)

बस, बिस्मार्क ने अपनी फौजी मशीन को चुपचाप मुकम्मिल कर लिया। इसी बीच मे नेपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया पर हमला करके उसे हरा दिया। इस हार ने गैरीबाल्दी को दक्षिण इटली में फौजी कार्रवाई के लिए मजबूर किया, जिसका नतीजा यह हुआ कि इटली सदा के लिए आजाद हो गया। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थी, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया कमजोर पड गया। रूसी पोलैण्ड मे जब राष्ट्रीय विद्रोह हुआ तो बिस्मार्क ने सचमुच जार को यह प्रस्ताव भेजा कि जरूरत पडे तो वह पोलो को गोलियो से उडाने मे मदद देने को तैयार है। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर यूरोप की किसी आगे की उलझन में जार की सहानुभूति हासिल करने का मतलब इससे पूरा हो गया। फिर आस्ट्रिया से मिलकर उसने डेनमार्क को हराया और इसके बाद जल्दी ही उसने आस्ट्रिया की तरफ मुंह किया। इसके लिए उसने होशियारी से फ्रान्स और इटली को राज़ी कर लिया था। १८६६ ई० मे कुछ ही समय मे प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब उसने जर्मनो के नेता का सवाल तय कर लिया और यह जाहिर कर दिया कि प्रशिया ही उनका नेता है, तो फिर उसने बडी बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के साथ उदारता का बर्ताव किया, जिससे कोई कडवाहट बाकी न रहे। अब प्रशिया की नेतागिरी मे एक उत्तर-जर्मन सघ बनाने का रास्ता साफ हो गया (आस्ट्रिया उसमे नही था)। बिस्मार्क इस सघ का चान्सलर बना। आजकल जहाँ हमारे कुछ राजनीति व कानून के पण्डित महीनो और वर्षो सघो और सविधानो के बारे मे चर्चाएँ और दलीलें किया करते है, वहाँ ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मन सघ का नया विधान पाँच घण्टे मे लिखवा दिया था। यही सविधान, इधर-उधर के कुछ हेर-फेर के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का सविधान बना रहा, यानी महायुद्ध के बाद, १९१८ ई० मे, जब गणराज्य कायम हुआ, तबतक।

बिस्मार्क ने अपना पहला महान् उद्देश्य हासिल कर लिया था। दूसरा क़दम फ्रान्स को नीचा दिखाकर यूरोप मे अपनी प्रभुता का दर्जा कायम करना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और बिना शोरगुल मचाये की। साथ-साथ वह जर्मनी की एकता कायम करने का जतन करता रहा और साथ ही दूसरी यूरोपीय शक्तियो को अपनी नेक-नीयती का दिलासा देता रहा। हारे हुए आस्ट्रिया के साथ भी ऐसी नर्मी का बर्ताव किया गया कि आपसी वैर-भाव बहुत-कुछ दूर हो गया। इग्लैण्ड और फ्रान्स के बीच तो ऐतिहासिक मुकाबलेदारी चली आती थी, और इग्लैण्ड नेपोलियन तृतीय की हौसलाभरी योजनाओ को बडी शका की नजर से देखता था। इसलिए फ्रान्स के खिलाफ किसी भी लडाई मे इग्लैण्ड की हमदर्दी हासिल करना बिस्मार्क

के लिए कठिन नहीं था। जब वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार हो गया तो उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि वास्तव मे, १८७० ई० मे, नेपोलियन तृतीय ने ही प्रशिया के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया। यूरोप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार ही हमलावर फ्रान्स की बेकसूर शिकार हुई है। पेरिस के लोग 'बर्लिन को! बर्लिन को!' चिल्लाने लगे और नेपोलियन तृतीय ने अपने मन मे बडे आराम से समझ लिया कि वह अपनी विजयी फौज के साथ सचमुच बर्लिन पहुँच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क का सधा हुआ फौजी यन्त्र फ्रान्स की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पडा और उसके आगे फ्रान्स की फौज तितर-बितर हो गई। कुछ ही सप्ताहो के भीतर सेदान मे खुद सम्राट् नेपोलियन तृतीय को और उसकी फौज को जर्मनो ने कैद कर लिया।

इस तरह नेपोलियन वश का दूसरा फ्रान्सीसी साम्राज्य खत्म हुआ और फौरन ही पेरिस मे गणराज्यी शासन कायम हो गया। नेपोलियन तृतीय के पतन के कई सबब थे। सबसे बडा यह था कि अपनी दमन-नीति की वजह से वह प्रजा मे बिलकुल बदनाम हो चुका था। विदेशो से युद्ध करके उसने जनता का ध्यान बँटाने की कोशिश की, आफत मे फँसे हुए बादशाहो और सरकारो का यह मुँह-लगा तरीका है। नेपोलियन सफल नही हुआ। हाँ, युद्ध ने उसके हौसलो को जरूर सदा के लिए खत्म कर दिया।

पेरिस मे 'राष्ट्रीय सुरक्षा' की सरकार बनी। उसने प्रशिया के सामने सुलह का प्रस्ताव रक्खा, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी ज़लील करनेवाली थी कि उन्हे लडाई जारी रखने का फैसला करना पडा, हालाँकि उनकी सारी फौजे करीब-करीब खत्म हो चुकी थी। जर्मन फौजें बहुत समय तक वर्साई मे और पेरिस के चारो तरफ घेरा डाले पडी रही। अन्त मे पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये गणराज्य ने हार मानकर बिस्मार्क की कठोर शर्तें मजूर कर ली। युद्ध के हर्जाने की भारी रकम देना कबूल किया गया, और जिस बात से फ्रान्स को सबसे ज्यादा चोट पहुँची वह यह थी कि अलसास व लॉरेन के प्रान्त, दो सौ साल से ज्यादा फ्रान्स के अग रहने के बाद, जर्मनी के हवाले कर देने पडे।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई मे एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। १८७० ई० के सितम्बर मे तो नेपोलियन तृतीय के फ्रान्सीसी साम्राज्य का अन्त हुआ, और १८७१ ई० की जनवरी मे, वर्साई के सोलहवें लुई के राजमहल के शानदार दीवानखाने मे, सयुक्त जर्मनी की घोषणा हुई और प्रशिया का बाद-शाह कैसर के नाम से सम्राट् बना। जर्मनी के सब राजाओ और प्रतिनिधियो ने वहाँ जमा होकर अपने नये सम्राट् कैसर को ताजीम दी। अब प्रशिया के

होहेनत्सॉलर्न का राजघराना एक शाही घराना वन गया और सयुक्त जर्मनी ससार की एक बडी शक्ति हो गया।

इधर वर्साई मे खुशी और उत्सव मनाये जा रहे थे, और उधर पास ही पेरिस मे रज और मुसीबत और पूरी जलालत छाई हुई थी। अपने ऊपर पडने-वाली इतनी आफतो के कारण जनता हक्की-बक्की हो रही थी और कोई मजबूत या जमी हुई सरकार नही थी। राष्ट्रीय विधान-सभा मे राजाशाही लोग वडी सख्या मे चुनकर आ गये थे और ये लोग राजाशाही को फिर से कायम करने की साजिशें कर रहे थे। उन्होंने अपने रास्ते का कॉटा दूर करने के लिए राष्ट्रीय रक्षक-दल के हथियार छीनने की कोशिश की, क्योकि यह दल गणराज्यवादी समझा जाता था। शहर के सव लोकतन्त्रवादी और क्रान्तिकारी तत्वो को ऐसा लगा कि इसका अर्थ प्रतिक्रिया और दमन है। इसलिए, १८७१ ई० के मार्च मे, वलवा हुआ और पेरिस के 'कम्यून' (पचायती राज) की घोषणा की गई। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और फ्रान्स की महान् राज्यक्रान्ति से प्रेरणा लेती थी। मगर इसमे इससे ज्यादा और भी वहुत-कुछ था। कुछ धुंधली ही सही, पर इसमे वे समाजवादी विचारधाराएँ शामिल थी, जो उस समय पैदा हो चुकी थी। एक तरह से यह रूस की सोवियतो के लिए नमूना वनी।

मगर १८७१ ई० का यह पेरिस कम्यून थोडे ही दिन टिका। राजाशाही व ऊँचे मध्यम-वर्ग के लोगो ने आम जनता की इस वगावत से डरकर पेरिस के उस हिस्से पर घेरा डाल दिया, जो कम्यून के अधीन था। पास ही वर्साई मे, और दूसरी जगहो पर, जर्मन सेनाएँ यह सब चुपचाप देखती रही। जो फ्रान्सीसी सिपाही जर्मनो की कैद से छूटकर पेरिस लौटे वे अपने पुराने अफसरो के साथ हो गये और कम्यून के खिलाफ लडने लगे। उन्होंने कम्यूनियो पर धावा वोल दिया, और १८७१ ई० की मई के अन्त मे एक दिन उन्हे हराकर पेरिस की सडको पर तीस हजार स्त्री-पुरुषो को गोलियो से उडा दिया। वाद मे पकडे हुए वहुत-से कम्यूनियो को भी बडी बेदर्दी से गोलियो से मार दिया गया। इस तरह पेरिस के कम्यून का अन्त हुआ। इससे यूरोप मे वडी सनसनी फैली। इस सनसनी की वजह सिर्फ यही नही थी कि कम्यून को खूनी कार्रवाई से दवा दिया गया, बल्कि यह भी थी कि यह कम्यून उस समय की प्रणाली के खिलाफ पहला समाजवादी विद्रोह थी। गरीबो ने धनवानो के खिलाफ वलवे तो पहले भी कितनी ही वार किये थे, लेकिन जिस प्रणाली के सबव से वे गरीव थे, उसे वदलने का उन्होंने विचार नही किया था। यह कम्यून लोकतन्त्री व आर्थिक, दोनो तरह का विद्रोह था, और इसलिए यूरोप मे समाजवादी विचारधारा के विकास की यह एक मंजिल है। फ्रान्स मे कम्यून के

अत्याचारी दमन ने समाजवादी विचारो को नीचे धँसा दिया, और फिर उन्हे उभरने मे देर लगी।

हालाँकि कम्यून दवा दी गई, मगर फ्रान्स राजाशाही के और ज्यादा प्रयोगो से बच गया। कुछ समय मे वह पक्के तौर पर गणराज्यवाद मे जम गया और १८७५ ई० की जनवरी मे वहाँ एक नये सविधान के मातहत तीसरे गणराज्य की घोषणा की गई। यह गणरा य उसी समय से चला आ रहा है और अब भी मौजूद है। फ्रान्स में अब भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो बादशाहो को रखना चाहते हैं; मगर उनकी सख्या बहुत कम है और मालूम होता है कि फ्रान्स ने पक्के तौर पर गणराज्यवाद क़बूल कर लिया है। फ्रान्स का गणराज्य ऊँचे मध्यम-वर्गों का गण-राज्य है और उसकी बागडोर आसूदा मध्यम-वर्गों के हाथो मे है।

फ्रान्स १८७०-७१ ई० के जर्मन-युद्ध की मार से फिर पनप गया और उसने हर्जाने की भारी रकम भी चुका दी। लेकिन फ्रान्स की जनता को जिस तरह ज़लील किया गया था, उससे लोगो के दिलो मे गुस्सा भरा हुआ था। वे स्वाभि-मानी लोग हैं, और बातो को बहुत दिन तक याद रखते हैं। इसलिए बदले की भावना उन्हे सताने लगी। अलसास और लॉरेन के हाथ से चले जाने का उन्हे खास-तौर पर दु:ख था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को हराने के बाद उसकी तरफ उदारता दिखाकर अक्लमन्दी की थी, लेकिन फ्रान्स के साथ उसके कठोर बर्ताव मे न तो उदारता थी और न बुद्धिमानी। एक स्वाभिमानी शत्रु को नीचा दिखाने की कीमत देकर उसने उन लोगो की, सदा हरी रहनेवाली दुश्मनी मोल ले ली। सेदान की लडाई के बाद ही, जब युद्ध का अन्त भी नही हुआ था, मशहूर समाजवादी कार्ल मार्क्स ने एक घोषणा-पत्र निकालकर भविष्यवाणी की थी कि अलसास पर कब्जा करने के नतीजे से "दोनो देशो के बीच जानी दुश्मनी पैदा होगी और हमेशा की सुलह के बजाय आरज़ी सुलह होगी।" दूसरे कई मामलो की तरह इस मामले मे भी मार्क्स की भविष्यवाणी सच्ची निकली।

जर्मनी मे अब 'इम्पीरियल चान्सलर' (शाही दीवान) बिस्मार्क ही सबकुछ था। फिलहाल तो "खून और लोहा" की नीति सफल हो गई थी। जर्मनी ने इस नीति को कबूल कर लिया था और उदार विचारो की कीमत घट गई थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि सत्ता बादशाह के हाथ मे रहे, क्योकि उसे लोक-तन्त्र मे कोई विश्वास नही था। जैसे-जैसे जर्मनी की औद्योगिक उन्नति होती जाती थी और मजदूर-वर्ग ज़ोर पकडता जाता था, वैसे-वैसे यह वर्ग बुनियादी परिवर्तनो की माँगें पेश करता और नई समस्या पैदा करता जा रहा था। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ वह मजदूरों की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ समाजवाद को कुचलता गया। उसने समाजी उन्नति के कानून बनाकर

मज़दूरो को अपने पक्ष मे करने की या कम-से-कम उन्हें उग्र बनने से रोकने की कोशिश की। इस तरह् जर्मनी ने मज़दूरो के लिए बुढ़ापे की पेन्शनो, बीमो और चिकित्सा की सहूलियतो के, और उनकी हालत सुधारने के, कानून बनाकर इस दिशा मे सबसे पहला कदम बढाया, जबकि इग्लैण्ड का उद्योग और मज़दूर आन्दोलन, जर्मनी से पुराना होते हुए भी , इस दिशा मे ज्यादा कुछ नही कर पाया था। इस नीति को कुछ सफलता तो मिली, लेकिन फिर भी मज़दूरो का सगठन बढता ही गया। उन्हे नेता भी काबिल मिले थे, जैसे फर्दिनेन्द लासाल जो बडा होशियार व्यक्ति था और उन्नीसवी सदी का सबसे बढिया भाषण देनेवाला माना जाता है। वह् जोड की एक लडाई मे बहुत कम उम्र मे ही मर गया। इसके अलावा विलहेल्म लीब्नेख्त हुआ, जो पुराना वीर लडाकू और बागी था और जो गोली से मरते-मरते बच कर अच्छी उम्र तक जिन्दा रहा। उसका पुत्र कार्ल जो अभी तक स्वतन्त्रता के लिए लड रहा था, कुछ वर्ष हुए, १९१८ ई० मे, जर्मन गणराज्य की स्थापना के समय कत्ल कर दिया गया। और कार्ल मार्क्स के बारे मे मैं अगले किसी पत्र मे लिखूंगा। लेकिन मार्क्स की ज्यादातर ज़िन्दगी जर्मनी से देश-निकाले मे बीती थी।

मजदूरो के सगठन बढने लगे और १८७५ ई० मे सबोंने मिलकर समाजवादी लोकतन्त्री दल बनाया। बिस्मार्क समाजवाद की इस बढ़ती को बर्दाश्त नही कर सका। किसी ने सम्राट् की जान पर हमला किया, और बिस्मार्क को समाजवादियो पर ग़ज़ब ढाने का यह अच्छा बहाना मिल गया। १८७८ ई० मे हर तरह् की समाजवादी हलचलो का दमन करनेवाले समाजवाद-बन्दी के कानून बनाये गए। जहांतक समाजवादियो का सम्बन्ध था, उनके लिए एक तरह् का फ़ौजी कानून जारी हो गया और हज़ारो को देश-निकाले की या कैद की सज़ाएँ दे दी गईं। देश-निकालो मे से बहुत-से लोग अमेरिका चले गये और वहाँ जाकर समाजवाद के अगुआ बने। समाजवादी लोकतन्त्री दल को चोट तो सख्त लगी, मगर वह मरा नही और आगे चलकर फिर ज़ोर पकड लिया। बिस्मार्क का आतकवाद उसे मार न सका, उलटे इसकी सफलता और भी ज्यादा नुकसान करनेवाली साबित हुई। जैसे-जैसे इस दल की ताकत बढ़ती गई, इसका सगठन बहुत बडा हो गया। इसके पास बडी भारी सम्पत्ति हो गई और हज़ारो वेतन-भोगी कार्यकर्ता हो गये। जब कोई व्यक्ति या सगठन मालदार हो जाता है तो फिर वह क्रान्तिकारी नही रहता। जर्मनी के समाजवादी लोकतन्त्री-दल का भी यही हाल हुआ।

बिस्मार्क के कूटनीति के हुनर ने अन्त तक उसका साथ नही छोडा और उसने अपने ज़माने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे ज़बर्दस्त खेल खेले। यह् राजनीति उस समय भी और आज भी, साज़िश, जवाबी-साज़िश, धोखा-धडी और मक्कारी

ा अजीब और पेचीदा जाल है, और ये सब बातें छिपकर और पर्दे के पीछे की जाती । अगर यह सब खुले तौर पर हो तो ज्यादा दिन नही टिक सकती। बिस्मार्क आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर 'त्रिदलीय गठ-बन्धन' नामक गठ-बन्धन नाया, क्योकि अब उसे फ्रान्सीसियो के बदला लेने का डर सताने लगा। इस रह दोनो पक्ष हथियार जमा करने, साजिशें करने और एक-दूसरे पर आँखें नकालने मे लगे रहे।

१८८८ ई० मे सम्राट् विलहेल्म द्वितीय के नाम से एक नौजवान जर्मनी का सर हुआ। उसके दिमाग मे यह खयाल खूब भर गया कि वह ज़ोरदार आदमी ;, और बहुत जल्दी ही वह बिस्मार्क से लड पडा। इस 'लौह-पुरुष दीवान' ो बुढापे मे उसके पद से बर्खास्त कर दिया गया। इसपर उसे बहुत गुस्सा आया। ाँसू पोछने के लिए उसे 'प्रिन्स' का खिताब दे दिया गया, मगर बादशाहो के बारे मे उसका भ्रम दूर हो गया और ग्लानि के मारे वह अपनी जागीर मे एकान्तवास करने लगा। एक मित्र से उसने कहा था "मैंने जब पद सम्हाला था तब मेरे पास राजभक्ति की भावनाओ का और बादशाह के लिए सम्मान का बडा भण्डार था, लेकिन अब मुझे दु ख के साथ मालूम हो रहा है कि यह भण्डार दिन-पर-दिन खाली होता जा रहा है। मैंने तीन बादशाहो का नगा रूप देख लिया है और यह नज़ारा मुझे कुछ सुहावना नही लगा!"

यह बदमिज़ाज बूढा कुछ वर्ष और जिया, और १८९८ ई० मे, तिरासी वर्ष की उम्र मे मरा। कैसर के हाथो बर्खास्त होने और मौत के बाद भी उसकी छाया जर्मनी पर मँडराती रही और उसकी आत्मा बाद मे उसकी जगह लेनेवालो को चलाती रही। मगर ये बाद मे आनेवाले उससे नीचे दर्जे के ही थे।

। १२९ ।

कुछ नामी साहित्यकार

१ फरवरी, १९३३

कल जर्मनी के उत्थान का हाल लिखते-लिखते मुझे खयाल आया कि मैंने उन्नीसवी सदी के शुरू के सबसे महान् जर्मन का कुछ भी हाल तुम्हे नही बताया है। यह व्यक्ति ग्यूत (गेटे)[1] था। यह एक मशहूर लेखक था, जिसकी मृत्यु की शताब्दी कुछ ही महीने हुए सारे जर्मनी मे मनाई गई थी। फिर मुझे यह खयाल भी आया कि तुम्हे उस ज़माने के सभी नामी लेखको का थोडा-थोडा हाल क्यो न बता

[1] ग्यूत (गेटे)—Goethe ने कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (शकुन्तला) का जर्मन भाषा में अनुवाद किया था।

दूं। मगर मेरे लिए यह खतरनाक विषय है—खतरनाक इसलिए कि इससे मेरा ही अज्ञान जाहिर होगा। सिर्फ मशहूर नामो की सूची दे देना तो भद्दी-सी बात रहेगी और कुछ ज्यादा कहना कठिन पडेगा। अंग्रेजी साहित्य का ही मेरा ज्ञान नही के बराबर है, फिर दूसरे यूरोपीय साहित्यो के बारे मे तो मेरी जानकारी कुछ अनुवादो से आगे नही जाती। तब मैं क्या करता?

इस विषय पर लिखने का विचार तो मेरे दिमाग मे बैठ चुका था, और मैं उससे किसी तरह पिण्ड नही छुडा सकता था। मुझे ऐसा लगा कि मैं कम-से-कम तुम्हे दूसरी दिशा तो दिखा दूं, भले ही इस जादू की दुनिया के रास्ते मे बहुत दूर तक मैं तुम्हारा साथ न दे सकूं। बात यह है कि अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना गहरा परिचय मिलता है, उतना जन-समूह की ऊपरी हलचलो से नही। ये हमको शान्त और गम्भीर विचारो के राज मे पहुंचा देते हैं, जिसपर आज के दिमागी फितूरो व हठो का असर नही पडता। मगर आज कवि और कलाकार को कल का सन्देश देनेवाले बहुत कम समझा जाता है और उन्हें कोई सम्मान नही दिया जाता। अगर उन्हे कुछ सम्मान मिलता भी है, तो आमतौर पर मरने के बाद मिलता है।

इसलिए मैं तुम्हे सिर्फ थोडे-से नाम बताऊंगा। इनमे से कुछ से तुम पहले ही परिचित होगी। मैं उन्नीसवी सदी के शुरू के हिस्से को ही लूंगा। यह सिर्फ तुम्हारी भूख जगाने के लिए है। याद रहे कि यूरोप के कई देशो के साहित्यो मे उन्नीसवी सदी की उम्दा रचनाओ के भण्डार भरे हुए हैं।

असल मे तो गेटे अठारहवी सदी का था, क्योकि उसका जन्म १७४९ ई० मे हुआ था, मगर उसने तिरासी वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इसलिए उसने अगली सदी का तिहाई भाग भी देखा था। उसने अपने जीवन मे यूरोपीय इतिहास के एक सबसे ज्यादा तूफानी जमाने को पार किया था और अपने देश पर नेपोलियन की सेनाओ का हमला व कब्ज़ा होते हुए देखा था। खुद अपने जीवन में भी उसे बहुत दुखो का अनुभव हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे उसने जीवन की कठिनाइयो पर अन्दरूनी काबू पा लिया था और ऐसी अनासक्ति व गम्भीरता हासिल कर ली थी कि जिनसे उसे शान्ति मिलती थी। नेपोलियन उससे पहले-पहल तब मिला जब उसकी उम्र साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाजे मे खडा था तो उसके चेहरे पर कुछ ऐसी बेफिक्री झलकती थी, और उसके तन की चाल ढाल कुछ ऐसी शानदार थी कि नेपोलियन के मुंह से निकल पडा "आदमी तो यह है!" उसने कई चीजो मे हाथ डाला, और जो-कुछ किया नामवरी के साथ किया। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार, और कितने ही तरह के विज्ञानो मे रुचि रखनेवाला वैज्ञानिक था। इन सबके अलावा व्यवहार की बातो मे वह एक छोटे-से जर्मन राजा

के दरबार मे मन्त्री था! हम तो उसे सबसे ज्यादा एक लेखक के रूप मे जानते हैं, और उसकी सबसे मशहूर पुस्तक "फॉस्ट" है। उसकी लम्बी जिन्दगी मे ही उसकी कीर्त्ति दूर-दूर फैल गई थी और साहित्य के अपने क्षेत्र मे तो उसके देशवासी उसे देवता की तरह मानने लगे थे।

गेटे के ही ज़माने मे शिलर नामक एक और व्यक्ति हुआ, जो उम्र मे उससे कुछ छोटा था। यह भी एक महाकवि था। उससे भी कम उम्र का हाइनरिख हाइन था। यह भी ज़र्मन भाषा का एक बडा व खुशदिल कवि था। इसने बहुत ही सुन्दर गीति-काव्य लिखे हैं। गेटे, शिलर और हाइन—ये तीनो ही प्राचीन यूनान की ऊँचे दर्जे की सस्कृति मे शराबोर थे।

जर्मनी बहुत लम्बे समय से दार्शनिको का देश करके मशहूर रहा है, और मैं भी तुम्हे एक-दो के नाम बता सकता हूँ, हालाँकि तुम्हे उनमे शायद ज्यादा दिलचस्पी नही मालूम होगी। जिन लोगो को इस विषय का व्यसन हो सिर्फ उन्हीको इनके ग्रन्थ पढने की कोशिश करना ठीक है, क्योकि वे बहुत गहन और कठिन हैं। फिर भी इनकी व दूसरे दार्शनिको की बातें दिलचस्प और नसीहत देनेवाली हैं, क्योकि उन्होने विचार की मशाल जलती हुई रक्खी है और उनके ज़रिये से विचार-धाराओ के विकास का सिलसिला समझ मे आ सकता है। अठारहवी सदी का महान् जर्मन दार्शनिक इम्मैन्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक ज़िन्दा रहा। उस समय उसकी उम्र अस्सी वर्ष की थी। दर्शन के क्षेत्र मे दूसरा बडा नाम हेगल का है। वह काण्ट को माननेवाला था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के पिता कार्ल मार्क्स पर उसके विचारो का बहुत असर पडा था। यह तो दार्शनिको की बात हुई।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के वर्षों मे नामी कवि काफी सख्या मे पैदा हुए, खासकर इग्लैण्ड मे। रूस का सबसे नामी राष्ट्रीय कवि पुश्किन इसी समय हुआ। एक जोड की लडाई (ड्यूएल) मे वह जवानी मे ही मारा गया। फ्रान्स मे भी कई कवि हुए, लेकिन मैं सिर्फ दो के ही नामो का ज़िक्र करूँगा। एक तो विक्तर यूगो था, जिसका जन्म १८०२ ई० मे हुआ था। इसने भी गेटे की तरह ही तिरासी वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह यह भी अपने देश मे साहित्य के देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ, दोनो ही रूपो मे उसकी ज़िन्दगी ने कई रग बदले। जीवन के शुरू मे वह सरगर्म बादशाहवादी था, और बहुत-कुछ निरकुशता का हामी था। धीरे-धीरे वह एक-एक कदम बदलता गया, यहाँतक कि १८४८ ई० मे वह गणराज्यवादी बन गया। जब लुई नेपोलियन थोडे दिन के दूसरे गणराज्य का राष्ट्रपति हुआ, तो उसने यूगो को गणराज्यवादी विचारो के कारण देश से निकाल दिया। १८७१ ई० मे विक्तर यूगो ने पेरिस के कम्यून का पक्ष लिया। कट्टरपन्थ के ठेठ

दायें छोर से धीरे-धीरे से, सरकता-सरकता वह समाजवाद के ठेठ बायें छोर पर जा पहुँचा। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ कट्टरपन्थी और पीछे की तरफ़ चलनेवाले बनते जाते हैं। लेकिन यूगो ने बिलकुल उलटी ही बात की। मगर यहाँ तो उससे हमारा वास्ता लेखक के रूप मे है। वह एक महान् कवि, उपन्यासकार व नाटककार था।

दूसरा नाम, जिसका मैं तुमसे ज़िक्र करूँगा, आरें द बाल्ज़ेक का है। यह भी विक्तर यूगो के ज़माने का था, मगर दोनो मे बडा फ़र्क़ था। वह गज़ब की तेज़ी रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बडी भारी सख्या मे उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियाँ एक दूसरी से जुडी हुई हैं; वे ही पात्र अक्सर उनमे आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों मे अपने समय के पूरे फ्रान्सीसी जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाना था, और उसने सारी पुस्तकमाला का नाम 'मानवता का प्रहसन'[1] रक्खा। यह विचार बडे ऊँचे हौसले का था, और हालाँकि उसने कठोर व लम्बी मेहनत की, पर जो ज़बर्दस्त काम उसने उठाया था, उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवी सदी के शुरू के वर्षो मे इग्लैण्ड मे तीन जगमगाते हुए नौजवान कवियो के नाम खासतौर पर सामने आते हैं। ये तीनो एक ही ज़माने के थे और तीनो ही कम उम्र मे एक-एक करके तीन साल के भीतर मर गये। ये तीनो कीट्स, शैली और बायरन थे। कीट्स को गरीबी और मायूसी से सख्त लोहा लेना पडा, और जब १८२१ ई० मे, छब्बीस वर्ष की उम्र मे, रोम मे उसकी मृत्यु हुई, तब लोग उसे नही जानते थे। लेकिन फिर भी, उसने कुछ कविताएँ तो बहुत ही सुन्दर लिखी थी। कीट्स मध्यम-वर्ग का था, और दिलचस्प बात तो यह है कि अगर पैसे की तगी से उसके रास्ते मे रुकावट थी, तो गरीबो के लिए कवि और लेखक होना कितना ज्यादा कठिन होना चाहिए। वास्तव मे केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी साहित्य के एक मौजूदा प्रोफ़ेसर ने इस बारे मे कुछ वाजिब बातें कही हैं :

> "यह तय है कि हमारे साम्राज्य के किसी कसूर के सबब इन दिनो ही नही, पिछले दो सौ वर्षो मे भी, किसी ग़रीब कवि को इतना भी मौका नही मिला है, जितना कि एक कुत्ते को। मेरा विश्वास करो, क्योंकि मैंने दस वर्षों का बडा हिस्सा कोई तीन सौ बीस प्राइमरी स्कूलो को देखने मे बिताया है। हम लोकतन्त्र की बकवास भले ही करें, मगर असल मे इग्लैण्ड मे एक गरीब बालक को एथेन्स के किसी ग़ुलाम के लडके से ज्यादा आशा इस बात की नही

---

[1] La Comedie Humaine, by Honore' de Balzac.

हो सकती कि जिस दिमागी आजादी मे से ऊँचे दर्जे की रचनाओ का जन्म होता है, उसमे वह भी कभी बन्धन-मुक्त होकर पहुँच जायगा।"

मैने यह कथन इसलिए दिया है कि हम अक्सर यह भूल जाते है कि कविता और सुन्दर रचना पर, और आमतौर से सस्कृति पर, आसूदा वर्गो की ही ठेकेदारी होती है। गरीब के झोपडे मे कविता और सस्कृति के लिए जगह नहीं होती, ये चीजे भूखे पेटवालो के लिए नही है। इसलिए हमारी आजकल की संस्कृति आसूदा मध्यम-वर्गों के दिमाग का प्रतिबिम्ब बन जाती है। जब बदली हुई समाज-व्यवस्था मे सस्कृति मजदूर-वर्ग के हाथ मे आ जायगी, तब शायद उसकी सूरत भी बहुत-कुछ बदल जाय, क्योकि तब उसे सस्कृति का शौक करने के मौके और फुर्सत मिल जायेंगे। आज कुछ इसी तरह का परिवर्तन सोवियत रूस मे हो रहा है, और दुनिया उसे दिलचस्पी के साथ देख रही है।

इससे हमारे सामने यह बात साफ हो जाती है कि पिछली कुछ पीढ़ियो से भारत मे सस्कृति के दिवालियापन का सबब हमारे देशवासियो की घोर गरीबी है। जिन लोगो के पास खाने को भी नही है, उनमे सस्कृति की बाते करना उनका अपमान करना है। गरीबी की यह मार इन गिने-चुने लोगो पर भी पडती है, जो सयोग से दूसरो से ज्यादा आसूदा है। और इसलिए दुःख है कि आज भारत के ये वर्ग भी बुरी तरह अ-सस्कृत है। विदेशी राज और समाजी गिरावट से कैसी बेशुमार बुराइयाँ पैदा हो जाती है! पर इस आम गरीबी और बेरगी मे भी भारत गाधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी विभूतियाँ और सस्कृति के शानदार आदर्श पैदा कर सकता है।

मैं अपने विषय से दूर भटक गया।

शेली बडा ही प्यारा जीव था। बचपन से ही उसके दिल मे एक आग भरी थी और वह हर बात मे आजादी का हिमायती था। 'नास्तिकता की जरूरत'[1] पर एक निबन्ध लिखने की वजह से उसे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कॉलेज से निकाल दिया गया था। जैसा कि कवियो के लिए खयाल किया जाता है, इसने (और कीट्स ने भी) अपनी थोडी-सी जिन्दगी अपनी कल्पना मे और उडान मे ही रहते-रहते बिता दी और ससारी कठिनाइयो की कुछ भी परवा न की। कीट्स की मृत्यु के साल भर बाद वह इटली के समुद्र-तट के पास डूबकर मर गया। उसकी मशहूर कविताएँ तुम्हें मैं क्या बताऊँ? तुम खुद आसानी से उनका पता लगा सकती हो। लेकिन उसकी छोटी कविताओ मे से एक तुम्हारी भेंट करूँगा। यह उसकी सबसे बढिया रचनाओ मे से तो हरगिज नही है, लेकिन यह हमारी मौजूदा सभ्यता मे गरीब मजदूर के भयानक नसीब को दरसाती है। उसका करीब-

[1] The necessity of Atheism.

करीब वही बुरा हाल है, जो पुराने ज़माने मे गुलामो का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्षों से ज्यादा हो गये हैं, मगर फिर भी आज की हालतो पर यह लागू होती है। यह 'अराजकता का नकाब'[1] कहलाती है।

स्वतन्त्रता क्या है?—यह तो तुम
ख़ूब बता सकते हो, है क्या चीज गुलामी,
क्योंकि उसीका नाम बना है
नाम तुम्हारे का ही गुजन।
यही ग़ुलामी है—
कि काम तुम करते रहो मजूरी लेकर,
केवल उतनी ही बस जिससे
अटके रहें तुम्हारे तन मे प्राण तुम्हारे,
काल कोठरी के बन्दी की भाँति
परिश्रम अत्याचारी के हित करने।
बन जाओ तुम
करघे, हल, तलवार, फावड़े, उनके,
औ' जुट जाओ उनकी रक्षा मे, उनके पोषण मे,
बिना विचारे इच्छा है या नहीं तुम्हारी।
यही ग़ुलामी है—
कि तुम्हारे बच्चे भूखो मरें,
और उनकी माताएँ सूख-सूख काँटा हो जावें—
देखो मेरे कहते-ही-कहते
जाडे की चली हवाएँ ठण्डी
जिनसे मरने लगे दीन बेचारे।
तुम्हें तरसते रहना है उस भोजन को,
जिसको धनवाला, मतवाला हो,
फेंक रहा है अपने उन मोटे कुत्तों के आगे,
जो उसकी आँखो के नीचे।
छककर मस्त पड़े हैं सोते।
यही ग़ुलामी है—
जिसमे बनना है तुमको दास आत्मा से भी,
जिससे रहे न तुमको क़ाबू अपनी इच्छाओ र,
और बनो तुम वैसे, जैसा लोग दूसरे तुम्हें बनावें
और अन्त मे जब तुम करने लगो शिकायत,

[1] The Mask of Anarchy

धीरे-धीरे कृपा रुदन कर,
तब अत्याचारी के नौकर
तुमको और तुम्हारी पत्नियों को घोड़ों के तले कुचल कर,
ओस कणों की भाँति लहू की बूँदें देते छिटा घास पर।

वायरन ने भी आज़ादी की स्तुति में सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। मगर यह आज़ादी राष्ट्रीय है, आर्थिक नहीं है, जिसका ज़िक्र शेली की कविता में है। जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूँ, वह शेली के दो साल बाद तुर्कों के ख़िलाफ़ यूनान की स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय युद्ध में मारा गया। वायरन के चरित्र के बारे में मेरा ख़याल अच्छा नहीं है, मगर फिर भी मुझे उसके साथ इसलिए सहानुभूति है कि वह हैरो स्कूल और केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में पढ़ा था, जो मेरे भी स्कूल और कालेज हैं। उसे जवानी में ही वह नामवरी हासिल हो गई, जो कीट्स को और शेली को नसीब नहीं हुई। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर बिठाया, लेकिन फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी समय के आस-पास दो और नामवर कवि हुए। ये दोनों इन नौजवान त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वर्ड्सवर्थ ने १७७० से १८५० ई० तक अस्सी साल की उम्र पाई। वह अंग्रेज़ी के महाकवियों में गिना जाता है। उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका ज्यादातर काव्य निसर्ग-काव्य है। दूसरा कवि कोलरिज था। उसकी कुछ कविताएँ बहुत अच्छी हैं।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में तीन मशहूर उपन्यासकार भी हुए। वाल्टर स्कॉट इनमें सबसे बड़ा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय है। मेरा ख़याल है, इनमें से कुछ तुमने पढ़े हैं। मुझे याद है कि जब मैं छोटा था तब ये उपन्यास मुझे भी पसन्द थे। मगर उम्र के साथ रुचियाँ भी बदल जाती हैं और अगर मैं आज उन्हें पढ़ने बैठूं तो ज़रूर ऊब जाऊँगा। दूसरे दो उपन्यासकार थैकरे व डिकन्स थे। मेरे ख़याल से दोनों स्कॉट से कहीं ऊँचे दर्जे के हैं। मुझे आशा है कि इन दोनों को तुम अच्छी तरह जानती हो। थैकरे का जन्म १८११ ई० में कलकत्ते में हुआ था और उसने पाँच-छै वर्ष वहीं बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तकों में भारतीय नवाबों का जैसा बयान दिया गया है। ये वे अंग्रेज़ थे, जो ख़ूब दौलत जमा करके मोटे और लाल हो जाते थे और फिर मौज करने के लिए इंग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के लेखकों के बारे में मैं बस इतना ही लिखना चाहता हूँ। एक बड़े विषय पर इतना कम लिखना बहुत बेहूदा बात है। इस विषय का जानकार आदमी इस बारे में बड़े मज़ेदार ढंग से लिख सकता है। वह तुम्हें उस ज़माने के संगीत और कला की भी बहुत-सी बातें ज़रूर ही बता सकेगा। इसमें जानने और कहने की ज़रूरत है, मगर यह मेरे बस की बातें नहीं हैं। इसलिए मैं तो समझदारी के साथ ठोस ज़मीन पर ही चलूँगा।

मैं इस पत्र को गेटे के 'फॉस्ट' से एक कविता देकर पूरा कर दूंगा। अलबत्ता यह जर्मन भाषा से अनुवाद की हुई है—

अफसोस है, अफसोस है
तूने किया है वार दुनिया पर,
गिराया है उसे भू पर,
किया है जर्जरित और नष्ट कर उसको,
दिया है फेंक शून्याकाश मे,
मानो कुचल डाला उसे दैवी किसी आघात ने।
ससार के इन ठीकरो को
हम उठा ले जा रहे हैं,
गीत गाते हैं
लुटी सुकुमारता के,
और उस सौन्दर्य के, जिसको मिटाया है किसीने।
ओ पृथ्वी के महापुत्र!
निर्माण कर उसका दुबारा,
और फिर सुन्दर गुणो से युक्त तू उसको बना दे,
और कर निर्माण उसको निज हृदय मे
कर प्रतिष्ठित उच्च आसन पर उसे तू।
फिर जगा तू ज्योति जीवन की,
लगा फिर दौड जीवन-यात्रा मे,
पार कर सब विघ्न बाधा!
बज उठे लहरी स्वरो की,
सदा से भी अधिक सुन्दर, मधुरतामय।

१३० :
डार्विन और विज्ञान की विजय

३ फरवरी, १९३३

कवियो से अब विज्ञानियो के पास चले। मुझे लगता है कि कवियो को अभी तक निकम्मे जीव समझा जाता है, लेकिन विज्ञानी तो आज के चमत्कारी लोग है। उनका असर भी है और आदर भी। उन्नीसवी सदी मे पहले यह बात नही थी। शुरू की सदियो मे विज्ञानी की जान यूरोप मे सदा जोखिम मे रहती थी, और कभी-कभी उसका अन्त सूली पर होता था। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि रोम के ईसाई-सघ ने ब्रूनो को किस तरह ज़िन्दा जला दिया था। कुछ ही वर्ष

बाद, सत्रहवी सदी मे गैलीलियो भी सूली के बहुत पास पहुँच गया था, क्योकि उसने यह कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारो तरफ घूमती है। वह कुफ्र के अपराध मे जला दिया जाने से इसलिए बच गया कि उसने माफी माँग ली और अपने पहले बयान वापस ले लिये। इस तरह यूरोप मे ईसाई-सघ की विज्ञान के साथ सदा टक्कर होती रहती थी और वह नये विचारो को दबाता रहता था। क्या यूरोप मे और क्या दूसरी जगह सगठित मजहब के साथ तरह-तरह के कट्टर नियम लगे होते हैं, जिन्हे उसके अनुयायियो को बिना सन्देह और शका के मानना चाहिए। विज्ञान का नज़रिया जुदा ही है। वह किसी बात को यूँही नही मान लेता, और न तो उसके कोई कट्टर नियम होते हैं न होने चाहिए। विज्ञान खुले दिमाग से सोचने की आदत को बढावा देना चाहता है और बार-बार प्रयोग करके सचाई तक पहुँचना चाहता है। मज़हबी नज़रिये से यह नज़रिया बिलकुल ही जुदा है और इसलिए अगर इन दोनो मे अक्सर टक्कर हो जाती थी तो इसमे ताज्जुब की कोई बात नहीं है।

मेरा खयाल है कि हर युग मे अलग-अलग कौमे तरह-तरह के प्रयोग करती रही हैं। कहा जाता है कि प्राचीन भारत मे रसायन और चीर-फाड मे काफी प्रगति हुई थी और ऐसा बहुत-से प्रयोगो के बाद ही हो सका होगा। पुराने यूनानियो ने भी थोडे-बहुत प्रयोग किये थे। चीनियो के बारे मे तो हाल ही मे मैंने बडा ही अनोखा बयान पढा है। उसमे १,५०० वर्ष पहले के चीनी लेखको के कथन देकर यह दिखाया गया है कि वे क्रम-विकास के सिद्धान्त से और शरीर मे खून के दौरे की बात से परिचित थे। और चीनी जर्राह बेहोशी की दवाएँ सुँघाते थे। मगर हमे उस समय का इतना हाल मालूम नही है कि हम कोई ठीक नतीजा निकाल सकें। अगर प्राचीन सभ्यताओ ने ये उपाय खोज निकाले थे तो फिर वे आगे चलकर इन्हे भूल क्यो गई? और उन्होंने और आगे उन्नति क्यो नही की? या यह बात थी कि वे इस किस्म की प्रगति को काफी महत्व नही देते थे? बहुत से दिलचस्प सवाल उठते हैं, लेकिन हमारे पास उनका जवाब देने को मसाला नही है।

अरबो को भी प्रयोग करने का बहुत शौक था और मध्य-युगो मे यूरोप उनके पीछे चलता था। मगर उनके सारे प्रयोग सच्चे वैज्ञानिक ढग पर नही होते थे। उन्हे हमेशा 'पारस पत्थर' की तलाश रहती थी, जिसमे मामूली धातुओ को सोना बना देने का गुण माना जाता था। लोग पेचीदा रासायनिक प्रयोगो मे अपने जीवन बिता देते थे कि किसी तरह धातुओ को सोना बना देने का गुर हाथ लगे। इसे कीमिया कहते थे। वे बडी लगन के साथ अमरत्व देनेवाले आबे-हयात या अमृत की भी खोज मे लगे रहते थे। किस्से-कहानियो के बाहर और

कही इसका ज़िक्र नही पाया जाता कि किसीको यह अमृत या पारस पत्थर हासिल करने मे सफलता मिली हो। धन, सत्ता व लम्बी उम्र पाने की आशा मे दरअसल यह एक तरह के जादू के साथ खिलवाड करना था। विज्ञान की भावना का इससे कोई वास्ता नही था। विज्ञान को जादू-टोनो वगैरा से कोई सरोकार नही होता।

हाँ, यूरोप मे असली वैज्ञानिक तरीको का धीरे-धीरे विकास हुआ और विज्ञान के इतिहास मे सबसे बडे गिने जानेवाले व्यक्तियो मे आइजक न्यूटन नामक एक अंग्रेज भी है, जिसका समय १६४२ से १७२७ ई० तक है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण नियम की व्याख्या की, यानी यह बताया कि चीज़ें क्यो गिरती हैं! इसकी मदद से, और जो दूसरे नियम खोजे जा चुके थे उनकी मदद से, न्यटन ने सूर्य और ग्रहो की चालो का भेद समझाया। छोटी-बडी सभी चीज़ो का उसके सिद्धान्तो से मेल बैठता हुआ दिखाई देने लगा और उसे बहुत सम्मान मिला।

ईसाई-सघ की कट्टरता पर विज्ञान की भावना विजयी हो रही थी। अब उसे दबा सकना या उसके साधको को जिन्दा जला देना सम्भव नही था। कितने ही वैज्ञानिको ने बडे धीरज और परिश्रम से प्रयोग जारी रक्खे और तथ्यो को व ज्ञान को इकट्ठा किया। यह खासतौर पर इग्लैण्ड और फ्रान्स मे, और आगे चलकर जर्मनी और अमेरिका मे हुआ। इस तरह वैज्ञानिक जानकारी का कलेवर बढता गया। तुम्हे याद होगा कि अठारहवी सदी मे ही यूरोप के शिक्षित वर्गों मे बुद्धिवाद का प्रचार हुआ था। इसी सदी मे रूसो, वाल्तेयर व दूसरे कितने ही काबिल फ्रान्सीसी हुए थे, जिन्होने हर विषय की रचनाओ के ज़रिये लोगो के दिमागो मे उथल-पुथल मचा दी थी। इसी सदी के गर्भ मे फ्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति की तैयारी हो रही थी। इस बुद्धिवादी नज़रिये का वैज्ञानिक नज़रिये से मेल बैठ गया और दोनो ने ही ईसाई-सघ के कट्टर नज़रिये का विरोध किया।

मैं तुम्हे यह भी बता चुका हूँ कि दूसरी बातो के साथ उन्नीसवी सदी विज्ञान की सदी थी। उद्योगो की क्रान्ति, मशीनी क्रान्ति और माल ढोने के तरीको मे अद्भुत परिवर्तन, इन सबका कारण विज्ञान था। बेशुमार कारखानो ने उत्पादन के तरीको को बदल दिया था, भाप से चलनेवाली रेलगाडियो और जहाज़ो ने दुनिया को एकदम छोटा बना दिया था, बिजली का तार तो और भी बड़ा चमत्कार था। इग्लैण्ड के दूरवाले साम्राज्य से उसके यहाँ दौलत की नदी बहने लगी। इससे पुराने विचारो को भारी धक्का लगना लाज़िमी था और मज़हब का प्रभाव कम होने लगा। धरती पर किसानी जीवन के मुकाबले मे कारखानी

जीवन ने लोगो को मजबूर किया कि वे मज़हबी पाबन्दियो की बनिस्बत आर्थिक सम्बन्धो पर ज्यादा विचार करें।

उन्नीसवी सदी के बीच मे यानी १८५९ ई० मे, इग्लैण्ड मे एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसने कट्टरपन और वैज्ञानिक नज़रिये की टक्कर को आखिरी दर्जे पर पहुँचा दिया। यह पुस्तक चार्ल्स डार्विन की 'ओरिजिन ऑफ स्पीसीज़' (जातियो का उद्‌भव) थी। डार्विन की गिनती बहुत बडे विज्ञानियो मे नही है, उसने जो कुछ लिखा, उसमे कोई बहुत नई बात नही थी। डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-विज्ञानियो और प्रकृति-विज्ञानियो ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री जमा की थी। फिर भी डार्विन का ग्रन्थ एक नया युग लानेवाला था। इसका ज़बर्दस्त असर पडा और किसी दूसरी वैज्ञानिक रचना की बनिस्बत इससे समाजी नज़रिया बदलने मे ज्यादा मदद मिली। इसने एक दिमागी भूकम्प पैदा कर दिया और डार्विन को मशहूर कर दिया।

प्रकृति-शास्त्री की हैसियत से डार्विन दक्षिण अमेरिका और प्रशान्त महासागर मे इधर-उधर खूब घूमा था और उसने सामग्री व तथ्यो का ज़बर्दस्त ज़खीरा इकट्ठा कर लिया था। इसका उपयोग करके उसने यह दिखाया कि जीवो की हरेक जाति का नैसर्गिक वरण[1] से किस तरह रूप बदला है और विकास हुआ है। उस समय तक बहुत लोगो का यह खयाल था कि मनुष्यसमेत सभी प्राणियो की हरेक जाति या किस्म को ईश्वर ने अलग-अलग रचा है, और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रही हैं और उनमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। कहने का मतलब यह है कि एक जाति बदलकर दूसरी नही बन सकती। डार्विन ने ढेरो असली मिसालें देकर साबित कर दिया कि एक जाति दूसरी जाति मे ज़रूर बदलती है और विकास का यही कुदरती ढग है। ये परिवर्तन नैसर्गिक वरण से होते हैं। अगर किसी छोटे-से परिवर्तन से किसी जाति को कुछ भी लाभ हुआ या दूसरो के मुकाबले मे ज़िन्दा रहने मे मदद मिली तो वह परिवर्तन धीरे-धीरे पक्का हो जायगा, क्योकि यह ज़ाहिर है कि इस बदली हुई जाति के ज्यादा प्राणी जियेंगे। कुछ समय बाद इस बदली हुई जाति की बहुतायत हो जायगी और वह दूसरी जातियो का सफाया कर देगी। इस तरीके से एक के बाद एक रूप बदलते और परिवर्तन होते चले जायँगे, और कुछ समय बाद बहुत कुछ नयी ही जाति पैदा हो जायगी। इस तरह समय पाकर नैसर्गिक वरण से योग्यतम की अतिजीविता[2] की प्रक्रिया से बहुत-सी नई-नई जातियाँ पैदा होती

---

[1] नैसर्गिक वरण—Natural Selection—एक ही प्राणी से छॅट-छॅट कर नये कुदरत के नियमों के अनुसार अलग जातियाँ बनना।

[2] Survival of the fittest—यह क़ुदरत का नियम है कि जो प्राणी

रहेंगी। यह नियम पौधो, जानवरो और मनुष्यो तक पर लागू होगा। इस मत के अनुसार यह सम्भव है कि आज वनस्पति व जानवरो की जो कितनी ही जातियाँ दिखाई दे रही हैं, उन सबका कोई एक ही पूर्वज रहा होगा।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का वंश-क्रम'[1] प्रकाशित की, जिसमे उसने यही मत मनुष्य-जाति पर लागू करके दिखाया। क्रम-विकास और नैसर्गिक वरण का यह विचार अब ज्यादातर लोगो ने मान लिया है, हालाँकि ठीक उसी रूप मे नही माना है जिस रूप मे डार्विन और उसके हामियों ने पेश किया था। वास्तव मे जानवरो की नस्ल सुधारने मे और पौधो, फलों व फूलो के उगाने मे वरण के इस नियम का अमली प्रयोग लोगो के लिए एक मामूली बात हो गई है। आजकल के कई इनामी जानवर और पौधे बनावटी उपायो से पैदा की हुई नई जातियाँ ही तो हैं। अगर मनुष्य कम समय मे इस तरह के परिवर्तन और नयी जातियाँ पैदा कर सकता है, तो लाखो और करोडो वर्षों के समय मे प्रकृति इस दिशा मे क्या-क्या नही कर सकी होगी? लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूजियम जैसे किसी प्रकृति-विज्ञान के सग्रहालय को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी बराबर अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे हैं।

आज ये सब बातें हमे मामूली-सी नजर आती हैं। लेकिन सत्तर वर्ष पहले यह हालत नही थी। उस वक्त ज्यादातर लोगो का यही विश्वास था कि बाइबिल के बयान के मुताबिक सृष्टि की उत्पत्ति ईसा से ठीक ४००४ वर्ष पहले हुई थी, हरेक पेड और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अन्त मे बनाया गया था। वे मानते थे कि जल-प्रलय हुआ था और नूह की नाव सारे जानवरो के जोडे इसलिए रक्खे गये थे कि किसी भी जाति का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के मत से मेल नही खाती थी। डार्विन और भूगर्भ-विज्ञानी जब पृथ्वी की उम्र का जिक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के छोटे-से काल के बजाय करोडो वर्षों की बात करते थे। इस तरह लोगो के दिमाग मे जबर्दस्त खीच-तान मची हुई थी और बहुत-से भले आदमियो को यह नही समझ पडना था कि क्या करें। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हे एक बात मानने को कहती थी और उनका विवेक दूसरी। जब मनुष्य मजहबी धर्म-कर्म मे अन्ध-विश्वास रखते हैं और उन बातो को धक्का लगता है, तो वे निराशा और परेशानी महसूस करते हैं और खडे

मजबूत होता है और प्रकृति के अनुसार अपनेको ढाल लेता है, वही जिन्दा रहता है।

[1] The Descent of Man.

होने के लिए उन्हे कही ठोस जमीन दिखाई नही देती। मगर जिस धक्के से हमे असलियत का ज्ञान हो, वह अच्छा होता है।

बस इग्लण्ड मे और यूरोप के दूसरे देशो मे विज्ञान और मजहब के बीच बडा वाद-विवाद और झगडा हुआ। इसके नतीजे के बारे मे तो कोई सन्देह ही नही हो सकता था। उद्योग और मशीनी ढुलाई की नई दुनिया का दारोमदार विज्ञान पर था, इसलिए विज्ञान को छोडा नही जा सकता था। विज्ञान की बराबर विजय होती चली गई और 'नैसर्गिक वरण' व 'योग्यतम की अतिजीविता' न्याय लोगो की आम गप-शप मे शामिल हो गये, और वे इनका अर्थ पूरी तरह समझे बिना ही इन शब्दो का इस्तेमाल करने लगे।

डार्विन ने अपनी 'मनुष्य का वश-क्रम' मे यह बताया था कि मनुष्य और कुछ वन्दर जातियो का पूर्वज शा द एक ही रहा होगा। यह बात विकास-क्रिया की अलग-अलग सीढियो की मिसाले देकर साबित नही की जा सकती थी। इसी से 'खोई हुई कडी'[1] का आम मजाक चल पडा। और विचित्र बात यह हुई कि शासक-वर्गों ने भी डार्विन के मत को तोड-मरोडकर उससे अपना मतलब का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास हो गया कि इस मत से उनके ऊँचेपन का एक सबूत और भी मिल गया। जीवन-सग्राम मे सबसे योग्य होने के सबब से वे बच गये थे, इसलिए 'नैसर्गिक वरण' के ज़रिये वे सबके ऊपर आ गये और शासक-वर्ग बन गये। एक वर्ग की दूसरे वर्ग पर या एक नस्ल की दूसरी नस्ल पर प्रभुता को वाजिब ठहराने का यह एक बहाना बन गया। साम्राज्यशाही और गोरी नस्लो के ऊँचे दर्जे की यह आखिरी दलील हो गई। और पश्चिम के बहुत-से लोग समझने लगे कि दूसरो पर जितनी ज्यादा धौंस जमायेंगे और जितने ज्यादा बेदर्द और बलवान बनकर रहेगे, मानवी मूल्यो के सिलसिले मे उनका दर्जा उतना ही ऊँचा हो सकेगा। यह दार्शनिक विचार धारा भली नही है। मगर इससे एशिया और अफ्रीका मे पश्चिम की साम्राज्यशाही शक्तियो के रवैये का मतलब कुछ-कुछ समझ मे आ जाता है।

आगे चलकर दूसरे विज्ञानियो ने डार्विन के मतो की आलोचना की है, लेकिन मोटे तौर पर उसके विचार आज भी सही माने जाते हैं। आमतौर पर उसके मतो को क़बूल किये जाने का एक नतीजा यह हुआ कि लोगो का प्रगति के विचार में विश्वास हो गया। इस विचार का यह अर्थ था कि मनुष्य और समाज और सारा ससार पूर्णता की ओर बढ रहे हैं और दिन-पर-दिन सुधरते जा रहे है।

[1] Missing Link

प्रगति का यह खयाल सिर्फ डार्विन के ही मत का नतीजा नही था। वैज्ञानिक खोज की सारी हलचलो ने और औद्योगिक क्रान्ति के कारण और उसके बाद पैदा होने वाले परिवर्तनो ने लोगो का दिमाग इसके लिए तैयार कर दिया था। डार्विन के मत ने इसकी तसदीक कर दी और लोग कल्पना करने लगे कि मानवी पूर्णता का लक्ष्य कुछ भी हो, वे विजय-पर-विजय हासिल करते हुए अभिमान के साथ उसकी तरफ बढ रहे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि प्रगति का यह विचार बिलकुल नया था। गुज़रे हुए ज़माने मे यूरोप, एशिया या पुरानी किसी भी सभ्यता में भी ऐसा कोई विचार रहा हो, ऐसा नही लगता, यूरोप मे ठेठ औद्योगिक क्रान्ति तक लोग गुज़रे हुए ज़माने को आदर्श काल मानते थे। यूनान और रोम की ऊँची सभ्यता का पुराना ज़माना बाद के ज़मानो से ज्यादा बढिया, ज्यादा आगे बढा हुआ व ज्यादा सुसस्कृत माना जाता था। लोग ऐसा समझने लगे थे कि मनुष्य-जाति दिन-पर-दिन ज्यादा गिरती जा रही है, या उसमे कम-से-कम कोई ज़ाहिरा परिवर्तन नही हो रहा है।

भारत मे भी गिरावट का और बीते हुए स्वर्ण-युग का बहुत-कुछ ऐसा ही खयाल बना हुआ है। भारतीय पुराण भी समय का हिसाब भौगर्भिक युगो जैसे बहुत लम्बे-लम्बे युगो से लगाते हैं, पर वे सतयुग के महान् युग से शुरू करके कलियुग के मौजूदा अधर्म-युग पर आते हैं।

इसलिए हम देखते हैं मानव-प्रगति का विचार बिलकुल आधुनिक है। प्राचीन इतिहास का हमे जैसा कुछ ज्ञान है, उससे हमे इस विचार मे विश्वास होता है। लेकिन हमारा ज्ञान अभी बहुत छोटे दायरे मे है और सम्भव है, पूरा ज्ञान होने पर हमारा नज़रिया बदल जाय। उन्नीसवी सदी के पिछले वर्षों मे इस 'प्रगति' की बाबत जितना जोश था, उतना तो आज भी नही रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम-एक दूसरे को बडे पैमाने पर नष्ट करें, तब तो ऐसी प्रगति मे कुछ-न-कुछ खराबी है। दूसरी बात याद रखने की यह है कि डार्विन के 'योग्यतम की अतिजीविता' न्याय का ज़रूरी अर्थ यह नही है कि जीवन-सग्राम मे सबसे अच्छा ही बाकी बचता है। ये सब तो पण्डितो की अटकलें हैं। हमारे ध्यान मे रखने की बात तो सिर्फ यह है कि अचल या अन-बदल या कि गिरावट की तरफ जानेवाले समाज के पुराने और आम विचार को उन्नीसवी सदी मे आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ धकेल दिया, और उसकी जगह पर यह विचार फैल गया कि समाज गतिशील और परिवर्तनशील है। इसके साथ ही प्रगति का विचार भी पैदा हुआ। और इसमे शक नही कि इस ज़माने मे समाज वास्तव मे इतना बदल गया है कि उसे पहचाना नही जा सकता।

जब मैं तुम्हे डार्विन का जातियो के उद्भव का मत बता रहा हूँ तो तुम्हें यह

जानकर दिलचस्पी होगी कि इस विषय मे एक चीनी दार्शनिक ने, २,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम त्सोन-त्से था और उसने ईसा से छै सौ वर्ष पहले, बुद्ध-काल के आसपास लिखा था—

"सब प्राणियो की उत्पत्ति एक ही जाति से हुई है। इस अकेली मूल जाति मे धीरे-धीरे व लगातार परिवर्तन होते गये, जिसके सबब मे प्राणियो के जुदा-जुदा रूप पैदा हुए। इन प्राणियो मे फौरन ही भेद नही पैदा हुआ था, बल्कि उन्होने अलग-अलग भेद पीढी-दर-पीढी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्तनो से हासिल किये थे।"

यह बात डार्विन के मत से काफी मिलती-जुलती है, और यह अचम्भे की चीज़ है कि यह पुराना चीनी जीव-विज्ञानी ऐसे नतीजे पर पहुँच गया, जिसकी फिर से खोज करने मे ससार को ढाई हज़ार साल लग गये।

जैसे-जैसे उन्नीसवी सदी प्रगति करती गई, वैसे-वैसे परिवर्तनो की गति भी तेज़ होती गई। विज्ञान ने चमत्कार-पर-चमत्कार पैदा किये और खोजो व आविष्कारो की बिना छोरवाली नुमायश से लोगो की आँखें चौंधिया गईं। इनमे से तार, टेलिफोन, मोटर और फिर हवाई-जहाज़ जैसे कितने ही आविष्कारो ने जनता के जीवन मे महान् परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सो को नापने की हिम्मत की। उसने मनुष्य की थकानेवाली मश कत कम कर दी और करोडो का जीवन सुभीते का हो गया। विज्ञान के कारण दुनिया की, और खासकर औद्योगिक देशो की, आवादी मे ज़बर्दस्त वढोतरी हो गई। साथ ही विज्ञान ने विनाश के खूब कामिल साधन भी तैयार कर डाले। मगर इसमे विज्ञान का कसूर नही था। इसने तो प्रकृति पर मनुष्य का काबू वढा दिया, मगर इस तमाम शक्ति को हासिल करके मनुष्य यह नही जान पाया कि अपने ऊपर काबू कैसे किया जाता है। इसलिए उसने वदचलनी की और विज्ञान की भेंट को व्यर्थ गँवा दिया। लेकिन विज्ञान की यह विजय-यात्रा जारी रही और उसने डेढ सौ साल के भीतर ही दुनिया की काया ऐसी पलट दी जैसी पिछले तमाम हज़ारो वर्षों मे भी नही हो पाई थी। सचमुच विज्ञान ने हर दिशा मे और जीवन के हर विभाग मे दुनिया को पूरी तरह बदल डाला है।

विज्ञान की यह प्रगति अब भी चल रही है और वह पहले से भी ज्यादा तेज़ी से दौडता नजर आ रहा है। उसके लिए कोई आराम नहीं है। एक रेल-मार्ग वनता है। मगर जबतक उसके चालू होने का वक्त आता है तबतक ज़माना उससे आगे निकल जाता है! एक मशीन खरीदकर खडी की जाती है कि एक-दो साल मे ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज्यादा कारगर मशीनें बनने लगती हैं। वस, यह वेतहाशा दौड़ चलती रहती है। अब हमारे ज़माने मे भाप की जगह

बिजली लेती जा रही है और इस तरह बहुत-कुछ उतनी ही बड़ी क्रान्ति कर रही है जितनी डेढ़ सौ वर्ष पहले की औद्योगिक क्रान्ति थी।

विज्ञान की अनगिनती सड़कों व गली-कूचों में अनगिनती वैज्ञानिक और विशेषज्ञ बराबर काम में लगे हुए हैं। इनकी कतार में सबसे बड़ा नाम आज एल्बर्ट आइन्स्टीन[1] का है, जो न्यूटन के मशहूर नियम को कुछ हद तक सुधारने में सफल हुआ है।

हाल ही में विज्ञान में इतनी जबर्दस्त प्रगति हुई है और वैज्ञानिक सिद्धान्तों में इतनी बड़ी-बड़ी नई बातें जुड़ गई हैं और इतने बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं कि खुद विज्ञानी भी हक्के-बक्के हो गये हैं। सारी पुरानी मन की तसल्ली और पक्की बात कहने की शान जाती रही है। अब वे यह नहीं कहते कि उनके निकाले हुए नतीजे बिलकुल ठीक हैं, और आगे के लिए भविष्यवाणियाँ करते हुए भी सकुचाते हैं।

मगर यह नई बात बीसवीं सदी की और हमारे अपने जमाने की है। उन्नीसवीं सदी में पूरा आत्म-विश्वास था और विज्ञान अपनी बेशुमार कामयाबियों के घमण्ड में लोगों पर सवार हो गया था, और उन्होंने इसे देवता मानकर इसके आगे सिर झुका दिया था।

· १३१ ·

लोकतन्त्र की प्रगति

१० फरवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें उन्नीसवीं सदी में विज्ञान की प्रगति की झलक दिखाने की कोशिश की थी। अब हमें इस सदी के दूसरे पहलू—लोकतन्त्री विचारों के विकास पर नजर डालनी चाहिए।

तुम्हें याद होगा कि मैंने तुम्हें अठारहवीं सदी के फ्रान्स में विचारधाराओं की टक्कर का हाल बताया था। उस समय के सबसे महान् विचारक और लेखक वाल्तेयर और दूसरे फ्रान्सीसी महापुरुषों ने मजहब और समाज के बारे में कितने ही पुराने खयालों को चुनौती दी थी और हिम्मत के साथ नये मतों को पेश किया

[1] Albert-Einstein—जर्मन वैज्ञानिक। सापेक्षवाद नामक क्रान्तिकारी वैज्ञानिक सिद्धान्त का जन्मदाता। परमाणुशक्ति का विकास इसीकी गणनाओं का फल माना जाता है। यहूदी होने के कारण हिटलर ने इसे जर्मनी से निकाल दिया था। इसने अमरीका में शरण ली। इसकी मृत्यु १९५५ ई० में हुई।

था। ऐसा राजनीतिक सोच-विचार उस समय खासकर फ्रान्स मे ही था। जर्मनी मे भी दार्शनिक थे, मगर उनकी दिलचस्पी दर्शन के कठिन प्रश्नो मे ही ज्यादा थी। इग्लैण्ड मे व्यवसाय और व्यापार बढ रहे थे और ज्यादातर लोगो को हालतो से मजबूर हुए बिना सोच-विचार करने का शौक़ नही था। हाँ, अठारहवी सदी के पिछले हिस्से मे इग्लैण्ड में एक मार्के की पुस्तक जरूर निकली। यह ऐडम स्मिथ की 'वैल्थ ऑफ़ नेशन्स' (राष्ट्रो गी सम्पत्ति) थी। यह पुस्तक राजनीति पर नही थी, बल्कि राजनीतिक अर्थश.स्त्र पर थी। उस समय के दूसरे सब विषयो की तरह यह विषय भी मजहब और नीति के साथ मिला हुआ था और इसलिए इसके बारे में बडा घपला था। ऐडम स्मिथ ने इस विषय पर वैज्ञानिक ढग से लिखा और तमाम नैतिक उलझनो को छोडकर अर्थनीति को चलानेवाले कुदरती नियमो का पता लगाने की कोशिश की। जैसा कि शायद तुम जानती हो, अर्थशास्त्र इस बात से सरोकार रखता है कि लोगो के या किसी समूचे देश के आमद-खर्च का प्रबन्ध कैसे किया जाता है, वे क्या पैदा करते हैं और क्या उपभोग करते हैं, और आपस मे व दूसरे देशो व लोगो के साथ उनके क्या सम्बन्ध हैं। ऐडम स्मिथ का मानना था कि ये सारी पेचीदा हरकतें कुछ अटल कुदरती नियमो के मुताबिक़ होती हैं और इन नियमो का उसने अपनी पुस्तक मे ज़िक्र किया। वह यह भी मानता था कि उद्योग-धन्धो के विकास के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे इन नियमो मे खलल न पडे। दखल न देने की नीति की शुरुआत यही से हुई। इसका कुछ ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। उस समय फ्रान्स में जो नये लोकतन्त्री विचार अँकुवा रहे थे, उनसे ऐडम स्मिथ की पुस्तक का कोई वास्ता न था। लेकिन मनुष्यो व राष्ट्रो पर असर डालनेवाली एक सबसे ज्यादा महत्व की समस्या को वैज्ञानिक ढग से पेश करने का उसका जतन ज़ाहिर करता है कि लोग हर चीज को पुरानी धर्म-शास्त्री निगाह से देखना छोडकर एक नई दिशा मे जा रहे थे। ऐडम स्मिथ अर्थशास्त्र के विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है और उसने उन्नीसवी सदी के कई अग्रेज अर्थशास्त्रियो को प्रेरणा दी है।

अर्थशास्त्र का यह नया विज्ञान प्रोफेसरो और कुछ अच्छे पढ़े-लिखे लोगो के ही दायरे मे रहा। लेकिन इसी बीच नये लोकतन्त्री विचार फैल रहे थे और अमेरिका व फ्रान्स की क्रान्तियो ने उन्हे खूब ही लोकप्रिय बनाया और उनका ज़बर्दस्त प्रचार किया। अमेरिका की स्वाधीनता की घोषणा और फ्रान्स की अधिकारो की घोषणा के लच्छेदार शब्दो और पदो ने लोगो के दिलो मे गहरी हलचल मचा दी। इनसे करोडो पीडितो और शोषितो के दिल फडक उठे और उनके लिए ये मुक्ति का सन्देश लेकर आये। दोनो घोषणाओ मे हर आदमी की स्वतन्त्रता का और समानता का और सुखी रहने के हक का ज़िक्र था। इन प्रिय हको की ज़ोरदार घोषणा से ही लोगो को ये हासिल नही हो गये। आज इन

घोषणाओ के डेढ़ सौ वर्ष बाद भी यह कहा जा सकता है कि इन हकों का फ़ायदा उठानेवालो की संख्या नही के बराबर है। लेकिन इन सिद्धान्तों की घोषणा ही एक अनोखी और जान फूंकनेवाली चीज थी।

दूसरे देशो की तरह यूरोप मे भी, और दूसरे मजहबो की तरह ईसाइयत मे भी, पुराना खयाल यह था कि पाप और दुःख सभी मनुष्यों को लाजिमी तौर पर भोगने पड़ते हैं। मज़हब ने मानो इस ससार मे गरीबी व मुसीबत को एक स्थायी और यहाँ तक कि इज्जत की जगह दे दी थी। मज़हब के वादे व इनाम सारे-के-सारे किसी परलोक के लिए थे, यहाँ तो हमे यही उपदेश दिया जाता था कि भगवान् पर भरोसा करके अपने भाग्य के भोगो को बर्दाश्त करते रहें और किसी बुनियादी परिवर्तन के पीछे न पडें। दान-पुण्य, यानी गरीबों को टुकडे डालने को बढावा दिया जाता था, मगर ग़रीबी या गरीबी पैदा करनेवाली प्रणाली को मिटाने का कोई विचार नही था। स्वतन्त्रता और बराबरी के तो विचार ही ईसाई-सघ और समाज के सत्तावादी नज़रिये के खिलाफ पड़ते थे।

लोकतन्त्र का यह तो कभी कहना नही था कि सब मनुष्य असलियत मे बराबर हैं। वह ऐसा कह भी नही सकता था, क्योकि यह तो ज़ाहिर ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानताएँ होती हैं, तन की असमानताएँ जिनके सबब से ही कुछ लोग दूसरो से बलवान होते हैं, दिमागी असमानताएँ जिनसे कुछ लोग दूसरो से ज्यादा काबिल व बुद्धिमान दिखाई देते हैं, और नैतिक असमानताएँ जो कुछ को स्वार्थी बनाती हैं और कुछ को नही। यह बिलकुल मुमकिन है कि इनमें से बहुत-सी असमानताएँ अलग-अलग तरह के लालन-पालन व शिक्षा के सबब से या शिक्षा के अभाव से होती हो। दो एक-सी काबलियतवाले लडको या लडकियों मे से एक को अच्छी शिक्षा दे दो और दूसरे को बिलकुल न दो, तो कुछ वर्षों बाद दोनों मे जबर्दस्त फर्क हो जायगा। या एक को तन्दुरुस्ती बढानेवाला भोजन दो, और दूसरे को खराब और नाकाफी भोजन दो, तो पहला ठीक तरह से बढेगा और दूसरा कमजोर, रोगी और दुबला-पतला रहेगा। इसलिए लालन-पालन, चौगिर्द, ट्रेनिंग व शिक्षा मनुष्य मे भारी भेद पैदा कर देते है और हो सकता है कि अगर सबको एक ही तरह की ट्रेनिंग और मौके मिलें तो असमानता आज के मुक़ाबले मे बहुत कम हो जाय। असल मे यह बहुत सम्भव है। लेकिन जहाँतक लोकतन्त्र का सम्बन्ध है, वह मानता है कि मनुष्य दरअसल असमान होते हैं, और फिर भी वह कहता है कि हरेक मनुष्य के साथ ऐसा वर्ताव किया जाना चाहिए मानो उसका राजनीतिक व समाजी महत्व सबके बराबर है। अगर इस लोकतन्त्री सिद्धान्त को पूरी तरह मान लें तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजो पर पहुँच जाते हैं। यहाँ हमे इसकी चर्चा करने की जरूरत नही, लेकिन इस सिद्धान्त से लाज़िमी नतीजा यह

निकला कि शासन करनेवाली विधान-सभा या ससद के लिए प्रतिनिधि के चुनाव मे हर व्यक्ति को वोट देने का हक होना चाहिए। वोट देने का हक राजनीतिक सत्ता का निशान है, और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को वोट का हक हो तो उसे राजनीतिक सत्ता मे बराबर का हिस्सा मिल जायगा। इसलिए सारी उन्नीसवी सदी मे लोकतन्त्र की खास माँग यह थी कि मताधिकार बढ़ाया जाय। बालिग मताधिकार का मतलब यह होता है कि हर बालिग व्यक्ति को वोट देने का अधिकार हो। बहुत समय तक स्त्रियो को वोट देने का अधिकार नही था, और बहुत दिन नही हुए जब स्त्रियो ने, खासतौर पर इग्लैण्ड मे, इस बारे मे ज़बर्दस्त आन्दोलन किया था। ज्यादातर उन्नत देशो मे आजकल स्त्रियो और पुरुषो दोनो को बालिग मताधिकार हासिल है।

मगर विचित्र बात यह हुई कि जब ज्यादातर लोगो को वोट का हक मिल गया, तब उन्हें मालूम पडा कि इससे उनकी हालत मे कोई बडा फर्क नही पडा। वोट का हक मिल जाने पर भी राज्य मे या तो उन्हे कुछ भी सत्ता नही मिली या बहुत ही थोडी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का ? असली सत्ता तो उन लोगो के हाथो में रही, जो उसकी भूख से फायदा उठा सकते थे और उसे मजबूर करके अपने फायदे का कोई भी मनचाहा काम उससे करा लेते थे। बस, वोट के हक से जिस राजनीतिक सत्ता के मिलने का खयाल था, वह बिना असलियत की परछाईं और बिना आर्थिक सत्तावाली साबित हुई। शुरू के लोकतन्त्रवादियो के वे रौनकदार सपने कि मताधिकार मिलते ही बराबरी आजायगी, झूठे साबित हुए।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनो मे, यानी अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवी सदी के शुरू मे, लोकतन्त्रवादियो मे बडा जोश था। लोकतन्त्र सबको आज़ाद और बराबरी का नागरिक बनानेवाला था, और सरकार व राज्य सबके सुख का उपाय करनेवाले ! अठारहवी सदी के बादशाहो और सरकारो ने जैसी मनमानी चलाई थी और अपनी निरकुश सत्ता का जैसा बुरा इस्तेमाल किया था, उसके खिलाफ बडी प्रतिक्रिया हुई। इससे लोगो को अपनी घोषणाओ मे व्यक्तियो के हको का भी ऐलान करना पडा। शायद अमेरिका और फ्रान्स की घोषणाओ मे व्यक्तियो के हको के ये बयान जरूरत से कुछ आगे बढ़ गये थे। समाज की गठरी मे से व्यक्तियो को अलग-अलग करके उन्हें पूरी आज़ादी दे सकना आसान नही है। ऐसे व्यक्ति और समाज के हित आपस मे टकरा सकते हैं और टकराते भी हैं। खैर, कुछ भी हो, लोकतन्त्र व्यक्तियो को खूब आज़ादी देने का दम भरता है।

इग्लैण्ड पर, जो अठारहवी सदी मे राजनीतिक विचारो मे पिछडा हुआ

था, अमेरिका और फ्रान्स की राज्यक्रान्तियो का गहरा असर पडा। उस पर पहली प्रतिक्रिया तो इस दहशत की हुई कि नये लोकतन्त्री विचारो से देश मे समाजी क्रान्ति न हो जाय। शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और प्रतिगामी हो गये। फिर भी दिमागी लोगो मे नये विचार फैलते गये। टामस पेन इस ज़माने का एक दिलचस्प अंग्रेज़ हुआ है। स्वाधीनता के युद्ध के समय वह अमेरिका मे था, और उसने अमेरिकावासियो की मदद की थी। मालूम होता है कि अमेरिकी लोगो का विचार पूरी स्वाधीनता की तरफ बदल देने मे इसका भी कुछ हाथ था। इंग्लैण्ड लौटने पर उसने फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति की पैरवी मे 'दि राइट्स ऑफ मैन' (मनुष्य के अधिकार) नामक पुस्तक लिखी। यह क्रान्ति उस समय शुरू ही हुई थी। इस पुस्तक में उसने राजाशाही पर हमला किया और लोकतन्त्र की हिमायत की। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने उसे बाग़ी करार दिया और उसे भागकर फ्रान्स चला जाना पडा। पेरिस मे वह बहुत जल्द नेशनल कन्वेन्शन का सदस्य बन गया, मगर १७९३ ई० मे जैकोबिनी लोगो ने उसे क़ैद कर दिया, क्योंकि उसने सोलहवें लुई की हत्या का विरोध किया था। पेरिस के जेलखाने मे उसने 'दि एज ऑफ रीज़न' (तर्क का युग) नाम की दूसरी पुस्तक लिखी। इसमे उसने मज़हबी नज़रिये की बुराई की। रोबेसपीर की मृत्यु के बाद उसे पेरिस जेल से छोड दिया गया। चूँकि स्पेन अंग्रेज़ी अदालतो के दायरे के बाहर था, इसलिए इस पुस्तक को छापने के जुर्म मे उसके अंग्रेज़ प्रकाशक को कैद की सज़ा दे दी गई। ऐसी पुस्तक समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्योकि ग़रीबो को जहाँ-का-तहाँ रखने के लिए मज़हब ज़रूरी माना जाता था। पेन की पुस्तक के कई प्रकाशक जेल भेज दिये गए। इनमे स्त्रियाँ भी थी। यह दिलचस्पी की बात है कि कवि शेली ने इस सज़ा के विरोध मे न्यायाधीश को एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवी सदी के सारे अगले हिस्से मे जो लोकतन्त्री विचार फैले, यूरोप मे उनकी बुनियाद डालनेवाली फ्रान्स की राज्यक्रान्ति थी। हालतें जल्दी-जल्दी बदल रही थी, फिर भी क्रान्ति के विचार सचमुच बने ही रहे। ये लोकतन्त्री विचार बादशाहो के व निरकुशता के खिलाफ दिमाग़ी प्रतिक्रिया थे। इन विचारो की जड उद्योगवाद से पहले की हालतो मे थी। लेकिन भाप और बडी-बडी मशीनों का नया उद्योग पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह उलट रहा था। फिर भी यह अजीब बात है कि शुरू उन्नीसवीं सदी के वाम-दली और लोकतन्त्रवादी इन परिवर्तनो को दरगुज़र करते रहे और क्रान्ति व मानव-अधिकारो की घोषणा की लच्छेदार भाषा मे ही बातें करते रहे। शायद उनके विचार मे ये परिवर्तन निरे दुनियावी चीज़ो से ताल्लुक रखनेवाले थे और लोकतन्त्र की ऊँची आध्यात्मिक, नैतिक और राजनीतिक माँगो पर उनका कोई असर नही पडता था। मगर दुनियावी चीज़ो का ऐसा ढग होता है कि उनको छोडा नही जा सकता। यह बडी दिलचस्पी की बात

है कि लोगों के लिए पुराने विचार छोडना और नये अपनाना बहुत ही कठिन होता है। वे अपनी आँखो और अपने दिमागो को बन्द कर लेते है और देखने से ही इन्कार कर देते हैं और पुरानी बातो से उन्हे नुकसान पहुँचता हो तो उनसे चिपके रहने के लिए लडते हैं। नये विचारो को कबूल करने और अपने-आपको नई हालतो मे ढालने के सिवा वे सबकुछ करने को तैयार रहते हैं। कट्टरपन मे बडी जबर्दस्त शक्ति होती है। अपने को बहुत उन्नतिशील समझनेवाले वामदली लोग भी अक्सर पुराने और थोथे विचारो से चिपके रहते हैं और बदलती हुई हालतो की तरफ से आँखे मूँद लेते हैं। कोई ताज्जुब नही कि प्रगति धीमी पड जाती है और अक्सर करके असली हालतें लोगो के विचारो से बहुत पीछे रह जाती है, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी हालतें पैदा हो जाती हैं।

इस तरह बीसियो वर्षों तक लोकतन्त्रवाद का काम सिर्फ फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के विचारो और परम्पराओ को जारी रखना ही रहा। लोकतन्त्रवाद ने अपने-आपको नई हालतो मे नही ढाला। इसका नतीजा यह हुआ कि सदी का अन्त होते-होते वह कमजोर पड गया और बाद मे बीसवी सदी मे तो बहुतो ने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया। आज भारत मे भी हमारे बहुतेरे प्रगतिशील राजनीतिज्ञ अभी तक फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति की और मानव-अधिकारो की बातें करते हैं, इस बात को नही महसूस करते कि तबसे अबतक क्या-क्या हो चुका है।

शुरू के लोकतन्त्रवादियो का बुद्धिवाद को अपनाना लाज़िमी था। विचार और भाषण की स्वतन्त्रता की उनकी माँग का कट्टरपन्थी मज़हब व धर्मशास्त्रवाद के साथ समझौता होना असम्भव था। इस तरह लोकतन्त्रवाद और विज्ञान ने मिलकर धर्मशास्त्री रूढियो का शिकजा ढीला किया। लोग बाइबिल की भी जाँच करने की हिम्मत करने लगे, मानो वह एक मामूली पुस्तक थी और ऐसी चीज नही थी जिसे बिना शका के अन्धी भक्ति के साथ मान लिया जाय। बाइबिल की इस आलोचना को 'ऊँचे दर्जे की आलोचना' कहा गया। इन आलोचको ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल अलग-अलग युगो के अलग-अलग व्यक्तियो के लेखो का सग्रह है। उनका यह भी मत था कि ईसा का कोई मज़हब चलाने का इरादा नही था। इस आलोचना से कितने ही पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतन्त्री विचारो के सबब पुरानी मज़हबी नीवें कमज़ोर होती गईं वैसे-वैसे पुराने मज़हब की जगह बिठाने के लिए एक नया दर्शन रचने के जतन किये गए। ऐसा ही एक जतन आगस्त कोन्त नामक फ्रान्सीसी दार्शनिक ने किया था। इसका समय सन् १७९८ से १८५७ ई० तक है। कोन्त ने महसूस किया कि पुराने धर्म-शास्त्रवाद और कट्टरपन्थी मज़हब का ज़माना जाता रहा, मगर उसे यह भी विश्वास हो गया कि समाज को किसी-न-किसी मज़हब की

जरूरत है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म'[1] का प्रस्ताव किया और उसका नाम 'धनात्मकवाद'[2] रक्खा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और प्रगति रक्खे गये। इसमे कोई बात अलौकिक नही थी, इसका आधार विज्ञान था। उन्नीसवीं सदी की दूसरी सब चालू विचारधाराओं की तरह इस विचारधारा के पीछे भी मनुष्य-जाति की प्रगति का विचार था। कौन्त के मजहब पर कुछ गिने-चुने दिमागी लोगो का ही विश्वास रहा, मगर यूरोप के विचारो पर उसका आम असर खूब पड़ा। मानव-समाज और संस्कृति से ताल्लुक रखनेवाले समाजशास्त्र का अध्ययन इसी का शुरू किया हुआ समझना चाहिए।

अंग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३ ई०) कौन्त के ही समय मे हुआ था, मगर वह कौन्त की मृत्यु के बहुत वर्ष बाद तक जिन्दा रहा। मिल पर कौन्त के मतो और समाजवादी विचारो का असर पड़ा था। ऐडम स्मिथ के मतो को लेकर राजनीतिक अर्थशास्त्र का जो पन्थ इग्लैण्ड मे बन गया था, उसे मिल ने नई दिशा मे ले जाने की कोशिश की और उसने आर्थिक विचारो मे कुछ समाजवादी सिद्धान्तो को डाला। मगर वह सबसे बड़ा 'उपयोगितावादी'[3] मशहूर हुआ है। उपयोगितावाद का मत नया था, जो इग्लैण्ड में चल तो कुछ समय पहले ही चुका था, मगर उसे ज्यादा महत्व दिया मिल ने। जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, इसको राह दिखानेवाला दर्शन था 'उपयोगिता'। उपयोगिता-वादियो का बुनियादी सिद्धान्त था 'अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख'[4]। भलाई-बुराई की सिर्फ यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढानेवाला होता वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दुःख बढ़ाता वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का संगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के सुख में ज्यादा-से-ज्यादा बढ़ोतरी के वास्ते ही माना गया। यह नजरिया सबको बरा-बरी का अधिकार देनेवाले लोकतन्त्रवादी सिद्धान्त से अलग तरह का था। ज्यादा-से-ज्यादा लोगो के ज्यादा-से-ज्यादा सुख के लिए थोड़े-से लोगो की कुर्बानी या तकलीफ जरूरी हो सकती हैं। मैं तुम्हे सिर्फ यह फर्क बता रहा हूँ, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नही। इस तरह लोकतन्त्र का अर्थ बहुमत के हक़ माना जाने लगा।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लोकतन्त्री विचार का जोरदार हामी था। उसने 'स्वतन्त्रता पर'[5] नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी जो बहुत

---

[1] Religion of Humanity. [2] Positivism. [3] Utilitarian.
[4] Greatest happiness of the greatest number. [5] On Liberty.

मशहूर हो गई। मैं इस पुस्तक का एक खुलासा यहाँ दूंगा, जिसमे भाषण की स्वतन्त्रता और विचारो की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का समर्थन किया गया है —

"किसी मत की अभिव्यक्ति पर ताला लगा देने मे खास बुराई यह है कि मनुष्य-जाति उससे महरूम रह जाती है—आनेवाली सन्तान और मौजूदा पीढी भी, और उस मत के माननेवालो से भी ज्यादा वे लोग जो उससे मतभेद रखते हैं। अगर वह मत सही है तो लोग असत्य की जगह पर सत्य को विठाने के अवसर से महरूम रह जाते हैं, अगर ग़लत है तो वे करीव उतना ही बडा लाभ खो देते हैं—यह लाभ है सत्य के साथ उस मत की टक्कर से पैदा होनेवाले सत्य का ज्यादा साफ ज्ञान और सत्य की ज्यादा चटकीली छाप। हम यह कभी तय नही कर सकते कि जिस मत का गला घोटने की हम कोशिश करते हैं, वह झूठा है, और अगर हमें यक़ीन भी हो तो भी उसका गला घोटना बुराई ही होगी।"

ऐसे रुख का कट्टरपन्थी मजहव या अन्याय के साथ समझौता नही हो सकता था। यह तो दार्शनिक का, सत्य के खोजी का, रवैया था।

मैंने तुम्हे उन्नीसवी सदी के पश्चिमी यूरोप के कुछ बडे-बडे विचारकों के नाम वता दिये हैं, ताकि तुम्हें विचारधाराओ के विकास की दिशा का पता लग जाय और ये नाम तुम्हारे लिए विचारो की दुनिया मे राह वतानेवाले चिह्न वन जाएँ। मगर इन लोगो का, और आमतौर पर शुरू के लोकतन्त्रवादियो के असर का दायरा करीव-करीव दिमागी वर्गों तक ही था। इन दिमागी लोगो मे छनकर वह कुछ हद तक दूसरे लोगो मे भी पहुँच गया था। हालाँकि इस लोकतन्त्री विचार-धारा का सीधा असर तो जनता पर वहुत मामूली पडा, लेकिन वेमालूम असर खूब हुआ। मताधिकार की माँग जैसे कुछ मामलो मे तो सीधा असर भी वहुत पडा।

जैसे-जैसे उन्नीसवी सदी वीतती गई वैसे-वैसे मजदूर-आन्दोलन और समाज-वाद के अलावा दूसरे आन्दोलनो और विचारो का भी विकास हुआ। इनका असर चालू लोकतन्त्री खयालों पर पडा और इन खयालो का असर आन्दोलनों पर पडा। कुछ लोग समाजवाद को लोकतन्त्र की जगह लेनेवाला समझने लगे, कुछ उसे उसी का एक जरूरी अग समझने लगे। हम देख चुके हैं कि लोकतन्त्रवादियो के दिमाग मे स्वतन्त्रता, वरावरी और हरेक को सुख का वरावर हक के खयाल भरे हुए थे। मगर उन्होंने वहुत जल्दी महसूस कर लिया कि सुख को बुनियादी हक मान लेने से ही वह हासिल नही हो जाता है। दूसरी वातो के अलावा मनुष्य के लिए कुछ जिन्दगी का आराम भी जरूरी है। जो भूखा मर रहा है, वह सुखी नही हो सकता। इससे यह विचार पैदा हुआ कि सुख इस वात पर निर्भर है कि धन का वँटवारा

लोगो मे ठीक तरह से हो। इससे हम समाजवाद मे चले जाते हैं, पर उसका बयान अगले पत्र मे किया जायगा।

उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से मे जहाँ-जहाँ पराधीन राष्ट्र या कौमे आजादी के लिए लड रहे थे, वहाँ-वहाँ लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता का मेल हो गया था। इटली का मैजिनी इस तरह के लोकतन्त्री देश-प्रेम का एक खास नमूना था। आगे चलकर इसी सदी मे राष्ट्रीयता का यह लोकतन्त्री रूप धीरे-धीरे नष्ट हो गया और वह दिन-पर-दिन ज्यादा सरगर्म और सत्तावादी बनती गई। राज्य एक ऐसा देवता बन गया जिसकी पूजा करना सबके लिए लाज़िमी था।

नये उद्योगो के नेता अंग्रेज़ व्यापारी थे। उन्हे ऊँचे-ऊँचे लोकतन्त्री सिद्धान्तो मे और जनता की स्वतन्त्रता के अधिकार मे कोई ज्यादा दिलचस्पी नही थी। मगर उन्होंने देख लिया कि लोगो को ज्यादा स्वतन्त्रता देना व्यापार के लिए अच्छी चीज है। इससे मजदूरो के रहन-सहन की सतह ऊँची उठ जाती है, वे इस भ्रम मे फँस जाते हैं कि उन्हें कुछ आजादी मिली हुई है, और अपना काम ज्यादा मुस्तैदी से करने लगते हैं। उद्योगो के कामगरो मे ज्यादा मुस्तैदी लाने के लिए सब लोगो की शिक्षा भी ज़रूरी थी। इसकी ज़रूरत को समझकर व्यापारी और उद्योगपति परोपकार का ढोग रचकर जनता को ये मेहरबानियाँ इनायत करने को राज़ी हो गये। उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से मे इग्लैण्ड और पश्चिमी यूरोप मे किसी-न-किसी तरह की शिक्षा तेज़ी से फैलने लगी।

१३२ :

समाजवाद का आगमन

१३ फरवरी, १९३३

मैं तुम्हे लोकतन्त्र की उन्नति के बारे मे लिख चुका हूँ, मगर याद रहे कि इस उन्नति के लिए कठिन लडाई लडनी पडी थी। किसी चालू व्यवस्था मे जिन लोगो का स्वार्थ होता है, वे परिवर्तन नही चाहते और उसे रोकने के लिए सारा ज़ोर लगा देते हैं। फिर भी ऐसे परिवर्तनो के बिना कोई प्रगति या बेहतरी नही हो सकती। किसी भी सस्था या शासन-प्रणाली को अपने से अच्छी के लिए जगह खाली करनी पडती है। जो लोग ऐसी प्रगति चाहते हैं, उन्हे पुरानी सस्था या पुराने रिवाज पर हमला करना ही पडता है। इसलिए उनका रास्ता यह हो जाता है कि मौजूदा हालतो से कभी समझौता नही करना और जो लोग उनसे फायदा उठाते हैं, उनके साथ हमेशा झगडा करते रहना। पश्चिमी यूरोप मे शासक-वर्गों ने हर तरह की प्रगति का कदम-क़दम पर विरोध किया।

इंग्लैण्ड मे उन्होंने हथियार तभी डाले जब देख लिया कि ऐसा न करने से खूनी क्रान्ति हो जायगी। जैसाकि मैं पहले बता चुका हूँ, उनके लिए आगे बढ़ने की दूसरी वजह नये व्यवसायी लोगो का यह महसूस करना था कि व्यापार के लिए भी थोडा-बहुत लोकतन्त्र जमाने का तकाजा भी है और फायदेमन्द भी।

मगर मैं तुम्हे फिर याद दिलाता हूँ कि उन्नीसवी सदी के अगले हिस्से मे इन लोकतन्त्री विचारो का दायरा ज्यादातर दिमाग़ी लोगो तक ही था। आम जनता पर उद्योगवाद की बढोतरी का ज़बर्दस्त असर पडा था और वे ज़मीनें छोड-छोडकर कारखानो मे जाने को मजबूर हुए थे। औद्योगिक मज़दूरो का वर्ग बढ रहा था, जो भद्दे और गन्दे कारखानी नगरो मे भेड-बकरियो की तरह रहता था। ये नगर ज्यादातर कोयले की खानो के आस-पास थे। इन मजदूरो मे तेजी के साथ परिवर्तन हो रहे थे और उनके अन्दर एक नई मनोवृत्ति या ज़हनियत का विकास हो रहा था। जो ढेरो किसान और कारीगर भूख के मारे कारखानो मे आ-आकर भरती हुए थे, उनसे ये मज़दूर बिलकुल जुदा किस्म के थे। जैसे इन कारखानो के खोलने मे इंग्लैण्ड सबसे आगे बढा हुआ था, वैसे ही औद्योगिक मज़दूरो का वर्ग भी पहले-पहल इंग्लैण्ड मे ही बढा। कारखानो के भीतर की हालत दिल दहलानेवाली थी और मज़दूरो के घरों या झोपडो की उससे भी बदतर। उन्हें मुसीबतें भी बहुत थी। छोटे-छोटे बच्चो और स्त्रियो को इतने घण्टे काम करना पडता था कि आज उसपर यक़ीन नहीं होता। फिर भी इन कारख़ानो और घरो की हालत कानून के ज़रिये सुधारने की सब कोशिशो का मालिको ने डटकर विरोध किया। उनका कहना था कि यह सम्पत्ति के हको मे शर्मनाक दस्तन्दाजी है। खानगी मकानो को कानूनन साफ-सुथरा रखने का भी उन्होंने इसी आधार पर विरोध किया।

ग़रीब अंग्रेज़ मज़दूर धीमे-धीमे फ़ाक़ाकशी और ज्यादा काम के बोझ से मरे जा रहे थे। नेपोलियनी युद्धो से देश चूर हो गया था और आर्थिक मन्दी फैल गई थी, जिसकी मुसीबत सबसे ज्यादा मजदूरो पर ही पडी। मजबूर होकर मज़दूर लोग अपनी रक्षा करने को, और अपनी हालत मे सुधार करने के वास्ते लडने को समितियाँ बनाना चाहते थे। पुराने जमाने मे कारीगरो और कुशल मज़दूरो की पचायतें होती थी, मगर वे बिलकुल अलग ढग की थी। फिर भी उन पचायतो की याद ने कारख़ानो के मज़दूरो को अपनी समितियाँ बनाने के लिए उकसाया होगा। मगर उन्हें ऐसा नही करने दिया गया। इंग्लैण्ड का शासक-वर्ग फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति से इतना डर गया था कि उन्होंने 'सम्मिलन कानून'[1] कहलानेवाले ऐसे कानून बना दिये कि बेचारे मज़दूर अपने दुख-सुख की चर्चा करने के लिए इकट्ठे भी न हो सकें। तब इंग्लैण्ड मे, और आज भारत मे, 'कानून और व्यवस्था'

[1] Combination Acts.

ने सदा मुट्ठीभर सत्ताधारियो के स्वार्थ साधने और जेबें भरने का बडा फायदेमन्द काम किया है।

लेकिन मज़दूरो को इकट्ठा होने से रोकनेवाले कानूनो मे मज़दूरो की हालतें सुधरी नही। वे उलटे भडक गये और सब आशाएँ छोड बैठे। उन्होने गुप्त समितियाँ बनाईं, सब बातें गुप्त रखने की आपस मे कसमे खाईं, और सुनसान जगहो मे आधी रात गये सभाएँ करने लगे। किसी साथी की गद्दारी पर या भेद खुल जाने पर षड-यन्त्र के मुकदमे चलते और भयकर सज़ाएँ दी जाती। कभी-कभी वे गुस्से मे आकर मशीनो को तोड-फोड डालते, कारखानो मे आग लगा देते और कुछ मालिको की हत्या भी कर डालते थे। अन्त मे, १८२५ ई० मे, मज़दूर-सगठनो पर से पाबन्दियाँ कुछ-कुछ हटा ली गई और मज़दूर-यूनियन बनने लग गई। ये यूनियनें अच्छी तनख्वाह पानेवाले कुशल मज़दूरो ने बनाईं। अकुशल मज़दूर लम्बे अर्से तक बिखरे ही रहे। इस तरह मज़दूर-आन्दोलन की यह सूरत हो गई कि मिलकर शर्तें तय करने के उपायो से मज़दूरो की हालत सुधारने के लिए मजदूर-यूनियनें बन गईं। मज़दूरो के हाथ मे कारगर हथियार तो सिर्फ हडताल करने के अधिकार का था, यानी काम बन्द कर देना और कारखाने का काम ठप्प कर देना। बेशक यह बडा हथियार था, मगर उनके मालिको के हाथ मे इससे भी ज्यादा शक्तिशाली हथियार यह था कि वे मज़दूरो को भूखो मारकर उनके घुटने टिकवा सकते थे। इस तरह मज़दूरो की लडाई जारी रही, जिसमे उन्हें बहुत कुर्बानियाँ तो देनी पडी और फायदा धीरे-धीरे हुआ। पार्लमेण्ट पर उनका सीधा असर नही था, क्योकि उन्हे वोट देने का भी हक नही मिला था। १८३२ ई० के जिस महान् 'सुधार बिल' का इतना कडा विरोध हुआ था, उससे सिर्फ आसूदा मध्यम-वर्ग के लोगो को वोट का हक़ मिला था। मज़दूरो ही नही, बल्कि नीचे के मध्यम-वर्ग को भी अभी तक वोट का अधिकार नही था।

इसी बीच मेनचेस्टर के कारखानेदारो मे ही एक दयावान व्यक्ति पैदा हुआ, जिसे मज़दूरो की दिल-दहलानेवाली हालत देखकर बहुत दु:ख हुआ। इसका नाम रॉबर्ट ओवेन था। उसने अपने निजी कारखानो मे बहुत-से सुधार जारी किये और अपने मज़दूरो की हालत सुधारी। वह अपने ही मालिकवर्ग मे आन्दोलन करता रहा और दलीलो के ज़रिये उन्हें मज़दूरो के साथ अच्छा बर्ताव करने को राज़ी करने की कोशिशें करता रहा। कुछ तो इसकी कोशिशो से, और कुछ दूसरी हालतो से, मजबूर होकर, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने मज़दूरो को मालिको के लोभ और स्वार्थीपन से बचाने के लिए पहला कानून पास किया। यह १८१९ ई० का 'कारखाना क़ानून'[1] था। इस कानून की यह मंशा थी कि नौ-नौ वर्ष के छोटे बच्चो से

[1] Factory Act.

बारह घण्टे से ज्यादा काम न लिया जाय। इस बन्दोबस्त से ही तुम्हें कुछ अन्दाजा हो जायगा कि मजदूरो को कैसी भयकर हालतो को बर्दाश्त करना पडता था।

कहते हैं कि रॉबर्ट ओवेन ने ही १८३० ई० के आसपास 'समाजवाद' शब्द का पहले-पहल इस्तेमाल किया था। अलबत्ता गरीब-अमीर के भेद को काट-छाँटकर एक सतह पर लाने का, और जहाँतक हो सके सम्पत्ति के बराबर बँटवारे का, विचार नया नही था। पहले भी बहुत लोगो ने इसकी वकालत की थी। आदिम ज़माने के समुदायो मे एक तरह का साम्यवाद था ही, क्योकि उनमे सारे समुदाय या गाँव का जमीन और दूसरी सम्पत्ति पर शामिल क़ब्ज़ा होता था। इसे आदिम साम्यवाद कहते हैं, और यह भारत मे व दूसरे कई देशो मे पाया जाता है। मगर नया समाजवाद सबको बराबर कर देने के धुँधले इरादे के अलावा और भी बहुत-कुछ था। यह ज्यादा निश्चित था और शुरू-शुरू मे इसकी मशा उत्पादन की नई कारखाना-प्रणाली पर ही लागू होने की थी। इसलिए यह औद्योगिक प्रणाली का ही बच्चा था। ओवेन का विचार यह था कि मजदूरो की सहकारी-समितियाँ बन जायँ और मजदूरो का कारखानो मे हिस्सा हो जाय। उसने इंग्लैण्ड और अमेरिका मे नमूने के कारखाने और बस्तियाँ कायम की और उसे कमती-बढती सफलता भी मिली। मगर वह अपनी मालिक-बिरादरी के या सरकार के विचारो को नही बदल सका। फिर भी अपने समय मे उसका असर बहुत था और उसने 'समाजवाद' का एक ही शब्द ऐसा चला दिया, जिसने उसी समय से करोडो के दिलो को मोह लिया है।

इस बीच पूँजीशाही उद्योग-धन्धे बराबर बढते गये, और जैसे-जैसे इन्हें सफलता-पर-सफलता मिलती गई वैसे-वैसे मजदूरो की समस्या भी जोर पकडती गई। पूँजीशाही का नतीजा यह हुआ कि उत्पादन बहुत बढ गया और उसकी वजह से आबादी भी जबर्दस्त तेज़ी से बढी, क्योकि अब पहले से ज्यादा आदमियो को परवरिश और खूराक मिल सकती थी। एक तरफ़ बडे-बडे व्यवसाय खडे हो गये, जिनके अलग-अलग विभागो मे पेचीदा ढग का सहयोग था। दूसरी तरफ़ छोटे-छोटे काम-धन्धो की मुकाबलेदारी कुचल दी गई। इंग्लैण्ड मे दौलत उलट पडी लेकिन उसका बडा हिस्सा नये कारखाने या रेल-मार्ग या इसी किस्म के दूसरे कारोबार खडे करने मे लगाया गया। मजदूरो ने भी हडतालें कर-करके अपनी हालतें सुधारने की कोशिश की, मगर ये हडतालें आमतौर पर बुरी तरह असफल हो जाती थी। बाद मे मज़दूर लोग १८४० ई० के चार्टिस्ट आन्दोलन मे शामिल हो गये। मैं तुम्हे किसी पिछले पत्र मे बता चुका हूँ कि यह आन्दोलन १८४८ ई० की क्रान्ति के वर्ष मे ठण्डा हो गया था।

पूँजीशाही की सफलता ने लोगो की आँखें चौंधिया दी, मगर फिर भी कुछ

वाम-पक्षी दलवाले या प्रगतिशील विचारोंवाले या दयावान लोग ऐसे रह गये थे, जो पूंजीशाही की गल-घोटू होड़बाजी से, और देश की बढ़ती हुई दौलत के बावजूद उससे पैदा होनेवाली मज़दूरो की मुसीबतो से, बहुत दुखी थे। इग्लैण्ड, फ्रान्स, और जर्मनी मे इस समस्या के अलग-अलग हल भी सुझाये गए। इन्ही सबका सामूहिक नाम समाजवाद, समष्टिवाद या समाजी लोकतन्त्र पडा। इन सब शब्दों का मोटे तौर पर एक ही अर्थ है। ये सब सुधारक आमतौर पर इस बात पर सहमत थे कि उद्योगो पर निजी मिल्कियत व कब्ज़े का होना सारे झगडे की जड है। इसके बजाय अगर उद्योगो का, या कम-से-कम जमीन और बडे-बडे उद्योगों—जैसे उत्पादन के बडे-बडे साधनो का, मालिक राज्य ही बन जाय और वही उन्हे चलावे, तो मज़दूरो के शोषण का खतरा न रहे। इस तरह कुछ सरसरी तौर पर लोग पूंजीशाही प्रणाली का कोई विकल्प ढूंढने लगे। मगर पूंजीशाही प्रणाली का ढह जाने का कोई इरादा नही था। वह तो दिन-पर-दिन ज्यादा मज़बूत होती जा रही थी।

इन समाजवादी विचारो के चलानेवाले दिमागी लोग थे और कारखानेदारो मे रॉबर्ट ओवेन था। मज़दूर यूनियनो के आन्दोलन का विकास कुछ समय के लिए दूसरी दिशा मे चला गया और सिर्फ ज्यादा मज़दूरी और पहले से अच्छी हालतो के लिए कोशिश करने लगा। मगर उसपर इन विचारो का लाज़िमी असर पडा और फिर उसने भी समाजवाद के विकास पर बहुत बडा असर डाला। यूरोप के तीन अगुआ देश इग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी मे अपने-अपने यहाँ के मज़दूरवर्ग के बल व खासियत के मुताबिक समाजवाद का विकास कुछ अलग-अलग तरह से हुआ। सारी बातो को देखते हुए अंग्रेजो का समाजवाद था, जो क्रम-विकास के तरीक़ो व धीमी प्रगति मे विश्वास करता था। अन्य यूरोपीय देशो का समाजवाद अधिक वामपक्षी और क्रान्तिकारी था। अमेरिका मे परिस्थितियाँ इससे बहुत भिन्न थी, क्योकि वह बडा लम्बा-चौडा देश होने के कारण वहाँ मज़दूरो की माँग थी। इसलिए बहुत समय तक वहाँ कोई ज़ोरदार मज़दूर-आन्दोलन नही पनप सका।

उन्नीसवी सदी के बीच से लगाकर आगे एक पीढी तक ब्रिटिश उद्योग संसार पर छाया रहा और कारखानो के मुनाफे और भारत व दूसरे अधीन देशो के शोषण से मिलनेवाली दौलत वहाँ भरती रही। इस बडी दौलत का एक हिस्सा किसी-न-किसी रूप मे मज़दूरो तक भी पहुँच गया और उनके रहन-सहन का दर्जा इतना ऊँचा हो गया, जितना उन्होने पहले कभी नही जाना था। खुशहाली और क्रान्ति का क्या साथ? इसलिए ब्रिटिश मज़दूरो की पुरानी क्रान्ति-भावना गायब हो गई। ब्रिटिश छाप का समाजवाद भी सबसे ज्यादा नर्म हो गया। इसका नाम फेबियनवाद पड

गया, क्योंकि इस नाम का एक रोमन सेनापति था जो दुश्मन से सीधी लड़ाई न लड़कर उसे धीरे-धीरे थका मारता था। १८६७ ई० में इंग्लैण्ड मे मताधिकार और भी बढा दिया गया और थोड़े-से शहरी मज़दूरो को भी वोट का हक मिल गया। मज़दूर-यूनियनें इतनी सल्कदार और ख़ुशहाल हो गईं कि मज़दूर-वर्ग के वोट ब्रिटिश उदार दल को मिलने लगे।

इधर इंग्लैण्ड अपनी ख़ुशहाली मे मस्त और बेफिक्र हो रहा था और उधर यूरोप व दूसरे देशो मे लोग एक नये मत का बड़े जोश और उत्साह से समर्थन कर रहे थे। यह मत अराजकतावाद[1] कहलाता था। जो लोग इसके बारे मे कुछ नही जानते, वे, मालूम होता है, इस शब्द से ही डर जाते हैं। अराजकतावाद का अर्थ ऐसा समाज है, जिसमे जहाँतक हो सके, कोई केन्द्रीय सरकार न हो और व्यक्तियो को खूब आज़ादी हो। अराजकता का आदर्श बहुत ही ऊँचे दर्जे का था, यानी "ऐसे जन-राज्य के आदर्श मे विश्वास, जिसका आधार परोपकार, हर हालत में एकता, और दूसरे भाई के हको का अपनी मर्ज़ी से लिहाज़ हो।" राज्य की तरफ़ से कोई बल, ज़बर्दस्ती या मजबूरी न हो। थोरो[2] नाम के अमेरिकी ने कहा है: "सरकार सबसे अच्छी वह है जो बिलकुल शासन न करे; और जब मनुष्य ऐसी सरकार के लिए तैयार हो जायँगे तब वे ऐसी ही सरकार पसन्द करेंगे।"

यह आदर्श बड़ा बढ़िया मालूम होता है। हरेक को पूरी आज़ादी हो, हरेक आदमी दूसरे का लिहाज़ रक्खे, सब तरफ दूसरो की भलाई का ख़याल हो और लोग ख़ुशी-ख़ुशी आपस मे सहयोग करें। मगर आज की स्वार्थ और हिंसा से भरी दुनिया इससे अभी बहुत दूर है। अराजकतावादियो की यह इच्छा कि केन्द्रीय सरकार कतई न हो, या नाम की सरकार हो, शायद उस निरंकुशता और अन्यायी शासन की प्रतिक्रिया से पैदा हुई होगी, जिसमे लोगो ने बहुत दिन तकलीफें उठाई थी। चूंकि सरकारो ने लोगो को कुचला और सताया था, इसलिए सरकारें रहने ही न दी जायें। अराजकतावादियो को ऐसा भी लगा कि समाजवाद के कुछ रूपों मे, उत्पादन के तमाम साधनो का मालिक होने के नाते राज्य खुद ही अन्यायी बन सकता है। इसलिए अराजकतावादी लोग ऐसे समाजवादी थे, जिनका स्थानीय और हर व्यक्ति की आज़ादी पर बहुत ज़ोर था। उधर समाजवादियो मे भी बहुत लोग अराजकतावादियो के मत को बहुत दूर के आदर्श के रूप में मानने को तैयार थे, मगर उनकी राय मे कुछ समय तक समाजवाद मे भी एक केन्द्रीय और मज़बूत सरकार का होना ज़रूरी था। इस तरह, हालाँकि समाजवाद और अराजकतावाद

[1] Anarchism

[2] इस विचारक के लेखो का गांधीजी पर बहुत प्रभाव पड़ा था।

मे बहुत काफी फर्क था, फिर भी दोनो के बहुत-से दर्जे थे, जो एक दूसरे के नजदीक आते-जाते थे और एक दूसरे मे मिल भी जाते थे।

आधुनिक उद्योग-धन्धो से एक सगठित मजदूरवर्ग पैदा हुआ। अराजकतावाद की तो खासियत ही ऐसी थी कि वह कोई सुसगठित आन्दोलन नही बन सकता था। इसलिए उद्योग-प्रधान देशो मे, जहाँ मजदूर-यूनियनें और ऐसी ही सस्थाएँ बढ रही थी, वहाँ अराजकतावादी विचारो के फैलने की कोई गुजाइश नही थी। इस तरह न तो इंग्लैण्ड मे और न जर्मनी मे ही अराजकतावादियो की कोई गिनने लायक सख्या थी। लेकिन दक्षिणी और पूर्वी यूरोप उद्योग-धन्धो मे पिछड़े हुए थे, इसलिए वहाँ इन विचारो के लिए ज्यादा उपजाऊ जमीन थी। जैसे-जैसे आजकल के उद्योगवाद का दक्षिण और पूर्व मे प्रचार हुआ, वैसे-वैसे अराजकतावाद कमजोर पडता गया। आज यह करीब-करीब एक मुर्दा सिद्धान्त हो गया है, मगर स्पेन जैसे गैर-औद्योगिक देश मे आज भी कुछ हद तक इसको माननेवाले पाये जाते हैं।

अराजकतावाद का आदर्श भले ही बहुत बढिया हो, मगर इसने न सिर्फ जल्दी भडकनेवाले और नाराज लोगो को ही, बल्कि ऐसे स्वार्थियो को भी आसरा दिया जो आदर्श की आड मे अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। और इसने एक खास तरह की हिंसा को बढाया, जो अराजकतावाद का शब्द सुनते ही हरेक के दिमाग़ मे आ जाती है और जिसके सबब से यह इतना बदनाम भी हो गया है। जब अराजकतावादी अपनी मर्जी के मुताबिक समाज को न बदल सके, तो उन्होंने एक नये ढग से प्रचार करने का फैसला किया। यह 'कर दिखाने का प्रचार' था, जिसका अर्थ था दिलेरी की मिसालो के जरिये असर डालना, अत्याचारी शासन का बहादुरी के कारनामो से मुकाबला करना और अपनी जान निछावर कर देना। इस भावना से कई जगहो पर बलवे किये गए। जिन लोगो ने इनमे भाग लिया, उन्हें फौरन किसी सफलता की आशा नही थी। अपने उद्देश्य का इस नये ढग से प्रचार करने के लिए वे खुशी से अपनी जान जोखिम मे डालते थे। पर ये बलवे दबा दिये गए और फिर हरेक अराजकतावादी ने निजी तौर पर आतकवाद का सहारा लेना शुरू कर दिया, यानी बम फेंकना और बादशाहो व ऊँचे अधिकारियो पर गोलियाँ चलाना। जाहिर है कि यह बेहूदा हिंसा बढती हुई कमजोरी और निराशा का लक्षण थी। धीरे-धीरे उन्नीसवी सदी के खत्म होते-होते अराजकतावाद का आन्दोलन बिलकुल ठण्डा पड गया। बहुत-से अराजकतावादी नेताओ ने बम फेंकने और 'कर दिखाने के प्रचार' के तरीको को नापसन्द किया और उन्हें मानने से इन्कार कर दिया।

मैं तुम्हें कुछ मशहूर अराजकतावादियो के नाम बताऊँगा। दिलचस्प बात यह है कि निजी जीवन में ज्यादातर अराजकतावादी नेता बहुत ही शरीफ, आदर्श-

वादी और चाहने लायक थे। सबसे पहले के अराजकतावादी नेताओ मे पेरे प्रूदो नामक एक फ्रान्सीसी था, जो १८०९ से १८६५ ई० तक रहा। उससे उम्र मे ज़रा छोटा माइकेल बाकुनिन नामक रूसी रईस था। यह यूरोप का, और खासतौर पर दक्षिण यूरोप मे, एक लोकप्रिय मज़दूर नेता था। इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय यूनियन बनाई थी, मगर मार्क्स के साथ भिडन्त हो जाने पर उसने इसे व इसके साथियो को यूनियन से निकलवा दिया। तीसरा नाम रूसी सरदार पीतर क्रोपातकिन का है। यह तो हमारे अपने ज़माने का ही है। इसने अराजकतावाद और दूसरे विषयो पर कुछ बहुत ही दिलचस्प पुस्तकें लिखी हैं। चौथा और आखिरी नाम, जिसका मैं यहाँ ज़िक्र करूँगा, इटली-निवासी एनरीको मालातेस्ता का है। इसकी आयु अस्सी वर्ष से ऊपर पहुँच चुकी है और यह उन्नीसवी सदी के महान् अराजकतावादियो की आखिरी निशानी रह गया है।

मालातेस्ता के बारे मे एक मजेदार किस्सा कहे बिना मैं नही रह सकता। इटली की एक अदालत मे उसपर मुकदमा चल रहा था। सरकारी वकील ने बहस मे कहा कि उस क्षेत्र के मज़दूरो मे मालातेस्ता का बहुत ज़्यादा असर है और उसने उनका चरित्र ही बिलकुल बदल दिया है। इससे लोगो मे जुर्म करने की आदत ही खत्म हो रही है और जुर्मों की सख्या बहुत घटती जा रही है। अगर जुर्म बन्द हो गये तो फिर अदालतें क्या करेंगी ? इसलिए मालातेस्ता को जेल भेजा जाय ! और मालातेस्ता को सचमुच छै महीने कैद की सज़ा दे दी गई !

बदकिस्मती से अराजकतावाद को हिंसा के साथ बहुत ज़्यादा जोड दिया गया है और लोग भूल गये हैं कि यह भी एक दर्शन और एक आदर्श है, जो बहुत-से भले व्यक्तियो को अच्छा लगा है। आदर्श के तौर पर यह हमारी आजकल की अधूरी दुनिया से अब भी बहुत दूर है, और इसने जो उपाय बताये हैं, वे इतने आसान है कि हमारी आजकल की उलझी हुई सभ्यता का इलाज नही कर सकते।

१३३
कार्ल मार्क्स और मज़दूर-संगठनों का बढ़ना

१४ फरवरी, १९३३

उन्नीसवी सदी के बीच के आसपास यूरोप की मज़दूरो व समाजवादी दुनिया मे एक नया ही निराला व ध्यान खीचनेवाला व्यक्ति प्रगट हुआ। यह कार्ल मार्क्स था, जिसका नाम इन पत्रो मे पहले भी आ चुका है। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म १८१८ ई० मे हुआ था। उसने कानून, इतिहास और दर्शन का अध्ययन किया। एक अखबार निकालने पर उसका जर्मनी के अधिकारियो से

झगडा हो गया। वह पेरिस चला आया, जहाँ वह नये-नये लोगो के सम्पर्क में आया, उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढी और वह समाजवादी विचारो को माननेवाला बन गया। वही पेरिस मे फ्रीदरिख एजेल्स नामक एक और जर्मन से उसकी मुलाकात हुई, जो इग्लैण्ड मे जाकर बस गया था और वहाँ कपडे के बढ़ते हुए उद्योग मे एक मालदार कारखानेदार बन गया था। एजेल्स भी उस वक्त की समाजी हालतो से दुखी व नाराज़ था और उसका दिमाग़ चारो तरफ़ दीखनेवाली गरीबी और शोषण के इलाज की तलाश कर रहा था। सुधारो के बारे मे रॉबर्ट ओवेन के विचार और प्रयत्न उसे बहुत भाये और वह ओवेन के हामियो मे जो 'ओवेनाइट' कहलाते थे, शामिल हो गया। पेरिस की यात्रा ने, जिसकी वजह से कार्ल मार्क्स से उसकी पहली भेंट हुई थी, उसके विचारो को भी बदल दिया। तबसे मार्क्स और एजेल्स गहरे दोस्त और साथी हो गये। दोनो के एक-से विचार थे और दोनो एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। उम्र भी दोनो की करीब बराबर थी। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तकें उन्होंने प्रकाशित की, उनमे से ज्यादातर दोनो की शामिल लिखी हुई थी।

फ्रान्स की सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फिलिप का जमाना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहाँ बहुत वर्षों तक रहा। वहाँ वह ब्रिटिश म्यूज़ियम की पुस्तको के पढ़ने मे डूबा रहता। उसने सख्त मेहनत करके अपने विचारो को पूर्ण किया और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा मतवादी या दार्शनिक नही था, जो बैठा-बैठा मत गढा करता हो और दुनिया की बातो से सरोकार न रखता हो। जहाँ उसने समाजवादी आन्दोलन की धुंधली-सी विचारधारा का विकास किया और उसे निखारा, और उसके सामने निश्चित व साफ-साफ विचार व उद्देश्य रक्खे, वहाँ उसने यूरोप मे मज़दूरो का व उनके आन्दोलन का सगठन करने मे भी कारगर व बहुत बडा हिस्सा लिया। १८४८ ई० मे, जो क्रान्तियो का वर्ष कहलाता है, जो घटनाएँ हुई उनसे मार्क्स का दिल लाज़िमी तौर पर पसीज गया। उसी साल उसने और एजेल्स ने एक सम्मिलित घोषणापत्र जारी किया, जो बहुत मशहूर हो चुका है। यह 'साम्यवादी घोषणापत्र'[1] था, जिसमे उन्होंने उन विचारो की चर्चा की, जो फ्रान्स की महान् राज्य-क्रान्ति की, और बाद मे १८३० ई० और सन् १८४८ ई० के विद्रोहो की जड मे थे। उन्होंने इस घोषणापत्र मे यह भी बतलाया कि वे विचार न तो असली हालतो के लिए काफी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होंने उस समय के स्वतन्त्रता, बराबरी व भाईचारे के लोकतन्त्री नारो की आलोचना की और यह दिखाया कि जनता के लिए ये कोई मतलब नही रखते, मध्यम-वर्गी राज्य पर साधुपन का गिलाफ चढ़ा देते

[1] Communist Manifesto—Marx and Engels.

हैं। आगे चलकर, उन्होंने थोडे शब्दो मे समाजवाद के अपने ही मत को समझाया, और घोषणापत्र के अन्त मे उन्होंने सारे मज़दूरो से इन शब्दो मे अपील की· "ससार के मज़दूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नही है सिवाय अपनी गुलामी की जजीरो के, और पाने को तुम्हारे वास्ते ससार पडा है।"

यह अपील असली कारंवाई करने के लिए पुकार थी। इसके बाद मार्क्स ने अखबारो और पर्चों के ज़रिये लगातार प्रचार शुरू कर दिया और मज़दूर सगठनो को एक करने की दिन-रात कोशिश करने लगा। जान पडता है कि उसे यूरोप मे कोई बडा सकट आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मज़दूर उसके लिए तैयार रहें, ताकि वे उससे पूरा फायदा उठा सकें। उसके समाजवादी मत के मुताबिक पूँजीशाही मे सचमुच ऐसा सकट आये बिना रह ही नही सकता था। १८५४ ई० मे न्यूयार्क के एक अखबार मे मार्क्स ने लिखा था

"फिर भी हमे यह न भूलना चाहिए कि यूरोप मे छठी शक्ति भी है, जो खास-खास मौको पर पाँचो नामदार "महान् शक्तियो" पर अपनी हुकूमत रखती है और उन सबको थर्रा देती है। यह शक्ति क्रान्ति की है। बहुत दिन तक चुपचाप एकान्तवास के बाद अब सकट और भूख इसे फिर लडाई के मैदान मे बुला रहे हैं। सिर्फ एक इशारे की ज़रूरत है। फिर तो यूरोप की छठी और सबसे महान् शक्ति चमकता हुआ कवच पहने और हाथ मे तलवार लिये हुए निकल पडेगी, जिस तरह ओलिम्पी के माथे से मिनर्वा[1] प्रकट हुई थी। यह इशारा यूरोप के जल्दी आनेवाले युद्ध से मिल जायगा।"

यूरोप की जल्दी आनेवाली क्रान्ति के बारे मे मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नही निकली। उसके लिखने के साठ साल बाद, और एक महायुद्ध के बाद, कही जाकर यूरोप के एक हिस्से मे क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके हैं कि पेरिस कम्यून के रूप मे १८७१ ई० मे क्रान्ति की जो कोशिश हुई, वह बडी बेदर्दी से कुचल दी गई थी।

१८६४ ई० मे मार्क्स लन्दन मे एक मिली-जुली सभा बुलाने मे सफल हुआ। उसमे कई दलो के लोग, जो अपने को मोटे तौर पर समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। एक तरफ तो यूरोप के कई पराधीन देशो के लोकतन्त्रवादी और देशभक्त थे, जो समाजवाद मे विश्वास तो रखते थे पर उसे बहुत दूर की चीज समझते थे। उनकी ज्यादा दिलचस्पी तो फौरन राष्ट्रीय स्वाधीनता हासिल करने मे थी। दूसरी तरफ अराजकतावादी लोग थे, जो फौरन लडाई छेडना चाहते थे। सभा मे

[1] रोम व यूनान के पुराणो मे ओलिम्प पर्वत पर देवताओ का निवास माना गया है। रोमवाले मिनर्वा को बुद्धि की देवी मानते थे।

मार्क्स के सिवा दूसरा नामी व्यक्ति अराजकतावादी नेता बाकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया में कैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बाकुनिन के साथी खासतौर पर दक्षिण यूरोप के इटली, स्पेन, वगैरा लातीनी देशों से आये थे। इन देशों में बड़े उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हुआ था और वे इस दिशा में पिछड़े हुए थे। वे बेरोजगार दिमागी लोग और तरह-तरह के दूसरे क्रान्तिकारी थे, जिनके लिए मौजूदा समाजी व्यवस्था में कोई जगह नहीं थी। मार्क्स के साथी औद्योगिक देशों से, खासकर जर्मनी से, आये थे, जहाँ मजदूरों की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, संगठित और कुछ खुशहाल मजदूर-वर्ग का प्रतिनिधि था, और बाकुनिन गरीब व बिगड़े मजदूरों का, और दिमागी व नाराज लोगों का। मार्क्स का कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने की घड़ी आये, तबतक धीरज के साथ संगठन किया जाय और मजदूरों को उनके समाजवादी मतों की शिक्षा दी जाय। बाकुनिन और उसके साथी फ़ौरन ही कार्रवाई करने के पक्ष में थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। 'अन्तर्राष्ट्रीय कामगार समिति'[1] की नींव पड़ी। यह मजदूरों का 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन'[2] था।

तीन साल बाद, यानी १८६७ में, मार्क्स का महान् ग्रन्थ 'कैपिटल' अर्थात् 'पूंजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लन्दन में उसने बहुत वर्षों तक जो मेहनत की थी, यह उसीका नतीजा था। उसमें उसने चालू आर्थिक मतों का विश्लेषण करके उनकी कमियाँ बतलाईं और अपना समाजवादी मत विस्तार के साथ समझाया। यह असली वैज्ञानिक ग्रन्थ था। उसने सारी इधर-उधर की और आदर्शवाद की बातें छोड़कर बिना लाग-लपेट के और वैज्ञानिक ढंग से इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास की चर्चा की। उसने खासतौर पर बड़ी मशीनों की औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की, और मनुष्य-समाज में वर्गों के क्रम-विकास, इतिहास व आपसी कशमकशों के बारे में कुछ दूर तक असर डालनेवाले नतीजे निकाले। मार्क्स का यह नया, बिलकुल साफ़ और माकूल दलीलों का समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहलाया। क्योंकि यह उस धुंधले 'आदर्शवादी' समाजवाद से बिलकुल दूसरी तरह का था, जो अबतक चल रहा था। मार्क्स की 'पूंजी' कोई पुस्तक नहीं है, जो एक बार पढ़ने से आसानी से समझ में आ जाय। मन-बहलाव की पुस्तकों में और इसमें इतना ज्यादा फ़र्क़ है कि खयाल भी नहीं किया जा सकता। फिर भी यह उन थोड़ी-सी चुनी हुई पुस्तकों में से है, जिन्होंने बहुत लोगों के विचार करने के ढंग को हिलाया है, उनकी सारी विचारधारा को ही बदल दिया है, और इस तरह मानव-विकास पर असर डाला है।

[1] International Working men's Association.

[2] Workers' International.

१८७१ ई० मे पेरिस कम्यून की दुखभरी घटना हुई। इरादा करके किया गया शायद यह पहला समाजवादी विद्रोह था। इससे यूरोप की सरकारो पर डर सवार हो गया और मज़दूर-आन्दोलन के खिलाफ उनका रुख और भी कडा हो गया। दूसरे वर्ष मार्क्स के कायम किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की बैठक हुई और मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क ले जाने मे सफल हुआ। मालूम होता है कि इसमे मार्क्स का मतलब यही था कि बाकुनिन के अराजकतावादी साथियो से पीछा छूटे, और शायद यह भी कि चूंकि पेरिस कम्यून के सबब से यूरोप की सरकारो को गुस्सा आ रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहाँ की बनिस्बत न्यूयार्क मे कम खतरे की जगह मिलेगी। मगर सघ के लिए अपने नाडी-केन्द्रो से इतनी दूर रह सकना सम्भव नही था। उसकी सारी फौज यूरोप मे थी और यूरोप मे भी मज़दूर-आन्दोलन के दिन बुरे बीत रहे थे। इसलिए 'प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सघ' की धीरे-धीरे जान निकल गई।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद यूरोप के समाजवादियो मे, खासतौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया मे फैला, जहाँ यह आमतौर पर 'समाजी लोकतन्त्र'[1] के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इग्लैण्ड ने चाव के साथ इसे नही अपनाया। उस समय वह इतना खुशहाल था कि वहाँ किसी तरक्की-पसन्द समाजी-पन्थ के लिए गुजायश नही थी। अंग्रेजी छाप के समाजवाद की प्रतिनिधि फेवियन सोसायटी थी, जिसका बहुत दूर से परिवर्तन का बडा नर्म कार्यक्रम था। फेबियनो का मजदूरो से कोई वास्ता नही था। ये तो तरक्की-पसन्द उदार विचारोवाले दिमाग़ी लोग थे। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ शुरू के फेबियनो मे गिना जाता था। फेबियनो की नीति का पता एक नामी फ़ेबियन सिडनी वेब के इस मशहूर वाक्य से लग सकता है. "तब्दीली धीरे-धीरे होना लाजिमी है।"

फ्रान्स मे कम्यून के बाद समाजवाद को फिर से धीरे-धीरे पनप कर कारगर ताकत बनने मे बारह वर्ष लग गये, मगर वहाँ इसका रूप नया हो गया, यानी अराजकतावाद और समाजवाद का वर्ण-सकर। यह 'सघाधिपत्यवाद'[2] कहलाता है। समाजवादी सिद्धान्त यह था कि चूंकि राज्य समूचे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उत्पादन के साधनो पर, यानी ज़मीन, कारखानो, वगैरा पर उसीकी मिल्कियत और कब्ज़ा होना चाहिए। थोडा-सा मतभेद इस बात पर था कि यह समाजीकरण किस हद तक हो। जाहिर है कि औज़ारो और घरेलू मशीनो जैसी बहुत-सी निजी चीज़ें होती हैं, जिनका समाजीकरण बेहूदा-सी बात है। मगर इस

[1] Social Democracy

[2] Syndicalism—यह फ्रान्सीसी भाषा के Syndicat शब्द से बना है, जिसका अर्थ है कामगारो या व्यवसायियों का संगठन या यूनियन।

बात पर समाजवादियो का एक मत था कि जिस किसी चीज़ का उपयोग दूसरो की मेहनत से निजी मुनाफा कमाने मे किया जा सकता हो, उसका समाजीकरण होना चाहिए, यानी वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियो की तरह सघवादी भी राज्य को पसन्द नही करते थे और उसकी शक्ति की हद तय कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरेक उद्योग पर उस उद्योग के मज़दूरो का अपने सघ के ज़रिये कब्ज़ा रहे। विचार यह था कि अलग-अलग सघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बडी कौसिल मे भेजेंगे। यह कौसिल सारे देश के मामलो को सम्हालेगी और साधारण काम-काज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी उद्योग की भीतरी व्यवस्था मे दखल देने का अधिकार न होगा। यह हालत पैदा करने के लिए सघवादी आम हडताल की वकालत करते थे, यानी वे देश के कारोबार को ठप्प करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स को माननेवाले सघवाद से बिलकुल सहमत नही थे, मगर यह अनोखी बात है कि (मार्क्स के मरने के बाद) सघवादी उसे अपने दल का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स अबसे ठीक पचास साल पहले, यानी १८८३ ई० मे मरा। उस समय तक इग्लैंण्ड, जर्मनी व दूसरे औद्योगिक देशो मे शक्तिशाली मज़दूर सघ बन गये थे। ब्रिटिश उद्योगो के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमेरिका की बढती हुई प्रतियोगिता के सामने वे गिरते जा रहे थे। अलबत्ता अमेरिका के पास बडे कुदरती साधन थे, जिनसे वहाँ तेजी के साथ उद्योगो का विकास होने मे मदद मिली। जर्मनी मे राजनीतिक निरकुशता और औद्योगिक विकास का अनोखा मेल था। उस निरकुशता मे कमज़ोर और बेबस पार्लमेण्ट का पुट भी लगा हुआ था। बिस्मार्क के शासन-काल मे, और बाद मे भी, जर्मन सरकार ने उद्योग-धन्धो की कई तरह से मदद की और मज़दूरो की हालत अच्छी करनेवाले समाजी सुधार के कानून बनाकर मज़दूरवर्ग को खुश करने की कोशिश की। इसी तरह इग्लैण्ड के उदारदल ने कुछ समाजी कानून पास करके काम के घण्टे घटा दिये और मज़दूरो की बुरी हालत कुछ अच्छी कर दी। जबतक खुशहाली रही तबतक इस उपाय से काम चल गया और अग्रेज मज़दूर मुलायम व खामोश रहे और वफादारी के साथ उदारदल को वोट देते रहे। मगर १८८० ई० के बाद दूसरे देशो की होडबाज़ी ने खुशहाली के लम्बे ज़माने का अन्त कर दिया और इग्लैण्ड मे व्यापार की मन्दी शुरू हो गई और मज़दूरो की मजूरी की दरें घट गई। इसलिए मज़दूरो मे फिर चेतना हुई और हवा मे क्रान्ति की भावना भर गई। इग्लैण्ड मे बहुत-से लोगो की निगाहें मार्क्सवाद की तरफ दौडने लगी।

१८८९ ई० मे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-सघ बनाने का एक और जतन किया गया। कई मज़दूर-यूनियनें और मज़दूर-दल अब काफी मज़बूत व मालदार

हो गये थे और उनके बहुत-से वेतन-भोगी कर्मचारी थे। १८८९ ई० मे बना हुआ यह सघ 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ'[1] कहलाता है (मेरे ख़याल से इसका नाम 'मज़दूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ' रक्खा गया था)। यह पच्चीस वर्ष तक चला। फिर महायुद्ध इसको कसौटी पर कसने के लिए आ गया, मगर यह खरा नही उतरा। इस सघ मे बहुत लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने आगे चलकर अपने-अपने देशो मे ऊँचे-ऊँचे ओहदे ले लिये। कुछ ने मज़दूर-आन्दोलन को अपनी निजी बढोतरी का साधन बनाया और फिर उसे पीठ दिखाई। वे प्रधानमन्त्री, अध्यक्ष, वग़ैरा बन-बनकर-जीवन मे सफल हो गये, मगर जिन लाखो आदमियो ने उन्हें आगे बढाया था और उनपर भरोसा किया था, उन्हें इन लोगो ने मँझधार मे छोड दिया। इन नेताओ मे से वे तक भी, जो मार्क्स के नाम की दुहाई देते थे या तेज़-तर्रार सघवादी थे, पार्लमेण्टो मे घुस गये या मज़दूर-यूनियनो के अच्छी तनख्वाहें पाने-वाले मुखिया बन बैठे। उनके लिए अपनी आराम की जगहो को जोखिम मे डालकर बिना सोचे-समझे किसी काम मे हाथ डालना दिन-पर-दिन कठिन हो गया। बस, वे ठण्डे पड गये और जब मज़दूर जनता ने लाचार होकर क्रान्ति का झण्डा उठाया और अमली कारंवाई की माँग की, तब इन लोगो ने उन्हें दबाकर रखने की ही कोशिश की। युद्ध के बाद जर्मनी के समाजी-लोकतन्त्रवादी लोग गणराज्य के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री बन गये। फ्रान्स मे आम हडताल की घोषणा करनेवाला तेज़-तर्रार सघवादी ब्रियाँ ग्यारह बार प्रधानमन्त्री बना और उसने अपने पुराने साथियो की हडताल को कुचला। इग्लैण्ड मे रैम्ज़े मैक्डानल्ड अपने बनानेवाले मज़दूर-दल को घता बताकर प्रधानमन्त्री बन गया। यही हाल स्वीडन, डेनमार्क, बेलजियम और आस्ट्रिया मे हुआ। पश्चिम यूरोप आज ऐसे डिक्टेटरो यानी तानाशाहो और सत्ताधारियो से भरा पडा है, जो अपने शुरू के दिनो मे समाजवादी थे, मगर ज्यो-ज्यो उनकी उम्र ढलती गई त्यो-त्यो वे मुलायम पडते गये और उद्देश्य के लिए अपना पुराना जोश भूल गये। इतना ही नही, कभी-कभी तो ये लोग अपने पुराने साथियो के ही खिलाफ हो गये। इटली का प्रधानमन्त्री मुसोलिनी पुराना समाजवादी है और पोलैण्ड का तानाशाह पिल्सूद्स्की भी।

मज़दूर-आन्दोलन को ही क्या, स्वाधीनता के शायद हर राष्ट्रीय आन्दोलन को नेताओ और अगुआ कार्यकर्ताओ की ऐसी गद्दारी से अक्सर नुकसान उठाना पडा है। असफलता से ऊबकर वे कुछ समय बाद थक जाते हैं और शहादत का कोरा ताज उनके दिल को ज्यादा दिन नही लुभा पाता। वे ठण्डे हो जाते हैं और उनके जोश की आग मन्दी पड जाती है। कुछ लोग, जो ज्यादा उमगोवाले या ज्यादा बेउसूले होते हैं, दूसरे पक्ष मे जा मिलते हैं और जिन लोगो से कल तक मुकाबला और लडाई

[1] Second International.

करते थे, उन्हीसे निजी समझौता कर लेते है। आदमी जो कुछ करने की ठान लेता है, उसीके मुताबिक अपने मन को ढाल लेना उसके लिए काफी आसान होता है। इस गद्दारी से आन्दोलन को हानि उठानी पडती है और घक्का लगता है। चूंकि जो लोग मजदूरो के खिलाफ कार्रवाइयां करते हैं और राष्ट्रीय कौमो का दमन करते हैं, वे यह वात अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए वे तरह-तरह के लालच देकर और मीठी-मीठी बातें करके व्यक्तियो को अपनी तरफ मिलाने की कोशिशें करते हैं। मगर व्यक्तियो को पसन्द कर लेने से, या मीठी बातो से, न तो मजदूर जनता को राहत मिलती है और न आजादी के लिए जान लडानेवाले दवाये हुए राष्ट्र को। इसलिए गद्दारी और धक्का लगने के वावजूद यह लडाई अपने मुकर्रर उद्देश्य की ओर अटल होकर चलती रहती है।

१८८९ ई० मे कायम हुए द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ के सदस्यो की सख्या और सघ की प्रतिष्ठा बढने लगी। कुछ ही वर्ष वाद उन्होंने मालातेस्ता और उसके अराजकतावादी साथियो को इस वास्ते निकाल वाहर किया कि वे पार्लमेण्टो के मताधिकार से लाभ उठाने को राजी नही थे। अन्तर्राष्ट्रीय सघ के समाजवादियो ने साबित कर दिया कि सवकी लडाई मे अपने पुराने साथियो का साथ देने की बनिस्बत वे पार्लमेण्टो मे जाना ज्यादा पसन्द करते थे। यूरोप मे युद्ध छिड जाने की हालत मे समाजवादियो का क्या कर्त्तव्य है, इस बारे मे उन्होंने वडी दिलेर घोषणाएँ की। जहाँ तक उनके काम का सम्बन्ध था, समाजवादी लोग राष्ट्रीय सीमाओ को नही मानते थे। वे मामूली अर्थों मे राष्ट्रवादी नही थे। वे कहते थे कि वे युद्ध का विरोध करेंगे। मगर जब १९१४ ई० मे महायुद्ध छिड ही गया तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ का सारा ढाँचा तहस-नहस हो गया और हर देश के समाजवादी और मजदूर दल ही नही, वल्कि क्रोपातकिन-जसे अराजकतावादी भी दूसरे लोगो की तरह परले सिरे के राष्ट्रवादी और दूसरे देशो पर दाँत पीसनेवाले बन गये। कुछ लोग युद्ध के विरोध मे खडे हुए और इसके लिए उन्हें तरह-तरह की तकलीफें और लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गईं।

महायुद्ध खत्म होने पर लेनिन ने १९१९ ई० मे मास्को मे एक नया अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ बनाया। यह निरा साम्यवादी सगठन था और इसमे माने हुए साम्यवादी ही शामिल हो सकते थे। यह अब भी है, और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ[1] कहलाता है। पुराने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ के बचे-खुचे लोग भी युद्ध के बाद धीरे-धीरे साथ इकटठे हो गये। कुछ लोग मास्को के नये संघ मे मिल

[1] तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ (Third International)—वामपक्षी साम्यवादी नेता त्रात्स्की से मतभेद हो जाने के कारण रूस के तानाशाह स्तालिन ने इसे भग कर दिया था।

गये। मगर ज्यादातर लोग मार्क्स और उसके पन्थ को नापसन्द करते थे और उसे पास तक नहीं फटकने देना चाहते थे। उन्होंने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ को फिर से जिलाया। यह भी आज मौजूद है। इस तरह आज दो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ हैं और द्वितीय व तृतीय संघों के नाम से मशहूर हैं। बड़े ताज्जुब की बात यह है कि दोनों ही मार्क्सवाद की दुहाई देते हैं, मगर दोनों ही उसकी अपनी-अपनी अलग व्याख्या करते हैं, और जितनी ज्यादा दुश्मनी आपस में एक दूसरे से रखते हैं उतनी अपने दोनों के दुश्मन पूंजीवाद से भी नहीं रखते हैं।

इन दोनों अन्तर्राष्ट्रीय संघों में संसार की सारी मजदूर-यूनियनें शामिल नहीं हैं। बहुत-से संगठन दोनों से ही अलग हैं। अमेरिका की मजदूर-यूनियनें इसलिए अलग हैं कि उनमें से ज्यादातर प्रगतिवादी नहीं हैं। भारत की मजदूर-यूनियनों का भी दोनों में से किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ से सम्बन्ध नहीं है।

शायद तुमने 'इण्टरनेशनेल'[1] गीत का नाम सुना होगा। यह दुनियाभर के मजदूरों और समाजवादियों का माना हुआ गीत है।

· १३४ ·

मार्क्सवाद

१६ फरवरी, १९३३

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के उन विचारों के बारे में कुछ बताने का इरादा किया था, जिन्होंने यूरोप की साम्यवादी दुनिया में बड़ी हलचल मचा दी थी। मगर मेरा पत्र बहुत लम्बा हो गया था और मुझे यह विषय उठा रखना पड़ा था। मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूँ, इसलिए इसके बारे में लिखना मेरे लिए आसान नहीं है। और फिर विशेषज्ञों और पण्डितों में भी मतभेद है। मैं तुम्हें मार्क्सवाद की सिर्फ मोटी-मोटी खासियतें बताऊँगा और इसके मुश्किल हिस्सों को छोड़ दूंगा। तुम्हारे लिए यह जोड़-जाड़कर बनाई हुई-सी चीज़ होगी, मगर मेरा उद्देश्य यह भी नहीं है कि इन पत्रों में किसी चीज़ की पूरी और लम्बी-चौड़ी तसवीरें दूं।

मैं कह चुका हूँ कि समाजवाद की कई किस्में हैं। मगर एक बात में सब सहमत हैं कि इसका उद्देश्य यह है कि उत्पादन के साधनों यानी खानों, ज़मीन, कारखानों वगैरा पर, और रेलों-जैसे वितरण के साधनों पर, और बैंकों-जैसी संस्थाओं पर भी राज्य का कब्ज़ा हो। विचार यह है कि व्यक्तियों को अपने निजी फायदे के लिए इन

[1] Internationale.

साधनो या संस्थाओ को या दूसरो की मेहनत को निचोडने न दिया जाय। आज तो ज्यादातर ये निजी मिल्कियतें हैं और इन्हे खूब निचोडा जाता है। नतीजा यह हो रहा है कि कुछ लोग तो मालामाल होकर आनन्द करते हैं पर सारा समाज मुसीबतें उठाता है और जनता गरीब बनी रहती है। उत्पादन के इन साधनो के मालिको और चलानेवालो की भी बहुत सारी शक्ति गला-घोटू होडबाजी से आपस मे लडने मे ही खर्च हो जाती है। अगर इस निजी आपसी युद्ध के बजाय साझदारी के साथ उत्पादन की और खूब सोच-विचारकर वितरण की व्यवस्था की जाय तो फिजूल का नुकसान और आपसी होड बच जायें और जुदा-जुदा वर्गों व लोगो के बीच आज दौलत की जो घोर असमानता है वह मिट जाय। इसलिए उत्पादन, वितरण और दूसरे बडे-बडे कामो का समाजीकरण हो जाना चाहिए, यानी उनपर राज्य का, या यूं कहो कि सारी जनता का कब्जा होना चाहिए। समाजवाद की यही मूल कल्पना है।

समाजवाद मे राज्य का या सरकार का रूप क्या हो, यह सवाल बडे महत्व का होने पर भी अलग है, और अभी हमे उसकी चर्चा करने की जरूरत नही है।

समाजवाद के आदर्श की बात पर एकमत हो जाने के बाद, दूसरी बात तय करने की यह रह जाती है कि उसे हासिल कैसे किया जाय। यही से समाजवादियो मे आपसी मतभेद शुरू होता है। उनमे कई फिरके है और वे अलग-अलग रास्ते बताते हैं। मोटे तौर पर उनके दो वर्ग किये जा सकते हैं—१ ब्रिटिश मजदूर दल और फेबियनो की तरह धीरे-धीरे परिवर्तन और क्रम-विकास चाहनेवाले फिरको का यह विश्वास है कि एक-एक कदम आगे बढना चाहिए। पार्लमेण्टो के जरिये काम करना चाहिए, २ क्रान्तिकारी दलो का पार्लमेण्ट के जरिये नतीजे हासिल करने मे विश्वास नही है। इस दूसरे वर्ग मे ज्यादातर लोग मार्क्सवादी हैं।

पहले, यानी क्रम-विकासवादी दलो की, सख्या अब बहुत कम रह गई है। इग्लैण्ड मे भी अब ये ठण्डे पडते जा रहे हैं और इन्हें उदार दल व दूसरे गैर-समाजवादी दलो से अलग करनेवाली खाई दिन-पर-दिन कम चौडी होती जा रही है। इसलिए अब मार्क्सवाद को ही आम समाजवादी सिद्धान्त समझ लेना चाहिए। मगर मार्क्सवादियो मे भी यूरोप मे दो मुख्य बडे भेद हैं—एक तरफ रूसी साम्यवादी हैं, और दूसरी तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया व दूसरे देशो के पुराने समाजी लोकतन्त्रवादी हैं। इन दोनो के बीच कट्टर दुश्मनी है। महायुद्ध के दौरान और उसके बाद भी, ये समाजी लोकतन्त्रवादी अपने दावो पर अमल न कर सकने के कारण अपनी पुरानी शान खो बैठे। इनमे से बहुत-से ज्यादा जोशीले लोग तो साम्यवादियो मे जा मिले हैं, मगर अब भी पश्चिम यूरोप की बडी-बडी मजदूर यूनियनो की बाग-डोर इन्हीके हाथो मे है। रूस मे अपनी-अपनी सफलता की वजह से साम्य-

बाद एक तरक्की-पसन्द पन्थ बन गया है। आज यूरोप मे और दुनिया भर मे पूंजीवाद का यही सबसे बडा दुश्मन है।

तो फिर यह मार्क्सवाद है क्या ? यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव-जीवन और मानव-उमगो की व्याख्या करने का एक तरीका है। यह मत भी है और अमली कारंवाई के लिए पुकार भी। यह ऐसा दर्शन है, जो मनुष्य-जीवन की ज्यादा-तर हलचलो के बारे मे कुछ-न-कुछ बातें बताता ही है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य के मानव-इतिहास को एक ऐसे बे-लचक बाकायदा ढांचे मे बैठाने का यत्न है, जो भाग्य या किस्मत जैसा अटल है। आखिर, जीवन इतना बाकायदा है या नही, और बंधे-बंधाये कठोर नियमो और ढांचो पर निर्भर है या नही, यह बहुत साफ नही दिखाई देता और बहुतो को इसमे सन्देह भी है। मगर मार्क्स ने एक विज्ञानी की निगाह से पिछले इतिहास की जांच की और उससे कुछ नतीजे निकाले। उसने देखा कि मनुष्य अपने आदिम काल मे ही जिन्दगी के लिए कशमकश करता रहा है, यह कशमकश कुदरत के साथ भी रही है और अपने ही जैसे दूसरे मनुष्यों के साथ भी। आदमी को भोजन और जीवन की दूसरी जरूरतें जुटाने के लिए काम करना पडा। जैसे-जैसे समय बीता वैसे-वैसे उसके काम के तरीके धीरे-धीरे बदलते गये और दिन-पर-दिन ज्यादा पेचीदा व उन्नत होते गये। मार्क्स के मतानुसार जिन्दगी के साधन पैदा करने के ये तरीके मनुष्य के और समाज के जीवन मे सभी युगो मे सबसे ज्यादा महत्व की चीज रहे हैं। इतिहास के हरेक काल मे इन्हींकी प्रधानता रही और उस काल की सारी हलचलो और सारे समाजी सम्बन्धो पर इन्हीका असर पडा। जैसे-जैसे ये बदले वैसे-वैसे उनके कारण बडे-बडे ऐतिहासिक व समाजी परिवर्तन हुए। इन पत्रो के दौरान मे हम कुछ हद तक इन परिवर्तनो के गहरे नतीजो को देखते आये हैं। मिसाल के लिए, जब पहले-पहल खेती शुरू हुई तो उससे बडा भारी परिवर्तन हो गया। इधर-उधर भटकनेवाले घुमक्कड जगह-जगह बस गये और गांव और शहर पैदा हो गये। खेती से पैदावार बढी तो माल बच रहा और आबादी बढी। और जब लोगो को दौलत और फुर्सत मिली तो कलाएँ और दस्तकारियाँ पैदा हुईं। औद्योगिक क्रान्ति एक और ऐसी ही साफ दिखाई देनेवाली मिसाल है, जिसमे उत्पादन की बडी मशीनों के आविष्कार ने और भी जबर्दस्त फर्क पैदा कर दिया। इसी तरह की और भी बहुत-सी मिसालें दी जा सकती हैं।

इतिहास के किसी खास समय मे उत्पादन के तरीके उस समय के लोगो के विकास के एक निश्चित दर्जे के मुताबिक होते हैं। उत्पादन की इस क्रिया के दौरान और उसके नतीजे से लोगो के बीच कुछ निश्चित सम्बन्ध कायम हो जाते हैं, (जैसे वस्तुओ का लेन-देन, क्रय-विक्रय, विनिमय, वगैरा) जो उनके उत्पादन के

तरीको पर निर्भर करते हैं और उनके अनुरूप होते हैं। ये सब सम्बन्ध मिलकर समाज का आर्थिक ढाँचा बनाते हैं। और इसी आर्थिक आधार पर कानून, राजनीति, समाजी रीति-रिवाज, विचार और दूसरी सब चीज़ो की इमारत खडी होती है। इसलिए मार्क्स के इस मत के अनुसार जैसे-जैसे उत्पादन के तरीके बदलते हैं वैसे-वैसे आर्थिक ढाँचा भी बदलता है और उसका नतीजा यह होता है कि लोगो के विचारो, कानूनो, राजनीति, वगैरा मे भी परिवर्तन होते हैं।

इतिहास के बारे मे मार्क्स यह भी मानता था कि वह जुदा-जुदा वर्गों की आपसी कशमकश का एक लेखा है। "सारे मानव-समाज का पिछला और मौजूदा इतिहास वर्गो की कशमकश का ही इतिहास है।" जिस वर्ग के हाथ मे उत्पादन के साधन होते हैं वही सबके ऊपर हावी रहता है। वह दूसरे वर्गों की मेहनत को चूसकर उससे फायदा उठाता है। जो मेहनत करते हैं उन्हें अपनी मेहनत की पूरी कीमत नही मिलती। उन्हे जीवन की मामूली ज़रूरतो के लिए भी मुश्किल से उसका ज़रा-सा हिस्सा मिलता है, और बाकी का सारा फालतू हिस्सा शोषक वर्ग के पास चला जाता है। इस तरह शोषक-वर्ग इस फालतू धन से और भी मालदार बनता जाता है। चूंकि उत्पादन पर कब्ज़ा रखनेवाले इस वर्ग का राज्य या सरकार पर भी कब्ज़ा रहता है, इसलिए इस शासक वर्ग की हिफाज़त करना ही राज्य का सबसे पहला उद्देश्य हो जाता है। मार्क्स कहता है "राज्य समूचे शासक-वर्ग के काम-काज की व्यवस्था करने के लिए एक कार्यकारिणी कमेटी है।" क़ानून इसी गरज़ से बनाये जाते है और शिक्षा, मज़हब व दूसरे उपायो से लोगो को यह विश्वास दिलाया जाता है कि इस वर्ग की प्रभुता वाजिब और लाज़िमी है। इन उपायो के ज़रिये सरकार और कानून के वर्गी पहलू को छिपाने की हर तरह कोशिश की जाती है, ताकि दूसरे शोषित वर्ग असली हालत को न जान सकें और उनमे असन्तोष पैदा न हो। अगर कोई आदमी फिर भी असन्तोष के मारे इस प्रणाली को चुनौती देता है तो राज्य उसे समाज और सदाचार का दुश्मन और पुराने रीति-रिवाजो को उखाड फेंकनेवाला बताकर कुचल देता है।

मगर हज़ार कोशिशें करने पर भी सदा एक ही वर्ग की प्रभुता नही बनी रह सकती। जिन कारणो से उसे यह प्रभुता हासिल होती है, वे ही फिर उसके खिलाफ काम करने लगते है। वह वर्ग शासक और शोषक इसी कारण बना था कि उस वक्त उत्पादन के साधन उसके कब्ज़े मे थे। अब जब उत्पादन के नये तरीक़े पैदा होते हैं तो उनके चलानेवाले नये वर्ग आगे आ जाते है और वे शोषित बने नही रहना चाहते। नये-नये विचार मनुष्यो के दिलो मे हलचल मचा देते हैं, जिसे विचार-क्रान्ति कहते हैं, वह होने लगती है, जो पुराने विचारो और रूढियो की बेडियो को तोड़ डालती है। और फिर इस उठते हुए नये वर्ग का सत्ता से बुरी

तरह चिपके रहने वाले पुराने वर्ग के साथ सघर्ष होता है। नये वर्ग के साथ मे आर्थिक सत्ता होती है, इसलिए उसकी जीत लाज़िमी होती है और पुराना वर्ग, इतिहास मे अपना खेल पूरा करने के वाद, धीरे-धीरे गायव हो जाता है।

इस नये वर्ग की विजय राजनीतिक और आर्थिक दोनो तरह की होती है। यह उत्पादन के नये तरीको की शानदार सफलता को दरसानेवाली निशानी होती है और इसके नतीजे से समाज की सारी रचना मे ही परिवर्तन होने लगते है—नये विचार, नया राजनीतिक ढाँचा, कानून, रीति-रिवाज, सभी चीजो पर असर पडता है। अब यह नया वर्ग अपने नीचे के वर्गो के लिए शोषक-वर्ग वन जाता है और फिर उन वर्गों मे से कोई एक वर्ग उसे भी हटाकर उसकी जगह ले लेता है। इस तरह जवतक एक वर्ग दूसरे का शोषण करनेवाला रहेगा तवतक यह कशमकश चलती रहेगी, और जरूर चलती रहेगी। इस सघर्ष यानी कशमकश का अन्त उसी समय होगा जव वर्गों का भेद गायव होकर सिर्फ एक ही वर्ग रह जायगा, क्योकि तव शोषण की गुजायश ही नही रहेगी। यह अकेला वर्ग खुद अपना शोषण नही कर सकता। इसलिए, तभी जाकर समाज मे सन्तुलन और पूरा सहयोग कायम होगा, आज जैसी हमेशा की कशमकश व होडवाजी न रहेगी और राज्य के लिए दमन का जो खास काम वना हुआ है, उसकी भी फिर कोई जरूरत नही रहेगी, क्योकि दवाने के लिए कोई वर्ग ही न होगा। इस तरह धीरे-धीरे खुद राज्य ही 'मुर्झा जायगा' और अराजकतावादी आदर्श भी नजदीक आ जायगा।

इस तरह मार्क्स इतिहास को इस नजर से देखता था कि वह लाजिमी वर्ग-सघर्ष के विकास का एक बहुत वडा सिलसिला है। ढेरो वारीकियो और मिसालो से उसने यह सावित किया कि अतीत काल मे यह सव किस तरह हुआ, वडी-वडी मशीनो के आने से सामन्ती समय पूँजीशाही समय मे कैसे वदल गया और सामन्ती वर्गों की जगह ऊँचा मध्यम-वर्ग कैसे आ गया। उसके मत से आखिरी सघर्ष हमारे ही जमाने मे ऊँचे मध्यम-वर्गों और मजदूरो मे चल रहा है। पूँजीवाद खुद इस वर्ग की शक्ति और सख्या वढा रहा है, जो अन्त मे पूँजीवाद को गर्क करके वर्गहीन समाज और समाजवाद कायम करेगा।

इतिहास को इस नजरिये से देखने का तरीका, जो मार्क्स ने समझाया, 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या'[1] कहलाता है। इसे 'भौतिक' इसलिए कहते हैं क्योकि यह 'विचारवादी'[2] नही है। मार्क्स के समय के दार्शनिको ने 'विचार-वादी' शब्द का एक खास अर्थ मे बहुत ज्यादा इस्तेमाल किया है। उस समय क्रम-विकासवाद का विचार आम हो रहा था। मैं तुम्हें वता चुका हूँ कि जहाँ तक प्राणी-जातियो की उत्पत्ति और विकास का ताल्लुक है, डार्विन ने यह विचार

[1] Materialist Conception of History और [2] Idealist.

आम लोगो के दिमाग मे जमा दिया था। मगर इससे मनुष्यो के समाजी रिश्तो की कोई व्याख्या नही हो पाती थी। कुछ दार्शनिको ने धुंधले आदर्शवादी खयालो के जरिये यह समझाने की कोशिश की कि मनुष्य की प्रगति दिमाग की प्रगति पर निर्भर है। मार्क्स का कहना था कि यह रास्ता ही ग़लत है। उसके मत से धुंधली हवाई अटकलें और विचारवाद खतरनाक हैं, क्योकि इस तरह लोग ऐसी हर तरह की चीजो की कल्पना करने लगते हैं, जिनका कोई असली आधार नही होता। इसलिए उसने वैज्ञानिक ढग से तथ्यो की जांच करना शुरू किया। 'भौतिक' शब्द का यही मूल है।

मार्क्स बराबर शोषण और वर्ग-सघर्षो की चर्चा करता है। हममे से बहुतेरे अपने चारो तरफ अन्याय को देखकर क्रोध और आवेश मे भर जाते हैं। पर मार्क्स के मतानुसार न तो यह बात गुस्सा करने की है और न नेक सलाह देने की। शोषण मे शोषण करनेवाले व्यक्ति का कसूर नही है। एक वर्ग पर दूसरे की प्रभुता इतिहास की प्रगति का लाजिमी नतीजा है। वक्त आने पर दूसरी अवस्था उसकी जगह ले लेती है। अगर कोई आदमी प्रभुताधारी वर्ग का है और उस हैसियत से दूसरो का शोषण करता है तो इसमे वह कोई भयकर पाप नही करता, वह एक ढांचे का अग है और उसे गालियां देना फिजूल की बात है। व्यक्तियो और ढांचे के बीच का यह भेद हम बहुत करके भूल जाते हैं। भारत ब्रिटिश साम्राज्यशाही के अधीन है, और हम अपनी सारी ताकत लगाकर इस साम्राज्यशाही से लड रहे हैं। मगर जो अग्रेज़ आज भारत मे इस ढांचे को थामे हुए हैं,उनका कोई क़सूर नही है। वे बेचारे तो एक बडी भारी मशीन के सिर्फ छोटे-छोटे पुर्जे हैं। उसकी चाल मे जरा भी फर्क लाना उनकी शक्ति के बाहर है। इसी तरह हममे से भी कुछ लोग ज़मीदारी-प्रथा को पुराने ज़माने की चीज़ और किसान-वर्ग के लिए बहुत ज्यादा नुकसान पहुँचानेवाली समझ सकते हैं, क्योकि इससे उनका भयकर शोषण हो रहा है। मगर इसका भी यह मतलब नही है कि कोई ज़मीदार निजी तौर पर कसूरवार है। पूंजीपतियो पर अक्सर शोषक होने का दोष लगाया जाता है, मगर उनकी बात भी ऐसी ही है। कसूर सदा ढांचे का होता है, व्यक्तियो का नही।

मार्क्स ने वर्ग-सघर्ष का प्रचार नही किया। उसने यह साबित किया है कि असल मे वर्ग-सघर्ष तो पहले से मौजूद है और किसी-न-किसी रूप मे सदा से चला आ रहा है। अपनी लिखी हुई पुस्तक 'पूंजी' मे उसका उद्देश्य था "आजकल के समाज की गति के आर्थिक नियम को नगा करके दिखा देना"। और ऊपर की चादर हटा देने से समाज की हमेशा वर्ग-सघर्षो-जैसी दिखाई न देनेवाली वर्गों की ये ज़बर्दस्त लडाइयां सामने आ गईं। ये लड़ाइयां हमेशा वर्ग-सघर्षो-जैसी दिखाई नही

ती, क्योकि प्रभुताधारी वर्ग हमेशा अपने वर्ग के रूप को छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन जब चालू व्यवस्था ही खतरे मे पड जाती है तव यह वर्ग सारे देखावे छोड देता है और उसका असली रूप ज़ाहिर हो जाता है। और फिर वर्गों के बीच खुला युद्ध होने लगता है। जव यह होता है तब लोकतन्त्र के रूप, और मामूली क़ानून व कायदे सब ताक मे रख दिये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि ये वर्ग-सघर्ष गलतफहमी से या बेचैनी फैलानेवालो की शरारत से होते हैं। मगर इसके खिलाफ ये तो समाज के भीतर ही छिपे हुए होते हैं, और जब लोग स्वार्थों की टक्कर को अच्छी तरह समझने लगते हैं, तब तो वर्ग-सघर्ष वास्तव मे और भी बढ जाते हैं।

अब ज़रा मार्क्स के इस मत की तुलना भारत की मौजूदा हालतो के साथ करें। ब्रिटिश सरकार का शुरू से यह दावा है कि भारत मे उसकी हुकूमत का आधार न्याय पर और भारतवासियो की भलाई पर है। इसमे कोई शक नही कि पहले हमारे बहुत-से देशवासी भी यह मानते थे कि इस दावे मे थोडी-सी सचाई है। मगर अब, जबकि एक ज़बर्दस्त सार्वजनिक आन्दोलन इस राज को ज़ोरदार चुनौती दे रहा है, तो इसका असली रूप पूरे भद्देपन और नगेपन के साथ प्रकट हो रहा है। आज कोई भी देख सकता है कि सगीनो के बल पर टिकनेवाले इस साम्राज्यशाही शोषण की असलियत क्या है। इसकी सुनहरी सूरतो और चिकनी-चुपडी बातो का सारा मुलम्मा उतर गया है। विशेष आर्डिनेंसो ने और भाषण, सम्मेलन व अखबारो के मामूली-से-मामूली हको के दमन ने, देश के आम कानूनो व कायदो की जगह ले ली है। मौजूदा सत्ता को जितनी ज़्यादा चुनौती दी जायगी, यह दमन उतना ही बढ़ता जायगा। जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के लिए गम्भीर खतरा बन जाता है तब भी यही होता है। यह भी हम अपने देश मे होता हुआ देख रहे हैं कि किसानो व मज़दूरो को और उनके लिए काम करनेवाले कार्यकर्ताओ को आज पाशविक सज़ाएँ दी जाती है।

इस तरह इतिहास के बारे मे मार्क्स का मत यह था कि समाज सदा बदलता और उन्नति करता रहता है। यह एक जगह ठहरा हुआ नही है। यह एक गतिशील कल्पना थी। कुछ भी होता रहे, समाज तो लाजिमी तौर पर आगे ही बढ़ता रहता है, और एक किस्म की समाजी व्यवस्था की जगह पर दूसरी आ जाती है। लेकिन एक समाजी व्यवस्था उसी समय मिटती है, जब वह अपना काम पूरा कर चुकती है और उसका पूरी हद तक विकास हो चुकता है। जब समाज इस हद से आगे बढ जाता है तब वह आसानी से पुरानी व्यवस्था के उन वस्त्रों को फाड फेंकता है, जो तग होकर उसे जकडने लगे थे, और फिर वह नये और बडे वस्त्र पहन लेता है।

मार्क्स के मत से विकास की इस महान् ऐतिहासिक प्रक्रिया मे मदद करना मनुष्य के लिए अटल है। पहले की सब मजिलें तय हो चुकी। अब पूंजीशाही ऊँचे मध्यम-वर्गी समाज का और मजदूर-वर्ग का आखिरी वर्ग-सघर्ष हो रहा है। (अलबत्ता यह बात उन आगे बढे हुए औद्योगिक देशो की है, जहाँ पूंजीशाही का पूरा विकास हो चुका है।) दूसरे देश जहाँ पूंजीशाही का विकास नही हुआ है, पिछडे हुए है और वहाँ की लडाइयो का रूप कुछ मिला-जुला और जुदा किस्म का है। मगर जड मे वहाँ भी इस लडाई की कुछ-कुछ ऐसी ही सूरत है, क्योकि ससार के देशो के आपसी सम्बन्ध दिन-दिन ज्यादा बढते जा रहे है। मार्क्स का कहना है कि पूंजीशाही को कठिनाई-पर-कठिनाई और सकट-पर-सकट का सामना करना पडेगा और चूंकि उसमे अन्दरूनी सन्तुलन का अभाव है, इसलिए वह अन्त मे लुढक पडेगा। यह बात लिखे हुए मार्क्स को साठ वर्ष से ऊपर हो गये और तबसे पूंजीशाही पर सकट भी बहुत आये। लेकिन खत्म होना तो दूर रहा वह तो उनको पार कर गई, और हालाँकि रूस मे तो अब वह बाकी नही रही है, लेकिन इसके सिवा और जगह पहले से भी ज्यादा ताकतवर हो गई है। हाँ, जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूँ उस वक्त दुनियाभर मे पूंजीशाही बुरी तरह बीमार दिखाई देती है और डॉक्टर लोगो को उसके अच्छा होने की कोई उम्मीद दिखाई नही देती है।

कहा जाता है कि पूंजीशाही आजतक अपनी जिन्दगी लम्बाने मे जो सफल हुई है, उसका एक कारण है, जिसपर शायद मार्क्स ने पूरी तरह विचार नही किया। यह है पश्चिम के औद्योगिक देशो के हाथो उपनिवेशी साम्राज्यो का शोषण। इससे पूंजीशाही ने नई जिन्दगी और खुशहाली हासिल की है, अलबत्ता इनकी कीमत चुकानी पडी है उन बेचारे देशो को, जिनका शोषण किया गया है।

हम इस बात की बहुत बार बुराई करते हैं कि मौजूदा पूंजीशाही मे गरीब का धनवान और मजदूर का पूंजीपति शोषण करते हैं। बात सोलह आने सही है। इसलिए नही कि पूंजीपति का कसूर है, बल्कि इसलिए कि खुद इस ढाँचे का आधार ही इस तरह के शोषण पर है। साथ ही हमे यह भी नही समझ लेना चाहिए कि पूंजीशाही मे यह कोई नई चीज है। सभी पिछले युगो मे सारे ढाँचो के भीतर मजदूरो व गरीबो के कठोर व अटल नसीब मे शोषण ही रहा है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि पूंजीशाही शोषण के बावजूद वे आज पिछले किसी भी जमाने से ज्यादा अच्छी हालत मे है। लेकिन यह कहना नही कहने के बराबर है।

इस जमाने मे मार्क्सवाद का सबसे बडा व्याख्याकार लेनिन हुआ है। इसने मार्क्सवाद की व्याख्या और स्पष्ट वर्णन तो किया ही, साथ ही अपनी जिन्दगी मे उसे पूरी तरह उतारा भी। फिर भी उसने हमे यह चेतावनी दी है कि हम

मार्क्सवाद को कोई ऐसा कट्टर पन्थ न मान बैठे, जिसमें उलट-फेर की गुंजायश न हो। उसे इसकी असली बातों की सचाई पर पूरा यकीन था, मगर इसकी हरेक छोटी-छोटी बात मानने को और उसे हर कहीं बिना सोचे-समझे लागू करने को वह तैयार नहीं था। वह हमें बताता है—

"हम किसी भी अर्थ में मार्क्सवाद को ऐसी चीज नहीं समझते, जो मुकम्मिल है और जिसमें कोई ऐब नहीं निकाला जा सकता। इसके खिलाफ हमारा पक्का विश्वास है कि यह मत उस विज्ञान की सिर्फ आधार-शिला है, जिसकी समाजवादियों को हर दिशा में उन्नति करनी चाहिए, वरना ये जीवन की दौड़ में पीछे रह जायेंगे। हमारे विचार में रूसी समाजवादियों के लिए मार्क्स के मत का खुले दिमाग से अध्ययन करना खासतौर पर जरूरी है, क्योंकि यह मत हमको सिर्फ राह दिखानेवाले आम विचार देता है, जो मिसाल के लिए फ्रान्स से अलग ढंग पर इंग्लैण्ड में, जर्मनी से फ्रान्स में, और रूस से जर्मनी में लागू किये जा सकते हैं।"

इस पत्र में मैंने तुम्हें मार्क्स के मतों का कुछ हाल बताया है, मगर मैं नहीं जानता कि इस चेपा-चेपी से तुम्हें कुछ फायदा होगा या नहीं और ये साफ-साफ तुम्हारी समझ में आयेंगे या नहीं। इन मतों को जान लेना इसलिए अच्छा है कि ये आज के लाखों-करोड़ों नर-नारियों को हिला रहे हैं और इनसे हमें अपने देश में भी मदद मिल सकती है। रूस के बड़े राष्ट्र ने और सोवियत संघ के दूसरे वर्गों ने मार्क्स को अपना बड़ा पैगम्बर मान लिया है, और आज संसार की बड़ी-बड़ी मुसीबतों के इलाज की तलाश में बहुतेरे लोग इसकी तरफ देख रहे हैं कि शायद इससे कुछ प्रेरणा मिल जाय।

मैं इस पत्र को अंग्रेज कवि टेनीसन की कुछ पंक्तियों के साथ समाप्त करूँगा, इनका मतलब यह है—

"पुरानी व्यवस्था बदलकर नई के लिए जगह खाली करती है, और ईश्वर का काम कई तरीकों से पूरा होता रहता है, ताकि ऐसा न हो कि एक अच्छा रिवाज दुनिया को भ्रष्ट कर दे।"

: १३५ :

इंग्लैण्ड का विक्टोरिया-युग

२२ फरवरी, १९३३

समाजवादी विचारों के विकास का बयान करते हुए मैंने अपने पत्रों में तुम्हें बताया है कि अंग्रेजों का समाजवाद सबसे मुलायम नमूने का रहा है। उस समय

यूरोप मे जितनी विचारधाराएँ चल रही थी, उनमे यह सबमे कम क्रान्तिवादी था, और यह आशा लगाये बैठा था कि धीरे-धीरे कदम-ब-कदम परिवर्तन होकर अच्छी हालत आ जायगी। कभी-कभी जब व्यापार गिर जाता, मन्दी फैल जाती, बेरोजगारी बढ़ जाती, मजदूरी घट जाती और लोगो को तकलीफें होने लगतीं, तब इंग्लैण्ड मे भी क्रान्ति की लहर उठ खड़ी होती थी। मगर हालत जरा अच्छी हुई कि फिर जोश ठण्डा पड़ जाता। उन्नीसवीं सदी मे अंग्रेजों के विचारो की इस मुलायमी का इंग्लैण्ड की खुशहाली से गहरा ताल्लुक था, क्योंकि खुशहाली और क्रान्ति मे किसी तरह का मेल नही होता। क्रान्ति का अर्थ है, बड़ा भारी परिवर्तन, और जो लोग मौजूदा हालतो मे ही काफ़ी सन्तोष से रहते हैं, वे नहीं चाहते कि उन हालतो को बेहतर बनानेवाले सब्ज़ बाग़ की खातिर जोखिम या जल्दबाजी के किसी सामूहिक काम मे कूद पड़ें।

उन्नीसवी सदी वास्तव मे इंग्लैण्ड की महानता की सदी थी। अठारहवीं सदी मे उसने औद्योगिक क्रान्ति करके और दूसरे देशो से पहले नये कारखाने डालकर जो अगुआई हासिल कर ली थी, उसे उन्नीसवी सदी के ज्यादातर हिस्से में भी बनाये रक्खा। मैं कह चुका हूँ कि वह दुनिया का कारखाना-घर था और उसमे दूर-दूर के देशो से दौलत की नदी बहकर आ रही थी। भारत व दूसरे उपनिवेशो की लूट से उसे दौलत का अटूट खिराज मिल रहा था, जिससे उसकी शान बढ रही थी। जिस समय यूरोप के करीब-करीब सभी देशो में परिवर्तन हो रहे थे, इंग्लैण्ड बिना किसी तरह की क्रान्ति के चट्टान की तरह मजबूत और ठोस नज़र आ रहा था। समय-समय पर सकट-काल जरूर आये। मगर ये कुछ ज्यादा आदमियो को वोट का हक देकर टाल दिये गए। हम यह भी देख चुके हैं कि इस बीच मे फ्रान्स मे बारी-बारी से गणराज्यो और साम्राज्यो का ताँता लगा रहा, इटली मे नया राष्ट्र पैदा हुआ, जिसने युगो की फूट के बाद सारे प्रायद्वीप को एक कर दिया, और जर्मनी मे एक नये साम्राज्य ने जन्म लिया। बेलजियम, डेनमार्क और यूनान जैसे छोटे-छोटे देश भी बहुत-सी बातो मे बदल गये। यूरोप के सबसे पुराने राजवश हैप्सबर्ग की गद्दी आस्ट्रिया को, फ्रान्स, इटली व प्रशिया ने बार-बार नीचा दिखाया। सिर्फ पूर्व मे रूस का निरकुश जार महान् मुग़ल की तरह राज कर रहा था और रूस मे कोई परिवर्तन दिखाई नही दे रहा था। मगर रूस उद्योगो के लिहाज से बहुत पिछड़ा हुआ था और किसानो का राष्ट्र था। नये विचारो और नये उद्योगो की हवा उसे अभी तक नही लगी थी।

इंग्लैण्ड अपनी दौलत, अपने साम्राज्य और अपनी समुद्री शक्ति के सबब से यूरोप पर और ससार-भर पर हावी हो रहा था। वह अगुआ राष्ट्र हो गया था और उसके पजे दुनिया भर मे फैले हुए थे। अमेरिका का सयुक्त राज्य अभी तक

अपने भीतरी झगडो मे फँसा हुआ था और उसे दुनिया के मामलो की बनिस्बत घर की उन्नति की ज्यादा चिन्ता थी। परिवहन (ढुलाई) के तरीको मे अद्भुत परिवर्तन हो रहे थे, जिनकी वजह से पृथ्वी दिन-पर-दिन छोटी और सघन होती हुई मालूम दे रही थी, इनसे भी इंग्लैण्ड को दूर देशो पर अपना पजा कसने मे मदद मिली। इन सब परिवर्तनो के होते हु , भी इंग्लैण्ड मे सरकार का रूप वही बना रहा, एक सविधानी बादशाह यानी सत्ताहीन शासक, और सबके ऊपर मानी जानेवाली पार्लमेण्ट। इस पार्लमेण्ट को शुरू मे मुट्ठीभर जमीदार और धनी व्यापारी चुनते थे, मगर बाद मे जब-जब सकट की हालत पैदा हुई तब-तब आफत टालने के लिए इस सदी के दौरान दिन-पर-दिन ज्यादा लोगो को वोट का हक़ दिया जाता रहा।

इस सदी के ज्यादातर हिस्से मे विक्टोरिया इंग्लैण्ड की महारानी थी। वह जर्मनी के हनोवर घराने की थी। इस घराने ने अठारहवी सदी मे ब्रिटिश राज-सिहासन को जॉर्ज नाम के कई बादशाह दिये। विक्टोरिया १८३७ ई० मे गद्दी पर बैठी। उस समय वह १८ वर्ष की लडकी थी और उसने सदी के अन्त तक, यानी १९०० ई० तक तिरेसठ वर्ष राज किया। इंग्लैण्ड मे इस लम्बे ज़माने को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इसलिए महारानी विक्टोरिया ने यूरोप मे व दूसरे देशो मे कई बडे-बडे परिवर्तन देखे और पुराने मार्ग-चिह्नो को मिटता हुआ व नयो को उनकी जगह लेता हुआ देखा। उसने यूरोप की क्रान्तियाँ, फ्रान्स मे परिवर्तन और इटालवी राज्य व जर्मन साम्राज्य का उदय देखा। मृत्यु से पहले वह एक तरह से यूरोप की और यूरोप के राजाओ की दादी मानी जाने लगी थी। मगर यूरोप मे विक्टोरिया के ही ज़माने का एक और राजा था, जिसका इतिहास भी वैसा ही है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग घराने का सम्राट फ्रान्स जोजेफ था। जब क्रान्ति के वर्ष, १८४८ ई० मे वह अपने टूटे-फूटे साम्राज्य की गद्दी पर बैठा तो उसकी भी उम्र अठारह वर्ष की थी। उसने अडसठ वर्ष राज किया और किसी तरह आस्ट्रिया, हगरी और अपने अधीन दूसरे हिस्सो को एक सूत्र मे बाँधे रक्खा। लेकिन महायुद्ध ने उसका और उसके साम्राज्य का अन्त कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा भाग्यवान थी। अपने शासन-काल मे उसने इंग्लैण्ड की शक्ति को बढते हुए और अपने साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब वह गद्दी पर बैठी तब कनाडा मे गडबडी थी। इस उपनिवेश मे खुली बग़ावत हो रही थी और वहाँ के बहुतेरे उपनिवेशी इंग्लैण्ड से विलग होकर अपने पडौसी अमेरिका के सयुक्त राज्य मे मिल जाना चाहते थे। मगर इंग्लैण्ड ने अमेरिका के युद्ध से सबक सीख लिया था और उसने जल्दी-से कनाडावालो को खुद अपना

शासन चलाने का बहुत-कुछ अधिकार देकर ठण्डा कर दिया। थोड ही दिनो मे वह बढ़ते-बढते पूरा स्वराजी उपनिवेशी राज्य बन गया। साम्राज्य मे यह नये ढंग का प्रयोग था, क्योकि आज़ादी और साम्राज्य का कभी साथ नही हो सकता। मगर परिस्थिति से मजबूर होकर इग्लैण्ड को ऐसा करना पड़ा, वरना वह कनाडा को खो बैठता। कनाडा के ज्यादातर निवासी अग्रेज़ वश के थे, इसलिए मातृभूमि के साथ वे भावना के मज़बूत बन्धन मे बंधे हुए थे। इधर इस नये देश मे लम्बी-चौडी ज़मीनें बिना उपयोग पडी थी, और उसकी आबादी भी बहुत कम थी। इसलिए उसे अपने विकास के लिए इग्लैण्ड के बने माल पर और इग्लैण्ड के पैसे पर बहुत ज्यादा निर्भर रहना पडता था। इस वास्ते उस समय दोनो देशो के स्वार्थों मे कोई टक्कर नही थी और उनके बीच मे जो अजीब और नया रिश्ता कायम हुआ, उसपर कोई ज़ोर नही पडा।

इसी सदी मे आगे चलकर विदेशी अग्रेज़ी बस्तियो को स्वराज देने का यह तरीका आस्ट्रेलिया मे भी काम मे लाया गया। सदी के लगभग बीच तक वहाँ कैदियो की बस्ती थी, सदी के अन्त मे वह साम्राज्य का आज़ाद उपनिवेशी राज्य बना दिया गया।

दूसरी तरफ भारत मे अग्रेज़ी शिकजा और भी कस दिया गया और देश-विजय के लिए युद्ध-पर-युद्ध करके ब्रिटिश-भारतीय साम्राज्य का विस्तार होता गया। भारत अग्रेज़ो की मातहती रियासत थी। स्वराज की यहाँ छाया तक भी नही थी। १८५७ का विद्रोह कुचल दिया गया था और भारत को साम्राज्य का पूरा वज़न महसूस करा दिया गया था। मैं तुम्हे बता चुका हूँ कि इग्लैण्ड ने तरह-तरह के तरीको से भारत का किस तरह शोषण किया। असल मे तो भारत ही ब्रिटेन का साम्राज्य था, और मानो ससार के सामने इस तथ्य का ऐलान करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने भारत की साम्राज्ञी का खिताब ले लिया। मगर भारत के अलावा दुनिया के अलग-अलग हिस्सो मे और भी कई छोटे-छोटे देश इग्लैण्ड के अधीन थे।

इस तरह दो नमूनो के देशो से बना हुआ ब्रिटिश साम्राज्य एक अजीब भानमती का पिटारा हो गया। एक तरफ तो स्वराजी देश थे, जो बाद मे आज़ाद उपनिवेशी राज्य हो गये, और दूसरी तरफ मातहती रियासत व रक्षित रियासतें थी। पहली तरह के देश एक तरह से एक ही कुटुम्ब के सदस्य थे, जो मातृदेश इग्लैण्ड को अपना मुखिया मानते थे, दूसरी तरह के देश साफ तौर पर इस महकमे के चाकर और ग़ुलाम थे, जिन्हे नीचा समझा जाता था, जिनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता था और जिनका शोषण किया जाता था। स्वराजी उपनिवेशो मे अग्रेज़ या दूसरे यूरोपीय लोग और उनकी औलाद रहते थे, और मातहती रियासतो

के लोग तमाम ग़ैर-ब्रिटिश और गैर-यूरोपीय थे। ब्रिटिश साम्राज्य के दोनो भागो का यह फ़र्क आज तक चला आ रहा है।

दौलत व साम्राज्य का मालिक इंग्लैंड बहुत-कुछ भरी-पूरी शक्ति था; लेकिन इतने पर भी उसे सन्तोष नही था, क्योंकि साम्राज्यशाही लालच की कोई हद नहीं होती और वह हमेशा बढता रहता है। फिर भी इंग्लैण्ड की खास परेशानी यह नही थी कि और ज्यादा कैसे लिया जाय, बल्कि यह थी कि जो मिल गया है, उसकी रक्षा कैसे की जाय। भारत तो उसके लिए खासतौर पर सोने की चिडिया थी, जिसपर वह आखिरी दम तक कब्ज़ा रखना चाहता था। उसकी सारी विदेशी नीति का दारोमदार यह था कि भारत उसके कब्ज़े मे रहे और पूर्व के समुद्री रास्ते सुरक्षित रहें। इसीलिए उसने मिस्र मे टाँग अडाई और अन्त मे उसपर अपनी प्रभुता जमाई, इसी तरह उसने ईरान और अफगानिस्तान के मामलो में दखल दिया। उसने बडी चालाकी से स्वेज़ नहर कम्पनी के हिस्से खरीदकर नहर पर भी क़ाबू हासिल कर लिया।

उन्नीसवी सदी के बडे हिस्से मे खास यूरोप की शक्तियो की तरफ से इंग्लैण्ड को परेशानी नही रही, क्योंकि वे अपने घर के झगडो मे ही फँसी हुई थी और अक्सर आपस मे लडती रहती थी। इंग्लैण्ड ने यूरोप के एक देश को दूसरे से लडाकर और उनकी आपसी लाग-डाँटो से फायदा उठाकर यूरोप मे सन्तुलन कायम रखने का अपना पुराना खेल जारी रक्खा। फ्रान्स के नेपोलियन तृतीय से उसे खतरा लग रहा था, मगर वह खत्म हो गया और फ्रान्स को दुबारा सम्हलने मे कुछ वक्त लग गया। जर्मनी अभी इतना बडा नही हुआ था कि उसे खतरनाक मुक़ाबलेदार समझा जाता। लेकिन एक देश ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देता हुआ मालूम पडता था और वह था ज़ारशाही रूस, जो था तो पिछडा हुआ, मगर नक्शे पर फिर भी लम्बा-चौडा देश था। जैसे इंग्लैण्ड भारत मे और दक्षिणी एशिया में फैल गया था, वैसे ही रूस का विस्तार उत्तरी व मध्य एशिया मे हो चुका था और उसकी सरहद भारत से बहुत दूर नही थी। रूस की यह नज़दीकी अंग्रेज़ों के लिए सदा हौवा बनी रहती थी। भारत की चर्चा करते समय मैं तुम्हे अफ़ग़ानिस्तान पर अंग्रेजो के हमले का और अफगान-युद्धो का हाल बतला चुका हूँ। इन सबका खास सबब ज़ारशाही रूस का डर था।

यूरोप मे भी इंग्लैंड और रूस की झडप हुई। रूस एक ऐसा अच्छा बन्दरगाह चाहता था, जो बारहो महीने खुला रहे और सर्दियो मे जिसका पानी जमे नही। अपने लम्बे-चौडे प्रदेशो के बावजूद उसके सारे बन्दरगाह आर्कटिक वृत्त[1] के ही आस-पास थे और वर्ष मे कुछ महीने वहाँ का पानी जमकर बर्फ हो जाता था, जिससे

[1] Arctic Circle—उत्तरी ध्रुव के चारों ओर का भू-खण्ड।

वे बन्द हो जाते थे। भारत और अफ़ग़ानिस्तान मे, इसी तरह ईरान में भी, अंग्रेज़ लोग उसे समुद्र तक नही पहुँचने देते थे। बॉस्फोरस और दर्रे-दानियाल पर तुर्कों का कब्ज़ा होने से काला-सागर का रास्ता भी बन्द था। वर्षों पहले रूस ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा जमाने की कोशिश की थी, मगर तुर्कों के आगे उसकी दाल नहीं गली। इस समय तुर्कों का ज़ोर घट गया था और जिस चीज़ पर रूस की अर्से से लार टपक रही थी, वह करीब-करीब हाथ मे आती दिखाई दे रही थी। उसने उसे छीनने की कोशिश की। मगर इंग्लैण्ड बीच मे आ कूदा और सिर्फ़ अपने स्वार्थ की खातिर तुर्कों का हिमायती बन गया। १८५४ ई० मे क्रीमिया के युद्ध से और बाद मे दूसरे युद्ध की धमकी से रूस आगे नही बढ़ने पाया।

१८५४ से १८५६ ई० तक के इसी क्रीमिया-युद्ध मे फ्लोरेन्स नाइटिंगेल घायलो की परिचर्या के लिए साहसी स्वयं-सेविकाओ का एक-दस्ता लेकर गई थी। उस समय यह एक अनोखी बात थी, क्योकि विक्टोरिया-युग की मध्यम-वर्गी स्त्रियाँ घर मे ही घुसी रहनेवाली होती थी। फ्लोरेन्स नाइटिंगेल ने उनके सामने सेवा की एक नई मिसाल रक्खी और वह बहुत-सी स्त्रियो को घर की चहारदीवारी से बाहर खीच लाई। इसलिए स्त्रियो के आन्दोलन के विकास मे उसका बडा नाम है।

ब्रिटेन की सरकार का रूप वह था, जिसे सविधानी राजाशाही या 'ताजधारी गणराज्य' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि ताजधारी के हाथ मे असली सत्ता कुछ न थी और वह पार्लमेण्ट के विश्वासपात्र मन्त्रियो का कोरा प्रवक्ता होता था। राजनीति की निगाह से वह मन्त्रियो के हाथ की कठपुतली होता था और कहा जाता था कि वह 'राजनीति से परे' है। असल बात यह है कि तेज़ बुद्धि या मज़बूत इरादेवाला कोई भी आदमी सिर्फ़ कठपुतली बनकर नहीं रह सकता और इंग्लैण्ड के बादशाहो या बेगमो को सार्वजनिक मामलो मे दखल देने के बहुत मौके मिलते हैं। आम्तौर पर यह चीज़ पर्दे के भीतर होती है, और जनता को या तो कुछ मालूम ही नही हो पाता या होता भी है तो बहुत दिनो बाद। खुली दस्तन्दाज़ी पर बहुत नाराज़ी फैल सकती है और बादशाहत खतरे मे पड सकती है। सविधानी राजा मे जो बडा गुण होना ज़रूरी है, वह है टैक्ट[1], यानी नीति-कुशलता। अगर यह उसमे है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह कई तरीको से अपना असर डाल सकता है।

विधान और कानून के लिहाज़ से (सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की तरह) गणराज्यो के राष्ट्रपतियो के हाथो मे पार्लमेण्टी देशो के ताजधारी शासको से बहुत ज़्यादा सत्ता होती है। मगर राष्ट्रपति जल्दी-जल्दी बदलते रहते

[1] Tact—जैसी परिस्थिति हो उसीके अनुसार चतुराई से बात करना।

हैं और राजा लम्बे ज़मानो तक बने रहते हैं, और चुपचाप ही सही, लेकिन राज-काज पर किसी खास दिशा मे लगातार असर डाल सकते हैं। बादशाह को साजिशें करने और समाजी दबाव डालने के भी बहुत मौके मिलते हैं, क्योकि समाजी दुनिया मे वही सबसे आला माना जाता है। वास्तव मे शाही दरबारो की सारी फिज़ा सत्ताशाही की, और पदो के मुताबिक उठने-बैठने की, और खिताबो और वर्गों की होती है और वह देशभर के लिए नमूना बन जाती है। इन बातो का समाजी बराबरी और वर्ग-भेद मिटाने की बात के साथ मेल नही बैठता। इसमे ज़रा भी शक नही कि इग्लैण्ड मे शाही दरबार के होने ने अंग्रेज़ो की मनोवृत्ति ढालने मे और उनको समाज का वर्ग-भेद कबूल करने मे बहुत बडा असर डाला है। या शायद यह कहना ठीक होगा कि जहां दुनिया के सारे बडे-बडे देशो से बादशाहत ग़ायब हो गई है, वहां इग्लैण्ड मे उसके किसी तरह बच रहने की वजह यही है कि वहां लोगो ने ऊँचे और नीचे वर्गों के भेद को मान रक्खा है। एक पुरानी कहावत है कि 'हरेक अंग्रेज़ लॉर्ड यानी सामन्त को चाहता है' और इसमे बहुत-कुछ सचाई है। यूरोप या अमेरिका मे, और शायद जापान व भारत के सिवा एशिया मे भी, कही वर्ग-भेद इतने सख्त नही हैं, जितने इग्लैण्ड मे हैं। यह ताज्जुब की बात है कि जो इग्लैण्ड गुज़रे ज़माने मे राजनीतिक लोकतन्त्र और उद्योगवाद का अगुआ रह चुका है, वह आज समाजी मामलो मे इतना पिछडा हुआ है और जड-बुनियाद से इतना पुरातन-पन्थी है।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट 'पार्लमेण्टो की जननी' कहलाती है। उसकी ज़िन्दगी लम्बी और इज़्ज़तदार रही है और बहुत-सी बातो मे बादशाह की निरकुशता से लडने मे उसने सबसे पहले कदम उठाया था। उस निरकुश राज की जगह पार्लमेण्ट का अल्पतन्त्री शासन आया, यानी मुट्ठीभर ज़मीदारो और शासक-वर्ग के लोगो का राज हुआ। फिर लोकतन्त्र की सवारी गाजे-बाजे के साथ आई और बडी खीचतान के बाद आबादी के बहुत बडे हिस्से को पार्लमेण्ट की कॉमन्स-सभा के सदस्य चुनने का मताधिकार मिला। अमल मे इसका नतीजा सच्चा लोकतन्त्री राज नही हुआ, बल्कि मालदार उद्योगपतियो के हाथो मे पार्लमेण्ट की बागडोर आ गई। लोकशाही के बजाय दौलतशाही कायम हो गई।

ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने शासन और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली का विकास किया। यह दो दलो की प्रणाली कहलाती है। इन दोनो दलो मे कोई ज्यादा फर्क नही था। वे जिन सिद्धान्तो को मानते थे, उनके बीच कोई विरोध नही था। दोनो मालदार लोगो के दल थे और उस समय के समाजी ढाँचे को मानते थे। एक दल मे पुराने ज़मीदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे मे धनी कारखानेदारो की बहुतायत थी। मगर यह नागराज और साँपराज का ही

उन्नीसवी सदी के पिछले वर्षों मे इंग्लैण्ड के राजनीतिक दलो के दो बडे नेता डिज़राइली और ग्लैड्स्टन थे। डिज़राइली, जो आगे चलकर बीकन्सफील्ड का अर्ल हो गया, अनुदार-दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधानमन्त्री बना। उसके लिए यह मार्के की करामात थी, क्योंकि वह यहूदी था और बड़े-बड़े लोगो से उसके कोई ताल्लुक नही थे और यहूदियों को अंग्रेज लोग पसन्द भी नही करते। लेकिन सिर्फ योग्यता और लगन के बल पर उसने अपने खिलाफ वैर-भाव को जीत लिया और वह रास्ता चीरकर सबके आगे आ गया। वह बडा साम्राज्यवादी था, और विक्टोरिया को 'कैसरे हिन्द' इसीने बनाया था। ग्लैड्स्टन एक पुराने मालदार अंग्रेज घराने का था। वह उदार-दल का नेता बन गया और कई बार प्रधानमन्त्री भी रहा। जहाँतक साम्राज्यवाद और विदेशी नीति का सम्बन्ध था, वहाँतक ग्लैड्स्टन और डिज़राइली मे कोई बुनियादी फर्क नही था। मगर डिज़राइली अपने साम्राज्यवाद की बात बेलाग कहता था, और ग्लैड्स्टन, जो पूरा अंग्रेज था, असलियत को लच्छेदार बातो और नेक नसीहतो से ढँक देता था। वह ऐसा जाहिर करता था, मानो जो कुछ भी वह करता है, उसमे ईश्वर ही उसका खास सलाहकार है। बल्कानी देशों मे तुर्कों के अत्याचारो के खिलाफ उसने बडा भारी आन्दोलन मचवाया और डिज़राइली ने सिर्फ विरोध की खातिर तुर्कों का पक्ष लिया। असल मे कसूर तो तुर्कों और बलकान मे अलग-अलग राष्ट्रीय क़ौमोवाली उनकी प्रजाओं, इन दोनो का ही था। वे बारी-बारी से भयकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैड्स्टन ने आयर्लैण्ड के लिए स्वराज का भी समर्थन किया। वह सफल नहीं हुआ और अंग्रेजो का विरोध इतना जोरदार था कि खुद उदार-दल के ही दो टुकडे हो गये। एक हिस्सा अनुदार-दल मे जा मिला, जो 'यूनियनवादी'[1] दल कहलाने लगा क्योंकि ये लोग आयर्लैण्ड के साथ यूनियन यानी एकता का रिश्ता रखना चाहते थे।

मगर इस बारे मे और विक्टोरिया-युग की दूसरी घटनाओ के बारे में अगले पत्र मे कुछ और बातें लिखूंगा।

: १३६ :

इंग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन जाता है

२३ फरवरी, १९३३

उन्नीसवी सदी मे इंग्लैण्ड की खुशहाली का कारण उसके उद्योग-धन्धे और उपनिवेशो व अधीन देशो का शोषण था। खास करके उसकी बढती हुई दौलत

[1] Unionist.

का आधार चार उद्योग थे। इन्हें 'बुनियादी' उद्योग कह सकते हैं। ये थे सूती-कपड़ा, कोयला, लोहा और जहाज-निर्माण। इनके चारो ओर और अलग भी बेशुमार दूसरे उद्योग, भारी भी और हल्के भी, पैदा हो गये। व्यवसायों के और बैंकों के बड़े-बड़े घराने खड़े हो गये। अंग्रेजों के व्यापारी जहाज दुनिया के लगभग हर हिस्से मे पाये जाने लगे। ये सिर्फ ब्रिटिश माल ही नही ले जाते थे, बल्कि दूसरे औद्योगिक देशो के बने हुए माल भी लादते थे। ये समुद्रपार मे सौदागरी सामान को लाने-लेजाने का सबसे बड़ा साधन बन गये। लन्दन में लॉयड का बीमे का बड़ा दफ्तर दुनिया की जहाजरानी का केन्द्र बन गया। पार्लमेण्ट पर इन उद्योगो और व्यवसायो के मालिको का दबदबा था।

देश मे दौलत की बाढ़ आ गई और ऊँचे व मध्यम-वर्गो के लोग दिन-पर-दिन मालामाल होते गये। इस दौलत का कुछ हिस्सा मजदूरो को भी पहुँचा और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो गया। मालदारो को जो इतनी भारी दौलत मिल रही थी, उसका वे क्या करते? उसे बेकार पड़ा रखना तो बेवकूफी थी। इसलिए हर कोई उद्योग-धन्धो को आगे बढ़ाने मे जुट गया और ज्यादा-ज्यादा माल पैदा करके ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफे कमाने लगा। इस दौलत का बड़ा हिस्सा इग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड मे नये-नये कारखानो, रेलो और ऐसे ही दूसरे धन्धो मे लग गया। कुछ समय बाद जब कारखानो की संख्या बहुत बढ़ गई और देश ने उद्योग-धन्धो का पूरा जाल बिछ गया, तो नफे की दर घटना लाजिमी था, क्योंकि साथ-साथ होड़बाजी भी बढ़ गई थी। तब पूंजीपतियो ने पूंजी लगाने के ज्यादा फायदेवाले मैदानो की तलाश मे देश से बाहर नजरें दौड़ाई और उन्हे ठीक मौके भी खूब मिल गये। दुनिया-भर मे रेलें बन रही थी और टेलीफोन व टेलीग्राफ के तार बिछाये जा रहे थे और कारखाने डाले जा रहे थे। यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका और इग्लैण्ड के अधीन देशो मे इस तरह के कितने ही धन्धो मे इग्लैण्ड की फालतू पूंजी खूब डाली जाने लगी। अमेरिका के सयुक्त राज्य के पास कुदरती साधनो की कमी नही थी, मगर वह तेजी से तरक्की कर रहा था, इसलिए उसकी रेलो वगैरा मे बहुत-सी ब्रिटिश पूंजी खप गई। दक्षिण अमेरिका मे, और वहाँ भी खासकर आर्जेन्टिना मे, अंग्रेजों के बहुत बड़े-बड़े बागान थे। कनाडा और आस्ट्रेलिया का तो विकास ही ब्रिटिश पूंजी से हुआ। चीन मे रियायतो के लिए जो लड़ाई हुई, उसका कुछ हाल मैं बता चुका हूँ। भारत मे तो अंग्रेजो की प्रभुता थी ही। यहाँ उन्होने रेलो और दूसरे कामो के लिए अपनी मनचाही शर्तों पर रुपया उधार दिया।

इस तरह इग्लैण्ड दुनिया का साहूकार बन गया और लन्दन दुनिया का सराफा हो गया। लेकिन इसका यह अर्थ न समझ लेना कि जब रुपया उधार दिया जाता था तो कोई सोने, चाँदी या नकदी की बोरियाँ भर-भरकर इग्लैण्ड से दूसरे

देशो को भेजी जाती थी। आजकल का व्यापार इस तरीके से नही होता, वरना लेन-देन के लिए सोने-चांदी की ही कमी पड जाय। मूर्ख लोग सोने-चांदी को बहुत ज्यादा महत्व देते हैं, मगर ये तो विनिमय के और माल को इधर-उधर पहुँचाने के सिर्फ ज़रिये हैं। इन्हें न तो कोई खा सकता है न पहन सकता है, और न किसी दूसरे उपयोग मे ला सकता है। इसके ज़ेवर अलबत्ता बन सकते हैं, मगर उनसे किसीको कोई फायदा नही होता। सच्ची दौलत तो ऐसे माल का हाथ मे होना है, जिसका उपयोग हो सके। इसलिए जब इग्लैण्ड या अग्रेज़ पूंजीपति रुपया उधार देते थे, तो उसका अर्थ यह होता था कि वे किसी विदेशी उद्योग या रेल मे कुछ पूंजी लगाते थे, और नकद रुपये के बजाय अग्रेज़ी माल भेजा जाता था। इस तरह इग्लैण्ड की मशीनो या रेलो का सामान दूसरे देशो को भेजा जाता था। इससे इग्लैण्ड के उद्योग-धन्धो को मदद मिलती थी और साथ-ही-साथ वहाँ के पूंजी लगानेवाले वर्ग को अपनी फालतू नकदी बढिया मुनाफे पर लगाने के मौके मिलते थे।

साहूकारी मुनाफे का धन्धा है और इग्लैण्ड ने जितना ज्यादा इसे अपनाया उतना ही ज्यादा वह मालदार बनने लगा। इससे एक बडा निठल्ला वर्ग पैदा हो गया, जो सिर्फ इस व्यवसाय के मुनाफो और हिस्सो पर गुज़र करता था। इन लोगो को किसी चीज़ के उत्पादन के लिए कोई काम ही नही करना पडता था। वे किसी रेलवे कम्पनी, चाय-बागान या दूसरे व्यापारी काम-धन्धे मे हिस्सेदार होते थे और उनके मुनाफे बराबर उनके पास पहुँचते रहते थे। इन निठल्ले अग्रेज़ो की बस्तियाँ फ्रान्स के रिवेरा, इटली और स्वीज़रलैण्ड जैसी दिल-पसन्द जगहो मे बस गईं। हाँ, इनमे से ज्यादातर लोग इग्लैण्ड मे ही रहे।

जिन देशो ने इस तरह इग्लैण्ड से कर्ज लिया था, वे सब उसका ब्याज या उसपर मुनाफा किस तरह चुकाते थे? इसे भी वे सोना-चाँदी के रूप मे नही भेज सकते थे। हर साल अदा करने को उनके पास काफी सोना-चाँदी थे ही नही। इसलिए वे माल की शक्ल मे अदा करते थे, पक्का माल तो इतना नही देते थे, क्योकि खुद इग्लैण्ड पक्का माल पैदा करनेवाले देशो मे सबसे बढा-चढा था। पर वे खाने-पीने की चीज़े और कच्चा माल भेजते थे। उनके यहाँ से इग्लैण्ड की तरफ गेहूँ, चाय, कहवा, माँस, फल, शराब, रुई, ऊन, वगैरा की नदी बराबर बहती रहती थी।

दो राष्ट्रो के बीच वाणिज्य का अर्थ है चीज़ो का विनिमय। यह सम्भव नही कि एक देश खरीदता ही रहे और दूसरा बेचता ही चला जाय। ऐसा करने की कोशिश की जाय तो सोना या चाँदी के रूप मे ही भुगतान करना पडे और वहाँ का सोना-चाँदी बहुत जल्दी निबट जाय, या फिर एक-तरफा व्यापार अपने-आप ही बन्द हो जाय। आपसी व्यापार मे विनिमय होता है, जो अपने-आप सधता

रहता है, कभी एक देश का पल्ला झुक जाता है तो कभी दूसरे का। अगर हम उन्नीसवी सदी मे इग्लैण्ड के व्यापार की जाँच करें तो मालूम होगा कि सब मिलाकर इग्लैण्ड से जितना माल बाहर गया, उससे ज्यादा माल उसके यहाँ आया। यानी, हालाँकि उसने भारी मिकदार मे माल बाहर भेजा, फिर भी वास्तव मे उसने उससे ज्यादा कीमत का माल मँगवाया। फर्क इतना ही था कि उसने भेजा पक्का माल और मँगाये ज्यादातर कच्चे माल और खाने-पीने की चीजें। इस तरह मालूम तो यह होता था कि उसने खरीदा ज्यादा और बेचा कम, और व्यापार करने का यह कोई अच्छा तरीका नही नज़र आता। पर सही बात यह थी कि निर्यात के ऊपर आयात की ज्यादती उसके उधार दिये हुए रुपये का नफा ही थी। यह वह नजराना था, जो कर्ज़दार देश या भारत जैसे अधीन देश उसे भेजते थे।

लगी हुई पूंजी का सारा मुनाफा इग्लैण्ड नही पहुँच जाता था। उसका बहुत-सा हिस्सा कर्जदार देश मे रह जाता था और ब्रिटिश पूंजीपति उसे फिर वहीं लगा देते थे। इस तरह, बिना नई पूंजी लगाये या इग्लैण्ड से माल भेजे हुए, विदेशो मे लगी हुई अग्रेज़ो की पूंजी की रकम बढती ही चली जाती थी। भारत मे हमे बार-बार याद दिलाया जाता है कि रेलो, नहरो और बहुत-से दूसरे कामो मे अग्रेज़ो की बेहिसाब पूंजी लगी हुई है और इस हिसाब से भारत पर इग्लैण्ड के 'कर्ज़' की ज़बर्दस्त रकम बताई जाती है। भारतवासी इस दावे को किसी तरह मानने को तैयार नही हैं, परन्तु यहां इसकी चर्चा करने की ज़रूरत नहीं। हां, इतना ध्यान मे रखना चाहिए कि लगी हुई पूंजी की इस भारी रकम मे इग्लैण्ड से आई हुई नई पूंजी ज्यादा नही है। यह तो भारत मे कमाया हुआ मुनाफा फिर से यही लगाया हुआ है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि पलासी की लडाई और क्लाइव के समय मे सचमुच अग्रेज लोग भारत से बहुत-सा सोना और खज़ाना इग्लैण्ड ले गये थे। उसके बाद भारत के शोषण का रूप बदल गया और उतना खटकनेवाला नही रहा, और मुनाफो का कुछ हिस्सा इसी देश मे फिर लगाया जाता रहा।

इग्लैण्ड ने देख लिया कि साहूकारी का ससार-व्यापी धन्धा चलाने का सिर्फ़ यही उपाय सम्भव है कि ब्याज का भुगतान माल के रूप मे लेना मजूर किया जाय। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि वह सोना लेने पर नही अड सकता था। इसके दो बडे नतीजे हुए। एक तो इग्लैण्ड ने अपने निवासियो को खिलाने के लिए बाहर से खाने का सामान आने की इजाज़त दे दी और अपने यहाँ की खेती को नुकसान हो जाने दिया। उसने बाहर बेचने के लिए अपने उद्योगो के ज़रिये पक्का माल तैयार करने पर सारा ज़ोर लगा दिया और अपने किसानो की दुर्दशा पर ध्यान नही दिया। अगर उसे विदेशो से सस्ता अनाज मिल सकता था तो घर मे पैदा करने की झझट की क्या ज़रूरत? और अगर उद्योगो से ज्यादा मुनाफा बनाया

जा सके तो खेती की परेशानी क्यो उठाई जाय ? बस, इग्लैण्ड निरा औद्योगिक देश बन गया और अनाज के लिए विदेशो पर निर्भर हो गया।

दूसरा नतीजा यह हुआ कि उसने 'खुला व्यापार'[1] की नीति अपनाई, यानी उसके बन्दरगाहो पर दूसरे देशो से जो माल आता था, उसपर वह या तो महसूल लेता ही न था या बहुत कम लेता था। चूंकि वह सबसे बडा-चढा औद्योगिक देश था, इसलिए पक्के माल के मामले मे उसे बहुत अर्से तक मुकाबले का कोई डर नही था। इसलिए विदेशी माल पर महसूल लगाने का मतलब होता विदेशो से अपने यहाँ आनेवाले अनाज व कच्चे माल पर महसूल लगाना। इससे जनता की खूराक का दाम बढ जाता और अपने यहाँ बनी हुई चीजो की कीमते बढ़ जातीं। इसके सिवा, अगर वह भारी महसूल लगाकर विदेशी माल को अपने यहाँ आने से रोक देता तो बाहर के कर्ज़दार देश अपना खिराज इग्लैण्ड को कैसे चुकाते ? वे तो माल के ही रूप मे भुगतान कर सकते थे। यही कारण था कि जहाँ दूसरे सब औद्योगिक देश सरक्षणवादी थे, यानी अपने यहाँ आनेवाले विदेशी माल पर महसूल लगाकर अपने बढते हुए उद्योग-धन्धो की रक्षा कर रहे थे, वहाँ इग्लैण्ड ने खुले व्यापार की नीति अपना रक्खी थी। सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी, सब सरक्षणवादी थे।

उन्नीसवी सदी मे अग्रेजो की, खेती पर कम ध्यान देने, उद्योग-धन्धो पर सारा ज़ोर लगाने और बाहर से खाने की चीजें मॅगाने और विदेशो के नज़रानो पर मौज करने की जो नीति थी, वह लाभकारी और दिल-पसन्द मालूम देती थी, पर उसमे खतरे भी थे, जो अब साफ सामने आ रहे हैं। उस नीति का आधार उद्योगो मे इग्लैण्ड का सबसे ऊँचा दर्जा और उसका बडा भारी विदेशी व्यापार थे। लेकिन अगर यह ऊँचा दर्जा जाता रहे और साथ-साथ विदेशी व्यापार भी कम होने लगे तो ? उस हालत मे वह खाने की चीजो के दाम कैसे चुकायेगा ? और अगर वह अनाज की कीमत दे भी सका तो जब कोई ताकतवर दुश्मन उसका रास्ता बन्द कर दे तब वह विदेशो से अनाज कैसे मॅगा पायेगा ? पिछले महायुद्ध मे वहाँ के लोगो को आधा-भूखा रहना पडा था, क्योकि खाने-पीने की चीजो की आमद करीब-क़रीब बन्द हो गई थी। इससे भी बडा खतरा यह है कि दूसरे देशो की होड़ की वजह से उसका विदेशी व्यापार दिन-दिन गिरता जा रहा है। यह होड़ उन्नीसवी सदी के आखिरी बीस सालो मे ज्यादा तेज़ हो गई, क्योकि तब अमेरिका और जर्मनी विदेशी मण्डियाँ ढूंढने लगे। धीरे-धीरे दूसरे देश भी औद्योगिक बन गये और इस तलाश मे शामिल हो गये, और अब तो क़रीब-क़रीब सारे ससार का किसी-न-किसी हद तक उद्योगीकरण हो चला है। हरेक देश की यह कोशिश है

[1] Free Trade.

कि अपनी ज़रूरत का ज्यादा-से-ज्यादा सामान खुद तैयार कर ले और विदेशी माल न आने दे। भारत विदेशी कपडे की आमद रोकना चाहता है। तब लकाशायर और विदेशी व्यापार पर निर्भर रहनेवाले दूसरे ब्रिटिश उद्योग क्या करें?

इन सवालो का जवाब देना इग्लैण्ड के लिए मुश्किल है और उसके बुरे दिन आते दिखाई दे रहे हैं। वह कछुए की तरह हाथ-पैर सिकोडकर नही पड सकता और न अपना अनाज व ज़रूरत की दूसरी चीज़ें पैदा करके अपने भरोसे जीवन ही बिता सकता है। आज का ससार ऐसा गोरखधन्धा हो गया है कि यह बात सम्भव नही। और अगर वह अपनेको सबसे विलग कर भी ले तो इसमे सन्देह है कि वह अपनी बहुत ज्यादा बढी हुई आबादी के लिए काफी खूराक पैदा कर सकेगा। लेकिन ये सवाल आज के हैं, उन्नीसवी सदी मे इनका कोई महत्व नही था। इसलिए इग्लैण्ड ने अपने भविष्य के साथ जुआ खेला और यह दाव लगा दिया कि उसका सबसे ऊँचा दर्जा सदा बना रहेगा। यह बडा भारी जुआ था और बाज़ी भी बडी ऊँची लगाई गई थी—यानी या तो ससार का अगुआ राष्ट्र बनकर रहना या गिरकर खत्म हो जाना। उसके लिए कोई बीच की मज़िल नही थी। लेकिन विक्टोरिया-युग के मध्यम-वर्गी अग्रेज़ मे न तो अपने ऊपर भरोसे की कमी थी और न अहकार की। मुद्दत की खुशहाली व सफलता, और उद्योग व व्यवसाय मे अगुआई ने उसे यह जँचा दिया था कि वह बाकी की सारी मनुष्य-जाति से आला है। वह सब विदेशियो को नाचीज़ समझने लगा। एशिया व अफ्रीका के लोग तो पिछडे हुए और जगली थे ही। वे तो इसीलिए पैदा किये गए मालूम होते थे कि पिछडी हुई मनुष्य जातियो पर हुकूमत करने और उन्हें सुधारने के लिए अग्रेजो को अपनी पैदायशी प्रतिभा को इस्तेमाल करने का मौका मिले। यूरोप के दूसरे देशो के लोग भी अज्ञानी और अन्ध-विश्वासी विदेशी थे। सभ्यता की चोटी पर बैठे हुए अग्रेज ही खुदा के बन्दे थे। जो यूरोप बाकी दुनिया का सरदार था, उसे पीछे लेकर बढनेवाली हरावल वे ही थे। ब्रिटिश साम्राज्य एक तरह की आधी-ग़ैबी सस्था थी, जिसने ब्रिटिश नस्ल की महानता पर आखिरी मुहर लगा दी थी। लॉर्ड कर्जन ने, जो तीस वर्ष पहले भारत का वाइसराय था और अपने ज़माने के सबसे काबिल अग्रेजो मे गिना जाता है, अपनी एक पुस्तक उन लोगो को समर्पण की थी, "जो यह मानते हो कि खुदा परवरदिगार के राज मे ब्रिटिश साम्राज्य भलाई की प्रेरणा देनेवाली ऐसी बडी ताकत है, जैसी ससार मे आज तक कोई नही हुई।"

विक्टोरिया-युग के अग्रेज के बारे मे यह सब जो मैं लिख रहा हूँ, वह ज़रा दूर से खीचकर लाई हुई और अनोखी बात मालूम देती है और शायद तुम यह भी सोचने लगो कि मैं उसका मज़ाक उडाने की कोशिश कर रहा हूँ। यह ताज्जुब की

बात है कि कोई भी समझदार आदमी इस तरह का वर्ताव करे और ऐसा हैरत-भरा, अहकार-भरा और अपने मुंह मियाँ-मिट्ठूपन का रुख ग्रहण करे। लेकिन अपनेको राष्ट्रवादी समुदाय माननेवाले किसी भी चीज पर यकीन कर लेंगे, अगर वह उनके झूठे अभिमान को गुदगुदानेवाली और उन्हें फायदा पहुँचानेवाली हो। व्यक्तियो को अपने पडोसियो के साथ ऐसा भोडा और ओछा वर्ताव करने का कभी खयाल भी नही आता, मगर राष्ट्रो को ऐसा पछतावा नही हुआ करता। अफसोस की बात है कि हम सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और अपने-अपने राष्ट्रीय गुणो की शेखी बघारते फिरते हैं। थोडे-से फर्क के साथ विक्टोरिया-युग के अग्रेज का नमूना करीब-करीब सभी जगह पाया जाता है। यूरोप के सारे राष्ट्रो के अपने-अपने इसी तरह के राष्ट्रीय नमूने हुए हैं और ऐसे ही अमेरिका व एशिया मे भी।

इग्लैण्ड और पश्चिमी यूरोप की खुशहाली का कारण औद्योगिक पूंजीशाही की उन्नति था। यह पूंजीशाही मुनाफो की लगातार खोज मे आगे बढी जा रही थी। सफलता और मुनाफे ही वहाँ के लोगो की पूजा के देवता बन गये थे, क्योकि पूंजी-शाही का मजहब या नेकचलनी से कोई वास्ता नही था, यह व्यक्तियो और राष्ट्रो के बीच गला-घोंट होडबाजी का पक्का उसूल था, और जो पीछे रह जाय वह जाय जहन्नुम मे! विक्टोरिया-युग के लोगो को अपनी मजहबी उदारता पर अभिमान था। उनका प्रगति और विज्ञान मे विश्वास था और व्यापार व साम्राज्य मे उनकी सफलता ने उनके लिए यह साबित कर दिया था कि चुने हुए लोग वे ही थे, जो जीवन-सग्राम मे विजयी हुए। क्या डार्विन ऐसा नही कह गया था? मजहबी मामलो मे उनकी उदारता असल मे बेरुखी जैसी थी। आर एच टानी नामक अग्रेज लेखक ने इस हालत का खूब अच्छा बयान किया है। वह कहता है कि धरती के मामलो मे अलग करके खुदा को अपनी जगह बिठा दिया गया है। "स्वर्ग मे भी बँधी हुई राजाशाही थी और धरती पर भी!" खुशहाल मध्यम-वर्गो का यही खयाल था, मगर जनता के लिए गिरजो मे जाने को और मजहब को इस आशा से बढावा दिया जाता था कि इससे कही उनमे क्रान्तिकारी विचार पैदा न हो पायें। मजहबी उदारता का मतलब अन्य मामलो मे उदारता नही था। जिन बातो को बहुमत महत्व देता था, उनमे जरा भी उदारता नही दिखाई जाती थी, और किसी भी तरह का खिचाव होने पर उदारता गायब हो ही जाती है। भारत मे भी ब्रिटिश सरकार मजहब के मामलो मे आला दर्जे की उदार है और इस नेकी पर नाज़ करती है। वास्तव मे उसे इस बात की जरा भी परवाह नही कि मजहब चूल्हे मे जाय। लेकिन अगर उसकी राजनीति की या उसके किसी काम की जरा भी बुराई की जाय तो फौरन उसके कान खडे हो जाते हैं, और फिर उसपर कोई उदारता का दोष नही लगा सकता! जितना ज्यादा खिचाव हो वह उतनी ही नीचे गिर जाती है, और अगर खिचाव काफी बढ जाय तो फिर सरकार

उदारता का सारा बाना उतार फेंकती है और खुले व बेगैरत आतंक पर उतर आती है। भारत मे हम आज यही देख रहे हैं। कुछ ही दिन हुए, मैंने अखबार में पढ़ा था कि कुछ अंग्रेज़ कर्मचारियो को धमकी के पत्र लिखने के जुर्म मे एक लडके को, जिसकी उम्र मुश्किल से तेरह-चौदह साल की होगी, आठ वर्ष की सख्त कद की सज़ा दी गई है।

पूंजीशाही उद्योगो के बढने से बहुत परिवर्तन पैदा हो गये। पूंजीशाही दिन-पर-दिन बडे पैमाने पर अपना काम करने लगी। छोटे व्यवसायों की बनिस्वत बडे व्यवसाय चलाना ज्यादा मुनाफे का और ज्यादा कारगर होता है। इसलिए उद्योगो को मिलकर चलानेवाले कम्पनी-सघ और ट्रस्ट[1] बन गये और वे छोटे-छोटे स्वतन्त्र उत्पादको और कारखानो को हडप कर गये। इसलिए 'दखल न देने' के पुराने विचार इस हालत मे खडे नही रह सके। ये ज़बर्दस्त कम्पनी-सघ और ट्रस्ट सरकारो पर भी हावी हो गये।

पूंजीशाही ने साम्राज्यशाही का एक दूसरा और ज्यादा खूंख्वार ढग पैदा किया। उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से मे जैसे-जैसे औद्योगिक शक्तियो की होड बढने लगी, वैसे-वैसे वे बाज़ारो व कच्चे मालो की तलाश मे और भी दूर-दूर मैदानो की तरफ निगाहें दौडाने लगे। दुनियाभर मे साम्राज्य के लिए बडी तेज़ छीना-झपटी होने लगी। एशिया मे, यानी भारत, चीन, भारत के पूर्ववर्ती देश और ईरान में, जो कुछ हुआ, उसका हाल कुछ ब्यौरे के साथ मैं तुम्हें बता चुका हूँ। अब यूरोप की शक्तियाँ गिद्धो की तरह अफ्रीका पर टूट पडी और उसे आपस मे बाँट लिया। यहाँ भी इंग्लैण्ड ने सबसे बडा हिस्सा ले लिया। उत्तर मे मिस्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण मे बडे-बडे निवाले उसके हाथ लगे। फ्रान्स भी फायदे मे रहा। इटली इस लूट के माल मे हिस्सा चाहता था, लेकिन अबीसीनिया ने उसे बुरी तरह हरा दिया और इसपर सभी को अचम्भा हुआ। जर्मनी को भी हिस्सा मिला, पर वह खुश नही हुआ। चीखती-चिल्लाती, धमकाती, हडप करती हुई साम्राज्यशाही सब जगह बे-रोक-टोक बढ रही थी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नामी कवि रुडयार्ड किपलिंग ने 'गोरो का बोझ'[2] के गीत गाये। फ्रान्सवाले दूसरो को सभ्य बनाने के अपने मिशन की बातें करने लगे। जर्मनो को तो अपनी संस्कृति फैलाना ही था। बस, ये सभ्य बनानेवाले, सुधार करनेवाले और दूसरी क़ौमो का बोझा ढोने-वाले बिलकुल त्याग की भावना लेकर निकल पडे और गेहुँए, पीले, व काले लोगों

[1] किसी माल के उत्पादन व क़ीमतो को हाथ मे रखने के लिए या किसी व्यवसाय के प्रबन्ध के लिए कई कम्पनियो का मिलाजुला संगठन।

[2] Whiteman's Burden

की पीठ पर सवार हो गये। और काले आदमी के बोझ के बारे मे किसीने गीत नही गाया।

इन तमाम लालची होड करने वाले साम्राज्यवादो के लिए इस दुनिया मे काफी जगह नही थी। हाट-बाज़ारो के लिए खूंख्वार पूंजीशाही उमग हरेक देश को आगे धकेल रही थी और अक्सर इनके आपस मे मुठभेडें हो जाती थी। कई बार ऐसा मालूम हुआ कि इग्लैण्ड और फ्रा स के बीच युद्ध छिडते-छिडते रह गया। मगर स्वार्थों की असली टक्कर तो अग्रेज़ी और जर्मन उद्योगो के बीच हुई। उद्योगो और जहाज़रानी की दौड मे जर्मनी ने इग्लैण्ड को पकड लिया था और वह हर बाज़ार मे उसके मुकाबले मे खडा हो रहा था। लेकिन उसने देखा कि धरती के सबसे अच्छे हिस्सो पर इग्लैण्ड ने पहले ही कब्ज़ा जमा रक्खा था। जिस तरह कोई शानदार और तेज़-तर्रार घोडा लगाम खीचने पर बिगड उठता है, उसी तरह दूसरे राष्ट्रो से रोका जाने पर जर्मनी तैश मे आ रहा था और उनके साथ ज़बर्दस्त लडाई की ज़ोरो से तैयारी कर रहा था। सारे यूरोप मे भी युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं, जल व थल सेनाएँ बढने लगी। जुदा-जुदा देशो के बीच गुट-बन्दियाँ होने लगी, यहाँतक कि दो हथियारबन्द दल आमने-सामने खडे नज़र आने लगे। एक तरफ जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली की तिहरी गुटबन्दी थी और दूसरी तरफ रूस और फ्रान्स की दुहरी गुटबन्दी, जिसके साथ इग्लैण्ड भी छिपे तौर पर चिपका हुआ था।

इसी बीच उन्नीसवी सदी के अन्त मे इग्लैण्ड को दक्षिण अफ्रीका मे एक छोटी-सी खानगी लडाई लडनी पडी। ट्रान्सवाल के बोअर गणराज्य मे सोने की खानें निकल आने की वजह से १८९९ ई० मे यह युद्ध हुआ। बोअर लोग यूरोप की सबसे बडी शक्ति के खिलाफ तीन साल तक अद्‌भुत दिलेरी व धीरज के साथ लडे। उन्हे कुचल दिया गया और हार माननी पडी। मगर थोडे ही दिनो बाद अग्रेज़ो ने बुद्धिमानी और उदारता का काम किया कि अपने कुछ ही दिन पहले के दुश्मनो को पूरा स्वराज दे दिया। उस समय उदार-दल का मन्त्रिमण्डल था। कुछ समय बाद सारा दक्षिण अफ्रीका ब्रिटिश साम्राज्य का स्वतन्त्र उपनिवेशी राज्य बन गया।

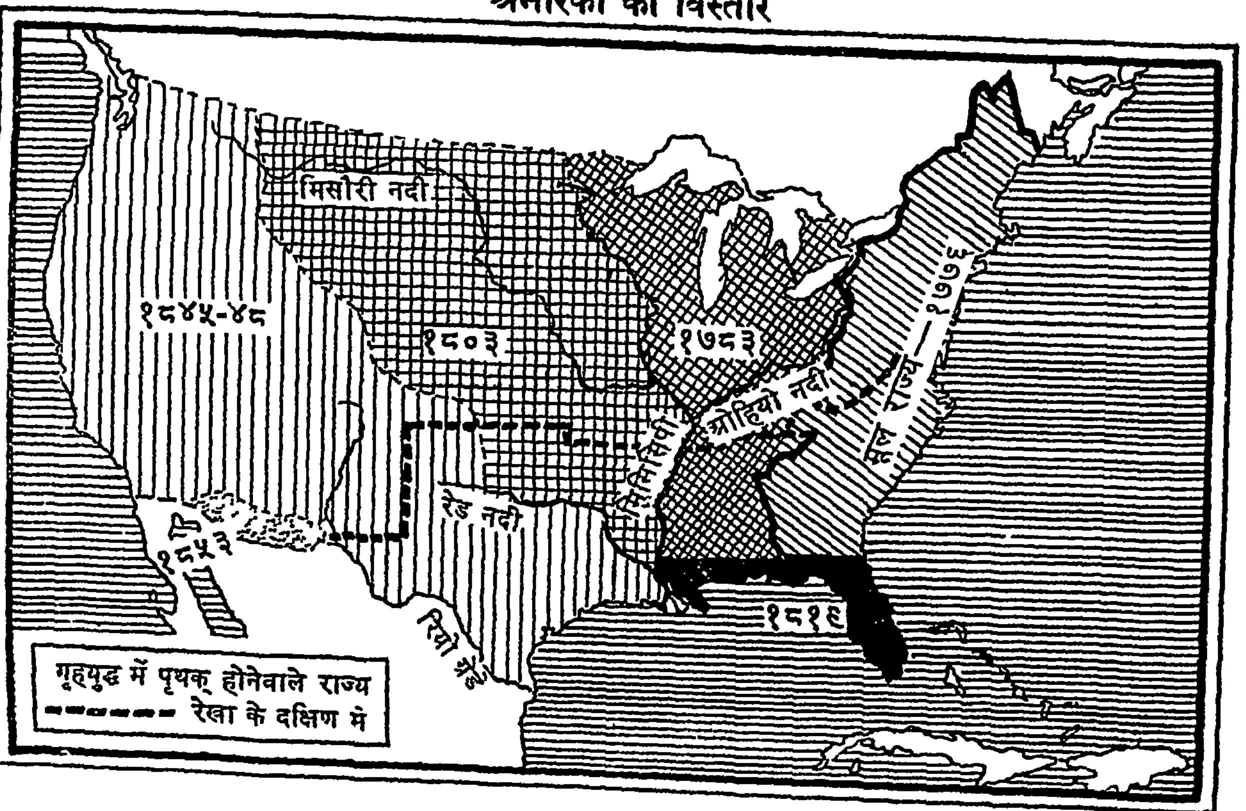
: १३७ :

अमेरिका में गृह-युद्ध

२७ फरवरी, १९३३

पुरानी दुनिया व उसके झगडो व साज़िशो ने, उसके बादशाहो और क्रान्तियो ने, उसकी नफरतो व राष्ट्रवादो ने, हमारा बहुत ज्यादा समय ले लिया। अब ज़रा

अमेरिका का विस्तार


मिसौरी नदी
१८४५-४८
१८०३
१७८३
ओहियो नदी
मिसीसिपी
मूल राज्य—१७७६
रेड नदी
१८५३
रियो ग्रैंडे
१८१९
गृहयुद्ध में पृथक् होनेवाले राज्य
रेखा के दक्षिण में

अतलान्तिक महासागर को पार करके अमेरिका की नई दुनिया मे चलकर देखें कि यूरोप के लालची पञ्जे से छुटकारा पाने के बाद इसपर कैसी बीती। सयुक्त राज्य पर हमे खासतौर से ध्यान देने की जरूरत है। छोटी-सी शुरुआत से बढते-बढते अन्त मे आज यह सारे ससार की हालत पर छाया हुआ मालूम दे रहा है। इंग्लैण्ड का पुराना गौरव आज नही रहा। वह अब ससार का साहूकार नही रहा, बल्कि यूरोप के सारे दूसरे देशो की तरह वह भी एक अभागा क़र्ज़दार देश है, जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका से दया व उदारता के बर्ताव की भीख माँगनी पड रही है। साहूकार की पगडी अब अमेरिका के सिर बँध गई है; दौलत की नदी उसकी ओर बह रही है, और वह करोडपतियो के ढेर-के-ढेर पैदा कर रहा है। पुरानी दन्तकथा के मीदास की तरह हर चीज को छूकर सोना बनाने का वरदान उसे ज्यादा आनन्द नही दे रहा है और बेशुमार करोड़पतियो के होते हुए भी उसकी जनता आज भी तगी और गरीबी भुगत रही है।

समुद्र-तट के जिन तेरह राज्यो ने १७७५ ई० मे इग्लैण्ड से रिश्ता तोड लिया था, उनकी आबादी चालीस लाख से कम ही थी। आज अकेले न्यूयार्क शहर की आबादी उससे करीब दुगुनी है और सारे सयुक्त राज्य की साढे बारह करोड है। इस सघ मे अब पहले से बहुत ज्यादा राज्य हैं और वे इस महाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक ठेठ प्रशान्त महासागर तक फैले हुए हैं। उन्नीसवी सदी मे इस लम्बे-चौडे देश के विस्तार और आबादी मे ही नही बल्कि इसके आधुनिक उद्योगो व व्यवसायो मे दौलत व प्रभाव मे, लगातार बढोतरी हुई। सयुक्त राज्य को बहुत कठिनाइयो व झगडो का सामना करना पडा और यूरोप के साथ युद्ध और उलझाव भी हुए, लेकिन इसपर पडनेवाली सबसे बडी आफत थी उत्तर और दक्षिण के राज्यो के बीच दुश्मनी और तबाही का गृह-युद्ध।

अमेरिका के आज़ाद होने के कुछ ही साल बाद फ्रान्स की राज्यक्रान्ति हुई और उसके पीछे नेपोलियनी युद्ध हुए। नेपोलियन और इग्लैण्ड दोनो एक-दूसरे के वाणिज्य को नष्ट कर देना चाहते थे और इस कोशिश मे उनकी सयुक्त राज्य से मुठभेड हो गई। समुद्र-पार के देशो से अमेरिका का व्यापार बिलकुल चौपट हो गया और इसके नतीजे से १८१२ ई० मे इग्लैण्ड के साथ उसका दूसरा युद्ध छिड गया। इन दो वर्षों के युद्ध का कोई खास नतीजा नही निकला। इस युद्ध के दौरान, जब नेपोलियन एल्बा मे ठिकाने लगा दिया गया और इग्लैण्ड को उधर से छुट्टी मिल गई, तो अग्रेज़ो ने किसी तरह अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन पर क़ब्ज़ा कर लिया और वहाँ की बडी-बडी सभी सरकारी इमारतें जला डाली। इनमे कैपिटोल, जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन होते हैं, और ह्वाइट हाउस, जिसमे राष्ट्रपति रहते हैं, शामिल थे। बाद मे अग्रेज़ो को हरा दिया गया।

इस युद्ध से पहले ही अमेरिका ने दक्षिण मे एक बहुत बडा प्रदेश अपने इलाक़े मे मिला लिया था। यह फ्रान्स का लुइसियाना नामक पुराना उपनिवेश था। अंग्रेज़ी जगी-बेडे के हमलो से इसको बचाने का कोई रास्ता न देखकर नेपोलियन ने इसे अमेरिका के हाथ बेच दिया था। कुछ साल बाद, १८२२ ई० मे, उसने स्पेन से ख़रीदकर फ्लोरिडा को मिला लिया और १८४८ ई० मे मैक्सिको से युद्ध जीतकर कैलीफोर्निया समेत कई और राज्य दक्षिण-पश्चिम मे ले लिये। इस दक्षिण-पश्चिमी भाग मे अब भी बहुत-से नगरो के नाम स्पेनी हैं और उन दिनो की याद दिलाते हैं जब वहाँ स्पेनवालो का या स्पेन की भाषा बोलनेवाले मैक्सिको-निवासियो का राज था। सिनेमा-जगत के बडे शहर लॉस एन्जेलिस और सान फ्रान्सिस्को के नाम सभी ने सुने हैं।

जिस समय यूरोप क्रान्तियो की और दमन की बार-बार कोशिशें कर रहा था, उसी समय सयुक्त राज्य पश्चिम की ओर फैलता जा रहा था। यूरोप मे दमन की वजह से लोग अपने-अपने देश छोडकर जा रहे थे और लम्बे-चौडे इलाको व ऊँची मजूरियो की कहानियाँ उन्हे बडी सख्या मे यूरोप के देशो से अमेरिका की तरफ़ खीच रही थी। जैसे-जैसे पश्चिम मे आबादी बढी वैसे-वैसे नये-नये राज्य बनते गये और सघ मे शामिल होते गये।

उत्तरी और दक्षिणी राज्यो के बीच शुरू से ही बडा फर्क़ था। उत्तरी राज्य औद्योगिक थे और वहाँ बडी-बडी मशीनोवाले नये-नये उद्योग तेजी से बढ रहे थे, दक्षिण मे बडे-बडे बागान थे, जिनमे गुलाम मज़दूर काम करते थे। गुलामी की प्रथा कानून से जायज़ थी, मगर उत्तर के लोग उसे पसन्द नही करते थे और वहाँ उसका कोई महत्व भी नही था। दक्षिण तो पूरी तरह गुलाम मज़दूरो पर ही निर्भर था। ये गुलाम अफ्रीका के हब्शी ही होते थे। गोरा एक भी गुलाम नही था। स्वाधीनता की घोषणा मे कहा गया था कि "सब मनुष्य जन्म से बराबर हैं", पर यह बात गोरो पर ही लागू होती थी, कालो पर नही।

इन हब्शियो को अफ्रीका से किस तरह लाया जाता था, यह कहानी बडी दर्दनाक है। गुलामो का व्यापार सत्रहवी सदी की शुरुआत मे शुरू हुआ था और १८६३ ई० तक गुलामो की आमद बराबर जारी रही। शुरू मे तो अफ्रीका के पश्चिमी समुद्र-तट से गुजरने वाली माल-लद्दू नावें जब कभी आसानी से अफ्रीकियो को पकड पाती तो उन्हे अमेरिका ले जाती। इस समुद्र-तट का एक हिस्सा अब भी 'गुलामो का तट' कहलाता है। खुद अफ्रीका के निवासियो मे गुलामी का रिवाज बहुत कम था, सिर्फ़ युद्धबन्दियो और कर्ज़दारो के साथ ही गुलामो का-सा बर्ताव किया जाता था। अफ्रीकियो को अमेरिका ले जाकर गुलामो की तरह बेच देने का यह धन्धा बडे मुनाफ़े का पाया गया। गुलामो का व्यापार बढा और इसमे

ज्यादातर अग्रेज़ो, स्पेनियो और पुर्तगालियो ने व्यापार की तरह पैसा लगाया। गुलामो के व्यापार के लिए खास तरह के जहाज़ बनाये गए थे, जिनकी छतो के बीच मे दुछत्ती कोठरियाँ होती थी। उनमे ये अभागे हब्शी ज़जीरो से कसे हुए और दो-दो के पैरो मे साथ बेडियाँ डालकर पडे रहने को मजबूर किये जाते थे। अतलान्तिक महासागर-पार के समुद्री सफर मे बहुत हफ्ते और कभी-कभी महीनो लग जाते थे। इन तमाम हफ्तो और महीनो मे ये हब्शी इन तग कोठरियो मे ज़जीरो से बँधे पडे रहते और हरेक को सिर्फ साढे पाँच फुट लम्बी और सोलह इच चौडी जगह दी जाती थी।

गुलामो के व्यापार की नीव पर लिवरपूल बहुत बडा शहर बन गया। १७१३ ई० मे ही जब यूट्रैक्ट की सन्धि हुई तो इग्लैण्ड ने अफ्रीका और स्पेनी अमेरिका के बीच गुलामो को ले जाने की सहूलियत स्पेन से छीन ली। इससे पहले भी इग्लैण्ड अमेरिका के अग्रेजी प्रदेशो मे गुलाम पहुँचाया करता था। इस तरह अठारहवी सदी मे अफ्रीका और अमेरिका के बीच गुलामो के व्यापार को अग्रेजो की ठेकेदारी बनाने की कोशिश की गई। १७३० ई० मे लिवरपूल के पन्द्रह जहाज इस धन्धे मे लगे हुए थे। यह सख्या बढते-बढते १७९२ ई० मे १३२ तक जा पहुँची। औद्योगिक क्रान्ति के शुरू के दिनो मे इग्लैण्ड के लकाशायर मे रुई की कताई का उद्योग बहुत उन्नति कर गया और इसकी वजह से सयुक्त राज्य मे गुलामी की माँग बढ़ गई। क्योकि लकाशायर की मिलो मे खपनेवाली रुई अमेरिका के दक्षिणी राज्यो के बडे-बडे कपास-बागानो से आती थी। इन बागानो का तेजी के साथ विस्तार हुआ, अफ्रीका से गुलाम भी ज्यादा आने लगे और हब्शियो की नस्ल बढाने की भी हर तरह से कोशिश की गई। १७९० ई० मे सयुक्त राज्य मे गुलामो की सख्या ६,९७,००० थी, १८६१ ई० मे यह बढकर ४०,००,००० हो गई।

उन्नीसवी सदी के शुरू मे ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गुलामी के खिलाफ कडे कानून पास किये। यूरोप और अमेरिका के दूसरे देशो ने भी ऐसा ही किया। लेकिन गुलामो का व्यापार इस तरह गैर-कानूनी करार दिया जाने पर भी हब्शियो का अफ्रीका से अमेरिका ले जाया जाना जारी रहा। फर्क यह हुआ कि सफर मे उनकी और भी ज्यादा बुरी हालत होने लगी। उन्हे चौडे-धाडे तो ले नही जाया जा सकता था, इसलिए तले-ऊपर सरकवाँ डंडो पर लोगो की नजरो से छिपाया जाता था। एक अमेरिकी लेखक लिखता है "कभी-कभी भरी हुई टोबॉगन[1] पर सवार होनेवालो की तरह उन्हे एक-दूसरे की गोदी मे टाँग-पर-टाँग रखकर लाद दिया जाता था!" इस जुल्म की कल्पना भी करना दुश्वार है। उन जहाज़ो की हालत इतनी गन्दी हो जाती थी कि चार-पाँच यात्राओ के बाद उन्हे रद्दी कर देना पडता

[1] Toboggan—बर्फ पर चलनेवाली पहियो की गाड़ी।

था। मगर मुनाफा बहुत जबर्दस्त होता था, और अठारहवी सदी के अन्त व उन्नीसवी के शुरू मे, जब यह व्यापार चोटी पर था, तो अफ्रीका के 'गुलामो के तट' से हर वर्ष एक लाख के करीब गुलाम ले जाये जाते थे। याद रहे कि इतने सारे गुलामो को ले जाने का यह मतलब था कि हब्शियो को पकडने के लिए जो छापे मारे जाते थे, उनमे इनसे कही ज्यादा मौत के घाट उतार दिये जाते थे।

उन्नीसवी सदी के शुरू मे या उसके आस-पास सभी बडे-बडे देशो ने इस व्यापार को ग़ैर-कानूनी करार दिया। सयुक्त राज्य तक ने भी यही किया। हालाँकि इस तरह गुलामी का व्यापार ग़ैर-कानूनी हो गया, मगर अमेरिका मे गुलामी जायज़ ही मानी जाती रही, यानी वहाँ पुराने गुलाम फिर भी गुलाम ही बने रहे। और चूँकि गुलामी जायज़ थी, इसलिए मनाई होने पर भी गुलामो का व्यापार जारी रहा। जब इग्लैण्ड ने भी गुलामी-प्रथा उठा दी, तब गुलामो के व्यापार के लिए न्यूयार्क सबसे बडा बन्दरगाह हो गया।

हालाँकि उन्नीसवी सदी के बीच तक कितने ही साल न्यूयार्क इस व्यापार का बन्दरगाह रहा, फिर भी अमेरिका के उत्तरी राज्य गुलामी के खिलाफ थे। लेकिन दूसरी तरफ दक्षिणवाले को अपने बागानो मे काम करने के लिए इन गुलामो की जरूरत थी। कुछ राज्यो ने गुलामी-प्रथा उठा दी और कुछने रहने दी। हब्शी लोग गुलामीवाले राज्यो से भागकर ग़ैर-गुलामीवाले राज्यो मे चले जाते थे और उनके बारे मे झगडे होते थे।

उत्तर और दक्षिण के आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और उनके बीच १८३० ई० मे ही तट-करो व चुगियो के मामले मे कशमकश पैदा हो गई। सघ से अलग हो जाने की धमकियाँ दी गईं। राज्य अपने-अपने हको के बारे मे खबरदार थे और सघ-सरकार की बहुत ज्यादा दस्तन्दाजी पसन्द नही करते थे। देश मे दो दल हो गये। एक तो हर राज्य की प्रभुता का तरफदार था, दूसरा मजबूत केन्द्रीय सरकार चाहता था। इन मतभेदो से उत्तर और दक्षिण के बीच की खाई चौडी होती गई और जहाँ कहीं नये राज्य सघ मे शामिल होते थे वही यह सवाल उठता था कि वे किस पक्ष का समर्थन करेंगे। बहुमत किधर होगा ? उत्तर की आबादी तेजी से बढ रही थी, क्योकि यूरोप के लोग आ-आकर वहाँ बस रहे थे। इससे दक्षिण के लोगो को डर हुआ कि उत्तर की बढी हुई सख्या उन्हें दबा लेगी और हर सवाल पर ज्यादा वोट देकर उन्हें हरा देगी। इसलिए उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढ़ता गया।

इसी बीच उत्तर में गुलामी की प्रथा बिलकुल उठा देने का आन्दोलन खडा हुआ। इस आन्दोलन के समर्थक 'अबोलिशनिस्ट्स' कहलाते थे। उनका सबसे बडा नेता विलियम लॉयड गैरीजन था। १८३१ ई० मे गैरीजन ने गुलामी-

विरोधी आन्दोलन के समर्थन के लिए 'लिबरेटर' नामक अखबार निकाला। इसके पहले ही अक मे उसने साफ कर दिया कि इस मामले मे वह कोई समझौता नही करेगा और न मुलायमियत रक्खेगा। उस अक के कुछ वाक्य बहुत मशहूर हो गये हैं और मैं उन्हे यहाँ दिये देता हूँ

> "मैं सत्य के समान कठोर और न्याय की तरह अटल रहूँगा। इस विषय पर मैं मुलायमी से सोचना, बोलना या लिखना नही चाहता। नही! नही! जिसके घर मे आग लगी हो, उसे मुलायमी के साथ चिल्लाने को कहो, उसे बलात्कारी के हाथो से अपनी पत्नी को मुलायमी से छुडाने के लिए कहो, माता से कहो कि आग मे पडे हुए अपने बच्चे को धीरे-धीरे बाहर निकाले, लेकिन इस जैसे उद्देश्य मे मुलायमी बरतने के लिए मुझपर जोर मत डालो। मैंने पक्का निश्चय कर लिया है। मैं गोलमोल बात नही कहूँगा, मैं क्षमा नही करूँगा, मैं तिलभर भी पीछे नही हटूँगा; और मेरी बाते सुननी ही पडेंगी।"

लेकिन दिलेरी का यह रवैया थोडे-से लोगो मे ही था। जो लोग गुलामी के खिलाफ थे, उनमे से ज्यादातर यह नही चाहते थे कि जहाँ गुलामी मौजूद है वहाँ उसमे दखल दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढ़ता ही गया, क्योकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और तट-कर के सवालो पर खासतौर पर आपस मे टकराते थे।

१८६० ई० मे अब्राहम लिंकन सयुक्त राज्य का राष्ट्रपति चुना गया और उसका चुनाव दक्षिणवालो के लिए विलग हो जाने का सकेत हो गया। लिंकन गुलामी का विरोधी था, मगर फिर भी उसने साफ कह दिया कि जहाँ गुलामी पहले से मौजूद है, वहाँ उसे नही छेडा जायगा। पर वह इस बात के लिए तैयार नही था कि यह नये राज्यो मे भी चालू की जाय या इसे कानूनी बना दिया जाय। इस आश्वासन से दक्षिण की तसल्ली नही हुई और एक-एक करके कई राज्य सघ से अलग हो गये। सयुक्त राज्य टुकडे-टुकडे हुआ चाहता था। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयकर सूरत थी। उसने दक्षिण को राजी करने की और इस अग-भग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हे सब तरह के आश्वासन दिये कि गुलामी जारी रहने दी जायगी। उसने यहाँतक कह दिया कि वह गुलामी को (जहाँ मौजूद है) सविधान मे शामिल करने को भी तैयार है जिससे कि गुलामी हमेशा के लिए कायम रह जाती। असल मे वह शान्ति की खातिर किसी भी हद तक जाने को राजी था, पर वह एक बात को मंजूर नही कर सकता था, और वह थी सघ का टुकडे-टुकडे होना। किसी राज्य का सघ से अलग होने का हक वह कतई मानने को तैयार नही था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें असफल रही। दक्षिण ने अलग हो जाने का फैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग भी हो गये। उनके साथ कुछ दूसरे सरहदी राज्यो की भी सहानुभूति थी। अलग होनेवाले राज्य अपने को 'कॉन्फेडेरेट राज्य'[1] कहने लगे और उन्होंने जेफर्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। १८६१ ई० के अप्रैल मे गृह-युद्ध छिड गया और पूरे चार वर्ष तक घिसटता रहा। इस युद्ध मे कितने ही भाई भाइयो से और मित्र मित्रो से लडे। जैसे-जैसे युद्ध चला, दोनो तरफ बडी-बडी फौजें खडी हो गई। उत्तर के पास बहुत सहूलियतें थी, उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और उद्योगो का इलाका था, इसलिए उसके साधन बहुत ज्यादा थे और उसके यहाँ रेलें भी ज्यादा थी। लेकिन दक्षिण के पास उससे अच्छे सिपाही और सेनापति थे—जिनमे जनरल ली खास था। इसलिए शुरू-शुरू मे सारी जीतें दक्षिण के ही हाथ रहीं। लेकिन अन्त मे दक्षिण लडते-लडते कमजोर हो गया। उत्तर के जगी-बेडे ने दक्षिण का सम्बन्ध यूरोप मे उसके बाजार से बिलकुल काट दिया और कपास व तम्बाखू का निर्यात रोक दिया। इससे दक्षिण अपाहिज हो गया। लेकिन इसका लकाशायर पर भी तबाही करनेवाला असर हुआ। वहाँ कपास न पहुँचने से बहुत-सी मिलें बन्द हो गईं। लकाशायर के मजदूर बेकार हो गये और सख्त मुसीबतो मे पड गये।

इस युद्ध के बारे मे अग्रेज़ी लोकमत की आमतौर पर दक्षिणवालो के साथ सहानुभूति थी, या कम-से-कम मालदार वर्गों की राय दक्षिण के पक्ष मे थी। वाम-दली लोग उत्तर के हिमायती थे।

गृह-युद्ध का सबसे बडा कारण गुलामी नही था। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, लिंकन अन्त तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहाँ-कही मौजूद हो, वहाँ वह उसे मानने को तैयार था। झगडे की जड तो असल मे दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ-कुछ आपस मे टकरानेवाले आर्थिक स्वार्थ थे, और अन्त मे लिंकन को सघ को बचाने के लिए लडना पडा। युद्ध छिड जाने के बाद भी लिंकन ने गुलामी-प्रथा के बारे मे कोई साफ बयान नही दिया, क्योकि उसे डर था कि उत्तर मे गुलामी के बहुत-से समर्थक कही भडक न जायँ। हाँ, जैसे-जैसे युद्ध चलता गया वैसे-वैसे वह ज्यादा पक्का होता गया। पहले उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि कांग्रेस मालिको को मुआवजा देकर गुलामो को आजाद करा दे। बाद मे उसने मुआवजा देने का विचार छोड दिया और अन्त मे, १८६२ ई० के सितम्बर मे, उसने जो 'मुक्ति की घोषणा'[2] निकाली, उसमे यह ऐलान कर दिया कि १८६३ ई० की

[1] Confederate States.

[2] Proclamation of Emancipation.

पहली जनवरी से सरकार के खिलाफ बगावत करनेवाले सब राज्यो के गुलाम आजाद हो जाने चाहिए। इस घोपणा के निकालने का खास कारण शायद यह था कि वह युद्ध मे दक्षिण को कमजोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख गुलाम आजाद हो गये और यह पूरी आशा थी कि कॉन्फेडरेट राज्यो में ये लोग बखेडा खडा कर देंगे।

जब दक्षिणवाले पूरी तरह पस्त हो गये तो १८६५ ई० मे गृह-युद्ध खत्म हुआ। वैसे तो युद्ध कभी भी भयकर चीज़ है, मगर गृह-युद्ध तो अक्सर और भी ज्यादा भयानक होता है। चार वर्ष की इस भयानक लडाई का बोझ सबसे ज्यादा राष्ट्रपति लिकन पर पडा और उसका जो नतीजा निकला, वह भी बहुत-कुछ उसीकी वजह से था कि उसने तमाम निराशाओ और आफतो के बावजूद हिम्मत नही हारी। उसे सिर्फ जीतने की ही धुन नहीं थी, बल्कि वह चाहता था कि जीत मे जहाँतक हो सके कम-से-कम कडवापन हो, ताकि जिस सघ की खातिर वह लड रहा था वह दिलो की सच्ची एकता हो और जबर्दस्ती लादा हुआ मेल न हो। इसलिए युद्ध मे विजयी होते ही उसने हारे हुए दक्षिण के साथ उदारता का सलूक शुरू कर दिया। लेकिन युद्ध के बाद कुछ ही दिन बीते थे कि किसी सिर-फिरे ने उसे गोली से मार दिया।

अब्राहम लिकन की गिनती अमेरिका के सबसे बडे नायको मे है। ससार के महापुरुषो मे भी उसने जगह ले ली है। उसका जन्म बहुत गरीब घर मे हुआ था, उसने किसी स्कूल मे शिक्षा नही पाई थी, जो कुछ शिक्षा उसने हासिल की वह ज्यादातर अपनी ही मेहनत से की थी। फिर भी वह उन्नति करके एक महान् राजनीतिज्ञ और वक्ता बन गया, और उसने एक भारी सकट मे से अपने देश की नाव को निकाल लिया।

लिंकन की मृत्यु के बाद अमेरिका की काग्रेस ने दक्षिणी गोरो के साथ उतनी उदारता नही दिखाई, जितनी कि शायद लिकन दिखाता। इन दक्षिणी गोरों को कई तरह की सजाएँ दी गईं और बहुतो का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियो को नागरिकता के पूरे अधिकार देकर इस चीज़ को अमेरिका के सविधान मे शामिल कर दिया गया। यह नियम भी बना दिया गया कि कोई राज्य किसी व्यक्ति को उसकी नस्ल, रग या पहले की गुलामी के कारण, मताधिकार से महरूम नही कर सकेगा।

हब्शी लोग अब कानूनी तौर पर आज़ाद हो गये और उन्हे वोट देने का अधिकार मिल गया। लेकिन इससे उन्हें कोई फायदा नही हुआ, क्योकि उनकी माली हालत वैसी-की-वैसी ही रही। आज़ाद किये गए हब्शियो के पास कोई सम्पत्ति नही थी और यह एक समस्या हो गई कि उनके साथ कैसे बरता जाय।

कुछ हब्शी उत्तर के शहरो मे जा वसे, लेकिन ज्यादातर जहाँ थे वही बने रहे और वे दक्षिण मे अपने पुराने गोरे मालिको की मुट्ठी मे वैसे ही रहे आये। वे पुराने वागानो मे रोज़ाना मजदूरो की तरह काम करते थे और जो मजूरी उनके गोरे मालिक दे देते वही उन्हें लेनी पडती। दक्षिण के गोरो ने आतक के ज़रिये हर तरह हब्शियो को दवाये रखने के लिए सगठन भी कर लिया। उन्होंने 'कू क्लक्स क्लैन'[1] नामक एक अजीव सगठन बना लिया, जो ज़ाहिर भी था और खुफिया भी। इसके सदस्य बुर्के पहन-पहनकर हब्शियो को डराते फिरते थे और उन्हें चुनावो मे वोट देने से भी रोकते थे।

पिछले पचास वर्षों मे हब्शियो ने कुछ प्रगति की है। बहुतो के पास सम्पत्ति भी हो गई और उनकी कई बढिया शिक्षा-सस्थाएँ हैं। फिर भी अभी तक वे पूरी तरह पराधीन नस्ल हैं। सयुक्त राज्य मे उनकी सख्या एक करोड बीस लाख के करीब यानी सारी आवादी का करीव दसवाँ हिस्सा है। जहाँ कही उनकी सख्या थोडी है, वहाँ उन्हे वर्दाश्त कर लिया जाता है, जैसा कि उत्तर के कुछ हिस्सो में होता है। मगर ज्योंही उनकी सख्या बढने लगती है त्योंही उनकी मुसीवत आ जाती है और उन्हे यह महसूस करा दिया जाता है कि उनकी हालत पुराने गुलामो से किसी भी तरह अच्छी नही है। होटलो, रैस्तोरन्तो, गिरजों, कॉलेजों, वागो, स्नान करने के समुद्री घाटो, ट्रामगाडियो और विक्री भण्डारो तक मे, सभी जगह, उन्हे अछूतो की तरह गोरो से अलग रक्खा जाता है। रेलो मे उन्हे खास डिब्बो मे बैठना पडता है जो 'जिम-क्रो गाडियाँ'[2] कहलाती हैं। गोरो और हब्शियो के बीच विवाह-सम्बन्ध कानून से मना है। सच तो यह है कि तरह-तरह के विचित्र कानून हैं। अभी १९२६ ई० मे ही वर्जीनिया राज्य ने एक कानून बनाकर गोरो और कालो का एक आँगन मे साथ-साथ बैठना भी रोक दिया है।

कभी-कभी गोरो और हब्शियो मे भयकर नस्ली दगे होते हैं। दक्षिण मे अक्सर 'लिञ्च' करने की दिल दहलानेवाली वारदातें होती रहती हैं, यानी किसी आदमी पर मुजरिम होने का सन्देह करके भीड उसे पकड लेती है और मार डालती है। इन्ही वर्षों मे ऐसी घटनाएँ भी हुई हैं कि गोरो की भीड ने हब्शियो को खम्भे से बाँधकर ज़िन्दा जला दिया।

---

[1] अमेरिका के दक्षिणी राज्यों के ग ेरो की गुप्त समिति, जो १८६५ ई० मे स्थापित हुई। इसका काम हब्शियो को दण्ड देना था। यह १८७६ ई० मे तोड दी गई थी परन्तु १९१५ ई० मे फिर जाग उठी। फिर १९२८ ई० के बाद शान्त हो गई। इसने हब्शियो तथा कैथलिको को बहुत आतकित किया और अनेक हत्याएँ भी कीं।

[2] Jim Crow Cars.

यो तो सारे अमेरिका मे ही, पर खासतौर पर दक्षिण राज्यो मे हब्शियो के लिए अब भी बहुत मुसीबतें है। अक्सर जब मज़दूरो का मिलना कठिन हो जाता है तब दक्षिण के कुछ राज्यो मे बेकसूर हब्शियो को किसी बनावटी जुर्म मे जेल भेज दिया जाता है और फिर उन कैदी मजदूरो को खानगी ठेकेदारो को किराये पर दे दिया जाता है। यह चीज़ तो बहुत बुरी है ही, मगर इसके साथ की हालतें तो दिल दहलानेवाली हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आखिर कानूनी आज़ादी ही कोई बहुत बडी चीज नही होती।

क्या तुमने हैरियट बीचर स्टो की 'अकल् टॉम्स केबिन'[1] पढी है, या उसका नाम सुना है? यह पुस्तक दक्षिणी राज्यो के पुराने हब्शी गुलामो के बारे मे है और इसमे उनकी दर्दनाक कहानी दी गई है। यह गृह-युद्ध से दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी और अमेरिका के लोगो को गुलामी के खिलाफ भडकाने मे इसका बडा असर पडा था।

: १३८ :

अमेरिका का अदृश्य साम्राज्य

२८ फरवरी, १९३३

गृह-युद्ध ने अमेरिका के नौजवानो की जानो की भयकर कुर्बानी ली और वह कर्ज़ का भारी बोझ भी छोड गया। लेकिन उस समय यह देश जवान था और शक्ति से भरा था, इसलिए इसकी बढवार जारी रही। उसके पास ज़बर्दस्त कुदरती साधन थे और खनिज पदार्थों की खास बहुतायत थी। कोयला, लोहा और पेट्रोल, जो तीन चीजें आधुनिक उद्योगो और सभ्यता का आधार है, यहाँ भरी पडी थी। देश मे जल-शक्ति का भी भण्डार था, जिससे बिजली की शक्ति पैदा की जा सकती थी। इस सिलसिले मे नियागरा जल-प्रपात (ऊपर से गिरनेवाले पानी की चादर) की एक मिसाल तो तुम्हे याद आ ही जायगी। यह बहुत लम्बा-चौडा देश था, जिसकी आबादी कम थी और हरेक आदमी के लिए पैर पसारने की काफी जगह थी। इसलिए एक बडा उत्पादक और औद्योगिक देश बन जाने की सारी सहूलियतें इसे मिली हुई थी और वह इस रास्ते पर बहुत तेजी के साथ बढने लगा। १८८० ई० तक पहुँचते-पहुँचते अमेरिका के उद्योग मण्डियो मे ब्रिटिश उद्योगो का मुकाबला करने लग गये थे। इग्लैण्ड ने विदेशी व्यापार पर सौ वर्षों से अपनी जो

---

[1] Uncle Tom's Cabin—इसका हिन्दी-अनुवाद 'टाम काका की कुटिया' के नाम से सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित हुआ है।

प्रभुता आसानी के साथ जमा रक्खी थी, उसे अमेरिका और जर्मनी ने खत्म कर दिया।

इस देश मे बाहर से लोग धडाधड आकर बसने लगे। यूरोप से सब तरह के लोग आये, जैसे जर्मन, स्केन्दीनेवी, आयरी, इतालवी, पोल, वगैरा। इनमे-से बहुत-से तो अपने देशो मे होनेवाले राजनीतिक आतक से भागकर आये थे और बहुत-से गुजारे के अच्छे साधनो की तलाश मे। हद से ज्यादा घनी आबादी-वाले यूरोप ने अपनी फालतू आबादी अमेरिका मे भरना शुरू कर दिया। नस्लो, राष्ट्रीय कौमो, भाषाओ और मजहबो का यह एक अनोखा तालमेल था। यूरोप मे ये सब अपनी-अपनी छोटी-सी दुनिया मे अलग-अलग रहते थे और इनके दिल दूसरो के लिए नफरत और बैर से भरे रहते थे, यहाँ वे एक ही साथ, एक नये वातावरण मे आ पडे, जहाँ पुरानी नफरत की कोई गिनती नज़र नही आती थी। लाज़िमी शिक्षा की इकसार प्रणाली ने इनके राष्ट्रीय नुकीलेपनो को घिस डाला और नस्लो की इस खिचडी मे से अमेरिकी नमूना पैदा होने लगा। पुराने-एंग्लो-सेक्सन वश के लोग अपनेको कुलीन समझते थे, यही समाज के अगुआ थे। इनके बाद, पर इनके करीब, उन नस्लो का दर्जा था, जो उत्तरी यूरोप से आई थी। उत्तरी यूरोप के ये लोग दक्षिण यूरोप से आये हुए लोगो को, खासकर इटलीवालो को, नीची नज़र से देखते थे और उन्हे हिकारत से 'डेगो'[1] कहकर पुकारते थे। हब्शी लोग तो बिलकुल अलग-अलग थे ही। ये सबसे नीचे दर्जे के समझे जाते थे और किसी भी गोरी नस्ल से मिलते-जुलते नही थे। पश्चिमी समुद्र के तट पर कुछ चीनी, जापानी और भारतीय आ बसे थे। ये लोग उस समय आये थे जब वहाँ मजदूरो की माँग बहुत ज्यादा थी। ये एशियाई नस्लें भी औरो से अलग-अलग रहती थी।

रेलमार्गों और टेलीग्राफो के जाल सब जगह बिछ जाने मे यह लम्बा-चौडा देश एक सूत्र मे बँध गया। बीते दिनो मे यह सम्भव नही था, क्योंकि उस समय एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचने मे हफ्तो और महीनो लग जाते थे। हम देख चुके हैं कि पुराने ज़माने मे एशिया और यूरोप मे अक्सर बडे-बडे साम्राज्य कायम हुए, लेकिन आवा-जाई और माल-ढुलाई की कठिनाइयो के कारण वे सब एक सूत्र मे नही बँध पाये। साम्राज्य के जुदा-जुदा भाग एक तरह से स्वाधीन होते थे और अलग-अलग अपना काम-काज करते थे, सिवाय इसके कि वे सम्राट् को सर्वोपरि मानते थे और उसे खिराज देते थे। ये साम्राज्य असल मे एक अध्यक्ष के मातहत कई देशो के ढीले-ढाले गुट्ट होते थे। इन सबका कोई एक-सा नज़रिया नही पाया जाता था। लेकिन अमेरिका के सयुक्त राज्य मे रेलो और आवा-जाई के

[1] Dego—अर्थात् गेहुँआ वर्णवाले विदेशी।

दूसरे साधनो और इकसार शिक्षा-प्रणाली के कारण वहाँ की जुदा-जुदा नस्लो में एक-सा नजरिया पैदा हो गया। ये नस्लें धीरे-धीरे मिलकर एक वश बन गई। यह प्रक्रिया अभी तक पूरी नही हुई है, इसका सिलसिला अभी तक जारी है। इतने बड़े पैमाने पर घुल-मिल जाने की कोई दूसरी मिसाल इतिहास मे नही मिलती।

सयुक्त राज्य ने यूरोप के झगड़े-टण्टो और यूरोपीय शक्तियो की साजिशो से दूर रहने की कोशिश की और ये चाहते थे कि यूरोप भी अमेरिका से दूर रहे, फिर चाहे वह दक्षिणी अमेरिका हो या उत्तरी अमेरिका। मैं तुम्हें 'मुनरो सिद्धान्त' के बारे मे बता चुका हूँ। जब कुछ यूरोपीय शक्तियो के 'पवित्र गठ-बन्धन' ने दक्षिण अमेरिका मे स्पेनी साम्राज्य की रक्षा के लिए दखल देना चाहा, तब सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति मुनरो ने इस नियम की घोषणा की थी। इस घोषणा मे उसने कहा था कि सयुक्त राज्य सारे अमेरिका मे किसी यूरोपीय शक्ति की फौजी दस्तन्दाजी बर्दाश्त नही करेगा। इस घोषणा ने दक्षिणी अमेरिका के कम उम्र गणराज्यो को यूरोप के फन्दे से बचा लिया। इसकी वजह से इग्लैण्ड से एक बार युद्ध होते-होते बच गया, लेकिन अमेरिका इस नीति पर आज सौ साल से ज्यादा हुए, डटा हुआ है।

दक्षिणी अमेरिका और उत्तरी अमेरिका मे बहुत फर्क था और सौ वर्ष के समय में भी इस फर्क मे कोई कमी न हुई। उत्तर मे कनाडा दिन-दिन सयुक्त राज्य के समान बनता जा रहा है। लेकिन दक्षिण अमेरिका के गणराज्य वैसे नही बन रहे हैं। मैंने तुम्हें पहले बताया है कि दक्षिण अमेरिका के ये गणराज्य, जिनमे मैक्सिको भी शामिल है—हालाँकि वह उत्तरी अमेरिका मे है—लातीनी गणराज्य कहलाते हैं। अमेरिका और मैक्सिको की सरहद दो जुदा-जुदा कौमो और सस्कृतियो को अलहदा करती है। इस सरहद के दक्षिण मे मध्य-अमेरिका की पतली पट्टी के उस पार और दक्षिण अमेरिका के बड़े महाद्वीप-भर मे जनता की भाषा स्पेनी और पुर्तगाली है। वास्तव मे वहाँ स्पेनी भाषा का ही जोर है, क्योकि मेरा खयाल है कि पुर्तगाली सिर्फ ब्राज़ील मे ही बोली जाती है। दक्षिणी अमेरिका के सबब से ही स्पेनी भाषा आज ससार की बड़ी भाषाओ मे गिनी जाती है। लातीनी अमेरिका अब भी सस्कृति सीखने के लिए स्पेन की ही तरफ देखता है। सयुक्त राज्य और कनाडा मे नस्ली वर्ग-भेद जितना महत्व रखते हैं, उतना लातीनी अमेरिका मे नही। स्पेनी वश के लोगो और अमेरिका के आदि निवासियो, यानी रेड इण्डियनो, और कुछ हद तक हब्शियो के बीच, आपसी विवाह-सम्बन्धो से यहाँ मिलावटी नस्ल पैदा हो गई है।

सौ वर्षो की आजादी के बावजूद भी लातीनी अमेरिका के ये गणराज्य शान्ति के साथ रहना पसन्द नही करते। समय-समय पर इन देशो मे क्रान्तियाँ

और फौजी तानाशाहियाँ होती रहती हैं और यहाँ की हरदम बदलनेवाली राजनीति और सरकारो के दौर को समझना आसान नही है। दक्षिण अमेरिका के तीन बडे देश, आर्जेन्टिना, ब्राज़ील और चाइल हैं। इनको ए० बी० सी० देश भी कहते हैं, क्योकि इनके नामो के पहले अक्षर ए, बी और सी हैं। उत्तरी अमेरिका मे मैक्सिको बडे लातीनी अमेरिकी देशो मे गिना जाता है।

मुनरो-सिद्धान्त के ज़रिये सयुक्त राज्य ने लातीनी अमेरिका मे यूरोप को टाँग अडाने से रोक दिया। लेकिन ज्यो-ज्यो सयुक्त राज्य खुद दौलतमन्द होता गया, वह अपने विस्तार के लिए बाहर नये मैदानो की तलाश करने लगा। इसकी निगाह सबसे पहले लातीनी अमेरिका पर ही पडी। लेकिन साम्राज्य बनाने के पुराने तरीके के मुताबिक इसने इनमे से किसी देश पर ज़बर्दस्ती कब्ज़ा करने का जतन नही किया। इन्होंने इन देशो मे अपने देश का बना हुआ माल भेजा और इनकी मण्डियो पर कब्ज़ा कर लिया। इन्होंने दक्षिण मे रेलो, खानो व दूसरे धन्धो मे भी अपनी पूंजी लगा दी, सरकारो को, और कभी-कभी क्रान्तियो के समय आपस मे लडनेवाले गुटो को, रुपया उधार दिया। 'इन्होंने' से मेरा मतलब अमेरिका के पूंजीपतियो और साहूकारो से है, लेकिन इनकी मदद पर और इनकी पीठ ठोकनेवाली अमेरिका की सरकार थी। धीरे-धीरे ये साहूकार लोग उस रुपये के बल पर, जो इन्होंने उधार दे रक्खा था, या लगा रक्खा था, मध्य और दक्षिण अमेरिका की कई छोटी-छोटी सरकारो की लगाम खीचने लगे। ये साहूकार इन देशो के एक पक्ष को धन या हथियार कर्ज़ देकर और दूसरे को न देकर क्रान्तियाँ भी करा सकते थे। इन साहूकारो और पूंजीपतियो की पीठ पर सयुक्त राज्य की ज़बर्दस्त सरकार थी, फिर दक्षिण अमेरिका के छोटे और कमज़ोर देश इनका क्या बिगाड सकते थे? कभी-कभी तो सयुक्त राज्य ने व्यवस्था बनाये रखने के बहाने किसी देश के एक गुट की मदद के लिए सचमुच अपने सिपाही ही भेज दिये।

इस तरह अमेरिकी पूंजीपतियो ने दक्षिण अमेरिका के इन छोटे-छोटे देशो पर कारगर कब्ज़ा हासिल कर लिया। उनके बैंक, रेलें, और खानें, सब इन पूंजीपतियो के हाथो मे थे, और अपने फायदे के लिए वे इनको निचोडते थे। लगी हुई पूंजियो और पैसे के काबू के सबब से लातीनी अमेरिका के बडे-बडे देशो मे भी इनका ज़बर्दस्त दबदबा था। इसका मतलब यह हुआ कि सयुक्त राज्य ने इन देशो की दौलत पर या उसके बहुत बडे हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया था। यह गौर करने की चीज़ है, क्योकि यह नये किस्म का साम्राज्य है—आजकल के नमूने का साम्राज्य है। यह साम्राज्य आँखो से ओझल और आर्थिक है और बिना कोई ज़ाहिरा बाहरी चिह्नो के शोषण करता है और प्रभुत्व जमाता है। दक्षिण अमेरिका के गणराज्य राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से आज़ाद और स्वाधीन हैं। नकशे पर ये

देश बहुत बड़े-बड़े दिखाई पड़ते हैं और इस बात का कोई भी निशान नही दिखाई देता कि ये किसी भी तरह परतन्त्र हैं। लेकिन फिर भी इनमे से ज्यादातर देशो पर सयुक्त राज्य का पूरा दबदबा है।

हमने अपने इतिहास की झलकियो मे जुदा-जुदा युगो मे तरह-तरह की साम्राज्य-शाहियाँ देखी हैं। ठेठ शुरू मे, युद्ध मे एक कौम की दूसरी कौम पर विजय का यह मतलब होता था कि विजेता लोग पराजित देश या उसके निवासियो के साथ जो चाहें सो करें। विजेता लोग देश और उसके निवासी दोनो पर कब्जा कर लेते थे, यानी पराजित लोग गुलाम बन जाते थे। यही आम रिवाज था। बाइबिल मे हम पढ़ते हैं कि बाबुली लोग यहूदियो को पकडकर ले गये थे, क्योकि यहूदी लोग युद्ध मे हार गये थे। इस किस्म की और भी बहुत-सी मिसालें हैं। धीरे-धीरे इसकी जगह पर दूसरे नमूने की साम्राज्यशाही आ गई, जिसमे सिर्फ धरती पर कब्जा कर लिया जाता था, लेकिन जनता को गुलाम नही बनाया जाता था। क्योकि यह मालूम हो गया था कि टैक्स लगाकर या शोषण के दूसरे तरीको से उनसे ज्यादा आसानी के साथ रुपया ऐंठा जा सकता है। हममे से ज्यादातर लोग अभी तक इसी किस्म के साम्राज्यो को जानते है, जैसे भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य, और हम लोगो का खयाल है कि अगर भारत पर से अंग्रेजो का असली राजनीतिक कब्जा हट जाय, तो भारत आज़ाद हो जायगा। लेकिन साम्राज्य का यह रूप तो खत्म ही होता जा रहा है और एक ज्यादा उन्नत व मुकम्मिल नमूने का साम्राज्य इसकी जगह ले रहा है। सबसे नई क़िस्म का यह साम्राज्य ज़मीन पर भी कब्ज़ा नही करता, वह तो सिर्फ देश की दौलत पर या दौलत पैदा करनेवाले साधनो पर अपना कब्ज़ा जमाता है। ऐसा करके वह देश का पूरा शोषण करके मुनाफा भी उठा सकता है और उस-पर काफी काबू भी रख सकता है और साथ ही उस देश के शासन या दमन की ज़िम्मेदारी से भी बच जाता है। असली तौर पर देश व वहाँ के निवासी, दोनो पर प्रभुता व बहुत-कुछ कब्ज़ा बने रहते हैं, और वह भी कम-से-कम परेशानी के साथ।

इस तरह ज्यो-ज्यो ज़माना बीतता गया है, साम्राज्यशाही अपनेको मुक-म्मिल बनाती गई है, और आधुनिक ढग का साम्राज्य आँखो से ओझल आर्थिक साम्राज्य है। जब गुलामी का अन्त हो गया और उसके बाद ग़ज़ब की सामन्ती ढग की चाकरी मिट गई, तब लोगो का खयाल था कि मनुष्य अब आज़ाद हो जायँगे। लेकिन जल्दी ही यह मालूम हो गया कि जिनके हाथो मे रुपये की शक्ति है, वे अब भी मनुष्यो का शोषण करते हैं और उनपर प्रभुता जमाते हैं। गुलाम और असामी न रहकर लोग अब मजूरी के गुलाम हो गये। उनके लिए आज़ादी फिर भी बहुत दूर रही। यही हालत देशो की भी है। लोग समझते हैं कि एक देश की दूसरे पर राजनीतिक प्रभुता ही सारा झगडा है, और अगर यह हट जाय तो आज़ादी अपने-आप ही आ जायगी। लेकिन यह बात इतनी सही नही दिखाई देती, क्योकि हम

देखते हैं कि राजनीतिक लिहाज से आज़ाद देश भी आर्थिक गुलामी के कारण पूरी तौर पर दूसरो की मुट्ठी मे हैं। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य तो बहुत साफ ही नज़र आता है। भारत पर ब्रिटेन का राजनीतिक कब्ज़ा है। इस दीखनेवाले साम्राज्य के साथ-साथ और इसके एक जरूरी अग की तरह ब्रिटेन का भारत पर आर्थिक कब्ज़ा भी है। यह बिलकुल सम्भव है कि भारत पर से ब्रिटेन का यह दीखनेवाला कब्ज़ा देर-सवेर हट जाय, लेकिन न दीखनेवाले साम्राज्य के रूप मे आर्थिक कब्ज़ा फिर भी बना रहे। अगर ऐसा हो जाय तो इसका मतलब यह होगा कि ब्रिटेन के हाथो भारत का शोषण जारी है।

हुकूमत करनेवाली शक्ति के लिए अर्थिक साम्राज्यशाही कम-से-कम परेशानी पैदा करनेवाली प्रभुता है। इससे उतनी नाराज़ी नही पैदा होती, जितनी राजनीतिक प्रभुता से, क्योकि बहुत-से लोग इसे देख ही नहीं पाते। लेकिन यह जब चुभने लगती है, तब लोग इसके ढगो को महसूस करने लगते हैं और उनमे नाराज़ी पैदा होने लगती है। लातीनी अमेरिका मे आजकल सयुक्त राज्य के लिए प्रेम नही है और उत्तर अमेरिका की प्रभुता का विरोध करने के लिए लातीनी अमेरिकी राष्ट्रो का एक ठोस सगठन बनाने की कई ज़ोरदार कोशिशें की गई हैं। लेकिन जबतक ये राष्ट्र महलो की क्रान्तियो और आपसी लडाइयो की अपनी आदत नही छोडेंगे, तबतक इनसे कुछ होना-जाना नही है।

सयुक्त राज्य का दीखनेवाला साम्राज्य फिलीपीन टापुओ तक फैला हुआ है। मैं तुम्हें अपने एक पिछले पत्र मे बता चुका हूँ कि अमेरिका ने इन टापुओ पर स्पेन से युद्ध के बाद किस तरह कब्ज़ा कर लिया था। १८९८ ई० मे अतलान्तिक सागर के क्यूबा नामक टापू के मामले को लेकर यह युद्ध शुरु हुआ था। क्यूबा स्वधीन हो गया, लेकिन सिर्फ नाम को। क्यूबा और हेटी दोनो पर अमेरिका की प्रभता है।[1]

पनामा नहर को खुले करीब बारह वर्ष हो गये। यह मध्य-अमेरिका की एक तग पट्टी मे है, और प्रशान्त-सागर व अतलान्तिक सागर को मिलाती है। पचास वर्ष से ज्यादा हुए, स्वेज नहर को बनाने वाले फर्दिनाद दे लसेप्स[2] ने इसकी योजना बनाई थी। लेकिन वह बेचारा परेशानी मे फँस गया और फिर अमेरिकावालो ने इस नहर को बनाया। इन लोगो को मलेरिया और पीले बुखार की वजह से बहुत कठिनाइयाँ उठानी पडी, लेकिन इन लोगो ने वहाँ इन बीमारियो को मिटा देने का इरादा कर लिया और ये सफल हो गये। जिन-जिन जगहो पर मलेरिया के मच्छर व रोगो के दूसरे वाहक पैदा होते थे, उन सबको इन्होंने साफ कर दिया

---

[1] १९५९ मे क्यूबा की सत्ता के फिदेल कास्त्रो के हाथ मे आ जाने से वह पूरी तरह से अमरीकी प्रभुता से मुक्त हो गया।

[2] फ्रान्सीसी इजीनियर (१८०५–१८८४)।

और नहर के प्रदेश को बिलकुल रहने लायक बना दिया। यह नहर पनामा के छोटे-से गणराज्य के अन्दर है। लेकिन सयुक्त राज्य का इस नहर पर भी काबू है, और पनामा के छोटे-से गणराज्य पर भी। अमेरिका के लिए यह नहर एक बड़ा वरदान है, वरना जहाजो को सारे दक्षिण अमेरिका का चक्कर लगाकर जाना पड़ता था। फिर भी पनामा नहर का उतना बड़ा महत्व नही, जितना स्वेज नहर का है।

इस तरह सयुक्त राज्य दिन-दिन ताकतवर और दौलतमन्द होता गया और दूसरी चीजो के अलावा ढेरो करोड़पति व आसमान-छूनेवाली इमारतें[1] पैदा करने लगा। वह बहुत-सी बातो मे यूरोप के बराबर पहुँच गया और उससे आगे भी निकल गया। उद्योगो के लिहाज से यह ससार का बड़ा राष्ट्र हो गया और इसके मजदूरो के रहन-सहन का दर्जा दूसरे देशो के मुकाबले मे ऊँचा हो गया। इस खुशहाली की वजह से उन्नीसवी सदी के इग्लैण्ड की तरह उस देश मे भी समाजवादी व दूसरे वामपक्षी मतो को कोई समर्थन नही मिला। कुछ लोगो को छोड़कर अमेरिका का मजदूर-वर्ग बहुत मुलायम और पुरातन-पन्थी। उसे औरो से कुछ ज्यादा पैसा मिलता था, इसलिए वह भविष्य की हवाई बेहतरी की आशा मे वर्तमान सुखो को खतरे मे क्यो डालता? इन मजदूर-वर्ग मे ज्यादातर इतालवी और दूसरे 'डेगो' लोग थे (जैसा कि इन्हें हिकारत के साथ पुकारा जाता था)। ये लोग कमजोर और बिखरे हुए थे और नफरत की नजर से देखे जाते थे। जिन मजदूरो को अच्छी तनख्वाहें मिलती थी, वे भी इन 'डेगो' लोगो से अपनेको अलग वर्ग का समझते थे।

अमेरिका की राजनीति मे दो दल बन गये एक 'रिपब्लिकन' और दूसरा 'डेमोक्रेटिक'। इग्लैण्ड की तरह, बल्कि उससे भी ज्यादा, यहाँ के ये दोनो दल मालदार वर्गो के प्रतिनिधि थे। इनमे सिद्धान्तो का कोई खास फर्क नही था।

जब महायुद्ध शुरू हुआ तो यहाँ यही हाल था, और आखिरकार अमेरिका भी खिचकर लड़ाई के भँवर मे जा पड़ा।

१३९ :

आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड के बीच संघर्ष के सात सौ वर्ष

४ मार्च, १९३३

अब हमे अतलान्तिक महासागर पार करके फिर पुरानी दुनिया की ओर वापस चलना चाहिए। जहाज या हवाई-जहाज से आनेवाले यात्री को सबसे पहले जो

[1] Sky-Scrapers.

ज़मीन नज़र आती है, वह आयर्लैण्ड की है। इसलिए हमारा पहला मुकाम यही होगा। यह हरा-भरा और सुन्दर टापू यूरोप के ठेठ पश्चिम मे मानो अतलान्तिक महासागर मे डुबकी लगा रहा है। यह टापू छोटा-सा है और ससार के इतिहास की बडी धाराओ से दूर जा पडा है। लेकिन हालांकि यह नन्हा सा है, मगर वीरता की कहानियो से भरा है और पिछली कई सदियो से इसने राष्ट्रीय आज़ादी के सघर्ष मे अडिग साहस और बलिदान की भावना का परिचय दिया है। एक ताकतवर पडोसी के खिलाफ अपने इस सघर्ष मे आयर्लैण्ड ने अडिगपन का अद्‌भुत लेखा पेश किया है। इस झगडे को शुरू हुए साढे सात सौ वर्षों से ज्यादा हो गये, पर यह अभी तक खत्म नही हो पाया है![1] हम ब्रिटिश साम्राज्यशाही की कार्रवाइयाँ चीन, भारत और दूसरी जगहो मे देख चुके हैं। लेकिन आयर्लैण्ड तो इसका शिकार बहुत शुरू से ही होता रहा है। फिर भी यह अपनी मर्ज़ी से कभी इसके आगे नही झुका और करीब-करीब हरेक पीढ़ी मे इंग्लैण्ड के खिलाफ बग़ावत होती रही। इस देश के बडे-बडे बहादुर पुत्रो ने आज़ादी के लिए लडते-लडते प्राण दे दिये, या अग्रेज़ अफसरो ने उन्हे फाँसी पर लटका दिया। आयरवासियो की बहुत बडी सख्या अपनी मातृभूमि को, जिसे वे दिलोजान से प्रेम करते थे, छोडकर विदेशो मे जा बसी। बहुत-से इग्लैण्ड से लडनेवाली विदेशी फ़ौजो मे भरती हो गये, ताकि उन्हे उस देश के खिलाफ अपना ज़ोर आज़माने का मौक़ा मिले, जो उनकी मातृभूमि को दबा रहा था और सता रहा था। आयर्लैण्ड से निकाले हुए बहुत लोग दूर-दूर देशो मे फैल गये और जहाँ-कही वे गये अपने दिलो मे आयर्लैण्ड की याद लेते गये।

दुखी व्यक्तियो का, और सताये हुए व आज़ादी के लिए छटपटानेवाले देशो का, और उन सबका जो नाखुश हैं और जिन्हे मौजूदा हालत मे ज़रा भी खुशी नही होती, यह ढंग हुआ करता है कि वे गुज़रे ज़माने की ओर देखते हैं और उसीमे तसल्ली ढूंढते हैं। वे इस बीते ज़माने को बहुत ज्यादा सराहते हैं और अपने बीते बड़प्पन की याद करके राहत पाते हैं। जब वर्तमान निराशा की उदासी से भरा होता है, तो बीता ज़माना चैन व प्रेरणा देनेवाला आसरा बन जाता है। पुरानी शिकायतें खटकती रहती हैं और लोग उनको नही भूलते। इस तरह हरदम पीछे की ओर देखते रहना किसी राष्ट्र मे खैरियत का चिह्न नही होता। स्वस्थ राष्ट्र और स्वस्थ देश वर्तमान मे कर्म करते हैं और भविष्य की ओर आशा लगाये रहते हैं, लेकिन जो व्यक्ति या देश आज़ाद नही होता वह तन-मन से स्वस्थ भी नही रह सकता। इसलिए यह लाज़िमी है कि वह पीछे की ओर देखे और उसका ध्यान कुछ-कुछ बीते ज़माने मे ही लगा रहे।

---

[1] १९३७ ई० मे अल्सटर के सिवा बाक़ी आयर्लैण्ड स्वतन्त्र गणराज्य बन गया है और उसका नाम आयर (Eire) रख लिया गया है।

इसीलिए आयर्लैण्ड अभी तक वीते ज़माने मे ही रह रहा है और आयर-वासी उन वीते दिनो की याद को बडे प्यार से सँजोये हुए हैं, जबकि वे आज़ाद थे। अपने देश की आज़ादी के कितने ही सघर्षों की, और उसकी पुरानी तकलीफो की याद इनके दिलो मे ताज़ा बनी हुई है। उन्हें आज से चौदह सौ वर्ष पुराना, ईसा की छठी सदी का, ज़माना याद आता है जब आयर्लैण्ड पश्चिमी यूरोप के लिए विद्या का केन्द्र था और दूर-दूर के विद्यार्थी यहाँ आते थे। रोमन साम्राज्य का पतन हो चुका था और वाण्डाल व हूण लोग रोमन सभ्यता को चकनाचूर कर चुके थे। कहा जाता है कि उस समय आयर्लैण्ड उन देशो मे से था, जिन्होने यूरोप मे सस्कृति के दुबारा बहाल होने तक सस्कृति की जोत जगाये रक्खी। ईसाई मज़हब आयर्लैण्ड मे बहुत पहले आया। ऐसा माना जाता है कि आयर्लैण्ड का सरक्षक सन्त, सेण्ट पैट्रिक, यहाँ ईसाइयत लाया था। आयर्लैण्ड से ही यह मज़हब उत्तर इंग्लैण्ड मे फैला। आयर्लैण्ड मे बहुत-से मठ कायम हुए। भारत के पुराने आश्रमो और वौद्ध-विहारो की तरह ये भी विद्या के केन्द्र बन गये, जिनमे अक्सर पेडो के तले पढाई होती थी। उत्तरी और पश्चिमी यूरोप के धर्म-विहीन लोगो मे ईसाइयत के नये मज़हब का प्रचार करने के लिए मिशनरी लोग इन्ही मठो मे से जाते थे। इन मठो के कुछ साधुओ ने बडी सुन्दर हस्तलिपियाँ लिखी और उन्हें चित्रो से सजाया। डबलिन मे अब इसी तरह की एक सुन्दर हस्तलिपि रक्खी हुई है, जिसे, 'बुक ऑफ कैल्ट्स'[1] कहते हैं और जो शायद बारह सौ वर्ष पहले की लिखी हुई है।

छठी सदी से आगे दो-तीन सौ वर्षों के इस ज़माने को बहुत-से आयरवासी आयर्लैण्ड के सुनहले युग की तरह मानते है, जब गेली[2] सस्कृति अपनी चोटी पर थी। शायद समय की दूरी इन गुज़रे दिनो पर एक जादू डाल देती है, जिससे इनकी महानता असलियत से बढी-चढी नज़र आती है। उस समय आयर्लैण्ड कई कबीलो मे बँटा हुआ था और ये कबीले आपस मे हरदम लडा-भिडा करते थे। आपसी कलह ही भारत की तरह आयर्लैण्ड की कमज़ोरी थी। इसके बाद डेन[3] और नॉर्स-मैन[4] आये और उन्होने इंग्लण्ड और फ्रान्स की तरह आयरियो को भी सताया और बडे-बडे प्रदेशो पर कब्ज़ा कर लिया। ग्यारहवी सदी के शुरू मे ब्रियान वोरूमा नामक प्रसिद्ध आयरी राजा ने डेनो को हराकर कुछ समय के लिए आय-

---

[1] Book of Kelts—कैल्त या सैल्त नस्ल, आर्य-वश की एक शाखा मानी जाती है, जो आयर्लैण्ड मे जाकर बसी।

[2] Gaelic—कैल्ट नस्ल से सम्बन्ध रखनेवाली।

[3] Dane—डेनमार्क का निवासी।

[4] Norseman—नार्वे-स्वीडन का निवासी।

लैण्ड को एक सूत्र में बांध दिया। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद देश के फिर टुकड़े हो गये।

तुम्हें याद होगा कि नार्मनों[1] ने 'विजेता विलियम' की सरदारी में ग्यारहवीं सदी में इंग्लैण्ड को जीत लिया था। इन्हीं एंग्लो-नार्मनों ने सौ वर्ष बाद आयर्लैण्ड पर धावा किया, और जिस भाग को इन्होंने जीता उसका नाम 'पल' पड़ गया। ११६९ ई० के इस ऐंग्लो-नार्मन हमले ने गेली सभ्यता को सख्त चोट पहुँचाई और इसी समय से आयर्लैण्ड के कबीलों के साथ करीब-करीब लगातार युद्ध की शुरुआत होती है। ये युद्ध, जो सैकड़ों साल चलते रहे, हद दर्जे के जंगलीपन व जुल्मों से भरे थे। ऐंग्लो-नार्मन (जिन्हें अब अंग्रेज कहना चाहिए), आयरियों को, एक आधी-वहशी नस्ल मानकर हिकारत की नजर से देखते रहे। इन दोनों में नस्ल-भेद तो था ही—अंग्रेज लोग ऐंग्लो-सैक्सन नस्ल के थे और आयरी केल्ट थे, बाद में इनमें मजहब का भी भेद पैदा हो गया—अंग्रेज और स्कॉच प्रोटेस्टेण्ट हो गये और आयरवासी रोमन कैथलिक मत के ही भक्त बने रहे। इसलिए इन अंग्रेज-आयरी युद्धों में नस्ली और मजहबी युद्धों जैसी कट्टर दुश्मनी रही। अंग्रेजों ने जान-बूझकर दोनों नस्लों के मिलाप को रोका। एक कानून भी इस बारे में बना, किलकैनी का कानून, जिसके मातहत अंग्रेजों और आयरियों के आपसी विवाह-सम्बन्ध बन्द कर दिये गए।

आयर्लैण्ड में एक के बाद दूसरी बगावत होती रही और हरेक को सख्त बेरहमी के साथ दबा दिया गया। आयरी लोग अपने विदेशी शासकों और अत्याचारियों से सख्त नफरत करते थे और जब कभी इन्हें मौका मिलता, या न भी मिलता, तो ये लोग बगावत खड़ी कर देते थे। "इंग्लैण्ड की मुसीबत आयर्लैण्ड का सुअवसर है", यह पुरानी कहावत है, और राजनीतिक व मजहबी, दोनों ही कारणों से आयर्लैण्ड अक्सर फ्रान्स और स्पेन जैसे इंग्लैण्ड के दुश्मनों का साथ देता था। इससे अंग्रेजों को गुस्सा आता था और उन्हें ऐसा लगता था मानो किसीने पीछे से कटार भोंक दी। इसीलिए वे हर तरह के अत्याचारों के जरिये बदला लेते थे।

महारानी एलिजाबेथ के समय (सोलहवीं सदी) में, यह तय किया गया कि आयर्लैण्ड के उत्पाती निवासियों के मुकाबले की कमर तोड़ने के लिए इनके बीच अंग्रेज जमींदार बैठा दिये जायें, जो इन्हें दबाये रहें। इसलिए जमीनें जब्त कर ली गईं और आयर्लैण्ड के पुराने जमींदार-वर्गों की जगह विदेशी जमींदार बैठा दिये गए। इस तरह आयर्लैण्ड हकीकत में किसानी राष्ट्र बन गया, जिसके जमींदार

---

[1] स्केन्डीनेविया की एक जाति, जो दसवीं सदी की शुरुआत में उत्तरी फ्रान्स में आकर बस गई और जिसने वहाँ नार्मण्डी की डची का निर्माण किया। इसका मामूली अर्थ नार्मण्डी का निवासी है।

विदेशी थे। और सैकडो वर्ष गुज़र जाने पर भी ये ज़मीदार आयरी लोगो के लिए विदेशी ही बने रहे।

महारानी एलिज़ाबेथ के बाद गद्दी पर बैठनेवाले जेम्स प्रथम ने आयरवासियो का हौसला तोडने की कोशिश मे एक कदम और आगे बढाया। उसने फैसला किया कि आयर्लैण्ड मे विदेशी उपनिवेशियो की एक बाकायदा बस्ती बना दी जाय, और इसलिए बादशाह ने उत्तरी आयर्लैण्ड मे अल्सटर के छहो ज़िलो की लगभग सारी ज़मीन ज़ब्त कर ली। ज़मीनें मुफ्त में मिलने लगी और मौका-परस्तो के झुण्ड-के-झुण्ड स्कॉटलैण्ड और इग्लैण्ड से वहाँ पहुँच गये। इग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड से आये हुए ये लोग ज़मीनें लेकर यही बस गये और किसानी करने लगे। उपनिवेश बनाने की इस कार्रवाई को सफल बनाने के लिए लन्दन शहर से भी मदद माँगी गई, और उसने इस नये 'अल्सटर बागान' के लिए एक विशेष समिति ही बना डाली। इसी वजह से उत्तर का 'डैरी' नामक शहर 'लन्दनडैरी' कहलाने लगा।

इस तरह अल्सटर आयर्लैण्ड मे इग्लैण्ड का एक टुकडा बना गया और इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि आयरियो ने इसपर ज़बर्दस्त नाराज़ी ज़ाहिर की। इधर ये नये अल्सटरी आयरियो से नफरत करते थे और उनको नीची नज़र से देखते थे। आयर्लैण्ड को, एक-दूसरे के दुश्मन दो खेमो मे बाँटने की इग्लैण्ड की यह साम्राज्यशाही कार्रवाई कितनी हैरतअगेज़ व चालाकी से भरी हुई थी! अल्सटर की गुत्थी तीन सौ वर्ष से ज्यादा गुज़र जाने पर भी अभी तक नही सुलझ पाई है।

इस अल्सटर बागान के कुछ ही दिन बाद इग्लैण्ड मे चार्ल्स प्रथम और पार्लमेण्ट के बीच गृह-युद्ध हुआ। पार्लमेण्ट की तरफ प्रोटेस्टेण्ट और प्यूरिटन थे, कैथलिक आयर्लैण्ड ने लाज़िमी तौर पर बादशाह का साथ दिया, अल्सटर ने पार्लमेण्ट को मदद दी। आयरवासियो को डर था, और डर की वजह भी थी, कि प्यूरिटन लोग कैथलिक मत को कुचल देंगे। इसलिए १६४१ ई० मे इन लोगो ने एक बहुत बडी बग़ावत खडी कर दी। यह बगावत और इसका दमन पहले के मुकाबले मे ज्यादा खूँख्वार और वहशियाना थे आयरी कैथलिको ने प्रोटेस्टेण्टो को बेरहमी से हत्याएँ की थी। क्रामवेल ने इसका भयकर बदला लिया। आयरवासियो के कई कत्ले-आम हुए, खासकर कैथलिक पादरियो के, और आयर्लैण्ड मे आजतक क्रामवेल को बडी दुश्मनी के साथ याद किया जाता है।

इस आतक और बेरहमी के होते हुए भी एक पीढी बाद आयर्लैण्ड मे फिर बग़ावत और गृह-युद्ध हुए, जिसकी दो घटनाएँ उभरी हुई है—लन्दनडैरी और लिमेरिक की घेराबन्दियाँ। १६८८ ई० मे आयरी कैथलिको ने अल्सटर के प्रोटेस्टेण्टो के नगर लन्दनडैरी को घेर लिया। प्रोटेस्टेण्टो ने बडी वीरता से इसकी

रक्षा की, हालांकि उनके पास खाने का सामान नहीं रहा था और वे भूखों मर रहे थे। आखिर चार महीने के घेरे और तकलीफों के बाद अंग्रेजी जहाज खाना और मदद लेकर पहुँचे।

१६९० ई० में लिमेरिक में बिलकुल इसका उलटा हुआ, जहाँ कैथलिक आयरियों को अंग्रेजों ने घेर लिया था। इस घेरे का वीर नायक पैट्रिक सार्सफ़ील्ड था, जिसने अपने से बहुत ज्यादा ताकतवर दुश्मन के खिलाफ बड़ी खूबी के साथ लिमेरिक की रक्षा की। इस घेरे में आयर्लैण्ड की स्त्रियाँ भी लड़ीं और आयर्लैण्ड के देहात में आज तक सार्सफील्ड और उसके वीर जत्थे के गीत गेली भाषा में गाये जाते हैं। सार्सफील्ड को अन्त में लिमेरिक अंग्रेजों के हवाले कर देना पड़ा, लेकिन सम्मानयुक्त सन्धि के बाद। लिमेरिक की इस सन्धि का एक शर्त यह था कि आयरी कैथलिकों को पूरी नागरिक और मजहबी स्वतन्त्रता दी जायगी।

लिमेरिक की इस सन्धि को अंग्रेजों ने, या यों कहो कि आयर्लैण्ड में बसे हुए अंग्रेज जमींदार घरानों ने, तोड़ दिया। ये प्रॉटेस्टेण्ट घराने डबलिन की मातहती पार्लमेण्ट पर हावी थे। लिमेरिक में दिये गए गम्भीर वादे के बावजूद इन्होंने कैथलिकों को नागरिक या मजहबी स्वतन्त्रता देने से इन्कार कर दिया। इसके बजाय इन्होंने कैथलिकों को सतानेवाले और आयर्लैण्ड के ऊनी व्यापार को जान-बूझकर बर्बाद करनेवाले खास कानून बना दिये। कैथलिक किसान-वर्ग बेरहमी से कुचल दिया गया और जमीनों से बेदखल कर दिया गया। याद रहे कि यह कार्रवाई मुट्ठी-भर विदेशी प्रॉटेस्टेण्ट जमींदारों ने आबादी के उस बहुत भारी बहुमत के खिलाफ की थी, जो कैथलिक थी और जिसमें ज्यादातर किसान-वर्ग था। लेकिन सारी सत्ता तो इन अंग्रेज जमींदारों के हाथों में थी, और ये लोग अपनी जागीरों से दूर रहते थे और अपने किसान-वर्ग को इन्होंने अपने कारिन्दों व लगान वसूल करनेवालों की बेदर्द मितभगरी पर छोड़ दिया था।

लिमेरिक की कहानी तो पुरानी है, लेकिन एक गम्भीर वचन के तोड़े जाने से जो कट्टर दुश्मनी और गुस्सा पैदा हो गये थे, वे अभी तक ठण्डे नहीं हुए हैं, और आयरी राष्ट्रवादियों के दिमाग में आज भी आयर्लैण्ड में अंग्रेजों की दगाबाजी के रूप में लिमेरिक सबसे ज्यादा उभरा हुआ है। एक करार के इस तरह तोड़े जाने ने और मजहबी बैर-भाव और दमन ने, और जमींदारों के जुल्म ने, उस वक्त हजारों आदमियों को दूसरे देशों में भागने के लिए मजबूर कर दिया। आयर्लैण्ड के चुने हुए नौजवान देश से बाहर चले गये और इंग्लैण्ड से लड़नेवाले किसी भी देश की सेना में भरती हो गये। जहाँ-कहीं अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई होती, ये आयरवासी वहाँ जरूर पहुँच जाते थे।

'गुलीवर्स ट्रैवल्स' का लेखक जोनाथन स्विफ्ट इसी जमाने (१६६७ से

७४५ ई०) मे हुआ। इसने अपने देशवासियो को जो सलाह दी थी, उससे ग्रेजो के खिलाफ गुस्से का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है "इनके कोयले को ोडकर बाक़ी हरेक अग्रेज़ी चीज़ जला डालो।" डबलिन से सेण्ट पैट्रिक के गिरजे जोनाथन स्विफ्ट की कब्र पर खुदा हुआ लेख इससे भी ज्यादा कडवा है। यह ायद उसीका लिखा हुआ है

यहाँ दफन है शरीर
जोनाथन स्विफ्ट का
जो तीस वर्ष तक
इस बड़े गिरजे का डीन रहा,
जहाँ बेइन्साफी के ख़िलाफ वहशियाना ग़ुस्सा
अब उसका हृदय नहीं जला सकता।
यात्री, जाओ और
हो सके तो, उसका अनुसरण करो, जिसने
मनुष्योचित कर्त्तव्य-पालन किया
स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए।

१७७४ ई० मे अमेरिका का स्वाधीनता-युद्ध छिड गया और अतलान्तिक े पार अग्रेजी फौजें भेजना जरूरी हो गया। इस बदली हुई हालत मे आयर्लैण्ड मे ब्रटिश फौजें नही रह गईं और उधर फ्रान्सीसी हमले की चर्चा होने लगी, क्योंकि ान्स ने भी इग्लैण्ड के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी थी। इसलिए आयरी ैथलिको और प्रोटेस्टेण्टो, दोनो ने रक्षा के लिए स्वयसेवक तैयार किये। कुछ र्स के लिए ये लोग अपने पुराने बैर भूल गये और आपसी सहयोग से इन्हें अपनी ाक्ति का पता चल गया। इग्लैण्ड के सामने दूसरी बगावत का खतरा खडा हो गया ौर इस डर से कि कही आयर्लैण्ड भी अमेरिका की तरह हाथ से न निकल जाय, ग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड को स्वाधीन पार्लमेण्ट दे दी। इस तरह कहने को तो आयर्लैण्ड ग्लैण्ड के अधीन नही रहा, लेकिन रहा उसी बादशाह के अधीन। और आयर्लैण्ड ी पार्लमेण्ट वही पुरानी ज़मीदारो से लदी, तग विचारोवाली सभा बनी रही, जसमे सिर्फ प्रोटेस्टेण्ट शामिल थे और जिसने पिछले दिनो कैथलिको पर इतने अत्याचार किये थे। कैथलिको को अब भी तरह-तरह से तग किया जाता था। सिर्फ इतना फ़र्क़ ज़रूर हो गया था कि अब प्रोटेस्टेण्टो और कैथलिको के बीच ज्यादा अच्छी भावना काम करती मालूम देने लगी। इस पार्लमेण्ट का नेता हेनरी ्रेटन, जो खुद प्रोटेस्टेण्ट था, यह चाहता था कि कैथलिक लोगो को कुछ हक दे दे। लेकिन इसमे उसे ज्यादा सफलता नही मिली।

इसी बीच फ्रान्स मे क्रान्ति हो गई, और आयर्लैण्ड को उससे बहुत उम्मीदें

बँध गईं। अनोखी बात तो यह है कि इस क्रान्ति का स्वागत कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो ने किया, जो अब धीरे-धीरे एक-दूसरे के बहुत नज़दीक आते जा रहे थे। 'सयुक्त आयर-निवासी'[1] नामक एक सगठन कायम किया गया कि कैथलिको और प्रोटेस्टेण्टो मे मेल कराया जाय और कैथलिको को मुक्ति दिलाई जाय। सरकार ने इस सगठन को पसन्द नही किया और उसे कुचल दिया। इसलिए अटल व समय-समय पर होनेवाली बगावत १७९८ ई० मे फिर भडक उठी। यह पहले की बगावतो की तरह अल्स्टर और देश के बाकी भाग के बीच मज़हबी लडाई नही थी। यह एक राष्ट्रीय बलवा था, जिसमे कुछ हद तक कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट दोनो शामिल थे। इस बलवे को भी अंग्रेजो ने कुचल दिया और इसके आयरी नायक वुल्फ टोन को, देश-द्रोह के जुर्म मे, फाँसी पर लटका दिया गया।

इस तरह यह जाहिर हो गया कि आयर्लैण्ड मे एक स्वाधीन पार्लमेण्ट बना देने से आयरी लोगो की हालत मे कोई फर्क नही आया। इग्लैण्ड की पार्लमेण्ट भी उस समय एक तग-नज़र और भ्रष्ट मामला थी, जिसका चुनाव जेबी निर्वाचन-क्षेत्रो से होता था और जिसकी बागडोर मुट्ठीभर ज़मीदार-वर्ग व कुछ बडे मालदार व्यापारियो के हाथो मे थी। आयरी पार्लमेण्ट मे भी यह सब ऐब तो थे ही, इसके अलावा वह कैथलिको के देश मे होते हुए भी मुट्ठीभर प्रोटेस्टेण्टो के हाथो मे थी। इतने पर भी ब्रिटिश सरकार ने इस आयरी पार्लमेण्ट को तोड देने का और आयर्लैण्ड को इग्लैण्ड के साथ जोड देने का फैसला किया। आयर्लैण्ड मे इस प्रस्ताव का ज़ोरो से विरोध किया गया, लेकिन डबलिन की पार्लमेण्ट के सदस्य भारी रिश्वतें खाकर अपनी ही पार्लमेण्ट को खत्म करने का वोट देने के लालच मे आ गये। १८०० ई० मे 'यूनियन का ऐक्ट' पास हुआ और इस तरह ग्रैटन की चन्द-रोज़ा पार्लमेण्ट का अन्त हो गया। उसकी जगह पर अब कुछ आयरी सदस्य लन्दन की ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे भेजे जाने लगे।

इस भ्रष्ट आयरी पार्लमेण्ट के भग कर दिये जाने से शायद बहुत बडा नुकसान नही हुआ, सिवाय इसके कि सम्भव है कुछ दिन बाद यह कोई अच्छी चीज़ बन जाती। लेकिन यूनियन के कानून ने एक असली नुकसान पहुँचाया और शायद वह इसी नीयत से बनाया भी गया था। यह उत्तर और दक्षिण के प्रोटेस्टेण्टो व कैथलिको के बीच एकता के आन्दोलन को खत्म करने मे सफल हुआ। प्रोटेस्टेण्ट अल्स्टर ने बाकी आयर्लैण्ड से फिर मुँह मोड लिया और इन दोनो भागो के बीच मे खाई पैदा हो गई। दोनो के बीच एक और भी फर्क आ गया था। अल्स्टर ने इग्लैण्ड के ढग पर आधुनिक उद्योगो को अपना लिया। आयर्लैण्ड का बाकी भाग खेतिहर ही बना रहा, पर खराब बन्दोबस्त और लोगो की बराबर निकासी के

[1] United Irishmen.

कारण खेती भी नही पनपी। इसलिए उत्तर तो औद्योगिक हो गया, लेकिन दक्षिण और पूर्व, और खास करके पश्चिम, औद्योगिक लिहाज से पिछडे हुए मध्यकालीन ही रहे आये।

यूनियन के कानून को लोगो ने चुपचाप नही मान लिया, उसके विरोध मे एक छोटा-सा बलवा हुआ। इस असफल बलवे का नेता रॉबर्ट ऐमेट नामक एक होनहार नौजवान था, जिसकी मौत, इसके पहले के बहुत-से देशवासियो की तरह, फाँसी के तख्ते पर हुई।

आयरी सदस्य ब्रिटिश पार्लमेण्ट की कामन्स-सभा मे बैठते थे, लेकिन कोई कैथलिक नही जा सकता था। कैथलिको को इग्लैण्ड मे या आयर्लैण्ड मे पार्लमेण्ट मे बैठने का हक नही था। ये पाबन्दियाँ सन् १८२९ ई० मे हटा ली गई और कैथलिक लोग ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे बैठने के हकदार हो गये। ये पाबन्दियाँ आयरवासी नेता डेनियल ओ कोनेल की कोशिशो से हटी थी, इसलिए उसे 'उद्धारक' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे एक और परिवर्तन यह होनेवाला था कि मताधिकार बढा दिया गया, जिससे ज्यादा व्यक्तियो को वोट का हक मिलता गया। चूंकि आयर्लैण्ड इग्लैण्ड के साथ जोड दिया गया था, इसलिए दोनो देशो पर एक ही कानून लागू होते थे। इसलिए १८३२ ई० का बडा सुधार-बिल इग्लैण्ड के साथ-साथ आयर्लैण्ड पर भी लागू हुआ। इसी तरह बाद का मताधिकार बिल भी लागू हुआ और इस तरह ब्रिटिश कामन्स-सभा मे आयरी सदस्य का नमूना बदलने लगा। ज़मीदारो का प्रतिनिधि होने के बजाय अब वह कैथलिक किसान-वर्ग का और आयरी राष्ट्रीयता का वकील हो गया।

गरीबी के सबब से आयर्लैण्ड के किसान-वर्ग ने, जिसकी गर्दन पर जमीदार सवार था और जिससे कसकर लगान वसूल किया जाता था, आलू को ही अपने खाने की खास चीज़ बना लिया था। ये बेचारे एक तरह से आलुओ पर ही गुज़ारा करते थे और आजकल के भारतीय किसानो की तरह इनके पास भी कोई जमा-पूंजी नही थी, आडे वक्त के लिए इनके पास कुछ नही था। ये मौत के दरवाज़े पर खडे जिन्दगी बिताते थे और रोगो से बचाव करने की इनमे जरा भी ताकत बाक़ी नही रही थी। १८६४ ई० मे आलू की फसल नष्ट हो गई, जिसके सबब इस देश मे ज़बर्दस्त अकाल पड गया। लेकिन अकाल के होते हुए भी ज़मीदारो ने लगान न दे सकनेवाले अपने असामी किसानो को बेदखल कर दिया। आयर-निवासी बहुत बडी सख्या मे अपना वतन छोडकर अमेरिका चले गये, और आयर्लैण्ड करीब-करीब सुनसान हो गया। बहुत-से खेत बेजुते पडे रहे और चरागाहें बन गये।

जोती जानेवाली खेतिहर ज़मीन का भेडो की चरागाह मे बदलने का यह

सिलसिला आयर्लैण्ड मे सौ वर्षों से ऊपर, और ठेठ हमारे ज़माने तक, बराबर जारी रहा। इसका सबसे बडा कारण यह था कि इग्लैण्ड मे ऊनी कपडो के कारखाने बढ रहे थे। मशीनो का उपयोग जितना ज्यादा होता था, उत्पादन उतना ही बढ़ता जाता था और ऊन की उतनी ही ज्यादा ज़रूरत पडती थी। इसलिए आयर्लैण्ड के ज़मीदारो को बोये गये खेतो की बनिस्वत, जिनमे किसान काम करते थे, भेडो की चरागाहो से ज़्यादा मुनाफा मिलता था। चरागाहो मे बहुत कम आदमियो की ज़रूरत पडती है, भेडो की देख-भाल करनेवाले सिर्फ मुट्ठी-भर आदमियो की। इसलिए खेती करनेवाले मज़दूर फालतू हो गये और ज़मीदारो ने उन्हें निकाल दिया। इस तरह आयर्लैण्ड मे, जिसकी आबादी पहले ही बहुत कम थी, हमेशा बहुत-से मज़दूर 'फालतू' रहने लगे, और इस कारण आबादी घटने का सिलसिला चलता ही रहा। बस, आयर्लैण्ड 'औद्योगिक' इग्लैण्ड को कच्चा माल देनेवाला एक इलाका जैसा बन गया। खेतो को चरागाहो मे बदलने का पुराना सिलसिला अब उलट गया है और हल को अब फिर अपना महत्व हासिल हो रहा है। मज़े की बात यह है कि यह हालत इग्लैण्ड और आयर्लैण्ड के बीच उस व्यापारी युद्ध का नतीजा है, जो १९३२ ई० मे शुरू हुआ था।

उन्नीसवी सदी के ज्यादातर हिस्से मे ज़मीन का सवाल, यानी गैर-हाज़िर ज़मीदारो के अधीन दुखी किसानो की मुसीबतें, आयर्लैण्ड की सबसे बडी समस्या रही है। अन्त मे ब्रिटिश सरकार ने फैसला किया कि सब ज़मीदारियाँ जबरन खरीद कर और उन्हें किसानो मे बाँटकर ज़मीदारो को बिलकुल खत्म कर दिया जाय। अलबत्ता ज़मीदारो को इसमे कोई नुकसान नही उठाना पडा। उन्हें तो सरकार से अपनी ज़मीदारियो के पूरे दाम मिल गये। किसानो को ज़मीनें तो मिल गईं, लेकिन कीमत के बोझ के साथ। उन्हे यह कीमत एक मुश्त नही चुकानी पडी, इसकी छोटी-छोटी सालाना किस्तें बाँध दी गईं।

१७९८ ई० के राष्ट्रीय बलवे के बाद सौ वर्षो से ज्यादा तक आयर्लैण्ड मे कोई बडी बगावत नही हुई। पहले की सदियो के मुकाबले मे आयर्लैण्ड की उन्नीसवीं सदी इस बार-बार होनेवाली घटना से बरी रही। लेकिन इसका कारण यह नहीं था कि लोगो मे आसूदगी की भावना थी। यह तो पिछले बलवे की, भारी अकाल की और आबादी घटने की थकावट थी। इस सदी के पिछले हिस्से मे लोगो का ध्यान कुछ-कुछ ब्रिटिश पार्लमेण्ट की तरफ मुडा था, और उनको यह आशा बँधी थी कि उसके आयरी सदस्य शायद कुछ कर सकें। लेकिन बहुत से आयरवासी ऐसे भी थे, जो बार-बार बगावत की परम्परा को ज़िन्दा रखना चाहते थे। उनका खयाल था कि सिर्फ इसी ढग से आयर्लैण्ड की भावना व आत्मा को ताज़ा और निर्मल रक्खा जा सकता है। अमेरिका मे बसे हुए आयरवासियो ने आयर्लैण्ड

की स्वाधीनता के लिए एक समिति कायम की। ये लोग जिन्हें 'फेनियन' कहा जाता था, आयर्लैण्ड मे छोटे-छोटे बलवे कराया करते थे। लेकिन जनता पर इसका कोई असर नही हुआ और ये लोग बहुत जल्द कुचल दिये गए।

अब यह पत्र मुझे खत्म कर देना चाहिए, क्योकि काफी लम्बा हो गया है। पर आयर्लैण्ड की कहानी अभी खत्म नही हुई है।

: १४० :

आयर्लैण्ड में स्वराज और शिनफ़ेन

९ मार्च, १९३३

इतने खूनी विद्रोहो के बाद और अकालो व दूसरी आफतो की वजह से, आयर्लैण्ड आजादी हासिल करने के इस ढग से कुछ थक गया था। उन्नीसवी सदी मे, जब ब्रिटिश पार्लमेण्ट के लिए मताधिकार बढा, तब कई राष्ट्रवादी आयरी कामन्स-सभा के सदस्य चुने गये। जनता आशा करने लगी कि ये लोग शायद आयर्लैण्ड की आजादी के लिए कुछ कर सकें, अब वह पुराने खूनी विद्रोह के तरीके के बजाय पार्लमेण्ट के ज़रिये कारंवाई मे भरोसा करने लगी।

उत्तरी अल्स्टर और आयर्लैण्ड के बाकी भाग के बीच की खाई फिर चौडी हो गई थी। नस्ली और मज़हबी भेदभाव तो चल ही रहे थे, अब इनके अलावा आर्थिक फर्क भी और ज्यादा उभर गये। इग्लैण्ड और स्कॉटलैण्ड की तरह अल्स्टर भी औद्योगिक बन गया था, और यहाँ के कारखानो मे बहुत ज्यादा माल तैयार होता था। देश का बाकी हिस्सा खेतिहर-मध्यकालीन, कम आबादीवाला और ग़रीब था। आयर्लैण्ड के दो भाग कर देने की इग्लैण्ड की पुरानी नीति ज़रूरत से ज्यादा सफल हो गई थी, सचमुच वह इतनी सफल हुई कि बाद मे खुद इग्लैण्ड ही कोशिश करने पर भी, इस कठिनाई को पार नही कर सका। आयर्लैण्ड की आज़ादी के रास्ते मे अल्स्टर सबसे बडी रुकावट बन गया। मालदार प्रोटेस्टेण्ट अल्स्टर को डर था कि आयर्लैण्ड के आज़ाद होने पर गरीब कैथलिक आयर्लैण्ड उसे गर्क कर देगा।

अब ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे और आयर्लैण्ड मे दो नये शब्द जारी हुए। ये दो शब्द थे 'होम रूल' यानी स्वराज। आयर्लैण्ड की माँग अब स्वराज की माँग बन गई। सात सौ वर्ष पुरानी स्वाधीनता की माँग से यह माँग बहुत कम और बहुत जुदा थी। इसका मतलब यह था कि आयर्लैण्ड की एक मातहत पार्लमेण्ट हो जो मुक़ामी मामलो का इन्तज़ाम करे और कुछेक महत्व के विषयो पर ब्रिटिश पार्लमेण्ट का ही दखल चलता रहे। बहुत-से आयरवासी स्वाधीनता की पुरानी माँग को

इस तरह घटा दिये जाने से सहमत नही थे। लेकिन देश बगावत और रगड-झगड से तग आ गया था, इसलिए उसने विद्रोह की कई असफल कोशिशो मे भाग लेने से इन्कार कर दिया।

ब्रिटिश कामन्स-सभा के आयरी सदस्यो मे चार्ल्स स्टुअर्ट पार्नेल भी एक था। यह महसूस करके कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अनुदार और उदार दोनो दल आयर्लैण्ड की तरफ ज़रा भी ध्यान नही देते हैं, इसने तय किया कि इनके लिए यह सभ्य पार्लमेण्टी खेल जारी रखना मुश्किल कर दिया जाय। इसलिए कुछ दूसरे आयरी सदस्यो की मदद से इसने लम्बे-लम्बे भाषणो और सिर्फ रोक लगानेवाली दूसरी तदबीरो से पार्लमेण्ट की कार्रवाई मे अडगे लगाने शुरू किये। अग्रेज़ लोग इन चालो से बहुत झल्लाये, वे कहते थे कि ये बाते न तो पार्लमेण्टी हैं और न शराफत की। लेकिन पार्नेल के ऊपर इन आलोचनाओ का कोई असर नही हुआ। वह अग्रेज़ो के बनाये हुए कायदो के मुताबिक सभ्य अग्रेज़ी पार्लमेण्टी खेल खेलने के लिए पार्लमेण्ट मे नही आया था। वह तो आयर्लैण्ड की सेवा करने आया था, और अगर मामली तरीको से अपना काम नही कर सकता था, तो गैर-मामूली तरीको का सहारा लेना वह अपने लिए बिलकुल वाजिब समझता था। कुछ भी हो, वह आयर्लैण्ड की ओर लोगो का ध्यान खीचने मे तो सफल हो ही गया।

पार्नेल ब्रिटिश कामन्स-सभा मे आयरी होमरूल दल का नेता हो गया, और यह दल दोनो पुराने ब्रिटिश दलो के लिए जी का जजाल हो गया। जब कभी इन दोनो दलो का कमती-बढती बराबरी का मुकाबला रहता था तब ये आयरी स्वराजी इधर या उधर मिलकर किसीका पलडा भारी कर सकते थे। इस तरह वे आयर्लैण्ड के सवाल को हमेशा लोगो की निगाह के सामने रखते थे। आखिरकार ग्लैड्स्टन आयर्लैण्ड को स्वराज देने के लिए राजी हो गया और उसने १८८६ ई० मे कामन्स-सभा मे 'होमरूल बिल' पेश किया। स्वराज देने का यह कानून बहुत नर्म था, फिर भी इसकी वजह से तूफान मच गया। अनुदार दल के लोग तो इसके पूरे विरोधी थे ही, ग्लैड्स्टन का दल यानी उदार दल भी इसे पसन्द नही करता था। यह दल इसी बात पर दो हिस्सो मे बँट गया। एक हिस्सा तो सचमुच अनुदार दल मे जा मिला और यह नया दल यूनियनिस्ट[1] (एकतावादी) कहलाने लगा, क्योकि ये लोग आयर्लैण्ड के साथ एकता चाहते थे। होमरूल बिल पार्लमेण्ट मे गिर गया और उसीके साथ ग्लैड्स्टन का मन्त्रि-मण्डल भी खत्म हो गया।

इसके सात वर्ष बाद, १८९३ ई० मे, जब ग्लैड्स्टन की उम्र चौरासी वर्ष की थी, वह फिर प्रधानमन्त्री बना। उसने दूसरी बार होमरूल बिल पेश किया और यह कामन्स-सभा मे बहुत कम बहुमत से पास हुआ। लेकिन कानून बनने से पहले

[1] Unionist.

तमाम विलो को लॉर्ड्स-सभा से भी गुजरना पडता है और लॉर्ड्स-सभा अनुदार दलवालो और प्रगति-विरोधी लोगो से भरी थी। लॉर्ड्स-सभा के सदस्यो का चुनाव नहीं होता। यह बडे-बडे जमीदारो की एक पुश्तैनी सभा है, जिसमे कुछ पादरी भी होते है। इस सभा ने होमरूल विल को, जिसे कामन्स-सभा ने मजूर कर लिया था, नामजूर कर दिया।

इस तरह पार्लमेण्टी कोशिशो से भी आयर्लैण्ड को वह चीज न मिली, जो वह चाहता था। फिर भी आयरी राष्ट्रवादी दल (स्वराज दल) पार्लमेण्ट मे इस आशा से काम करता रहा कि शायद आगे सफलता मिल जाय। कुल मिलाकर इस दल पर आयर-निवासियो का भरोसा भी था। लेकिन वहुत लोग ऐसे भी थे, जिनका इन तरीको पर से और ब्रिटिश पार्लमेण्ट पर से भरोसा उठ गया था। वहुत-से आयरवादी गन्दी राजनीति मे नफरत करने लगे थे और सास्कृतिक व आर्थिक हलचलो मे लग गये थे। वीसवी सदी के शुरू मे आयर्लैण्ड मे सस्कृति फिर से जिन्दा हुई। खासकर देश की पुरानी भाषा गेली को, जो पश्चिमी देहाती जिलो मे अभीतक भरीपूरी थी, फिर से जिलाने का यत्न किया गया। इस गेली भाषा का भरा-पूरा साहित्य था, लेकिन सदियो की अग्रेजी हुकूमत ने इसे शहरो से निकाल दिया था और यह धीरे-धीरे गायव हो रही थी। आयरी राष्ट्रवादियो ने महसूस किया कि उनका राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी प्राचीन सस्कृति की रक्षा अपनी भाषा के वसीले से ही कर सकता है। इसलिए इन लोगो ने इसे पश्चिम के गाँवो मे से खोज निकालने और एक जिन्दा भाषा वनाने के लिए कठोर परिश्रम किया। इस उद्देश्य के लिए एक गैलिक-लीग कायम की गई। हर जगह और खासकर पराधीन देशो मे, राष्ट्रीय आन्दोलन अपने देश की भाषा को अपना आधार बनाता है। जिस आन्दोलन की वुनियाद विदेशी भाषा पर होती है, वह न तो जनता तक पहुँच सकता है और न जड़ पकड सकता है। आयर्लैण्ड मे अग्रेजी भाषा विदेशी भाषा नहीं रह गई थी। इस भाषा को वहुत करके सभी समझते और वोलते थे। गेली भाषा से तो यह सचमुच ज्यादा चालू थी। इसपर आयरी राष्ट्रवादियो ने गेली भाषा को फिर से उठाना जरूरी समझा, जिससे अपनी पुरानी सभ्यता से उनका रिश्ता न टूटने पाये।

उस समय आयर्लैण्ड मे यह भावना फैली हुई थी कि मजबूती अन्दर से आती है, वाहर से नही। पार्लमेण्ट के अन्दर की कोरी राजनीतिक कार्रवाइयो के बारे मे भ्रम दूर हो रहा था और इसलिए ज्यादा मजबूत नीव पर राष्ट्र के निर्माण के यत्न किये गए। वीसवी सदी के शुरू का यह नया आयर्लैण्ड पुराने आयर्लैण्ड से बिलकुल अलग तरह का था, इसलिए इस नई चेतना का असर सारी दिशाओ मे प्रकट होने लगा—साहित्य व सस्कृति की दिशाओ मे, जैसा कि मैंने ऊपर बताया है,

और आर्थिक दिशा मे भी, जहाँ किसानो को सहकारी आधार पर सगठन करने के सफल यत्न किये गए।

लेकिन इन सबके पीछे थी आज़ादी की तडप, और हालाँकि ऐसा मालूम होता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के आयरी राष्ट्रवादी दल मे आयरी जनता का विश्वास था, लेकिन यह विश्वास डिग रहा था। जनता समझने लग गई थी कि ये लोग कोरे राजनीतिक हैं, जिन्हें भाषण देने का शौक है, लेकिन कुछ कर-धर सकने की ताकत नही है। पुराने फेनियनो का और स्वाधीनता मे विश्वास करने-वाले दूसरे लोगो का तो इन पार्लमेण्टी लोगो मे और इनके स्वराज मे विश्वास था ही नही। अब नया और नौजवान आयर्लैण्ड भी पार्लमेण्ट से अपना मुँह मोडने लगा। अपने पाँवो पर खडे रहने की भावनाएँ हवा मे भर रही थी, क्यो नही इन्हें राजनीति मे भी लागू किया जाय ? हथियारो की बगावत के विचार लोगो के दिमागो मे फिर चक्कर काटने लगे। लेकिन अमली कार्रवाई की इस इच्छा को एक नया रूप दिया गया। आर्थर ग्रिफिथ नामक नौजवान आयर-निवासी ने एक नई नीति का प्रचार शुरू कर दिया। जो 'शिनफेन' कहलाई। इसका अर्थ है 'हम खुद'।

इन शब्दो से हमे उस नीति का पता चलता है, जो इस आन्दोलन के पीछे काम कर रही थी। शिनफेनी चाहते थे कि आयर्लैण्ड अपने ऊपर भरोसा करे और इग्लैण्ड से किसी तरह की मदद की भीख न माँगे। ये लोग भीतर से राष्ट्र की शक्ति को खडा करना चाहते थे और गेली-आन्दोलन व सस्कृति को फिर से उठाने के समर्थक थे। राजनीतिक मैदान मे ये उस समय चलनेवाली बेकार पार्लमेण्टी कार्रवाई को नापसन्द करते थे और उससे किसी तरह की उम्मीद नही रखते थे। साथ ही वे हथियारो की बगावत को मुमकिन नही समझते थे। ब्रिटिश सरकार से एक किस्म के असहयोग के जरिये ये पार्लमेण्टी कार्रवाई के बजाय 'सीधी कार्रवाई' का प्रचार करते थे। आर्थर ग्रिफिथ ने हगरी की मिसाल पेश की जहाँ एक पीढी पहले 'निष्क्रिय प्रतिरोध'[1] की नीति सफल हो चुकी थी, और इग्लैण्ड को मजबूर करने के लिए उसने इसी ढग की नीति आयर्लैण्ड मे भी बरती जाने की सिफारिश की।

पिछले तेरह वर्षों मे भारत मे हमारे सामने असहयोग के कई रूप आये हैं, और आयर्लैण्ड की इस मिसाल का मुकाबला अपने असहयोग से करना दिलचस्प बात है। तमाम दुनिया जानती है कि हमारे आन्दोलन का आधार अहिंसा रहा है। लेकिन आयर्लैण्ड के असहयोग की ऐसी कोई बुनियाद नही थी। फिर भी उस

---

[1] Passive Resistance—यह असहयोग का ही दूसरा नाम है। बाय-काट भी इसीका अंग है। इसका अर्थ है सरकार से सब कामो मे असहयोग करके मुक़ाबला करना। उर्दू मे इसे अदम-तशद्दुद कहते है।

सुझाये गए असहयोग की ताकत शान्तिमय निष्क्रिय प्रतिरोध मे ही थी। इस लड़ाई को भी बुनियादी तौर पर शान्तिमय ही रखने का इरादा था।

शिनफेन के विचार धीरे-धीरे आयर्लैण्ड के नौजवानो मे फैलने लगे। इन विचारो की वजह से आयर्लैण्ड मे एकदम आग नही भडकी। अब भी बहुत-से लोग ऐसे थे, जिन्हें पार्लमेण्ट से उम्मीदे थी, खासकर इसलिए कि १९०६ ई० के चुनावो मे उदार दल का फिर भारी बहुमत हो गया था। कामन्स-सभा मे इस बहुमत के होते हुए भी उदार दल को लॉर्ड्स-सभा के अनुदार व एकतावादी दलो के स्थायी बहुमत का मुकाबला करना पडता था। इसलिए इन दोनो सभाओ मे बहुत जल्द झगडा हो गया। इस झगडे का नतीजा यह निकला कि लॉर्डों की ताकत कम करदी गई। आर्थिक मामलो मे इनकी अडगेबाज़ी को कामन्स-सभा इस तरह पार कर सकती थी कि लॉर्ड्स के ऐतराजी बिल को अपनी तीन लगातार बैठको मे पास करदे। इस तरह १९११ ई० के पार्लमेण्टी कानून के ज़रिये उदार दल ने लॉर्ड्स सभा के दाँत तोड दिये। फिर भी लॉर्डों के हाथ मे बहुत काफी ताकत बनी रही, जिससे वे कामन्स-सभा के काम को रोक सकते थे और उसमे अडगा लगा सकते थे।

लॉर्डों के अटल विरोध का उचित इन्तज़ाम करके उदार दल ने फिर तीसरी बार होमरूल बिल पेश किया और कामन्स-सभा ने इसे १९१३ ई० मे पास कर दिया। जैसी कि उम्मीद थी, लॉर्डों ने इसको नामजूर कर दिया और फिर कामन्स-सभा ने इसे लगातार तीन बार पास करने की परेशानी उठाई। इस तरह १९१४ ई० मे यह बिल कानून बन गया और सारे आयर्लैण्ड पर, जिसमे अल्स्टर भी शामिल था, लागू हो गया।

ऐसा जान पडता था कि आयर्लैण्ड को अन्त मे स्वराज मिल ही गया, मगर इसमे बहुत-से अगर-मगर थे! जब १९१२-१३ ई० मे पार्लमेण्ट होमरूल बिल पर बहस कर रही थी, तब उत्तरी आयर्लैण्ड मे अजीब घटनाएँ हो रही थी। अल्स्टर के नेताओ ने ऐलान कर दिया था कि वे स्वराज को नही मानेंगे, और अगर इस का क़ानून पास भी हो गया वे तो उसका मुकाबला करेंगे। वे बगावत की बातें करने लगे और उसकी तैयारी भी शुरू कर दी। यह भी कहा गया कि वे स्वराज के खिलाफ लडने के लिए किसी विदेशी शक्ति की, मतलब यह कि जर्मनी की, मदद माँगने मे भी नही हिचकिचायेंगे! यह खुली और बिना छिपाव की गद्दारी थी। इससे भी ज्यादा मजे की बात तो यह थी कि इंग्लैण्ड के अनुदार दल के नेताओ ने बगावत के इस आन्दोलन को आशीर्वाद दिया और बहुतो ने इसे मदद भी दी। मालदार अनुदार वर्गों की तरफ से अल्स्टर मे रुपया बरसने लगा। यह प्रकट था कि 'ऊँचा वर्ग' कहलानेवाले या शासक-वर्ग के लोग आमतौर पर अल्स्टर के साथ थे, और इन्ही वर्गों के अफसर भी थे। हथियार चोरी-छिपे आने लगे और स्वयसेवको

को खुल्लमखुल्ला कवायद सिखाई जाने लगी। अल्स्टर मे एक कामचलाऊ सरकार भी बना दी गई, जो समय आने पर शासन की ज़िम्मेदारी सम्हाल ले। ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि अल्स्टर के अगुआ बागियो मे पार्लमेण्ट का एक नामी अनुदार सदस्य एफ० ई० स्मिथ था, जो बाद मे लॉर्ड बरकनहैड हुआ और भारत सचिव रहा और जिसने दूसरे ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर भी काम किया।

इतिहास मे बगावते अक्सर होनेवाली घटनाएँ हैं और आयर्लैण्ड ने तो इनमे खासतौर से अपना पूरा हिस्सा बँटा लिया है। फिर भी अल्स्टर-विद्रोह की ये तैयारियाँ हमारे लिए खास दिलचस्पी की चीज हैं, क्योंकि इसे भडकानेवाला दल वही दल था, जो अपनी सविधानी व पुरातन-पन्थी खासियत पर घमण्ड करता था। यह वही दल था, जो सदा 'कानून और व्यवस्था' की दुहाई देता था और इस क़ानून और व्यवस्था के तोडनेवालो को कठोर सज़ाएँ देने का हामी था। लेकिन इसी दल के बडे-बडे सदस्य खुली गद्दारी की बातें करते थे और हथियारो की बग़ावत की तैयारी करते थे, और इसके सारे आम सदस्य पैसे की सहायता देते थे। यह भी ग़ौर करने की दिलचस्प बात है कि बगावत की यह तजवीज़ उस पार्लमेण्ट की सत्ता को चुनौती थी, जो होमरूल बिल पर विचार कर रही थी और जिसने बाद मे इसे पास किया। इस तरह इस दल ने लोकतन्त्र की जड पर ही कुल्हाडी चलाई और इससे अंग्रेज़ लोगो की वह पुरानी शेखी मिट्टी मे मिल गई कि वे कानून के राज और सविधानी कार्रवाई में विश्वास रखते हैं।

१९१२-१४ ई० की अल्सटर-'बगावत' ने इन नकली दावो और लच्छेदार बातो का पर्दा फाड फेंका और सरकार व आधुनिक लोकतन्त्र का असली रूप प्रकट कर दिया। जबतक 'कानून और व्यवस्था' का मतलब यह था कि शासक-वर्ग की खास रियायतो व स्वार्थों की रक्षा होती रहे तबतक कानून और व्यवस्था पसन्द की चीज़े थे, जहाँतक लोकतन्त्र इन खास रियायतो व स्वार्थों मे दखल नही देता था, वहाँतक उसे बर्दाश्त किया जा सकता था। लेकिन अगर इन खास रियायतो पर कोई हमला होता, तो यह वर्ग लडने पर आमादा हो जाता। इस तरह 'क़ानून और व्यवस्था' सिर्फ एक चिकना-चुपडा फिकरा था, जिसका अर्थ था उनके अपने स्वार्थ। इससे ज़ाहिर हो गया कि ब्रिटिश सरकार असल मे एक वर्ग की सरकार थी, जिसे पार्लमेण्ट का विरोधी बहुमत भी आसानी से नही हिला सकता था। अगर यह बहुमत ऐसा कोई समाजवादी कानून पास करने की कोशिश करता, जिससे इनकी खास रियायतो मे कमी पडती तो लोकतन्त्र के सिद्धान्तो के बावजूद ये उसके खिलाफ बगावत कर देते। इन बातो को ध्यान मे रखना अच्छा है। क्योंकि ये बातें सब देशो पर लागू होती हैं, और यह अन्देशा है कि नेक फिकरो और ढोल-ढमाकेदार शब्दो के माया-जाल मे फँसकर कही हम असलियत को न भूल जायँ।

इस वारे मे दक्षिण अमेरिका के किसी गणराज्य, जहाँ अक्सर क्रान्तियाँ हुआ करती हैं, और इग्लैण्ड, जहाँ एक टिकाऊ सरकार है, दोनो के तीच कोई वुनियादी फर्क नहीं है। टिकाऊपन सिर्फ इसीमे है कि शासक-वर्गो ने अपनी जडें मजबूत जमा ली हैं, और अभी तक कोई दूसरा वर्ग इतन ताकतवर नही हुआ, जो उन्हें हटा दे। १९११ ई० मे लॉर्ड्स-सभा, जो इस वर्ग का एक गढ़ थी, कमजोर पड गई। इस पर यह वर्ग घवरा गया और अल्स्टर का मामला वगावत का एक वहाना वन गया।

भारत मे 'कानून और व्यवस्था' के जादूभरे शब्द तो हमारे साथ हर रोज और दिन मे कई वार लगे रहते हैं। इसलिए इनका सही अर्थ समझ लेना हमारे लिए जरूरी है। हम यह भी याद रख लें कि हमारा एक नेक सलाहकार, यानी भारत-सचिव, अल्स्टर की वग़ावत का एक नेता था।

इस तरह अल्स्टर हथियारो और स्वयसेवको के साथ वगावत की तैयारी करने लगा और सरकार चुपचाप देखती रही। इन तैयारियो के खिलाफ कोई आर्डिनेन्स नहीं निकाले गये। कुछ समय वाद आयर्लैण्ड के वाकी हिस्से ने अल्स्टर की नकल शुरू कर दी, लेकिन स्वराज के पक्ष मे, और ज़रूरत पडने पर अल्स्टर के खिलाफ लडने के लिए 'राष्ट्रीय स्वयसेवकों' का सगठन शुरू कर दिया। इस तरह आयर्लैण्ड मे मुकावले की दो फौजें तैयार हो गईं। अजीव वात तो यह है कि जिन ब्रिटिश अधिकारियों ने अल्स्टर की वग़ावत के स्वयसेवको को हथियारवन्द होते हुए देखकर भी आँखें मूंद ली थी, वे ही 'राष्ट्रीय स्वयसेवकों' को दवाने मे वहुत ज्यादा चौकन्ने हो गये, हालाँकि ये लोग होमरूल विल के खिलाफ नही थे।

स्वयसेवको के इन दो सगठनो के वीच मुठभेड लाज़िमी मालूम होने लगी, और इसका अर्थ था गृह-युद्ध। उसी समय, १९१४ ई० के अगस्त मे, एक वडा युद्ध, यानी पहला महायुद्ध, छिड गया और उसके सामने वाकी सव चीजें फीकी पड गईं। होमरूल विल कानून जरूर वन गया, लेकिन उसमे यह शर्त लगा दी गई थी कि युद्ध के अन्त से पहले उसपर अमल नही किया जाय। इस तरह स्वराज पहले की तरह वहुत दूर की चीज़ बना रहा और युद्ध का अन्त होने से पहले तो आयर्लैण्ड मे वहुत-कुछ हो जानेवाला था।

मैं जुदा-जुदा देशो की अपनी कहानी महायुद्ध की शुरुआत तक ला रहा हूँ। आयर्लैण्ड मे भी हम इस मजिल तक पहुँच चुके हैं, इसलिए फिलहाल आगे नही वढेंगे। लेकिन इस पत्र को खत्म करने के पहले एक वात मैं तुम्हें ज़रूर वता देना चाहता हूँ। अल्स्टर की वग़ावत के नेताओ को उनकी हरकतो के लिए सज़ा देने के वजाय कुछ ही दिनो वाद ये इनाम दिये गए कि वे ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल मे शामिल किये गए और ब्रिटिश सरकार में उन्हें ऊँचे ओहदे दिये गए।

: १४१ :

इंग्लैण्ड का मिस्र पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा

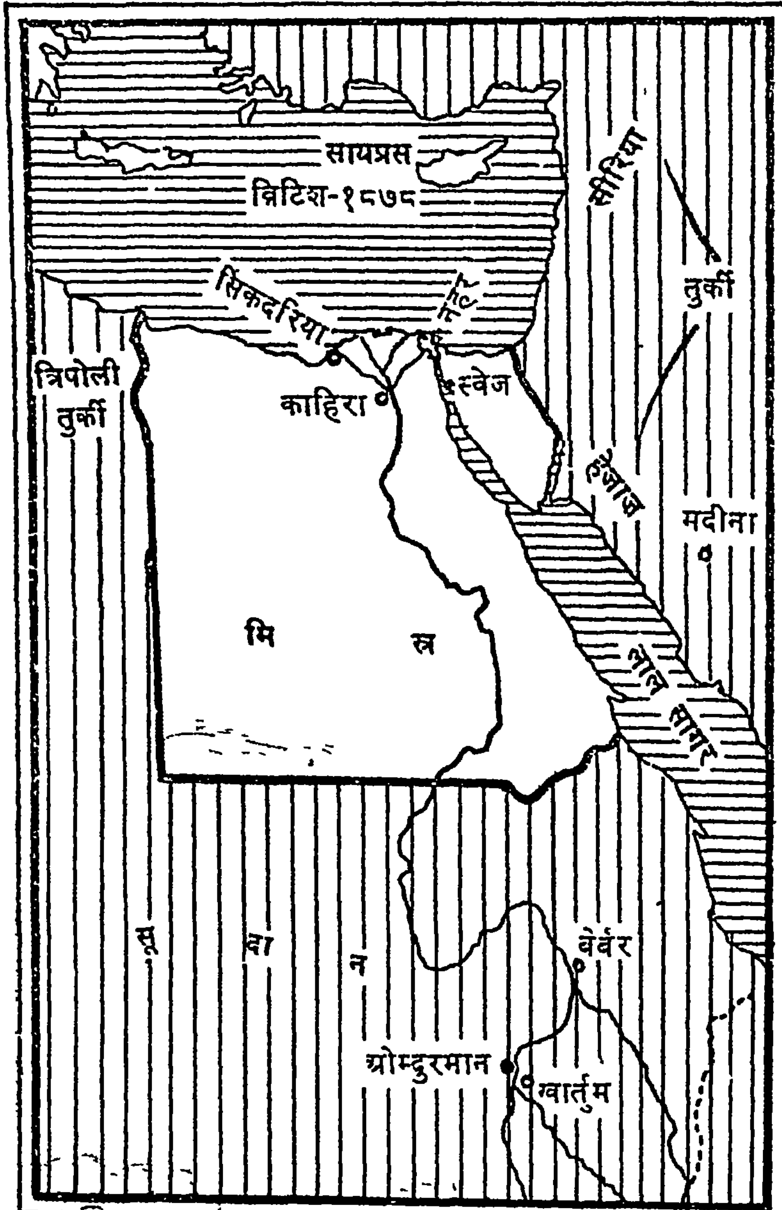
११ मार्च, १९३३

अमेरिका से लम्बी छलांग मारकर और अतलान्तिक महासागर पार करके हम आयर्लैण्ड पहुँच गये थे। अब हमे कूदकर एक तीसरे महाद्वीप अफ्रीका में, और ब्रिटिश साम्राज्यशाही के एक और शिकार मिस्र मे, पहुँचना है। मैंने अपने कुछ पिछले पत्रो मे मिस्र के प्राचीन इतिहास की कुछ चर्चाएँ की थी। ये सक्षिप्त और बिखरी हुई थी, क्योकि मुझे खुद इस विषय की जानकारी नही है। पर, अगर मुझे इससे ज्यादा मालूम भी होता तो भी यहाँतक आकर अब मैं शुरू के युगो को वापस नही लौट सकता। हम आखिर उन्नीसवी सदी की अपनी कहानी करीब-करीब खत्म कर चुके है और बीसवी सदी के दरवाज़े पर आ गये हैं और हमे यही ठहरना है। यह नही हो सकता कि हम हमेशा कभी पीछे और कभी आगे चलते रहें। इसके अलावा भी अगर मैं हरेक देश के अतीत की कहानी लिखने की कोशिश करूँ तो क्या ये पत्र कभी खत्म हो सकेंगे ?

फिर भी मैं तुम्हे यह खयाल करने नहीं देना चाहता कि मिस्र की कहानी कुछ है ही नही। मिस्र की गिनती प्राचीन राष्ट्रो मे है और इसका इतिहास दूसरे देशो के इतिहासो से पुराना है। इसके ज़माने छोटी-मोटी सदियो मे नही बल्कि हज़ारो वर्षों के हिसाब से गिने जाते हैं। अद्भुत और हैरत मे डालनेवाली बची-खुची निशानियाँ इसके प्राचीन अतीत की याद दिलाती हैं। पुरातत्व की खोजो के लिए मिस्र सबसे पहला और सबसे बडा मैदान रहा है, और जैसे-जैसे बालू के नीचे से पत्थर के स्मारक व दूसरी पुरानी निशानियाँ खोदकर निकाले गये, वे बहुत ही दूर के उन दिनो की कहानी कहने लगे जबकि वे बने ही थे। खुदाई और खोज का यह सिलसिला अभी तक जारी है और मिस्र के प्राचीन इतिहास मे नई-नई बातें जोडता जाता है। फिर भी हम अभी तक यह नही कह सकते कि मिस्र का इतिहास कब से और कैसे शुरू होता है। करीब सात हज़ार वर्ष पहले ही नील के काँठे में सभ्य लोग रहा करते थे जिनके पीछे का लम्बा इतिहास था। ये लोग अपनी चित्र-लिपि मे लिखा करते थे, वे मिट्टी के सुन्दर बर्तन और कलश, और सोने व ताँबे के बर्तन, और हाथी-दाँत व सेलखडी की नक्काशीदार चीज़ें, बनाते थे।

कहा जाता है कि जब मकदूनिया के सिकन्दर ने ईसा पूर्व चौथी सदी मे मिस्र को जीता था, उससे पहले ही इकत्तीस मिस्री राजवश वहाँ राज कर चुके थे। इन चार या पाँच हज़ार वर्ष के बहुत लम्बे ज़माने मे पुरुषो व स्त्रियो के कुछ अद्भुत नमूने सामने आते हैं, जो आज भी जीते-जागते से मालूम देते हैं—कर्मवीर

ब्रिटेन का मिस्र पर अधिकार



नर-नारियां, खूब इमारतें वनवानेवाले, सपनो की दुनिया मे रहनेवाले व विचारक महापुरुष, सूरमा, निरकुश व अत्याचारी राजा, घमण्डी व अहकारी शासक, खूबसूरत औरतें। एक के वाद दूसरे हज़ार-साला जमाने मे फरऊनो का लम्वा सिलसिला हमारे सामने से गुज़र जाता है। स्त्रियो को पूरी आज़ादी थी और कुछ स्त्रियाँ राजगद्दी पर भी वैठी थी। इस देश में पुजारियो का वडा महत्व था और मिस्री लोग हमेशा भविष्य और परलोक की चिन्ता मे डूवे रहते थे। मिस्र के वडे-वडे पिरामिड, जिनकी तामीर वेगारी मज़दूरो ने की थी और जिनके वनाने मे इन मज़दूरो के साथ वडी वेरहमी की गई थी, एक तरह से फरऊनो के इसी भविष्य की तैयारी के वास्ते वनाये गए थे। मोमियाइयाँ भी लाश को भविष्य के लिए वचाकर रखने का ही एक ढग थी। ये सव वातें अँधेरी, कठोर और उदासीभरी जान पडती हैं। और फिर हमे आदमियो के वनावटी वाल भी मिलते हैं, क्योंकि ये लोग अपने सिर मुँडाया करते थे। और वच्चो के खिलौने, जैसे गुडियाँ, गेंदें और हाथ-पैर हिलानेवाले छोटे जानवर; जिन्हें देखकर हमे अचानक पुराने मिस्रियो के जीवन के इन्सानी पहलू की याद आ जाती है, और ऐसा मालूम होता है कि युगो को लाँघकर वे हमारे नज़दीक आ गये हैं।

ईसा पूर्व छठी सदी मे, यानी वुद्ध-काल के आस-पास, ईरानियो ने मिस्र जीत लिया और इसे अपने लम्वे-चौडे साम्राज्य का एक प्रान्त वना दिया, जो नील नदी से सिन्ध नदी तक फैला हुआ था। ये लोग हकामनी वश के वादशाह थे, जिनकी राजधानी परसीपोल थी। इन्होंने यूनान को अपने कावू मे करने की कोशिश की पर असफल रहे और अन्त मे सिकन्दर ने इन्हें हरा दिया। ईरानियो के कठोर शासन से छुडानेवाले की तरह मिस्र ने सिकन्दर का स्वागत किया। इस्कन्दरिया के रूप मे सिकन्दर यहाँ अपनी यादगार छोड गया, और यह शहर विद्या और यूनानी सस्कृति का नामी केन्द्र वन गया।

तुम्हें याद होगा कि सिकन्दर की मृत्यु के वाद उसका साम्राज्य उसके सेनापतियो मे वँट गया था और मिस्र तालमी के हिस्से मे आया था। तालमी बहुत जल्द मिस्री ढाँचे मे ढल गया, और ईरानी तो ऐसा नही कर पाये थे, लेकिन तालमियो ने मिस्री दस्तूरो को अपना लिया। ये लोग मिस्रियो की तरह आचार-व्यवहार करने लगे और उन्हें फरऊनो की पुरानी नस्ल का ही सिलसिला मान लिया गया। क्लियोपैत्रा तालमी वश की आखिरी कडी थी। इसकी मृत्यु के वाद, ईसाई सन् शुरू होने के कुछ वर्ष पहले, मिस्र रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त हो गया।

मिस्र ने रोम से वहुत पहले ईसाई मजहव अपना लिया था। रोमनो ने मिस्री ईसाइयो पर बहुत अत्याचार किये, जिससे इन्हें भागकर रेगिस्तान मे

पड़ा। रेगिस्तान मे अनेक खुफ़िया मठ पैदा हो गये और इन मठो मे रहनेवाले साधुओ के चमत्कारो की अचरजभरी और रहस्यभरी कहानियाँ उस ज़माने के ईसाई-जगत् मे खूब फैल रही थी। बाद मे जब सम्राट् कॉन्स्तेन्तीन ने ईसाई मज़हब क़बूल कर लिया, तब ईसाइयत रोमन साम्राज्य का सरकारी मज़हब हो गई। तब इन मिस्री ईसाइयो ने भी गैर-ईसाइयो पर, यानी पुराने मिस्री मज़हब को माननेवालो पर, बेरहम अत्याचार करके बदला चुकाने की कोशिश की। इस्कन्दरिया अब विद्या का एक मशहूर ईसाई-केन्द्र हो गया, लेकिन राज्य-धर्म होने पर ईसाइयत कई फ़िरको और दलो मे बँट गई, जो सदा आपस मे झगडते रहते थे और प्रभुताई के लिए लडते रहते थे। ये खूनी कलह ऐसी दुखदायी चीज़ बन गई कि आम लोग इन सारे ईसाई फिरक़ो से बिलकुल तग आ गये। इसलिए सातवी सदी मे जब अरब लोग एक नया मज़हब लेकर आये, तो जनता ने उनका स्वागत किया। मिस्र और उत्तरी अफ्रीका को अरबो ने इतनी आसानी से फतह कर लिया, इसकी एक वजह यह भी थी। अब फिर ईसाइयो पर अत्याचार होने लगे और उनका बेरहमी से दमन होने लगा।

इस तरह मिस्र खलीफा के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। अरबी भाषा और अरबी सस्कृति तेज़ी से फैल गई, यहाँतक कि पुरानी मिस्री भाषा का स्थान अरबी ने ले लिया। दो सौ वर्ष बाद, नवी सदी मे, जब बगदाद की खिलाफत कमज़ोर हुई तो मिस्र तुर्की हाकिमो के मातहत आधा-स्वाधीन देश हो गया। तीन सौ वर्षों बाद क्रूसेड-युद्धो का मुस्लिम वीर सलादीन, मिस्र का सुलतान बन बैठा। सलादीन के कुछ ही दिन बाद उसके एक वारिस ने कोह काफ (काकेशस) प्रदेश से बहुत-से तुर्की गुलाम लाकर उन्हें अपने सिपाही बनाया। ये गोरे गुलाम ममलूक कहलाते थे। ममलूक का अर्थ है गुलाम। ये लोग फौज के लिए बहुत सावधानी से चुने गये थे और बडे सजीले जवान थे। कुछ ही वर्षों के अन्दर ये ममलूक विद्रोह कर बैठे और इन्होंने अपने ही एक आदमी को मिस्र का सुलतान बना दिया। इस तरह मिस्र मे ममलूको का राज शुरू हुआ, जो ढाई सौ साल रहा और आधे-स्वाधीन रूप मे इसके बाद करीब तीन सौ साल और भी चला। इस तरह विदेशी गुलामो की इस जमात ने मिस्र पर पाँच सौ वर्षों से ज्यादा हुकूमत की। इतिहास मे यह एक बेजोड और निराली घटना है।

ऐसा नही हुआ कि शुरू मे आये हुए ममलूको की कोई मौरूसी जाति या वर्ग मिस्र मे बन गया हो। ये तो कोह काफ की गोरी नस्लो के अच्छे-से-अच्छे गुलामो को छाँटकर अपनी सख्या बढाते रहते थे। कोह काफी जातियाँ आर्य हैं, इसलिए ममलूक भी आर्य थे। ये विदेशी लोग मिस्र की धरती मे पनप नही पाये और इनके कुटुम्ब कुछ पीढियो के बाद खत्म हो जाते थे। लेकिन चूँकि नये-नये

ममलूक आते रहते थे, इसलिए इस वर्ग की सख्या और खासतौर पर इसकी ताकत और इसकी जानदारी कायम रही। इस तरह, हालांकि इन लोगो का कोई मौरूसी वर्ग नही बन पाया, फिर भी इनका एक रईस-वर्ग और शासक-वर्ग बन गया जो बहुत लम्बे समय तक कायम रहा।

सोलहवी सदी के शुरू मे कुस्तुन्तुनिया के तुर्की उस्मानी सुलतान ने मिस्र फतह कर लिया और ममलूक सुलतान को फाँसी पर लटका दिया। मिस्र उस्मानी-साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। लेकिन ममलूक लोग फिर भी शासक रईस-वर्ग बने रहे। बाद मे जब यूरोप मे तुर्को की ताकत घट गई तब कहने को तो मिस्र उस्मानी-साम्राज्य का हिस्सा बना रहा, लेकिन ममलूको ने वहाँ खूब मनमानी की। अठारहवी सदी के अन्त मे जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तो उसकी इन्ही ममलूको से मुठभेड हुई और उसने इन्हें हरा दिया। पिछले किसी पत्र मे कही गई उस ममलूक सूरमा की कहानी तुम्हें याद होगी, जिसने अपना घोडा बढाकर फ्रान्सीसी सेना के सामने जा खडा किया था और मध्य-युगो व वीर-काल के रिवाज के मुताबिक उनके नेता को जोड की लडाई के लिए ललकारा था।

अब हम उन्नी वी सदी तक आ गये। इस सदी के अगले हिस्से मे मिस्र पर मुहम्मदअली का दबदबा रहा। यह अलबानी तुर्क था और मिस्र का हाकिम बन गया था। ये तुर्की हाकिम 'खदीव' कहलाते थे। मुहम्मदअली आधुनिक मिस्र का बानी माना जाता है। पहली बात तो उसने यह की कि ममलूको को धोखे से तलवार के घाट उतारकर उनकी सत्ता का अन्त कर दिया। यह मिस्र मे एक अंग्रेजी फौज को भी हराकर इस देश का मालिक बन बैठा और सिर्फ नाम के लिए ही तुर्की सुलतान की प्रभु-सत्ता को कबूल करता रहा। इसने नई मिस्री फ़ौज तैयार की, जिसमे देहाती किसानो की भरती की गई (ममलूको की नही)। इसने नई नहरें खुदवाई और कपास की खेती को बढ़ावा दिया, जो आगे जाकर मिस्र का सबसे बडा उद्योग हो गया। इसने यह धमकी भी दी थी कि वह कुस्तुन्तुनिया के नाम मात्र के मालिक को निकालकर इस शहर पर ही कब्जा कर लेगा। लेकिन उसने ऐसा किया नही और सिर्फ सीरिया को मिस्र मे मिला लिया।

मुहम्मदअली सन् १८४९ ई० मे अस्सी वर्ष की उम्र मे मर गया। इसके उत्तराधिकारी पोच, फिजूलखर्च और निकम्मे आदमी थे। लेकिन अगर वे ऐसे न होकर अच्छे भी होते तो भी उनके लिए अन्तर्राष्ट्रीय बौहरो के लालच का और यूरोपीय साम्राज्यशाही की हवस का मुकाबला करना कठिन होता। विदेशियो ने, खासकर अंग्रेज और फ्रान्सीसी बौहरो ने, खदीवो को ज्यादातर उनके निजी खर्च के लिए बेहद ऊँची दरो पर रुपया उधार दिया और जब उसका ब्याज वक्त पर अदा न हो सका तो जंगी-जहाज उसे वसूल करने के लिए आ धमके। अन्तर्राष्ट्रीय

इस दल का नेता एक नौजवान सिपाही अरबीपाशा था, जिसका जन्म एक गरीब मजदूर-परिवार मे हुआ था और जो मिस्र की फौज मे मामूली सिपाही की तरह भरती हुआ था। धीरे-धीरे इसका ज़ोर बढने लगा और यह मिस्र का युद्ध-मन्त्री हो गया। इस हैसियत से इसने फ्रान्सीसी व ब्रिटिश मालिको की हिदायतें मानने से इन्कार कर दिया। विदेशियो के तानाशाही हुक्म के आगे सिर न झुकाने का जवाब इग्लैण्ड ने युद्ध से दिया, और १८८२ ई० मे अग्रेजी बेडे ने इस्कन्दरिया शहर पर गोलाबारी की और उसे जला दिया। इस तरह पश्चिमी सभ्यता के बडप्पन को ज़ाहिर करके और मिस्री सेनाओ को खुश्की पर भी हराकर अग्रेज़ो ने अब मिस्र पर पूरा दखल जमा लिया।

इस तरह मिस्र पर अग्रेजो के फौजी क़ब्ज़े की शुरुआत हुई। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिहाज़ से यह एक अनोखी स्थिति थी। मिस्र तुर्की सल्तनत का एक प्रान्त या हिस्सा था। इग्लैण्ड का तुर्की से दोस्ती का रिश्ता माना जाता था, इसपर भी इग्लैण्ड ने इतमीनान के साथ उसकी सल्तनत के एक हिस्से पर फौजी क़ब्ज़ा जमा लिया और मिस्र मे अपना एक एजेण्ट रख दिया। मुगल बादशाहो की तरह या भारत के वायसराय की तरह यह सबके ऊपर हुक्म चलाता था, यहाँतक कि खदीव और उसके मन्त्री भी इस ब्रिटिश एजेण्ट के आगे बेबस थे। मिस्र का पहला ब्रिटिश एजेण्ट मेजर बेरिंग था, जिसने मिस्र पर पच्चीस साल राज किया और जो बाद मे लॉर्ड क्रोमर हो गया। क्रोमर ने मिस्र पर निरकुश राजा की तरह राज किया। इसका सबसे पहला काम यह देखना था कि विदेशी बोहरो और पट्टे-दारो को मुनाफ़ों का भुगतान होता रहे। यह भुगतान बिना रोक-टोक होता रहा और मिस्र की माली हालत की मजबूती की बडी तारीफें की जाने लगीं। भारत की तरह मिस्र के प्रशासन मे भी कुछ चुस्ती पैदा की गई, लेकिन पच्चीस वर्ष खत्म होने पर भी मिस्र का पुराना कर्ज़ उतना ही बना रहा, जितना शुरू मे था। शिक्षा के लिए कुछ नही किया गया और क्रोमर ने तो एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का खोलना भी रोक दिया था। इसके रुख का पता इसके पत्र के एक वाक्य से चलता है, जो इसने १८९२ ई० मे उस समय के इग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री लॉर्ड सैलिसबरी को लिखा था "खदीव कट्टर मिस्री बन रहा है।" किसी मिस्र-निवासी का मिस्री की तरह बर्ताव करना लॉर्ड क्रोमर की निगाह मे जुर्म था, जैसे किसी भारतवासी के भारतीय की तरह व्यवहार करने पर अग्रेजों की त्यौरियाँ चढ जाती हैं और वे उसे सज़ा देते हैं।

मिस्र पर अग्रेज़ो का यह कब्ज़ा फ्रान्सीसियो को नही सुहाता था, क्योंकि इस लूट मे उन्हें कोई हिस्सा नही मिला था। यूरोप की दूसरी शक्तियाँ भी इसे पसन्द नही करती थी, और यह कहने की ज़रूरत है ही नही कि मिस्री लोग तो

इसे बिलकुल ही नही चाहते थे। ब्रिटिश सरकार हरेक से यही कहती थी कि परेशानी की कोई बात नही, हम तो मिस्र मे सिर्फ कुछ दिनो के लिए है और बहुत जल्द इस देश को छोडकर चले जायँगे। ब्रिटिश सरकार ने सरकारी तौर पर और बाक़ायदा बार-बार यह घोषणा की कि वे मिस्र को खाली कर देंगे। यह गम्भीर घोषणा क़रीब पचास बार या इससे ज्यादा बार की गई, यहाँतक कि इसकी गिनती याद रखना मुश्किल है। मगर फिर भी अग्रेज लोग मिस्र मे जमे रहे और अभी तक बने हुए हैं।[1]

१९०४ ई० मे अग्रेजो ने झगडे के बहुत-से मामलो मे फ्रान्सीसियो के साथ समझौता कर लिया। अग्रेज इस बात पर राजी हो गये कि फ्रान्सीसी लोग मोरक्को में जो चाहे करें, इसके बदले मे फ्रान्सीसी लोग मिस्र पर अग्रेज़ो का फौजी क़ब्ज़ा मानने के लिए राजी हो गये। लेन-देन का यह आपसी सौदा अच्छा हो गया, सिर्फ तुर्की से, जिसकी अभी तक मिस्र पर प्रभुता मानी जाती थी, कोई सलाह नहीं ली गई, और मिस्री लोगो से तो पूछने का कोई सवाल ही नही था।

इस ज़माने मे मिस्र का एक और पहलू यह था कि मिस्री अदालतो को विदेशियो के ख़िलाफ कार्रवाई करने या मुकदमे सुनने का अधिकार नही था। ये अदालतें इस काम के लायक नही समझी जाती थी और विदेशियो को हक था कि उनके मुक़दमे उन्हीकी अदालतो मे चलाये जायँ। इसलिए 'अधिकार-क्षेत्र के बाहर'[2] कहलानेवाली अदालतें पैदा हो गईं, जिनमे विदेशी न्यायाधीश होते थे और जिनके दिलो मे विदेशियो के हित रहते थे। इनमे से एक कट्टर विदेशी न्यायाधीश ने इन अदालतो के बारे मे लिखा है "इन अदालतो के न्याय ने विदेशी गुट्ट की, जो देश को चूस रहा था, अद्भुत सेवा की।" मेरा ख़याल है कि मिस्र के विदेशी निवासी ज्यादातर टैक्सो से भी बरी हो जाते थे। क्या ही मौज की स्थिति थी! टैक्सो से बरी रहना, जिस देश मे रहें वहाँ के कानूनो और अदालतों के दायरे से बाहर रहना, और साथ ही उस देश के शोषण की हरेक सहूलियत मिलना।

इस तरह इग्लैण्ड मिस्र पर राज करता था और शोषण करता था और उसके एजेण्ट और प्रतिनिधि अपनी रेज़ीडेन्सियो मे निरकुश बादशाहो की तरह पूरी शान-शौक़त और तडक-भडक से रहते थे। ऐसी हालत मे यह होना ही था कि राष्ट्रीयता की भावना और सुधार के आन्दोलन ज़ोर पकडते। उन्नीसवी सदी का सबसे मशहूर मिस्री सुधारक जमालुद्दीन अफगानी था। यह मज़हबी नेता था,

[1] आख़िरकार अगस्त, १९३६ ई० में मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार कर ली गई और अंग्रेज़ी फौजें वहाँ से हटा ली गई।

[2] Extra Territorial.

इस्लाम को आधुनिक हालतो के साँचे मे ढालकर आधुनिक बना देना चाहता था। यह प्रचार करता था कि हर तरह की प्रगति का इस्लाम के साथ मेल बिठाया जा सकता है। इस्लाम को आधुनिक रूप देने की इसकी कोशिश जड मे उसी तरह की थी, जैसी कोशिशे भारत मे हिन्दू-धर्म को आधुनिक बनाने के लिए की गई हैं। इन कोशिशो का आधार यह होता है कि कुछ पुराने बुनियादी उपदेशो को पकड लेना और पुराने दस्तूरो व मजहबी उसूलो के नये अर्थ लगाना और उनकी नई व्याख्या करना। इस ढग से आधुनिक ज्ञान पुराने मजहबी ज्ञान का एक किस्म का नया हिस्सा या उसपर टीका बन जाता है। मगर यह ढग वैज्ञानिक ढग से बिलकुल जुदा है, क्योकि वैज्ञानिक ढग तो किसी बात पर अडता नही और बेधडक आगे बढता है। कुछ भी हो, जमालुद्दीन का प्रभाव सिर्फ मिस्र मे ही नही बल्कि दूसरे अरबी देशो मे भी बहुत बढा-चढा था।

विदेशी व्यापार के विकास के साथ-साथ मिस्र मे एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया और यह वहाँ की नई राष्ट्रीयता की रीढ बन गया। आज के मिस्री नेताओ मे एक सबसे बडा नेता सैयद जगलुलपाशा इसी वर्ग का था। मिस्र मे ज्यादा-तर मुसलमानो की आबादी है, लेकिन वहाँ कॉप्ट लोग, जो ईसाई हैं, अब भी काफी सख्या मे हैं। ये कॉप्ट लोग पुराने मिस्रियो की सबसे खालिस नस्ल के हैं। नये मध्यम-वर्ग मे मुसलमान भी थे और कॉप्ट भी, और यह बडी अच्छी बात थी कि इन दोनो मे कोई बैर-भाव नही था। अग्रेजो ने इन दोनो मे फूट डलवाने की कोशिश की, लेकिन उन्हे बिलकुल सफलता नही मिली। अग्रेजो ने राष्ट्रवादी दल मे भी फूट डलवाने की कोशिश की। कभी-कभी भारत की तरह मिस्र मे भी इन्हे कुछ उदार-वादी मिल जाते थे, जो इनके साथ सहयोग करते थे। लेकिन इसके बारे मे मैं तुम्हे ज्यादा बातें किसी आगे के पत्र मे लिखूंगा।

जब अगस्त, १९१४ ई० मे महायुद्ध शुरू हुआ तब मिस्र की यही स्थिति थी। तीन महीने बाद इग्लैण्ड, फ्रान्स और इनके मित्र-राष्ट्रो के खिलाफ तुर्की जर्मनी से मिल गया। इसपर इग्लैण्ड ने मिस्र को सचमुच ही ब्रिटिश साम्राज्य मे शामिल कर लेने का फैसला कर लिया। लेकिन इसमे कुछ दिक्कतें पैदा हो गई। सो शामिल करने के बजाय मिस्र पर इग्लैण्ड की सरपरस्ती का ऐलान कर दिया गया।

इतना हाल तो मिस्र का अब काफी है। उन्नीसवी सदी के पिछले वर्षो मे अफ्रीका का बाकी हिस्सा भी यूरोपीय साम्राज्यशाही का शिकार हो गया। इस खूब बडे महाद्वीप पर जबर्दस्त झपट मच गई और यूरोपीय शक्तियो ने इसे आपस मे बाँट लिया। ये लोग गिद्धो की तरह इसपर टूट पडे और कभी-कभी इनमे आपस मे दो-दो चोचें भी हो जाती थी। कोई किसी की रोकथाम करनेवाला न था, लेकिन १८९६ ई० मे इटली अबीसीनिया से हार गया। अफ्रीका पर ज्यादातर अग्रेजो

और फ्रान्सीसियो का कब्ज़ा था और कुछ हिस्से बेलजियम, इटली और पुर्तगाल के कब्ज़े मे थे। जर्मनी का भी युद्ध मे हारने के पहले यहाँ पौवा था। स्वाधीन राज्य सिर्फ दो रह गये थे—पूर्व मे अबीसीनिया और पश्चिमी किनारे पर छोटा-सा लाइबेरिया। मोरक्को मे फ्रान्स और स्पेन का ज़ोर था।

इन बडे-बडे प्रदेशो पर किस तरह कब्ज़ा किया गया, इसकी कहानी तो बहुत लम्बी और भयकर है और अभी वह खत्म भी नही हुई है। इस महाद्वीप को निचोडने के लिए, खासकर रबड निकालने के लिए, जो साधन काम मे लाये गए, वे इससे भी बुरे थे। कई वर्ष हुए, बेलजियमी कागो मे किये गए अत्याचारो के बयानो से सभ्य कहलानेवाले ससार मे आतक व क्षोभ की लहर फैल गई थी। 'काले आदमियो का बोझ' बडा भयानक रहा है।

जहाँतक अफ्रीका के भीतरी भागो का ताल्लुक है, उन्नीसवी सदी के पिछले हिस्से तक यह देश, जिसे 'अँधेरा महाद्वीप' कहा जाता है, करीब-करीब एक अनजाना प्रदेश था। इस अनजाने भू-खण्ड का सही नकशा बनाने के लिए इसके एक छोर से दूसरे छोर तक कितनी ही जोखिम-भरी व जीवट यात्राएँ की गईं। स्कॉटलैण्ड का एक मिशनरी, डेविड लिविंगस्टन, इस देश का सबसे बडा खोजी था। वर्षों तक वह इस मुल्क मे पता नही कहाँ गायब रहा, और बाहर की दुनिया को उसकी कुछ खबर न मिली। इसके नाम के साथ-साथ हेनरी स्टेनली का भी नाम मशहूर है। यह एक पत्रकार और खोजी था, जो डेविड लिविंगस्टन की तलाश मे निकला था और अन्त मे इसने उसे महाद्वीप के भीतरी हिस्से मे खोज निकाला।

: १४२ :

तुर्की 'यूरोप का बीमार' कहलाता है

१४ मार्च, १९३३

मिस्र से भूमध्यसागर पार करके टर्की पहुँच जाना एक छोटा और आसान क़दम है। उन्नीसवी सदी मे यूरोप मे उस्मानी तुर्कों का साम्राज्य धीरे-धीरे टूटता चला गया। पतन का यह सिलसिला इससे पहले की सदी मे ही शुरू हो चुका था। शायद तुम्हे याद होगा कि मैंने वियेना की 'तुर्की की घेराबन्दी' का ज़िक्र किया था और यह बताया था कि कुछ समय तक तुर्कों की तलवार के सामने यूरोप किस तरह थर्रा उठा था। पश्चिम के पाक ईसाई तुर्कों को 'खुदा का कहर' समझते थे, जो ईसाई-ससार को उसके पापो की सज़ा देने के लिए भेजा गया था। लेकिन वियेना के दरवाज़े पर तुर्कों की पूरी हार के बाद मामला उलट गया और तबसे तुर्कों को यूरोप मे अपने बचाव की फिक्र लग गई। दक्षिण-पूर्वी यूरोप की कई

यूरोप में तुर्की का आख़िरी आधार



राष्ट्रीय कौमें, जिन्हें इन्होंने दबा रखा था, इनके लिए इतने सारे कांटे बन गई थी। इन कौमों को हजम करने की कोई कोशिश नही की गई; और अगर कोशिश की भी गई होती तो शायद यह सम्भव नही था, क्योंकि राष्ट्रीयता की भावना तुर्कों के कठोर शासन से टकराने लगी थी। उत्तर-पूर्व में जारशाही रूस दिन-दिन फैलता जा रहा था और तुर्की प्रदेशों में घुसने के लिए जोर लगा रहा था। वह तुर्कों का पुश्तैनी और हमेशा का दुश्मन बन गया और क़रीब दो सौ वर्षों तक उनसे रुक-रुककर युद्ध करता रहा, जबतक कि ज़ार और सुलतान दोनों अपने साम्राज्यों समेत एक ही साथ खत्म न हो गये।

साम्राज्यों की तरह उस्मानी साम्राज्य काफी दिनों तक कायम रहा। एशिया-कोचक में बहुत दिन बना रहने के बाद, १३६१ ई० में इसकी बुनियाद यूरोप में पड़ी। हालांकि कुस्तुन्तुनिया १४५३ ई० तक तुर्कों के हाथ में नही आया, लेकिन आस-पास का सारा प्रदेश इससे बहुत पहले ही उनके अधीन हो गया था। पश्चिमी एशिया में तैमूर के अचानक धावों ने, और १४०२ ई० में उसके हाथों अंगोरा में तुर्की सुलतान की बुरी तरह पराजय ने, कुस्तुन्तुनिया को कुछ दिनों के लिए तुर्कों से बचा दिया। लेकिन तुर्क फिर बहुत जल्दी जोर पकड़ गये। १३६१ ई० से लगाकर हमारे जमाने में उस्मानी साम्राज्य के अन्त तक, साढ़े पाँच सौ से ज्यादा वर्ष हो गये हैं, और यह समय काफ़ी लम्बा है।

फिर भी मध्य-युगों के अन्त के बाद यूरोप में जो नई हालतें बनती जा रही थीं, उनके साथ तुर्कों का मेल बिलकुल नही बैठता था। व्यापार और वाणिज्य बढ़ रहे थे और यूरोप के कारखानेवाले शहरों में उत्पादन की व्यवस्था बड़े पैमाने पर की जा रही थी। तुर्कों को इस तरह की चीजों में कोई दिलचस्पी नही थी। ये तुर्क लोग जवाँमर्द सिपाही होते थे, सख्त लड़ाके और अनुशासन-पसन्द होते थे, जो फुर्सत के वक्त मस्त रहते थे, पर भड़कने पर खूँख्वार और निर्दयी बन जाते थे। हालांकि ये शहरों में बस गये थे और उन्हें आलीशान इमारतों से सजा देते थे, फिर भी उनमें उनका पुराना घुमक्कड़ी ढंग कुछ बाकी था और वे अपने जीवन को उसी ढंग पर ढालते थे। तुर्कों के अपने वतन में शायद यही ढंग सबसे ज्यादा माकूल था, लेकिन यूरोप या एशिया-कोचक की नई हालतों से बिलकुल मेल नही खाता था। तुर्कों ने अपने-आपको इन नये चौगिर्दों के मुताबिक ढालना मंजूर नही किया, इसलिए दोनों अलग-अलग ढाँचों में बराबर टक्कर होती रही।

उस्मानी साम्राज्य तीन महाद्वीपों—यूरोप, एशिया व अफ्रीका को मिलाता था, पूर्व और पश्चिम के बीच के सारे तिजारती रास्ते इसी में होकर गुजरते थे। अगर तुर्कों में व्यापार की तरफ़ रुझान होता और इसके लिए जरूरी योग्यता होती, तो ये अपनी इस सहूलियत की स्थिति से फायदा उठाकर एक बड़ा व्यापारी

राष्ट्र बन सकते थे। लेकिन इनमे इस तरह की कोई रुचि या योग्यता नही थी, और वे इस व्यापार को जान-बूझकर रोकते थे, शायद इसलिए कि वे दूसरो को इससे फायदा उठाते हुए देखना पसन्द नही करते थे। पुराने तिजारती रास्तो का इस तरह बन्द किया जाना भी एक सबब था, जिससे यूरोप की जहाजी और व्यापारी कौमो को पूर्वी देशो के लिए नये रास्ते तलाश करने पर मजबूर होना पडा। इसी के नतीजे से कोलम्बस ने पश्चिम के, और डायज़ और वास्को-दे-गामा ने पूर्व के नये रास्ते खोज निकाले। लेकिन तुर्क लोग इन सब बातो की तरफ से बिलकुल बेपरवाह रहे और अपने साम्राज्य पर अनुशासन और फ़ौजी मुस्तैदी के बल पर राज करते रहे। नतीजा यह हुआ कि उस्मानी साम्राज्य के यूरोपीय भाग मे व्यापार की व दौलत पैदा करनेवाली हलचलें धीरे-धीरे खत्म हो गईं। नस्ली और मजहबी झगडा भी कुछ हद तक इसका कारण था। तुर्कों को और बलकान की ईसाई कौमो को आपसी पुरानी मज़हबी दुश्मनी क्रूसेडो के समय से, और उसके भी पहले से, विरासत मे मिली थी। नई राष्ट्रीयता के बढने से यह आग और भी भडक गई और बराबर झगडे रहने लगे। उस्मानी सल्तनत के यूरोपीय हिस्से किस तरह नीचे गिरते गये इसकी एक मिसाल देता हूँ। जब यूनान १८२९ ई० मे तुर्कों से आज़ाद हुआ तब एथेन्स का मशहूर पुराना शहर सिर्फ दो हज़ार की आबादी का गाँव रह गया था। (आज अब सौ वर्ष बाद, इस शहर की आबादी पाँच लाख से ऊपर है।)

व्यापार की व दौलत पैदा करनेवाली इन हलचलो के बन्द होने से अन्त मे खुद तुर्की के शासको को नुकसान पहुँचा। जब साम्राज्य के हाथ-पाँव कमज़ोर और ढीले पड गये, तब साम्राज्य का दिल भी कमजोर और रोगी हो गया। वास्तव में यह ताज्जुब की बात है कि इन सब लडाई-झगडो और कठिनाइयो के होते हुए भी यह साम्राज्य इतने दिनो तक टिका रहा।

कई सौ वर्षों तक उस्मानी सुलतानो की मज़बूती 'जाँनिसारियो' के सबब से रही। यह तुर्की सिपाहियो की एक फौजी टुकडी थी, जिसमे ईसाई ग़ुलाम भरती किये जाते थे और उन्हें लडकपन से ही बडी होशियारी के साथ तालीम दी जाती थी। इन जाँनिसारियो से हमे मिस्र के ममलूको की याद आ जाती है, लेकिन इन दोनो मे फर्क था। हालाँकि ये लोग तुर्की फौज के सबसे बढिया सिपाही थे, लेकिन मिस्र के ममलूको की तरह कभी सत्ताधारी नही हुए। ममलूको की तरह इनकी भी कोई पुश्तैनी जाति नही बनी। ये लोग ग़ुलाम तो थे, लेकिन चहेते समझे जाते थे और इन्हे ऊँची जगहें और ऊँचे ओहदे खासतौर पर दिये जाते थे। लेकिन इनकी औलाद आज़ाद मुसलमान बन गईं और बहुत दिनो तक वे इस चहेती टुकडी मे नही रह सके, क्योंकि यह ग़ुलामो ही के लिए थी। इसमे सिर्फ नये गोरे ईसाई ग़ुलाम

ही भरती किये जाते थे। ये बातें आज कितनी अनोखी मालूम होती हैं! लेकिन याद रहे कि उस ज़माने मे इस्लामी देशो मे गुलाम शब्द का ठीक वैसा ही अर्थ नही लिया जाता था जैसा आजकल लिया जाता है। गुलाम लोग अक्सर ज़ाब्ते और कानून के लिहाज़ से तो गुलाम होते थे, लेकिन वे ऊँचे-से-ऊँचा ओहदा हासिल कर सकते थे। तुम्हे दिल्ली के गुलाम बादशाहो का तो ध्यान होगा ही। मिस्र का सुलतान सलादीन भी शुरू मे गुलाम ही था। मालूम होता है तुर्कों का यह खयाल था कि शासक-वर्ग को ज्यादा-से-ज्यादा मुस्तैद बनाने के लिए उन्हे हर तरह की पूरी तालीम देनी चाहिए। तुर्क लोग यह जानते थे, जैसा कि हरेक शिक्षक जानता है, कि तालीम देने का सबसे अच्छा समय बचपन से कुछ साल बाद तक हुआ करता है। मुसलमान प्रजा के बच्चो को छीन लेना और उनको अपने माता-पिता से बिलकुल अलग कर देना, या गुलाम बना लेना, शायद आसान नही था। इसलिए ये लोग छोटे-छोटे ईसाई लडको को पकड लेते थे और उन्हे सुलतान के महल के गुलामो मे भरती करके बडी कडी तालीम देते थे। अलबत्ता ये छोटे लडके बडे होकर मुसलमान हो जाते थे।

खुद सुलतान लोग भी इसी ढग से पाले जाते थे। सुलतानो की शादियाँ मामूली ढग से नही होती थी। सावधानी से चुनी हुई गुलाम लडकियाँ उनके महलो मे भेज दी जाती थी और वे ही इनके बच्चो की माँ होती थी। अठारहवी सदी की शुरुआत तक जितने सुलतान हुए, वे सब गुलाम माताओ की ही सन्तान थे, और उन्हे उसी तरह की कडी तालीम और कठोर अनुशासन से गुज़रना पडता था, जैसी कुनबे के किसी दूसरे गुलाम को।

गुलामो को इस तरह होशियारी से छाँटने मे और सुलतान से लगाकर नीचे तक उनके अनुशासन मे और खास कामो की तालीम मे कुछ विज्ञान जैसा तरीका था। इसके नतीजे से कुछ खास दायरो मे किसी हद तक मुस्तैदी ज़रूर आ गई थी, नये गुलामो से बराबर ताज़ी नस्ल मिलती रहती थी, जिससे कोई पुश्तैनी शासक-वर्ग नही बन सका। शायद इस साम्राज्य की शुरू मे मज़बूती इसी ढाँचे पर निर्भर थी। लेकिन यह चीज़ यूरोपीय या एशियाई हालतो से बिलकुल मेल नही खाती थी। यह ढाँचा सामन्ती-ढाँचे से बिलकुल अलग तरह का था, और यह उस पद्धति से तो और भी अधिक भिन्न था, जो यूरोप मे सामन्तशाही की जगह ले रही थी। इस ढाँचे के भीतर और व्यापार व वाणिज्य के बहुत-कुछ अभाव मे, कोई असली मध्यम-वर्ग पनप न सका। सोलहवी सदी के अन्त मे, जब गुलाम कुनबे मे पुश्तैनी तत्व आ गया और कुनबे के लोगो के पुत्र उसमे बने रहकर अपने पिताओ की ही तरह की ज़िन्दगी अपना सकते थे, तब इस ढाँचे मे शुरू का खालिसपन कायम नही रह सका। दूसरी कई बातो मे भी यह ढाँचा धीरे-धीरे ढीला पड गया। लेकिन

जमीन तो बनी ही रही और इसकी वजह से सदियो के नजदीकी मेल-जोल के बावजूद तुर्की यूरोप से बिलकुल अलग तरह का और उसमे बेगाना बन गया। खुद तुर्की के अन्दर ही वहां की विदेशी जातियां अपने-अपने कानूनों और जमातों को लिये हुए एक-दूसरी से बिलकुल विलग बनी रहीं।

इस अनोखे और पुराने तुर्की ढांचे के बारे मे मैंने तुमको इतना ज्यादा इसलिए बताया है कि यह बिलकुल निराला था और इसने उस्मानी साम्राज्य का रूप बनाने मे मदद पहुँचाई। अलबत्ता अब इसका कोई निशान नहीं रहा है, यह इतिहास की बात हो गई है।

तुर्की के पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास लगातार बढ़े चले आनेवाले रूस के खिलाफ, और अधीन कौमो के विद्रोह के खिलाफ लड़ाइयो का इतिहास है। यूनान, रूमानिया, सर्बिया, बलगारिया, मॉन्तिनीग्रो, बोसनिया, ये सब बलकानी देश थे और उस्मानी साम्राज्य के अंग थे। हम देख चुके हैं कि इग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस की मदद से १८२९ ई० मे यूनान उस्मानी साम्राज्य से अलग हो गया था। रूस स्लाव लोगो का देश है, और बलगारिया और सर्बिया भी इसी नस्ल के हैं। जारशाही रूस ने यह दिखाना चाहा कि वह इन बलकानी स्लावों का रक्षक और हिमायती है। लेकिन रूस का असली दांत तो क़ुस्तुन्तुनिया पर लगा था और उसकी कूटनीति का सारा लक्ष्य यही था कि अन्त मे साम्राज्य की यह पुरानी राजधानी उसके कब्ज़े मे आ जाय, क्योंकि जार अपनेको बिज़ैन्तीनी सम्राटो का उत्तराधिकारी समझता था। १७३० ई० मे रूसी-तुर्की युद्धो का सिलसिला शुरू हुआ और ये युद्ध बीच-बीच मे कुछ दिनो की शान्ति के अलावा, १७६८, १७९२, १८०७, १८२८ १८५३, १८७७ ई० मे और अन्त मे १९१४ ई० मे होते रहे। १७७४ ई० मे रूस ने तुर्की से क्रीमिया छीन लिया और वह काला सागर तक जा पहुँचा। लेकिन इससे कोई ज्यादा फायदा नही हुआ, क्योंकि काला सागर तो बोतल की तरह बन्द है, जिसके मुँह पर कुस्तुन्तुनिया की डाट लगी है। १७९२ और १८०७ ई० मे रूसी सरहद कुस्तुन्तुनिया की तरफ बढ़ती गई और तुर्की सरहद पीछे खिसकती गई। जब यूनान का स्वाधीनता-युद्ध चल रहा था और तुर्क लोग इधर फँसे हुए थे, तब जार ने उनपर हमला करके इस मौक़े से फायदा उठाना चाहा। अगर इग्लैण्ड और आस्ट्रिया बीच मे न पड जाते, तो जार ने क़ुस्तुन्तुनिया जीत लिया होता।

इग्लैण्ड और आस्ट्रिया ने तुर्की को रूस से क्यो बचाया? तुर्की से कोई प्यार होने की वजह से नही, बल्कि रूस की मुकाबलेदारी और उसके डर की वजह से। मैं पहले बता चुका हूँ कि इग्लैण्ड और रूस के बीच एशिया मे और दूसरी जगहों

मे, पुश्तैनी लाग-डाँट थी। खासकर भारत पर कब्ज़ा होने की वजह से अग्रेज लोग ठेठ रूसी सरहद तक पहुँच गये थे और इनके ऊपर हरदम यह दहशत सवार रहती थी कि ज़ारशाही रूस भारत का न जाने क्या कर डाले। इसलिए अग्रेज़ो की यह नीति थी कि रूस के रास्ते मे रुकावटें डालते रहें और उसे अपनी ताकत न बढाने दें। अगर क़ुस्तुन्तुनिया पर रूस का कब्ज़ा हो जाता तो उसे भूमध्य-सागर मे एक बढिया बन्दरगाह मिल जाता और वह भारत के जानेवाले रास्ते के पास जगी-जहाज़ो का बेडा रख सकता था। यह बहुत बडा खतरा था, इसलिए इग्लैण्ड ने हर बार रूस को, तुर्की को कुचल डालने से, रोका। रूस को दूर रखने मे आस्ट्रिया का भी स्वार्थ था। आस्ट्रिया आज नन्हा-सा देश है, लेकिन कुछ साल पहले यह बलकान प्रायद्वीप से सटा हुआ एक बडा साम्राज्य था और चाहता था कि जब तुर्की टूक-टूक हो जाय तो वह खुद बलकानी देशो का काफी बडा हिस्सा दबा ले। इसलिए रूस का दूर रखना इसके लिए ज़रूरी था।

बेचारे तुर्की की बुरी हालत थी। इसके ये ताकतवर पडौसी इसी इन्तज़ार में थे कि तुर्की को कुछ हो जाय कि ये उसपर टूट पड़े और उसके टुकडे-टुकडे कर डालें। १८५३ ई० मे तुर्की का ज़िक्र करते हुए रूस के ज़ार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था "हमारे हाथ मे एक बीमार है—वह बहुत ज्यादा बीमार है . । यह किसी समय अचानक हमारी गोद मे मर सकता है ।" यह फिकरा मशहूर हो गया और तुर्की तबसे 'यूरोप का बीमार' कहा जाने लगा। लेकिन इस बीमार को मरते-मरते बहुत लम्बा समय लग गया।

उसी साल, १८५३ ई० मे, ज़ार ने 'बीमार' का सफाया करने की दूसरी कोशिश की। इसके कारण क्रीमिया का युद्ध हुआ, जिसमे इग्लैण्ड और फ्रान्स ने रूस को रोक दिया। इक्कीस वर्ष बाद, १८७७ ई० मे, ज़ार ने तुर्की पर फिर हमला किया और उसे हरा दिया, लेकिन फिर विदेशी दस्तन्दाजी की वजह से तुर्की किसी हद तक बच गया, कम-से-कम कुस्तुन्तुनिया रूस के हाथ नही लगा। तुर्की के भाग्य का निपटारा करने के लिए १८७८ ई० मे बर्लिन मे एक मशहूर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमे बिस्मार्क शामिल था और डिजरेली भी, और यूरोप के कितने ही राजनीतिज्ञ नेता भी। इन लोगो ने एक-दूसरे को धमकियाँ दी और एक-दूसरे के खिलाफ साजिशें की। मालूम होता है इग्लैण्ड तो रूस से युद्ध छेडने ही वाला था कि रूस ने घुटने टेक दिये। बर्लिन की सन्धि के परिणाम-स्वरूप बलगारिया, सर्बिया, रूमानिया और मॉन्तिनीग्रो के बलकानी देश स्वाधीन हो गये। आस्ट्रिया ने बोस्निया व हैरत्सैगोविना पर कब्ज़ा कर लिया (कहने को ये तुर्की की सत्ता के ही अधीन रहे)। और कुछ हद तक तुर्की का साथ देने के बदले मे इग्लैण्ड ने साइप्रस का टापू उससे उजरत के तौर पर ले लिया।

दूसरा रूसी-तुर्की युद्ध छत्तीस वर्ष बाद, १९१४ ई० मे, महायुद्ध के सिलसिले मे हुआ।

इस बीच तुर्की मे बहुत परिवर्तन हो रहे थे। १७७४ ई० मे रूस के हाथ पूरी पराजय से तुर्कों को पहला धक्का लगा और वे महसूस करने लगे कि बाकी का यूरोप उनसे आगे निकला जा रहा है। जगी राष्ट्र होने के नाते सबसे पहले इनका ध्यान फौज को आधुनिक ढग पर लाने की तरफ गया। कुछ हद तक यह काम हुआ और सेना के नये अफसरो के जरिये ही तुर्की मे पश्चिमी विचार घुस आये। जैसा मैंने तुमको बताया है, तुर्की मे कोई ज्यादा मध्यम-वर्ग नही था, और न कोई दूसरा ही सगठित वर्ग था। १८५३-५६ ई० के क्रीमियाई युद्ध के बाद तुर्की को पश्चिमी साँचे मे ढालने का असली जतन किया गया। सविधानी ढग की सरकार के लिए आन्दोलन ने जोर पकडा (जिसका उद्देश्य यह था कि सुलतान के निरकुश शासन के बजाय लोकतन्त्री विधान-सभा बने)। इस आन्दोलन का नेता मिदहत पाशा था। १८७६ ई० मे कुस्तुन्तुनिया मे भी विधान की माँग के लिए दगे हुए, और सुलतान ने सविधान मजूर कर लिया। लेकिन फौरन ही उसने सविधान को मसूख भी कर दिया, क्योकि बलगारिया मे विद्रोह हो गया और रूसियो के साथ युद्ध छिड गया। इस युद्ध के भारी खर्चों ने और किसी बुनियादी आर्थिक परिवर्तन के बिना ऊपरी सतह पर सुधारो के खर्च ने, तुर्की सरकार को दिवालिया बना दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि उसे पश्चिमी साहूकारो से रुपया क़र्ज़ लेना पडा और बदले मे इन साहूकारो ने राज्य की आमदनी के एक हिस्से पर अपना दखल जमा लिया। इसलिए पश्चिमी साँचे मे ढालने का और सुधार का यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। साम्राज्य के पुराने ढाँचे मे इस नई चीज़ को बिठाना मुश्किल था।

बीसवी सदी की शुरुआत मे सविधान की माँग ने फिर जोर पकडा। पहले की तरह फौजी अफसर ही सिर्फ एक सगठित वर्ग थे और इन्हीके अन्दर नौजवान तुर्क दल नामक नया दल तेज़ी से बढा। 'एकता और प्रगति' की गुप्त समितियाँ बनने लगी और जब इन्होने फौज का बहुत बडा हिस्सा अपनी तरफ मिला लिया, तब १९०८ ई० मे सुलतान को इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वह १८७६ ई० का पुराना सविधान फिर जारी करे। बडी खुशियाँ मनाई गईं। तुर्क, आर्मीनी और दूसरे लोग, जो अभी तक एक-दूसरे का गला काटते थे, आपस मे गले मिले और उन्होंने इस नये युग के उदय पर खुशी के आँसू बहाये, जिसमे सबको बराबर माना जानेवाला था और पराधीन जातियो को पूरे हक मिलनेवाले थे। इस रक्तहीन क्रान्ति का खास नायक, खूबसूरत व अहकारी, लेकिन दिलेर व हौसलेबाज़, अनवर बे था। मुस्तफ़ा कमाल भी, जो आगे चलकर तुर्की का मुक्तिदाता हुआ, एक नामी नौजवान तुर्क नेता था, लेकिन अनवर बे के मुकाबले मे यह पीछे था और ये दोनो एक-दूसरे को पसन्द नही करते थे।

नौजवान तुर्कों को बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा। सुलतान इन लोगो को परेशान करता रहता था। अन्त मे खून बहा और सुलतान गद्दी से उतार दिया गया और उसकी जगह दूसरा बिठाया गया। आर्थिक कठिनाइयाँ सामने आई और विदेशी शक्तियो से भी झगडे हुए। आस्ट्रिया ने तुर्की मे फैली हुई इस गड़बडी से फायदा उठाकर बोस्निया और हैरत्सैगोविना को अपने साम्राज्य मे मिलाने की घोषणा कर दी (इन प्रदेशो पर उसने बर्लिन की सन्धि के बाद १८७८ ई० मे कब्ज़ा किया था)। इटली ने उत्तरी अफ्रीका मे त्रिपोली पर ज़बर्दस्ती कब्ज़ा कर लिया और युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्क लोग कुछ कर-धर नही सके, क्योंकि इनके पास अच्छे जगी जहाज़ नही थे और इसलिए इन्हे इटली की माँगें मजूर करनी पडी। यह होने की देर थी कि घर के पास ही एक और खतरा आ खडा हुआ। बलग़ारिया, सर्बिया, यूनान और मॉन्तिनीग्रो, जो तुर्कों को यूरोप से निकालने के लिए और लूट मे हिस्सा बटाने के लिए तैयार बैठे थे, ठीक मौका देखकर एक बलकान लीग मे शामिल हो गये और अक्तूबर, १९१२ ई० मे तुर्की पर टूट पडे। तुर्की पस्त और बिखरा हुआ था ही और सविधानवादियो व प्रगति-विरोधियो के बीच सत्ता के लिए झगडा चल रहा था। बलकान लोगो के सामने तुर्की बिलकुल चारो खाने चित हो गया और इसे बहुत भारी नुकसान उठाना पडा। इस तरह बलकान युद्ध कुछ ही महीनो मे खत्म हो गया और तुर्की यूरोप से करीब पूरी तरह निकाल दिया गया, सिर्फ कुस्तुन्तुनिया उसके पास रह गया। तुर्की का सबसे पुराना यूरोपीय शहर एद्रियानोपल् भी उसकी मर्ज़ी के खिलाफ उससे छीन लिया गया।

मगर बहुत जल्दी लूट के बँटवारे पर विजेता देश आपस मे लड पडे और बलग़ारिया ने अपने पिछले साथियो पर अचानक और दग़ाबाज़ी से हमला कर दिया। खूब आपसी मारकाट हुई, और इस गडबडी से फायदा उठाने के लिए रूमानिया, जो अभी तक अलग था, इसमे शामिल हो गया। नतीजा यह हुआ कि बलग़ारिया ने जो कुछ जीता था, वह खो दिया, और रूमानिया, यूनान व सर्बिया ने अपने इलाके बढा लिये। तुर्की को भी एद्रियानोपल् वापस मिल गया। बलकान के लोगो की आपसी नफरत अचम्भे की चीज़ है। बलकान देश छोटे-छोटे हैं, लेकिन वे कितनी ही बार यूरोप के तूफानो का केन्द्र हो चुके हैं।

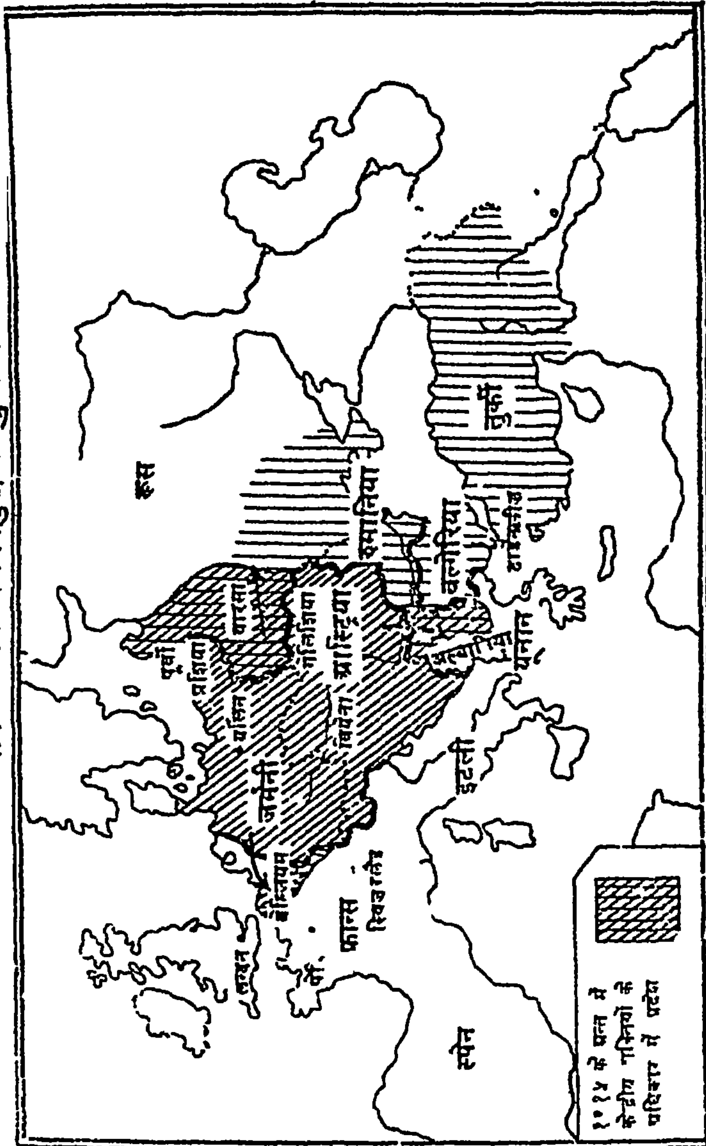
नौजवान तुर्कों ने जिस सुलतान को १९०९ ई० मे गद्दी से उतारा था, वह मज़ेदार आदमी था। उसका नाम था अब्दुल हमीद दूसरा, और वह १८७६ ई० मे गद्दी पर बैठा था। उसे सुधारो से और नये ज़माने की नई-नई चीज़ो से चिढ थी, लेकिन वह अपने ढग का योग्य आदमी था और वह बडी-बडी शक्तियो को आपस मे लडा देने के फन का उस्ताद माना जाता था। तुम्हे याद होगा कि तमाम उस्मानी सुलतान

खलीफा, यानी इस्लाम के मजहवी मुखिया भी होते थे। अब्दुल हमीद ने एक अखिल इस्लामी आन्दोलन खडा करने का प्रयत्न करके अपनी इस हैसियत का फायदा उठाना चाहा। यानी ऐसा आन्दोलन, जिसमे दूसरे देशो के मुसलमान शामिल हो सकें, ताकि वह इनकी मदद ले सके। यूरोप और एशिया मे कई वर्षों तक इस अखिल इस्लामवाद की कुछ चर्चा रही, लेकिन इसकी वुनियाद ठोस नही थी और महायुद्ध ने इसका विलकुल अन्त कर दिया। तुर्की मे राष्ट्रवाद ने अखिल इस्लामवाद का विरोध किया और राष्ट्रवाद दोनो मे ज्यादा ताकतवर सावित हुआ।

सुलतान अब्दुल हमीद यूरोप में वहुत वदनाम हो गया, क्योंकि लोग उसे बलग़ारिया, आर्मीनिया और दूसरी जगहो मे अत्याचारो और हत्याकाण्डो के लिए जिम्मेदार मानते थे। ग्लैड्स्टन इसे 'महान् हत्यारा' कहता था और इन अत्याचारो के खिलाफ उसने इग्लैण्ड मे एक वडा आन्दोलन चलाया था। तुर्क लोग खुद इसके राज को अपने इतिहास का सवसे अँधेरा ज़माना मानते थे। मालूम होता है, वलकान व आर्मीनिया में अत्याचारो और हत्याकाण्डो की घटनाएँ दोनों ही तरफ से वार-वार होती रहती थी। वलकानी कौमे और आर्मीनी लोग तुर्कों की हत्याएँ करने के उतने ही अपराधी थे, जितने तुर्क लोग उनकी हत्याओ के। सदियो के नस्ली व मजहवी वैर-भाव इन लोगो के स्वभाव मे ही गहरे वैठ गये थे और भयानक रूप मे जाहिर होते थे। आर्मीनिया पर सवसे वुरी मार पड़ी थी। अव आर्मीनिया कोह काफ के पास सोवियत रूस का एक गणराज्य है।

इस तरह वलकानी युद्धो के वाद तुर्की विलकुल पस्त हो गया और यूरोप में उसे सिर्फ पैर रखने-भर को जगह वाकी रह गई। उसके साम्राज्य का वाकी हिस्सा भी टूटता जा रहा था। मिस्र अलवत्ता नाम के लिए उसका था, उसपर असली क़ब्जा व्रिटेन का था, जो उससे फायदा उठा रहा था। लेकिन दूसरे अरव देशो मे राष्ट्रीय आन्दोलन के चिह्न प्रकट हो रहे थे। इसलिए तुर्की का हिम्मत हारना और उसकी आँखें खुल जाना अचम्भे की वात नहीं थी। १९०८ ई० के उसके सारे वडे-वडे मनसूबे मानो खाक मे मिल गये। उसी समय जर्मनी इसके साथ कुछ हमदर्दी दिखलाता मालूम हुआ। जर्मनी की निगाह पूर्व की तरफ़ थी और वह सारे मध्य-पूर्व मे अपने प्रभाव के सपने देख रहा था। तुर्की भी जर्मनी की तरफ़ मुडा और दोनो के सम्पर्क वढ़ने लगे। दूसरा वलकान युद्ध समाप्त होने के सालभर वाद, १९१४ ई० मे, जव महायुद्ध हुआ, तव यह स्थिति थी। तुर्की के भाग्य में चैन नही था।

योरप — प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू में



: १४३ :

ज़ारों का रूस

१६ मार्च, १९३३

रूस आज सोवियत देश है और इसके शासन की बागडोर किसानो और मजदूरो के प्रतिनिधियों के हाथो मे है। कुछ बातो मे यह दुनिया का सबसे आगे बढ़ा हुआ देश है। असली हालतें कुछ भी हों, यहाँ के शासन और समाज का सारा ढाँचा समाजी बराबरी के सिद्धान्त पर खडा है। यह आजकल की बात है। लेकिन कुछ साल पहले, और सारी उन्नीसवी सदीभर व उसके पहले, रूस यूरोप का सबसे ज्यादा पिछडा हुआ और प्रगति-विरोधी देश था। यहाँ निरंकुशता और सत्ताशाही अपने पूरे खालिस रूप मे फूल-फल रही थी। पश्चिमी यूरोप मे क्रान्तियो और परिवर्तनो के बावजूद ज़ार लोग अभीतक बादशाहो के दैवी अधिकार के मत को बरकरार रखे हुए थे। यहाँ का ईसाई-संघ भी, जो पुराना कट्टर यूनानी ईसाई-संघ था, रोमन या प्रोटेस्टेण्ट नही, बल्कि दूसरे देशो के मुकाबले मे ज्यादा सत्तावादी था और ज़ार की सरकार का सहारा और साधन था। इस देश को 'पवित्र रूस' कहते थे और ज़ार सबका 'नन्हा गोरा पिता'[1] माना जाता था। ईसाई-संघ व अधिकारी वर्ग इन पुरानी दास्तानो को लोगो के दिमागो को धुंधला करने के लिए और आर्थिक व राजनीतिक हालतो से उनका ध्यान हटाने के लिए, काम मे लाते थे। इतिहास मे 'पवित्रता' ने अजीब-अजीब साथी बनाये हैं!

इस 'पवित्र रूस' का खास प्रतीक 'नाउट' था और वह अक्सर 'पोग्रोम' की कार्रवाइयाँ किया करता था। ज़ारशाही रूस ने दुनिया को ये दो शब्द भेंट किये हैं। 'नाउट' चाबुक को कहते थे, जिससे खेतिहर गुलामो को और दूसरो को सज़ा दी जाती थी और 'पोग्रोम' का मतलब था बर्बादी व बाकायदा अत्याचार। अमल में इसका मतलब था हत्याएँ—खासकर यहूदियो की हत्याएँ। ज़ारशाही रूस के पीछे थे साइबेरिया के लम्बे-चौडे सुनसान मैदान, जिसके नाम के साथ देश-निकाला, कैद और बेबसी की बातें जुड गई हैं। ढेर-के-ढेर राजनीतिक कैदी साइबेरिया भेजे जाते थे और वहाँ बडे-बडे डेरे और उपनिवेश पैदा हो गये थे, जिनके नज़दीक आत्म-हत्या करनेवालो की कब्रें होती थी। देश-निकाले और कैद की लम्बी और अकेली मियादें बर्दाश्त करना बडा मुश्किल होता है। कितने ही बहादुर व्यक्तियों के दिमागो और शरीरो ने इन हालतो को बर्दाश्त न कर सकने की वजह से जवाब दे दिया है। दुनिया से अलग, और दोस्तो व साथियो व सुख-दुःख मे साथ देनेवालो से दूर रहकर जिन्दगी बिताने के लिए मनुष्य मे दिमाग़ी ताक़त, शान्त व अटल

[1] Little White Father.

अन्दरूनी गहराई और बर्दाश्त करने की हिम्मत होनी चाहिए। मतलब यह है कि ज़ारशाही रूस ने हरेक सिर उठानेवाले को मार गिराया और आज़ादी के हर प्रयत्न को कुचल दिया। यहाँतक कि यात्राओ को भी मुश्किल बना दिया गया था, ताकि बाहर से उदार विचार न आने पायें। लेकिन आज़ादी का दमन किया जाता है तो वह सूद-दर-सूद जोड लेती है और जब वह आगे बढती है तो उसकी प्रगति छलाँगो के रूप मे होती है, जिससे पुरानी गाडी ही उलट जाती है।

अपने पिछले पत्रो मे हमने एशिया और यूरोप के जुदा-जुदा भागो मे, यानी दूर-पूर्व, मध्य-एशिया, ईरान और तुर्की मे, ज़ारशाही रूस की नीतियो और हलचलो की कुछ झलक देखी है। अब हमे यह तसवीर पूरी करनी चाहिए और इन अलग-अलग हलचलो को मुख्य विषय के साथ जोडना चाहिए। दुनिया के नकशे मे रूस की स्थिति ऐसी है कि इसके हमेशा दो रुख रहे है, एक पश्चिम की ओर व दूसरा पूर्व की ओर। अपनी इस स्थिति के सबब से यह एक यूरेशियाई शक्ति है और अपने इतिहास के पिछले वर्षों मे इसका स्वार्थ कभी पूर्व मे और कभी पश्चिम मे रहा है। पश्चिम मे मुँह की खाने पर इसने पूर्व की तरफ निगाह डाली, पूर्व मे रोका जाने पर यह पश्चिम की तरफ देखने लगा।

मैंने तुम्हे बताया है कि चगेजखाँ का छोडा हुआ मगोली साम्राज्य किस तरह टूक-टूक हो गया और मास्को के शहज़ादे के झण्डे के नीचे रूसी शहज़ादो ने सुनहरे कबीले के मगोलो को अन्त मे रूस से किस तरह निकाल बाहर किया। यह सब चौदहवी सदी के अन्त मे हुआ। धीरे-धीरे मास्को के शहज़ादे सारे देश के निरकुश शासक बन बैठे और अपने को ज़ार (सीज़र) कहने लगे। इनका नज़रिया और इनके दस्तूर ज्यादातर मगोली ही बने रहे और पश्चिमी यूरोप के साथ इनकी कोई बात मेल नही खाती थी। पश्चिमी यूरोप तो रूस को जगली समझता था। १६८९ ई० मे ज़ार पीटर, जिसे पीटर महान् कहा जाता है, गद्दी पर बैठा। इसने रूस का रुख पश्चिम की ओर फेरने का फैसला किया और यूरोपीय देशो की हालतो का अध्ययन करने के लिए वहाँ का लम्बा दौरा किया। जो कुछ उसने देखा उसमे से बहुत-सी बातो की उसने नकल की और अपने यहाँ के अमीर-वर्ग पर पश्चिमीकरण के अपने विचार लाद दिये। यह वर्ग न तो इन बातो को पसन्द करता था और न इनसे परिचित था। जनता तो बहुत पिछडी और दबी हुई थी ही, इसलिए पीटर के सामने इस बात का कोई सवाल ही नही था कि उसके सुधारो के बारे मे लोगो के क्या खयाल है। पीटर ने देखा कि उसके ज़माने के बडे राष्ट्रो की समुद्री ताकत बहुत बढी-चढी है और उसने समुद्री-शक्ति का महत्व समझा। लेकिन इतना लम्बा-चौडा होने पर भी रूस के पास उस समय कोई समुद्री दरवाज़ा नही था, सिवाय आर्कटिक सागर के जो करीब-करीब बेकार था। इसलिए पीटर उत्तर-पश्चिम मे बाल्टिक की ओर, और दक्षिण मे क्रीमिया की ओर बढा। वह क्रीमिया

तक नही पहुँच सका (उसके उत्तराधिकारी इसमे सफल हुए), पर वह स्वीडन को हराकर बाल्टिक तक ज़रूर पहुँच गया। बाल्टिक सागर से मिलने वाली फिनलैण्ड की खाडी के तट के पास, नीवा नदी के किनारे, उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग नामक नया पश्चिमी ढग का शहर कायम किया। उसने इसे अपनी राजधानी बनाया और इस तरह उन पुरानी परम्पराओ को तोडने की कोशिश की, जो मास्को के साथ चिपकी हुई थी। १७२५ ई० मे पीटर की मृत्यु हो गई।

इसके पचास-साठ वर्ष बाद, १७८२ ई० मे, रूस के एक दूसरे शासक ने इस देश को पश्चिमी ढग का बनाना चाहा। यह कैथरीन द्वितीय नामक महिला थी, यह भी 'महान्' कहलाती है। यह अनोखी स्त्री थी, जो मजबूत, बेरहम और योग्य ी, पर जिसके व्यक्तिगत जीवन के बारे मे बहुत गन्दी बातें मशहूर हैं। अपने पति ार की हत्या के ज़रिये ठिकाने लगाकर यह सारे रूस की निरकुश शासक बन बैठी ौर इसने चौदह वर्ष राज किया। यह सस्कृति की ज़ोरदार सरक्षक होने का ढोग रती थी और इसने वाल्तेयर से दोस्ती करनी चाही, और उसके साथ पत्र-व्यवहार ी किया। इसने कुछ हद तक वर्साई के फ्रान्सीसी दरबार की नक़ल की और शिक्षा ी हालत मे कुछ सुधार भी किये। लेकिन ये सब बातें ख़ाली ऊपर-ऊपर और दिखावे े लिए थी। संस्कृति की नकल एकदम से नही की जा सकती। उसकी जड तो मते-जमते जमती है। अगर कोई पिछडा हुआ राष्ट्र उन्नत राष्ट्रो की सिर्फ़ बन्दर ी तरह नकल करता है, तो वह असली सस्कृति के सोने व चाँदी को बदलकर ुलम्मे की चीज़ बना देता है। पश्चिमी यूरोप की सस्कृति कुछ समाजी हालतो र कायम थी। पीटर और कैथरीन ने ये हालतें पैदा करने की कोशिश तो नही ी, सिर्फ़ ऊपरी ढाँचे की नकल करनी चाही। नतीजा यह हुआ कि इन परिवर्तनो ा बोझ जनता पर पड गया और किसानो की गुलामी व ज़ार की निरकुश सत्ता और भी पक्की हो गई।

इसलिए ज़ारशाही रूस मे एक छटांक प्रगति के साथ-साथ एक मन प्रगति-विरोध भी चलता था। रूसी किसान करीब-करीब गुलाम थे। वे अपनी-अपनी बस्तियो से बँधे हुए थे और बिना खास इजाज़त के उन्हें नही छोड सकते थे। शिक्षा का दायरा ज़मीदार-वर्ग के कुछ अफसरो और दिमागी लोगो तक ही था। मध्यम-वर्ग करीब-करीब था ही नही, और जनता बिलकुल अपढ और पिछडी हुई थी। पिछले ज़माने मे कई बार किसानो के खूनी विद्रोह हुए थ, लेकिन ये विद्रोह बहुत ज्यादा अत्याचार की वजह से आँख मूँदकर किये गए थे और इन्हें कुचल दिया गया था। अब चोटी के लोगो मे कुछ शिक्षा के साथ-साथ पश्चिमी यूरोप मे फैले हुए कुछ विचार जनता मे भी बूँद-बूँद करके पहुँच गये थे। यह फ्रान्सीसी क्रान्ति का और बाद मे नेपोलियन का ज़माना था। तुम्हे याद होगा कि नेपोलियन के पतन के

बाद सारे यूरोप में प्रगति-विरोध की भावना फैल गई थी, और ज़ार अलेक्सान्दर प्रथम, तमाम बादशाहों के 'पवित्र' गठबन्धन के साथ, इस प्रगति-विरोध का नेता था। इसका उत्तराधिकारी इससे भी बदतर था। आखिरकार नौजवान अफ़सरों और दिमागी लोगों के एक गिरोह ने १८२५ ई० में बगावत कर दी। ये सब-के-सब ज़मींदार-वर्ग के थे और जनता की या फ़ौज की इनको कोई मदद न थी। ये लोग भी कुचल दिये गए। इनको 'दिसम्बरी' कहते हैं, क्योंकि इनका विद्रोह १८२५ ई० के दिसम्बर में हुआ था। यह विद्रोह रूस में राजनीतिक चेतना का पहला चिह्न था। इसके पहले गुप्त राजनीतिक समितियाँ बनी थीं, क्योंकि ज़ार की सरकार ने हर तरह की सार्वजनिक राजनीतिक हलचलों पर रोक लगा रखी थी। ये गुप्त समितियाँ जारी रहीं और क्रान्ति के विचार फैलते गये—खासकर दिमागी लोगों में और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में।

का नाम 'जनता का सकल्प' था। पर यह नाम एक झूठा दावा था, क्योकि जिस जनता से इसका ताल्लुक़ था, वह तो कुछ छोटे-छोटे गिरोह थे।

इस तरह इन जाँ-बाज़ नौजवान नर-नारियों के छोटे-छोटे गिरोहो और ज़ार की सरकार के बीच नई कशमकश शुरू हुई। रूस की बहुत-सी पराधीन नस्लो व अल्पसख्यक कौमो के लोगो के शामिल हो जाने से क्रान्तिकारियों की सेना बढती गई। सरकार इन नस्लो और अल्पसख्यक कौमो को सताती थी। ये लोग अपनी मातृभाषाओ का इस्तेमाल खुल्लमखुल्ला नही कर सकते थे, और बहुत-से दूसरे तरीको से भी इनको ज़लील और परेशान किया जाता था। पोलैण्ड, जो उद्योग-धन्धो मे रूस से आगे बढा हुआ था, रूस का सिर्फ एक प्रान्त बना दिया गया था और पोलैण्ड का तो नाम ही मिट गया था। पोली भाषा पर पाबन्दी लगा दी गई थी। जब पोलण्ड का यह हाल था तो दूसरी अल्पसख्यक कौमो व नस्लो के साथ इससे भी बुरा बर्ताव किया जाता था। १८६०-७० ई० मे पोलैण्ड मे बहुत बडी बगावत हुई, जो बडी बेरहमी के साथ दबा दी गई। पचास हज़ार पोल साइबेरिया भेज दिये गए। यहूदियो के 'पोग्रोम' यानी कत्लेआम लगातार हुआ करते थे और उनकी बहुत बडी सख्या दूसरे देशो मे जा बसी।

यह लाज़िमी ही था कि अपनी-अपनी नस्लो पर ज़ार के इस अत्याचार से गुस्से मे भरकर यहूदी व दूसरे लोग रूसी आतकवादियो मे शामिल हो गये। यह आतकवाद, जिसे अराजकतावाद—निहिलिज़्म, कहते थे, बढने लगा और, जैसा कि होना ही था, इसका मुकाबला खूनी दमन से किया गया। राजनीतिक कैदियो की लम्बी कतारें साइबेरिया के मैदानो मे पैदल घिसटने लगी, और कितने ही मौत के घाट उतार दिये गए। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए ज़ार-सरकार ने एक उपाय काम मे लिया, जिसे उसने गैरमामूली हद तक पहुँचा दिया। उसने आतकवादियो और क्रान्तिकारियो के बीच उकसानेवाले गुर्गे भेज दिये। ये लोग सचमुच बमकाण्डो को भडकाते थे और कभी-कभी खुद भी बम फेंकते थे, जिससे दूसरो को फाँस सकें। इनमे एक बहुत मशहूर गुर्गा अज़ेफ था, जो बम फेकनेवाले क्रान्तिकारियो का एक अगुआ था और साथ-ही-साथ रूसी खुफिया पुलिस का बडा अफसर भी था। इस किस्म की पूरी तरह तसदीक की हुई और भी घटनाएँ हैं, जिनमे ज़ार की खुफिया पुलिस के अफसरो ने दूसरो को फँसाने के लिए पुलिस के गुर्गों की हैसियत से बम फेंके।

जब ये सब बातें हो रही थी, रूस की सल्तनत पूर्व की दिशा मे बराबर बढती जा रही थी और, जैसा कि मैंने तुमको बताया है, अन्त मे प्रशा त सागर तक पहुँच गई थी। मध्य-एशिया मे रूसी लोग अफ़ग़ानिस्तान की सरहद तक पहुँच गये थे और दक्षिण मे तुर्की की सरहद को धकेल रहे थे। १८६० ई० के बाद से दूसरी बडी

तरक्क़ी यह होने लगी कि पश्चिमी उद्योग-धन्धे बढ़ने लगे। यह तरक्क़ी सिर्फ़ कुछ इलाकों में, पीटर्सबर्ग के आसपास और मास्को में हुई। कुल मिलाकर सारा देश पूरी तरह कृषि-प्रधान ही रहा। लेकिन जो कारखाने खुले, वे बिलकुल नये ढंग के थे और ख़ासतौर पर अंग्रेज़ों की देख-रेख में चलते थे। इसके दो नतीजे हुए। इन थोड़े-से औद्योगिक इलाक़ों में रूसी पूंजीशाही तेज़ी से बढ़ी और मज़दूरवर्ग भी इतनी ही तेज़ी से बढ़ गया। जैसा कि अंग्रेज़ी कारखानों में शुरू-शुरू में होता था, रूसी मज़दूरों का भयंकर शोषण होता था और उनसे दिन-रात काम लिया जाता था। लेकिन एक फ़र्क़ रूस में ज़रूर था। अब समाजवाद और साम्यवाद के नये विचार पैदा हो गये थे। रूसी मज़दूरों का दिमाग़ ताज़ा था और इन विचारों को पकड़ने के लिए तैयार था। अंग्रेज़ मज़दूर, जिसके पीछे पुरानी परम्पराएँ थीं, पुरातन-पन्थी बन गया था और लकीर का फ़क़ीर बना हुआ था।

ये नये विचार शक्ल लेने लगे और 'समाजी लोकतन्त्री मज़दूर-दल'[1] बना। यह मार्क्सवादी उसूलों के आधार पर बना था। इन मार्क्सवादियों ने आतंकवादी कार्रवाइयों में अपना विरोध ज़ाहिर किया। मार्क्स के उसूलों के मुताबिक़ मज़दूरों को पहले कार्रवाई के लिए तैयार किया जाना ज़रूरी था, क्योंकि इसी तरह की सामूहिक कार्रवाई से वे अपना लक्ष्य हासिल कर सकते थे। आतंकवादी तरीक़ों से व्यक्तियों को मार डालने से मज़दूर-वर्ग को इस तरह की कार्रवाई के लिए तैयार नहीं किया जा सकता था, क्योंकि लक्ष्य ज़ारशाही को उलट देना था—ज़ार या उसके मन्त्रियों की हत्या नहीं।

१८८० ई० के क़रीब एक नौजवान, जो बाद में सारी दुनिया में लेनिन के नाम से मशहूर हुआ, स्कूल का विद्यार्थी होते हुए ही क्रान्तिकारी हलचलों में हिस्सा लेता रहता था। १८८७ ई० में, जब उसकी उम्र सत्रह वर्ष की थी, उसे बड़ा भयंकर सदमा पहुँचा। उसका बड़ा भाई अलक्जान्दर, जिससे यह बहुत प्रेम करता था, आतंकवादी तरीक़े से ज़ार की हत्या की कोशिश में हिस्सा लेने के कारण फाँसी पर लटका दिया गया। इतना बड़ा सदमा पहुँचने पर भी लेनिन ने फिर भी कहा था कि आतंकवादी तरीक़ों से आज़ादी नहीं मिल सकती, वह तो जनता की सामूहिक कार्रवाई से ही मिलेगी। दुःख और ख़ामोशी के साथ दाँतों को भींचकर, यह नवयुवक अपनी पढ़ाई में लगा रहा, स्कूल की आख़िरी परीक्षा में बैठा और नामवरी के साथ पास हुआ। तीस वर्ष बाद होनेवाली क्रान्ति का नेता और निर्माता ऐसी ही मिट्टी का बना हुआ था।

मार्क्स का यह ख़याल था कि मज़दूर-वर्ग की जिस क्रान्ति की उसने भविष्य-

[1] Social Democratic Labour Party.

वाणी की थी वह जर्मनी-जैसे बढे-चढे औद्योगिक देश मे शुरू होगी, जहाँ का मजदूर-वर्ग बहुत बडा और सगठित है। रूस को तो वह इसके लिए सबसे कम सम्भावना वाली जगह समझता था, क्योंकि यह देश पिछडा हुआ और मध्यकालीन था। लेकिन रूस मे उसे नौजवान वफादार अनुयायी मिल गये, जिन्होंने उसकी बातों का बडी लगन के साथ इसलिए अध्ययन किया, कि उन्हे यह पता लग जाय कि वे अपनी बर्दाश्त से बाहर जलालत का अन्त किस तरह कर सकते है। चूँकि जारशाही रूस मे खुल्लमखुल्ला किसी हलचल का या सविधानी तरीको का कोई रास्ता उनके लिए नही था, इसलिए वे मजबूर होकर इस अध्ययन मे और आपसी चर्चाओ मे लग गये। ये लोग बहुत सख्या मे जेलो मे या साइबेरिया भेज दिये जाते थे या देश से निकाल दिये जाते थे। जहाँ कही वे जाते, मार्क्सवाद का अध्ययन और क्रान्ति े दिवस की तैयारी जारी रखते थे।

: १४४ :

१९०५ ई० की असफल रूसी क्रान्ति

१७ मार्च, १९३३

रूसी मार्क्सवादियो को, यानी समाजी लोकतन्त्री दल को, १९०३ ई० मे क सकट का सामना करना पडा। उन्हें एक ऐसे सवाल को सोचना और हल करना डा, जिसका हर ऐसे दल को कभी-न-कभी सामना करना और हल सोचना पडता , जो कुछ उसूलो और निश्चित आदर्शों की बुनियाद पर कायम हो। सच तो यह कि सब नर-नारियो को, जिनके कुछ उसूल और विश्वास होते हैं, अपनी जिन्दगी । कितनी ही बार इस तरह के सकटो का सामना करना पडता है। सवाल यह था क क्या वे अपने उसूलो पर पूरी तरह जमे रहें और मजदूर-वर्ग की क्रान्ति की तैयारी रें, या मौजूदा हालतो के साथ कुछ समझौता कर लें और इस तरह अन्त में गन्ति के लिए जमीन तैयार करें? यह सवाल पश्चिमी यूरोप के सब देशो मे ठा था और इसके कारण हर जगह समाजी लोकतन्त्र या दूसरे ऐसे ही दल मती-बढती कमजोर पड गये थे और उनमे अन्दरूनी झगडे पैदा हो गये थे। र्मनी मे मार्क्सवादियों ने बहादुरी के साथ सोलह आने यानी सम्पूर्ण क्रान्तिकारी वचार की घोषणा कर दी थी, लेकिन अमल मे वे मुलायम पड गये और उनका ख नर्म हो गया। फ्रान्स मे कितने ही समाजवादी नेता अपने दलो को धता ताकर मन्त्रि-मण्डलो मे शामिल हो गये। इटली, बेलजियम और दूसरी जगहो में नी यही हुआ। इग्लैण्ड मे मार्क्सवाद कमजोर था और वहाँ यह सवाल उठा ही ही, पर वहाँ भी मजदूर-दल का एक सदस्य मन्त्री बन गया।

रूस की स्थिति इससे जुदा थी, क्योंकि वहाँ पार्लमेण्टी कार्रवाई के लिए कोई गुंजायश नहीं थी। क्योंकि वहाँ पार्लमेण्ट ही नहीं थी। इतने पर भी वहाँ जारशाही के खिलाफ लड़ाई के 'ग़ैर-कानूनी' कहे जानेवाले तरीकों को छोड़ देने की, और कुछ दिनों तक चुपचाप सिद्धान्तों का प्रचार करने की, सम्भावना थी। लेकिन इस बारे में लेनिन के विचार साफ़ और निश्चित थे। वह किसी तरह की कमज़ोरी या समझौते के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि उसे डर था कि ऐसा करने से उनके दल में अवसरवादी लोग धड़ाधड़ आ घुसेंगे। वह पश्चिमी समाजवादी दलों के अपनाये गए तरीक़ों को देख चुका था और ये तरीक़े उसे जँचे नहीं थे। जैसा कि उसने बाद में एक दूसरे सिलसिले में लिखा था, "पार्लमेण्टवादियों की चालें, जिन पर पश्चिमी समाजवादी अमल करते थे, बहुत ही ज़्यादा भ्रष्ट करनेवाली थीं, क्योंकि इन्होंने हरेक समाजवादी दल को धीरे-धीरे एक छोटा 'टैमनी हॉल'[1] बना दिया था, जिसमें ऊपर चढ़नेवालों और ओहदों के पीछे दौड़नेवालों की भर-मार है।" लेनिन ने इस बात की परवाह नहीं की कि उसके साथ कितने लोग हैं, बल्कि एक बार तो उसने यहाँतक चेतावनी दी थी कि वह अकेला ही लड़ेगा। लेकिन उसकी हठ यह थी कि दल में वे ही लोग लिये जायें, जो पूरा साथ देनेवाले हों, जो क्रान्ति के लिए सब-कुछ निछावर करने को तैयार हों और जिन्हें जनता की वाहवाही लूटने की चिन्ता न हो। वह क्रान्ति के माहिरों की एक जमात तैयार करना चाहता था, जो आन्दोलन को मुस्तैदी से आगे बढ़ा सकें। सिर्फ़ सहानुभूति रखनेवालों और मुफ़्त के साथियों की उसे ज़रूरत नहीं थी।

यह ढंग अपनाना कठिन था और बहुत-से लोग इसे नादानी समझते थे। बहरहाल कुल मिलाकर जीत लेनिन के हाथ रही। समाजी लोकतन्त्री दल के दो टुकड़े हो गये और 'बोल्शेविकों' व 'मेनशेविकों' ये दो नये नाम पैदा हो गये, जो तबसे मशहूर हो गये हैं। कुछ लोगों के लिए आजकल 'बोल्शेविक' शब्द बड़ा भयंकर हो गया है, लेकिन इसका अर्थ सिर्फ़ 'बहुमत' है। 'मेनशेविक' का अर्थ 'अल्पमत' है। १९०३ ई० की उस फूट के बाद समाजी लोकतन्त्री दल में लेनिन के साथियों का बहुमत था, इसलिए यह बोल्शेविक, यानी बहुमत-दल कहलाया। यह बात याद रखने की है कि ट्रॉट्स्की, जिसकी उम्र उस समय चौबीस वर्ष की थी और जो १९१७ ई० की क्रान्ति में लेनिन का दाहिना हाथ बननेवाला था, मेनशेविकों की तरफ़ था।

ये चर्चाएँ और बहसें रूस से बहुत दूर लन्दन में होती थीं। रूसी दल की एक बैठक लन्दन में इसलिए करनी पड़ी थी, कि जारशाही रूस में उसके लिए

[1] टैमनीहॉल न्यूयार्क में है। यह राजनीतिक भ्रष्टाचार का एक प्रतीक बन गया है।

कोई जगह नही थी और उसके ज्यादा सदस्य या तो देश से निकाले हुए थे या साइ-बेरिया से भागे हुए क़ैदी थे।

इसी बीच खुद रूस मे ही आग सुलग रही थी। राजनीतिक हडतालें इसका सकेत थी। मज़दूरो की राजनीतिक हडताल का अर्थ है वह हडताल जो आर्थिक बेहतरी यानी मज़दूरी बढाने के वास्ते नही, बल्कि सरकार की किसी राजनीतिक कार्रवाई का विरोध करने के लिए की गई हो। इसका अर्थ होता है कि मज़दूरो मे कुछ राजनीतिक चेतना है। जसे, अगर भारतीय कारखानो के मज़दूर इसलिए हडताल करें कि गाधीजी गिरफ्तार कर लिये गए या कोई दूसरा भारी दमन हुआ, तो वह राजनीतिक हडताल कहलायेगी। अजीब बात तो यह है कि पश्चिमी यूरोप मे ताकतवर ट्रेड-यूनियनो और मज़दूर-सगठनो के होते हुए भी, इस किस्म की राजनीतिक हडतालें बहुत कम होती थी। यह भी हो सकता है कि ऐसी हडतालें वहाँ इसलिए बहुत कम होती थी कि मज़दूर-नेता अपने निहित स्वार्थों के कारण ढीले पड गये थे। रूस मे ज़ारशाही के लगातार जुल्मो की वजह से राजनीतिक पहलू हमेशा सबसे आगे रहता था। दक्षिण रूस मे १९०३ ई० मे ही कई राज-नीतिक हडतालें अपने-आप हो गई थी। यह जन-आन्दोलन बहुत बडे पैमाने पर हुआ, पर नेताओ के अभाव मे ढीला पड गया।

अगले साल सुदूर-पूर्व मे गडबडी मची। उत्तरी एशिया के मैदानो मे होकर ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरियन रेलवे की लम्बी पटरियाँ बिछाने का, १८९४ ई० के बाद से जापान के साथ मुठभेडो का, और १९०४-५ ई० के रूस-जापान-युद्ध का, एक पिछले पत्र मे, मैं ज़िक्र कर चुका हूँ। मैंने तुम्हें 'खूनी रविवार' के बारे मे भी बताया है, जो २२ जनवरी, १९०५ ई० को हुआ था जबकि ज़ार की फौज ने एक शान्त जुलूस पर गोलियाँ चलाई थी, जो एक पादरी को अगुआ बनाकर 'नन्हे पिता' ज़ार के पास रोटी माँगने गया था। इससे सारे देश मे नफरत की लहर फैल गई और कई राजनीतिक हडतालें हुईं। सबसे अखीर में सारे रूस मे आम हडताल हो गई। नये ढग की मार्क्सवादी क्रान्ति शुरू हो गई थी।

जिन मज़दूरो ने हडतालें की थी, खासकर पीटर्सबर्ग और मास्को-जैसे बडे केन्द्रो मे, उन्होंने हरेक ऐसे केन्द्र मे 'सोवियत' नाम का नया सगठन बनाया। शुरू-शुरू मे तो यह आम हडताल को चलानेवाली एक समिति ही थी। ट्रॉत्स्की पीटर्सबर्ग की सोवियत का नेता बन गया। ज़ार की सरकार बिलकुल हकबका गई और कुछ हद तक झुक भी गई और उसने सविधानी विधान-सभा और लोक-तन्त्री मताधिकार देने का वादा किया। ऐसा जान पडा मानो निरकुशशाही का गढ़ टूट गया हो। किसानो के पिछले विद्रोह जिसमे असफल रहे, आतकवादी अपने

बम से जिसमे सफल नही हुए, सविधानवादी मुलायम विचारोवाले उदार-दली लोग अपनी नपी-तुली दलीलो से जो नही कर सके, मज़दूरो ने वह अपनी आम हडताल से करके दिखा दिया। ज़ारशाही को अपने इतिहास मे पहली बार जनता के सामने सिर झुकाना पडा। बाद मे यह विजय खोखली साबित हुई। लेकिन फिर भी मज़दूरो के लिए इसकी याद अँधेरे मे रास्ता दिखानेवाली एक रोशनी के समान थी।

ज़ार ने एक सविधान-सभा—'दूमा'—देने का वादा किया था। 'दूमा' का अर्थ है विचार करने की जगह, पार्लमेण्ट की तरह कोरी बातें बनाने की जगह नही (फ्रान्सीसी भाषा के 'पार्ले' से यह शब्द बना है)। इस वादे से नर्म उदार-दली लोगो का जोश ठण्डा पड गया। वे राज़ी हो गए। उदार-दली हमेशा आसानी से राज़ी हो जाया करते हैं। ज़मीदार लोग क्रान्ति से डरकर कुछ सुधारो पर राज़ी हो गये, जिससे खुशहाल किसानो को फायदा पहुँचा। इसके बाद ज़ार की सरकार ने असली क्रान्तिकारियो का मुकाबला किया और उनकी कमज़ोरी को पहचानकर उससे पूरा फायदा उठाया। एक तरफ भूखे मज़दूर थे, जिन्हें राजनीतिक सविधानो मे इतनी दिलचस्पी नही थी, जितनी कि रोटी और ज्यादा मजूरी मे थी, और बहुत ग़रीब किसान थे जो 'हमे ज़मीन दो' का खतरनाक नारा उठा रहे थे। दूसरी तरफ क्रान्तिकारी लोग थे, जो खासकर राजनीतिक पहलू को देखते थे और पश्चिमी यूरोपीय नमूने की पार्लमेण्ट पाने की उम्मीद रखते थे और जनता की भावनाओ और असली माँगो के बारे मे कुछ नही सोचते थे। बहुत-से ऊँचे दर्जे के कारीगर मज़दूर, जो ट्रेड यूनियनो मे सगठित थे, क्रान्ति मे शामिल हो गये थे, क्योंकि वे राजनीतिक पहलू की कीमत समझते थे। लेकिन आमतौर से शहरो और गाँवो की जनता को इसमे कोई दिलचस्पी नही थी। इसपर ज़ार की सरकार और पुलिस ने वही पुराना ढग आज़माया, जो तमाम ज़ालिम हुकूमतें काम मे लिया करती हैं। इन्होने फूट पैदा कराई और इस भूखी जनता को कुछ क्रान्तिकारी दलो के खिलाफ भडका दिया। अभागे यहूदियो की रूसियो ने हत्या की और आर्मीनियो की तातारियो ने। क्रान्तिकारी विद्यार्थियो और ज्यादा गरीब मज़दूरो तक मे भी मुठभेडें हुई। देश के अलग-अलग भागो मे इस तरह क्रान्ति की कमर तोड देने के बाद सरकार ने क्रान्ति के दो तूफानी केन्द्र पीटर्सबर्ग और मास्को पर हमला किया। पीटर्सबर्ग की सोवियत आसानी से कुचल दी गई। मास्को मे फौज ने क्रान्तिकारियो की मदद की, और पाँच दिन की लडाई के बाद ही सोवियत पूरी तरह कुचली जा सकी। इसके बाद बदले की कार्रवाइयाँ शुरू हुई। कहा जाता है कि सरकार ने मास्को मे बिना मुकदमा चलाये एक हज़ार आदमियो को फाँसी दे दी और सत्तर हज़ार को जेल भेज दिया। सारे देश मे इन अलग-अलग बलवो मे करीब चौदह हज़ार आदमी मारे गये।

इस तरह हार और बर्बादी के साथ १९०५ ई० की रूसी क्रान्ति का अन्त हुआ। इसे १९१७ ई० मे सफल होनेवाली क्रान्ति की भूमिका कहा गया है। जनता की चेतना जगाई जा सके और वह बड़े पैमाने पर कार्रवाई कर सके, इससे पहले उसे "बड़ी-बड़ी घटनाओ की शिक्षा मिलनी ज़रूरी है।" १९०५ ई० की घटनाओ के रूप मे बहुत भारी कीमत चुकाकर जनता को यह तजुर्बा हासिल हुआ।

दूमा का चुनाव हुआ और मई, १९०६ ई० मे, इसकी बैठक हुई। दूमा क्रान्तिकारी जमात तो थी ही नही, लेकिन ज़ार की निगाह मे उसके विचार इतने ज्यादा उदार थे कि वह पसन्द नही करता था। इसलिए उसने ढाई महीने बाद इसे घर बैठा दिया। विद्रोह को कुचलने के बाद ज़ार को दूमा के गुस्से की कुछ परवाह नही रह गई थी। दूमा के बरखास्त किये हुए डिप्टी, जो मध्यम-वर्गी उदार सविधानवादी थे, फिनलैण्ड भाग गये। यह पीटर्सबर्ग के बहुत नज़दीक था और ज़ार की सत्ता के अधीन एक आधा-स्वाधीन देश था। इन्होने रूसियो से अपील की कि वे दूमा के बरखास्त किये जाने के विरोध मे टैक्स देने से इन्कार कर दें और जल व थल सेनाओ मे भर्ती रोकें। लेकिन ये डिप्टी लोग जनता के सम्पर्क मे बिलकुल नही थे, इसीलिए इनकी अपील का कोई असर नही हुआ।

दूसरे वर्ष, १९०७ ई० मे, दूसरी दूमा का चुनाव हुआ। पुलिस ने वाम-दली उम्मीदवारो के रास्ते मे हर तरह की कठिनाइयाँ पैदा करके, और कभी-कभी उन्हे गिरफ्तार करने की सहज तदबीर से, यह कोशिश की कि वे चुने न जायँ। फिर भी दूमा ज़ार को पसन्द नही आई और उसने इसे भी तीन महीने बाद बरखास्त कर दिया। अब ज़ार की सरकार ने चुनाव के कानून मे रद्दो-बदल करके तमाम नापसन्दो का चुनाव रोकने की कार्रवाई की। यह तरकीब सफल हुई और तीसरी दूमा बड़ी इज्ज़तदार व दकियानूसी जमात बन गई और लम्बे समय तक चली।

तुम्हें ताज्जुब होगा कि ज़ार ने इन कमज़ोर दूमाओ को बनाने की परेशानी क्यो उठाई, जबकि १९०५ ई० की क्रान्ति को कुचल डालने के बाद वह इतना ताकतवर हो गया था कि मनमाने ढग पर काम चला सकता था। इसकी कुछ वजह यह थी कि वह रूस की कुछ छोटी जमातो को, खासकर धनी ज़मीदारो और व्यापारियो को, राज़ी रखना चाहता था। देश की हालत भी खराब थी। इसमे शक नही कि जनता कुचल दी गई थी, लेकिन वह झुंझलाहट और क्रोध में भरी बैठी थी। इसलिए यह मुनासिब समझा गया कि कम-से-कम चोटी के धनवान लोगो को तो मुट्ठी मे रक्खा जाय। लेकिन इससे भी ज्यादा बड़ा सबब यूरोपीय देशो पर यह छाप डालना था कि ज़ार एक उदार सम्राट् है। ज़ार के बुरे शासन

और अत्याचारो की चर्चा पश्चिमी यूरोप मे हरेक की ज़बान पर थी। जब पहली दूमा बरखास्त की गई थी, तब शायद ब्रिटिश उदार दल के एक सदस्य ने कामन्स-सभा मे चिल्लाकर कहा था—"दूमा मर गई! दूमा जिन्दाबाद!" इससे ज़ाहिर होता है कि दूमा के लिए लोगो मे कितनी हमदर्दी थी। साथ ही उस समय ज़ार को रुपये की, और बहुत ज्यादा रुपये की, ज़रूरत थी। सूदखोर फ्रान्सीसी उसे रुपया उधार देते आये थे। सच तो यह है कि ज़ार ने १९०५ ई० की क्रान्ति को फ्रान्सीसी क़र्ज़ की मदद से ही कुचला था। यह एक अजीब बेमेल बात थी कि गणराज्यी फ्रान्स निरकुशशाही रूस को क्रान्तिकारियो और वामदली लोगो को कुचलने के लिए मदद दे! लेकिन गणराज्यी फ्रान्स का अर्थ था फ्रान्सीसी साहूकार। बहरहाल दिखावा तो कायम रखना ज़रूरी था और दूमा इसमे मदद करती थी।

इस बीच यूरोप की और ससार की हालत तेज़ी के साथ बदल रही थी। जापान के हाथो रूस की पराजय के बाद इग्लैण्ड के दिल से रूस का पहले जैसा डर जाता रहा था। हाँ, जर्मनी की शक्ल मे इग्लैण्ड के लिए एक नया डर पैदा हो गया था, उद्योगो मे भी, ओर समद्र पर भी, जिनपर कि अभीतक इग्लैण्ड का ही इजारा था। जर्मनी के डर से ही फ्रान्स ने रूस को इतनी उदारता से कर्ज़े दिये थे। 'जर्मनी का खतरा' कहलानेवाले इस डर ने दो पुराने शत्रुओ को आपस मे गले मिला दिया था। १९०७ ई० मे अग्रेज़ी-रूसी सन्धि पर दस्तखत हुए, जिससे अफ-गानिस्तान, ईरान और दूसरी जगहो मे इन दोनो के झगडे के तमाम खास-खास मुद्दे तय हो गये। बाद मे इग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस का तिहरा गुट बना। बलकान मे आस्ट्रिया रूस का मुकाबलेदार था और आस्ट्रिया जर्मनी का दोस्त था। इसी तरह कागज़ी तौर पर इटली भी जर्मनी का दोस्त था। इस तरह इग्लैण्ड, फ्रान्स व रूस का तिहरा गुट जर्मनी, आस्ट्रिया व इटली के तिहरे गुट के मुकाबले मे खडा हो गया। बडी-बडी फौजें लडाई की तैयारी करने लगी जब कि शान्ति-पसन्द लोग गहरी नीद मे सो रहे थे। उन्हें पता नही था कि भविष्य मे उनपर कितनी भयकर आफत आनेवाली है।

१९०५ ई० के बाद, रूस के ये वर्ष प्रगति-विरोध के वर्ष थे। बोलशेविको और दूसरे क्रान्तिकारी तत्वो को पूरी तरह कुचला जा चुका था। विदेशो मे लेनिन की तरह देश से निकाले हुए कुछ बोलशेविक अपना काम धीरज के साथ कर रहे थे। वे पुस्तकें और पुस्तिकाएँ लिखते थे और मार्क्स के मत को बदलती हुई हालतो के अनुसार ढालने की कोशिश करते थे। मेनशेविको और बोलशेविको के बीच की खाई बढती ही जाती थी। प्रगति-विरोध के इन वर्षों मे मेनशेविक ज्यादा सामने आये। हालांकि इसे अल्पसख्यक-दल कहा जाता था पर वास्तव मे उस समय इसकी ओर बहुत ज्यादा लोग थे। १९१२ ई० से रूसी दुनिया मे फिर

एक नया परिवर्तन धीरे-धीरे आने लगा और क्रान्तिकारी हलचलें बढ़ने लगीं और साथ-साथ बोलशेविकों का ज़ोर भी बढ़ा। १९१४ ई० के बीच में पेत्रोग्राद की हवा क्रान्ति की चर्चा से भरी हुई थी, और १९०५ ई० की तरह बहुत-सी राजनीतिक हड़तालें हुईं। तुर्रा यह कि पीटर्सबर्ग की सात सदस्योंवाली बोलशेविक समिति के बारे में बाद में यह भेद खुला कि इसके तीन सदस्य ज़ारशाही खुफ़िया विभाग में थे! क्रान्तियाँ कैसे मसाले की बनी होती हैं! बोलशेविकों की एक छोटी-सी जमात दूमा में भी थी और मालिनोवस्की इसका नेता था। बाद में पता चला कि यह भी पुलिस का गुर्गा था! और लेनिन इसपर भरोसा करता था।

अगस्त, १९१४ ई० में, महायुद्ध शुरू हुआ और इसकी वजह से लोगों का ध्यान युद्ध के मोरचों की तरफ़ खिंच गया, और जबरन भरती के कानून से खास-खास कार्यकर्ताओं को फ़ौज में भरती होना पड़ा, और क्रान्तिकारी आन्दोलन ठण्डा पड़ गया। युद्ध के विरोध में आवाज़ उठानेवाले बोलशेविकों की संख्या बहुत कम थी और वे बहुत ज्यादा बदनाम हो गये।

अब हम अपने मुकाम पर, यानी महायुद्ध पर, आ गये हैं और यहीं हमें रुक जाना चाहिए। लेकिन इस पत्र को खत्म करने के पहले मैं तुम्हारा ध्यान रूसी साहित्य और कला की ओर ले जाना चाहता हूँ। जैसा कि बहुत लोग जानते हैं, ज़ारशाही रूस में बहुत-सी बुराइयाँ होते हुए भी उसने अपनी निराली नृत्य-कला को कायम रक्खा। रूस में उन्नीसवीं सदी में मँजे हुए लेखकों का एक सिलसिला पैदा हुआ, जिन्होंने साहित्य की एक महान् परम्परा कायम की। लम्बे उपन्यासों और छोटी कहानियों, दोनों में इन लोगों ने अनोखी विद्वत्ता दिखाई। इस सदी के शुरू में बायरन, शेली और कीट्स का समकालीन पुश्किन हुआ, जो रूसी कवियों में सबसे महान् माना जाता है। उन्नीसवीं सदी के उपन्यास-लेखकों में गोगोल, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और चेखव मशहूर हैं। फिर, शायद इन सबसे महान् लियो तोल्स्तोय हैं, जिनमें केवल उपन्यास लिखने की ही प्रतिभा नहीं थी, बल्कि जो एक मज़हबी और रूहानी नेता भी हो गये और जिनका प्रभाव बहुत दूर तक फैला। यह प्रभाव सचमुच गांधीजी तक भी जा पहुँचा जो उस समय दक्षिण अफ्रीका में थे। ये दोनों एक-दूसरे की कद्र करते थे और आपस में पत्र-व्यवहार भी करते थे। अ-विरोध या अहिंसा में पक्का विश्वास इन दोनों को जोड़नेवाली कड़ी थी। तोल्स्तोय की राय में ईसा का बुनियादी उपदेश यही था और गांधीजी ने प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों से यही नतीजा निकाला था। तोल्स्तोय तो अपने पक्के विश्वासों को जीवन में उतारते हुए, पर दुनिया से विलग रहकर, भविष्य-द्रष्टा ही बने रहे, मगर गांधीजी ने इस नकारात्मक नज़र आनेवाली चीज़ को दक्षिण अफ्रीका व भारत की सामूहिक समस्याओं पर अमली तरीके से लागू किया।

उन्नीसवीं सदी के महान् रूसी लेखकों मे से एक अभीतक ज़िन्दा है। इसका नाम मैक्सिम गोर्की[1] है।

१४५

एक ऐतिहासिक युग का अन्त

२२ मार्च, १९३३

उन्नीसवी सदी! इन सौ वर्षों ने हमको कितने लम्बे समय तक अटका रक्खा! चार महीने से, समय-समय पर, मैं तुम्हें इस ज़माने के बारे मे लिखता आया हूँ और अब इससे कुछ ऊब गया हूँ, और जब तुम इन पत्रो को पढ़ोगी तो शायद तुम भी ऊब जाओगी। मैंने यह बताते हुए इसका बयान शुरू किया था कि यह एक बडा आकर्षक ज़माना था, लेकिन कुछ समय के बाद यह आकर्षण भी फीका पड जाता है। सच तो यह है कि हम उन्नीसवी सदी से आगे चले गये हैं और बीसवी सदी मे काफी आगे बढ आये हैं। १९१४ ई० हमारी हद थी। इसी साल, जैसी कि कहावत है, युद्ध के भेडिये यूरोप पर और ससार पर टूट पडे। इतिहास इस साल से एक नया मोड ले लेता है। यहाँ से एक ऐतिहासिक युग का अन्त और दूसरे की शुरुआत होती है।

उन्नीस-सौ चौदह! यह साल भी तुम्हारे जन्म से पहले का है और फिर भी इसे बीते उन्नीस वर्ष से कम ही हुए है। मनुष्य के जीवन मे भी यह कोई लम्बा ज़माना नही है, इतिहास की तो बात ही क्या। लेकिन इन वर्षों मे दुनिया इतनी ज्यादा बदल गई है और अब भी बदलती जा रही है कि मालूम होता है तबसे एक युग बीत गया है, और १९१४ ई० व उसके पहले के साल बहुत पुराने इतिहास मे चले गये हैं, और दूर अतीत के अग बन गये हैं, जिसके बारे मे हम पुस्तकों मे पढ़ते हैं, और जो हमारे ज़माने से बिलकुल अलग तरह का है। इन बडे-बडे परिवर्तनो के बारे में मुझे आगे चलकर तुम्हें कुछ बताना है। इस समय मैं तुम्हें एक चेतावनी दूंगा। तुम स्कूल मे भूगोल पढ रही हो, और जो भूगोल तुम पढ रही हो वह उस भूगोल से बिलकुल जुदा है जो १९१४ ई० के पहले मुझे स्कूल मे पढ़ना पडा था। और सम्भव है कि जो भूगोल तुम आज पढ रही हो उसकी बहुत-सी बातें तुम्हें बहुत जल्दी भूल जानी पडें, जैसाकि मुझे भी करना पडा था। ज़मीनो के पुराने निशान, पुराने देश, युद्ध के धुएँ मे ग़ायब हो गये और उनकी जगह नये-नये देश पैदा हो गये, जिनके नामों को याद रखना मुश्किल है। सैकडो शहरो के नाम रातो-रात बदल गये। सेण्ट पीटर्सबर्ग पहले पेत्रोग्राद हुआ और फिर

[1] इनकी १९३६ ई० में मृत्यु हो गई।

लेनिनग्राद; कुस्तुन्तुनिया को अब इस्तम्बूल कहना होगा, पेकिंग अब पेइपिंग कहलाता है; और बोहेमिया का प्रेग् अब चेकोस्लोवाकिया का प्राहा हो गया है।

उन्नीसवी सदी के बारे मे लिखे गये पत्रों मे मैंने महाद्वीपो और देशो का ज़रूरी तौर पर अलग-अलग बयान किया है, हमने जुदा-जुदा पहलुओ पर और जुदा-जुदा आन्दोलनो पर भी अलग-अलग विचार किया है। लेकिन तुम्हें ध्यान में रखना चाहिए कि यह सब-कुछ लगभग साथ-साथ होता रहा है और इतिहास सारे ससार के ऊपर अपने हज़ारो पाँवो को मिलाकर चलता रहा है। विज्ञान और उद्योग, राजनीति और अर्थशास्त्र, खुशहाली और ग़रीबी, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद, लोकतन्त्र और समाजवाद, डारविन और मार्क्स, आज़ादी और गुलामी, अकाल और महामारी, युद्ध और शान्ति, सभ्यता और बर्बरता—इन सबका इस विचित्र बनावट मे अपना-अपना स्थान रहा और एक की दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया हुई। इसलिए अगर हम इस ज़माने की या किसी दूसरे ज़माने की तसवीर अपने मन मे बनावें तो यह तसवीर बडी झिलमिल और काँच के रगीन टुकडोंवाली सैरबीन की तरह हरदम चलती-फिरती और बदलनेवाली होगी; हाँ, इस तसवीर के कई हिस्से ऐसे होंगे जिनपर ग़ौर करने से खुशी हासिल नही होगी।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस ज़माने की मुख्य विशेषता थी बडे पैमाने पर पानी, भाप, बिजली, वग़ैरा मशीनी शक्तियो के उत्पादन व उपयोग से पूँजीशाही उद्योगो की उन्नति। ससार के अलग-अलग भागो पर इसके अलग-अलग प्रभाव पडे और ये प्रभाव ज़ाहिरा तौर पर भी पडे थे और छिपे तौर पर भी। मसलन, लकाशायर मे मशीनी करघो के ज़रिये कपडे के उत्पादन ने भारत के भीतरी गाँवो की हालत उलट-पलट कर दी और वहाँ के कितने ही धन्धे खत्म कर दिये। यह पूँजीशाही उद्योग गतिशील था। अपनी इसी खासियत से वह दिन-पर-दिन बडा होता गया और उसकी भूख कभी नही बुझी। उसके निरालेपन का एक चिह्न था कमाने की हवस, यानी वह हमेशा इस कोशिश मे रहता था कि कमाये और जमा करे और फिर कमाये। व्यक्तियो की भी यह कोशिश थी और राष्ट्रो की भी। इसलिए इस ढाँचे के भीतर बढनेवाला समाज कमाने की हवसवाला समाज कहलाता है। लक्ष्य हमेशा यही रहा कि ज्यादा-से-ज्यादा उत्पादन हो और इस तरह पैदा होनेवाली फ़ालतू दौलत नये-नये कारखानो, रेल-मार्गों व ऐसे ही दूसरे उद्योगों को खडा करने मे लगती रहे और मालिको को तो मालदार बनाती ही रहे। इस लक्ष्य के पीछे दौड मे बाकी सब चीज़ो को कुर्बान कर दिया गया। मज़दूर लोग, जो उद्योगो की दौलत पैदा करते थे, इसका सबसे कम नफा उठा पाते थे। और इससे पहले कि इन मज़दूरो की, जिनमे स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, बुरी हालत मे कुछ सुधार हुआ, इन्हें

भयकर मुसीबतो से गुजरना पडा। इस पूंजीशाही उद्योग के, व उसमे लगे हुए राष्ट्रो के लाभ के लिए, उपनिवेशो व अधीन देशो को भी बलिदान का बकरा बनाया जा रहा था और निचोडा जाता था।

इस तरह पूंजीशाही अन्धे की तरह और बेरहमी के साथ आगे बढती गई, और उसकी पगडण्डियो मे उसके शिकारो की लाशें बिछ गई। लेकिन इतने पर भी उसकी यह कूच विजय की खुशी से भरी हुई प्रगति थी। विज्ञान की मदद पाकर वह बहुतेरी बातो मे सफल हुई, और इस सफलता ने ससार को चौंधिया दिया, और उसके कारण पैदा होनेवाली मुसीबतो का मानो बहुत-कुछ बदला चुका दिया। इत्तिफाकिया ही और सोच-समझकर कोई योजना बनाये बिना ही, उसने जीवन को सुखी बनानेवाली चीजे पैदा कर दी। लेकिन चमकदार सतह और अच्छाइयो के नीचे बुराइयो का ढेर था। वास्तव मे उसकी सबसे निराली चीज थी उसके पैदा किये हुए फर्क एक तरफ हद मे ज्यादा गरीबी और दूसरी तरफ हद से ज्यादा दौलत, गन्दी झोपडियाँ और आसमान छूनेवाली इमारतें, साम्राजी राज्य और पराधीन शोषित उपनिवेश। यूरोप तो हुकूमत करनेवाला महाद्वीप था, और एशिया व अफीका निचोडे जानेवाले महाद्वीप थे। इस सदी के बडे भाग मे अमेरिका ससार के घटनाचक्र से बाहर रहा, लेकिन वह तेजी से आगे बढ रहा था और जबर्दस्त साधन जुटा रहा था। यूरोप मे इग्लैण्ड इस पूंजीशाही का, और खासकर उसके साम्राज्यशाही पहलू का, दौलतमन्द, अभिमानी और अपने-आपे मे मस्त नेता था।

पूंजीशाही उद्योगो की दौड और लालची तासीर ने ही मामला इतना बिगाड दिया कि विरोध और आन्दोलन खडे हो गये और आखिर मे मजदूरो के हितो की रक्षा के लिए उनपर कुछ पाबन्दियाँ लग गई। शुरू के दिनो मे कारखाना-प्रणाली का अर्थ था मजदूरो का भयकर शोषण—खासकर स्त्रियो और बच्चो का। कारखानो मे काम करने के लिए स्त्रियो और बच्चो को मरदो से ज्यादा पसन्द किया जाता था क्योकि वे सस्ते मिल जाते थे और उन्हें बहुत ही गन्दी व मनहूस हालतो मे, कभी-कभी तो दिन भर मे अट्ठारह घण्टे, काम करने को मजबूर किया जाता था। अन्त मे राज्य ने दखल दिया और फैक्टरी कानून कहलानेवाले कानून पास किये, जिनमे रोजाना काम के घण्टे बाँध दिये गए और मजदूरो के लिए अच्छी हालतो पर जोर दिया गया। इन कानूनो के जरिये स्त्रियो और बच्चो की खासतौर पर रक्षा की गई। लेकिन कारखानेदारो के जोरदार विरोध के मुकाबले मे इन्हें पास करने के लिए बडी लम्बी और सख्त लडाई हुई।

पंजीशाही उद्योग का नतीजा यह भी हुआ कि समाजवादी और साम्यवादी खयाल फैले, जिन्होने नये उद्योग को तो मान लिया लेकिन पूंजीवाद की बुनियाद

को मानने से इन्कार कर दिया। मजदूरो के सगठन, ट्रेड-यूनियनें और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी बने और विकसित हुए।

पूँजीशाही से साम्राज्यशाही पैदा हुई, और पूर्वी देशो की बहुत अर्से से कायम आर्थिक हालतो पर पश्चिमी पूँजीशाही उद्योग की टक्कर ने वहाँ तबाही मचा दी। धीरे-धीरे इन पूर्वी देशो तक मे भी पूँजीशाही उद्योग जड पकड गया और बढने लगा। वहाँ पश्चिम के साम्राज्यवाद को चुनौती देनेवाला राष्ट्रवाद भी पैदा हो गया।

इस तरह पूँजीशाही ने ससार को हिला डाला, हालाँकि इसकी वजह से मनुष्य-जाति के लिए भयकर मुसीबते पैदा हुई, लेकिन फिर भी, कुल मिलाकर यह एक भली हलचल साबित हुई, कम-से-कम पश्चिम मे तो हुई ही। इसके पीछे-पीछे ससारी सुख के साधनो मे जबर्दस्त तरक्की हुई और इसने मनुष्य-जाति की खुशहाली का स्तर एकदम ऊँचा उठा दिया। साधारण आदमी का अब इतना ज्यादा महत्व हो गया जितना पहले कभी नही हुआ था। कहने को तो उसे वोट का अधिकार मिल गया था, लेकिन व्यवहार मे किसी भी चीज़ मे उसकी बात नही सुनी जाती थी। हाँ, फर्ज़ी तौर पर राज्य मे उसका दर्जा ऊँचा हो गया और इसके साथ उसमे आत्म-सम्मान की भावना भी बढी। अलबत्ता यह बात पश्चिमी देशो पर ही लागू होती थी जहाँ पूंजीशाही उद्योग ने अपनी जडें जमा ली थी। ज्ञान का बडा भारी भण्डार इकट्ठा हो गया और विज्ञान ने चमत्कार पैदा कर दिये और जीवन मे उसके हज़ारो उपयोगो ने हरेक की ज़िन्दगी आसान बना दी। चिकित्सा ने, खासकर उसके बीमारियाँ रोकनेवाले पहलू ने, और सार्वजनिक सफाई ने, बहुत-से रोगों को दबाना और निर्मूल करना शुरू कर दिया जो मनुष्य के लिए बला थे। मिसाल के लिए, मलेरिया का कारण और उसकी रोक-थाम का उपाय खोज निकाले गये। और अब इसमे शक नहीं कि अगर माकूल उपाय किये जायें तो यह रोग किसी भी इलाके मे निर्मूल किया जा सकता है। यह सही है कि भारत मे व दूसरी जगहो मे मलेरिया का अभी तक जोर है और करोडो इसके शिकार होते हैं, पर यह विज्ञान का क़सूर नही है, कसूर है लापरवाह सरकार का और अज्ञानी जनता का।

इस सदी की शायद सबसे ज्यादा मार्के की सूरत थी माल-ढुलाई व आवा-जाई के साधनो मे प्रगति। रेल, भाप के जहाज़, तार-प्रणाली और मोटरकार ने दुनिया को बिलकुल बदल दिया, और मनुष्य-जाति के सारे मामलो मे उसे पहले की बनिस्बत बहुत ही जुदा किस्म की जगह बना दिया। दुनिया सिकुडकर छोटी हो गई और उसके निवासी एक दूसरे के ज्यादा नज़दीक आ गये। अब वे एक दूसरे से ज्यादा मिल-भेंट सकते थे और इस आपसी परिचय के कारण अज्ञान से पैदा होनेवाली कई दीवारें ढह गईं। एक-से विचार फैलने लगे, जिनसे सारे ससार मे कुछ हद तक

समानता पैदा होने लगी। जिस जमाने का हम जिक्र कर रहे हैं, उसके ठेठ अन्त मे बेतार-प्रणाली और उडन-कला ने कदम रक्खा। अब तो ये काफी साधारण चीजें हो गई हैं। तुम कई बार हवाई-जहाजो मे उडी हो और तुमने बिना कुछ ध्यान दिये उनमे बैठकर यात्राएँ की हैं। बेतार-प्रणाली और उडन-कला का विकास बीसवी सदी की और हमारे ही जमाने की बातें हैं। लोग गुब्बारो मे बैठकर तो अक्सर उडे थे, लेकिन कथा-कहानियो मे अलिफलैला के उडन-ग़लीचे और भारतीय कहानियो के उडन-खटोले जैसी चीजो पर बैठकर उडनेवालो के सिवाय हवा से भारी चीज पर कोई आसमान मे नही उडा था। हवा से भारी मशीन पर आकाश मे उडनेवालो मे सबसे पहले व्यक्ति दो अमेरिकी भाई विल्बर राइट और ओरविले राइट थे। आजकल का हवाई जहाज इसी मशीन की औलाद है। दिसम्बर, १९०३ ई० मे वे तीन सौ गज से भी कम उडे, लेकिन फिर भी उन्होंने वह कर दिखाया, जो पहले कभी नही हुआ था। इसके बाद उडन-कला मे लगातार प्रगति होती रही और १९०९ ई० मे जब ब्लेरिओ नामक फ्रान्सीसी, इग्लिश चैनल के ऊपर उडकर फ्रान्स से इग्लैण्ड पहुँचा था, तब जो खलबली मची थी, वह मुझे अभी तक याद है। इसके कुछ ही दिन बाद मैंने पेरिस मे एफिल टावर के ऊपर सबसे पहला हवाई जहाज उडते देखा था। कई वर्ष बाद, मई, १९२७ ई० मे, जब चार्ल्स लिण्डबर्ग आतलान्तिक सागर को लांघ कर चाँदी के तीर की तरह चमचमाता हुआ आया और पेरिस के हवाई अड्डे ला-बूर्जे पर उतरा, तब तुम और मैं पेरिस मे ही मौजूद थे।

ये तमाम चीजें इस जमाने की देन हैं जबकि पूंजीशाही उद्योगो का बोलबाला था। इस सदी मे मनुष्य ने बेशक निराले काम किये। इस जमाने की एक देन और भी है। जैसे-जैसे लालची और हडपखोर पूंजीशाही बढी वैसे ही सहकारी आन्दोलन मे उसे रोकने का उपाय निकाला गया। माल को मिलकर खरीदने-बेचने और मुनाफो को आपस मे बाँटने के लिए लोगो का यह एक मेल था। साधारण पूंजीशाही तरीका गर्दन-मार होडबाजी का तरीका था, जिसमे हर व्यक्ति दूसरे से आगे जाने की कोशिश करता था। सहकारी तरीके का आधार था आपसी सहकार। तुमने बहुत-से सहकारी भण्डार देखे होंगे। यूरोप मे उन्नीसवी सदी मे यह सहकारी आन्दोलन बहुत बढा। शायद सबसे ज्यादा सफलता इसे डेनमार्क के छोटे-से देश मे मिली।

राजनीतिक मैदान मे लोकतन्त्री विचारो की बढोतरी हुई और अपनी-अपनी पार्लमेण्टो व विधान-सभाओं के लिए वोट देने के हक दिन-पर-दिन ज्यादा लोगो को मिलते गये। पर यह मताधिकार सिर्फ पुरुषो के लिए ही था, और स्त्रियाँ, चाहे वे दूसरी तरह से कितनी ही लायक क्यो न हो, इस हक को पाने के

लिए ठीक या काफी समझदार नही मानी गई। बहुत-सी स्त्रियो ने इसपर सख्त नाराजी जाहिर की और बीसवी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड मे स्त्रियो ने एक जबर्दस्त आन्दोलन खड़ा किया। यह नारी मताधिकार आन्दोलन[1] कहलाया, और जब पुरुषो ने इसे मामूली चीज समझा और इसपर कुछ ध्यान नही दिया तो मताधिकारवादी स्त्रियो ने उन्हे मजबूर करने के लिए जोर-जबर्दस्ती के और मार-पीट के तरीके अपनाये। लोगो का ध्यान खीचनेवाली हरकतो से ये पार्लमेण्ट की कार्रवाई मे गडबडी डालती थी और ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रियो पर वार करती थी, जिसकी वजह से इन मन्त्रियो को हरदम पुलिस की हिफाजत मे रहना पडता था। सगठित हिंसा भी बडे पैमाने पर हुई और बहुत-सी स्त्रियां जेलो मे डाल दी गई, जहाँ उन्होने भूख-हडतालें शुरू कर दीं। इसपर उन्हें छोड दिया गया, लेकिन ज्योंही वे चगी हुई उन्हे फिर कैद कर दिया गया। इस तरह की कार्रवाई को जायज करने के लिए पार्लमेण्ट ने एक विशेष कानून बनाया जिसे आमतौर पर लोग 'बिल्ली और चूहे का कानून'[2] कहते थे। मताधिकारवादी स्त्रियो की ये तरकीबें सभी लोगो का ध्यान खीचने मे सफल हुई। कुछ वर्षों मे, महायुद्ध के शुरू होने के बाद, स्त्रियो को वोट देने का हक मजूर कर लिया गया।

स्त्रियो का यह आन्दोलन, जिसे अक्सर 'नारीवादी आन्दोलन'[3] कहा जाता है, सिर्फ वोट का ही हक नही माँगता था। उसकी माँग थी पुरुषो के साथ हरेक बात मे बराबरी का हक। कुछ दिन पहले तक पश्चिम मे स्त्रियो की दशा बहुत बुरी थी। उन्हे कोई हक नही थे। कानून के मातहत अग्रेज स्त्रियो को जायदाद रखने का भी हक नही था, सब चीजो पर पति का हक होता था, यहाँ तक कि स्त्री की कमाई पर भी। इस तरह कानून के लिहाज से उनकी दशा उससे भी बदतर थी जो आज हिन्दू कानून के मातहत स्त्रियो की है, और यह तो काफी बुरी है। सच तो यह है कि पश्चिम मे स्त्रियां एक पराधीन जाति थीं, जैसी कि ढेरो बातो मे आज भारतीय स्त्रियाँ हैं। मताधिकार आन्दोलन शुरू होने से बहुत पहले ही स्त्रियो ने दूसरे मामलो मे पुरुषो की बराबरी के बर्ताव की मांग की थी। आखिर १८८०-९० ई० के बीच मे इग्लैण्ड मे स्त्रियो को जायदाद रखने के कुछ हक दिये गए। स्त्रियो को इसमे सफलता कुछ तो इसलिए मिली कि कारखानेदार इसके पक्ष मे थे। उन्होने सोचा कि अगर स्त्रियाँ अपनी कमाई की मालिक हो जायँगी तो इससे उन्हें कारखानो मे काम करने का लालच होगा।

[1] Woman Suffrage Movement

[2] Cat and Mouse Act

[3] Feminist Movement

दस्तन्दाजी को बर्दाश्त कर सकते थे। उनके बर्ताव पर कोई अगर रोक थी तो वह नतीजो का डर थी। इसलिए कुछ हद तक बलवानो का आदर किया जाता था और निर्बलो को डराया-धमकाया जाता था।

राष्ट्रो की यह आपसी लाग-डाँट वास्तव मे पूँजीशाही उद्योग की बढ़ोतरी का लाजिमी नतीजा थी। हम देख चुके हैं कि मण्डियो और कच्चे मालो की लगातार बढ़ती हुई माँग ने पूँजीवादी शक्तियो को किस तरह साम्राज्य के लिए दुनिया के चारो ओर दौड लगाने को मजबूर कर दिया था। उन्होंने एशिया और अफ्रीका मे दौड-भाग मचाई और जितने प्रदेश पर वे कब्जा कर सकती थी, उतने पर, उससे पूरा फायदा उठाने के लिए, कब्जा कर लिया। जब ये साम्राज्यशाही शक्तियाँ सारी दुनिया पर छा गई और पैर फैलाने को कोई जगह न रही, तो ये एक दूसरी को भेडियो की तरह घूरने लगी और एक-दूसरी की मिल्कियतो पर ललचाने लगी। एशिया और अफ्रीका और यूरोप मे इन बडी शक्तियो के बीच अक्सर मुठभेडे होती रहती थी और गुस्से की आग भडक उठती थी और ऐसा लगता था मानो युद्ध छिडने ही वाला है। इनमे से कुछ शक्तियाँ दूसरी शक्तियो से अच्छी हालत मे थी, और उद्योगो मे अगुआ और बहुत बडे साम्राज्यवाला इग्लैण्ड, इनमे सबसे ज्यादा भाग्यशाली नजर आता था। लेकिन इग्लैण्ड को भी सन्तोष नहीं था, क्योकि जितना ज्यादा किसीको मिलता है उतनी ही उसकी हवस भी बढ जाती है। उसके 'साम्राज्य-निर्माताओ' के दिमागो मे साम्राज्य के विस्तार की खूब लम्बी-चौडी योजनाएँ चक्कर काटती रहती थी, मुसलमान काहिरा से उत्तमाशा अन्तरीप तक, उत्तर से दक्षिण तक, अटूट फैले हुए अफ्रीकी साम्राज्य की योजनाएँ। उद्योगो मे जर्मनी व सयुक्त राज्य अमेरिका की मुकाबलेदारी भी इग्लैण्ड को परेशान कर रही थी। ये देश पक्का माल इग्लैण्ड से सस्ता तैयार कर रहे थे और इस तरह इंग्लैण्ड के हाट-बाजार उससे चुपचाप छीनते जा रहे थे।

जब इतना भाग्यशाली इग्लैण्ड ही सन्तुष्ट नही था, तो दूसरे राष्ट्र तो और भी ज्यादा असन्तुष्ट थे। खासकर जर्मनी, जो बडी शक्तियो मे बहुत देर मे शामिल हुआ था और जिसने देखा कि सारे पके बेर तो पहले ही लुट चुके है। इसने विज्ञान, शिक्षा व उद्योगो मे जबर्दस्त प्रगति की थी और साथ ही बडी बढिया फ़ौजें तैयार कर ली थी। अपने मजदूरो के लिए समाजी-सुधार के कानूनो मे भी यह इग्लैण्ड-समेत अन्य दूसरे देशो से आगे था। जिस समय जर्मनी मैदान मे आया उस समय, हालाकि दुनिया के बडे हिस्से पर दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियो ने क़ब्जा कर लिया था और दूसरो के शोषण से लाभ उठाने के रास्ते बँध चुके थे, फिर भी कठोर मेहनत और आत्म-अनुशासन के बल पर जर्मनी इस औद्योगिक पूँजीशाही के युग की सबसे ज्यादा ताकतवर और कारगर शक्ति बन गया। उसके

व्यापारी जहाज हर बन्दरगाह मे नजर आने लगे और उसके बन्दरगाह हैम्बुर्ग व ब्रीमेन ससार के सबसे बडे बन्दरगाहो मे गिने जाने लगे। जर्मनी का व्यापारी जहाजी बेडा सिर्फ दूर देशो को जर्मनी का माल ही नही ले जाता था, बल्कि उसने दूसरे देशो के माल ढोने के धन्धे पर भी कब्जा कर लिया था।

यह नया साम्राज्यशाही जर्मनी इस सफलता को हासिल करके और अपने बल को पूरी तरह महसूस करके, अगर उन बन्दिशो पर खीझ रहा था, जो उसकी आगे की बढोतरी पर लगादी गई थी, तो इसमे अचम्भे की बात नही है। जर्मन साम्राज्य का नेता प्रशिया था और प्रशियाई जमीदार-वर्ग व सैनिक-वर्ग, जिनके हाथो मे सत्ता थी, नम्रता के लिए कभी मशहूर नही रहे। ये लोग सरकश थे और अपनी बेदर्द सरकशी पर घमण्ड करते थे। हॉयनत्सालर्न घराने के कैसर विल्हैम द्वितीय के रूप मे उन्हे अपने इस गुस्ताख और अकडबाज स्वभाव का आदर्श नेता भी मिल गया था। कैसर चारो तरफ जाहिर करता फिरता था कि जर्मनी ससार का नेता बननेवाला है, कि वह धरती पर अपने लिए महत्व की जगह चाहता है, कि उसका भविष्य समुद्र पर निर्भर है, और यह कि अपनी सस्कृति दुनियाभर मे फैलाना उसका मिशन है।

इससे पहले ये तमाम बातें दूसरे लोग व दूसरे राष्ट्र भी कह चुके थे। इग्लैण्ड का 'गोरे आदमी का बोझ' और फ्रान्स का 'सभ्यता सिखानेवाला मिशन' जर्मनी की सस्कृति के ही भाई-बन्द थे। इग्लैण्ड का दावा था कि समुद्रो पर उसकी पूरी प्रभुताई है, और यह सही भी था। जो दावा कई अग्रेजो ने इग्लैण्ड के लिए किया था, वही कैसर ने जर्मनी के लिए जरा भद्दे और लफ्फाजी ढग से कहा। फर्क इतना ही था कि इग्लैण्ड काबिज था और जर्मनी नही था। मगर इसपर भी कैसर के लफ्फाजी भरे भाषणो ने अग्रेजो को बहुत चिढा दिया। कोई दूसरा राष्ट्र दुनिया मे अगुआ राष्ट्र बनने का विचार तक करे, यह खयाल उनके लिए बहुत ही नागवार था। यह एक किस्म का कुफ्र था और अपने-आपको अगुआ राष्ट्र समझनेवाले इग्लण्ड को जाहिरा चुनौती थी। और सौ वर्ष पहले ट्रेफल्गर मे नेपोलियन की पराजय के बाद से तो समुद्र पर मानो इग्लैण्ड का ही इजारा था। इसलिए इग्लैण्ड को यह बात बिलकुल बेजा मालूम होती थी कि जर्मनी या कोई दूसरा राष्ट्र उसकी इस हैसियत को चुनौती दे। अगर इग्लैण्ड की समुद्री ताकत कम हो जाय तो उसके दूर-दूर बिखरे हुए साम्राज्य का क्या होगा?

कैसर की चुनौतियाँ और धमकियाँ तो काफी बुरी थी ही, इससे भी बुरी बात यह थी कि उसने इनके बाद सचमच अपना जगी-बेडा बढा लिया। इससे अग्रेजो के मिजाज और औसान बिगड गये और वे भी अपना जगी-बेडा बढाने लगे।

इस तरह दोनो के बीच समुद्री-ताकत की दौड शुरू हो गई और दोनो देशो के अखबारो ने लगातार चीख-पुकार मचा दी जिसमे ज्यादा-से-ज्यादा जगी-जहाजो की माँग की गई और राष्ट्रीय वैर-भाव भडकाया गया।

यूरोप मे यह खतरे का प्रदेश था। बहुत-से और भी थे। फ्रान्स और जर्मनी तो पुराने मुकाबलेदार थे ही, और फ्रान्सीसियो के दिलो मे १८७० ई० की पराजय की कडवी यादें कॉंटे की तरह खटक रही थी और वे बदला लेने के सपने देख रहे थे। बलकानी देश सदा से बारूद का ढेर थे, जहाँ कितने ही स्वार्थ टकरा रहे थे। पश्चिमी एशिया मे अपना प्रभाव बढाने के खयाल से जर्मनी ने भी तुर्की से दोस्ती करना शुरू किया। बगदाद को कुस्तुन्तुनिया और यूरोप से जोडने वाला एक रेलमार्ग इस शहर तक बनाने की तजवीज हुई। यह तजवीज बहुत अच्छी थी, लेकिन चूँकि जर्मनी इस बगदाद रेलवे पर काबू रखना चाहता था, इसलिए राष्ट्रीय द्रोह भडक उठे।

धीरे-धीरे युद्ध का भय सारे यूरोप मे फैल गया और शक्तियो ने अपने-अपने बचाव के लिए गुट बनाने चाहे। बडी शक्तियाँ दो गिरोहो मे बँट गईं, एक तो जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली का तिहरा गुट और दूसरा इग्लैण्ड, फ्रान्स और रूस का तिहरा समझौता। इटली तिहरे गुट का बहुत ढीला-ढाला सदस्य था और जब युद्ध हुआ तो वह सचमुच अपने वचन को भग करके दूसरे पक्ष से जा मिला। आस्ट्रिया के साम्राज्य के सारे अजर-पजर हिल रहे थे, नकशे पर तो वह बडा दिखाई देता था लेकिन आपस मे विरोधी तत्वो से भरा था, और विज्ञान, सगीत व कला का महान् केन्द्र, सुन्दर वेनिस, उसकी राजधानी था। मतलब यह कि अमल मे तिहरे गुट का अर्थ था जर्मनी। हाँ, आजमायश का वक्त आने से पहले कोई नही जानता था कि इटली और आस्ट्रिया का क्या रुख होगा।

बस, यूरोप मे भय का राज हो रहा था और भय बडी भयकर चीज़ है। हर देश युद्ध की तैयारी करता चला जा रहा था और हथियारो से खूब लैस बन रहा था। शस्त्रीकरण की दौड मची हुई थी और इस होड का विचित्र पहलू यह होता है कि अगर एक देश अपने युद्ध के साधनो मे बढोतरी करता है तो दूसरे देशों को भी वैसा ही करने पर मजबूर होना पडता है। हथियार, यानी तोपें, जगी-जहाज़, गोला-बारूद व युद्ध का दूसरा सब सामान तैयार करनेवाली खानगी कम्पनियो ने सहज ही खूब मुनाफे लूटे ताकि चकमे मे आकर सारे देश उनसे खूब हथियार खरीदें। हथियार बनानेवाली ये कम्पनियाँ बडी मालदार और प्रभावशाली थीं और इग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी व दूसरे देशो के बहुत-से ऊँचे ओहदेदार और मन्त्री इनके हिस्सेदार थे और इसलिए इनकी मालदारी मे उनका स्वार्थ था। हथियार बनानेवाली कम्पनियाँ मालदार तभी होती है, जब युद्ध के अन्देशे हो या युद्ध हो।

इसलिए बडे अचम्भे की स्थिति यह थी कि कई सरकारो के मन्त्रियो व ऊँचे ओहदेदारो का माली स्वार्थ इसमे था कि युद्ध हो। अलग-अलग देशो के युद्ध-खर्च को बढावा देने के लिए ये कम्पनियाँ दूसरी तरकीबें भी इस्तेमाल करती थी। जनमत पर असर डालने के लिए वे अखवारो को खरीद लेती थीं और अक्सर सरकारी अफसरो को रिश्वतें देती थी और जनता को भडकाने के लिए झूठी अफवाहें फैलाती थी। युद्ध-सामग्री बनाने का उद्योग भी कैसी भयकर चीज है, जो दूसरो की मौत पर जीता है, और जो युद्ध से मुनाफा कमाने के लिए युद्ध के हत्याकाण्डो को बढावा देने व पैदा करवाने मे ज़रा नही हिचकिचाता। इसी उद्योग ने १९१४ ई० के युद्ध को जल्दी लाने मे कुछ हद तक मदद पहुँचाई थी। आज भी वह यही खेल खेल रहा है।

युद्ध की इस चर्चा के दौरान मैं तुम्हें शान्ति की एक कोशिश की बात बतलाना चाहता हूँ। और किसी ने नही बल्कि रूस के ज़ार निकोलस द्वितीय ने शक्तियो के सामने यह सुझाव रक्खा कि वे विश्वशान्ति का युग लाने के लिए आपस मे मिलकर बातचीत करें। यह वही ज़ार था जो अपने साम्राज्य मे हरेक उदारवादी आन्दोलन को कुचल रहा था और अपने क़ैदियो से साइबेरिया को आवाद कर रहा था! उसका शान्ति की बात चलाना एक तरह से मज़ाक-सा लगता है। लेकिन शायद उसकी नीयत ईमानदारी की थी क्योकि उसके लिए शान्ति का मतलब यह था कि मौजूदा हालत और उसकी निरकुशशाही हमेशा क़ायम रहें। उसके बुलावे पर हॉलैण्ड के हेग नगर मे १८९९ व १९०७ ई० मे दो शान्ति-सम्मेलन हुए। इसमे ज़रा भी महत्व की कोई कारंवाई नही हुई। शान्ति एकदम आकाश से नही टपक सकती। वह तो तभी आ सकती है जब झगडो की जडें उखाड फेंकी जायें।

मैंने तुम्हें बडी शक्तियो की लाग-डांटो और अन्देशो के बारे मे बहुत-कुछ बतलाया है। बेचारे छोटे राष्ट्रो पर कोई ध्यान नही देता है, सिवाय उनके जो खटखटपन करें। यूरोप के उत्तर मे कुछ छोटे-छोटे देश हैं, जो ध्यान देने लायक हैं, क्योकि ये लालची और हडपखोर बडी शक्तियो से बिलकुल दूसरी किस्म के हैं। ये हैं स्केन्दिनेविया मे नॉर्वे व स्वीडन और इनके ठीक नीचे डेनमार्क। ये उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से ज्यादा दूर नही हैं, ये बहुत ठण्डे हैं और यहाँ का जीवन बहुत कठिन है। यहाँ सिर्फ छोटी-सी आबादी का ही गुज़ारा हो सकता है। लेकिन चूंकि ये नफरत, डाह और लाग-डांटवाली बडी शक्तियो के दायरे से बाहर हैं, इसलिए चैन की ज़िन्दगी बिताते हैं और अपना सारा ज़ोर सभ्य रास्तो मे लगाते है। वहाँ विज्ञान पनपता है और बढ़िया साहित्य का विकास हुआ है। नॉर्वे व स्वीडन मिला दिये गए थे और १९०५ ई० तक दोनो का एक ही राज्य बना हुआ था। लेकिन इस वर्ष

मे नॉर्वे ने विलग होने का और अपनी अलग हैसियत कायम रखने का फ़ैसला किया। इसलिए दोनो देशो ने अपना आपस मे समझौता करके अपना रिश्ता तोड देने का फ़ैसला किया और तबसे दोनो अलग-अलग स्वाधीन राज्य चले आ रहे हैं। न तो युद्ध हुआ और न एक देश ने दूसरे पर दबाव डालने की कोशिश की। दोनो दोस्ती के साथ पडौसियो की तरह रहते चले आ रहे हैं।

छोटे-से डेनमार्क ने अपनी स्थल-सेना व जल-सेना दोनो को तोडकर क्या बडे और क्या छोटे सभी देशो के सामने एक मिसाल पेश कर दी है। यह किसान-राष्ट्र है, छोटे-छोटे किसानो का देश है, जहाँ धनवान और ग़रीब में ज्यादा फर्क नही है। इस बराबरी के दर्जे की खास वजह है वहाँ सहकारी आन्दोलन की खूब उन्नति।

लेकिन यूरोप के सारे छोटे देश डेनमार्क की तरह नेकी के बढ़िया नमूने नहीं हैं। हॉलैण्ड, जो खुद बहुत छोटा है, अभी तक इन्दोनेशिया (जावा, सुमात्रा, वग़ैरा) मे एक बडे साम्राज्य का स्वामी बना हुआ है। उसका पडौसी बेलजियम अफ्रीका मे कागो को चूस रहा है। पर यूरोपीय राजनीति मे इसका असली महत्व इसकी स्थिति के सबब से है। यह करीब-करीब फ्रान्स और जर्मनी के रास्ते मे पडता है और इन दोनो देशो के बीच कोई युद्ध हो तो उसमे इसका घिसट आना एक तरह से लाजिमी ही है। तुम्हें याद होगा कि वाटरलू बेलजियम मे ब्रुसेल्स के पास है। इसी कारण बेलजियम 'यूरोप का अखाडा'[१] कहलाया करता था। मुख्य बडी शक्तियो ने आपसी करार कर लिया कि अगर युद्ध हो तो बेलजियम को तटस्थ माना जाय लेकिन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, जब युद्ध सचमुच छिड गया तो इस करार और वादे की धज्जियाँ उड गईं।

मगर यूरोप व दूसरी जगहो के तमाम छोटे देशो मे सबसे ज्यादा झगडालू देश बलकान मे है। पीढियो की अदावत और आपसी लाग-डाँट जिनके पीछे लगी हुई है ऐसी कौमी व नस्लो की यह बेमेल खिचडी आपसी बैर व लडाई-झगडों से भरी हुई है। १९१२-१३ ई० के बलकानी युद्धो मे बेहद खून-खराबी हुई थी और थोडे-से समय मे व छोटे-से क्षेत्र मे धन-जन की ज़बर्दस्त हानि हुई। कहते हैं कि बलगारियो ने शरणार्थी और भागते हुए तुर्कों पर भयकर जुल्म किये थे। बहुत वर्ष पहले खुद तुर्कों का लेखा भी बहुत खराब रहा था। सर्विया (आजकल युगोस्लाविया का एक भाग) ने भी हत्याओ के लिए बडी बुरी बदनामी हासिल की थी। देशभक्त कहलानेवालो का गुप्त हत्याकारी दल, जिसका नाम 'काला हाथ'[२] था और जिसके सदस्यो मे राज्य के कई ऊँचे ओहदेदार शामिल थे, निराले क़िस्म की

---

[१] Cock-pit of Europe

[२] Black Hand

दिल दहलानेवाली हत्याओ के कुछ काण्डो के लिए ज़िम्मेदार था। देश के बादशाह और बेगम को, यानी बादशाह अलक्सान्दर और महारानी द्रागा को, बेगम के भाइयो, प्रधान-मन्त्री व कुछ दूसरे लोगो के साथ, कमीने तरीके से कत्ल कर दिया गया। यह सिर्फ राजमहल की क्रान्ति थी, और एक दूसरा व्यक्ति बादशाह बना दिया गया।

इस तरह यूरोप के आकाश मे बादलो की गरज व बिजली की कौंध के साथ बीसवी सदी की शुरुआत हुई, और जैसे-जैसे साल बीतते गये मौसम और भी ज्यादा तूफानी होता गया। पेचीदगियाँ और उलझनें बढ़ती गईं और यूरोप के जीवन मे दिन-पर-दिन गाँठें बँधती गईं—जो गाँठें आखिर मे युद्ध के ही ज़रिये कटनेवाली थी। सारी शक्तियाँ युद्ध की बाट देख रही थी और उसके लिए सरगर्मी से तैयारियाँ कर रही थी, लेकिन फिर भी शायद युद्ध कोई भी नही चाहती थी। कुछ हद तक सब युद्ध से डरती थी, क्योकि यकीन के साथ कोई भी यह भविष्यवाणी नही कर सकता था कि युद्ध का नतीजा क्या होगा। पर फिर भी सिर्फ भय युद्ध की ओर ढकेल रहा था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, यूरोप मे दो पक्ष एक दूसरे के खिलाफ आमने-सामने खडे हुए थे। यह 'शक्ति का सन्तुलन' कहलाता था, जो इतना नाजुक था कि ज़रा से धक्के से बिगड सकता था। जापान, हालाँकि यूरोप से बहुत दूर था और उसकी अपनी समस्याओ से ज्यादा वास्ता नही रखता था, मगर उसके गठ-बन्धनो मे और शक्ति के इस सन्तुलन मे शामिल था। क्योकि जापान इग्लैण्ड का साथी था। इस गठ-बन्धन का मतलब था पूर्व मे, और खासकर भारत मे, इग्लैण्ड के स्वार्थों की रक्षा करना। यह इग्लैण्ड-रूस की मुकाबलेदारी के दिनो मे हुआ था और अभी तक चला आ रहा था, हालाँकि अब इग्लैण्ड और रूस एक ही तरफ थे। गठ-बन्धनो के इस यूरोपीय ढाँचे से अलग रहनेवाली बडी शक्ति सिर्फ एक अमेरिका थी।

बस, १९१४ ई० मे यही हालत थी। तुम्हें याद होगा कि इस समय होमरूल बिल के सवाल पर आयर्लैण्ड मे इग्लैण्ड को बहुत परेशानी उठानी पड रही थी। अल्स्टर बगावत कर रहा था, उत्तर मे और दक्षिण मे स्वयसेवक कवायदें कर रहे थे और आयर्लैण्ड मे गृह-युद्ध की चर्चा हो रही थी। बहुत मुमकिन है, जर्मन सरकार ने सोचा हो कि इग्लैण्ड तो आयर्लैण्ड के झगडे मे उलझा रहेगा और अगर यूरोपीय युद्ध छिड जाय तो उसमे दखल नही देगा। लेकिन सही बात तो यह थी कि अग्रेज़ सरकार खानगी तौर पर फ्रान्स को वचन दे चुकी थी कि युद्ध छिडने पर उसका साथ देगी, लेकिन आम लोगो को यह बात मालूम न थी।

२८ जून, १९१४ ई०—यही वह तारीख थी जिस दिन आग भडकाने

वाली चिनगारी सुलगाई गई। आर्कडचूक फ्रान्सिस फर्दिनेन्द आस्ट्रिया की राजगद्दी का वारिस था। वह बलकान मे बोसनिया की राजधानी सिराजेवो की यात्रा को गया था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, कुछ वर्ष पहले जब 'नौजवान तुर्क' अपने सुलतान से पिण्ड छुडाने का यत्न कर रहे थे, तब इस बोसनिया को आस्ट्रिया ने अपने राज्य मे मिला लिया था। जब आर्कडचूक अपनी पत्नी के साथ खुली गाडी मे बैठकर सिराजेवो के बाजार से गुजर रहा था, तब उसपर गोलियाँ चलाई गईं और वह व उसकी पत्नी दोनो मारे गये। आस्ट्रिया की सरकार और जनता उबल पडी और उन्होंने सर्बिया की सरकार पर (सर्बिया बोसनिया का पडौसी था) यह इलजाम लगाया कि उसका इस हत्या में हाथ है। सर्बिया की सरकार को तो इससे इन्कार करना ही था। बहुत दिन बाद जो जाँच की गई, उससे यह पता लग गया है कि, हालाँकि सर्बिया की सरकार हत्या के लिए जिम्मेदार नही थी, पर हत्या के लिए जो तैयारियाँ की गई थी, उनसे वह बिलकुल अनजान भी नही थी। वैसे इस हत्या की जिम्मेदारी ज्यादातर सर्बिया के 'काला हाथ'-सगठन पर ही डाली जानी चाहिए।

कुछ तो गुस्से मे भरकर और ज्यादातर राजनीतिक कारणो से, आस्ट्रिया की सरकार ने सर्बिया की तरफ बडा सरकश रुख इख्तियार किया। जाहिर है कि उसने सर्बिया को सदा के लिए नीचा दिखाने का फैसला कर लिया था और कोई बडा युद्ध छिड जाने पर उसे जर्मनी की ताकतवर सहायता का भरोसा था। बस, सर्बिया का माफी माँगना मजूर नही किया गया और २३ जुलाई, १९१४ ई० को आस्ट्रिया ने सर्बिया को युद्ध का आखिरी पैगाम भेज दिया। पाँच दिन बाद, २८ जुलाई को, आस्ट्रिया ने सर्बिया के खिलाफ युद्ध छेड दिया।

आस्ट्रिया की राजनीति की बागडोर ज्यादातर एक घमण्डी और मूर्ख मन्त्री के हाथो मे थी, जो युद्ध के लिए तुला हुआ था। बूढा सम्राट् फ्रान्सिस जोजेफ (जो १८४८ से आस्ट्रिया की गद्दी पर बैठा हुआ था) इस पर सहमत होने के लिए मना लिया गया और जर्मनी से सहायता के अनमने वादे का मतलब पूरा आश्वासन लगाया गया। सही बात तो यह थी कि उस समय आस्ट्रिया के सिवाय कोई भी दूसरी बडी शक्ति दिल से युद्ध नही चाहती थी। अपनी तैयारी और लडाकू आदत के बावजूद जर्मनी युद्ध नही चाहता था और कैसर विल्हैम द्वितीय ने तो कुछ अनमने तौर पर युद्ध को रोकने की कोशिशें भी की। इग्लैण्ड और फ्रान्स भी युद्ध नही चाहते थे। रूसी सरकार का अर्थ था जार, जो एक कमजोर और मूर्ख व्यक्ति था, जो अपनी पसन्द के बदमाशो और मूर्खों से घिरा हुआ था और जो इनके इशारो पर कभी इधर और कभी उधर ढुलक जाता था। फिर भी करोडो का नसीब इस व्यक्ति के हाथो मे था। कुल मिलाकर वह खुद तो युद्ध को नापसन्द

करता था, लेकिन सलाहकारो ने उसे देरी के नतीजो से डरा दिया और सेना के तैयारीकरण के लिए राज़ी कर ही लिया। इस 'तैयारीकरण' का अर्थ था सिपाहियो को लाम पर जाने के लिए बुलाना, और रूस-जैसे लम्बे-चौडे देश मे इस कारंवाई मे समय लगता था। शायद जर्मनी के हमले के भय ने रूसी तैयारीकरण मे जल्दबाज़ी पैदा कर दी। यह तैयारीकरण ३० जुलाई को हुआ, और इस समाचार ने जर्मनी को डरा दिया, और उसने रूस से इसे बन्द करने की मांग की। लेकिन युद्ध की भारी-भरकम मशीन अब रुकनेवाली नही थी। दो दिन बाद, १ अगस्त को, जर्मनी ने भी तैयारीकरण की आज्ञा निकालकर रूस व फ्रान्स के खिलाफ युद्ध छेड दिया और बेलजियम मे होकर फ्रान्स जाने के लिए ज़बर्दस्त जर्मन सेनाओ ने फौरन बेलजियम पर धावा बोल दिया, क्योकि यह रास्ता आसान पडता था। बेचारे बेलजियम ने जर्मनी का कुछ नही बिगाडा था, लेकिन जब राष्ट्र ज़िन्दगी और मौत के लिए लडते हैं तो वे ऐसी तुच्छ बातो की या दिये हुए वचनो की कोई परवाह नही करते। जर्मन सरकार ने बेलजियम में होकर अपनी सेनाए भेजने की इजाज़त बेलजियम से मांगी थी, और जैसा कि होना था, ऐसी इजाज़त देने के लिए बडी बेज़ारी से इन्कार कर दिया गया।

बेलजियम की तटस्थता इस तरह भग किये जाने पर इग्लैण्ड मे और दूसरी जगहो मे बडा हो-हल्ला मचा और इग्लैण्ड ने तो खुद जर्मनी के खिलाफ युद्ध छेडने का इसे आधार बना लिया। सच तो यह है कि इग्लैण्ड अपना रास्ता बहुत पहले ही चुन चुका था और बेलजियम का सवाल उसके लिए एक आसान बहाना बन गया। अब ऐसा लगता है कि युद्ध से पहले फ्रान्सीसी सेना ने भी ज़रूरत पडने पर जर्मनी पर हमला करने के लिए बेलजियम मे होकर अपनी फौजें ले जाने की योजनाएँ तैयार कर ली थी। बहरहाल, जर्मनी के मुकाबले मे, जिसपर यह इलज़ाम लगाया गया था कि उसने अपने गम्भीर वादों को और सन्धियो को सिर्फ़ 'रद्दी काग़ज़ के टुकडे' समझा, इग्लैण्ड ने हक व सचाई का रखवाला और छोटे राष्ट्रो का हिमायती बनने का ढोग रचने की कोशिश की। ४ अगस्त को आधीरात के वक्त इग्लैण्ड ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध छेडने की घोषणा कर दी, लेकिन उसने यह पेशबन्दी की कि ऐन मौके पर गडबडी को रोकने के ख़याल से एक दिन पहले ही अपनी सेना (ब्रिटिश हमलावर फौज) चुपचाप इग्लिश चैनल के पार भेज दी थी। इसलिए, जबकि दुनिया तो इसी ख़याल मे थी कि इग्लैण्ड का युद्ध मे शामिल होने या न होने का सवाल' अधर लटका हुआ है, तब अग्रेज़ सिपाही यूरोप मे पहुँच भी चुके थे।

अब आस्ट्रिया, रूस, जर्मनी, इग्लैण्ड, फ्रान्स, वग़ैरा सब युद्ध मे फँस गये थे और छोटा-सा सर्विया तो, जो कुछ हद तक इस युद्ध छिडने का सबब बन गया

था, फँसा हुआ था ही। जर्मनी और आस्ट्रिया के साथी इटली का क्या हाल था? इटली अलग रहा, इटली खडा-खडा यह देखता रहा कि कौन-सा पक्ष जीत रहा है, इटली ने सौदेबाज़ी की, और अन्त मे छै महीने बाद वह अपने पुराने साथियो के खिलाफ फ्रान्सीसी-अंग्रेज़ी-रूसी पक्ष मे पक्के तौरपर जा मिला।

इस तरह अगस्त, १९१४ ई० के शुरू के दिनो मे यूरोप मे फौजो के जमाव और कूच होते रहे। ये फौजें क्या थी? पुराने ज़माने मे फौजो मे कुछ पेशेवर सिपाही हुआ करते थे। वे स्थायी फौजें होती थी। मगर फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने बडा भारी फ़र्क पैदा कर दिया। जब क्रान्ति को विदेशी हमले का खतरा पैदा हुआ तब साधारण नागरिको को बडी सख्या मे भर्ती करके फौजी तालीम दी गई। तबसे ही यूरोप में अपनी मर्ज़ी से भरती होनेवाले पेशेवर सिपाहियो की बँधी हुई सेनाओ के बजाय जबरन भरती की सेनाएँ रखने की हवा चल पडी—यानी ऐसी सेनाएँ, जिनमे देश के तमाम तगड़े व्यक्तियो को मजबूरन भरती होना पडता था। इसलिए तगडे व्यक्तियो की यह आम फौजी सेवा फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति की उपज थी। यह यूरोप-भर मे फैल गई और हरेक नवयुवक को दो वर्ष या ज्यादा समय तक डेरो में रहकर फौजी तालीम लेनी पडती थी और बाद मे जब कभी आज्ञा दी जाती तब उसे मजबूर होकर लाम पर जाना पडता था। इस तरह युद्ध मे लडनेवाली फौज का अर्थ था राष्ट्र के लगभग सारे नवयुवक। फ्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस मे यही हाल था, और इन देशो मे तैयारीकरण का अर्थ होता था इन नवयुवको का दूर-दूर के शहरो और गाँवों के अपने-अपने घरो से भरती के लिए बुलाया जाना। जब युद्ध शुरू हुआ तब इग्लैण्ड में इस किस्म की कोई आम फौजी सेवा नही थी। अपने ताकतवर जगी-बेडे के भरोसे वह स्थायी और मर्ज़ी से भरती होनेवाली फ़ौज बहुत कम रखता था। लेकिन युद्ध के दौरान उसने भी दूसरे देशो जैसा किया और जबरन फ़ौजी सेवा जारी कर दी।

इस आम फौजी सेवा का अर्थ यह था कि सारा-का-सारा राष्ट्र लडाई मे शामिल था। तैयारीकरण के आदेश का प्रभाव हर शहर पर, हर गाँव पर और हर परिवार पर पडता था। अगस्त के उन शुरू के दिनो मे यूरोप के ज्यादातर भाग मे ज़िन्दगी की सारी हलचलें एकदम बन्द हो गई थी और करोडो नौजवान कभी लौटकर न आने के लिए अपने-अपने घरो को छोडकर लाम पर चले गये थे। हर जगह फौजो की कूच और भाग-दौड और सिपाहियो के लिए खुशी के नारे और देशभक्ति के जोश का ज़बर्दस्त प्रदर्शन और दिलो के तारो का कसा जाना नज़र आते थे, और लोग इन बातो से खुश होते थे क्योकि आनेवाले वर्षों की भयकर तबाहियो का लोगो को उस वक्त ज़रा भी भान नही था।

इस जोशीली देशभक्ति की हवा मे हर आदमी बह गया। अन्तर्राष्ट्रीयता की पुकार मचानेवाले समाजवादी, और सबकी दुश्मन पूंजीशाही के खिलाफ़ दुनिया के मजदूरो को एक होने का नारा लगानेवाले मार्क्सवादी तक भी, उखड-कर इस हवा मे बह गये और जोशीले देशभक्त बनकर पूंजीपतियो के इस युद्ध मे शामिल हो गये। कुछ लोग अपने उसूलो पर जमे रहे, लेकिन इनसे नफरत की जाती थी और इन्हें गालियां दी जाती थी और अक्सर सज़ाए भी दी जाती थीं। ज्यादातर लोग दुश्मनी की भावना से पागल हो उठे। एक तरफ तो अंग्रेज व जर्मन मज़दूर एक दूसरे की हत्या कर रहे थे, दूसरी तरफ इन दोनो देशो के, और लडनेवाले दूसरे देशो के भी, विद्वान् और विज्ञानी और प्रोफेसर एक दूसरे को कोसते थे और एक दूसरे के बारे मे निहायत दिल दहलानेवाले किस्सो पर विश्वास कर लेते थे।

मतलब यह है कि युद्ध के शुरू होते ही उन्नीसवी सदी का एक ऐतिहासिक ज़माना खत्म हो गया। पश्चिमी सभ्यता की शानदार और धीमे बहनेवाली नदी एकदम युद्ध के भँवर मे गायब हो गई। पुरानी दुनिया हमेशा के लिए चली गई। चार वर्ष से कुछ ज्यादा समय के बाद इस भँवर मे से एक नई चीज़ पैदा हुई।

: १४७ :

युद्ध छिड़ने से ठीक पहले का भारत

२९ मार्च, १९३३

भारत के बारे मे पत्र लिखे मुझे बहुत दिन हो गये। अब मुझे इस विषय पर वापस आने का और तुम्हें यह बतलाने का लोभ होता है कि युद्ध की घडी से पहले भारत मे क्या बीत रही थी। मैंने इस लोभ मे पडने का इरादा कर लिया है।

कई लम्बे पत्रो मे हम उन्नीसवी सदी मे भारतीय जीवन के और भारत मे अंग्रेजी राज के कुछ पहलुओ की पहले ही जाँच कर चुके हैं। इस ज़माने का उजागर पहलू यह नज़र आता है कि भारत पर अंग्रेजो का पजा मज़बूत होता जाता है और उसके साथ ही देश का शोषण होता है। भारत को अंग्रेजो की दखल जमानेवाली तिहेरी फौज ने दबोच रक्खा था—सैनिक, असैनिक और व्यवसायी। अंग्रेजी फौजें और अंग्रेज अफसरो के मातहत भारतीय पेशेवर सेना को भारत पर दखल जमानेवाली विदेशी सेना ही कहा जा सकता है। लेकिन इससे भी ज्यादा मज़-बूत पजा असैनिक अफसरो का था जो एक गैर-जिम्मेदार और बहुत ज्यादा केन्द्रित नौकरशाही थी। और तीसरी, यानी पेशेवर सेना, जो इन दोनों का सहारा थी और यह सबसे ज्यादा खतरनाक थी, क्योंकि ज्यादातर शोषण इसी

के जरिये या इसके नाम पर किया जाता था और देश के शोषण के इसके ढग इतने जाहिर नही थे जितने कि पहली दोनो सेनाओ के थे। वास्तव मे बहुत समय तक, और कुछ हद तक आज भी, भारत के कुछ नेता पहली दोनो पर बहुत ज्यादा ऐतराज करते थे और मालूम होता है कि तीसरी को उतना महत्व नहीं देते थे।

भारत मे ब्रिटिश नीति का लक्ष्य हमेशा यह रहा कि ऐसे निहित स्वार्थ पैदा करना जो अग्रेजो के बनाये हुए होने की वजह से उन्हीके आसरे रहें और भारत मे उनके पुश्ते बन जायें। इस तरह से सामन्ती राजाओ को मजबूत बनाया गया, और बडे जमीदारो व ताल्लुक़ेदारो का वर्ग पैदा किया गया, और यहाँतक कि मजहबी मामलों मे दखल न देने के नाम पर समाजी रूढ़िवाद को भी बढ़ावा दिया गया। ये तमाम निहित स्वार्थ खुद भी देश के शोषण मे शरीक थे और सच तो यह है कि इस शोषण के सबब से ही ये जिन्दा रह सकते थे। भारत में जो सबसे बडा निहित स्वार्थ पैदा किया गया वह अग्रेजी पूंजी का था।

अग्रेज राजनीतिज्ञ लॉर्ड सैलिसबरी का, जो भारत-मन्त्री था, एक बयान अक्सर दोहराया जाता है, और चूंकि वह अच्छा प्रकाश डालता है, इसलिए मैं उसे यहाँ देता हूँ। १८७५ ई० मे उसने कहा था :

> "चूंकि भारत का खून चीचना जरूरी है, इसलिए नश्तर उन अगो मे लगाना चाहिए जहाँ खून जमा हो रहा हो, या कम-से-कम काफी हो, उन अगो मे नही जो खून की कमी से पहले ही कमजोर हैं।"

भारत पर अग्रेजो के कब्जे ने और जो नीति उन्होंने यहाँ बरती उसने बहुत-से नतीजे पैदा किये, जिनमे से कुछ उनके मन के लायक़ नही थे। लेकिन जब कोई व्यक्ति भी अपने कर्मों के तमाम फलो पर काबू नहीं पा सकता तब राष्ट्रो की तो बात ही क्या। अक्सर ऐसा होता है कि कुछ कार्रवाइयो के नतीजो मे ऐसे नये बल भी होते हैं, जो उन्ही कार्रवाइयो का मुकाबला करते हैं, उनसे लडते है, और उन्हें परास्त कर देते हैं। साम्राज्यवाद से राष्ट्रवाद पैदा होता है, पूंजीवाद से कारखानो के कामगारो के बडे-बडे झुण्ड पैदा हो जाते हैं, जो एक होकर पूंजीपति कारखानेदारो का मुकाबला करते हैं। किसी आन्दोलन का गला घोटने और किसी क़ौम को दबाने के मतलब से किये गए सरकारी अत्याचारो का अक्सर यह नतीजा निकलता है कि वे सचमुच और भी मजबूत व फौलादी बन जाते हैं और इस तरह आखिरी जीत के लिए तैयार होने लगते हैं।

हम देख चुके हैं कि भारत मे अग्रेजो की औद्योगिक नीति के नतीजो से देहातीकरण हो गया, यानी कोई धन्धे न होने की वजह से दिन-पर-दिन ज्यादा लोग शहर छोड-छोडकर गांवो को वापस जाने लगे। खेतिहर धरती पर दबाव

बढ गया और किसानो की जोतें, यानी उनके खेतो और चको के क्षेत्र, दिन-पर-दिन छोटे होने लगे। ज्यादातर जोतें 'गैर-गुज़ारा' हो गई, यानी वे इतनी बडी नहीं थी कि किसान को कम-से-कम इतना मुनाफा भी दे सकें, जो उसके गुज़ारे के लिए काफी हो। लेकिन उसे कोई दूसरा चारा नही था, सिवाय इसके कि अपनी गाडी इसी तरह चलाता रहे और दिन-पर-दिन ज्यादा कर्जदार बनता जाय। ब्रिटिश सरकार की बन्दोबस्त की नीति ने हालत और भी खराब कर दी, खासकर ताल्लुकेदारी और बडी ज़मीदारी के इलाको मे। इन इलाको मे, और उन इलाको मे जहाँ ज़मीन का मालिक किसान होता था, दोनो जगह सरकार को मालगुज़ारी अदा न करने पर या ज़मीदार को लगान न देने पर किसानो को उनके पट्टो से बेदखल कर दिया जाता था। इसके नतीजे से और धरती पर नये आनेवालो के लगातार दबाव के कारण, देहाती इलाको मे बे-ज़मीन मेहनतकशो का एक बडा वर्ग पैदा हो गया और, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, कई भयकर अकाल पड गये।

बेदखलो का यह बडा वर्ग जोतने के लिए धरती का भूखा था, लेकिन धरती इतनी नही थी कि सबको मिल सके। ज़मीदारी इलाको मे ज़मीदारो ने लगान बढाकर धरती की इस बढती हुई माँग से फायदा उठाया। असामी किसानो को राहत देने के लिए कुछ काश्तकारी कानून बनाये गए, जिनके ज़रिये लगानो का कुछ फीसदी से ज्यादा एकदम बढाया जाना रोक दिया गया। लेकिन इनसे बचने के तरह-तरह के रास्ते निकाल लिये गए और तरह-तरह के ग़ैर-कानूनी 'हक' या अबवाब वसूल किये जाने लगे। अवध की एक ताल्लुकेदारी रियासत मे मुझे एक बार अलग-अलग तरह के पचास से ऊपर गैर-कानूनी 'हक' गिनाये गए थे। इनमे मुख्य था नज़राना। यह एक तरह की पेशगी रकम होती है, जो असामी को ठेठ शुरू मे ही देनी पडती है। बेचारे किसान ये तरह-तरह की लागें किस तरह अदा कर सकते हैं? वे तो गाँव के बनिये या साहूकार से उधार लेकर ही अदा कर सकते हैं। जब कर्ज़ चुकाने की न तो उम्मीद दिखाई देती हो और न हैसियत हो, तो कर्ज़ लेना बेवकूफी की बात है। लेकिन बेचारा किसान क्या करे! उसे कही आशा की किरन नही दिखाई देती, वह किसी भी कीमत पर खेती के लिए धरती चाहता है और उम्मीद न होने पर भी उम्मीद करता है कि शायद कुछ मिल जाय। नतीजा यह होता है कि अक्सर इन कर्ज़ों के बावजूद भी वह ज़मीदार की माँगो को पूरी नही कर सकता और पट्टे से बेदखल कर दिया जाता है और फिर बे-ज़मीन मेहनतकशो के वर्ग मे शामिल हो जाता है।

ज़मीन का मालिक किसान और असामी किसान दोनो ही, और बहुत से बे-ज़मीन मेहनतकश भी, बनिये के शिकार बन जाते हैं। वे कर्ज़ से कभी पिण्ड

नही छुडा सकते। जब कभी ये कुछ कमाते हैं तो बनिये को दे देते हैं, लेकिन यह सब सूद मे समा जाता है और पुराना कर्ज ज्यो-का-त्यो बना रहता है। बनिये हाथो इनकी मुंडाई पर बहुत कम रोक-थाम है। असल मे ये दास की तरह हमेश के लिए उससे बँध जाते हैं। बेचारा असामी तो एक तरह से दोहरा दास होत है—ज़मीदार का भी और बनिये का भी।

ज़ाहिर है कि यह चीज़ बहुत दिनो तक नही चल सकती। एक वक्त ऐसा आ जाता है, जबकि किसान वसूल की जानेवाली किसी भी रकम को अदा कर मे बिलकुल असमर्थ हो जाते हैं; बनिया उन्हें और ज्यादा कर्ज़ देने मे इन्कार कर देता है और ज़मीदार भी कठिनाई मे फँस जाता है। यह ऐसा ढाँचा है, जिस गिरावट और कम-मज़बूती के आसार ऊपर से ही नज़र आते हैं। सारे देश इन दिनो जो किसानी झगडे हुए हैं, वे इशारा करते हैं कि यह ढाँचा जो अबतक रहा है, और ज्यादा दिन टिका नही रह सकता।

मुझे लगता है कि इस पत्र मे मैं कुछ हेर-फेर के साथ उन्ही बातो को दोहरा रहा हूँ जो शायद मैं किसी पिछले पत्र मे लिख चुका हूँ। लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम यह महसूस करो कि असली भारत मे ही करोडो अभागे खेतिहर लोग हैं, न कि मुट्ठीभर मध्यम-वर्ग के लोग, जिन्होंने सारी तसवीर को घेर रक्खा है।

बे-ज़मीन मेहनतकशो के बडे बेदखल-वर्ग की मौजूदगी ने बडे-बडे नये कारखाने डालना आसान कर दिया। ऐसे कारखाने तभी चल सकते हैं जब इस तरह के लोग काफी (वास्तव मे काफी से भी ज्यादा) सख्या मे हो, जो मजूरी पर काम करने के लिए तैयार हो। जिस आदमी के पास धरती का छोटा-सा भी टुकडा है, वह उसे छोडना नही चाहता। इसलिए कारखाना-प्रणाली के लिए बे-ज़मीन बेकारो की भारी सख्या ज़रूरी है। और ये लोग जितने ज्यादा हों उतना ही कारखानेदारो को मजूरी घटाना और इनपर काबू रखना आसान हो जाता है।

मेरा खयाल है कि मैं तुम्हें यह बतला चुका हूँ कि ठीक इसी समय के लगभग, भारत मे एक नया मध्यम-वर्ग धीरे-धीरे पैदा हुआ, जिसने कारोबार मे लगाने के लिए कुछ पूंजी भी जमा कर ली। बस, चूंकि रुपया मौजूद था और मेहनत करनेवाले मौजूद थे, इसलिए कारखाने बन गये। लेकिन भारत मे लगाई गई पूंजी ज्यादातर विदेशी (ब्रिटिश) पूंजी थी। ब्रिटिश सरकार इन कारखानो को बढ़ावा नही देती थी। ये उसकी इस नीति के खिलाफ पडते थे, जिसके मातहत वह भारत को निरा कृषि-प्रधान देश रखना चाहती थी, जो इग्लैण्ड को कच्चा माल देता रहे और इग्लैण्ड के तैयार माल को खपाता रहे। लेकिन जो सूरतें मैंने ऊपर बतलाई हैं वे ऐसी थी कि भारत मे बडी मशीन का उत्पादन शुरू हुए बिना

रह नहीं सकता था और ब्रिटिश सरकार उसे आसानी से रोक नही सकती थी। इसलिए सरकार की नापसन्दगी के बावजूद कारखाने बढने लगे। इस नापसन्दगी को जाहिर करने का एक तरीका यह था कि भारत मे आनेवाली मशीनो पर टैक्स लगा दिया गया। दूसरा था कपास पर उत्पादन-चुगी, जो वास्तव मे भारत की सूती मिलो के उत्पादन पर टैक्स था।

शुरू-शुरू के भारतीय उद्योगपतियो मे सबसे बडे जमशेदजी नौशेरवानजी टाटा थे। इन्होंने बहुत सारे उद्योग शुरू किये; इनमे सबसे बडा बिहार के साकची मे टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी था। यह कम्पनी १९०७ ई० मे शुरू हुई और १९१२ ई० मे काम करने लगी। लोहे का उद्योग उन उद्योगो मे गिना जाता है जो 'बुनियादी' उद्योग कहलाते हैं। आजकल लोहे पर इतनी चीजें निर्भर हैं कि जिस देश मे लोहे का उद्योग नही होता, उसे बहुत-कुछ दूसरो पर निर्भर रहना पडता है। टाटा का लोहे का कारखाना बहुत बडा कारोबार है। साकची गाँव अब जमशेदपुर नगर हो गया है और यहाँ से थोडी दूर पर रेल का स्टेशन टाटानगर कहलाता है। युद्धकाल मे लोहे के कारखाने खासतौर से उपयोगी होते हैं, क्योंकि वे युद्ध का सामान बना सकते हैं। ब्रिटिश सरकार के लिए यह खुशकिस्मती की बात थी कि जब महायुद्ध शुरू हुआ तब भारत मे टाटा का कारखाना मौजूद था।

भारतीय कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरो की दशा बहुत बुरी थी। यह दशा उसी तरह की थी जैसी उन्नीसवी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड के कारखानो में थी। बे-ज़मीन बेकार लोगो की बहुत बडी सख्या के सबब मजूरी की दरें बहुत कम थी और काम के घण्टे बहुत ज्यादा थे। १९११ ई० मे सबसे पहला भारतीय कारखाना कानून (इण्डियन फैक्टरी ऐक्ट) पास हुआ। इस कानून मे भी पुरुषो के लिए दिन मे काम के बारह घण्टे और बच्चो के लिए छै घण्टे निश्चित किये गए थे।

ये कारखाने तमाम बे-ज़मीन मजदूरो को नही खपा पाये। इनमे से बहुत-से असम मे व भारत के दूसरे भागो मे चाय वग़ैरा के बागानो मे काम करने को चले गये। इन बागानो मे वे जिन हालतो मे काम करते थे, उन्होंने उन्हें, जबतक कि वे वहाँ रहते थे, मालिको का दास बना दिया था।

ग़रीबी के मारे हुए करीब बीस लाख भारतीय मज़दूर विदेशो को प्रवास कर गये। इनमे से ज्यादातर लका और मलाया के बागानो मे गये। बहुत-से लोग मारीशस के टापुओ (मैडैगास्कर के पास भारत सागर मे), ट्रिनिडाड (दक्षिण अमेरिका के उत्तरी सिरे पर), फिजी (आस्ट्रेलिया के पास) और दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका और ब्रिटिश गायना (दक्षिणी अमेरिका मे) को चले गये। इनमे से बहुत-सी जगहो पर वे 'गिरमिटिये' मजदूर बनकर गये,

जिसका मतलब यह था कि अमल मे वे आधे गुलाम थे। गिरमिट (अंग्रेजी ऐग्रीमेण्ट का बिगड़ा रूप) वह दस्तावेज होता था, जिसमे इन मजदूरो के साथ किया गया शर्तनामा होता था और जिसके मातहत वे अपने मालिको के गुलाम होते थे। इस गिरमिट-प्रथा के बहुत मारे दिल दहलानेवाले बयान भारत पहुँचे, खास कर फिजी से, जिनसे यहाँ खलबली मची और यह प्रथा बन्द कर दी गई।

यह तो किसान-वर्ग, मजदूर-वर्ग और प्रवासियो का हाल हुआ। यह भारत की गरीब, खामोश और बहुत दिनो से दुखी जनता थी। हल्ला मचानेवाला तो असल मे नया मध्यम-वर्ग था, जो एक तरह से अग्रेजो के सग से पैदा हुआ था, लेकिन फिर भी जो उनकी बुराई करने लगा। यह बढ़ने लगा और इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलन भी बढा। तुम्हे याद होगा कि यह आन्दोलन १९०७-८ ई० मे बड़ा जोर पकड गया था जबकि एक जन-आन्दोलन ने बगाल को हिला दिया था और काग्रेस गर्म व नर्म, दो विरोधी घडो मे बँट गई थी। अग्रेजो ने तरक्की-पसन्द तबके को कुचलने की, और कुछ मामूली सुधारो के जरिये नर्म तबके को मिलाने का यत्न करने की, अपनी सदा की नीति बरती। इसी समय एक नया मोहरा सामने आया—यह था मुसलमानो को अल्पसख्यक मानकर उनके साथ अलग और खास बर्ताव की राजनीतिक म ग। अब यह सबको अच्छी तरह मालूम हो चुका है कि उस समय सरकार ने भारतवासियो मे फूट पैदा करने के लिए और राष्ट्रीयता की बढोतरी को रोकने के लिए इन मांगो को बढावा दिया।

उस समय तो ब्रिटिश सरकार अपनी नीति मे सफल हो गई। लोकमान्य तिलक जेल में थे और उनका दल दबाया जा चुका था। नर्म दल ने शासन मे कुछ सुधारो का, जिनसे भारतवासियो को कोई सत्ता नही मिलती थी, खुशी से स्वागत किया (उस वक्त के वायसराय व भारत-मन्त्री के नाम पर ये सुधार मिण्टो-मॉर्ले सुधार कहलाये)। कुछ समय बाद बग-भग की मन्सूखी ने बगालियो की भावना को ठण्डा कर दिया। १९०७ ई० और उसके बाद का राजनीतिक आन्दोलन एक बार फिर आरामकुर्सी पर बैठकर चर्चा करनेवालो का फालतू शग़ल बन गया। इसलिए, जब १९१४ ई० मे युद्ध शुरू हुआ, तब देश मे सक्रिय राजनीतिक जीवन नहीं के बराबर था। काग्रेस, जो सिर्फ नर्म दलवालो की प्रतिनिधि रह गई थी, हर साल अधिवेशन करती थी और कुछेक कागजी प्रस्ताव पास करने के सिवाय कुछ नहीं करती थी। राष्ट्रीयता की लहर बहुत मन्द पड गई थी।

पश्चिम के सम्पर्क से राजनीतिक मैदान के अलावा दूसरी प्रतिक्रियाएँ भी हुई। नये मध्यम-वर्गों के (जनता के नही) मजहबी विचारो पर भी असर पडा, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, वगैरा नये आन्दोलन पैदा हुए और जात-पाँत की प्रथा ढीली होने लगी। सस्कृति के बारे मे भी चेतना हुई, खासकर बगाल मे। बगाली

लेखको ने बँगला भाषा को भारत की आधुनिक भाषाओ मे सबसे ज्यादा भरपूर बना दिया, और बगाल ने इस युग के सबसे महान् भारतवासियो मे गिने जाने-वाले कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जन्म दिया, जो सौभाग्य से अभीतक हमारे बीच मौजूद हैं।[1] बगाल ने सर जगदीशचन्द्र बसु और सर प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे महान् वैज्ञानिको को भी जन्म दिया। रामानुजम और सर चन्द्रशेखर वेंकटरमण दो और महान् भारतीय वैज्ञानिक हैं, जिनके नामो का जिक्र मैं यहाँ कर दूं। इस तरह भारत विज्ञान मे भी ऊँचा दर्जा हासिल कर रहा था, और यह वह चीज थी जो यूरोप की महानता की बुनियाद थी।

एक और नाम का भी जिक्र मैं यहाँ कर दूं। यह नाम सर मोहम्मद इकबाल का है, जो उर्दू के, और खासकर फारसी के, प्रतिभाशाली शायर हैं।[2] उन्होने राष्ट्रीयता पर कुछ सुन्दर नज्मे लिखी हैं। बदकिस्मती से इन्होने अपने जीवन के पिछले बरसो मे शायरी करना छोड दिया और दूसरे कामो मे लग गये।

जबकि युद्ध से पहले के वर्षों मे राजनीतिक लिहाज से भारत सोया हुआ था, तब एक दूर देश मे भारत की इज्जत के लिए एक बाँकी और अनोखी लडाई हुई। यह दक्षिण अफ्रीका था, जहाँ भारी सख्या मे भारतीय मजदूर और कुछ भारतीय व्यापारी प्रवास करके बस गये थे। इन्हें हर तरह से जलील किया जाता था और इनके साथ बडा बुरा बर्ताव किया जाता था, क्योकि वहाँ जातीय अकड का बोलबाला था। सयोग से एक नौजवान भारतीय बैरिस्टर को एक मुकदमे की पैरवी के लिए दक्षिण अफ्रीका बुलाया गया। उसने वहाँ अपने देशवासियो की हालत देखी जिससे उसे बहुत ग्लानि और दुख हुआ। उसने भरसक उनकी सहायता करने का फैसला किया। वर्षों तक वह चुपचाप कोशिशें करता रहा, उसने अपना पेशा और घर-बार छोड दिये और जिस मामले को उसने उठाया था, उसमे वह पूरी लगन के साथ जुट गया। यह व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गान्धी था। आज भारत का बच्चा-बच्चा इन्हें जानता है और इनसे प्रेम करता है, लेकिन उस समय दक्षिण अफ्रीका के बाहर इन्हे कोई नही जानता था। अचानक इनका नाम समुद्र-पार से बिजली की तरह भारत मे आया, और लोग इनके बारे मे और इनकी बहादुर लडाई के बारे मे अचरज और प्रशसा और अभिमान के साथ चर्चा करने लगे। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने वहाँ के प्रवासी भारतीयो को और भी ज्यादा जलील करने की कोशिश की, लेकिन गान्धीजी की नेतागिरी मे उन्होंने सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। यह काफी अचम्भे की बात थी कि अपने वतन से दूर, गरीब,

[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु सन् १९४१ ई० मे हो गई।

[2] इक़बाल की मृत्यु सन् १९३८ ई० मे हो गई।

रौंदे हुए व भोले-भाले मज़दूरो की एक बिरादरी ने और छोटे-छोटे व्यापारियों के एक समुदाय ने ऐसा बहादुराना रुख इख्तियार किया। और इससे भी ज्यादा अचम्भे की चीज़ वह तरीका था, जो उन्होने अपनाया, क्योकि राजनीतिक हथियारो मे, ससार के इतिहास मे यह एक बिलकुल नया हथियार था। तबसे इसके बारे मे हम अक्सर सुना करते हैं। यह था गान्धीजी का सत्याग्रह, जिसका अर्थ है सत्य पर अड़े रहना। इसे कभी-कभी निष्क्रिय-प्रतिरोध भी कहते हैं, पर यह अनुवाद ठीक नही है, क्योकि सत्याग्रह तो काफी सक्रिय होता है। यह निरा निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है, हालांकि अहिंसा इसका लाज़िमी अग है। लडाई के इस अहिंसात्मक तरीके से गान्धीजी ने भारत और दक्षिण अफ्रीका को हैरत मे डाल दिया और जब भारत के लोगो ने यह सुना कि दक्षिण अफ्रीका मे हमारे देशवासी हज़ारो नर-नारी खुशी-खुशी जेल चले गये तो वे अभिमान और हर्ष से थरथरा उठे। अपने ही देश मे अपनी पराधीनता और बेबसी पर हम मन-ही-मन शर्मिन्दा हो गये, और अपने ही देशवासियो की तरफ से दी गई इस बहादुर चुनौती की मिसाल ने हमारे आत्माभिमान को बढा दिया। इस मुद्दे पर भारत मे एकदम राजनीतिक चेतना पैदा हो गई और दक्षिण अफ्रीका को ढेरो रुपया भेजा जाने लगा। गान्धीजी और दक्षिण अफ्रीका की सरकार के बीच समझौता होने पर यह लडाई बन्द कर दी गई। हालांकि उस समय भारतीय पक्ष की यह यकीनी विजय थी, मगर भारतीयो पर अभीतक कई पाबन्दियाँ चली आ रही हैं, और कहा जाता है कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार पुराने करारनामे का पालन नही कर रही। प्रवासी भारतीयो का मसला अभीतक हमारे सामने है और जबतक भारत आज़ाद नही हो जाता तबतक यह मसला बना रहेगा। जब भारतवासियो की अपने देश मे ही इज्जत नही है तब दूसरी जगह कैसे हो सकती है? और जबतक कि हम अपने ही देश मे अपने पैरो पर खड़े होकर आज़ादी हासिल करने मे सफल नही होते तबतक प्रवासी लोगो की क्या ज्यादा मदद कर सकते हैं?

युद्ध से पहले के वर्षों मे भारत मे यही हालत हो रही थी। जब १९११ ई० मे इटली ने तुर्की पर हमला किया तो भारत मे तुर्की के लिए बहुत सहानुभूति उमड पडी, क्योकि तुर्की एक एशियाई और पूर्वी शक्ति माना जाता था, इसलिए सारे भारतीयो की सद्भावना उसके साथ थी। भारतीय मुसलमानो पर इसका खास असर पडा, क्योकि वे तुर्की के सुलतान को खलीफा या अमीर-उल-मोमिनीन मानते थे। उन दिनो तुर्की के सुलतान अब्दुल हमीद के शुरू किये हुए अखिल इस्लामवाद की भी कुछ चर्चा चली थी। १९१२ और १९१३ ई० के बलकानी युद्धो ने भारतीय मुसलमानो मे और भी खलबली पैदा कर दी और दोस्ती व सद्भावना जताने के लिए रैड क्रेसैन्ट मिशन नामक डॉक्टरी सहायता का एक मिशन, तुर्की के घायलो की सेवा के लिए भारत से भेजा गया।

इसके कुछ ही दिनो बाद महायुद्ध शुरू हो गया और तुर्की इसमे इग्लैण्ड का दुश्मन बनकर शामिल हो गया। लेकिन यह बात युद्ध के जमाने की है और मुझे यहां रुक जाना चाहिए।

: १४८ :

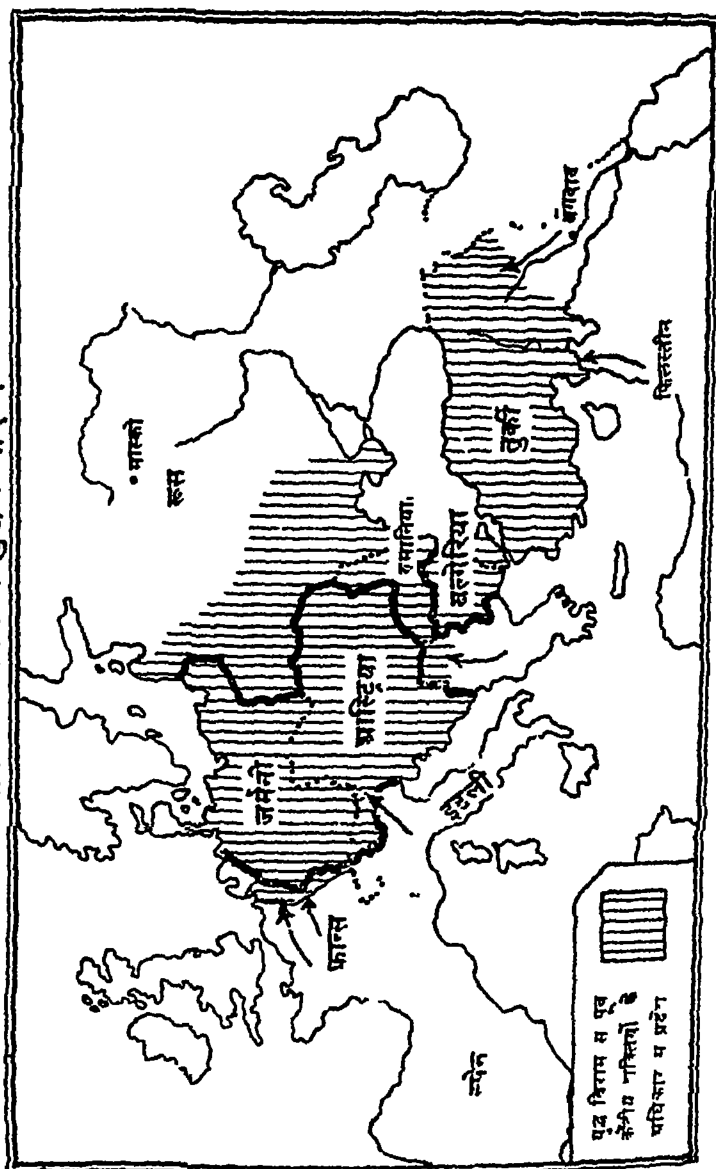
१९१४-१८ ई० का महायुद्ध

३१ मार्च, १९३३

इस युद्ध के बारे मे मैं तुम्हें क्या लिखूं, जिसे विश्व-युद्ध या महायुद्ध कहा जाता है, जिसने चार वर्ष से ऊपर यूरोप का और एशिया व अफ्रीका के कुछ भागो का सत्यानाश किया और लाखो नौजवानो का उठती जवानी मे सफाया कर दिया। सोचने के लिए युद्ध कोई भला विषय नही है। यह भद्दी चीज है, लेकिन इसकी अक्सर तारीफ की जाती है और इसपर खूब चमकदार रग चढ़ाये जाते हैं, और कहा जाता है कि जैसे आग पर तपाने से सोना शुद्ध हो जाता है उसी तरह युद्ध की आग उन आरामतलब राष्ट्रो को खरा और मजबूत बना देती है, जो बहुत ज्यादा आराम और विलासी जीवन से नाजुक और भ्रष्ट हुए होते हैं। हमारे सामने ऊँचे दर्जे के साहस और दिल छूनेवाली कुर्बानियो की मिसालें पेश की जाती हैं, मानो इन नेकियो को युद्ध ही पैदा करता है।

मैंने तुम्हारे साथ इस युद्ध के कारणो की जांच करने की कोशिश की है किस तरह पूंजीशाही औद्योगिक देशो का लालच और साम्राज्यशाही शक्तियां टकराई और उनकी वजह से मुठभेड लाज़िमी हो गई। इनमे से हरेक देश के उद्योगपति शोपण के लिए किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा सहूलियतें व मैदान चाहते थे, किस तरह साहूकार लोग खूब रुपया बनाने की धुन मे थे, किस तरह युद्ध-सामग्री बनानेवाले लम्बे-चौडे मुनाफे कमाना चाहते थे। बस, ये लोग युद्ध मे कूद पडे, और इनके व इनके वर्ग के प्रतिनिधि बुजुर्ग राजनीतिज्ञो के इशारे पर राष्ट्रो के नौजवान, एक-दूसरे की गरदनें काटने के लिए दौड पडे। इनमे से बहुत ज्यादा नौजवान और युद्ध करनेवाले तमाम देशो के आम लोग, युद्ध के कारणो के बारे मे कुछ नही जानते थे। असल मे इनका तो युद्ध से कोई सरोकार ही नही था, जीत हो या हार, इनका तो इसमे नुकसान ही होना था। यह तो धनवानो का खेल था, जो लोगो की ज़िन्दगियो से, और ज्यादातर नौजवानो की ज़िन्दगियो से, खेला जा रहा था। लेकिन जबतक आम लोग लडने के लिए तैयार न हो तबतक युद्ध नही हो सकता था। जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, यूरोप के सारे देशो में जबरन भरती यानी लाज़िमी युद्ध-चाकरी थी, इग्लैण्ड में यह युद्ध शुरू होने के बाद आई। लेकिन अगर कुल मिलाकर सारे लोग वास्तव मे लडने की इच्छा न रखते हो तो ऐसे मामले मे ज़बर्दस्ती से भी उन्हें मजबूर नही किया जा सकता।

योरप — प्रथम विश्वयुद्ध के बाद में



इसलिए सारे लडनेवाले राष्ट्रो मे लोगो का जोश व देश-प्रेम मार-मारकर जगाने के लिए वडी तैयारी के साथ ज़ोरदार कोशिशें की गईं। हर पक्ष दूसरे को 'हमला शुरू करनेवाला' बताता था और सिर्फ अपनी रक्षा के लिए लडने का वहाना करता था। जर्मनी कहता था कि उसके चारो ओर शत्रुओ ने घेरा डाल रक्खा है, जो उसका गला घोटने की कोशिश कर रहे हैं। उसने रूस व फ्रान्स पर यह इलज़ाम लगाया कि उन्होंने उसपर धावा बोलने मे पहल की। इग्लैण्ड ने छोटे-से वेलजियम की वाजिव रक्षा को अपनी कार्रवाई का आधार वनाया, क्योकि इसकी तटस्थ हैसियत को जर्मनी ने वडी वेशर्मी से भग कर दिया था। युद्ध मे उलझे हुए तमाम देशो ने अपने-आपको भला समझने का रुख अपनाया, और सारा क़सूर दुश्मन के सिर मढ दिया। हर राष्ट्र के लोगो को यह यकीन दिलाया गया कि उनकी आज़ादी खतरे मे है और उसकी रक्षा के लिए उन्हें लडना ज़रूरी है। हर जगह युद्ध की यह हवा तैयार करने मे अखवारो ने खासतौर पर ज़बर्दस्त हिस्सा लिया। नतीजो के लिहाज़ से इसका मतलव था शत्रु-देशो की जनता के खिलाफ सख्त नफरत फैलाना।

दीवानेपन की यह लहर इतनी ज़ोरदार थी कि सामने आनेवाली हर चीज़ को वहाती चली गई। भीड मे जनता के गुस्से को उभाडना काफी आसान होता है, लेकिन युद्ध में उलझे हुए तमाम देशो के दिमागवाले और समझ-बूझवाले लोग, नर-नारी जो शान्त व सजीदा स्वभाववाले माने जाते थे, विचारक, लेखक, प्रोफेसर, वैज्ञानिक,—सव-के-सव अपने सन्तुलन खो वैठे, और खूनी-मस्ती से व शत्रु-राष्ट्रो के खिलाफ वैर-भाव से भर गये। पादरी लोग, धर्मात्मा लोग, जो शान्ति-पसन्द माने जाते हैं, सभी दूसरो की तरह, वल्कि उनसे भी ज्यादा, खून के प्यासे हो रहे थे। यहाँतक कि शान्तिवादी और समाजवादी भी दीवाने वन गये और अपने उसूलो को भूल गये। हाँ, सभी, लेकिन कुछ को छोडकर। हर देश मे ऐसे अल्पमतो की वहुत छोटी सख्या भी थी, जिन्होंने दीवाना वनने से इन्कार कर दिया और अपने-आपको युद्ध के इस वुखार का शिकार नही होने दिया। उनपर ताने कसे जाते थे और उन्हे कायर कहकर पुकारा जाता था। वहुतो को तो युद्ध मे भाग लेने से इन्कार करने पर जेलो तक मे डाल दिया गया। इनमे कुछ तो समाजवादी थे, कुछ क्वेकरो की तरह धर्मात्मा लोग थे, जो ईमानदारी से युद्ध-विरोधी[1] होते हैं। यह सच ही कहा गया है कि आजकल जव युद्ध छिड जाता है तो उसमे फँसे हुए लोग पागल हो जाते हैं।

जैसे ही युद्ध शुरू हुआ, सभी देशो की सरकारो ने उसे सत्य को दवाने का और तरह-तरह की झूठी वातें फैलाने का वहाना वना लिया। लोगो की व्यक्तिगत

[1] Conscientious Objectors.

स्वतन्त्रताओ का भी गला घोटा गया। दूसरे पक्ष पर तो पूरी तरह पर्दा डाल दिया जाता था। इसलिए लोग किस्से का सिर्फ एक ही पक्ष जान पाते थे, और वह भी बहुत तोडा-मरोडा हुआ और अक्सर बिलकुल झूठा बयान होता था। इस तरकीब से लोगो को बेवकूफ बनाना कुछ मुश्किल नहीं था।

शान्ति के दिनो मे भी तग-नजर राष्ट्रवादी प्रचार ने और अखबारो की तोड-मरोड ने लोगो को बेवकूफ बना दिया था और युद्ध के लिए ज़मीन तैयार कर दी थी। युद्ध को ही बडे यश की चीज़ बना दिया गया था। जर्मनी मे, या यूं कहो कि प्रशिया मे, युद्ध की ये ऊँची तारीफें कैसर से लगाकर नीचे तक के शासकों की एक पक्की विचारधारा ही बन गई थी। इसे वाजिब बताने के लिए विद्वानों से पुस्तकें लिखवाई गई थी, जिनमे यह साबित किया गया था कि युद्ध एक 'जीवोपयोगी आवश्यकता'[1] है—यानी यह मानव-जीवन और प्रगति के लिए ज़रूरी है। कैसर का खूब विज्ञापन होता था, क्योकि वह सदा कुछ भोडे तरीके से अपना आडम्बर दिखाया करता था। लेकिन इसीसे मिलते-जुलते विचार इग्लैण्ड व दूसरे देशो के सैनिक-वर्ग और उच्च-वर्ग के लोगो मे फैले हुए थे। रस्किन, इग्लैण्ड में उन्नीसवी सदी के महान् लेखको मे गिना जाता है। वह उनमे है, जिनकी रचनाएं गान्धीजी को पसन्द हैं। यह व्यक्ति, जिसके उत्तम विचारो के बारे मे किसी को शक नही है, अपनी एक पुस्तक मे लिखता है .

> "सक्षेप मे, मैंने पाया कि सब महान् राष्ट्रो को अपने शब्दो की सचाई और अपने विचारो की ताकत का ज्ञान युद्ध मे हुआ, और शान्ति ने नष्ट कर दिया, युद्ध ने सिखाया और शान्ति ने धोखा दिया, युद्ध ने तैयार किया और शान्ति ने विश्वासघात किया, एक शब्द मे कहे तो वे युद्ध मे पैदा हुए और शान्ति मे मर गये।"

यह दिखाने के लिए कि रस्किन कितना साफ-दिल साम्राज्यवादी था, मैं उसका एक और बयान यहाँ दूंगा

> "यही बात है जो उसे (इग्लैण्ड को) करनी चाहिए, वरना वह मिट जायगा, उसे उपनिवेश कायम करने चाहिए. . . उपजाऊ बजर ज़मीन के हर टुकडे पर, जिसपर वह पैर रख सके, उसे कब्ज़ा कर लेना चाहिए और वहाँ अपने इन उपनिवेशियो को यह सिखाना चाहिए कि उनका पहला ध्येय है ज़मीन पर या समुद्र पर इग्लैण्ड की शक्ति को आगे बढ़ाना।"

एक बयान और भी। यह एक अग्रेज़ अफसर की पुस्तक मे से है, जो ब्रिटिश सेना मे मेजर-जनरल हो गया था। यह बतलाता है कि "बिना जान-बूझकर धोखे-

[1] Biological necessity.

बाज़ी के, बिना धोखेबाज़ी का व्यवहार किये या बिना धोखाधडी की बात के" युद्ध मे फतह नामुमकिन है। इसकी राय मे कोई नागरिक जो "इन उपायो को अपनाने से इन्कार करता है, अपने साथियो और मातहतो के साथ जान-बूझकर गद्दारी करता है" और "उसे सिर्फ कमीना कायर ही कहा जा सकता है।" "नीति, अनीति—महान् राष्ट्रो के लिए ये चीजें क्या हैं जब उनका नसीब ही दाँव पर चढ रहा हो ?" हर राष्ट्र को "चाहिए कि जबतक उसके दुश्मन पर घातक चोट न पड जाय तबतक बार-बार चोटें मारता रहे।" मैं नही कह सकता कि इस सबपर रस्किन का क्या मत होता। अलबत्ता यह ख़याल न कर बैठना कि अंग्रेजी मानस का यह कोई अच्छा नमूना है, या यह कि कैसर के शेख़ीभरे भाषण एक औसत जर्मन के भावो को ज़ाहिर करते थे। लेकिन बदकिस्मती यह है कि ऐसे विचार रखनेवाले लोग ही अक्सर सत्ताधारी होते हैं और युद्ध-काल मे तो वे करीब-करीब हमेशा आगे आ जाते हैं।

आमतौर पर ऐसे बेलाग दावे खुल्लम-खुल्ला नही किये जाते और युद्ध को पाखण्डी लिबास पहना दिया जाता है। बस, उधर तो यूरोप मे व दूसरी जगह सैकडो मीलो के मोर्चों पर ज़बर्दस्त नर-सहार हो रहा था, इधर घर मे इस हत्या-काण्ड को वाजिब ठहराने के लिए और लोगो को भुलावे मे डालने के लिए बडे सुन्दर और लच्छेदार जुमले रचे जाते थे। यह आज़ादी और इज़्ज़त का युद्ध था, "युद्ध का अन्त करने के लिए युद्ध" था, लोकतन्त्र की रक्षा के लिए था, आत्म-निर्णय के लिए और छोटे राष्ट्रो की आज़ादी के लिए था, वगैरा, वगैरा। इसी अर्से मे बहुत सारे पूंजी लगानेवाले और उद्योगपति और युद्ध-सामग्री बनानेवाले, जो घरो मे बैठे थे, और इन लच्छेदार जुमलो का बडी देशभक्ति के साथ इस्ते-माल करके नौजवानो को युद्ध की भट्टी मे कूद पडने के लिए उकसाते थे, लम्बे-चौडे मुनाफे कमा रहे थे और करोडपति बन रहे थे।

ज्यो-ज्यो यह युद्ध महीने-दर-महीने और साल-दर-साल चलता गया, त्यो-त्यो और-और देश इसमे खिंचते गये। दोनो पक्ष चुपचाप रिश्वतो का लोभ देकर तटस्थो को अपनी-अपनी ओर मिलाने की कोशिशें करते थे, खुल्लम-खुल्ला रिश्वतें देने की बातें की जाती तो उन ऊँचे आदर्शों पर और लच्छेदार शब्दो पर पानी फिर जाता, जिनका ख़ूब शोर मचाया जाता था। इंग्लैण्ड और फ्रान्स की रिश्वत देने की हैसियत जर्मनी से बढी-चढी थी, इसलिए युद्ध मे शरीक होनेवाले ज्यादातर तटस्थ देश अंग्रेज़ी-फ्रान्सीसी-रूसी पक्ष मे आ मिले। जर्मनी के पुराने साथी इटली के साथ मित्र-राष्ट्रो ने एक गुप्त सन्धि कर ली, जिसमे उसे एशिया-कोचक मे व दूसरी जगह प्रदेश देने का वादा किया गया, और इस तरह इन्होने उसे अपनी तरफ़ मिला लिया। एक और गुप्त सन्धि से रूस को कुस्तुन्तुनिया देने का वादा

किया गया। दुनिया को आपस मे बाँट लेने का काम बडा मजेदार था। ये गुप्त सन्धियाँ मित्र-राष्ट्रो के राजनीतिज्ञो के बयानो से बिलकुल उलटी थी। सत्ता हाथ मे आने के बाद अगर रूसी बोलशेविक इन सन्धियो को प्रकाशित न करते तो शायद किसीको इनका पता भी न चलता।

आखिरकार एक दर्जन से कुछ ऊपर देश मित्र-राष्ट्रो के साथ हुए (अंग्रेजी-फ्रान्सीसी पक्ष को मैं सक्षेप के लिए मित्र-राष्ट्र कहूँगा)। ये थे इंग्लैण्ड और उसका साम्राज्य, फ्रान्स, रूस, इटली, सयुक्त राज्य अमेरिका, बेलजियम, सर्बिया, जापान, चीन, रूमानिया, यूनान और पुर्तगाल। (दो एक और भी होगे, जिनके नाम मुझे याद नही)।

जर्मन-पक्ष मे जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की और बलगारिया थे। सयुक्त राज्य अमेरिका तीसरे साल युद्ध मे शामिल हुआ। अगर अभी हम अपनी गिनती मे इसे छोड भी दें तो भी यह साफ है कि मित्र-राष्ट्रो के साधन जर्मन पक्ष के साधनों से बहुत ज्यादा बढे-चढ़े थे। इनके पास ज्यादा सिपाही थे, बहुत ज्यादा रुपया था, हथियार व गोला-बारूद बनाने के ज्यादा कारखाने थे, और इन सबके ऊपर, इनका समुद्रो पर कब्ज़ा था, जिसकी वजह से ज़रूरत के वक्त तटस्थ देशो के साधनो का इस्तेमाल करना इनके लिए आसान था। इसलिए इस समुद्री-ताकत के सबब से वे अमेरिका से युद्ध का सामान, या खाने का सामान मँगा सकते थे या क़र्ज ले सकते थे। जर्मनी और उसके साथी चारो ओर अपने शत्रुओ से घिरे हुए और किनारी-बन्द थे, और जर्मनी के साथी देश कमज़ोर थे, जो ज्यादा मदद नही पहुँचा सकते थे। वे तो बहुत करके जर्मनी की ताकत को खर्च करनेवाले थे और उसे उनको सहारा देना पडता था। इसलिए सूरत यह थी कि एक तरफ़ तो ससार के ज्यादातर देश लड रहे थे दूसरी तरफ उनके मुकाबले मे अकेला जर्मनी था। हर पहलू से यह जोड बहुत ही असमान था। लेकिन फिर भी जर्मनी चार वर्ष तक दुनिया के मुकाबले मे डटा रहा और कई बार तो विजयी होते-होते रह गया। हर साल यही मालूम देता था कि विजय अधर ही लटकी हुई है। अकेले एक राष्ट्र के लिए यह अद्‌भुत था और यह उस शानदार सैनिक-तन्त्र की वजह से ही मुमकिन हुआ था जो जर्मनी ने खडा किया था। अन्ततक, जब कि जर्मनी और उसके साथी पूरी तरह परास्त किये जा चुके थे, जर्मन सेना का सगठन वैसा-का-वैसा बना हुआ था और उसका बडा भाग विदेशी ज़मीन पर था।

मित्र-राष्ट्रो की तरफ लडाई की सबसे ज्यादा झोक फ्रान्स को बर्दाश्त करनी पडी और फ्रान्सीसियो ने ही अपने नौजवानो के जीवनो की ज़बर्दस्त भेंट चढाकर जर्मन सैनिक-तन्त्र से लोहा लिया। इंग्लैण्ड की दी गई सबसे बडी सहायता थी जगी-बेडा और समुद्री-शक्ति, और राज नीति और प्रचार भी। अपनी

सेना के घमण्ड मे भरा हुआ जर्मनी तटस्थ देशो के साथ कूटनीति मे और प्रचार के ढगो मे अजीब भोड़ापन बरत रहा था। इसमे कोई शक नही कि झूठी बातो को और तोड़े-मरोड़े हुए तथ्यो का प्रचार करने की होशियारी और पूरे कमाल मे इग्लैण्ड इस युद्ध मे तमाम देशो से बाजी ले गया। लड़ाई मे रूस और इटली और दूसरे साथी देशो का हिस्सा इग्लैण्ड वगैरा के मुकाबले मे बहुत कम भी रहा और तारीफ के क़ाबिल भी नही रहा। लेकिन फिर भी रूस के सब देशो से ज्यादा आदमी मारे गये। युद्ध खत्म होने से कुछ ही पहले शामिल होने वाले अमेरिका ने जर्मनी को कुचलने मे आखिरी और फैसला करानेवाला हिस्सा अदा किया।

युद्ध के शुरू महीनो मे इग्लैण्ड और अमेरिका के बीच जबर्दस्त तनाव था और दोनो के बीच युद्ध ठन जाने की भी चर्चा थी। यह तनाजा समुद्रो पर अमेरिका की जहाज़रानी मे इग्लैण्ड की दस्तन्दाजी से पैदा हुआ था, क्योकि इग्लैण्ड को शक था कि अमेरिका के जहाज़ जर्मनी को माल ले जाते है। लेकिन फौरन ही इग्लैण्ड के प्रचार की मशीन ज़ोरो से काम करने लगी और अमेरिका को अपनी तरफ मिलाने का खास यत्न करने लगी। सबसे पहले अत्याचारो का प्रचार हाथ मे लिया गया, और जर्मन सेना ने बेलजियम मे जो कुछ किया, उसके दिल दहलानेवाले किस्से फैलाये गए। इसे जर्मन हूण या 'बॉश'[1] का 'डरावनापन' कहा गया। इनमे से कुछेक किस्सो की कुछ बुनियाद भी थी, मसलन लूवें के विश्व-विद्यालय और पुस्तकालय का नष्ट किया जाना, लेकिन ज्यादातर किस्से कोरे मन-गढन्त थे। एक अद्भुत किस्सा वह था, जिसमे कहा गया था कि जर्मन लोग लाशो का कारखाना चला रहे है! लेकिन दोनो पक्ष के देशो के लोगो की एक दूसरे के खिलाफ़ इतनी जबर्दस्त नफरत थी कि वे किसी भी बात पर यकीन करने को तैयार थे।

अंग्रेजो का प्रचार जिस बडे पैमाने पर चलाया जा रहा था, उसका कुछ अन्दाजा तुम्हे इससे हो सकता है कि अमेरिका को भेजे गये ब्रिटिश-युद्ध मिशन मे ५०० अफसर और १०,००० उनके सहायक थे! यह तो सरकारी तौर पर था, इसके अलावा गैर-सरकारी तौर पर भी जबर्दस्त काम हो रहा था। प्रचार के इस काम मे उचित और अनुचित सब तरह के उपायो को अपनाया जाता था। स्वीडनवासियो की सद्भावना हासिल करने के लिए स्वीडन के स्टॉकहोम मे अंग्रेजो ने सरकारी तौर पर एक किस्म का अंग्रेजी सगीत-भवन खोला था, जिसमे मनोरजन का रगारग कार्यक्रम होता था।

इस प्रचार ने और जर्मनी की पनडुब्बियो की कार्रवाइयो ने, जिनके बारे

[1] Boche—खून का प्यासा बंगाई।

मे मैं आगे चलकर कुछ लिखूंगा, अमेरिका को मित्र-राष्ट्रो के पक्ष मे लाने क बडा भारी काम किया। लेकिन आखिरी फैसला करानेवाला कारण तो रुपय था।

युद्ध एक खर्चीला धन्धा है, जबर्दस्त खर्चीला। यह कीमती सामग्री के पहाड-के-पहाड हडप कर जाता है और उसके एवज़ में सिर्फ बर्बादी सामने रखता है। यह बहुत-सी दौलत पैदा करनेवाली हलचलो को बन्द कर देता है और लोगो की सारी शक्तियाँ सिमटकर तबाही मे लग जाती हैं। यह तमाम रुपया कहाँ से आता? शुरू-शुरू मे मित्र-राष्ट्रो के पक्ष मे सिर्फ इग्लैण्ड और फ्रान्स ही आमूदा समझे जा सकते थे। ये युद्ध के खर्च का सिर्फ अपना ही हिस्सा नही देते थे, बल्कि रुपया और सामान उधार देकर अपने साथियो का भी हिस्सा अदा करते थे। कुछ समय बाद पेरिस का दिवाला निकल गया, उसके वित्तीय साधन खत्म हो गये। तब अकेले लन्दन ने युद्ध में मित्र-राष्ट्रो के पक्ष को धन की सहायता दी। युद्ध के दूसरे वर्ष के खत्म होते-न-होते लन्दन भी दिवालिया हो गया। इस लिए, १९१६ ई० के अन्ततक फ्रान्स और इग्लैण्ड दोनो की साख खत्म हो गई। तब धन की सहायता माँगने के लिए नामी राजनीतिज्ञो का एक ब्रिटिश मण्डल अमेरिका गया। अमेरिका रुपया उधार देने को राज़ी हो गया और फिर तो मित्र राष्ट्रो के पक्ष की तरफ से युद्ध को चलानेवाला यह अमेरिकी रुपया ही था। मित्र-राष्ट्रो पर अमेरिका का कर्ज दिनदूना-रातचौगुना बढते-बढते बेशुमार अको तक जा पहुँचा, और ज्यो-ज्यो यह बढता गया त्यो-त्यो रुपया उधार देने वाले अमेरिका के बडे बैंक और साहूकार मित्र-राष्ट्रो की जीत मे दिन-पर-दिन ज्यादा शरीक होने लगे। अगर मित्र-राष्ट्र जर्मनी से हार जायँ तो अमेरिका ने उन्हे जो भारी रकमे उधार दी थी उनका क्या होगा? अमरीकी बौहरे की जेब पर असर पडने लगा, और उसने इसी मुताबिक जवाबी कार्रवाई की। युद्ध मे अमेरिका के मित्र-राष्ट्रो मे शामिल होने के पक्ष मे भावना ज़ोर पकडने लगी और आखिरकार अमेरिका शामिल हो ही गया।

इन दिनो हम अमेरिकी कर्जों के सवाल के बारे मे बहुत-कुछ सुन रहे हैं और अखबार इसमे भरे रहते हैं। यह कर्ज़, जो इग्लैण्ड और फ्रान्स के गलो मे चक्की के पाट की तरह लटका हुआ है, और जिसे वे चुका नही सकते, युद्ध के दिनो मे अम्बार बन गया था। अगर उस समय यह रुपया नही दिया गया होता तो इनकी साख पूरी तरह खत्म हो गई होती और अमेरिका उनके साथ शामिल भी नही हुआ होता।

: १४९ :

महायुद्ध का दौर

१ अप्रैल, १९३३

जब, १९१४ ई० के अगस्त महीने के शुरू मे युद्ध शुरू हुआ, तब सारी दुनिया की नज़र बेलजियम पर और फ्रान्स की उत्तरी सरहद पर थी। बहुत बडी जर्मन सेनाएँ आगे बढती चली जा रही थी और अपने रास्ते मे आनेवाली तमाम रुकावटो का सफाया कर रही थी। छोटे-से बेलजियम ने कुछ देर के लिए उन्हें आगे बढने से रोक दिया और इस पर गुस्सा होकर उन्होने आतक पैदा करनेवाली कार्रवाइयो से बेलजियमवासियों को डराना चाहा। इन्ही कार्रवाइयो को मित्र-राष्ट्रो ने अत्याचार के किस्सो का आधार बनाया। ये सेनाएँ पेरिस की तरफ बढ़ी और फ्रान्सीसी सेना का तो मानो उनके सामने बिस्तर गोल हो गया, और छोटी-सी ब्रिटिश सेना मार भगाई गई। युद्ध छिडने के एक ही महीने के भीतर पेरिस का फैसला होता हुआ नज़र आने लगा और फ्रान्सीसी सरकार तो सचमुच अपने दफ्तर और कीमती सामान दक्षिण मे बोर्दो[1] ले जाने की तैयारी करने लगी। कुछ जर्मनो ने तो समझा कि उन्होंने युद्ध करीब-करीब जीत लिया। अगस्त के अन्त में युद्ध के पश्चिमी मोर्चे (यानी फ्रान्सीसी मोर्चे) पर यह हालत थी।

इसी दरमियान रूसी फौजें पूर्वी प्रशिया पर धावा बोल रही थी और यह यत्न किया जा रहा था कि किसी तरह पश्चिमी मोर्चे मे जर्मनी का ध्यान बँट जाय। फ्रान्स और इग्लैण्ड मे 'मडक-कूट-इजन' कहलानेवाली रूसी फौजो पर बडी-बडी आशाएँ बाँधी जा रही थी, जो बर्लिन की तरफ बढ रही थी। लेकिन रूसी सिपाहियो के पास अच्छे और पूरे हथियार नही थे, और उनके अफसर बिलकुल निकम्मे थे और उनके पीछे ज़ार की भ्रष्ट सरकार थी। जर्मन लोग यकायक उनपर टूट पडे और उन्होने पूर्वी प्रशिया की झीलो और दलदलो मे भारी रूसी सेना को फाँसकर उसे बिलकुल तबाह कर दिया। इस ज़बर्दस्त जर्मन विजय को ताननबुर्ग का सग्राम कहा जाता है। इसमे भाग लेनेवाले मुख्य सेनापतियों मे फॉन हिण्डनबर्ग था, जो बाद मे जर्मन गणराज्य का राष्ट्रपति बना।

यह महान् विजय थी, लेकिन दूसरी तरफ इससे जर्मन सेनाओ को भारी नुकसान उठाना पडा। इसे हासिल करने के लिए, और पूर्व मे रूसी हमले से कुछ डरकर, जर्मनो ने अपनी कुछ सेनाएँ फ्रान्सीसी मोर्चे से हटाकर रूसी मोर्चे पर भेज दी थी। इससे पश्चिमी मोर्चे पर पडा हुआ दबाव कुछ कम हो गया था और फ्रान्सीसी सेना ने धावा मार जर्मनो को पीछे ढकेलने की एक ज़बर्दस्त कोशिश की।

---

[1] फ्रान्स के दक्षिण मे एक मशहूर बन्दरगाह।

सितम्बर, १९१४ ई० के शुरू मे, मार्न की लडाई मे, वह जर्मनो को करीब पचास मील पीछे हटाने मे सफल हो गई। पेरिस बच गया और फ्रान्सीसियो व अंग्रेजो को दम लेने का कुछ वक्त मिल गया।

जर्मनों ने इस मुकाबले को तोडकर आगे बढने के लिए एक बार फिर ज़ोर लगाया और वे करीब-करीब सफल भी हो गये थे, लेकिन उन्हें रोक दिया गया। तब दोनो ओर की सेनाएँ खन्दकें खोदकर उनमे जम गईं और एक नये क़िस्म की लडाई, यानी 'खन्दकी जग'[1] शुरू हो गई। यह एक तरह की खिच थी, और तीन वर्ष से ऊपर, और कुछ हद तक युद्ध के खत्म होने तक, पश्चिमी मोर्चे पर यह खन्दकी जग जारी रहा और बडी भारी-भारी सेनाएँ छछून्दरो की तरह ज़मीन खोदकर अन्दर पडी रही और एक-दूसरी को बेदम करने की कोशिश करती रही। इस मोर्चे पर जर्मन और फ्रान्सीसी सेनाओ की सख्या शुरू से ही बीसियो लाख तक पहुँच गई थी। इसी मोर्चे पर छोटी-सी ब्रिटिश सेना भी तेज़ी से बढ गई, यहाँतक कि उसकी सख्या भी लाखो मे गिनी जा सकती थी।

पूर्वी या रूसी मोर्चे पर इससे ज्यादा हलचल थी। रूसी फौजो ने आस्ट्रिया की फौजो को बार-बार हराया लेकिन खुद उन्हें जर्मनो ने हमेशा हराया। इस मोर्चे पर मरनेवालो और घायलो की सख्या बहुत ही बडी थी। यह न समझना कि खन्दकी जग के सबब से पश्चिमी मोर्चे पर मरनेवालो की सख्या कुछ कम थी। मनुष्यो की ज़िन्दगी के साथ अजीब लापरवाही का बर्ताव किया जाता था और खन्दकी मोर्चों पर बार-बार हमलो मे लाखो को मरने के लिए मौत के मुँह मे झोक दिया जाता था, और नतीजा कुछ नही निकलता था।

युद्ध के और भी बहुत सारे जगी मुकाम थे। तुर्कों ने स्वेज-नहर पर हमला करने की कोशिश की, पर उन्हें पीछे हटा दिया गया। जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ मिस्र को दिसम्बर, १९१४ ई० मे इग्लैण्ड की मातहती रियासत ऐलान कर दिया गया था। फौरन ही इग्लैण्ड ने वहाँ की नई विधान-सभा को मन्सूख कर दिया और जिन लोगो पर सन्देह था उन्हें जेलो मे भर दिया। राष्ट्रवादी अखबार बन्द कर दिये गए और पाँच से ज्यादा आदमियो को एक जगह मिलने पर रोक लगा दी गई। वहाँ जो सेन्सर-प्रणाली[2] जारी की गई थी, उसे लन्दन के 'टाइम्स' अखबार ने 'वहशतभरी सख्त' बतलाया था। सारे युद्ध-काल में यह देश सचमुच फौजी कानून के मातहत रक्खा गया।

इग्लैण्ड ने तुर्की के ढीले अजर-पजरवाले साम्राज्य के कई कमजोर मुकामो में हमला कर दिया · इराक में, और, कुछ दिन बाद, फिलिस्तीन मे और सीरिया

[1] Trench Warfare.

[2] Censorship—अखबारों पर खबरें आदि छापने का प्रति—

मे। अरब मे अंग्रेजो ने अरबो की राष्ट्रीय भावना से फायदा उठाया और रुपये व सामान की खूब रिश्वतो की मदद से तुर्की के खिलाफ अरब विद्रोह खडा करवा दिया। अरब मे अंग्रेजो के एजेण्ट कर्नल टी० ई० लारेन्स का इस विद्रोह मे बहुत बडा हाथ था। बाद मे यह एक भेद-भरा आदमी मशहूर हो गया और इसने एशिया के कई आन्दोलनो मे परदे के पीछे से काम किया।

लेकिन तुर्की की खास धरती पर सीधा हमला फ़रवरी, १९१५ ई०, मे हुआ, जब ब्रिटिश जंगी बेडे ने दर्रे-दानियाल मे जबर्दस्ती घुसने की और इस तरह कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्जा करने की कोशिश की। अगर वे इसमे सफल हो गए होते तो उन्होंने युद्ध मे न सिर्फ तुर्की का ही अन्त कर दिया होता, बल्कि पश्चिमी एशिया से सारा जर्मन असर दूर कर दिया होता। लेकिन वे विफल हुए। तुर्कों ने बडी बहादुरी से मुकाबला किया और ध्यान मे रखने की दिलचस्प बात यह है कि कमाल पाशा का इसमे बहुत बडा हाथ था। करीब एक साल तक अंग्रेजो ने गैली-पोली मे इस कोशिश को जारी रक्खा, फिर भारी नुकसान उठाने के बाद वापस लौट गये।

मित्र-राष्ट्रो ने पश्चिमी और पूर्वी अफ्रीका मे जर्मन उपनिवेशो पर भी हमले किये। ये उपनिवेश जर्मनी से बिलकुल कटे हुए थे और सहायता नही पा सकते थे। धीरे-धीरे इन्होंने घुटने टेक दिये। चीन मे जर्मनी के रियायती इलाके क्याउचाउ पर जापान ने आसानी से कब्जा कर लिया। जापान तो दरअसल बडे मजे में था, क्योकि दूर-पूर्व मे कोई लडाई-झगडा नही था। इसलिए उसने चीन को डरा-धमकाकर उससे तरह-तरह की और खास रियायतें ले ली और इस तरह मौक़े का खूब फायदा उठाने की कोशिश की।

इटली कई महीनो तक युद्ध के दौर को ध्यान से देखता रहा और यह पता लगाने की कोशिश करता रहा कि कौन-सा पक्ष जीतेगा। आखिर मे यह यकीन करके कि जीत मित्र-राष्ट्रो को ही मिलेगी, उसने उनकी पेश की हुई रिश्वतें कबूल कर ली और एक गुप्त करारनामा तय कर लिया। मई, १९१५ ई० मे इटली युद्ध मे मित्र-राष्ट्रो के साथ बाकायदा शामिल हो गया। दो वर्ष तक इटली और आस्ट्रिया की फौजें एक दूसरी को हराने की सख्त कोशिशें करती रही। पर कोई नतीज़ा नही निकला। तब जर्मन फौजें आस्ट्रिया की फौजो की मदद को आ पहुँची और उनके सामने इटली की फौजें ढेर हो गईं। आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना वेनिस के नजदीक तक पहुँच गई।

अक्तूबर, १९१५ ई० मे, बलगारिया जर्मनी के साथ आ मिला। इसके कुछ ही दिन बाद आस्ट्रिया-जर्मनी की सेना ने बलगारिया के सहयोग से सर्बिया को बिलकुल कुचल दिया। सर्बिया के राजा को अपनी बची-खुची सेना के साथ देश छोड-कर भागना पडा और मित्र-राष्ट्रो के जहाजो में शरण लेनी पडी और सर्बिया

जर्मन राज्य के अधीन हो गया।

बलकानी युद्धो मे अपनी हरकतो के बाद रूमानिया मौका-परस्ती के लिए खासतौर पर मशहूर हो गया था। यह भी दो वर्ष तक महायुद्ध के दौरे को ताकता रहा और अन्त मे अगस्त, १९१६ ई० मे, इसने अपना भाग्य मित्र-राष्ट्रो के साथ जोड दिया। इसकी सज़ा भी उसे बहुत जल्दी मिल गई। जर्मन सेना उस पर टूट पडी और उसने सारे मुकाबले को कुचल डाला। रूमानिया मे भी आस्ट्रिया-जर्मनी की फौजो का कब्ज़ा हो गया।

बस, मध्य यूरोपीय शक्तियाँ कहलानेवाले जर्मनी और आस्ट्रिया का उत्तर-पूर्व मे बेलजियम पर व फ्रान्स के कुछ भाग पर और पोलैण्ड, सर्बिया व रूमानिया पर कब्ज़ा हो गया। युद्ध के कई छोटे-छोटे लडाई के मैदानो में जीत इनके हाथ रही। लेकिन लडाई की जान तो पश्चिमी मोर्चे पर और समुद्रो पर थी, और वहाँ इन्हें कोई कामयाबी नही मिल रही थी। उस मोर्चे पर दोनो पक्षो की सेनाएँ, मौत के आलिंगन मे गुथी हुई पडी थी। समुद्रो पर मित्र-राष्ट्रो का एकछत्र राज्य था। युद्ध के शुरू के दिनो मे कुछ जर्मन क्रूज़र इधर-उधर घूमते-फिरते थे और मित्र-राष्ट्रो की जहाज़रानी मे बाधा पहुँचाते थे। इनमे से एक मशहूर जहाज ऐमदन था, जिसने मद्रास तक पर बमबारी की थी। लेकिन यह तो एक तुच्छ नोक-झोक थी जिससे इस असलियत मे कोई फर्क नही पडता था कि समुद्री-रास्तो पर मित्र-राष्ट्रो का काबू था। और इस काबू की मदद से उन्होंने मध्य यूरोपीय शक्तियो को बाहर से मिलनेवाली खाने-पीने की व दूसरी सारी चीज़ो को रोकने की कोशिश की। जर्मनी और आस्ट्रिया की यह नाकाबन्दी उनके लिए भयकर सकट हो गई, क्योकि भोजन-सामग्री की बहुत कमी पड पड गई और सारी आबादी को भूखो मरने की नौबत आ गई।

उधर जर्मनी ने पनडुब्बियो के ज़रिये मित्र-राष्ट्रो के जहाजो को डुबोना शरू कर दिया। यह पनडुब्बी-जग इतना कारगर हुआ कि इगलैण्डवाली भोजन-सामग्री कम पड गई और अकाल का खतरा पैदा हो गया। मई, १९१५ ई० मे एक जर्मन पनडुब्बी ने अतलान्तिक महासागर मे चलनेवाने बडे यात्री-जहाज 'लुसिटैनिया' को डुबो दिया और इसमे बहुत लोग डूब गये। इसमे कितने ही अमेरिकी यात्री भी डूब मरे और इस सबब से अमेरिका के लोग बहुत गुस्से मे भर गये।

जर्मनी ने इग्लैण्ड पर हवाई हमले भी किये। बहुत बडे-बडे ज़ैपलिन हवा-जहाज चाँदनी रातो मे लन्दन पर और गोला-बारूद के कारखानोवाली जगहो पर बम गिराने के लिए आते थे। बाद मे बम गिराने का यह काम हवाई जहाज़ करने लगे, और इनकी घरघराहट सुनाई देना, हवामार तोपो का छूटना, और बचाव के लिए लोगो का तहखानो मे और ज़मीदोज़ मुकामो मे

दौडना, ये सब मामूली बातें हो गई। शहरी आबादियो पर इस तरह बम गिराये जाने से इग्लैण्ड के लोगो को बहुत गुस्सा आया। उनका गुस्सा वाजिब भी था, क्योकि यह बडी भयानक चीज है। लेकिन जब अग्रेजी हवाई जहाज भारत के उत्तर-पश्चिम सरहदी इलाके मे या इराक मे बम गिराते है, और खासकर उन शैतानी आविष्कारो यानी 'देर से फटनेवाले बमो' को गिराते हैं, तो इग्लैण्ड मे जरा भी गुस्सा नही पैदा होता। यह पुलिस कार्रवाई कहलाती है, और उस वक्त भी की जाती है, जब यह कहा जाता है कि कोई लडाई नही है।

बस, यो महीने-दर-महीने युद्ध चलता रहा और उसमे मनुष्यो की जानें इस तरह होम होने लगी जैसे जगल की आग मे टीडी-दल भस्म होते हैं। और ज्यो-ज्यो यह जारी रहा, त्यो-त्यो ज्यादा बर्बादी ढानेवाला और वहशियाना होता गया। जर्मनो ने जहरीली गैस चलाई और जल्द ही दोनो पक्ष इसका इस्तेमाल करने लगे। बमबारी के लिए हवाई जहाजो का ज्यादा इस्तेमाल होने लगा और फिर सबसे पहले ब्रिटिश पक्ष की तरफ से, 'टैंको' का चलन हुआ। ये बडे भारी-भरकम मशीनी दानव होते है, जो कीडो की तरह रेंगते हुए हर चीज पर चढ जाते हैं। मोर्चो पर लाखो आदमी मौत के मुंह मे चले गये और उनके पीछे उनके वतनो मे स्त्रियाँ और बच्चे भुखमरी व मोहताजी की तकलीफें सहने लगे। नाकेबन्दी के कारण, खासकर जर्मनी और आस्ट्रिया मे, भयकर भुखमरी फैल गई। ये चीजें लोगो के धीरज की परीक्षा बन गई। इस कठिन परीक्षा मे कौन-सा पक्ष दूसरे से ज्यादा दिनो तक टिका रहेगा ? क्या दोनो मे से कोई एक फौज दूसरी को थका मारेगी ? क्या जर्मनी की नाकाबन्दी उसकी हिम्मत तोड देगी ? या क्या जर्मनो का पनडुब्बी-हमला इग्लैण्ड को भूखा मारकर उसके हिम्मत व औसान तोड देगा। हरेक देश के पीछे कुर्बानियो व तकलीफो की मिसालो का बडा भारी लेखा था। लोग ताज्जुब करते थे कि क्या ये सब भयकर कुर्बानियाँ व तकलीफें फिजूल के लिए हुई थी ? क्या हम अपने शहीदो को भूल जायँ और दुश्मन के आगे घुटने टेक दे ? युद्ध से पहले के दिन मानो दूर अतीत मे चले गये थे, यहाँतक कि लोग युद्ध के कारणों को भी भूल गये थे, नर-नारियो के दिमागो को टोचनेवाली सिर्फ एक चीज रह गई थी—बदले व जीत की हवस।

उन शहीदो की पुकार बडी भयकर होती है, जो अपने प्यारे उद्देश्य के लिए अपने जीवन निछावर कर देते हैं। ऐसा कौन जिन्दा-दिल नर या नारी है, जो इसके असर से बच जाय ? युद्ध के इन आखिरी वर्षो मे सब तरफ अँधेरा छा रहा था और युद्ध मे फँसे देशो के हरेक घर मे रज था, और एक थकावट थी और लोगो की आँखो का पर्दा हट गया था, लेकिन मशाल दिखाने के सिवा कोई कर ही क्या सकता था ? एक ब्रिटिश अफसर मेजर मैक्क्रे की लिखी हुई यह रुलाने-

वाली कविता पढो और कल्पना करने की कोशिश करो कि उसकी जाति के जिन नर-नारियो ने इसे युद्ध के उन अँधेरे व उदासीभरे दिनो मे पढ़ा होगा, उनके दिलो पर कैसी बीती होगी। और यह भी याद रक्खो कि इसी किस्म की कविताएँ जुदा-जुदा देशो मे और बहुत-सी भाषाओ मे लिखी गई थी। इस कविता का हिन्दी-अनुवाद यह है :

हम हैं शहीद।
कुछ दिन हुए हम जिन्दा थे,
अनुभव उषा का करते थे, देखते थे लाली सूर्यास्त की
करते थे प्रेम और प्रेम हम पाते थे, और अब हम पड़े
फ्लैन्डर्स रणक्षेत्र मे

शत्रु के साथ उस झगडे को हमारे लेना उठा तुम;
कम्पित करों से तुम्हें फेंकते हैं हम
यह मशाल; ऊची उठा इसे रखना काम है तुम्हारा।
यदि तुम करोगे दगा हम मरनेवालो से,
शान्ति नहीं हमको मिलेगी, फिर चाहे उगें पोस्ते के फूल
फ्लैन्डर्स रणक्षेत्र मे

१९१६ ई० के आखिरी दिनो मे मित्र-राष्ट्रो का पलडा भारी मालूम देने लगा। उनके नये टैको ने पश्चिमी मोर्चे पर पहल उनके हाथ मे दे दी थी, इग्लैण्ड पर छापे मारनेवाले जैपलिन हवा-जहाजो पर आफतें आ रही थी, जर्मन पनडुब्बियो के बावजूद तटस्थ जहाज़ो के ज़रिये काफी भोजन-सामग्री इग्लैण्ड पहुँच पा रही थी। मई, १९१६ ई० मे उत्तरी सागर मे एक समुद्री जग (जटलैण्ड की जग) हुई जिसमे कुल मिलाकर अग्रेज़ो की जीत रही थी। इसी बीच जर्मनी की नाकेबन्दी से आस्ट्रिया-जर्मनी के लोगो को भुखमरी के आसार नज़र आने लगे थे। ऐसा लगता था कि मध्य यूरोपीय शक्तियो के लिए बुरा वक्त आ गया, इसलिए चट-पट कारंवाई की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। जर्मनी ने तो मित्र-राष्ट्रो को टटोलने के लिए सुलह के कुछ इशारे भी भेजे, लेकिन उन्होंने इनको बिलकुल नामजूर कर दिया। मित्र-राष्ट्रो की सरकारें कई देशो के आपसी बटवारे के लिए गुप्त सन्धियो के ज़रिये इतनी ज्यादा बँधी हुई थी कि वे पूरी जीत से कम किसी भी चीज़ से राज़ी नही हो सकती थी। सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने भी सुलह कराने के कुछ यत्न किये थे, पर वह सफल नही हुए।

इसपर जर्मन नेताओ ने अपना पनडुब्बी-युद्ध घमसान बनाने का फैसला किया ताकि इग्लैण्ड भूखा मरकर घुटने टेक दे। जनवरी, १९१७ ई० मे उन्होंने ऐलान किया कि वे कुछ समुद्रो मे तटस्थ जहाज़ो को भी डुबो देंगे। इरादा यह था

कि ये तटस्थ जहाज इंग्लैण्ड को खाने की चीजें न ले जा सकें। इस ऐलान ने अमेरिका को बहुत नाराज़ कर दिया, वह अपने जहाजो का इस प्रकार डुबोया जाना बर्दाश्त नही कर सकता था। इससे उसका युद्ध मे शामिल होना लाज़िमी हो गया। जब जर्मन सरकार ने बिना रोक-टोक सब जहाजो को डुबोने के बारे मे तय किया तो उसे यह बात ज़रूर मालूम रही होगी। शायद उन्होंने यह महसूस किया हो कि उनके लिए कोई चारा बाकी नही रहा और यह खतरा उठाना ज़रूरी था, या उन्होंने यह समझा हो कि वैसे भी अमेरिकी साहूकार मित्र-राष्ट्रो को काफी मदद दे रहे थे। जो भी हो, सयुक्त राज्य अमेरिका ने अप्रैल, १९१७ ई० मे युद्ध छेडने की घोषणा कर दी। ऐसे मौके पर, जबकि दूसरे सब राष्ट्र थके-माँदे हो रहे थे, अमेरिका अपने अपार साधनो और अपनी ताज़ा हालत को लेकर युद्ध मे उतरा तो इसमे ज़रा भी शक नही रहा कि जर्मन शक्तियाँ हरा दी जायँगी।

लेकिन अमेरिका के युद्ध मे शामिल होने से पहले ही बहुत ज़रूरी महत्व की एक और घटना घट चुकी थी। १५ मार्च, १९१७ ई० को पहली रूसी क्रान्ति के नतीजे से ज़ार को गद्दी छोडनी पड गई थी। इस क्रान्ति के बारे मे मैं तुम्हें अलग लिखूंगा। अभी तो मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि इस क्रान्ति के सबब से युद्ध के दौर मे ज़बर्दस्त फ़र्क पड गया। यह साफ हो गया कि रूस अब अगर चाहता तो भी जर्मन शक्तियो के खिलाफ ज्यादा नही लड सकता था। इसका मतलब यह हुआ कि जर्मनी पूर्वी मोर्चे की चिन्ता से बिलकुल बरी हो गया। अब वह अपनी तमाम या ज्यादातर पूर्वी सेनाओ को वहाँ से हटाकर पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था और उन्हे फ्रान्सीसियो और अंग्रेजो पर धावा मारने के काम मे ला सकता था। अचानक ही स्थिति जर्मनी के हक मे अच्छी बन गई। अगर रूसी क्रान्ति होने के छै या सात सप्ताह पहले उसे यह बात मालूम हो गई होती तो कितना फ़र्क हो गया होता। इसका मतलब शायद यह होता कि वह अपने पनडुब्बी-जग को जोरदार न बनाता और शायद अमेरिका तटस्थ बना रहता। रूस के युद्ध से बाहर निकल जाने और अमेरिका के तटस्थ रहने से यह बहुत ज्यादा सम्भव था कि अंग्रेजी व फ्रान्सीसी सेनाओ को जर्मनी कुचल डालता। लेकिन इस हालत मे भी पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी की ताकत बढ गई, और उधर जर्मन पनडुब्बियाँ के ज़रिये मित्र-राष्ट्रो के व तटस्थ देशो के जहाजो का ज़बर्दस्त नाश होने लगा।

रूसी क्रान्ति ने मानो जर्मनी को मदद पहुँचाई। लेकिन फिर भी यह अन्दरूनी कमज़ोरी का एक बडा भारी सबब बन गई। पहली क्रान्ति को आठ महीने भी न बीते थे कि दूसरी क्रान्ति हो गई, जिसके नतीजे से सोवियतो और बोलशेविको के हाथ मे सत्ता आ गई, जिनका नारा था शान्ति। उन्होंने तमाम जगी देशो के मजदूरो और सिपाहियो को पुकारा और शान्ति के लिए अपील की।

उन्होने वतलाया कि यह पूंजीपतियो का युद्ध था और यह कि मजदूरो को चाहिए कि वे साम्राज्यशाही इरादो की खातिर अपने-आपको तोपो का निवाला न वनने दे। इनमे से कुछ आवाजे मोर्चों पर लडनेवाले दूसरे राष्ट्रो के सिपाहियो के कानो मे पहुँची और उनके दिलो पर बहुत असर हुआ। फ्रान्सीसी सेना मे गदर हुआ, जिसे अधिकारी लोग किसी तरह सिर्फ दवा ही पाये। जर्मन सिपाहियो के दिलो पर तो और भी ज्यादा असर हुआ क्योकि कितनी ही पलटनो ने तो क्रान्ति के बाद रूसी फौजो से सचमुच भाईचारा कायम कर लिया था। जब इन पलटनो की वदली पश्चिमी मोर्चे पर की गई, तो वे यह सन्देश अपने साथ ले गये और इसे दूसरी पलटनो मे फैलाने लगे। जर्मनी युद्ध से थक चुका था और उसकी हिम्मत विलकुल टूट गई थी, इसलिए रूस के ये वीज ऐसी ज़मीन पर पडे, जो उनके लिए पहले ही तैयार थी। इस तरह रूसी क्रान्ति ने जर्मनी को भीतर से कमज़ोर कर दिया।

लेकिन जर्मन फौजी नेता इन अप-शकुनो का देख ही नही रहे थे और मार्च, १९१८ ई० मे उन्होने सोवियत रूस पर एक दवोचनेवाली और नीचा दिखाने-वाली सुलह जवर्दस्ती थोप दी। सोवियतो को इसे इसलिए मानना पडा कि उनके सामने दूसरा कोई चारा नही था और वे किसी भी कीमत पर सुलह चाहते थे। मार्च, १९१८ ई० मे ही जर्मनो ने पश्चिमी मोर्चे पर आखिरी वार ज़वर्दस्त ज़ोर लगाया। जर्मनो ने अंग्रेज़ी-फ्रान्सीसी कतार तोड डाली और इस धावे मे सेनाओ का नाश करते हुए आगे वढ गये और फिर उसी मार्न नदी तक जा पहुँचे जहाँ से साढे तीन वर्ष पहले उन्हे पीछे ढकेल दिया गया था। यह ज़वर्दस्त कोशिश थी लेकिन यह आखिरी सावित हुई और जर्मनी विल्कुल पस्त हो गया। इसी बीच अतलान्तिक महासागर पार करके अमेरिकी सेनाएँ आ गई, और पिछले कडवे तजुर्वे से नसीहत लेकर अव पश्चिमी मोर्चे पर सारे मित्र-राष्ट्रो की सेनाएँ—व्रिटिश, अमेरिकी, फ्रान्सीसी—एक ही आला कमान के नीचे रख दी गईं, ताकि सवके वीच पूरा-पूरा सहयोग हो सके और मिलकर जोर लगाया जा सके। पश्चिम मे सारी मित्र-राष्ट्री सेना का महा-सेनापति फ्रान्स के मार्शल फॉश को वनाया गया। १९१८ ई० के वीच तक हवा का रुख़ साफ वदल गया, पहल और हमला करने की हैसियत, दोनो मित्र-राष्ट्रो के हाथ मे आ गई और ये जर्मनो को पीछे ढकेलते हुए आगे वढने लगे। अक्तूवर तक युद्ध का अन्त नजदीक नजर आने लगा और युद्ध वन्द होने की चर्चा होने लगी।

४ नवम्वर को कील मे जर्मन जहाज़ी फौज मे वगावत हो गई और पाँच दिन वाद वर्लिन मे जर्मन गणराज्य की घोषणा कर दी गई। उसी दिन, यानी ९ नवम्वर को, कैसर विल्हैम द्वितीय वडे भद्दे ढग से और वेइज़्ज़ती से जर्मनी

छोडकर हालैण्ड भाग गया और इसके साथ ही हॉयनत्सालर्न घराने का अन्त हो गया। चीन के मंचुओ की तरह "वे शेर की दहाड की तरह दाखिल हुए थे और साँप की पूँछ की तरह गायब हो गये।"

११ नवम्बर, १९१८ ई० को यद्ध रोकने के सुलहनामे पर दस्तखत हो गये और युद्ध का अन्त हो गया। इस सुलहनामे का आधार वे "चौदह शर्ते" थी, जो अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने तैयार की थी। ये शर्तें ज्यादातर इन उसूलो को ध्यान मे रखकर बनाई गई थी युद्ध मे शरीक छोटे-छोटे राष्ट्रो के लिए आत्म-निर्णय, निरस्त्रीकरण (हथियार-बन्दी), गुप्त कूटनीति से बचना, सब शक्तियाँ रूस की सहायता करें और एक राष्ट्र-सघ[1]। आगे चलकर हम देखेंगे कि विजेताओ ने इन चौदह शर्तो मे से कितनी को आसानी से ताक मे उठाकर रख दिया।

युद्ध खत्म हो गया। लेकिन इग्लैण्ड के जगी बेडे ने जर्मनी की नाकाबन्दी जारी रक्खी, और भूखे मरते जर्मन स्त्रियो व बच्चो के लिए भोजन-सामग्री नही पहुँचने दी। छोटे-छोटे बच्चो तक को सज़ा देने की नीयत का और नफरत का यह हैरत पैदा करनेवाला नगा रूप था, और इग्लैण्ड के नामदार राजनीतिज्ञो ने, जन-नेताओ ने, बडे-बडे अखबारो ने और उदारदली कहलानेवाले साप्ताहिको तक ने, इसका समर्थन किया। देखा जाय तो उस समय इग्लैण्ड का प्रधान-मन्त्री लॉयड जॉर्ज उदारदली था। युद्ध के सवा चार वर्षों का लेखा बेरोक हैवानियतो व सख्त बेरहमियो से भरा हुआ है। लेकिन सुलह के बाद जर्मनी की नाकाबन्दी जारी रखना सरासर जल्लादी हैवानियत मे शायद सबसे ज्यादा बढा-चढा है। युद्ध खत्म हो गया था, लेकिन फिर भी एक पूरा राष्ट्र भूखो मर रहा था और उसके बच्चे भूख की भयकर तकलीफे उठा रहे थे और भोजन-सामग्री जान-बूझकर और ज़बर्दस्ती उन्हे नही पहुँचने दी जाती थी। युद्ध हमारे दिमागो को कितना फेर देता है, और उन्हे बावली नफरत से कितना भर देता है! जर्मनी के बूढे चैन्सलर बैथमान हॉलवैग ने कहा था "हमारी सन्तानो पर और हमारी सन्तानो की सन्तानो पर उस नाकाबन्दी की छाप बनी रहेगी, जो इग्लैण्ड ने जबर्दस्ती हमारे खिलाफ की थी, और जिसकी छनी हुई बेरहमी शैतानियत से किसी तरह कम नही है।"

एक तरफ तो बडे-बडे राजनीतिज्ञ और ऊँची कुर्सियो पर बैठे दूसरे लोग इस नाकाबन्दी का समर्थन कर रहे थे, लेकिन दूसरी तरफ बेचारा अग्रेज़ सिपाही, जिसने लडाई की मुसीबते झेली थी, इस दृश्य को बर्दाश्त नही कर सकता था। सुलह के बाद राइन प्रदेश के कोलोन नगर मे एक ब्रिटिश सेना डाल दी गई थी।

[1]League of Nations

इस सेना की कमानवाले अंग्रेज़ सेनापति को एक तार प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज को भेजना पडा था, जिसमे बतलाया गया था कि "जर्मन स्त्रियो और बच्चो के कष्टो को देखकर ब्रिटिश सेना पर कितना बुरा असर पड रहा था।" सुलह के बाद सात महीने से ऊपर इंग्लैण्ड ने जर्मनी की यह नाकाबन्दी जारी रक्खी।

युद्ध के लम्बे दौर ने युद्ध मे फँसे देशो को हैवान बना दिया था। इसने बहुत-से लोगो की नेकी-बदी की भावना मिटा दी थी, और कितने ही अच्छे-भले आदमियो को भी पापियो जैसा बना दिया था। लोग मारकाट के, और सच्ची बातो की जान बूझकर तोड-मरोड के, आदी हो गये थे, और उनके दिलो में नफरत और बदले की भावना भर गई थी।

इस युद्ध का गोशवारा क्या था ? आज तक कोई नही जानता, अभी तक तो वह तैयार ही किया जा रहा है। मैं यहाँ कुछ आँकडे दूँगा, जिनसे तुम यह समझ सको कि आजकल के युद्ध का क्या मतलब होता है।

युद्ध मे मरनेवालो और घायलो की कुल सख्या का हिसाब नीचे लिखे मुताबिक़ लगाया गया है:

मारे गये सिपाही	१,००,००,०००
मरे हुए माने गये सिपाही	३०,००,०००
मारे गये असैनिक	१,३०,००,०००
घायल	२,००,००,०००
कैदी	३०,००,०००
युद्ध मे अनाथ हुए	९०,००,०००
युद्ध मे विधवाएँ हुई	५०,००,०००
शरणार्थी	१,००,००,०००

इन बेशुमार आँकडो को देखो और इनके भीतर इन्सानियत की आहो का खयाल करने की कोशिश करो। इनका जोड लगाओ. सिर्फ मरनेवालो और घायलों की ही सख्या ४,६०,००,००० होती है।

और इसमे नकद कितना खर्च हुआ ? इसका हिसाब अभीतक लगाया जा रहा है। अमेरिकावालों ने मित्रराष्ट्र-पक्ष का कुल खर्च ४०,९९,९६,००,००० पौण्ड (क़रीब पौने छै खरब रुपये) कूता है, और जर्मन पक्ष का खर्च १५,१२,२३,००,००० पौण्ड (करीब दो खरब रुपये)। कुल मीज़ान छप्पन अरब पौण्ड से ऊपर। ये आँकडे हमारी समझ मे पूरी तरह नही आ सकते क्योकि ये हमारी रोज़ाना ज़िन्दगी के हिसाब से बिलकुल परे है। ये मानो हमे खगोल विज्ञान के आँकडो की याद दिलाते हैं, जैसे सूर्य की या तारो की दूरी। इसमे अचम्भे की कोई बात नही कि जो राष्ट्र इस युद्ध मे शामिल थे, हारनेवाले व

जीतनेवाले दोनो ही, वे युद्ध मे किये गए खर्च से पैदा होनेवाले नतीजो मे अभी तक बुरी तरह फँसे हुए है।

"युद्धो का अन्त करने के लिए युद्ध", और "ससार मे लोकतन्त्र को निरापद बनाने के लिए युद्ध", और "छोटे-छोटे राष्ट्रो की आजादी कायम रखने के लिए युद्ध" और "आत्म-निर्णय" के लिए यद्ध, और आमतौर पर आज़ादी व ऊँचे आदर्शों के लिए युद्ध, खत्म हो गया। और इसमे जीत का सेहरा इग्लैण्ड, फ्रान्स, अमेरिका, इटली और कई छोटे-छोटे पिछलग्गुओ के सिर बँधा (रूस अलबत्ता इनमे शामिल नही था)। इन ऊँचे व नेक आदर्शों को अमली जामा कैसे पहनाया गया, यह हम आगे चलकर देखेंगे। अभी तो हम अग्रेज कवि साउदी की कविता' की उन लाइनो को याद करलें जो उसने एक पुरानी जीत के बारे मे लिखी थी। इनका हिन्दी-अनुवाद यह है

"और सब ही ने सराहा ड्यूक को
जिसने जीती थी लडाई यह बड़ी।"
"पर हुआ क्या लाभ इससे अन्त मे?"
नन्हें पीटर किन ने बस पूछा यही
बोला वह—"यह तो बता सकता न मैं,
पर विजय वह बहुत ही मशहूर थी।"

: १५० :

रूस में जारशाही की आखिरी साँस

७ अप्रैल, १९३३

महायुद्ध के दौर के बयान मे मैंने रूसी क्रान्ति का और युद्ध पर उसके असर का ज़िक्र किया था। युद्ध पर इस असर के अलावा यह क्रान्ति खुद भी एक जबर्दस्त घटना थी, जो ससार के इतिहास मे बेजोड है। हालांकि अपने ढग की यह पहली ही क्रान्ति थी, मगर अब यह बहुत दिनो तक अपने नमूने की अकेली चीज नही रह सकती क्योंकि यह दूसरे देशो के लिए एक चुनौती बन गई है और ससार-भर के क्रान्तिकारियो के लिए मिसाल बन गई है। इसलिए यह बारीकी से अध्ययन करने लायक़ है। इसमे शक नही कि यह युद्ध का सबसे बडा नतीजा थी, फिर भी युद्ध मे कूदनेवाली किसी भी सरकार या राजनीतिज्ञ को न तो इसका ज़रा भी गुमान था और न वे इसे जरा भी चाहते थे। या यह कहना ज्यादा सही होगा कि इसका जन्म रूस की उन मौजूदा ऐतिहासिक व आर्थिक हालतो से हुआ, जो

'Southey—'Battle of Blenheim'

युद्ध से होनेवाली अपार तबाहियो व मुसीबतो के कारण तेजी से चरम सीमा पर पहुँच गई थी, और जिनसे लेनिन सरीखे आला-दिमाग और क्रान्ति के उस्ताद ने फायदा उठाया।

असल मे तो १९१७ ई० मे रूस मे क्रान्तियाँ हुई, एक मार्च मे और दूसरी नवम्बर मे। या इस पूरे काल को क्रान्ति की एक लगातार धारा माना जा सकता है, जिसमे दो बार बाढ आई।

रूस के बारे मे अपने पिछले पत्र मे मैने १९०५ ई० की क्रान्ति का जिक्र किया है, जो इसी तरह युद्ध और पराजय के वक्त मे पैदा हुई थी। यह हैवानी जुल्मो से दबा दी गई थी और जार की हुकूमत, सब उदारवादी विचारवालो का खुफिया विभाग के जरिये पता लगा कर उन्हे कुचलती हुई, बेरोक निरकुशता की अपनी रफ्तार पर चलती रही। मार्क्सवादियो को, और खास कर बोलशेविको को, कुचल दिया गया और उनके सारे खास-खास पुरुष व स्त्रियाँ या तो साइबेरिया की ताजीरी बस्तियो मे थे या देश छोडकर विदेशो मे चले गये थे। लेकिन विदेश-वासी इन मुट्ठीभर लोगो ने भी लेनिन की रहनुमाई मे अपना प्रचार और अध्ययन जारी रक्खे। ये सब-के-सब पक्के मार्क्सवादी थे, लेकिन मार्क्स का सिद्धान्त इग्लैण्ड या जर्मनी जैसे खूब ज्यादा उद्योगी देशो के लिए ही सोच कर निकाला गया था। रूस अभीतक मध्यकालीन और खेतिहर देश था, उसके बडे शहरो मे उद्योगो की सिर्फ शुरुआत थी। इसलिए लेनिन ने मार्क्सवाद की बुनियादी बातो को इसी रूस के मुताबिक ढालना शुरू किया। इस विषय पर उसने बहुत ज्यादा लिखा और रूसी निर्वासित लोग आपस मे बहस-मुबाहसे किया करते थे और इस तरह अपने-आपको क्रान्ति के खयालो मे मजबूत बनाते थे। लेनिन यह मानता था कि कोई काम हो, वह माहिरो और सिखाये हुए लोगो के जरिये किया जाना चाहिए, केवल जोशीले दीवानो के जरिये नही। अगर क्रान्ति की कोशिश की जानेवाली थी, तो लेनिन की राय थी कि लोगो को इस काम के लिए पूरी तरह तैयार किया जाना भी जरूरी था, ताकि जब कार्रवाई का वक्त आये तो वे साफ तौर से सोच सके कि उन्हे क्या करना है। इसलिए, १९०५ ई० के दमन के बाद के अँधियारे वर्षों को, लेनिन और उसके साथियो ने अपने को आयन्दा कार्रवाई के लिए तैयार करने मे लगाया।

१९१४ ई० मे ही रूस का शहरी मजदूर-वर्ग चेतने लगा था और दुबारा क्रान्तिकारी बन रहा था। बहुत-सी राजनीतिक हडताले हुई। तब युद्ध शुरु हो गया और इसने लोगो का सारा ध्यान खीच लिया और सबसे ज्यादा तरक्की-पसन्द मजदूरो को सिपाही बनाकर मोर्चों पर भेज दिया गया। लेनिन और उसके

जमात ने शुरू से ही युद्ध का विरोध किया (ज्यादातर नेता रूस मे निर्वासित थे)। दूसरे देशों के समाजवादियों की तरह वे इसकी धार मे वह नही गये। उन्होने इसे पूंजीपतियो का युद्ध बतलाया, जिसमे मजदूर-वर्ग का कोई सरोकार नही था, अगर था तो सिर्फ उसी हद तक जहांतक कि वे अपनी आजादी हासिल करने के लिए उसका फायदा उठा सके।

लडाइयों मे रूसी सेना को जबर्दस्त नुकसान उठाने पडे, शायद युद्ध मे उलझी हुई सब सेनाओ से ज्यादा। एक तो वैसे ही यह माना जाता है कि फौजी लोग आमतौर पर ज्यादा चतुर नही हुआ करते, फिर रूसी सेनापति तो बिलकुल ही निकम्मे थे। रूसी सिपाही, जिनके पास न तो अच्छे और पूरे हथियार थे, और अक्सर जिन्हे न गोली-बारूद मिलती थी और न पीछे से सहायता, लाखो की सख्या में दुश्मन के आगे धकेल दिये जाते थे और इस तरह मौत के मुंह मे झोक दिये जाते थे। इसी बीच पेत्रोग्राद मे, जो पहले सेण्ट पीटर्सबर्ग था, व दूसरे बडे शहरो मे, जबर्दस्त मुनाफाखोरी चल रही थी और सट्टेबाज मालामाल बन रहे थे। ये 'देश-भक्त' सट्टेबाज और मुनाफाखोर इसीलिए जोर-जोर से मांग करते थे कि युद्ध अन्त तक लडा जाय। इसमें शक नही कि अगर युद्ध सदा चलता रहता तो इनके मन की मुराद पूरी हो जाती। लेकिन सिपाही और मजदूर और किसान-वर्ग (जो सिपाही देता था) पस्त हो गये थे, और भूखो मर रहे थे और बेचैनी से भर रहे थे।

जार निकोलस बडा ही मूर्ख आदमी था, जो अपनी पत्नी जारीना के बहुत ज्यादा असर मे था, और यह भी उतनी ही मूर्ख थी पर उससे ज्यादा हठीली थी। इन दोनो ने अपने चारो तरफ लफगो और मूर्खों को जमा कर रक्खा था और किसीकी मजाल नही थी कि इनकी बुराई करे। मामला यहांतक पहुँचा कि ग्रेगरी रासपुतिन नामक एक गुण्डा जारीना का खास मर्जीदान बन गया और जारीना के जरिये से जार का भी (रासपुतिन का अर्थ है 'गन्दा कुत्ता')। रासपुतिन एक गरीब किसान था जो घोडो की चोरी के मामले मे झमेले मे पड गया था। इसने पवित्रता का बाना पहनने का, और फकीरी का फायदेमन्द पेशा इख्तियार करने का फैसला किया। भारत की तरह रूस मे भी पैसा कमाने का यह आसान तरीका था। उसने अपने बाल बढाने शुरू किये और बालो के साथ उसकी शोहरत भी बढी, यहांतक कि वह शाही दरबार मे जा पहुँचा। जार और जारीना का इकलौता पुत्र जो जारेवित्ज (युवराज) कहलाता था, कुछ बीमार रहता था और रासपुतिन ने किसी तरह जारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह उसे चगा कर देगा। बस, उसकी किस्मत खुल गई और कुछ ही दिनो मे वह जार और जारीना पर हावी हो गया और ऊँची-से-ऊँची नौकरियां उसीकी

सलाह पर दी जाने लगी। वह वडी वदनाम ज़िन्दगी वसर करता था और भारी-भारी रिश्वतें लेता था, लेकिन फिर भी उसने वर्षों तक अपना दवदवा कायम रक्खा।

इससे सवके दिलो मे नफरत पैदा हो गई। यहाँतक कि उदारदली और अमीर-वर्ग भी वडवडाने लगे और राजमहल की क्रान्ति की—यानी ज़ार को ज़बर्दस्ती वदल डालने की—चर्चा चलने लगी। इसी वीच ज़ार निकोलस अपनी सेना का सिपहसालार वन गया और हर चीज़ को चौपट करने लगा। १९१६ ई० का साल ख़त्म होने से कुछ दिन पहले ज़ार के घराने के एक व्यक्ति ने रासपुतिन की हत्या कर डाली। उसे भोजन के लिए वुलाया गया और कहा गया कि अपनेको गोली मार ले, लेकिन जव उसने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे गोली मार दी गई। इसकी हत्या का लोगो ने एक वला से छुटकारा मानकर स्वागत किया, लेकिन इसके नतीजे से ज़ार की खुफिया पुलिस का अत्याचार और भी वढ गया।

सकट दिन-पर-दिन वढने लगा। अन्न का अकाल पड गया और पैत्रोग्राद मे खाने की चीज़ो के लिए दगे हो गये। और फिर, मार्च के शुरू मे, मज़दूरो की बहुत दिनो की तडप मे से अचानक और अपने-आप क्रान्ति पैदा हो गई। मार्च की ८ तारीख से लगाकर १२ तारीख तक के पाँच दिनो मे इस क्रान्ति की शानदार विजय हो गई। यह कोई राजमहल का मामला नही था, न यह कोई सगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी योजना चोटी के नेताओ ने होशियारी से वनाई हो। यह तो मानो नीचे से उठी थी, सवसे ज्यादा सताये हुए मज़दूरो मे से उठी थी, और विना किसी ज़ाहिरा योजना या रहनुमाई के अन्धे की तरह टटोलती हुई आगे वढी थी। मुक़ामी वोलशेविको-समेत सारे क्रान्तिकारी दल भौचक रह गयेऔर यह नही सोच सके कि क्या रास्ता वतायें। जनता ने खुद ही पहले कदम उठाया और जिस घडी उन्होने पैत्रोग्राद मे पडे हुए सिपाहियो को अपनी तरफ मिला लिया, उन्हें विजय हासिल हो गई। इन क्रान्तिकारी जनसमूहो को तबाही पर उतारू बिखरी हुई भीड समझने की गलती नही करनी चाहिए, जैसे कि पहले अक्सर किसानो के दगे हुए थे। मार्च की इस क्रान्ति के वारे मे महत्व की वात यह थी कि इसमे, इतिहास मे पहली वार, कारखानो के मज़दूर-वर्ग ने, जिसे 'सर्वहारा-वर्ग'[1] कहा गया है, आगे कदम वढाया। और हालाँकि इन मज़दूरो के साथ उस समय कोई ऊँचे दर्जे के नेता नही थे (लेनिन और दूसरे नेता या तो कैदी थे या निर्वासित), फिर भी इनमे लेनिन की जमात के तैयार किये हुए कितने ही अनजाने कार्यकर्त्ता थे। वीसियो कारखानो के इन अनजाने मज़दूरो ने सारे आन्दोलन को सहारा दिया और उसे निश्चित धाराओ में चलाया।

---

[1] Proletariat.

यहाँ हम उद्योगी जन-समूहो का वह रूप देखते हैं, जो अमली कार्रवाई में सामने आया। ऐसा और कही भी नही हुआ। रूस तो बहुत ही ज्यादा खेतिहर देश था और यह खेती भी मध्यकालीन ढग पर चलाई जाती थी। कुल मिलाकर सारे देश मे आधुनिक उद्योग नहीं के बराबर थे, जो थोडे-बहुत थे, वे भी कुछेक नगरो मे जमे हुए थे। इन कारखानो मे से बहुत-से तो पेत्रोग्राद मे थे, इसलिए यहाँ औद्योगिक मजदूरो की बहुत बडी आबादी थी। मार्च की क्रान्ति पेत्रोग्राद के इन मजदूरो का और इस नगर मे पडी हुई पलटनो का काम थी।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गडगडाहट सुनाई देती है। नारियाँ आगे आती हैं और कपडे के कारखानो की मजदूरनियाँ बाहर निकल आती हैं और बाजारो मे प्रदर्शन करती हैं। दूसरे दिन हडतालो का जोर बढ जाता है, बहुत सारे मजदूर भी बाहर निकल आते हैं, रोटी की पुकार मचाई जाती है और "निरकुशता का नाश हो" के नारे लगाये जाते हैं। सत्ताधारी लोग प्रदर्शन करनेवाले मजदूरो को कुचलने के लिए कज्जाको को भेजते हैं, जो पहले भी सदा जारशाही के खास पुश्ते रहे थे। कज्जाक लोग भीड को धक्के मारकर तितर-बितर करते हैं, पर गोलियाँ नही चलाते। और मजदूर बडी खुशी के साथ देखते हैं कि अपने सरकारी मुखडो के पीछे कज्जाक लोग असल मे उनके दोस्त हैं। फौरन ही लोगो का उत्साह बढ जाता है और वे कज्जाको से भाईचारा बढाने की कोशिश करते हैं। लेकिन पुलिस से नफरत की जाती है और उनपर पत्थर फेंके जाते हैं। तीसरे दिन, १० मार्च को, कज्जाको के साथ भाईचारे की भावना बढ़ती हुई नजर आती है। यहाँतक कि यह अफवाह फैल जाती है कि लोगो पर गोलियाँ चलानेवाली पुलिस पर कज्जाको ने गोलियाँ चलाईं। पुलिस बाजारो से हट जाती है। मजदूर-नारियाँ सिपाहियो के पास जाती हैं और उनसे दर्दभरी अपील करती हैं, सिपाहियो की सगीनें ऊपर कर ली जाती हैं।

अगला दिन, ११ मार्च, इतवार होता है। मजदूर लोग शहर के बीच मे जमा होते हैं और पुलिस उनपर छिपी जगहो से गोलियाँ चलाती है। कुछ फौजी सिपाही भी लोगो पर गोलियाँ चलाते हैं, इस पर लोग उस पलटन के बारको में जाकर सख्त शिकायत करते हैं। पलटन का दिल पिघल जाता है और वह अपने गैर-कमीशन अफसरो की मातहती मे जनता की रक्षा के लिए निकल पडती है, वह पुलिस पर गोलियाँ चलाती है। पलटन को गिरफ्तार किया जाता है, पर अब मामला हाथ से निकल चुका होता है। १२ मार्च को विद्रोह दूसरी पलटनो मे फैल जाता है और वे अपनी रायफलें और मशीन-गनें लेकर निकल पडती हैं। बाजारो में खूब गोलियाँ चलती हैं, लेकिन यह कहना मुश्किल था कि कौन किसपर गोलियाँ चला रहा है। फिर सिपाही और मजदूर जाकर कुछ मन्त्रियो को (बाकी भाग

चुके हैं), पुलिसवालो को और खुफिया विभाग के आदमियो को गिरफ्तार कर लेते है। वे जेलो मे पडे हुए पुराने राजनीतिक कैदियो को रिहा कर देते हैं।

पेत्रोग्राद मे क्रान्ति की शानदार विजय हो चुकी थी। जल्द ही मास्को ने भी यही रास्ता अपनाया। गाँवो के लोग इन घटनाओ को गौर से देख रहे थे। धीरे-धीरे किसान-वर्ग ने नई व्यवस्था को मान लिया, पर बिना उत्साह के। उनके लिए तो महत्व के दो ही सवाल थे, धरती के मालिक बनना और बेखटके रहना।

ज़ार का क्या हुआ? इन घटना-भरे दिनो मे उसपर क्या बीत रही थी? वह पेत्रोग्राद मे नही था, वहाँ से बहुत दूर एक छोटे-से नगर मे था, जहाँ से, ऐसा समझा जाता था कि वह सिपहसालार की हैसियत से सेनाओ की बागडोर सम्हाल रहा था। लेकिन उसका वक्त आ गया था और एक पूरी तरह पके फल की तरह वह बिना किसी का ध्यान खीचे टूट कर गिर पडा। जबर्दस्त ज़ार, सारे रूसो का महानिरकुश शासक, जिसके आगे लाखो थर्राते थे, 'पवित्र रूस' का 'नन्हा पिता', 'इतिहास के कूडा-दान' मे गायब हो गया। यह अजीब बात है कि जब बडे ढाँचो का काम पूरा हो जाता है और उनकी जिन्दगी पूरी हो जाती है, तो वे किस तरह ढह जाते हैं। जब ज़ार ने पेत्रोग्राद में मज़दूरो की हडतालो का और दगो का हाल सुना तो उसने फौजी कानून लागू करने का हुक्म निकाला। कमान करने-वाले सेनापति ने इसका रस्मी तौरपर ऐलान कर दिया, पर इस ऐलान की न तो शहर मे मुनादी की गई और न इसे कही चिपकाया गया, क्योकि इस काम को करने-वाला ही कोई न मिला! सरकारी ढाँचा टूक-टूक हो चुका था। ज़ार ने अब भी इन सब घटनाओ से आँखें मूँदकर पेत्रोग्राद वापस जाना चाहा। रेल के मज़दूरो ने रास्ते मे उसकी गाडी रोक ली। ज़ारीना ने, जो उस समय पेत्रोग्राद के बाहर की एक बस्ती मे थी, ज़ार को एक तार भेजा। तारघर ने उसपर पेंसिल से यह लिखकर लौटा दिया "पानेवाले का पता-ठिकाना नामालूम!"

मोर्चे पर लडनेवाले सेनापतियो ने और पेत्रोग्राद मे रहनेवाले उदार-दली नेताओ ने इन घटनाओ से डरकर, और इस टूट-फूट मे से जो कुछ बच सके बचाने की आशा करके, ज़ार से राजगद्दी छोड देने की प्रार्थना की। ज़ार ने ऐसा ही किया और अपने एक रिश्तेदार को अपना उत्तराधिकारी नामज़द कर दिया। लेकिन अब कोई ज़ार नही होनेवाला था, रोमानॉफ का घराना, तीन सौ वर्षों के निरकुश शासन के बाद, रूसी रगमच से सदा के लिए बिदा हो गया।

अमीर-वर्ग, ज़मीदार-वर्ग, ऊपर का मध्यम-वर्ग और उदारदली व सुधारक लोग तक भी, मजदूर-वर्ग के इस भडाके को आतक और दहशत से देख रहे थे। जब उन्होने देखा कि जिस सेना पर वे भरोसा करते थे वह भी मज़दूरो से जा मिली, तो वे उनके सामने अपनेको बेबस महसूस करने लगे। अभीतक वे यह तय नहीं

कर पाये थे कि जीत किस पक्ष की होगी, क्योकि सम्भव था कि ज़ार मोर्चे पर से सेना लेकर फिर प्रकट हो जाय और उसकी सहायता से वलवे को कुचल दे। इस-लिए एक तरफ तो मजदूरों के डर ने, दूसरी तरफ ज़ार के डर ने, और साथ ही अपनी चमडी बचाने की बेहद चिन्ता ने, इनकी दशा बहुत दुखी बना दी थी। उस वक्त एक दूमा मौजूद थी जिसमे ज़मीदार-वर्ग और ऊपर के मध्यम-वर्ग के प्रतिनिधि थे। मजदूर भी कुछ हद तक इसे मानते थे, लेकिन इस नाज़ुक घडी मे आगे कदम वढाने या कुछ करने के वजाय उसके अध्यक्ष और सदस्य डर के मारे काँपते हुए बैठे रहे और यह तय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी बीच सोवियत का रूप वनने लगा। मजदूरो के प्रतिनिधियो के अलावा सिपाहियो के प्रतिनिधि भी इसमे शामिल कर दिये गए और नई सोवियत ने बहुत वडे तौरीद[1] राजमहल के एक वाज़ू पर कब्ज़ा कर लिया, जिसका कुछ भाग दूमा ने घेर रक्खा था। मजदूरो और सिपाहियो मे अपनी विजय का जोश भरा हुआ था। पर अव सवाल यह पैदा हुआ कि इस विजय का वे क्या करें ? उन्होंने सत्ता हासिल कर ली थी, उसकी तामील कौन करे ? उन्हें यह नही सूझा कि खुद सोवियत ही यह काम कर सकती है। उन्होने यह मान लिया कि मध्यम-वर्ग को ही सत्ता लेनी चाहिए। इसलिए सोवियत का एक शिष्ट-मण्डल पैदल ही दूमा के पास यह कहने के लिए गया कि वह शासन का काम सम्हाले। दूमा के अध्यक्ष और सदस्यो ने समझा कि ये लोग उन्हे गिरफ्तार करने आये हैं। वे नही चाहते थे कि सत्ता का वोझ उनपर डाला जाय, वे इससे पैदा होनेवाले खतरो से डरते थे। लेकिन वे करते भी तो क्या ? सोवियत शिष्ट-मण्डल ने आग्रह किया और इन लोगों को इन्कार करने मे भी डर लगा। इसलिए वडी वे-मर्ज़ी के साथ और नतीजो से डरते हुए, दूमा की एक कमेटी ने सत्ता मजूर कर ली और बाहर की दुनिया को यह मालूम पडा कि दूमा ही क्रान्ति को चला रही थी। कैसा यह अजीब गडवड-घोटाला था ! अगर हम किसी कहानी मे इन वातो को पढें तो हमें यकीन नही हो सकता कि ऐसी वातें हो सकती हैं। लेकिन सच्ची घटनाएँ अक्सर खयाली किस्सो से भी ज्यादा अजीव हुआ करती हैं।

दूमा की कमेटी ने काम-चलाऊ सरकार मुकर्रर की वह बहुत ही कट्टर-पन्थी जमात थी और उसका प्रधान मन्त्री एक राजवशी था। उसी इमारत के दूसरे वाज़ू मे सोवियत की बैठकें होती थीं और यह काम-चलाऊ सरकार के कामो में हरदम टाँग अडाती रहती थी। लेकिन खुद सोवियत भी शुरू में नर्म विचारो की थी और उसमें वोलशेविको की सख्या मुट्ठीभर थी। इस तरह एक किस्म की दोहरी हुकूमत चल रही थी—यानी काम-चलाऊ सरकार और सोवियत—और

[1] Touride Palace

इन दोनो के पीछे वे क्रान्तिकारी जन-समूह थे, जिन्होंने क्रान्ति को सफल बनाया था और उससे बडी-बडी आशाएँ बाँध रक्खी थी। नई सरकार ने भूखी और युद्ध से थकी जनता को तो सिर्फ एक ही रास्ता बताया कि जबतक जर्मनो को परास्त न कर दिया जाय तबतक युद्ध को चालू रखना चाहिए। उन्हे ताज्जुब हो रहा था कि क्या इसी चीज़ के लिए उन्होंने क्रान्ति की मुसीबतें झेली थी और ज़ार को निकाल बाहर किया था!

ठीक इसी समय, १७ अप्रैल को, लेनिन मौक़े पर आ पहुँचा। युद्ध के शुरु से आख़ीर तक वह स्वीज़रलैण्ड मे रहा था और जैसे ही उसने क्रान्ति का समाचार सुना, वह रूस आने के लिए छटपटाने लगा। पर वह आता कैसे? अंग्रेज़ और फ्रान्सीसी उसे अपने-अपने इलाको मे होकर गुज़रने नही देते थे, और न जर्मन व आस्ट्रियावासी ही। आखिरकार जर्मन सरकार खुद अपने ही मतलब से इस बात पर राज़ी हो गई कि वह एक बन्द रेलगाडी मे बैठकर स्वीज़रलैण्ड की सरहद से रूसी सरहद तक जर्मनी मे होकर निकल जाय। उन्हे आशा थी, और इसके लिए सबब भी ज़रूर था, कि लेनिन के रूस पहुँचने से काम-चलाऊ सरकार और युद्धवादी दल कमज़ोर पड जायँगे, क्योकि लेनिन युद्ध का विरोधी था और वे इसका फायदा उठाना चाहते थे। उन्होंने यह नही सोचा कि यह गुमनाम-सा क्रान्तिकारी अन्त मे सारे यूरोप को और सारी दुनिया को हिला डालेगा!

लेनिन के दिमाग़ मे न तो कोई शका थी और न धुंधलापन। उसकी तेज़ नज़रें जनता की मनोवृत्तियो को पकड लेती थी, उसका सुलझा हुआ दिमाग सोचे-समझे हुए उसूलो को बदलती हुई हालतो मे लागू कर सकता था और ढाल सकता था, उसकी अटल इच्छाशक्ति नज़दीकी नतीजों की परवाह न करती हुई उसके सोचे हुए मार्ग को पकडे रहती थी। जिस दिन वह पहुँचा उसी दिन उसने बोलशेविक दल को ज़ोर से झंझोड डाला, उनकी हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहने की निन्दा की, और जोश-भरे फिकरो मे उन्हे बतलाया कि उनका कर्त्तव्य क्या था। उसका भाषण बिजली की धारा थी जो दर्द भी पहुँचाती है और साथ ही जान भी डालती है। उसने कहा—"हम लोग पाखण्डी नही हैं, हमे अपना आधार सिर्फ जनता की चेतना को ही बनाना चाहिए। अगर अल्पमत मे रहना भी ज़रूरी हो तो हम यही करेंगे। कुछ समय के लिए नेतागिरी की जगह नही लेना अच्छा है; हमे अल्पमत मे रहने से डरना नही चाहिए।" बस, वह अपने सिद्धान्तो पर अटल रहा और उनपर समझौता करने के लिए कभी राज़ी नही हुआ। जो क्रान्ति अभीतक नेताओ और रास्ता दिखानेवालो के बिना बहती चली जा रही थी, उसे आखिर अपना नेता मिल गया। मौके ने अपने-आप नेता पैदा कर दिया था।

ये मतभेद क्या थे जो इस मज़िल पर बोलशेविकों को मेनशेविकों व दूसरे क्रान्तिकारी धड़ों से अलग किये हुए थे? और लेनिन के आने से पहले बोल्शेविकों को किस चीज़ ने अलग कर रक्खा था? और फिर सोवियत ने अपने हाथों मे सत्ता आने के बाद भी उसे पुराने ढंगवाली और पुरातन-पन्थी डूमा को क्यों सौंप दिया था? मैं इन सवालों की गहराई मे नहीं जा सकता, लेकिन हमें इनपर थोड़ा-सा विचार ज़रूर करना चाहिए, ताकि हम १९१७ ई० मे पेत्रोग्राद और रूस के हरदम बदलनेवाले नाटक को समझ सकें।

कार्ल मार्क्स का मानव-परिवर्तन और प्रगतिवाद, जो 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' कहलाता है, इस आधार पर क़ायम था कि ज्योंही पुराने समाजी रूप ज़माने से पिछड़ जाते हैं त्योंही नये रूप उनकी जगह ले लेते हैं। जैसे-जैसे मशीनी उत्पादन के तरीके उन्नति करते गये वैसे-वैसे समाज का आर्थिक व राजनीतिक संगठन धीरे-धीरे उनके बराबर जा पहुँचा। जिस रास्ते से यह हुआ वह था प्रभुतावान वर्ग और शोषित वर्गों के बीच का लगातार वर्ग-संघर्ष। इस तरह पश्चिमी यूरोप मे पुराने सामन्ती-वर्ग का स्थान मध्यम-वर्ग ने ले लिया और अब यही वर्ग इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, वग़ैरा के राजनीतिक ढाँचे को चला रहा है, और इसका स्थान आगे चलकर मज़दूर-वर्ग ले लेगा। रूस मे अभीतक सामन्ती वर्ग की तूती बोलती थी और पश्चिमी यूरोप मे जिस परिवर्तन ने मध्यम-वर्ग को सत्ताधारी बना दिया था, वह यहाँ अभी नहीं हुआ था। इसलिए ज़्यादातर क्रान्तिवादियों का ख़याल था कि मज़दूरों के गणराज्य की आख़िरी मंज़िल पर पहुँचने से पहले रूस को इसी मध्यमवर्गी और पार्लमेण्टी मंज़िल मे होकर गुज़रना होगा। उनके मतानुसार यह बीच की मंज़िल कूदकर पार नहीं की जा सकती थी। मार्च, १९१७ ई० की क्रान्ति से पहले ख़ुद लेनिन ने, मध्यमवर्गी क्रान्ति लाने के लिए, ज़ार व ज़मींदारों के ख़िलाफ़ किसानों के साथ सहयोग करने की (मध्यम-वर्ग का विरोध न करते हुए) [illegible] नीति का प्रतिपादन किया था।

बहुत ज्यादा क्रान्तिकारी थी। सोवियत को चलानेवाले मेनशेविक तो यहाँतक कहते थे कि मज़दूर-वर्ग को अभी कोई समाजी सवाल नही उठाना चाहिए, उनका तुरन्त कर्त्तव्य था राजनीतिक आज़ादी हासिल करना। बोलशेविक मौका देखकर चल रहे थे। लेकिन इन झिझकनेवाले और फूंककर कदम रखनेवाले नेताओ के बावजूद मार्च की क्रान्ति सफल हो गई।

लेनिन के आते ही यह सब बदल गया। उसने फौरन ही स्थिति की नब्ज़ पहचान ली और सही नेतागिरी की अद्‌भुत चतुराई से मार्क्स के कार्यक्रम को उसी के मुताबिक ढाल लिया। ग़रीब किसान-वर्ग के सहयोग से मज़दूर-वर्ग का राज कायम करने के लिए अब खुद पूंजीशाही के खिलाफ लडाई ठानी जानेवाली थी। बोलशेविको के तीन वक्ती नारे ये थे · (१) लोकतन्त्री गणराज्य, (२) ज़मींदारी जागीरो की ज़ब्ती, और (३) मज़दूरो से दिन मे आठ घण्टे काम। इन नारो ने फौरन ही किसान और मज़दूर वर्गों के लिए लडी जानेवाली लडाई में जान डाल दी। उनके लिए यह धुंधला और थोथा आदर्श नही रहा; वह जीवन और आशा का सवाल बन गया।

लेनिन की नीति यह थी कि बोलशेविक लोग मज़दूरो के बहुमत को अपनी तरफ मिला लें और इस तरह सोवियत पर कब्ज़ा कर लें, और फिर सोवियत कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन ले। वह फौरन ही दूसरी क्रान्ति का हामी नही था। वह इसपर अडा हुआ था कि कामचलाऊ सरकार को उखाड फेंकने का वक्त आने से पहले मज़दूरो को और सोवियत के बहुमत को अपनी तरफ़ कर लेना ज़रूरी है। जो लोग इस सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे, उनके लिए उसका रुख कठोर था, उसका कहना था कि यह क्रान्ति के साथ विश्वासघात करना है। इतना ही कठोर रुख उसका उनके लिए था जो ठीक मौका आने से पहले ही दौडकर इस सरकार को उलट देना चाहते थे। उसने कहा "कार्रवाई की घडी वह मौक़ा नही है जब लक्ष्य से 'ज़रा दूर बायी ओर' निशाना लगाया जाय। हम उसे महान् अपराध, सगठन का टूटना, समझते हैं।"

बस, धीरज के साथ लेकिन दिल को पत्थर बनाकर, बर्फ का यह डला अपने अन्दर धधकती आग लिये हुए अपने मुकर्रर लक्ष्य की तरफ़ बढा चला जा रहा था मानो अटल होनी का कोई औजार हो।

१५१

बोलशेविक सत्ता छीन लेते हैं

९ अप्रैल, १९३३

क्रान्तिकारी ज़माने मे इतिहास मानो सात-सात कोस लम्बे डग भरता

हुआ आगे बढता है। बाहरी तौर पर तो तेज़ी के साथ परिवर्तन होते ही हैं, लेकिन इनसे भी बडा परिवर्तन जनता की चेतना मे होता है। पुस्तको से वह कुछ नही सीखती, क्योकि पुस्तकी शिक्षा हासिल करने का उन्हें ज्यादा मौका नही मिलता। और पुस्तकें तो अक्सर करके जितनी बातें प्रकट करती हैं उनसे ज्यादा छिपाती हैं। जनता को तो अनुभव की ज्यादा सख्त, पर ज्यादा सच्ची पाठशाला मे शिक्षा मिलती है। क्रान्तिकाल मे, सत्ता के लिए ज़िन्दगी-मौत की कशमकश मे, लोगो की असली नीयतो को आमतौर पर छिपानेवाले नकली चेहरे गिर पडते हैं और उनके पीछे वह असलियत देखी जा सकती है जो समाज का आधार होती है। इसलिए रूस मे, १९१७ ई० के इस उलट-फेरो से भरे वर्ष मे, जनता ने, और खासकर शहरी कारखानो के उन मज़दूरो ने, जो क्रान्ति की जान थे, घटनाओ से नसीहत ली और वे लगभग हर रोज़ बदलते रहे।

न तो कोई चीज़ टिकाऊ नज़र आती थी, और न सधी हुई। ज़िन्दगी हरकत से भर रही थी और बदल रही थी। जनता व वर्ग अलग-अलग दिशाओ में खींच-तान व रेल-पेल कर रहे थे। कुछ लोग अभीतक ऐसे भी थे जो ज़ार-शाही के लौट आने की उम्मीदें बाँध रहे थे और साजिशें कर रहे थे। पर इनका वर्ग कुछ महत्व नही रखता था और हम इनको दर-गुज़र कर सकते है। मुख्य झगडा तो काम-चलाऊ सरकार और सोवियत के बीच पैदा हुआ, फिर भी सोवियत का बहुमत सरकार के साथ सहयोग और समझौता चाहता था। जो लोग समझौते के लिए उत्सुक थे वे हुकूमत और राज्यसत्ता के अधिकारी बनाये जाने से डरते थे। सोवियत मे एक वक्ता ने कहा था—"सरकार की जगह कौन लेगा? क्या हम? मगर हमारे तो हाथ काँपते हैं ।" यह वही परिचित रोना है जो हमने भारत मे भी बहुतेरे कमज़ोर हाथवालो और डरे हुए दिलवालो के मुँह से सुना है। परन्तु जब वक्त आता है तो मज़बूत हाथो और बहादुर दिलो की कमी नहीं रहती।

दोनो पक्षो के समझौता-परस्त लोगों ने कामचलाऊ सरकार और सोवियत के बीच झगडे को टालने की चाहे जितनी कोशिशें की हो, लेकिन यह झगडा टल नही सकता था। सरकार, मित्र-राष्ट्रो को तो युद्ध जारी रखकर, और रूस के जायदादी वर्गों को जहाँतक हो सके उनकी मिल्कियतो की रक्षा करके, राज़ी रखना चाहती थी। जनता से ज्यादा सम्पर्क मे होने की वजह से सोवियत ने उसकी सुलह की, व किसानो के लिए धरती की, और दिन मे आठ घण्टे काम वगैरा की मज़दूरो की, अनेक मांगो को स्वीकार कर लिया। इस तरह हुआ यह कि सरकार को तो सोवियत ने अपग बना दिया, और खुद सोवियत को जनता ने अपग बना दिया, क्योकि जनता वास्तव मे दलो और नेताओ से कही ज्यादा क्रान्तिकारी थी।

यह यत्न किया गया कि सरकार सोवियत के साथ ज्यादा कदम मिलाकर चले, और किरेन्स्की नामक एक वामदली वकील और प्रभावशाली भाषण देनेवाला, सरकार का अगुआ बन गया। यह एक सर्वदली सरकार बनाने मे सफल हुआ और सोवियत मे बहुमतवाले मेनशेविको के भी कुछ प्रतिनिधि इसमे शामिल हुए। इसने जर्मनी के खिलाफ एक जोरदार हमला शुरू करके इंग्लैण्ड और फ्रान्स को खुश करने की भी जी-तोड कोशिश की। पर यह धावा बेकार रहा, क्योंकि सेना और जनता अब युद्ध बिलकुल नही चाहते थे।

इसी समय पेत्रोग्राद मे अखिल रूसी सोवियत कांग्रेसें हो रही थी, और हर कांग्रेस अपने पहलेवाली से ज्यादा सरगर्म होती जा रही थी। इनमे दिन-पर-दिन ज्यादा बोलशेविक चुने जाने लगे और दोनो ज़बर्दस्त दलो, यानी मेनशेविको और समाजी क्रान्तिकारियो (किसानो का दल), का बहुमत कम होता गया। बोलशेविको का ज़ोर बढ गया, खासकर पेत्रोग्राद के मज़दूरो मे। सारे देश मे सोवियतें कायम हो गई और जबतक सरकारी आज्ञाओ पर सोवियत की दस्तखती मजूरी न हो जाती तबतक वे उन्हे नही मानती थी। कामचलाऊ सरकार की कमजोरी का एक कारण यह भी था कि रूस मे कोई मजबूत मध्यमवर्ग नही था।

इधर जब राजधानी मे सत्ता के लिए खीचातानी चल रही थी, तब उधर किसान-वर्ग ने कानूनो को तोडना शुरू कर दिया। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, इन किसानो की मार्च की क्रान्ति के बारे मे कोई ज्यादा अच्छी राय नही थी, पर वे उसके खिलाफ भी नही थे। वे तो हाथ-पर-हाथ धरे-बैठे थे और मौका देख रहे थे। लेकिन बडी-बडी जागीरो के ज़मीदारो ने, इस डर से कि कही उनकी मिल्कियतें ज़ब्त न कर ली जायँ, उन्हे छोटे-छोटे पट्टो मे बाँट दिया और इन्हे नकली पट्टेदारो को इस गरज़ से दे दिया कि वे इन्हे इन ज़मीदारो की अमानत की तरह रक्खें। उन्होने अपनी बहुत-सी मिल्कियते विदेशियो के नाम भी कर दी। इस तरह उन्होने अपनी ज़मीदारियो को बचाने की कोशिश की। किसानो ने इसे बिलकुल पसन्द नही किया और उन्होने सरकार से कहा कि कानूनी आज्ञा निकालकर, ज़मीनो की बिक्रियाँ रोक दी जायँ। सरकार आगा-पीछा सोचने लगी, वह कर ही क्या सकती थी? वह किसी भी दल को चिढाना नही चाहती थी। तब किसानो ने खुद कार्रवाई शुरू कर दी। इसमे मोर्चो से लौटे हुए सिपाहियो ने (जो वास्तव मे किसान ही थे) सबसे ज्यादा भाग लिया। यह आन्दोलन बढता गया, यहाँतक कि किसानो ने सारी ज़मीनो पर कब्ज़ा कर लिया। जून तक इसका असर साइबेरिया के उपजाऊ मैदानो तक जा पहुँचा। साइबेरिया मे बडे-बडे ज़मीदार नही थे, इसलिए किसान-वर्ग ने गिरजो और मठो की ज़मीनो पर कब्ज़ा कर लिया।

ध्यान मे रखने की बात यह है कि बडी-बडी जागीरो की यह ज़ब्ती बिल्कुल

किसानो की ही तरफ़ से शुरू हुई और बोलशेविक क्रान्ति के कई महीने पहले हुई। लेनिन चाहता था कि ज़मीनें फौरन ही ठीक ढग से किसानो के नाम कर दी जायें। वह इस बात के बिलकुल खिलाफ था कि जमीनो पर ऊटपटाँग तरीके से अंधेर-गर्दी के साथ ज़बर्दस्ती कब्ज़ा कर लिया जाय। इस तरह जब बोलशेविको के हाथ में सत्ता आई, तब उन्होंने देखा कि रूस भू-स्वामी किसानो का देश बन चुका था।

लेनिन के पहुँचने के ठीक एक महीने बाद एक और नामी निर्वासी पेत्रोग्राद लौट आया। यह त्रोत्स्की[1] था जो न्यूयार्क से वापस आया था। रास्ते मे अंग्रेज़ो ने इसे रोक लिया था। त्रौत्स्की न तो पुराना बोलशेविक था और न अब वह मेनशेविक था। लेकिन वह बहुत जल्दी लेनिन का सहयोगी बन गया और इसने पेत्रोग्राद की सोवियत मे एक अगुआ की जगह हासिल कर ली। यह बहुत बढ़िया बोलने वाला था, ऊँचे दर्जे का लेखक था, और मानो शक्ति से भरी हुई बिजली की बैटरी था। लेनिन के दल को इसने सबसे ज्यादा सहायता पहुँचाई। इसकी लिखी हुई आत्मकथा से एक लम्बा बयान मैं यहाँ देना चाहता हूँ, जिसमें उसने 'मॉडर्न सर्कस' नामक भवन की सभाओ मे दिये गए अपने भाषणो का हाल लिखा है। यह बहुत बढ़िया रचना तो है ही, साथ ही इसे पढकर पेत्रोग्राद मे १९१७ ई० के अनोखे क्रान्तिकारी दिनो का जीता-जागता चित्र हमारी आँखो के सामने आ जाता है।

"साँसो व इन्तज़ारी से गरगर्म हवा, कभी-कभी उन ललकारो और जोशभरे नारो से भडक उठती थी जो मॉडर्न सर्कस का अनूठापन था। मेरे ऊपर और चारो तरफ़ कुहनियो, सीनो, और सिरो की रेल-पेल थी। मैं मानो इन्सानी शरीरो की किसी गर्म खोह मे से बोल रहा था, जब कभी मैं अपने हाथ फैलाता था वे किसी से छू जाते थे और उसके जवाब में एक मीठी हरकत मुझे बतला देती थी कि इससे परेशान होने की ज़रूरत नही, बल्कि मुझे रुकना नही चाहिए और अपना भाषण जारी रखना चाहिए। कोई वक्ता, चाहे जितना थक गया हो, उस जोश में दीवानी इन्सानी भीड के बिजली-जैसे तनाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। वे जानना चाहते थे, समझना चाहते थे, अपना रास्ता ढूँढ़ना चाहते थे। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता था मानो मैं इस

[1]प्रसिद्ध बोलशेविक नेता और लेखक। स्तालिन से मतभेद कारण यह १९२९ मे रूस से फिर निर्वासित कर दिया गया गया। १९४० में मैक्सिको मे इसकी हत्या कर दी गई। 'माइ लाइफ'—लिखी है।

भीड के, जो कि मिलकर एक पूरी इकाई वन गई थी, कठोर कौतूहल को अपने होठो से महसूस कर रहा हूँ। तब पहले से सोची हुई सब दलीले और सव शब्द टूट जाते थे, और सहानुभूति के हुक्मी दबाव के नीचे चले जाते थे। और फिर मेरे अन्तर्मानस मे से ऐसे दूसरे शब्द और दूसरी दलीलें पूरी तरतीव मे निकलने लगते थे, जिनका बोलनेवाले को पहले बिलकुल गुमान भी न था, लेकिन जिनकी इन लोगो को ज़रूरत थी। ऐसे मौको पर मुझे यह महसूस होता था मानो मैं वाहर के किसी वक्ता की आवाज़ सुन रहा हूँ, उसके विचारो के साथ दौडने की कोशिश कर रहा हूँ, और डरता जाता हूँ कि मेरी सोची-विचारी दलीलो की आवाज़ से कही वह नीद मे चलनेवाले की तरह छत के किनारे पर आकर गिर न पडे।

"ऐसा था यह मॉडर्न सर्कस। इसका अपना डील-डौल था—आग से भरा, कोमल और गुस्से मे दीवाना। दुधमुँहे वच्चे मानो उन स्तनो को आराम के साथ चूस रहे थे, जिनमे से वढावा देनेवाली या डरानेवाली पुकारें निकल रही थी। पूरी भीड इसी किस्म की थी, उन दुधमुँहे वच्चो-जैसी थी, जो अपने सूखे होठो से क्रान्ति की चूचियो से चिपके हुए थे। लेकिन यह वच्चा वहुत जल्दी जवान हो गया।"

इस तरह पेत्रोग्राद मे और रूस के दूसरे शहरो और गाँवो मे क्रान्ति का हरदम वदलता हुआ नाटक चलता रहा। दुधमुँहा वच्चा जवान हो गया और कद्दावर हो गया। युद्ध के भयकर वोझ मे हर जगह आर्थिक ढाँचा टूटता नज़र आ रहा था। लेकिन फिर भी मुनाफा-ख़ोर अपने लिए युद्ध के मुनाफे कमाये चले जा रहे थे।

कारखानो मे और सोवियतो मे वोल्शेविको की ताकत और उनका दवदवा दिन-पर-दिन वढ रहे थे। इससे चौकन्ना होकर किरेन्स्की ने उन्हें दवा देने का फैसला किया। पहले तो लेनिन को वदनाम करने का ज़वर्दस्त प्रचार शुरू किया गया और कहा गया कि वह जर्मनो का एजेण्ट है, जो रूस को मुसीबत मे फँसाने के लिए भेजा गया है। क्या वह जर्मन अधिकारियो की रज़ामन्दी से जर्मनी मे होकर स्वीज़रलैण्ड से नही आया? इससे मध्यमवर्गों मे लेनिन वहुत ज्यादा वदनाम हो गया और वे उसे देशद्रोही समझने लगे। किरेन्स्की ने लेनिन की गिरफ्तारी के लिए वारण्ट निकाला, इसलिए नही कि वह क्रान्तिकारी था, वल्कि इसलिए कि वह जर्मनी का समर्थक देशद्रोही था। खुद लेनिन तो इस इलज़ाम को ग़लत साबित करने के लिए अदालत के सामने जाने को तैयार था, लेकिन

था कि क्रान्तियो की सफलता अक्सर बहुत-ही मामूली नजर आनेवाली घटनाओं पर निर्भर होती है।[1]

सात नवम्बर का दिन आया और सोवियत सिपाहियो ने जाकर सरकारी इमारतो पर, खासकर तारघर, टेलीफोनघर और सरकारी बैंक जैसे ज़रूरी और जुगत के स्थानो पर कब्ज़ा कर लिया। किसीने कोई मुकावला नही किया। एक ब्रिटिश एजेण्ट ने इंग्लैण्ड को जो सरकारी रिपोर्ट भेजी थी, उसमे उसने लिखा था, "कामचलाऊ सरकार तो मानो छू-मन्तर हो गई।"

लेनिन इस नई सरकार का अध्यक्ष बना और ट्रॉट्स्की विदेश-मन्त्री। दूसरे दिन, ८ नवम्बर को, लेनिन स्मॉलनी इन्स्टीट्यूट मे काग्रेस के अधिवेशन में गया। शाम का वक्त था। काग्रेस ने इस नेता का जबर्दस्त हर्षध्वनि के साथ स्वागत किया। अमेरिकी पत्रकार रीड ने, जो इस मौके पर मौजूद था, यह लिखा है कि जब 'महान् लेनिन' मच की ओर बढा तब वह कैसा नज़र आ रहा था—

"एक नाटा, गठीला व्यक्ति, जिसका उभरा हुआ और आगे निकला हुआ वडा-सा सिर कन्धो पर रक्खा हुआ। छोटी-छोटी आँखें, पकौडी-सी नाक, चौडा और भरा हुआ मुँह, भारी ठुड्डी, जो अब घुटी हुई थी लेकिन जिसपर उसकी पुरानी और आयन्दा मशहूर दाढी के रोयें उगना शुरू हो गये थे। मैले-कुचैले कपडे पहने हुए, पतलून टाँगो से ज्यादा लम्बी। छाप डालनेवाली कोई ऐसी चीज़ उसमे नही, जिसने उसे भीड की आँखो का तारा बनाया। एक अनूठा लोकप्रिय नेता—सिर्फ दिमागी गुणो के बल पर बना हुआ नेता, रगहीन, व्यगहीन, अडिग और सबसे अलहदा, जिसमे कोई मजेदार सनक नही—पर जिसमे गहरे विचारो को सीधी-सादी भाषा मे समझाने की और किसी असली स्थिति का विश्लेषण करने की शक्ति। और जिसमे पैनी चतुराई के साथ सबसे ऊँचे दर्जे की दिमागी ज़ुर्रत मिली हुई।"

एक साल के भीतर यह दूसरी क्रान्ति सफल हो गई थी और अभीतक यह गजब की शान्तिमय रही थी। सत्ता बदलने मे बहुत कम खून-खराबी हुई। मार्च

---

[1] यह क़िस्सा कि लेनिन ने बोलशेविको द्वारा सत्ताहरण के लिए ७ नवम्बर का दिन निश्चित किया था, एक अमरीकी पत्रकार रीड ने, जो उन दिनो पेत्रोग्राद मे था, बयान किया है। लेकिन और लोग जो वहाँ मौजूद थे, इसे नहीं मानते थे। लेनिन रूपोश था और उसे डर था कि कहीं बोलशेविक नेता जमानासाज़ी न कर बैठें और मौक़े को हाथ से न निकल जाने दें। इसलिए वह उन्हे निरन्तर कार्रवाई के लिए उकसाता रहता था। जब ७ तारीख़ को मामला चरम सीमा पर पहुँच गया तो यह कार्रवाई हो गई।

मे इससे बहुत ज्यादा लडाई और मारकाट हुई थी। मार्च की क्रान्ति अपने-आप उठी थी और बिना किसी योजना के हुई थी, नवम्बर की क्रान्ति की योजना खूब सोच-विचारकर बनाई गई थी। इतिहास मे पहली बार गरीब-से-गरीब वर्ग के, और खासकर मज़दूरवर्ग के प्रतिनिधि किसी देश के राजा बने थे। लेकिन इनको इतनी आसानी से सफलता मिलनेवाली नही थी। इनके चारो तरफ तूफान के बादल जमा हो रहे थे और भयानक वेग के साथ इनपर फट पडनेवाले थे।

लेनिन और उसकी नई बोलशेविक सरकार के सामने क्या स्थिति थी ? हालाँकि रूसी सेना तितर-बितर हो गई थी और उसके लडने की कोई सम्भावना नही रही थी, फिर भी जर्मनी के साथ युद्ध जारी था; सारे देश में गडबड मची हुई थी और सिपाहियो व लुटेरो के गिरोह मनमानी करते हुए घूमते फिर रहे थे, आर्थिक ढाँचा टूट चुका था, भोजन-सामग्री की बहुत कमी थी और लोग भूखो मर रहे थे, चारो ओर पुरानी व्यवस्था के ठेकेदार क्रान्ति को कुचलने की घात लगाये बैठे थे, राज्य का सगठन पूँजीशाही था और ज्यादातर पुराने सरकारी नौकरो ने नई सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया, साहूकारो ने रुपया देना बन्द कर दिया, यहाँतक कि तारघर भी तार नही भेजता था। यह ऐसी कठिन स्थिति थी, जो बहादुर-से-बहादुर का दिल दहलाने के लिए काफी थी।

लेनिन और उसके साथियो ने इस गाडी को चलाने के लिए मिलकर जोर लगाया। सबसे पहली चिन्ता उन्हे जर्मनी के साथ सुलह की थी और उन्होने फ़ौरन युद्ध बन्द किये जाने का प्रबन्ध किया। दोनो देशो के प्रतिनिधि ब्रैस्त लितोवुस्क मे मिले। जर्मन लोग खूब अच्छी तरह जानते थे कि बोलशेविको मे लडने की ताकत नही रही है, इसलिए उन्होने घमण्ड और बेवकूफी मे भरकर जबर्दस्त और नीचा दिखानेवाली माँगें रक्खी। सुलह के लिए बहुत उत्सुक होते हुए भी बोलशेविक लोग इससे भौंचक्के रह गये और उनमे से बहुतो ने इन शर्तों को ठुकरा देने की सलाह दी। लेकिन लेनिन तो किसी भी कीमत पर सुलह चाहता था। कहते हैं कि जर्मनो ने त्रॉत्स्की से, जो सुलह-सम्मेलन का एक रूसी प्रतिनिधि था, कहा कि वह एक समारोह मे शाम की पोशाक[1] पहनकर आये। वह दुविधा में पड गया, क्या मज़दूरो के प्रतिनिधि को इस क़िस्म की मध्यमवर्गी पोशाक पहनना अच्छी बात थी ? उसने सलाह के लिए लेनिन को तार दिया, और लेनिन ने फ़ौरन जवाब भेजा "अगर सुलह कराने मे मदद मिले तो लँहगा भी पहनकर जाओ।"

---

[1] Evening Dress—यूरोप मे हर मौक़े के लिए अलग-अलग तरह की पोशाकों का रिवाज है। शाम की पोशाक में पीछे की ओर लम्बा लटकता हुआ काला कोट, कलफ़दार कमीज़, काली बो, सफ़ेद पतलून और काले जूते शामिल हैं।

इधर तो सोवियत सुलह की शर्तों पर वाद-विवाद कर रही थी, उधर जर्मनो ने पेत्राग्राद की तरफ बढना शुरू कर दिया और उन्होंने अपना सुलह का प्रस्ताव पहले से भी ज्यादा सख्त कर दिया। अन्त मे सोवियत ने लेनिन की सलाह मान ली और मार्च, १९१८ मे, ब्रैस्त-लितोव्स्क की सन्धि पर दस्तखत कर दिये, हालांकि वे इसे बहुत बुरी चीज़ समझते थे। इस सन्धि के ज़रिये रूसी इलाक़ों का एक बडा टुकडा जर्मनी ने हथिया लिया, लेकिन सोवियत को तो किसी भी कीमत पर सुलह मजूर करनी थी, क्योकि लेनिन ने कह दिया था कि "सेना ने तो अपनी टाँगो से (यानी मैदान से भागकर) सुलह के पक्ष मे राय दे दी है।"

सोवियत ने पहले तो महायुद्ध मे शरीक हुई तमाम शक्तियो के बीच एक आम सुलह कराने की कोशिश की थी। सत्ता हाथ मे आने के दूसरे ही दिन उन्होंने एक ऐलान जारी किया था, जिसमे दुनिया-भर के सामने सुलह का प्रस्ताव रक्खा था, और उन्होंने यह बिलकुल साफ कह दिया था कि वे ज़ारशाही की तमाम गुप्त सन्धियो के मातहत मिले दावो को छोडने के लिए तैयार हैं। उन्होंने कहा कि कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के ही कब्ज़े मे रहना चाहिए और इसके अलावा भी कोई देश किसी दूसरे देश के हिस्सो को नही हथियावे। सोवियत के सुझाव का किसीने जवाब नही दिया, क्योकि लडनेवाले दोनो पक्षो को अभी अपनी-अपनी जीत की आशा थी और दोनो युद्ध की लूट मे हाथ मारना चाहते थे। इसमे शक नही कि यह प्रस्ताव करने मे सोवियत का उद्देश्य कुछ हद तक सिर्फ थोथा प्रचार था। वे हर देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाही-वर्ग पर असर डालना चाहते थे और दूसरे देशो मे समाजी क्रान्तियाँ भडकाना चाहते थे, क्योकि उनका लक्ष्य तो ससार-व्यापी क्रान्ति था। वे समझते थे कि इसी तरीके से वे खुद अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकते हैं। मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि सोवियत के इस प्रचार का फ्रान्सीसी और जर्मन सेनाओ पर बडा भारी असर पडा था।

ब्रैस्त-लितोव्स्क की सन्धि को लेनिन एक काम-चलाऊ चीज़ समझता था जो ज्यादा दिन टिकनेवाली नही थी, और हुआ यही कि नौ महीने बाद, ज्योंही मित्र-राष्ट्रों ने पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी के दाँत खट्टे किये, त्योंही सोवियत ने इस सन्धि को रद्द कर दिया। लेनिन तो सिर्फ यह चाहता था, कि सेना के थके हुए मज़दूरो और किसानो को ज़रा आराम और दम लेने का मौका मिल जाय ताकि वे अपने-अपने घरो को वापस जाकर खुद अपनी आँखो से देख सकें कि क्रान्ति ने क्या बात पैदा कर दी है। वह चाहता था कि किसान लोग महसूस करें कि ज़मीदार खत्म हो गये थे और वे धरती के मालिक बन गये थे, और कारखानो के मज़दूर महसूस करें कि उनके शोषक भी खत्म हो गये थे। इससे वे क्रान्ति से होनेवाले फायदो की कीमत समझने लगेंगे और उनकी रक्षा के लिए बेचैन होंगे और महसूस

करेंगे कि उनके असली शत्रु कौन थे। बस, लेनिन का यही विचार था, क्योंकि वह खूब जानता था कि गृह-युद्ध आनेवाला है। उसकी यह नीति बाद मे बडी शानदार सफलता के साथ सही साबित हुई। ये किसान और मजदूर मोर्चों से अपने-अपने खेतो को और कारखानो को वापस लौटे, वे कोई बोलशेविक या समाजवादी नही थे, लेकिन वे क्रान्ति के सबसे कट्टर समर्थक बन गये, क्योंकि उस चीज को नही छोड़ना चाहते थे जो उन्हे क्रान्ति के जरिये मिली थी।

बोलशेविक नेता इधर तो जर्मनो से किसी-न-किसी तरह समझौते की कोशिश कर रहे थे, उधर उन्होने अन्दरूनी हालतो पर भी ध्यान देना शुरू किया। मशीनगनो और युद्ध के सामान से लैस बहुत-से भूतपूर्व फौजी अफसर व ले-भग्गू लोग लुटेरो का धन्धा कर रहे थे और बडे-बडे शहरो के ठेठ बीच मे मारकाट और लूटपाट मचा रहे थे। पुराने अराजकतावादी दलो के भी कुछ सदस्य थे, जो सोवियतो को पसन्द नही करते थे और बहुत गडबड मचा रहे थे। सोवियत अधिकारियों ने इन धाडैतियो वगैरा का सख्ती से दमन किया और उन्हे कुचल दिया।

सोवियत राज को इससे भी बडा खतरा सारी अ-सैनिक सेवाओ के कर्मचारियो की तरफ से पैदा हुआ, जिनमे से बहुतो ने बोलशेविको के मातहत काम करने से या उन्हे किसी तरह का सहयोग देने मे इन्कार कर दिया। लेनिन ने यह नियम बनाया कि "जो काम नही करेगा वह खाना भी नही खायगा", काम नही तो खाना भी नही। इसलिए सहयोग न देनेवाले सरकारी नौकरो को फौरन बरखास्त कर दिया गया। साहूकारो ने अपनी तिजोरियाँ खोलने से इन्कार किया तो वे डायनेमाइट से उडा दी गईं। लेकिन पुरानी व्यवस्था के मातहत काम करनेवाले जिन कर्मचारियो ने सहयोग करने से इन्कार किया, उनके लिए लेनिन की हिकारत की आला मिसाल तब देखने मे आई जब प्रधान सेनापति ने हुक्म मानने से इन्कार किया। उसे बरखास्त कर दिया गया और पाँच मिनट के भीतर क्राइलैन्को नामक एक नौजवान बोलशेविक लेफ्टिनेन्ट को प्रधान सेनापति बना दिया गया।

इन परिवर्तनो के बावजूद रूस का पुराना ढाँचा बहुत-कुछ वैसा-का-वैसा बना रहा। किसी विशाल देश का एकदम समाजीकरण आसान बात नहीं है, और अगर घटनाओ ने मजबूरी पैदा न कर दी होती तो सम्भव है कि रूस मे परिवर्तन की प्रक्रिया मे बहुत वर्ष लग जाते। जिस तरह किसानो ने जमींदारो को निकाल बाहर किया था, उसी तरह पुराने मालिको के खिलाफ क्रोध मे भरकर मजदूरो ने भी कई जगह उन्हे निकाल बाहर किया और कारखानो पर कब्जा कर लिया। सोवियत इन कारखानो को उनके पुराने पूंजीपति मालिको को किसी हालत मे वापस नही दे सकती थी, इसलिए उसने इनपर कब्जा कर लिया। गृह-

युद्ध के समय मे इन मालिको ने कई जगह कारखानो की मशीनो को तोडने की कोशिश की, और सोवियत को दखल देना पडा और इन कारखानो की रक्षा के लिए उन्हे अपने कब्ज़े मे लेना पडा। इस तरह उत्पादन के साधनो का समाजीकरण, यानी एक किस्म का राज्य-समाजवाद, या कारखानो पर राज्य की मिल्कियत, इतनी तेजी से हुआ जितना मामूली हालतो मे नही हो सकता था।

सोवियत शासन के पहले नौ महीनो मे रूस के लोगो के जीवन मे कुछ ज्यादा फर्क नही पडा। बोलशेविको ने निन्दाओ और गालियो तक को भी बर्दाश्त किया और बोलशेविक-विरोधी अखबार निकलते रहे। जनता आमतौर पर भूखी मर रही थी, लेकिन धनवानो के पास अब भी शान-शौकत और ऐश-आराम के लिए खूब पैसा था। रात मे चलनेवाले नाच-रग के शराब-घरो मे भीड लगी रहती थी, और घुड-दौड वगैरा दूसरे खेलकूद होते रहते थे। बडे-बडे नगरो मे मध्यम-वर्गी पैसेवाले खूब नजर आते थे, जो सोवियत सरकार को पतन होनेवाली समझकर खुल्लम-खुल्ला खुशियाँ मनाते थे। ये लोग, जो पहले देशभक्ति की दुहाई देकर *जर्मनी के खिलाफ युद्ध जारी रखने के लिए बेचैन थे, अब सचमुच* पेत्रोग्राद पर जर्मनी की चढाई के जलसे मना रहे थे। अपनी राजधानी पर जर्मनो का कब्जा हो जाने की सम्भावना पर ये बहुत खुश नजर आते थे। समाजी क्रान्ति इन्हे जितनी ज्यादा बुरी चीज़ मालूम होती थी उतना विदेशी प्रभुत्व का डर नही था। करीब-करीब हमेशा ऐसा ही हुआ करता है, खासकर जब वर्गों का मामला होता है।

इस तरह जनता का जीवन बहुत करके हस्ब-मामूल चल रहा था और इस वक्त पर बोलशेविको का आतक तो वास्तव मे था ही नही। मास्को का मशहूर नृत्य-नाटक दिन-रात चलता रहता था और उसमे दर्शको की खूब भीड रहती थी। जब पेत्रोग्राद पर जर्मनो का खतरा बढ गया था तब सोवियत सरकार मास्को चली गई थी और तब से मास्को ही उसकी राजधानी चला आ रहा है। मित्र-राष्ट्रो के राजदूत अभी तक रूस मे ही थे। जब पेत्रोग्राद जर्मनो के हाथ मे पड जाने का अन्देशा पैदा हुआ, तब ये लोग वहाँ से भाग गये थे और सब चहल-पहल से दूर वोलोग्दा नामक एक छोटे-से देहाती नगर मे हिफाजत के साथ जम गये थे। जो बे-सिर-पैर की अफवाहें इनके पास पहुँचती थी उनसे ये सब वहाँ हरदम परेशानी और सनसनी की हालत मे बैठे रहते थे। वे बेकल होकर त्रॉत्स्की से बार-बार पूछते रहते थे कि ये अफवाहें सच हैं या नही। इन बूढे राजनयिको की इस घबराहट से त्रॉत्स्की इतना तग आ गया कि वह "वोलोग्दा के इन 'ऐक्सेलेन्सियों'[1]

[1] राजदूतो के नाम के पहले हिज़ एक्सेलेन्सी (His Excellency) की उपाधि लगाई जाती है।

की नसो के तनाव को आराम देने के लिए ब्रोमाइड का नुसखा" लिखने के लिए तैयार हो गया! जिन्हें हिस्टीरिया के दौरे होते हैं या जो जल्दी घबरा जाते हैं, उन्हें डॉक्टर लोग ब्रोमाइड दिया करते हैं।

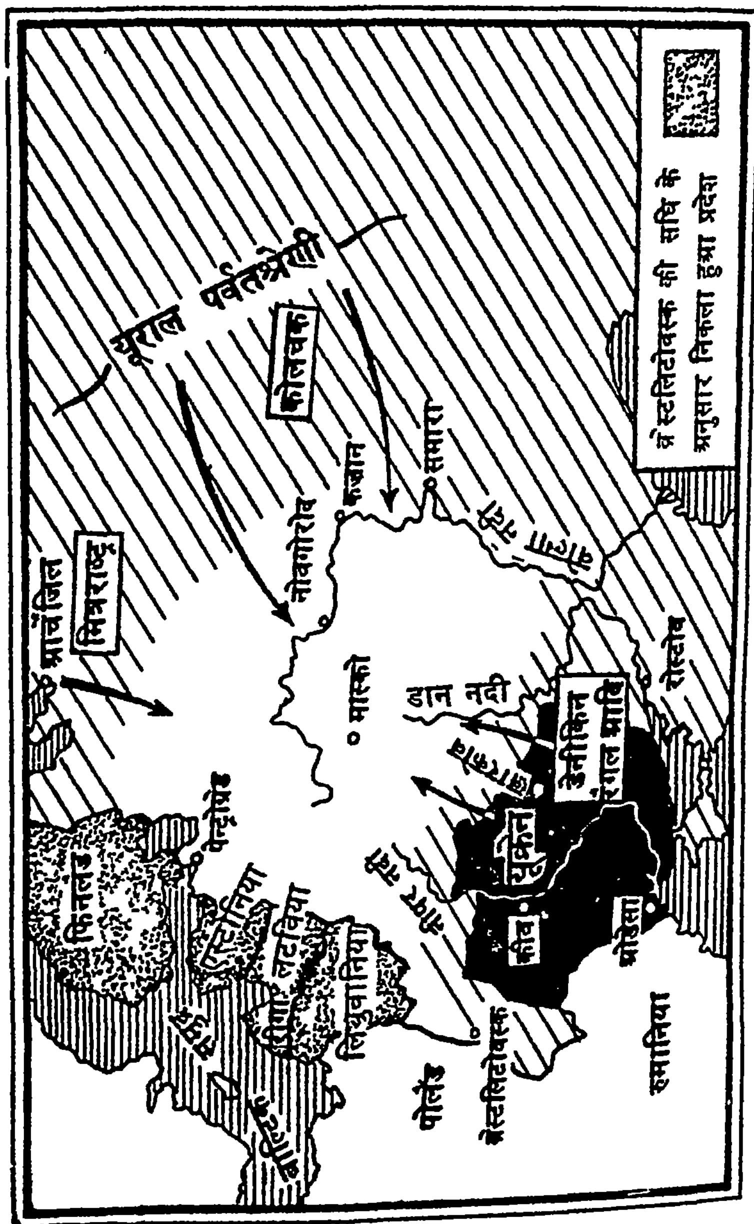
ऊपर से तो जनता का जीवन हस्व-मामूल चलता नजर आता था, मगर इस जाहिरा खामोशी के नीचे कितनी ही धाराएँ और उलटी धाराएँ बह रही थी। किसी को भी, यहाँतक कि खुद बोलशेविको को भी, यह आशा नही थी कि बोलशेविक ज्यादा दिन टिक जायेंगे। हर आदमी साजिशो मे लगा था। जर्मनो ने दक्षिण रूस के यूक्रेन मे एक कठ-पुतली राज्य खडा कर दिया था और सुलह के बावजूद उनकी तरफ से सोवियत को अन्देशा बना हुआ था। मित्र-राष्ट्र अलबत्ता जर्मनो से नफरत करते थे, पर बोलशेविको से वे उससे भी ज्यादा नफरत करते थे। हाँ, अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने १९१८ ई० के शुरू मे सोवियत कांग्रेस को दोस्ताना शुभकामनाएँ जरूर भेजी थी। पर बाद मे मालूम होता है वह पछताया और उसने अपने विचार बदल दिये। मतलब यह कि मित्र-राष्ट्र उलट-क्रान्ति की कार्रवाइयो को चुपचाप, पैसे से और दूसरी तरह से, सहायता दे रहे थे और खुद भी गुप-चुप उनमे हिस्सा ले रहे थे। मास्को विदेशी जासूसो से भरा पडा था। ब्रिटिश गुप्तचर-विभाग का खास एजेन्ट, जो इंग्लैण्ड का उस्ताद जासूस माना जाता था, सोवियत सरकार को मुसीबतो मे डालने के लिए वहाँ भेजा गया था। जिन अमीरो और मध्यमवर्गी लोगो की जमीन-जायदादे छीन ली गई थी, वे मित्र-राष्ट्रो के पैसे की मदद से जनता को बराबर उलट-क्रान्ति के लिए भडका रहे थे।

१९१८ ई० के बीच के दिनो मे यही हालत थी। सोवियत की जान मानो कच्चे धागे से लटकी हुई थी।

१५२
सोवियतों का मुश्किलों को पार करना

११ अप्रैल, १९३३

१९१८ ई० के जुलाई महीने मे रूस की स्थिति मे चौका देनेवाली घटनाएँ सामने आईं। बोलशेविको के चारो ओर फैला हुआ जाल धीरे-धीरे उन्हे जकडता जा रहा था। दक्षिण मे यूक्रेन की तरफ से जर्मन चढे आ रहे थे और इधर रूस मे चेकोस्लोवाकिया के बहुत सारे पुराने युद्ध-बन्दियो को मित्र-राष्ट्र मास्को पर धावा बोलने के लिए उकसा रहे थे। फ्रान्स मे सारे पश्चिमी मोर्चे पर महायुद्ध अभीतक चल रहा था, लेकिन रूस मे यह अजीब माजरा नजर आ रहा था कि


सोवियत रूस—१९१८-१९
यूराल पर्वतश्रेणी
कोलचक
मित्रराष्ट्र
नोवगोरोव
कज़ान
समारा
वोल्गा नदी
मास्को
डान नदी
डेनीकिन रैंगल आदि
रोस्तोव
नीपर नदी
यूक्रेन
कीव
ओडेसा
रूमानिया
पोलैंड
ब्रेस्टलिटोवस्क
लिथुआनिया
लटविया
एस्टोनिया
फिनलैंड
पेट्रोग्रेड
ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि के अनुसार निकला हुआ प्रदेश

मित्र-राष्ट्र और जर्मन शक्तियाँ, दोनो अलग-अलग, बोलशेविको को कुचलने की एक-सी कोशिश मे जुटे हुए थे। हम यहाँ फिर देखते है कि वर्ग-विद्वेष की ताक़त राष्ट्रीय विद्वेष की ताकत से कितनी ज्यादा ज़ोरदार होती है, और राष्ट्रीय विद्वेष तो काफी ज़हरीला व कड़वा होता ही है। इन शक्तियो ने रूस के खिलाफ बाकायदा युद्ध नही छेड रक्खा था, उन्होने, तो सोवियत को परेशान करने के लिए बहुत-से दूसरे तरीके निकाल लिये थे, खासकर उलट-क्रान्ति के नेताओ को उकसाना और उन्हें हथियारो की व पैसे की मदद देना। कई पुराने ज़ारशाही सेनापति भी सोवियत के खिलाफ लड रहे थे।

ज़ार और उसके कुटुम्बी पूर्वी रूस मे यूराल के पहाडो के पास वहाँ की मुकामी सोवियत की निगरानी मे कैदी बनाकर रक्खे गये थे। इस प्रदेश मे चेक सैनिको के चढ आने से यह सोवियत डर गई, और इस अन्देशे ने उसे दहला दिया कि कही भूतपूर्व ज़ार कैद से छूटकर उलटी-क्रान्ति का ज़बर्दस्त नेता न बन जाय। इसलिए उन्होंने कायदे-क़ानून को ताक मे रखकर ज़ार के सारे कुटुम्ब को मौत के घाट उतार दिया। मालूम होता है कि सोवियत की केन्द्रीय कमेटी इसके लिए ज़िम्मेदार नही थी, और लेनिन, अन्तर्राष्ट्रीय नीति के नाते भूतपूर्व ज़ार की, और इन्सानियत के नाते उसके कुटुम्ब की, हत्या के खिलाफ था। लेकिन जब यह काम हो ही गया तो केन्द्रीय सरकार ने उसे वाजिब ठहराया। शायद इस घटना ने मित्र-राष्ट्री सरकारो को और भी ज्यादा बौखला दिया और उन्हे पहले से भी ज्यादा सरकश बना दिया।

अगस्त मे स्थिति और भी बिगड गई और दो घटनाओ के नतीजे से क्रोध, निराशा और आतक पैदा हो गये। इनमे से एक तो थी लेनिन को मारने की कोशिश और दूसरी थी उत्तरी रूस मे आर्केञ्जल पर मित्र-राष्ट्रो की फौजो का उतरना। मास्को मे बेतहाशा सनसनी फैल गई और सोवियत की ज़िन्दगी खत्म होती हुई नज़र आने लगी। खुद मास्को भी एक तरह से जर्मनो, चेको, उलट-क्रान्तिकारी तत्वो-जैसे शत्रुओ से घिरा हुआ था। मास्को के इर्द-गिर्द कुछ-ही ज़िले सोवियत के राज मे रह गये थे, और मित्र-राष्ट्री सेना के उतरने से अन्त बिलकुल निश्चित दिखाई दे रहा था। बोलशेविको के पास कुछ ज्यादा सेना नही थी, ब्रेस्त-लितोवस्क की सन्धि को पाँच ही महीने हुए थे, और पुरानी सेना के ज्यादातर सिपाही भागकर खेती मे जा लगे थे। खुद मास्को मे ही षड्यन्त्रो की भरमार थी, और मध्यमवर्ग के लोग सोवियतो के होने वाले पतन पर खुले-आम खुशियाँ मना रहे थे।

नौ महीने की उम्र का यह सोवियत गणराज्य ऐसी भयकर मुसीबत मे फँसा हुआ था। बोलशेविको को बेबसी और डर ने घेर लिया, और जब इन्होंने

देखा कि हर हालत मे मरना ही है तो फैसला कर लिया कि लड़ते-लडते ही मरना चाहिए। जैसा कि सवा सौ वर्ष पहले कम उम्र के फ्रान्सीसी गणराज्य ने किया था, वे चारो ओर से घिरे हुए जगली जानवर की तरह अपने शत्रुओ पर उलट पडे। उन्होंने सब्र और दया दोनो को तिलाजलि दे दी। सारे देश मे फौजी कानून जारी कर दिया गया और सितम्बर के शुरू मे केन्द्रीय सोवियत कमेटी ने 'लाल आतक'[1] का ऐलान कर दिया। "तमाम देशद्रोहियो के लिए मौत, विदेशी हमलावरो के खिलाफ बिना रहम का युद्ध।" वे अन्दरूनी और बाहरी दोनो शत्रुओ से इस तरह लडेंगे कि पीछे हटने का नाम नही। सोवियत सारी दुनिया के मुक़ाबले मे और खुद अपने प्रगति-विरोधियो के मुकाबले मे डटकर खडी हो गई। इसी समय 'लडाकू साम्यवाद' का ज़माना भी शुरू हुआ और सारा देश मानो शत्रुओ से घिरी हुई छावनी बना दिया गया। लाल सेना को सगठित करने का पूरा यत्न किया गया और वह काम ट्रॉत्स्की के सिपुर्द किया गया।

यह सितम्बर और अक्तूबर, १९१८ ई०, के आस-पास की बात है जब पश्चिम मे जर्मनी की फौजी-मशीन टूट रही थी और युद्ध बन्द करने की चर्चा चल रही थी। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने 'चौदह सूत्र' रख दिये थे, जिनके बारे मे यह माना गया था कि उनमे मित्र-राष्ट्रो के सब इरादे शामिल कर दिये गए थे। ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि इनमे से एक सूत्र यह था कि तमाम रूसी प्रदेश पर से फौजें हटा ली जायँगी और रूस को बडी शक्तियो की सहायता से अपना विकास करने का पूरा मौका दिया जायगा। रूस मे मित्र-राष्ट्रो की दस्तन्दाज़ी और वहाँ उनकी फौजो का उतरना इस सूत्र की एक निराली व्याख्या सामने ला रहे थे। बोलशेविक सरकार ने राष्ट्रपति विल्सन को एक विरोध-पत्र भेजा, जिसमे उसके चौदह सूत्रो की तीखी आलोचना की गई थी। इस विरोध-पत्र मे उन्होंने लिखा था "आप पोलैण्ड, सर्बिया, बेलजियम, वग़ैरा की स्वाधीनता की, और आस्ट्रिया-हगरी के लोगो के लिए आज़ादी की माँग करते हैं। लेकिन अजीब बात है कि आपकी माँगो मे हमे आयर्लैण्ड, मिस्र, भारत और फिलीपाइन टापुओ तक की आज़ादी का कोई ज़िक्र नही दिखाई देता है।"

११ नवम्बर, १९१८ ई०, को मित्र-राष्ट्रो और जर्मन शक्तियो के बीच सुलह हो गई और लडाई बन्द करने के सुलहनामे पर दस्तखत हो गये। लेकिन रूस मे १९१९ और १९२० ई० मे गृह-युद्ध ज़ोर-शोर से लगातार चलता रहा। सोवियत ने अकेले-दम झुण्ड-के-झुण्ड दुश्मनो का मुकाबला किया। एक वक्त तो ऐसा था जब सोवियत सेना पर सत्रह अलग-अलग मोर्चों पर एक साथ हमले हुए। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रान्स, जापान, इटली, सर्बिया, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया,

[1] Red Terror.

वाल्टिक सागर के तटवर्त्ती राज्य, पोलैण्ड, और ढेरो उलट-क्रान्तिकारी रूसी सेनापति, सब-के-सब सोवियत के खिलाफ लड रहे थे और यह लडाई ठेठ साइबेरिया से लगाकर वाल्टिक सागर और क्रीमिया तक फैली हुई थी। बार-बार ऐसा मालूम होता था कि सोवियत का अन्त होनेवाला है, मास्को भी खतरे मे पड गया था, पेत्रोग्राद दुश्मनो के हाथ मे पडने ही वाला था, पर सोवियत हर सकट को पार कर गई, और हर सफलता के साथ उसका आत्म-विश्वास और वल वढते गये।

उलट-क्रान्ति के नेताओ मे एक एडमिरल कोलचक था। वह अपने को रूस का शासक कहने लगा और मित्र-राष्ट्रो ने सचमुच उसे ऐसा मान भी लिया और वहुत सहायता दी। साइवेरिया मे इसने जो हरकत की उसका हाल उसके युद्ध-साथी जनरल ग्रेव्ज ने लिखा है, जो कोलचक को मदद देनेवाली अमेरिकी सेना का सेनापति था। यह अमेरिकी सेनापति लिखता है·

"वहाँ वडी भयकर हत्याएँ हुईं, लेकिन जैसा कि दुनिया का विश्वास है, वे वोलशेविको ने नही की थी। अगर मैं, कम-से-कम करके भी कहूँ, तो वोलशेविको के हाथो एक-एक आदमी की हत्या के मुकावले मे वोलशेविक-विरोधियो ने पूर्वी साइवेरिया मे सौ-सौ आदमियो को मौत के घाट उतारा।"

तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि नामी राजनीतिज्ञ कितनी जानकारी के वल पर महान् राष्ट्रो का कारोवार चलाते हैं और युद्ध व सुलह करते हैं। लॉयड जॉर्ज ने, जो उस समय इग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री था और यूरोप मे शायद सवमे ज्यादा असरवाला व्यक्ति था, ब्रिटिश कामन्स-सभा मे रूस के बारे मे वोलते हुए वहाँ के कोलचक व दूसरे सेनापतियो का जिक्र किया था। इन्ही नामो के साथ उसने 'सेनापति खारकोफ' का भी नाम लिया था। खारकोफ किसी सेनापति का नाम नही वल्कि एक मशहूर शहर का नाम है, जो यूक्रेन की राजधानी है। पर भूगोल की मामूली वातो से इतने अनजान होते हुए भी इन राजनीतिज्ञो ने यूरोप के टुकडे-टुकडे कर ही डाले और उसका नया नकशा वना ही डाला।

मित्र-राष्ट्रो ने रूस की भी नाकावन्दी कर दी और यह इतनी कारगर हुई कि १९१९ ई० के पूरे वर्ष मे रूस न तो वाहर से कुछ भी खरीद सका और न बाहर कुछ वेच सका।

इन जवर्दस्त कठिनाइयो और कई शक्तिशाली दुश्मनो के वावजूद सोवियत रूम सही-सलामत रह गया और उसने शानदार विजय हासिल की। यह बात इतिहास की सवसे ज्यादा अजीव कारगुजारियो मे गिनी जाती है। सोवियत यह कैसे कर पाई? इसमे कोई शक नही कि अगर मित्र-राष्ट्री शक्तियाँ एक हो जाती और वोलशेविको का नाश करने पर तुल जाती, तो वे शुरू के दिनो मे ऐसा कर

सकती थी। जर्मनी से निबट लेने के बाद उनके पास मनमानी करने के लिए बडी-बडी फौजें थी। पर इन फौजो का हर-कही इस्तेमाल करना आसान नही था, खासकर सोवियतो के खिलाफ। ये युद्ध से थक चुकी थी और अगर इनसे विदेशो मे युद्ध करने की मांग की जाती तो ये इन्कार कर देती। इसके अलावा मजदूरो मे नये रूस के लिए काफी सहानुभूति थी, और मित्र-राष्ट्री सरकारो को डर था कि अगर वे सोवियतो के खिलाफ युद्ध का खुला ऐलान कर देंगे तो उन्हे अपने-अपने देशो मे मुसीबत का सामना करना पडेगा। सच तो यह है कि यूरोप विद्रोह के किनारे खडा मालूम दे रहा था। और इसके अलावा मित्र-राष्ट्री शक्तियो की आपसी लाग-डांट चल रही थी। सुलह होते ही उन्होंने आपस मे लडना-झगडना शुरू कर दिया था। इन सब कारणो से वे बोलशेविको को खत्म करने के लिए कोई पक्का यत्न नही कर सकी। इसलिए उन्होंने इस काम को जहांतक हो सके टेढे रास्ते से पूरा कराने के लिए यह कोशिश की कि अपनी खातिर दूसरो को लडवा दिया और उन्हे रुपये, हथियारो और माहिरो की सलाह की मदद दी। उन्हें विश्वास था कि सोवियतें टिक नही सकेंगी।

इन सब बातो से सोवियतो को बेशक मदद मिली और उन्हें अपनी ताकत बढाने का समय मिल गया। लेकिन यह समझ लेना उनके साथ अन्याय करना होगा कि उनकी विजय बाहरी परिस्थितियो के सबब से हुई। दरअसल यह तो रूसी जनता के आत्म-विश्वास, आत्म-त्याग और न झुकने वाले इरादे की विजय थी, और इसमे चमत्कार की बात यह थी कि इन लोगो को हर जगह काहिल, जाहिल, पस्त-हिम्मत और किसी जोरदार कोशिश के नाकाबिल समझा जाता था, और ठीक ही समझा जाता था। आज़ादी एक आदत है और अगर हम बहुत दिनो उससे महरूम रहे तो बहुत करके उसे भूल जाते हैं। इन जाहिल रूसी किसानो और मजदूरो को इस आदत पर अमल करने का कोई मौका नही मिला था। फिर भी उन दिनो के रूसी नेताओ मे यह गुण था कि उन्होंने इस नाचीज़ इन्सानी मसाले को एक बलवान, सगठित राष्ट्र के रूप मे बदल दिया, जिसे अपने उद्देश्य मे विश्वास और अपनी शक्ति का भरोसा था। कोलचक और उसके सगी-साथी हरा दिये गए, सिर्फ इस वजह से नही कि बोलशेविक नेता काबिल और पक्के इरादेवाले थे, बल्कि इसलिए भी कि रूसी किसान ने उन्हे बर्दाश्त करने से इन्कार कर दिया। उसके लिए वे पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधि थे जो उसकी नई जीती हुई धरती को और दूसरी रियायतो को छीनने के लिए आये थे। इसलिए उसने मरते-दम तक इनको बचाने का फैसला कर लिया।

मीनार की तरह सभी से ऊँचा और सबके ऊपर एकछत्र प्रभुता जमानेवाला—ऐसा था लेनिन। रूसी जनता के लिए तो वह मानो देवता था, जो आशा

और विश्वास का चिह्न था, जो इतना बुद्धिमान था कि हर कठिनाई मे रास्ता निकाल सकता था, और जो न तो किसी भी हालत मे परेशान होता था, न घबराता था। उसके बाद उन दिनो ऑत्स्की का नम्बर आता था (क्योकि अब वह रूस मे बदनाम है), जो लेखक और वक्ता था, जिसे पहले का कोई फौजी तजुर्बा नही था, और जो अब गृह-युद्ध और नाके-बन्दी के बीच एक बडी सेना तैयार करने के काम मे जुट गया था। ऑत्स्की जान पर खेलनेवाला बहादुर था और लड़ाई मे अक्सर अपनी जान खतरे मे डाल देता था। जिन लोगो मे हिम्मत व अनुशासन की कमी होती थी उनके लिए उसके दिल मे कोई दया नही थी। गृह-युद्ध की एक नाजुक घडी मे उसने यह आज्ञा निकाली थी

"मैं चेतावनी देता हूँ कि अगर फौज की कोई इकाई बिना हुक्म के पीछे हटेगी तो पहले उस टुकडी का नायक गोली से उडाया जायगा और फिर सेनापति। उनकी जगहो पर वीर और जवाँमर्द सिपाही मुकर्रर किये जायँगे। कायर, नामर्द और गद्दार गोली से नही बच सकेंगे। यह मैं सारी लाल सेना के सामने कसम खाकर वचन देता हूँ।"

और उसने अपना वचन पूरा किया।

अक्तूबर, १९१९ ई० मे ऑत्स्की ने जो दूसरा फौजी हुक्म निकाला वह भी दिलचस्प है, क्योकि उससे जाहिर होता है कि बोलशेविक लोग जनता और पूंजीशाही सरकारो को किस तरह दो अलग-अलग चीजें मानने की हरदम कोशिश करते थे, और कोरा राष्ट्रीय नजरिया कभी भी नही अपनाते थे। इस हुक्म मे कहा गया था

"लेकिन आज भी, जब हम इग्लैण्ड के भाडे के टट्टू यूदेनिश के साथ सख्त लडाई मे फँसे हुए हैं, मैं माँग करता हूँ कि तुम यह कभी मत भूलो कि इग्लैण्ड दो हैं। मुनाफाखोरो, मारकाट करनेवालो, रिश्वत-खोरो और खून के प्यासो के इग्लैण्ड के अलावा, मजदूरो का, आध्यात्मिक शक्ति का, अन्तर्राष्ट्रीय एकता के ऊँचे आदर्शो का एक इग्लैण्ड और है। हमसे जो लड रहा है वह सट्टाबाजार के सटोरियो का कमीना और बेईमान इग्लैण्ड है। मजदूरो का और जनता का इग्लैण्ड हमारे साथ है।"

जिस वक्त पेत्रोग्राद यूदेनिश के हाथो मे पडने ही वाला था, तब उसको बचाने के फ़ैसले मे उसकी कुछ झलक नजर आती है, जिसके साथ लाल सेना को लडाया जा रहा था। बचाव-परिषद् ने हुक्म जारी किया था कि "खून की एक बूंद बाकी रहने तक भी पेत्रोग्राद की हिफाजत करो, बित्ताभर भी पीछे न हटो, और शहर की गली-गली मे दुश्मन का मुकाबला करो।"

महान् रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की लिखता है कि लेनिन ने एक वार ऑत्स्की के बारे मे कहा था.

"भला मुझे ऐसा दूसरा व्यक्ति वतलाओ तो सही जो एक साल के भीतर ऐसी फौज तैयार कर दे जो दूसरो के लिए मिसाल वन जाय, और इसके अलावा फौजी मामलो के माहिर भी जिसकी इज्जत करने लगें। हमारे पास ऐसा व्यक्ति है। हमारे पास सवकुछ है। और चमत्कार अव भी होने वाकी हैं।"

यह लाल सेना दिन-दूनी रात-चौगुनी वढने लगी। दिसम्वर, १९१७ ई० मे, जव वोलशेविक ने सत्ता पर कब्जा किया ही था, इस सेना की सख्या ४,३५,००० थी। ब्रैस्त लितोवृस्क की सन्धि के वाद ज्यादातर सिपाही छोडकर चले गये होगे और सेना का दुवारा सगठन करना पडा होगा। १९१९ ई० के बीच तक इसकी सख्या १५,००,००० हो गई थी। एक वर्ष वाद यह वढकर ५३,००,००० की भारी तादाद पर पहुँच गई थी।

१९१९ ई० के अन्त तक गृह-युद्ध मे सोवियतें पूरे तौर पर अपने विरोधियो के ऊपर हावी हो चुकी थी। मगर युद्ध एक साल तक और चलता रहा और इस बीच कई नाजुक घडियाँ आई। १९२० ई० मे पोलैण्ड (जो जर्मनी की पराजय के वाद नया वना था) की रूस से खटक गई और दोनो मे युद्ध छिड गया। १९२० ई० के अन्त तक ये सव युद्ध करीव-करीव खत्म हो चुके थे और रूस को आखिर कुछ राहत मिली थी।

इसी बीच अन्दरूनी कठिनाइयाँ वढ़ गई थी। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और अकाल ने देश की हालत वहुत वुरी कर डाली थी। उत्पादन बहुत कम हो गया था, क्योंकि जव मुकावले की दो सेनाएँ लगातार देश को रौंद रही हो तो न तो किसान खेत वो सकते हैं और न मज़दूर कारखाने चला सकते हैं। युद्ध-काल मे साम्यवादी तरीके अपनाने से देश किसी तरह मुसीवतो से पार हो गया था, लेकिन हरेक व्यक्ति को अपने पेट पर कसकर पट्टी बाँधनी पडी थी और अव इस सिलसिले को सहन करना कठिन हो रहा था। खेतिहर लोग ज्यादा उत्पादन मे दिलचस्पी नही ले रहे थे, क्योंकि उनका कहना था कि जो लडाकू साम्यवाद चल रहा था उसके मातहत उनकी पैदा की हुई सारी फालतू फसल को राज्य छीन लेगा, इसलिए वे मेहनत क्यो करें? एक बहुत ही कठिन और खतरनाक स्थिति पैदा हो रही थी। पेत्रोग्राद के नज़दीक में मल्लाहो का विद्रोह तक भी हो गया था, और खुद पेत्रोग्राद (या लेनिनग्राद) मे हडतालें हो रही थी।

लेनिन ने, जिसमे बुनियादी वातो को मौजूदा हालतो के मुताबिक ढालने की अद्‌भुत खासियत थी, फौरन कार्रवाई की। उसने युद्धकालीन साम्यवाद को

खत्म कर दिया और 'नई अर्थनीति' के नाम से एक नई नीति चलाई। इसके मातहत किसान को उत्पादन करने की और अपनी उपज को वेचने की ज्यादा आजादी मिल गई, और कुछ खानगी व्यापार भी खोल दिया गया। कुछ हद तक यह ठेठ साम्यवादी सिद्धान्तो से परे हटना था, लेकिन लेनिन ने, इसे कामचलाऊ तदवीर कहकर, वाजिव ठहराया। इससे जनता को जरूर ही वहुत राहत मिली। लेकिन जल्द ही रूस को एक और आफत का सामना करना पडा। यह सूखे के कारण, और उसकी वजह से दक्षिण-पूर्वी रूस के लम्वे-चौडे प्रदेश मे फ़सल चौपट होने के कारण पडनेवाला अकाल था। यह भयकर अकाल था, इतिहास मे इससे वडा अकाल पहले कभी नही पडा था, और इसमे लाखो लोग भूखो मर गये। इस अकाल मे सरकार का सारा ढाँचा ही टूट जाने का अन्देशा था, क्योकि एक तो यह वर्षो के युद्ध और नाकेवन्दी और अर्थ-व्यवस्था की गड-वडी के वाद ही आ पडा था, और दूसरे तवतक सोवियत सरकार को लडाई-झगडे से वेफिक्र होकर काम करने का मौका नही मिला था। पर फिर भी, जिस तरह सोवियत पहले की आफतो को पार कर गई थी, उसी तरह इसे भी सही-सलामत पार कर गई। यूरोपीय सरकारो का एक सम्मेलन यह विचार करने के लिए हुआ कि अकाल का कष्ट दूर करने के लिए रूस को क्या सहायता देनी चाहिए। उन्होंने जाहिर किया कि वे तवतक कोई सहायता नही देंगे जवतक कि सोवियत सरकार ज़ारशाही के उन पुराने कर्ज़ो को चुकाने का वादा न करे, जिन्हे उसने रद्द कर दिया था। साहूकारी इन्सानियत से ज्यादा ज़ोरदार सावित हुई और रूसी माताओ ने अपने अव-मरे वच्चो के नाम पर जो दिल पिघलानेवाली अपील की उसपर भी कोई ध्यान नही दिया गया। लेकिन सयुक्त राज्य अमेरिका ने कोई शर्तें नही लगाईं और वहुत मदद पहुँचाई।

जव इग्लैण्ड व दूसरे यूरोपीय देशो ने रूस को अकाल मे सहायता देने मे इन्कार किया तो इसका यह मतलव नही था कि वे और मामलो मे सोवियत का वायकाट कर रहे थे। १९२१ ई० के शुरू मे ही एक आग्ल-रूसी तिजारती सन्धि पर दस्तखत हो चुके थे और दूसरे देशो ने भी उनके रास्ते पर चलकर सोवियत के साथ तिजारती सन्धियाँ कर ली थी।

चीन, तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान, वगैरा पूर्वी देशो के साथ सोवियत ने वडी उदार नीति अपनाई। उसने पुरानी ज़ारशाही रियायते छोड दी और वहुत दोस्ताना व्यवहार करने की कोशिश की। यह चीज़, तमाम पराधीन और शोषित कौमो के लिए आज़ादी के सोवियत सिद्धान्तो के मुताविक थी, लेकिन इसके पीछे सोवियत की ज्यादा महत्ववाली नीति थी अपनी स्थिति मजवूत वनाना। सोवियत रूस की उदारता से इग्लैण्ड-जैसी साम्राज्यशाही शक्तियाँ

अक्सर विषम स्थिति मे पड जाती थी, क्योकि पूर्वी देश जब दोनो को मुकाबले मे रखते थे तो उन्हे इग्लैण्ड व दूसरी शक्तियाँ हेच मालूम पडती थी।

१९१९ ई० मे एक और घटना हुई, जिसका जिक्र यहाँ करना ज़रूरी है। यह थी साम्यवादी दलो के हाथो मास्को मे तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना। पिछले पत्रो मे मैं प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सघ का ज़िक्र कर चुका हूँ, जिसे कार्ल मार्क्स ने कायम किया था, और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ का भी जो बहादुरी की बहुत-सी बाते करने के बाद १९१४ ई० का महायुद्ध छिडते ही टूट गया। बोलशेविको का खयाल था कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ को कायम करनेवाले पुराने मज़दूर व साम्यवादी दलो ने मज़दूर-वर्ग को धोखा दिया। इसलिए उन्होने साफ क्रान्तिकारी नज़रियेवाला तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ बनाया ताकि पूँजीशाही और साम्राज्यशाही के खिलाफ और उन मौका-परस्त साम्राज्यवादियो के खिलाफ भी लडा जाय जो 'मध्यम-वर्ग' की नीति पर चलनेवाले थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय सघ को अक्सर 'कॉमिन्तर्न'[1] भी कहा जाता है, और बहुत-से देशो मे प्रचार करने मे इसने बहुत भारी हिस्सा लिया है। जसा कि इसके नाम से मतलब है, यह एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन है, जिसका चुनाव बहुत-से जुदा-जुदा देशो के साम्यवादी दल करते हैं। लेकिन, चूँकि रूस ही वह देश है जहाँ साम्यवाद की शानदार विजय हुई है, इसलिए कॉमिन्तर्न मे लाज़िमी तौर पर रूसी प्रभाव सबसे ज्यादा है। अलबत्ता कॉमिन्तर्न और सोवियत सरकार अलग-अलग चीज़ें हैं, हालाँकि बहुत-से व्यक्ति दोनो मे ऊँचे-ऊँचे ओहदो पर हैं। चूँकि कॉमिन्तर्न ऐलानिया तौर पर क्रान्तिकारी साम्यवाद फैलानेवाला सगठन है, इसलिए साम्राज्यशाही शक्तियाँ इससे बुरी तरह चिढ़ी हुई हैं और वे अपने-अपने प्रदेशो मे इसकी हलचलो को दबाने की बराबर कोशिश करती रहती हैं।

युद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप मे द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ (मजदूर और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ) भी दुबारा जिलाया गया। बहुत हद तक द्वितीय व तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघो का, कम-से-कम उसूली बातो मे, एक ही मकसद है। पर दोनो की विचारधाराएँ और तरीके बिलकुल अलग-अलग हैं और दोनो एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। ये आपस मे लडते-झगडते रहते हैं और एक दूसरे पर ऐसे हमले करते हैं जैसे कि अपने दोनो के दुश्मन पूँजीवाद पर भी नहीं करते। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ अब एक इज्ज़तदार सगठन बन गया है और इसके सदस्य अक्सर यूरोपीय सरकारो के मन्त्रिमण्डलो मे शामिल होते रहते हैं। तृतीय सघ क्रान्तिकारी सगठन चला आ रहा है, इसलिए यह इज्ज़तदार नही माना जाता।

---

[1] Comintern—यह Communist International का सक्षिप्त रूप है।

रूस के गृह-युद्ध मे शुरू से आखीर तक 'लाल आतंक' और 'सफेद आतक' सख्त वेरहमी से एक दूसरे से होड लगाते रहे, और इसमे शायद 'सफेद आतक' 'लाल आतक' से जबर्दस्त बाजी ले गया। साइबेरिया मे कोलचक के अत्याचारो के बारे मे अमेरिकी सेनापति के बयान से (जो मै ऊपर दे चुका हूँ), और दूसरे बयानो से, यही नतीजा निकलता है। लेकिन इसमे भी कोई शक नही हो सकता कि 'लाल आतक' कठोर था, और इसका फल कितने ही वेकसूर आदमियो को भोगना पडा होगा। बोलशेविको पर सब तरफ से हमले हो रहे थे और वे चारो ओर षड्यन्त्रो व जासूसो से घिरे हुए थे, इसलिए उनका धीरज टूट गया और जरा भी शुबहा होनेपर वे बडी कठोर सजाएँ देने लगे। खासकर उनकी राजनीतिक पुलिस, जो 'चेका'[१] कहलाती थी, इस आतक के लिए बहुत बदनाम थी। यह भारत की 'सी० आई० डी०'[२] जैसी थी, पर इसके अधिकार बहुत बढ़े-चढे थे।

यह पत्र लम्बा होता जा रहा है। लेकिन इसे पूरा करने से पहले मैं तुम्हे लेनिन के बारे में कुछ और बाते बतलाना चाहता हूँ। अगस्त, १९१८ ई० मे, जब उसकी हत्या की कोशिश की गई थी, तब उसे गहरे घाव लगे थे। पर इनके बावजूद उसने कुछ आराम नही लिया था। वह काम के जबर्दस्त बोझ को निबटाता रहा, और इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि मई, १९२२ ई० मे, उसकी हालत गिर गई। कुछ दिन आराम लेने के बाद वह फिर काम मे लग गया, पर ज्यादा दिन के लिए नही। १९२३ ई० मे उसकी हालत पहले से भी ज्यादा गिर गई और वह सम्हल न सका। २१ जनवरी, १९२४ ई०, को मास्को के पास उसकी मृत्यु हो गई।

कई दिनो तक उसकी लाश मास्को मे रक्खी गई—सर्दी का मौसम था और रासायनिक मसाले लगाकर लाश को वर्षो तक के लिए टिकाऊ बना दिया गया था। और जनसाधारण के प्रतिनिधि, किसान और मजदूर, नर और नारियाँ और बच्चे, सारे रूस से और साइबेरिया के दूरवर्ती मैदान से, अपने उस परमप्यारे साथी को आखिरी ताजीम देने आये, जिसने उन्हे गहराइयो मे से खीचकर बाहर निकाला था और भरे-पूरे जीवन का मार्ग दिखाया था। उन्होंने मास्को के सुन्दर 'लाल चौक' मे उसके लिए एक सादा और बिना सजावट का मकबरा बनाया। उसकी लाश एक कॉच के सन्दूक मे अभीतक वहाँ रक्खी हुई है और हर शाम को लोगो की एक लम्बी कतार खामोशी के साथ उसके पास से गुजरती

[१] Cheka.

[२] C I D (Criminal Investigation Department)—अंग्रेजी राज्य का भारतीय पुलिस का खुफ़िया विभाग।

है। लेनिन को मरे बहुत वर्ष नही बीते हैं, लेकिन इतने थोडे समय मे ही वह, न सिर्फ अपने रूस मे वल्कि सारे ससार मे, एक ज़वर्दस्त परम्परा कायम करनेवाला बन गया है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसकी महानता को चार चाँद लगते जाते हैं, वह ससार के कुछ गिने-चुने अमर-जनो मे गिना जाने लगा है। पेत्रोग्राद अव लेनिनग्राद हो गया है, और करीव-करीव हर रूसी घर मे एक लेनिन का कोना है, या लेनिन का चित्र होता है। मगर लेनिन ज़िन्दा है, यादगारो मे या तसवीरो मे नही, वल्कि अपने किये हुए ज़वर्दस्त कारनामो मे, और आज करोडो मज़दूर-पेशा लोगो के दिलो मे, जो उसकी मिसाल से प्रेरणा और अच्छे दिनो की आशा हासिल करते हैं।

यह न समझना कि लेनिन एक वेदर्द मशीन की तरह था, जो अपने काम मे डूवा रहता था और इसके सिवा और कोई बात नही सोचता था। वह अपने काम का और अपनी ज़िन्दगी के उद्देश्य का पूरा पुजारी ज़रूर था, लेकिन साथ ही उसमे यह भावना ज़रा भी नही थी कि लोग उसकी ओर आँखें लगाये हुए हैं। वह तो एक विचार का सच्चा पुतला था। और इसपर भी उसमे इन्सानियत वहुत थी, और इन्सानी गुणो मे सबसे वडा गुण था—दिल खोलकर हँसने की आदत। मास्को मे ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि लॉकहार्ट, जो सोवियत के खतरनाक दिनो मे वहाँ था, लिखता है कि चाहे जो हो जाय, लेनिन हमेशा खुश-मिज़ाज रहता था। इस ब्रिटिश राजनयिक ने लिखा है "अपने जीवन मे मैं जिन सार्वजनिक नेताओ से मिला हूँ उन सबमे ज्यादा यकसाँ स्वभाववाला मैंने इसी को पाया।" वह अपनी बातचीत मे और अपने काम मे सीधा व सच्चा, और लम्बी-चौडी बातो से और ढोग से नफरत करनेवाला था। वह सगीत-प्रेमी था, यहाँतक कि उसे डर लगा रहता था कि इस सगीत-प्रेम का उसपर इतना ज्यादा असर न हो जाय कि वह अपने काम मे ढीला बन जाय।

लेनिन के एक साथी ल्यूनाशार्स्की ने, जो वहुत वर्षों तक शिक्षा-विभाग का वोलशेविक मन्त्री रहा था, उसके वारे मे एक निराली वात कही थी। लेनिन का पूँजीपतियो को सताना, और ईसा का एक मन्दिर से सूद-खोरो को निकालना—इन दोनो वातो का मुकावला करते हुए उसने कहा था—"अगर ईसा आज ज़िन्दा होता तो वह वोलशेविक होता।" मज़हव को न माननेवाले लोगो के लिए इस तरह की तुलना करना एक निराली बात है।

स्त्रियो के वारे मे लेनिन ने एक वार कहा था "जवतक आधी आबादी रसोई-घर मे गुलामी करती रहेगी, तवतक कोई राष्ट्र आज़ाद नही हो सकता।" एक दिन जब वह कुछ बच्चो को दुलार रहा था तब उसने वडे भेद की वात कही थी। उसका पुराना मित्र मैक्सिम गोर्की लिखता है कि उसने कहा था "इनके

जीवन हमारे जीवनों से ज्यादा आनन्द के होंगे। इन्हे उन बहुत-सी मुसीबतो मे से नही गुज़रना पडेगा जिन्हे हम लोगो ने पार किया है। इन्हे अपने जीवन मे इतने ज्यादा जुल्म नही देखने पडेगे।" हम सबको ऐसी ही उम्मीद करनी चाहिए।

इस पत्र के अन्त मे मैं पूरे आर्केस्ट्रा के लिए और लोगो के समूह-गान के लिए हाल ही मे लिखी गई एक रूसी रचना के शब्द दूंगा। जिन लोगो ने इसे सुना है, उनका कहना है कि इसके सगीत मे जान और शक्ति भरी है और यह गीत मानो विद्रोही जनता की भावना को ज़ाहिर करनेवाला है। इस गीत का जो हिन्दी अनुवाद यहां दिया जा रहा है उसमे भी इस भावना का कुछ अश आ जाता है। यह गीत 'अक्तूबर' कहलाता है और इसका अर्थ है 'नवम्बर, १९१७ ई०, की बोलशेविक क्रान्ति।' उन दिनो रूस मे वह कैलेण्डर चलता था जो बिना सुधारा हुआ कैलेण्डर कहलाता है और यह मामूली पश्चिमी कैलेण्डर से तेरह दिन पीछे था। इस कैलेण्डर के मुताबिक मार्च, १९१७ ई०, की क्रान्ति फरवरी मे हुई और इस लिए वह 'फरवरी की क्रान्ति' कहलाती है। इसी तरह नवम्बर, १९१७ ई० के शुरू मे होनेवाली बोलशेविक क्रान्ति 'अक्तूबर की क्रान्ति' कहलाती है। अब रूस ने अपना कैलेण्डर बदल दिया है और सुधरा हुआ कैलेण्डर अपना लिया है, पर ये पुराने नाम अभीतक काम मे आते हैं।

हम काम और रोटी की भीख मांगने के लिए गये,
हमारे हृदय पीड़ा से दबे हुए थे,
कारखानों की चिमनियां आकाश की ओर इशारा कर रही थीं,
मानो मुट्ठी बांधने की शक्ति से रहित थके हुए हाथ हो।
हमारे दुःख और हमारी पीड़ा के, तोपो की आवाज़ से भी अधिक घोर
शब्दो ने खामोशी को भंग कर दिया।
ऐ लेनिन! तू हमारे गांठ-गठीले हाथों की अभिलाषा है।
हमने समझ लिया है लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमारे भाग्य मे है
सघर्ष! संघर्ष! संघर्ष!
तूने अन्तिम लड़ाई में हमारा नेतृत्व किया। सघर्ष!
तूने हमे मजदूर-वर्ग की विजय दी।
अज्ञान और जुल्म के ऊपर इस विजय को हमसे कोई न छीन सकेगा।
कोई नहीं! कोई नहीं! कभी नहीं! कभी नहीं!
आओ, इस सघर्ष मे हरेक जवान वीर बन जाओ,
क्योकि हमारी विजय का नाम अक्तूबर है।
अक्तूबर! अक्तूबर!

अक्तूबर सूर्य का सन्देश-वाहक है।
अक्तूबर विद्रोही सदियों का संकल्प है।
अक्तूबर! यह श्रम है, यह खुशी है, यह गीत है।
अक्तूबर! यह खेतो और मशीनों के लिए शुभ शकुन है।
यह नई सन्तति और लेनिन का झण्डे पर लिखा हुआ नाम है।

: १५३ :

जापान चीन को डराता-धमकाता है

१४ अप्रैल, १९३३

जिस समय महायुद्ध चल रहा था, उस समय सुदूर पूर्व मे कुछ घटनाएँ हुई जिनपर ध्यान देना जरूरी है। इसलिए अब मैं तुम्हें चीन ले चलता हूँ। चीन के बारे मे अपने पिछले पत्र मे मैंने वहाँ गणराज्य की स्थापना का और उसके नतीजे से होनेवाली गडबडो का जिक्र किया था। साम्राज्य को फिर से क़ायम करने के यत्न किये गए। ये तो विफल रहे, पर गणराज्य समूचे देश पर अपनी सत्ता कायम करने मे सफल नही हुआ, या यो कहो कि कोई भी एक सरकार इसमे सफल नही हुई। तबसे अबतक कोई भी ऐसी हुकूमत समूचे चीन पर राज नही कर पाई है, जिसे सब मानते हो। कुछ वर्षों तक देश मे दो बडी सरकारें रही, एक उत्तरी और दूसरी दक्षिणी। दक्षिण मे डॉ० सुन-यात-सेन और उसके राष्ट्रीय दल कुओ-मिन-ताङ का प्रभुत्व था। उत्तर मे युआन शिह्-काई की फ़ौजी हुकूमत थी और उसके बाद सेनापतियो और फौजी आदमियो का एक तांता लगा रहा। ये फौजी हौसलेबाज़ तूशन कहलाते थे और अब भी कहलाते हैं, पिछले वर्षों मे ये लोग चीन के लिए एक बवाल साबित हुए हैं।

इस तरह चीन लगातार गडबडी की दुखदाई हालत मे, और अक्सर उत्तर व दक्षिण के बीच या मुकाबलेदार तूशनो के बीच गृह-युद्ध की हालत मे रहा। साम्राज्यशाही शक्तियो के लिए साज़िशें करने का, और कभी एक दल या तूशन को और कभी दूसरे को उकसाकर इस अन्दरूनी फूट से फायदा उठाने की कोशिश करने का, यह बडा अच्छा मौक़ा था। तुम्हें याद होगा कि इसी तरकीब से अंग्रेज़ो ने भारत मे अपना पाँव जमाया था। यूरोपीय शक्तियो ने इस मौक़े का फायदा उठाया और साज़िशें करना व एक तूशन को दूसरे के खिलाफ़ लडाना शुरू किया। लेकिन जल्द ही उनकी खुद की परेशानियो ने और महायुद्ध ने सुदूर-पूर्व मे उनकी हरकतो का खात्मा कर दिया।

लेकिन जापान की हालत इससे जुदा थी। युद्ध का मुख्य जगी मोर्चा बहुत

दूर था, और जापान विलकुल वेखटके चीन मे अपनी पुरानी हरकतें जारी रख सकता था। वास्तव मे उस समय वह ऐसा करने के लिए पहले से बहुत ज्यादा अच्छी स्थिति मे था, क्योकि दूसरी शक्तियाँ और जगह उलझी हुई थी और उनकी दस्तन्दाजी करने की गुजायश नही थी। उसने जर्मनी से युद्ध सिर्फ इसलिए छेड़ा कि उसे चीन मे जर्मनी के रियायती प्रदेश क्याउ-चाउ पर कब्जा करना था और फिर भीतर की ओर आगे घुसना था।

पिछले चालीस वर्षों मे जापानियो ने चीन के साथ जो नीति बरती है, वह निराले तौरपर एक-सी चली आती हुई दिखाई देती है। जैसे ही उन्होंने अपनी सेना का आधुनिक ढग पर सगठन कर लिया और अपने देश के उद्योगीकरण को तेजी से आगे वढा दिया, उन्होंने चीन मे अपनी प्रभुता कायम करने का फैसला किया। वे फैलने के लिए और अपने उद्योगो को बढ़ाने के लिए जगह चाहते थे। कोरिया और चीन दोनो नजदीक भी थे और कमजोर भी, और मानो न्योता दे रहे थे कि कोई आकर उनपर हुकूमत करे और उनका शोषण करे। जापानियो की पहली कोशिश थी चीन के साथ १८९४-९५ ई० का युद्ध। वे जीत तो गये पर कुछ यूरोपीय शक्तियो के विरोध के सवव उन्हे उतना नही मिला जितना वे चाहते थे। इसके वाद रूस के साथ १९०४ ई० का जरा कठिन झगडा आया। इसमे भी वे जीत गये और उन्होंने कोरिया और मचूरिया मे अपने पाँव मजबूती से जमा लिये। कुछ ही दिन वाद उन्होने कोरिया पर कब्जा करके उसे जापानी साम्राज्य का हिस्सा बना लिया।

लेकिन मंचूरिया चीन का ही हिस्सा बना रहा। इसमे चीन के तीन पूर्वी प्रान्त शामिल हैं और यही वात कही भी जाती है। जापानियो ने सिर्फ वहाँ के रूसी रियायती प्रदेशो पर अधिकार कर लिया, जिसमे रूसियो का बनाया हुआ रेल-मार्ग भी, जो तबतक 'चाइनीज़ ईस्टर्न रेलवे' कहलाता था, शामिल था। इस रेल-मार्ग का नाम बदलकर 'साउथ मचूरिया रेलवे' कर दिया गया। अव जापान ने मचूरिया पर अपना पजा खूब मजबूती से जकडना शुरू कर दिया। इसी बीच रेल-मार्ग ने चीन के बहुत ज्यादा घनी आवादीवाले वाकी हिस्से से लोगो को खींचना शुरू किया और चीनी किसानो का ताँता बँध गया। मचूरिया मे सोयावीन नामक वीज खूब पैदा होता था और इसके कीमती गुणो के सबव से इसके लिए सारी दुनिया की माँग वढने लगी। इस वीज से और चीजो के अलावा एक तरह का तेल भी निकाला जाता है। इस सोयावीन की खेती ने भी लोगो को मचूरिया की तरफ़ खीचा। इस तरह, इधर तो जापानी लोग मचूरिया की अर्थ-व्यवस्था पर ऊपर के सिरे से पूरा कब्जा करने का यत्न कर रहे थे, उधर दक्षिण से ढेर-के-ढेर चीनी चले आ रहे थे और वहाँ बसते जाते थे। मचूरिया के पुराने

निवासी, चीनी किसानों व दूसरे लोगों की इस बाढ मे डूब गये और सस्कृति व आचार-विचार मे खुद ही पूरे चीनी बन गये।

चीन मे गणराज्य की स्थापना जापान को नही भायी। वह तो चीन की ताकत बढानेवाली हर चीज़ को नापसन्द करता था, और उसकी सारी कूटनीति का लक्ष्य यह था कि सारा चीन मिलकर एक मज़बूत राज्य न बन जाय। इसलिए उसने एक तूशन की दूसरे के खिलाफ मदद करने में कारगर दिलचस्पी ली ताकि अन्दरूनी गडबडी चलती रहे।

चीन के कम उम्रवाले गणराज्य के सामने बडी ज़बर्दस्त समस्याएँ थी। यह सिर्फ अधमरी साम्राज्यशाही सरकार से राजनीतिक सत्ता छीन लेने का ही सवाल नही था। छीनने के लिए राजनीतिक सत्ता तो कुछ थी ही नही, क्योंकि ऐसी केन्द्रीय सत्ता की कोई हस्ती ही नही थी। केन्द्रीय सत्ता तो बनाई जाने को थी। पुराना चीन नाम के लिए साम्राज्य था। अमली तौरपर तो वह बहुत-से खुदमुख्तार इलाको का जमघट था, जिन्हे आपस मे जोडनेवाली गाँठें ढीली-ढाली थी। सारे प्रान्त थोडे या बहुत खुदमुख्तार थे, और नगर व गाँव तक भी ऐसे ही थे। केन्द्रीय सरकार की या सम्राट की सत्ता तो मानी जाती थी, पर यह सरकार मुक़ामी मामलो मे दखल नही देती थी। यह 'एक-सत्तावाला' राज्य नही था, यानी ऐसा राज्य नही था जिसमे सारी सत्ता और असली शासन केन्द्र के हाथ मे हो और सरकार के जुदा-जुदा पहलुओ मे इकसारपन हो। यह तो वह ढीले बन्धनों-वाला राज्य था (राजनीतिक लिहाज़ से) जो पश्चिमी उद्योगो व साम्राज्यशाही हवस की टक्कर से टूक-टूक हो गया था। अब यह महसूस किया जा रहा था कि अगर चीन को सही-सलामत रहना है तो उसे मज़बूत केन्द्रीय राज्य बनना चाहिए जिसकी शासन-प्रणाली इकसार हो। नया गणराज्य ऐसा ही राज्य क़ायम करना चाहता था। यह चीज़ कुछ नई थी, और इसीलिए गणराज्य के सामने इसने यह एक बहुत बडी कठिनाई पैदा कर दी। चीन मे सडको, रेलो, वग़ैरा, आवा-जाई के उचित साधनो की कमी राजनीतिक एकता के रास्ते मे खुद ही एक ज़बर्दस्त रुकावट बन रही थी।

पुराने ज़माने मे चीन के लोग कोरी राजनीतिक सत्ता को कोई महत्व की चीज़ नही समझते थे। उनकी समूची शानदार सभ्यता की बुनियाद सस्कृति पर थी, और जीने की कला सिखाने का इसका ढग ससारभर मे बेजोड था। वे अपनी इस पुरानी सस्कृति से इतने भरपूर थे कि जब उनका राजनीतिक और आर्थिक ढांचा टूटकर गिर पडा, तब भी वे अपनी पुरानी सस्कृति के ढगो से चिपके रहे। जापान ने समझ-बूझकर पश्चिमी उद्योगो को और पश्चिमी रग-ढग को अपनाया था, लेकिन दिल से वह सामन्तशाही बना रहा। चीन सामन्तशाही

नहीं था, उसमे बुद्धिवाद और वैज्ञानिक भावना भरी थी, और विज्ञान व उद्योगो मे पश्चिम मे होनेवाली उन्नतियो को वह शौक़ से देख रहा था। लेकिन फिर भी वह इस तरह नहीं दौड पडा जैसे जापान दौड पडा था। इसमे शक नही कि उसके रास्ते मे कई कठिनाइयाँ थी, जो जापान के सामने नही थी। मगर फिर भी कोई ऐसा काम करने मे उसे झिझक थी, जिसके नतीजे से पुरानी सस्कृति से बिलकुल नाता टूट जाय। चीन का स्वभाव दार्शनिको के जैसा था, और दार्शनिक लोग जल्दबाज़ी मे कोई काम नही किया करते उसके मन मे बडी उथल-पुथल मची हुई थी और अब भी है, क्योकि जिन समस्याओ का उसे सामना करना पडा था वे सिर्फ राजनीतिक ही नही थीं। वे आर्थिक और समाजी और दिमाग़ी और शिक्षा से ताल्लुक रखनेवाली, वगैरा थी।

और फिर, चीन और भारत जैसे बेहद लम्बे-चौडे देशो का आकार ही कठिनाइयाँ पैदा करता है। ये महाद्वीप-सरीखे देश हैं और इनमे कुछ-कुछ महाद्वीपो-जैसा भारीपन है। हाथी जब गिरता है तो उठने मे अपने भारीपन के मुताबिक समय लेता है, वह बिल्ली या कुत्ते की तरह उछलकर खडा नही हो सकता।

जब महायुद्ध शुरू हुआ तो जापान फौरन मित्र-राष्ट्रो के साथ शामिल हो गया और उसने जर्मनी के खिलाफ युद्ध छेड दिया। उसने क्याउ-चाउ पर कब्ज़ा कर लिया और फिर चीन के भीतर की तरफ शान्तुङ प्रान्त मे बढने लगा, जिसमे क्याउ-चाउ है। इसका मतलब यह था कि जापानी लोग खास चीन पर धावा बोल रहे थे। जर्मनी के खिलाफ लडने का यहाँ कोई सवाल नही था, क्योकि इस इलाके से जर्मनी का कोई ताल्लुक ही नही था। चीनी सरकार ने नर्मी के साथ उनसे वापस चले जाने को कहा। ऐसी ढ़ैकडी! और यह कहकर जापानियो ने झट एक सरकारी विरोध-पत्र भेज दिया, जिसमे इक्कीस माँगें गिनाई गई थी।

ये 'इक्कीस माँगें' मशहूर हो गईं। मैं यहाँ उनका ज़िक्र नही करूँगा। इनका मतलब यह था कि तरह-तरह की रियायतें और खास रियायतें, खासकर मचूरिया, मगोलिया और शान्तुङ प्रान्त मे, जापान के हवाले कर दी जायँ। इन माँगो को मान लेने का नतीजा यह होता कि अमल मे चीन जापान का एक उपनिवेश बन जाता। उत्तरी चीन की कमज़ोर सरकार ने इन माँगो पर ऐतराज किया, पर वह शक्तिशाली जापानी सेना के सामने क्या कर सकती थी? और फिर, उत्तरी चीन की यह सरकार खुद अपनी ही जनता मे लोकप्रिय नहीं थी। इसपर भी इसने एक काम किया, जिससे बहुत मदद मिली। इसने जापानी माँगो को प्रकाशित कर दिया। फौरन ही चीन में ज़बर्दस्त बावैला मच गया, यहाँतक कि दूसरी शक्तियाँ, जो युद्ध मे मशगूल थीं, इस कार्रवाई से घबरा गईं। अमेरिका ने खास-

तौर पर ऐतराज़ किया। नतीजा यह हुआ कि जापान को कुछ माँगें तो वापस लेनी पडी और कुछ को नर्म करना पडा। बाकी माँगो का यह हुआ कि मई, १९१५ ई० मे जापान चीनी सरकार को डरा-धमकाकर उन्हे मनवाने मे सफल हो गया। इसकी वजह से चीन मे सख्त जापान-विरोधी भावना फैल गई।

अगस्त, १९१७ ई० मे, युद्ध शुरू होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रो के साथ मिल गया और उसने जर्मनी के खिलाफ लडाई छेड दी। यह बेहूदा-सी बात थी, क्योकि चीन जर्मनी का कुछ नही बिगाड सकता था। इसमे चीन का सारा उद्देश्य यह था कि वह मित्र-राष्ट्रो को मनाना चाहता था और जापान के और ज्यादा चगुल से अपनेको बचाना चाहता था।

इसके कुछ ही दिन बाद, नवम्बर, १९१७ ई०, की बोलशेविक क्रान्ति हो गई, जिसके सबब से सारे उत्तरी एशिया मे बडी भारी गडबड फैल गई। सोवियत व सोवियत-विरोधी फौजो का एक जगी मैदान साइबेरिया था। रूसी 'सफेद' सेनापति कोलचक, सोवियतो के खिलाफ साइबेरिया को अपना अड्डा बनाकर लड रहा था। सोवियत की शानदार जीत से चौकन्ने होकर जापानियो ने साइबेरिया को एक बडी सेना भेजी। ब्रिटिश और अमेरिकी सिपाही भी वहाँ भेजे गये। कुछ दिनो के लिए साइबेरिया से और मध्य एशिया से रूसी असर ग़ायब हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इन इलाको मे रूस का इकबाल पूरी तरह खत्म करने का भर-सक जतन किया। मध्य एशिया के बीचो-बीच काशगर मे अंग्रेजो ने बोलशेविक विरोधी प्रचार के लिए एक रेडियो स्टेशन कायम कर दिया।

मगोलिया मे भी सोवियत व सोवियत-विरोधी लोगो के बीच घमासान लडाई हुई। १९१५ ई० मे ही, जबकि महायुद्ध चल रहा था, ज़ारशाही रूस की मदद से मगोलिया चीनी सरकार से स्वाधीनता हासिल करने मे सफल हो गया था। राज तो चीन का ही बना रहा, पर मगोलिया के विदेशी सम्बन्धो के मामले मे रूस को भी वहाँ कुछ बराबरी का दर्जा दे दिया गया। यह अजीब बन्दोबस्त था। सोवियत क्रान्ति के बाद मगोलिया मे गृह-युद्ध हुआ, जिसमे तीन वर्ष से ऊपर लडाई के बाद सोवियतो की जीत हुई।

महायुद्ध के बाद होनेवाले सुलह-सम्मेलन के बारे मे मैंने अभीतक तुम्हें कुछ नही बताया है। इसकी चर्चा मैं अगले पत्र मे करूँगा। पर यहाँ इतना जिक्र कर देना चाहता हूँ कि इस सम्मेलन ने यानी बडी शक्तियो ने—जिनमे खासतौर से इगलैण्ड, फ्रान्स और सयुक्त राज्य अमेरिका को गिनना चाहिए, चीन का शान्तुङ्ग प्रान्त जापान की भेंट करना तय किया। इस तरह, इस युद्ध के नतीजे से, इन शक्तियो ने अपने साथी चीन से उसके देश का एक टुकडा सचमुच जापान को दिलवा दिया। इसकी वजह यह थी कि युद्ध के दौरान इगलैण्ड, फ्रान्स और जापान

के बीच कोई गुप्त सन्धि हो गई थी। वजह चाहे जो रही हो, चीन के साथ इस गन्दी चालबाजी पर चीनी जनता ने सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की और पेकिंग की सरकार को धमकी दी कि अगर उसने इस मामले मे समझौता कर लिया तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी माल के वौकस वायकाट का भी ऐलान कर दिया गया और जापान-विरोधी दगे हुए। चीनी सरकार ने (जिससे मेरा मतलब उत्तर की पेकिंग सरकार से है, जो मुख्य सरकार थी) सुलह की सन्धि पर सही करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष वाद सयुक्त राज्य अमेरिका के वाशिगटन नगर मे एक सम्मेलन हुआ, जिसमे शान्तुङ का यह सवाल उठाया गया। यह सम्मेलन उन सब शक्तियो का था, जिनका सुदूर पूर्व के सवाल से सरोकार था, और वे अपने जगी वेडो की तादाद पर विचार करने के लिए जमा हुई थी। जहाँतक चीन और जापान का ताल्लुक था, १९२२ ई० के इस वाशिगटन-सम्मेलन ने बडे नतीजे निकले। जापान शान्तुङ वापस देने को राजी हो गया, और इस तरह, जिस एक सवाल ने चीनी लोगो को बुरी तरह बेचैन कर रक्खा था, उसका फैसला हो गया। इन शक्तियो के वीच दो महत्व के इकरारनामे भी हुए।

इनमे से एक इकरारनामा, जो अमेरिका, इग्लैण्ड, जापान और फ्रान्स के बीच हुआ, 'चार-शक्ति करार'[1] कहलाता है। इन चारो शक्तियो ने आपस मे वचन दिये कि प्रशान्त महासागर में एक-दूसरे के कब्ज़े के प्रदेशो की सीमाओ को मानेंगे, यानी उन्होंने वादे किये कि एक दूसरे के प्रदेशो मे घुस-पैठ नही करेंगे। दूसरा इकरारनामा, जो 'नौ-शक्ति सन्धि'[2] कहलाता है, इस सम्मेलन मे शामिल होनेवाले सयुक्त राज्य अमेरिका, वेलजियम, इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली, जापान, हॉलैण्ड, पुर्तगाल और चीन, इन नौ शक्तियो के वीच हुआ। इस सन्धि की पहली ही धारा इस प्रकार शुरू होती थी.

"चीन की प्रभुता, स्वाधीनता और प्रदेश की व शासन की अखण्डता को तस्लीम करने के लिए ।"

ज़ाहिर है कि इन दोनो इकरारनामो का मकसद आयन्दा हमलो से चीन को बचाना था। इनका मकसद था शक्तियो के रियायत-जोई और कब्ज़ा करने के उस खेल को रोकना जो वे अवतक खेलती आ रही थी। पश्चिमी शक्तियो को युद्ध के वाद पैदा होनेवाली समस्याओ से ही फुरसत नही थी, इसलिए उस वक्त चीन मे उन्हें कोई दिलचस्पी नही थी। इसीलिए उन्होंने आत्म-त्याग का यह फरमान निकाला और उसपर अमल करने की कसमें खाई। जापान ने भी

---

[1] Four-Power Pact. [2] Nine-Power Treaty

इसपर अमल करने की प्रतिज्ञा की, हालांकि यह उस इरादी नीति से टक्कर खाता था जिसे वह बहुत वर्षों से बरत रहा था। लेकिन ज्यादा साल बीतने न पाये थे कि यह बिलकुल जाहिर हो गया कि तमाम इकरारनामो और वायदों के बावजूद, जापान ने उलटे अपनी पुरानी नीति जारी रक्खी और चीन पर हमला कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय झूठ और मक्कारी की यह एक अनोखी निर्लज्जतापूर्ण मिसाल है। आगे चलकर जो घटनाएँ हुईं, उनकी भूमिका समझाने के लिए मुझे यहाँ वाशिंगटन-सम्मेलन का जिक्र करना पडा।

इसी वाशिंगटन-सम्मेलन के आस-पास ही साइवेरिया से विदेशी सिपाहियों को आखिरी तौर पर हटा लिया गया। जापानी सबसे आखीर मे हटे। इनके हटते ही मुकामी सोवियतें फौरन मैदान मे आ गईं और रूस के सोवियत गणराज्य मे शामिल हो गईं।

रूसी सोवियत ने अपने कायम होने के कुछ ही दिन बाद चीनी सरकार को लिखा था और उन तमाम खास सहूलियतो को छोडने का इरादा जाहिर किया था, जिनका दूसरी साम्राज्यशाही शक्तियो की तरह, जारशाही रूस भी फायदा उठा रहा था। एक तो साम्राज्यवाद और साम्यवाद का किसी तरह का साथ नही हो सकता, पर इसके अलावा भी, सोवियत ने पूर्वी देशो के साथ जिन्हें पश्चिमी शक्तियाँ बहुत समय से निचोड रही थी और दबा रही थीं, जानबूझ कर उदार नीति अपनाई। सोवियत रूस के लिए यह नेक-नीयती तो थी ही, ठोस नीति भी थी, क्योंकि इससे पूर्व के कई देश उसके दोस्त बन गये। खास सहूलियतो को छोडने का रूस का प्रस्ताव बिना किसी तरह की शर्तों के था, वह बदले मे कुछ नही चाहता था। इसपर भी चीनी सरकार रूस के साथ ताल्लुक बढाने मे डरती थी कि कही पश्चिम की यूरोपीय शक्तियाँ नाराज न हो जायँ। खैर, अन्त मे रूसी और चीनी प्रतिनिधि एक जगह मिले और १९२४ ई० मे दोनो मे कुछ बातो पर इकरारनामा हो गया। इस इकरारनामे की खबर लगते ही फ्रान्सीसी, अमेरिकी और जापानी सरकारो ने पेकिंग सरकार को अपना विरोध लिख भेजा और वह इतनी घबरा गई कि उसने सचमुच इस इकरारनामे पर अपने प्रतिनिधि के दस्तखतो को ही मानने से इन्कार कर दिया। बेचारी पेकिंग सरकार की हालत इतनी तग हो गई थी! इसपर रूसी प्रतिनिधि ने इकरारनामे की सारी इबारत प्रकाशित कर दी। इससे काफी सनसनी फैल गई। यह पहला ही मौका था कि शक्तियो के साथ अपने रब्त-जब्त मे चीन को इज्जत और भलमनसाहत का बर्ताव मिला था और उसके हको को तस्लीम किया गया था। चीनी लोग तो इसपर खुशी से उछल पडे और सरकार को इसके ऊपर सही करनी पडी। साम्राज्यशाही शक्तियो के लिए इसे नापसन्द करना लाजिमी था क्योंकि

इससे उनकी सारी पोल खुल जाती थी। रूस तो उदारता से दे रहा था, पर ये अपनी तमाम खास सहूलियतो पर अडी हुई थी।

सोवियत सरकार ने डॉ० सनयात-सेन की दक्षिणी चीनी सरकार से भी बातचीत शुरू की, जिसका सदर मुकाम कैण्टन मे था, और दोनो मे आपसी समझौता हो गया। करीब-करीब इस सारे ही समय मे, उत्तर व दक्षिण के बीच, और उत्तर मे कितने ही फौजी सेनापतियो के बीच, एक हलका-सा गृह-युद्ध चल रहा था। ये उत्तरी तूशन, या इनमे से महा-तूशन कहलानेवाले कुछ लोग, किसी उसूल या कायक्रम के लिए नही लड रहे थे, उनकी लडाई तो अपने-अपने लिए सत्ता हथियाने की थी। वे एक-दूसरे के साथ मिल जाते और फिर दूसरे पक्ष मे जा मिलते और नई गुट-बन्दी कर लेते। ये लगातार बदलनेवाली गुट-बन्दियाँ बाहरवालो को बहुत चक्कर मे डाल देती थीं। ये तूशन, या फौजी हौसलेबाज, निजी सेनाएँ खडी करते थे, निजी टैक्स वसूल करते थे, और निजी युद्धो मे लगे रहते थे और इन सबका बोझ पडता था बेचारी मुसीबत की मारी चीनी जनता पर। कहते हैं कि कुछ महा-तूशनो की पीठ पर विदेशी शक्तियाँ थी, खासकर जापान। शाघाई की बडी-बडी व्यापारी कम्पनियो से भी इन्हे रुपये-पैसे की मदद मिलती रहती थी।

इस अँधेरे के बीच दक्षिण ही एक चमकदार मुकाम था, जहाँ डॉ० सनयात-सेन की सरकार काम कर रही थी। इसके कुछ आदर्श थे और एक नीति थी, और यह तूशनो की कुछ हुकूमतो की तरह लुटेरो का मामला नही था। १९२४ ई० मे कुओ-मिन-ताङ या जनता के दिल की पहली राष्ट्रीय काग्रेस हुई और डॉ० सनयात-सेन ने इसके सामने एक घोषणा-पत्र रक्खा। इस घोषणा-पत्र मे उसने उर्न सिद्धान्तो को पेश किया, जिनपर राष्ट्र को चलना चाहिए। यह घोषणा-पत्र और ये सिद्धान्त तबसे कुओ-मिन-ताङ का आधार रहे हैं, और आज भी यह कहा जाता है कि नामधारी राष्ट्रीय सरकार की आम नीति इन्ही पर आधारित है।

मार्च, १९२५ ई०, मे डॉ० सनयात-सेन की मृत्यु हो गई। इसने अपनी जिन्दगी चीन की सेवा मे खपा दी थी और यह चीनी जनता का प्यारा बन गया था।

: १५४ :

युद्ध-काल में भारत

१६, अप्रैल १९३३

ब्रिटिश साम्राज्य का अग होने के नाते भारत का तो महायुद्ध से सीधा लगाव था। लेकिन भारत मे या उसके पास कोई असली लडाई का मैदान नही

बना। फिर भी, युद्ध ने भारत की घटनाओं पर, कितनी ही तरह से सीधा और तिरछा असर डाला, जिसके नतीजे से यहाँ भारी परिवर्तन हुए। मित्र-राष्ट्रों को सहायता पहुँचाने के लिए यहाँ के साधनों का भरपूर कस निकाल लिया गया।

यह भारत का युद्ध नहीं था। जर्मन शक्तियों के ख़िलाफ़ भारत को कोई शिकायत नहीं थी और तुर्की के लिए तो यहाँ बहुत ज्यादा सहानुभूति थी। लेकिन इस मामले में भारत लाचार था। वह तो इंग्लैण्ड की मातहती रियासत था जिसे मजबूरन अपने साम्राज्यशाही मालिक की मर्जी के मुताबिक चलना पड़ता था। बस, इसलिए देश में घोर विरोध होते हुए भी भारतीय सिपाही तुर्कों और मिस्रियों और दूसरे लोगों के ख़िलाफ़ लड़े और इसकी वजह से पश्चिमी एशिया में भारत बुरी तरह बदनाम हो गया।

जैसाकि मैं किसी पिछले पत्र में लिख चुका हूँ, युद्ध शुरू होने के समय भारत की राजनीतिक हालत बहुत गिरी हुई थी। युद्ध शुरू होने पर तो लोगों का ध्यान राजनीति की तरफ से और भी हट गया और युद्ध के सिलसिले में ब्रिटिश सरकार की बहुत-सी एहतियाती कार्रवाइयों की वजह से कोई भी कारगर राजनीतिक हलचल कठिन हो गई। सरकारें बाकी सबको दबाने के लिए और अपनी मनमानी करने के लिए युद्ध-काल को अच्छा बहाना बना लेती हैं। अगर कोई छूट दी जाती है तो खुद अपने-आपको। अख़बारों पर सेंसर लगा दिया जाता है, जो सचाई का गला घोंट देता है, अक्सर झूठी बातें फैलाता है, और आलोचना का मुँह बन्द कर देता है। हर किस्म की राष्ट्रीय हलचलों पर रोकथाम रखने के लिए ख़ास कानून और कायदे बनाये जाते हैं। युद्ध में फँसे हुए सारे देशों में ऐसा ही किया गया और भारत में भी लाज़िमी तौर पर यही हुआ। यहाँ 'भारत रक्षा कानून'[1] जारी किया गया। इस तरह युद्ध की, या युद्ध से ताल्लुक रखनेवाली हर बात की सार्वजनिक आलोचना का रास्ता कारगर तरीके से बन्द कर दिया गया। पर इस सबके पीछे लोगों के दिलों में तुर्की के लिए आम सहानुभूति थी, और सब यह मनाते थे कि इंग्लैण्ड की जर्मनी के हाथों खूब पिटाई हो। जो देश खुद बुरी तरह पिट चुके थे, उनमें तो ऐसी चाह का होना कुदरती बात थी। लेकिन खुल्लम-खुल्ला इसका इज़हार नहीं किया जाता था।

खुले तौर पर तो इंग्लैण्ड के लिए वफ़ादारी की जोरदार पुकारों से आसमान गूंज रहा था। सबसे ज्यादा शोर मचानेवाले राजा लोग थे और उनसे कम ऊपर के मध्यमवर्गी लोग थे, जिनका सरकार से ताल्लुक पड़ता था। मित्र-राष्ट्रों ने लोकतन्त्र व स्वतन्त्रता की और छोटे-छोटे राष्ट्रों की आज़ादी की जो पाखण्डभरी दुहाइयाँ दी, उनके जाल में कुछ हद तक मध्यमवर्ग भी फँस गया।

[1] Defence of India Act

लोगो ने सोचा कि शायद यह चीज भारत पर भी लागू हो, और उन्हें आशा हुई कि इस मुसीवत की घडी मे इग्लैण्ड को जो मदद दी जायगी उसका बाद मे उचित इनाम मिलेगा। और फिर हर हालत मे इसके सिवा कोई चारा ही नही था, और न कोई दूसरा वेखटक रास्ता था, इसलिए उन्होने रपट पडे की हरगगा मे ही भलाई समझी। भारत मे वफादारी के इस ऊपरी इज़हार को उन दिनो इग्लैण्ड मे खूब सराहा गया और तरह-तरह से एहसान जतलाया गया। जिनके हाथ मे सत्ता थी उनकी ओर से कहा गया कि इसके बाद इग्लैण्ड भारत को 'नये दृष्टि-कोण' से देखेगा। पर भारत मे और विदेशो मे कुछ भारतवासी ऐसे भी थे, जिन्होने 'वफादारी' का यह रुख नही अपनाया। ज्यादातर लोगो की तरह वे चुपचाप और हाथ-पर-हाथ धरकर भी नही बैठे रहे। आयर्लैण्डवालो के पुराने कौल के मुताबिक उनका विश्वास था कि इग्लैण्ड की कठिनाई उनके देश के लिए अच्छा मौका है। खासकर जर्मनी व यूरोप के दूसरे देशो मे रहनेवाले कुछ भारतीय इग्लैण्ड के दुश्मनो को मदद देने के उपाय खोजने के लिए बर्लिन मे जमा हुए और इस काम के लिए उन्होने एक कमेटी बनाई। जर्मन सरकार तो हर तरह की सहायता लेने को कुदरती तौर पर तैयार बैठी ही थी, इसलिए उसने इन भारतीय क्रान्तिकारियो का स्वागत किया। जर्मन सरकार और भारतीय कमेटी, इन दोनो पक्षो के बीच बाकायदा तहरीरी समझौता हुआ और दोनो ने इसपर दस्तखत किये। इसके मातहत भारतीयो ने, दूसरी बातो के अलावा, युद्ध मे जर्मन सरकार को सहायता देने का इस शर्त पर वचन दिया कि जीत होने पर जर्मनी भारत की आज़ादी पर ज़ोर देगा। इसपर इस कमेटी ने जबतक युद्ध चला तबतक जर्मनी के हित मे काम किया। इन्होंने भारत से बाहर भेजे जाने-वाले भारतीय सिपाहियो मे प्रचार किया और इनकी कार्रवाइयाँ ठेठ अफगानिस्तान और भारत के सरहदी इलाके तक फैल गईं। लेकिन अग्रेजो की परेशानियाँ खूब बढ़ा देने के सिवा वे और कुछ करने मे सफल नही हुए। समुद्री रास्ते से भारत को हथियार भेजने की कोशिश को अग्रेज़ो ने विफल कर दिया। युद्ध मे जर्मनी की हार से इस कमेटी का और इसके हौसलो का खुद ही अन्त हो गया।

भारत मे भी क्रान्तिकारी हलचलो के कुछ मामले हुए और षड्यन्त्र के मुक़दमो का फैसला करने के लिए खास अदालतें कायम की गईं। बहुतो को फाँसी की और बहुतो को लम्बी-लम्बी कैद की सजाएँ दी गईं। उस समय के सज़ा पाये हुए कुछ लोग आज अठारह वर्ष बाद भी जेलो मे पडे हुए हैं।

युद्ध के दौरान और देशो की तरह यहाँ के मुट्ठीभर लोगो ने भी खूब लम्बे-चौडे मुनाफे कमाये, लेकिन ज्यादातर जनता को दिन-पर-दिन ज्यादा तगी महसूस हुई और असन्तोष बढने लगा। मोर्चे पर भेजने के लिए आदमियो की माँग

बढती ही चली गई और सेना के लिए वडे ज़ोरो से भर्ती की जाने लगी। रगरूट लानेवालो को हर तरह के लालच और इनाम दिये गए, और ज़मींदारो को अपने असामी काश्तकारो मे से रगरूटो की वॅघी हुई सख्या देने को मजबूर किया गया। सेना और मज़दूरो की पलटनो के लिए आदमियो को जबरन भर्ती के ये 'दबाऊ तरीके'[1] पजाव मे ख़ासतौर पर इस्तेमाल किये गए। सिपाहियो की तरह और मज़दूर पलटनो के लिए जुदा-जुदा मोर्चों पर भारत से जानेवाले आदमियो की कुल सख्या दस लाख से ऊपर पहुँच गई थी। जिन लोगो पर इन बातो का असर पडा, उनमे इन तरीको से वहुत नाराज़ी फैली, और कहते हैं कि युद्ध के बाद पजाब मे जो झगडे हुए, उनका एक सबब यह भी था।

पजाव पर युद्ध का एक और तरह से भी असर पडा। वहुत-से पजावी, और खासकर सिक्ख, सयुक्त राज्य अमेरिका के कैलिफोर्निया मे और पश्चिमी कनाडा के ब्रिटिश कोलम्बिया मे जाकर बस गये थे। जबतक अमेरिका और कनाडा के अधिकारियो ने बन्द नही किया तबतक प्रवासियो का यह ताँता लगा ही रहा। इस तरह आनेवालो के रास्ते मे रुकावट पैदा करने के लिए कनाडा की सरकार ने एक नियम बनाया कि सिर्फ उन्ही आनेवालो को कनाडा मे क़दम रखने दिया जायगा जो रास्ते मे बिना जहाज़ की बदली किये सीधे एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह को आयेंगे। इसका मतलब भारतीय आनेवालो को रोकना था, क्योकि उन्हें चीन या जापान मे हर हालत मे जहाज़ बदलने पडते थे। इसपर बाबा गुरदित्त सिंह नामक एक सिक्ख ने कोमागातामारू नामक पूरा-का-पूरा जहाज़ किराये पर लिया और वह अपने साथ प्रवासियो की भीड-की-भीड कलकत्ता से ठेठ कनाडा मे वैन्कोवर को ले गया। इस तरह इसने चालाकी से कनाडा के कानून की बचत निकाल ली, पर कनाडा तो उसे किसी तरह भी अपने यहाँ नही रखना चाहता था, इसलिए किसी प्रवासी को जहाज़ से नही उतरने दिया गया। उन्हे उसी जहाज़ से वापस भेज दिया गया और वे सब-कुछ खोकर और गुस्से मे भरे हुए भारत लौटे। कलकत्ता के पास बज-बज मे पुलिस के साथ इनकी खासी झडप हुई, जिसमे खासकर सिक्खो के बहुत आदमी मारे गये। बाद मे इन सिक्खो के पीछे खुफिया पुलिस लगा दी गई और सारे पजाब मे इनका पीछा किया गया। इन लोगो ने भी पजाब मे गुस्सा और असन्तोष भडकाया, और कोमागातामारू की घटना से सारे भारत मे नाराजी फैल गई।

युद्ध के उन दिनो मे जो कुछ हुआ, उस सबकी जानकारी करना मुश्किल है, क्योकि सेन्सर की वजह से बहुत सारे समाचार प्रकाशित ही नही हो पाते थे, और इसलिए बे-सिर-पैर की अफ़वाहे उडा करती थी। फिर भी, यह मालूम है कि

[1] "Press-gang" Methods

सिंगापुर मे एक भारतीय पलटन मे भारी बग़ावत हुई और दूसरे बहुतेरे स्थानो पर भी छोटे पैमाने पर गडबडें हुईं।

युद्ध के लिए सिपाही देने व दूसरी तरह से मदद पहुँचाने के अलावा भारत को नकद रुपया भी मुहैय्या करना पडा। यह भारत की 'भेंट' कहलाती थी। एक मौके पर इस तरह दस करोड पौण्ड दिये गए और बाद मे इससे भी बडी रकम दी गई। एक गरीब देश से जबरन वसूल किये गए इस चन्दे को 'भेंट' कहने के लिए ब्रिटिश सरकार के मसखरेपन की दाद देनी चाहिए!

यह सब जो कुछ अभी मैंने तुम्हे बतलाया है, उसमे, जहाँतक भारत का ताल्लुक़ है, युद्ध के कम महत्ववाले नतीजो को ही शामिल किया गया है। लेकिन युद्धकालीन हालतो के सबब से एक बहुत बडा बुनियादी परिवर्तन पैदा हो रहा था। युद्ध के दौरान, और देशो के विदेशी व्यापार की तरह, भारत का विदेशी व्यापार भी बिलकुल चौपट हो गया था। ब्रिटिश माल की भारी मिकदार, जो भारत आया करती थी, अब बहुत कम हो गई। भूमध्य सागर मे और अतलान्तिक महासागर मे जर्मन पनडुब्बियाँ जहाज़ो को डुबो देती थी और इन हालतो मे व्यापार जारी रखना सम्भव नही था। इसलिए भारत को अपने लिए खुद इन्तज़ाम करना पडा और अपनी ज़रूरतें आप पूरी करनी पडी। युद्ध के लिए ज़रूरी हर किस्म की चीज़ें भी उसे सरकार के लिए मुहैय्या करनी पडती थी। इसके नतीजो से भारतीय उद्योग-धन्धे तेज़ी से बढने लगे। इनमे कपडे और पटसन-जैसे पुराने उद्योग और नये युद्धकालीन उद्योग, दोनो शामिल थे। टाटा के लोहे व इस्पात के कारखाने ने, जिसकी तरफ सरकार ने अभीतक बेरुखी दिखाई थी, अब ज़बर्दस्त महत्व हासिल कर लिया, क्योकि वह युद्ध का सामान तैयार कर सकता था। अब इसका सचालन बहुत-कुछ सरकारी देख-रेख मे होने लगा।

. इसलिए जबतक युद्ध चलता रहा तबतक भारत के अग्रेज़ो व भारतीय पूंजीपतियो, दोनो को खुला मैदान मिल गया और विदेशो से कोई होड नही रही। इस मौक़े का उन्होंने पूरा फ़ायदा उठाया और बेचारी भारतीय जनता का पेट काटकर मुनाफे कमाये। माल की कीमतें बढ़ा दी गईं और बेशुमार मुनाफ़े बाँटे गये। पर जिन मजदूरो की मेहनत ने ये मुनाफे और नफे पैदा किये थे, उनकी दुखी हालतो मे कोई परिवर्तन नही दिखाई दिया। उनकी मजूरियाँ कुछ बढी, लेकिन जीवन की ज़रूरी चीजो की कीमतें इससे बहुत ज्यादा बढ गईं, इसलिए उनकी हालत सचमुच और भी बुरी हो गई।

लेकिन पूंजीपति खूब मालदार हो गये और उन्होंने मुनाफे से बेशुमार दौलत जमा कर ली, जिसे उन्होंने फिर उद्योगो मे लगाना चाहा। यह पहला मौका था जब भारतीय पूंजीपति इतने ज़ोरदार हो गये कि वे सरकार पर दबाव

डालने लगे। इस दवाव के अलावा भी घटनाओ के जोर ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध-काल मे भारतीय उद्योगो की मदद करने के लिए मजबूर कर दिया। देश के और ज्यादा उद्योगीकरण की माँग के सवव से विदेशो से ज्यादा मशीनें मँगवाई गईं, क्योंकि इस किस्म की मशीनें उस समय भारत मे नही वन सकती थी। इस-लिए जहाँ पहले इग्लैण्ड से भारत को तैयार माल आता था, उसके वजाय अव मशीनें ज्यादा आने लगी।

इन सव वातो की वजह से भारत मे ब्रिटिश सरकार की नीति मे भारी परिवर्तन हो गया, सौ वर्ष पुरानी नीति छोड दी गई और उसकी जगह एक नई नीति अपनाई गई। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने अपनेको वदलती हुई हालतो के मुताविक ढालकर अपना चेहरा पूरी तरह वदल डाला। तुम्हे याद होगा कि मैंने तुम्हें भारत मे अग्रेजी राज की शुरू की मजिलो का हाल वतलाया था। पहली मजिल लूट का माल और नकदी ले जाने की अठारहवी सदी की थी। फिर दूसरी मजिल आई जव अग्रेजी हुकूमत की जड मजबूती से जम गई और जो युद्ध की ठेठ शुरुआत तक सौ वर्षो से ऊपर वनी रही। इसमे भारत को कच्चे माल के मैदान की तरह और इग्लैण्ड के तैयार माल का हाट-वाजार वनाकर रक्खा गया। यहाँ वडे-वडे उद्योगो के विकास को हर तरह से रोका गया और भारत की आर्थिक उन्नति नही होने दी गई। अव युद्ध-काल मे तीसरी मजिल आई जव ब्रिटिश सरकार ने भारत के वडे-वडे उद्योग-धन्धो को वढावा दिया और यह इस तथ्य के वावजूद किया गया कि इससे कुछ हद तक इग्लैण्ड के उद्योगपतियो के स्वार्थो को नुकसान पहुँचा। यह साफ है कि अगर भारतीय कपडा-उद्योग को वढावा दिया जाता है तो उसी हद तक लकाशायर को नुकसान पहुँचता है, क्योंकि भारत लका-शायर का सवसे वडा ग्राहक रहा है। तव ब्रिटिश सरकार ने लकाशायर व दूसरे ब्रिटिश उद्योगो के हितो को नुकसान पहुँचाकर अपनी नीति मे यह परिवर्तन क्यो किया? मैं पहले ही वतला चुका हूँ कि युद्ध से पैदा होनेवाली हालतो ने उसे ऐसा करने के लिए किसी तरह मजबूर कर दिया था। इस नीति-परिवर्तन के कारणो पर हम ब्योरे के साथ विचार कर लें:

१ युद्ध-काल की माँगें अपने-आप इस नतीजे पर पहुँचने के लिए मजबूर करती हैं और भारत मे उद्योगीकरण को आगे की ओर धकेलती हैं।

२ इससे भारतीय पूँजीपति-वर्ग वढता है और जोरदार वनता है। नतीजा यह होता है कि अपने वचत के धन को व्यवसाय मे लगाने का मौका हासिल करने के लिए वह उद्योगो के विकास के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा सहूलियतो की माँग करता है। इग्लैण्ड अव इस स्थिति मे नही है कि इनकी परवाह न करे, क्योंकि ऐसा करने के इनके विरोधी वन जाने की, और देश के उन सरगर्म व क्रान्ति-

कारी तत्वो के समर्थक बन जाने का डर है, जिनका जोर बढ रहा है। इसलिए, विकास के लिए कुछ सहूलियतें देकर इन्हे जहाँतक हो सके ब्रिटिश पक्ष मे मिलाये रखना जरूरी हो जाता है।

३ इग्लैण्ड के पूंजीपति-वर्ग का फालतू धन भी अविकसित देशो के उद्योगो मे लगने के मौके तलाश करता है, क्योकि यहाँ मुनाफे वहाँ से ज्यादा हैं। चूंकि खुद इग्लैण्ड का भरपूर उद्योगीकरण हो चुका है, इसलिए वहाँ पूंजी लगाने के ऐसे माकूल साधन नही है। मुनाफे भी बहुत ज्यादा नही मिलते, और सगठित मजदूर-आन्दोलन की ताकत के सबब से मजदूर-वर्ग के साथ झगडे अक्सर होते हैं। अविकसित इलाको का मजदूर-वर्ग कमजोर है, इसलिए मजूरी की दरें नीची हैं और मुनाफे ऊँचे हैं। इसलिए अग्रेज पूंजीपति कुदरती तौर पर अपनी पूंजी भारत-जैसे इग्लैण्ड के अधीन अविकसित इलाको मे लगाना ज्यादा पसन्द करते हैं। बस, ब्रिटिश पूंजी भारत मे आ जाती है और इसके नतीजो से उद्योगीकरण और भी आगे बढ जाता है।

४ युद्ध से हासिल होनेवाले तजुर्बे बतलाते हैं कि सिर्फ वे ही देश युद्ध को कारगर तरीके से जारी रख सकते हैं, जिनका भरपूर उद्योगीकरण हो चुका हो। युद्ध मे आखिरकार जारशाही रूस की कमर इसीलिए टूट गई कि वहाँ काफी उद्योगीकरण नही हुआ था और उसे दूसरे देशो पर निर्भर रहना पडा था। इग्लैण्ड को डर है कि शायद अगला युद्ध भारतीय सरहद पर सोवियत रूस के साथ छिड जाय। अगर भारत मे भारत के अपने बडे-बडे उद्योग न हो तो ब्रिटिश सरकार सरहद पर युद्ध को ठीक तरह चलाने मे समर्थ न होगी। इतना बडा खतरा उठाया नही जा सकता। इसलिए फिर वही नतीजा निकलता है कि भारत का उद्योगीकरण होना चाहिए।

इन वजहो से ब्रिटिश नीति लाजिमी तौर पर बदली और भारत के उद्योगीकरण का फैसला किया गया। इग्लैण्ड की आम साम्राज्यशाही नीति की यह माँग थी, भले ही उससे लकाशायर को या दूसरे ब्रिटिश उद्योगो को धक्का पहुँचे। हाँ, इग्लैण्ड ने यह जरूर जतलाया कि इस परिवर्तन की वजह भारत के लिए और उसकी भलाई के लिए ब्रिटिश सरकार की बेहद चाह है। इस नीति का फैसला कर लेने के बाद इग्लैण्ड ने यह पक्का करने के उपाय किये कि भारत के नये उद्योगो की बागडोर ब्रिटिश पूंजीपतियो के हाथो मे रहे। भारतीय पूंजीपतियो को बडे एहसान के साथ इस व्यवसाय मे बहुत छोटे साझेदार की तरह लिया जाता है।

युद्ध-काल मे, १९१६ ई० मे, एक भारतीय उद्योग-कमीशन मुकर्रर किया गया, और दो वर्ष बाद उसने अपनी रिपोर्ट दी, जिसमे ये सिफारिशें की गईं कि

सरकार भारतीय उद्योगो को वढावा दे और खेती मे नये औद्योगिक साधनो का इस्तेमाल शुरू किया जाय। उसने यह भी सुझाया कि देश के सब वालक-वालिकाओं को प्राथमिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाय। जैसाकि इग्लैण्ड मे कारखानो के विकास मे शुरुआती दिनो मे किया गया था, उसी तरह यहाँ भी कारीगर मजदूर-वर्ग पैदा करने के लिए वडे पैमाने पर मामूली शिक्षा जरूरी समझी गई।

युद्ध के वाद इस कमीशन के पीछे ढेरो दूसरे कमीशन और कमेटियाँ बनाई गई। यहाँतक सुझाव रक्खा गया कि भारतीय उद्योगो को चुगियो या आयात-निर्यात चुगियो के जरिये 'सरक्षण'[1] दिया जाना चाहिए। भारतीय उद्योगो के लिए यह बडी भारी जीत समझी गई। और कुछ हद तक यह थी भी। लेकिन वारीकी से छान-बीन करने पर कुछ मजेदार पहलू सामने आये। इरादा यह था कि विदेशी पूँजी को भारत आने के लिए वढावा दिया जाय, और अमल मे विदेशी पूँजी का मतलव था ब्रिटिश पूँजी, और ब्रिटिश पूँजी धडाधड आने लगी। उसकी प्रधानता तो हो ही गई, वल्कि प्रधानता भी ऐसी कि गर्क करनेवाली। वडी-वडी कम्पनियो मे से वहुत ज्यादा कम्पनियाँ ब्रिटिश पूँजी के वल पर चल रही थीं। इसलिए भारत मे आयात-निर्यात चुगियो और सरक्षणो का नतीजा हुआ भारत में ब्रिटिश पूँजी का सरक्षण। यो भारत मे ब्रिटिश नीति मे यह वडा परिवर्तन आखिर ब्रिटिश पूँजीपतियो के हित मे इतना वुरा सावित नही हुआ। उन्हें पाँव फैलाने के लिए और अपने मजदूरो को कम मजूरियाँ देकर मुनाफे कमाने के लिए अच्छे पनाहदार हाट-वाजार मिल गये। भारत, चीन, मिस्र व ऐसे ही दूसरे देशो मे, जहाँ मजूरी की दरें कम थी, अपनी पूँजी लगाने के वाद उन्होने इग्लैण्ड मे अग्रेज मजदूरो की मजूरियाँ कम करने की धमकी दी। उन्होने मजदूरो से कहा कि अगर ऐसा नही किया गया तो वे भारत, चीन, वग़ैरा के कम मजूरी के वने हुए माल के मुकावले मे खडे नही रह सकेंगे। और इन पूँजीपतियो ने अग्रेज कारीगर को यह भी वतला दिया कि अगर वह अपनी मजूरी मे कटौती पर ऐतराज करेगा तो उन्हें दुःख के साथ मजवूर होकर इग्लैण्ड में अपने कारखाने बन्द करने पडेंगे और अपनी पूँजी दूसरी जगह लगानी पडेगी।

भारत मे उद्योगो पर कावू रखने के लिए भारत की अग्रेज सरकार ने और भी कई तरह की कार्रवाइयाँ की। यह पेचीदा विषय है, इसलिए मैं इसकी चर्चा नही करना चाहता। लेकिन एक चीज़ मैं वतला दूं। आजकल के उद्योगो में बंको का काम बहुत महत्व का होता है, क्योकि वडे-वडे उद्योगो के लिए रुपया उधार लेने की जरूरत होती है। अगर उधार लेने की ये सहूलियतें मिलना वन्द हो जायें

---

[1] Protection—विदेशी माल पर चुंगियाँ या महसूल लगाकर देश की पैदावार बढ़ाना या उसे नुक़सान न होने देना।

तो अच्छे-से-अच्छा धन्धा भी एकदम पैंदे बैठ सकता है। चूंकि बैंक यह रुपया उधार देते हैं, इसलिए तुम समझ सकती हो कि उनमे जरूरी तौर पर कितनी ताकत होती है। वे किसी भी धन्धे को बना या बिगाड सकते हैं। युद्ध खत्म होने के कुछ ही दिन बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत की सारी बैंक-व्यवस्था को अपने कब्ज़े मे ले लिया। इस तरह से, और सरकारी सिक्को के चलन मे हथकण्डे करके, सरकार भारतीय उद्योगो और कम्पनियो पर बडा भारी अधिकार चला सकती है। इसके अलावा, भारत मे अंग्रेजी व्यापार को बढावा देने के लिए सरकार ने 'इम्पीरियल प्रिफरेन्स' की नीति चलाई। इसका मतलब यह था कि अगर विदेशी माल पर सरक्षण के लिहाज़ से टैक्स लगाये जायँ तो ब्रिटिश माल पर या तो कम टैक्स लगें या बिलकुल न लगें, ताकि दूसरे मालो के मुकाबले मे ब्रिटिश माल का पाया ऊँचा रहे।

युद्ध के दौरान भारतीय पूंजीपति-वर्गो और ऊपर के मध्यम वर्गों की बढती हुई ताकत का असर राजनीतिक आन्दोलन मे भी ज़ाहिर होने लगा। राजनीति धीरे-धीरे युद्ध से पहले की और युद्ध के शुरू की सुस्ती से बाहर निकली, और स्वराज वगैरा के लिए तरह-तरह की माँगें की जाने लगी। अपनी लम्बी सज़ा काटने के बाद लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये। जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, काग्रेस उन दिनो नर्म दल के हाथो मे थी और यह एक छोटी-सी बिना असरवाली जमात थी, जिसका जनता से कोई सम्पर्क नही था। चूंकि ज्यादा तरक्की-पसन्द राजनीतिक लोग काग्रेस के बाहर थे, इसलिए उन्होंने होमरूल लीगो का सगठन किया। इस तरह की दो लीगें क़ायम हुईं, एक लोकमान्य तिलक की, और दूसरी श्रीमती ऐनी बेसेन्ट की। कुछ वर्षों तक श्रीमती बेसेन्ट ने भारतीय राजनीति मे बहुत बडा हिस्सा लिया और उनकी बोलने की कला व ज़ोरदार वकालत ने राजनीति मे लोगो की दिलचस्पी फिर से जगाने मे बहुत मदद की। सरकार ने उनके प्रचार को इतना खतरनाक समझा कि उसने उन्हें, उनके दो साथियो समेत, कुछ महीनो के लिए नज़रबन्द तक कर दिया। उन्होंने काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की सदारत की, और वह पहली महिला थी, जो काग्रेस की अध्यक्ष बनी। कुछ वर्ष बाद श्रीमती सरोजनी नायडू काग्रेस की दूसरी महिला अध्यक्ष हुईं।

१९१६ ई० मे काग्रेस के दोनो पक्षो—नर्म व गर्म दलो—मे समझौता हो गया और दिसम्बर, १९१६ ई० के लखनऊ अधिवेशन मे दोनों शामिल हुए। मगर यह समझौता बहुत थोडे दिन टिका क्योकि दो ही वर्ष के भीतर फिर फूट पड गई, और नर्म दल के लोग, जो अब अपनेको 'उदारदली' कहने लगे थे, काग्रेस से अलग हो गये, और तब से अलग ही हैं।

कांग्रेस का, १९१६ ई० का लखनऊ अधिवेशन, काग्रेस मे दुबारा जान

पडने को जाहिर करता है। तव से काग्रेस का वल और महत्व वढ़ते ही चले गये और अपने इतिहास मे वह पहली वार मध्यम-वर्गों का सच्ची राष्ट्रीय सगठन वनने लगी। असली जनता से उसका कोई सरोकार नही था और जवतक गाधीजी नही आये तवतक जनता को भी इसमें कोई दिलचस्पी नही थी। इस तरह नामधारी नर्मदली और गर्मदली लोग कम-वढ एक ही वर्ग के, यानी मध्यमवर्ग के प्रतिनिधि थे। नर्मदल वाले मुट्ठीभर खुशहाल लोगो के या सरकारी नौकरियो के लिए तैयार वैठे लोगो के प्रतिनिधि थे, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि खुद ही खुशहाल थे या सरकारी नौकरियाँ चाहते थे। गर्मदलवालो के साथ मध्यम-वर्ग के ज्यादातर हिस्से की महानुभूति थी और उनकी कतारो मे वहुत सारे वेकार दिमागी लोग थे। ये दिमागी लोग (जिनसे मेरा मतलव सिर्फ थोडे-वहुत शिक्षित लोगो से है) इनकी कतारो को कट्टर वनाते थे और क्रान्तिकारियो की कतारो को भी रगरूट देते थे। नर्म और गर्म-दलो के मकसदो और आदर्शों मे कोई वडा फर्क नही था। दोनो व्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वराज के हामी थे, [illegible]र दोनो फ़िलहाल स्वराज का एक टुकडा लेने को तयार थे। हाँ, गर्मदलवाले [illegible]दलवालो से कुछ ज्यादा चाहते थे और उनकी वनिस्वत जरा ज्यादा कडी [illegible]ाषा वोलते थे। अलवत्ता मुट्ठीभर क्रान्तिकारी आजादी की पूरी मिकदार चाहते थे, पर काग्रेस के नेताओ पर उनका कोई असर नही था। नर्मदल और गर्म-दल मे वुनियादी फर्क यह था कि नर्म-दली लोग धन-साधन वालो[1] और इनके पिछलगुओ का एक मालदार दल थे और गर्मदली लोगो मे कुछ धन-साधन हीन[2] लोग भी थे। और, गर्मदल के ज्यादा गर्म विचारो के सवव से देश के युवक और युवतियाँ कुदरती तौर पर उसकी ओर खिचते थे क्योकि इनमे से ज्यादातर यह समझते थे कि कारंवाई के एवज कडी भाषा वोलना काफी है। हाँ, ये वातें आमतौर पर दोनो तरफ के तमाम व्यक्तियो पर लागू नही होती। मसलन नर्मदल के एक योग्य और त्यागी नेता, गोपालकृष्ण गोखले थे, जो किसी तरह भी धन-साधनवाले नही थे। सर्वेन्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी इन्होने ही क़ायम की थी। लेकिन नर्मदल या गर्मदल दोनो मे किसी का भी असली धन-साधनहीन वर्ग से यानी मजदूरो और किसानो से, कोई ताल्लुक नही था। हाँ, तिलक अपनी निजी हैसियत से जनता मे लोकप्रिय थे।

१९१६ ई० की लखनऊ-काग्रेस एक और दोवारा मेल, यानी हिन्दू-मुस्लिम एकता, के लिए मशहूर है। काग्रेस सदा से राष्ट्रीय आधार को पकडे हुए थी,

---

[1] Haves—वह वर्ग जिसके हाथ मे धन और साधन रहता है।

[2] Have-nots—अधिकांश जनता जिसके पास धन और सत्ता और जीवन के कोई साधन नहीं हैं। ये दोनों शब्द अंग्रेजी मे पारिभाषिक हो गये हैं।

लेकिन व्यवहार मे वह प्रबल हिन्दू संस्था थी, क्योंकि उसमे हिन्दुओ का जबर्दस्त बहुमत था। युद्ध से कुछ वर्ष पहले मुस्लिम शिक्षित वर्ग ने, कुछ हद तक सरकार के बढावा देने पर, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग नामक अपनी अलग जमात खडी कर ली थी। इनका मकसद मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखना था, पर जल्द ही वह कांग्रेस की तरफ बढ़ गई और लखनऊ मे दोनों के बीच भारत के भावी संविधान के बारे मे समझौता हो गया। यह कांग्रेस-लीग-योजना कहलाई और दूसरी बातो के अलावा, इसमे यह तय पाया गया कि विधान-सभाओं मे मुस्लिम अल्प-सख्यकों के लिए किस हिसाब से जगहे सुरक्षित की जायें। इसके बाद यह कांग्रेस-लीग-योजना एक जुड़वॉ कार्यक्रम बन गई, जो देश की मॉग के तौर पर मान ली गई। यह मध्यम-वर्गों के विचारो की वकालत करती थी, क्योंकि उस समय इन्ही लोगो का राजनीति की तरफ झुकाव था। इन योजना के आधार पर हलचलें जोर पकडने लगी।

मुसलमानो का झुकाव राजनीति की तरफ ज्यादा हो गया था और कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने की वजह बहुत करके यह थी कि वे तुर्की के खिलाफ अग्रेजो की लडाई से खीझ उठे थे। तुर्कों के साथ हमदर्दी की वजह से और इस हमदर्दी का खूब जोरो से इजहार करने की वजह से मौलाना मोहम्मद अली और मौलाना शौकत अली नामक दो मुस्लिम नेताओ को युद्ध के शुरू मे ही नजरबन्द कर दिया गया था। मौलाना अबुल कलाम आजाद अपनी लिखी किताबो से अरब देशों में बहुत लोकप्रिय थे और इन देशों से ताल्लुक होने के कारण उन्हें भी नजरबन्द कर दिया गया था। इनसब बातों से मुसलमान लोग चिढ गये और भडक गये और वे दिन-पर-दिन सरकार के ज्यादा विरोधी बनते गये।

चूंकि भारत मे स्वराज की मांग जोर पकडने लगी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने तरह-तरह के वादे किये और जॉच-कमेटियाँ बैठाई जिनसे लोगो का ध्यान बँट गया। १९१८ ई० की गर्मियो मे उस जमाने के भारत-मन्त्री और वायसराय ने एक शामिल रिपोर्ट पेश की, जो इन दोनों के नामो पर माण्टेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट कहलाती है, और जिसमे भारत के लिए कुछ सुधारो व परिवर्तनो के प्रस्ताव शामिल थे। इन आजमायशी प्रस्तावो पर देश में फौरन ही जबर्दस्त बहस छिड गई। कांग्रेस ने जोरो से इनका विरोध किया और उन्हे नाकाफी बतलाया। उदारदल ने इनका स्वागत किया और इसीलिए उन्होंने कांग्रेस का साथ छोड दिया।

जब युद्ध खतम हुआ उस समय भारत मे यह हालत थी। देशभर मे बडी आशा के साथ परिवर्तन की बाट देखी जा रही थी। राजनीतिक हवा मे गर्मी बढ रही थी। उदारदल की मुलायम व पुचकारनेवाली और कुछ झिझकभरी व बे-असर कानाफूसियो की जगह गर्म-दल की विश्वासभरी, सरगर्म, सीधी और

लडाकू पुकारें ले रही थी। पर उदारदल और गर्मदल दोनो ही राजनीति की भाषा मे और शासन के ऊपरी ढांचे के वारे मे बातें करते थे, उनकी पीठ के पीछे ब्रिटिश साम्राज्यशाही देश के आर्थिक जीवन पर अपना पजा चुपचाप मजबूत किये चली जा रही थी।

: १५५ :

यूरोप का नया नक़शा

२१ अप्रैल, १९३३

महायुद्ध के दौर पर सक्षेप मे विचार करने के वाद हमने रूसी क्रान्ति की चर्चा की और उसके बाद युद्ध-काल मे भारत की हालत की। अब हम फिर युद्ध का अन्त करनेवाले सुलहनामे पर आते हैं और देखते हैं कि जीतनेवालो ने क्या-क्या किया। जर्मनी तो धूल मे लोट रहा था। कैसर भाग गया था और गणराज्य की घोषणा कर दी गई थी। जर्मन सेना को उन इलाको से तो हटना ही पडा, जिनपर उसने धावा करके क़ब्ज़ा कर लिया था, वल्कि अलसास लॉरेन से और ठेठ राइन नदी तक जर्मनी के कुछ हिस्से से भी हाथ धोना पडा। राइनलैण्ड पर, यानी कोलोन के आसपास के इलाके पर, मित्र-राष्ट्रो का दखल तय पाया गया। जर्मनी को अपने तमाम जगी-जहाज़ और पनडुब्बियाँ, जो 'यू-वोट' कहलाती थीं, और हजारो भारी-भारी तोपें और हवाई-जहाज और रेल के इजन और लारियाँ और दूसरे सामान मित्र-राष्ट्रो के हवाले करने पडे।

उत्तरी फ्रान्स मे कौंप्येन के वन मे, जहाँ सुलहनामे पर दस्तखत हुए थे, एक यादगार बनी हुई है जिसपर नीचे लिखी इबारत खुदी हुई है

"यहाँ, ११ नवम्बर, १९१८ ई०, को जर्मन साम्राज्य का पापी घमण्ड चूर हो गया, जिसे उन आज़ाद कौमो ने नीचा दिखाया, जिन्हें उसने ग़ुलाम बनाना चाहा था।"

कम-से-कम जाहिरा तौर पर तो जर्मन साम्राज्य वास्तव मे खत्म हो गया था, और प्रशियाई फौजी मग़रूर धूल मे मिला दिया गया था। मगर रूसी साम्राज्य का तो इससे भी पहले अन्त हो चुका था और रोमानॉफ का घराना उस रगमच से धक्का देकर हटा दिया गया था, जिसपर उसने इतने वर्षों तक बुरी हरकतें की थी। यह युद्ध एक तीसरे साम्राज्य और प्राचीन राजवश का, यानी हैप्सबर्गों के आस्ट्रिया-हगरी साम्राज्य का, भी मरघट साबित हुआ। लेकिन जीतनेवालो मे दूसरे साम्राज्य अभीतक वाकी थे, और विजय से न तो उनका घमण्ड ही कम

हुआ था और न उन्हें उन लोगो के हक़ों की ज्यादा परवाह हुई, जिन्हे उन्होंने गुलाम बना रक्खा था।

विजयी मित्र-राष्ट्रो ने १९१९ ई० मे पेरिस मे अपना एक सुलह-सम्मेलन किया। पेरिस मे इनके हाथो दुनिया का भविष्य गढा जानेवाला था, इसलिए महीनो तक इस शहर पर सारी दुनिया की आँखें लगी रही। दूर-दूर से और आस-पास से हर तरह के लोग यात्राएँ करके यहाँ पहुँचे। इनमे राजनीतिज्ञ और राजनीतिक लोग थे, जो अपने-आपको सब-कुछ समझ रहे थे, और राजनयिक और खास जानकारी रखनेवाले और फौजी अफसर और साहूकार, और मुनाफाखोर थे, और सबके साथ सहायको और टाइपिस्टो और क्लर्कों की भीड-की-भीड थी। और पत्रकारो की तो फ़ौज-की-फ़ौज थी ही। आजादी के लिए लडनेवाली आयरी, मिस्री, अरबी वग़ैरा कौमो के, और दूसरी कौमो के, जिनके नाम तक पहले नहीं सुने गये थे, प्रतिनिधि वहाँ पहुँचे। और उन कौमो के प्रतिनिधि भी पहुँचे जो आस्ट्रिया और तुर्की के साम्राज्यो के खण्डहरो मे से अपने-अपने लिए अलग-अलग राज्य तराश लेने की फिराक़ मे थे। और मौके से फायदा उठानेवाले ले-भग्गू तो ढेर-के-ढेर थे ही। दुनिया का नये सिरे से बँटवारा होने जा रहा था, और ये गिद्ध इस मौके को कभी नही चूकना चाहते थे।

सुलह-सम्मेलन मे लोगो को बडी-बडी उम्मीदे थी। लोगो को आशा थी कि युद्ध के भयकर तजुर्बो के बाद इन्साफी और टिकाऊ शान्ति का कोई उपाय सोच निकाला जायगा। युद्ध का ज़बर्दस्त बोझ जनता को अभीतक पीस रहा था, और मेहनतकश-वर्गो मे बडी भारी बेचैनी फैल रही थी। जिन्दगी की ज़रूरी चीज़ो की कीमते बहुत चढ गई थी और इसके सबब से जनता के कष्ट बढ गये थे। १९१९ ई० मे समाजी क्रान्ति की घटा के बहुत आसार नज़र आ रहे थे। रूस की मिसाल छूत की तरह लग रही थी।

यह थी उस सुलह-सम्मेलन की पृष्ठभूमि जिसकी बैठक वर्साई के उसी भवन मे हुई जहाँ अडतालीस वर्ष पहले जर्मन साम्राज्य की घोषणा की गई थी। इतने बडे सम्मेलन को हर रोज़ बैठना कठिन था, इसलिए उसे कई कमेटियो मे बाँट दिया गया। इन कमेटियो की बैठकें खानगीतौर पर होती थी और इनकी साजिशें व खीचा-तानियाँ तमीज़ के बुर्के मे ढँकी रहती थी। सम्मेलन की बागडोर मित्र-राष्ट्रो की 'दस की कौन्सिल'[1] के हाथो मे थी। बाद मे यह घटकर पाँच की रह गई, जो 'पाँच बडे'[2] कहलाते थे—यानी सयुक्त राज्य अमेरिका,

[1] Council of Ten. [2] Big Five.

इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली और जापान। जब जापान निकल गया तो 'चार की कौन्सिल' रह गई, और अन्त मे इटली के निकल जाने पर सिर्फ 'तीन-बडे' बाकी रह गये—अमेरिका, इग्लैण्ड और फ्रान्स। इन तीन देशो के प्रतिनिधि थे राष्ट्रपति विल्सन, लॉयड जॉर्ज और क्लैमैन्शो। और दुनिया को नये साँचे मे ढालने की और उसके भयकर घावो को भरने की महान् ज़िम्मेदारी इन तीनो के ऊपर आ पडी। यह काम तो महामानवो और नर-देवो के बूते का था! और ये तीनो न तो कोई महामानव थे और न नर-देव। बादशाहो, राजनीतिज्ञो, सेनापतियो, वगैरा सत्ताधारी व्यक्तियो का अखबार वगैरा इतना ज्यादा विज्ञापन करते हैं, और उन्हे इतना आसमान पर चढ़ा देते हैं कि साधारण लोगो को वे अक्सर विचार और कर्म के देव-सरीखे दिखाई देने लगते हैं। उनके चारो ओर एक प्रभा-मण्डल-सा दिखाई देता है और अपने अज्ञान की वजह से हम उनको ऐसे कितने ही गुणो की खान समझ लेते हैं, जो उनके पास फटकते तक नही। नज़दीक से जानकारी होने के बाद वे वहुत ही मामूली व्यक्ति निकल आते हैं। आस्ट्रिया के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने एक बार कहा था कि अगर दुनिया को यह मालूम पड जाय कि उसपर कितनी कम-अक्ली से हुकूमत की जाती है तो वह हक्का-बक्का हो जाय। कहने का मतलब यह है कि हालाँकि ये तीनो, यानी 'तीन बडे', देखने मे बडे लगते थे, पर उनका नज़रिया बेहद तग था और वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो से नावाकिफ थे, यहाँतक कि उन्हे भूगोल का भी ज्ञान नही था!

राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ज़बर्दस्त नेकनामी और शोहरत लेकर आया था। उसने अपने भाषणो मे और सरकारी टीपो मे इतने सुन्दर व आदर्शवादी फिकरो का इस्तेमाल किया था कि लोग उसे आगे आनेवाली आज़ादी का पैग़म्बर ही समझने लगे थे। इग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री लॉयड जॉर्ज भी लच्छेदार फिकरो का जाल बुननेवाला था, लेकिन वह मशहूर मौका-परस्त था। 'शेर' कहलाने-वाला क्लैमैन्शो तो आदर्शों और ढोगभरे फिकरो को बेकार चीज़ समझता था। वह तो फ्रान्स के पुराने दुश्मन जर्मनी को कुचल डालने पर, उसे हर तरह कुचलने और ज़लील करने पर तुला बैठा था ताकि वह फिर कभी सिर न उठा सके।

बस, ये तीनो तो आपस मे एक-दूसरे से लडते-झगडते थे और अपनी-अपनी तरफ खीचतान करते थे, और इन तीनो को सम्मेलन मे भी, और उसके बाहर भी दूसरे कई लोग खीचते और धक्के देते रहते थे। और इन सबके पीछे रूस का भूत खडा हुआ था। सम्मेलन मे रूस का कोई प्रतिनिधि नही था और न जर्मनी का था, पर सोवियत रूस की सिर्फ हस्ती ही पेरिस मे जमा होनेवाली तमाम पूँजीवादी शक्तियो के लिए लगातार चुनौती बनी हुई थी।

अन्त मे, लॉयड जॉर्ज की मदद से क्लैमैन्शो की जीत हुई। विल्सन जिन

चीज़ो पर बहुत ज़ोर देता था, उनमे से एक चीज राष्ट्र-सघ मिल गई, और जब उसने सब को इसपर राज़ी करा लिया तो वह बाकी बहुत-सी बातो मे झुक गया। कई महीनो के तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के बाद इस सुलह-सम्मेलन मे आखिरकार मित्र-राष्ट्र सन्धि के एक मसं.दे पर सहमत हुए। और आपस मे सहमत हो जाने के बाद उन्होंने अपना हुक्मनामा सुनाने के लिए जर्मन प्रतिनिधियो को तलब किया। सन्धि का यह ४४० खण्डोवाला भारी-भरकम मसौदा इन जर्मनो पर फेंक दिया गया और उन्हें इसपर दस्तखत करने को कहा गया। उनके साथ कोई दलील नहीं की गई, न उन्हे सुझाव देने या परिवर्तन करने का मौका दिया गया। यह सुलह तो उनपर लादी जानेवाली थी, या तो वे इसपर ज्यो-के-त्यो दस्तखत कर दें या इन्कारी का नतीजा भुगतने को तैयार हो जायें। नये जर्मन गणराज्य के प्रतिनिधियो ने ऐतराज़ किया पर मोहलत के आखिरी दिन इस 'वर्साई की सन्धि' पर दस्तखत कर दिये।

आस्ट्रिया, हगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ मित्र-राष्ट्रो ने अलग-अलग सन्धियाँ तय कीं और उनपर दस्तखत किये। तुर्की-सन्धि पर, हालांकि सुल्तान राज़ी हो गया था, पर कमालपाशा और उसके साथियो ने डटकर विरोध किया, इसलिए वह बीच मे ही टूट गई। लेकिन इसकी कहानी मैं तुम्हे अलग बतलाना चाहता हूँ।

इन सन्धियो के सबब से क्या-क्या परिवर्तन हुए ? इलाको मे ज्यादातर रद्दो-बदल पूर्वी यूरोप, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका मे हुई। अफ्रीका मे मित्र-राष्ट्रो ने जर्मन उपनिवेशो को युद्ध की लूट के तौर पर हड़प लिया, और सबसे बढिया टुकडा इग्लैण्ड के हाथ मे आया। अफ्रीका के एक छोर से दूसरे छोर तक, यानी उत्तर मे मिस्र से लगाकर दक्षिण मे उत्तमाशा अन्तरीप तक, साम्राज्य की अटूट पट्टी का जो सपना अंग्रेज़ लोग बहुत दिनो से देख रहे थे, उसे वे पूर्वी अफ्रीका मे टागानिका व दूसरे इलाको पर कब्ज़ा करके पूरा करने मे सफल हो गये।

यूरोप मे भारी तब्दीलियाँ हुईं और नकशे पर नये राज्यो की काफी सख्या नज़र आने लगी। पुराने नकशे की नये नकशे से तुलना करने पर तुम्हे ये बडी तब्दीलियाँ देखते ही नज़र आ जायँगी। इनमे से कुछ तब्दीलियाँ तो रूसी क्रान्ति की नतीजा थी, क्योंकि रूस की सरहद पर बसनेवाली कई कौमो ने, जो खुद रूसी नहीं थी, सोवियत से नाता तोड लिया और अपनी स्वाधीनता का ऐलान कर दिया। सोवियत सरकार ने आत्म-निर्णय के उनके हको को मान लिया और किसी तरह की अडचन नही डाली। यूरोप के नये नकशे को देखो। एक बडा राज्य आस्ट्रिया-हगरी ग़ायब हो गया है और उसकी जगह कई छोटे-छोटे राज्य पैदा हो गये हैं, जो अक्सर 'आस्ट्रिया के उत्तराधिकारी राज्य' कहे जाते हैं। ये हैं आस्ट्रिया, जो

अब घटकर अपने पुराने रूस का ज़रा-सा टुकडा रह गया है और वियना-जैसा शानदार बडा शहर जिसकी राजधानी है, हगरी, जिसका आकार भी बहुत छोटा रह गया है, चेकोस्लोवाकिया, जिसमे पुराना बोहेमिया शामिल है, यूगोस्लाविया, जो हमारा पुराना और बुरा जाना-पहचाना सर्बिया है, और जो इतना फैल गया है कि पहचाना नही जाता, और बाकी हिस्से रूमानिया, पोलैण्ड और इटली को चले गये हैं। यह काट-छॉट बिलकुल मुकम्मिल तौर पर की गई थी।

दूर उत्तर मे एक और नया राज्य पोलैण्ड बन गया, या यों कहो कि एक पुराना राज्य फिर प्रकट हो गया। यह प्रशिया, रूस और आस्ट्रिया के इलाकों को जोड-तोडकर बनाया गया था। पोलैण्ड को बन्दरगाह देने के लिए एक बडा ही अनोखा करतब दिखाया गया। जर्मनी के, या यो कहो कि प्रशिया के, दो हिस्से कर दिये गए और दोनो हिस्सो के बीच मे समुद्र तक ज़मीन की एक 'गली' पोलैण्ड को दे दी गई। इसलिए पश्चिमी प्रशिया से पूर्वी प्रशिया जानेवाले को पोलैण्ड की इस गली को पार करना पडता है। इस गली के नज़दीक दानत्सिख का मशहूर शहर है। इसे आज़ाद शहर बना दिया गया है—यानी न तो वह जर्मनी का है और न पोलैण्ड राज्य का। यह खुद ही एक राज्य है, जो सीधा राष्ट्र-सघ के मातहत है।

पोलण्ड के उत्तर मे लिथ्यूनिया, लातविया, एस्तोनिया और फ़िनलैण्ड के बाल्टिक तटवर्ती राज्य हैं जो तमाम पुराने ज़ारशाही साम्राज्य के उत्तराधिकारी हैं। ये राज्य हैं तो छोटे-छोटे पर हरेक राज्य अपनी सस्कृति की अलग हस्ती है, और हरेक की अपनी अलग भाषा है। तुम्हे यह जानकर दिलचस्पी होगी कि लिथ्यूनिया-निवासी आर्य हैं (यूरोप की कई दूसरी कौमो की तरह) और उनकी भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मार्के की बात है, जिसे शायद भारत के बहुत से लोग महसूस नही करते, लेकिन जो हमको दूर-दूर बसनेवाली क़ौमो को जोडनेवाली कडियो का पता देती है।

यूरोप मे इलाको की एक और बडी तब्दीली यह हुई कि अलसास और लॉरेन के प्रान्त फ्रान्स को वापस मिल गये। कुछ और परिवर्तन भी हुए, लेकिन उनकी झझट मे मैं तुम्हे नही डालना चाहता। अब तुमने देख लिया कि इन परिवर्तनो के नतीजे से कई नये राज्य पैदा हो गये, जिनमे से ज्यादातर बिलकुल छोटे-छोटे थे। पूर्वी यूरोप अब बलकान-जैसा बन गया, और इसलिए अक्सर यह कहा जाता है कि सुलह-सन्धियो से यूरोप का 'बलकानीकरण' हो गया। अब पहले से बहुत ज्यादा सरहदें हो गई हैं, और इन ज़रा-ज़रा-से राज्यो के बीच अक्सर झगडे-टण्टे रहा करते हैं। यह देखकर हैरत होती है कि ये एक-दूसरे से कितनी नफरत करते हैं, खासकर डैन्यूब के कांठेवाले राज्य। इसकी बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी मित्र-

राष्ट्रो पर है, जिन्होंने बिलकुल गलत तरीके पर यूरोप का बँटवारा कर डाला, और इस तरह कई नई समस्याएँ पैदा कर दी। बहुत-सी अल्पसंख्यक क़ौमें विदेशी हुकूमतो के अधीन हैं, जो उन्हें सताती रहती हैं। पोलैण्ड को ज़मीन का एक बडा टुकडा मिल गया है, जो वास्तव मे यूक्रेन का भाग है। इस इलाक़े के बेचारे यूक्रेनियो का जबरन 'पोलीकरण' करने के इरादे से उनपर हर तरह के अत्याचार किये गए हैं। यूगोस्लाविया और रूमानिया और इटली मे भी इसी तरह की विदेशी अल्पसंख्यक जातियाँ हैं और इनके साथ बडा बुरा वर्ताव किया जाता है। दूसरी तरफ आस्ट्रिया और हगरी की धज्जियाँ उडा दी गई हैं और ज्यादातर खुद उनके ही निवासी उनसे छीन लिये गए हैं। इन तमाम इलाको पर विदेशी क़ब्ज़ा होने के सबब से राष्ट्रीय आन्दोलन और लगातार रगडे-झगडे कुदरती तौर पर होते रहते हैं।

नकशे पर फिर निगाह डालो। तुम देखोगी कि फिनलैण्ड, एस्तोनिया, लातविया, लिथ्यूनिया, पोलैण्ड और रूमानिया राज्यो की लडी ने रूस को पश्चिमी यूरोप से बिलकुल काट दिया है। जैसा कि मैं तुम्हे बतला चुका हूँ, इनमे से ज्यादातर राज्य वर्साई की सन्धि से नहीं बने थे, बल्कि सोवियत क्रान्ति के नतीजे थे। मगर फिर भी मित्र-राष्ट्रो ने इनका स्वागत किया, क्योंकि ये रूस को गैर-बोलशेविक यूरोप से अलग करनेवाली कतार बन गये थे। ये बोलशेविक छूत को दूर रखने मे मदद देनेवाला एक 'सफाई का घेरा'' (जिससे छूत की बीमारियो को फैलने से रोका जाता है) बन गये थे[1] बाल्टिक-तटवर्ती ये तमाम राज्य ग़ैर-बोलशेविक है, वरना वे सोवियत सघ मे ज़रूर ही शामिल हो गये होते।

पश्चिमी एशिया मे पुराने तुर्की साम्राज्य के कुछ भागो पर पश्चिमी शक्तियो की लार टपकने लगी। युद्ध के दौरान अग्रेज़ो ने अरब, फिलिस्तीन और सीरिया को मिलाकर सयुक्त अरब सल्तनत बना देने का वायदा करके अरबो को तुर्की के ख़िलाफ विद्रोह करने के लिए उकसाया था। इधर तो अरबो से यह वायदा किया जा रहा था, उधर ये ही अग्रेज़ इन्ही प्रदेशो के बँटवारे की एक गुप्त सन्धि फ्रान्स के साथ कर रहे थे। यह कार्रवाई इनकी शान के लिए भद्दी चीज़ थी, और इग्लैण्ड के एक प्रधान-मन्त्री रैम्जे मैक्डानल्ड ने इसे 'भोडी दोरगी चालबाजी' की मिसाल बतलाया था। लेकिन यह दस वर्ष पहले की बात है जब वह प्रधान-मन्त्री नही था, और इसलिए कभी-कभी सच्ची बात कहने की हिम्मत कर सकता था।

जब ब्रिटिश सरकार ने सिर्फ अरबो के साथ किये हुए वादे को ही नहीं बल्कि फ्रान्स के साथ की हुई गुप्त सन्धि को भी तोडने के विचार से खेलना शुरू किया तो इससे भी ज्यादा अजीब नतीजा निकला। भारत से लगातार मिस्र तक

---

[1] Cordon Sanitaire

फैले हुए एक महान् मध्य-पूर्वी साम्राज्य का, यानी अपने भारतीय साम्राज्य को अपने अफ्रीकी उपनिवेशो से जोडनेवाले एक बहुत-ही वडे खण्ड का, सपना आँखो के आगे नाचने लगा। यह एक लुभावना और ज़बर्दस्त सपना था। मगर फिर भी उस समय इसका पूरा होना ज्यादा कठिन नही नज़र आता था। उस समय, यानी १९१८ ई० मे, इस सारे लम्बे-चौडे इलाके मे, यानी ईरान, इराक, फिलिस्तीन, अरब के कुछ भाग, मिस्र, वग़ैरा मे अग्रेज़ी फौजो ने कब्ज़ा जमा रक्खा था। ये लोग फ्रान्स को सीरिया मे कदम नही रखने देना चाहते थे। ख़ुद क़ुस्तुन्तुनिया भी अग्रेज़ो के कब्ज़े मे था। लेकिन जब १९२० और १९२१ और १९२२ ई० के वर्षों की होनेवाली घटनाएँ सामने आने लगी तो यह सपना गायब हो गया। पीछे से सोवियत ने और सामने से कमालपाशा ने इग्लैण्ड के मन्त्रियो की इन ऊँचे हौसलो-वाली योजनाओ को मिट्टी मे मिला दिया।

लेकिन फिर भी इग्लैण्ड पश्चिमी एशिया मे इराक और फ़िलिस्तीन वग़ैरा के बहुत बडे हिस्से पर कब्ज़ा जमाये रहा और घूस व दूसरी तरकीबो से उसने अरब के घटनाचक्र पर असर डालने की कोशिश की। सीरिया फ्रान्सीसियो के हिस्से पडा। अरब देशो की नई राष्ट्रीयता का और आज़ादी के लिए उनकी लडाई का हाल मैं फिर कभी लिखूंगा।

अब हमे वर्साई की सन्धि पर लौट जाना चाहिए। इस सन्धि के मातहत जर्मनी को युद्ध छेडनेवाला कसूरवार ठहराया गया और सन्धि पर दस्तख़त कराके इस तरह जर्मनो से ज़बर्दस्ती यह इकबाल कराया गया कि वे युद्ध के कसूरवार हैं। ऐसी ज़ोर-ज़बर्दस्ती के इकबालनामो की कोई कीमत नही होती, वे कडवाहट ही पैदा करते हैं, जैसा कि इस मामले मे हुआ भी।

जर्मनी से यह भी माँग की गई कि वह बिलकुल बे-हथियार हो जाय। उसे थोडी-बहुत पुलिस की तरह काम करनेवाली छोटी-सी सेना रखने की इजाज़त दी गई और अपना जगी-बेडा मित्र-राष्ट्रो के हवाले कर देना पडा। जब जर्मन बेडा इस तरह सौंपे जाने के लिए जा रहा था, तब उसके अफसरो और जहाज़ियो ने अपनी ही ज़िम्मेदारी पर यह तय कर डाला कि अग्रेजो के हवाले करने की बजाय उसे डुबो देना बेहतर है। बस, जून १९१९ ई० मे, स्कैपा फ्लो की खाडी मे, अग्रेज़ो की निगाह के सामने, जो उसे लेने की तैयारियाँ कर रहे थे, सारे जर्मन बेडे को उसीके जहाज़ियो ने जहाज़ो मे छेद करके डुबो दिया।

इसके अलावा, जर्मनी से युद्ध का दण्ड और मित्र-राष्ट्रो को युद्ध से होने-वाले नुकसानो व तबाहियो का हर्जाना भी तलब किया गया। इसे 'रिपेअरेशन्स' (नुकसान का बदला) कहा गया, और यह शब्द कई वर्षों तक यूरोप के ऊपर भूत की तरह सवार रहा। सन्धि मे कोई निश्चित रकम तय नही की गई थी, पर उसमे

इसके तय किये जाने का विधान रक्खा गया था। मित्र-राष्ट्रों के युद्ध के नुकसानों को पूरा करने की यह ज़िम्मेदारी एक जबर्दस्त मामला था। जर्मनी तो उस वक्त वैसे ही हारा हुआ और बर्बाद देश था, जिसके सामने अपने ही घर का खर्च चलाने की विकट समस्याएँ थीं। इसपर मित्र-राष्ट्रों का यह बोझ कन्धों पर उठाना एक नामुमकिन काम था, जो कभी भी पूरा नहीं हो सकता था। लेकिन मित्र-राष्ट्र तो नफ़रत और बदले की भावना में भरे हुए थे। वे जर्मनी से सिर्फ अपना 'एक पौण्ड मांस'[1] ही वसूल नहीं करना चाहते थे, बल्कि उसके ज़मीन पर पड़े हुए शरीर के खून की आखिरी बूंद तक चूस लेना चाहते थे। इंग्लैण्ड में लॉयड जॉर्ज ने 'कैसर को फांसी दो' का नारा लगाकर चुनाव जीते थे। फ्रान्स में तो लोगों की भावनाएँ इससे भी ज्यादा कट्टर थीं।

सन्धि की तमाम धाराओं का सारा मतलब यह था कि जर्मनी को हर सम्भव उपाय से बांध दिया जाय, अपाहिज बना दिया जाय, और फिर पनपने नहीं दिया जाय। इरादा यह था कि वह पीढ़ियों तक मित्र-राष्ट्रों का आर्थिक गुलाम बना रहे और हर साल उन्हें बेशुमार रकमें खिराज की तरह देता रहे। जिन अक्लमन्द महा-राजनीतिज्ञों ने वर्साई में इस बदला लेनेवाली सुलह की नींव डाली, उनके ध्यान में इतिहास की यह ज़ाहिरा नसीहत नहीं आई कि इस तरह किसी महान् कौम को लम्बे अर्से तक बांधे रखना असम्भव है। अब वे इसपर पछता रहे हैं।

अन्त में मैं राष्ट्रपति विल्सन के दिमाग़ की उपज उस राष्ट्र-संघ का ज़िक्र करना चाहता हूँ, जिसे वर्साई की सन्धि ने दुनिया को भेंट किया। यह आज़ाद और स्वशासित राज्यों का एक संघ बननेवाला था और इसका मकसद था "इन्साफ और मान के आधार पर आपसी रिश्ते कायम करके भावी युद्धों को रोकना और संसार के राष्ट्रों के बीच दुनिया की चीज़ों और दिमागी बातों से ताल्लुक़ रखनेवाले मामलों में सहयोग बढ़ाना"। बड़ी तारीफ के काबिल था यह मकसद! संघ के हर सदस्य-राज्य ने वायदा किया कि जबतक बिना लड़ाई के समझौते की सारी सम्भावनाएँ खत्म न हो जायें तबतक वह किसी साथी-राज्य से युद्ध

[1] शेक्सपीयर के 'मर्चेण्ट ऑफ वेनिस' नामक नाटक का नायक एक व्यापारी एक यहूदी से रुपया उधार लेता है और दस्तावेज लिख देता है कि अगर निश्चित तारीख तक क़र्ज़ा न लौटा सके तो उसके बाद यहूदी को उसके शरीर का एक पौण्ड मांस काट लेने का अधिकार होगा। व्यापारी उस तारीख को रुपया नहीं दे पाता है और यहूदी उसका एक पौण्ड मांस मांगता है। इसपर मुक़दमा अदालत में जाता है और व्यापारी की प्रेमिका वकील बनकर उसे छुड़ा लेती है। इसी कथानक के आधार पर अंग्रेज़ी में 'एक पौण्ड मांस' की कहावत बन गई है।

नही छेडेगा, और अगर छेड़ेगा भी तो उसके बाद नौ महीने छोड़कर। कोई सदस्य-राज्य इस वचन को भग करे, उस हालत मे दूसरे राज्य इस वचन से बँधे हुए थे कि उस राज्य के साथ अपने लेन-देन के और माली रिश्ते तोड दें। कागज पर तो यह सब वडा सुहावना लगता है, पर अमल मे मामला बिलकुल बदल गया। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि सघ ने भी युद्धो का अन्त करने की कोशिश नही की, उसने तो युद्धो के रास्ते मे कठिनाइयाँ पैदा करनी चाही, ताकि समय बीतने पर और मेल-जोल की कार्रवाइयो से युद्ध का जोश ठण्डा पड जाय। उसने युद्धो के कारणो को भी दूर करने की कोशिश नही की।

सघ मे एक तो असेम्बली शामिल थी, जिसमे तमाम सदस्य-राज्यो के प्रतिनिधि लिये गए थे, और एक कौन्सिल थी, जिसमे बडी-बडी शक्तियो के स्थायी प्रतिनिधियो के अलावा असेम्बली के चुने हुए कुछ और प्रतिनिधि भी आ सकते थे। सघ का एक सचिवालय रक्खा गया था, जिसका सदर मुकाम, जैसाकि तुम्हें मालूम है, जेनेवा था। सघ की हलचलो के और विभाग भी रक्खे गये थे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय, जिसका ताल्लुक मजदूरो के मामलो से था, हेग मे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय को स्थायी अदालत, और बौद्धिक सहयोग की एक समिति। सघ की ये सारी हलचलें एकसाथ शुरू नही हुई। कुछ हलचलें बाद मे शामिल की गई।

सघ का मूल सविधान वर्साई की सन्धि मे ही शामिल था। यह 'राष्ट्र-सघ का इकरारनामा'[1] कहलाता है। इसमे यह शर्त रक्खी गई थी कि तमाम राज्य अपनी-अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए लडाई के साज-सामान की कम-से-कम जितनी ज़रूरत हो, उससे ज्यादा नही रक्खें। जर्मनी का निरस्त्रीकरण (जो लाज़िमी था) इस दिशा मे पहला कदम माना गया था, दूसरे देशो का नम्बर इसके बाद आता था। इसके अलावा यह भी कहा गया था कि अगर कोई राज्य दूसरे पर हमला करे तो उसके ख़िलाफ कार्रवाई की जाय। लेकिन यह नही बतलाया गया कि हमला किस हालत मे माना जायगा। जब दो कौमें या दो राष्ट्र लडते हैं तो हरेक दूसरे को दोषी ठहराता है और उसे ही हमलावर बतलाता है।

वडे-बडे मामलो को सघ सिर्फ सबकी एक-राय से ही तय कर सकता था। यानी, अगर किसी प्रस्ताव के खिलाफ एक भी सदस्य-राज्य ने मत दे दिया, तो वह गिर जाता था। इसका अर्थ यह था कि बहुमत की धीगा-धीगी नही चल सकती थी। इसका मतलब यह भी था कि राष्ट्रीय सत्ताएँ पहले ही की तरह स्वाधीन और बहुत-कुछ गैर-ज़िम्मेदार बनी रही, सघ उनके सिर पर कोई महा-राज्य

---

[1] Covenant of the League of Nations

नही बन गया। इस इन्तजाम ने सघ को वहुत कमजोर कर दिया और अमल मे उसे एक सलाहकार कमेटी जैसा बना दिया।

कोई भी स्वाधीन राज्य इस सघ मे शामिल हो सकता था, पर चार देशो को जान-बूझकर अलग रक्खा गया था तीन तो हारी हुई शक्तियाँ—जर्मनी, आस्ट्रिया और तुर्की, और चौथी वोलशेविक शक्ति रूस। हाँ, यह बात जरूर रख दी गई थी कि बाद मे ये देश कुछ शर्तों पर सघ मे आ सकते हैं। मगर निराली बात यह हुई कि भारत इस सघ का मूल सदस्य बन गया, हालाँकि यह चीज उस नियम के बिलकुल खिलाफ थी, जिसके मुताबिक सिर्फ स्व-शासित राज्य ही सघ के सदस्य हो सकते थे। अलबत्ता, 'भारत' से मतलब था भारत की ब्रिटिश सरकार, और इस चतुर चालबाजी से ब्रिटिश सरकार ने एक और प्रतिनिधि शामिल करने का ढग बैठा लिया। मगर, दूसरी तरफ अमेरिका ने, जो एक तरह से सघ का जन्मदाता था, इसमे शामिल होने से इन्कार कर दिया। अमेरिकावासियो ने राष्ट्रपति विल्सन की कार्रवाइयो को, और यूरोपीय साजिशो व उलझनो को, पसन्द नही किया और अलग ही रहने का फैसला किया।

बहुत लोग सघ की तरफ बडे शौक मे देख रहे थे और आशा लगा रहे थे कि वह आजकल की दुनिया के झगडे-फिसादो का अन्त कर देगा, या कम-से-कम उनमे बहुत-कुछ कमी कर देगा, और अमन व खुशहाली का युग ले आयगा। सघ को लोकप्रिय बनाने के लिए और, कहा जाता है कि, लोगो मे चीजो को अन्तर्राष्ट्रीय नजर से देखने की आदत डालने के लिए, बहुतेरे देशो मे राष्ट्र-सघ-समितियाँ क़ायम हुई। दूसरी ओर, बहुत-से अन्य लोगो ने सघ को एक ढोग व ढकोसला बतलाया जो बडी-बडी शक्तियो के इरादो को आगे बढाने की नीयत से बनाया गया था। अवतक हमे इसका कुछ अमली तजुर्बा भी हो गया है और शायद इसके लाभो के बारे मे राय देना आसान हो गया है। सघ ने १९२० ई० के साल के नये दिन मे काम करना शुरू किया। अभीतक उसके जीवन के थोडे-ही दिन बीते हैं, पर इतने ही समय मे उसकी पोल बिलकुल खुल गई है। इसमे शक नही कि आज के जमाने की जिन्दगी के गली-कूचो मे इसने अच्छा काम किया है, और यह तथ्य कि इसने राष्ट्रो को, या यो कहो कि उनकी सरकारो को, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार करने के लिए एक साथ ला बिठाया है, पुराने तरीको से आगे बढा हुआ है। लेकिन अमन कायम रखने का, या युद्ध की सम्भावनाओं को ही कम करने का, अपना असली मकसद हासिल करने मे बिलकुल नाकामयाब रहा है।

राष्ट्र-सघ के बारे मे राष्ट्रपति विल्सन का असली इरादा चाहे जो रहा हो, पर इसमे कोई शक नही रह गया है कि बडी-बडी शक्तियो ने, खासकर इग्लैण्ड

और फ्रान्स ने, इसे अपना औज़ार बना लिया है। इसका बुनियादी फर्ज़ ही मौजूदा व्यवस्था को कायम रखना है। यह राष्ट्रो के बीच इन्साफ और मान की डींगें तो मारता है, पर यह जांच नही करता कि मौजूदा आपसी रिश्तो की बुनियादें भी इन्साफ और मान पर कायम हैं या नही। उसका दावा है कि वह राष्ट्रो के 'घरू मामलो' मे दस्तन्दाज़ी नही करता। साम्राज्यशाही शक्तियो के अधीन देश उसके लिए घरू मामले हैं। इसलिए, जहाँतक राष्ट्र-सघ का ताल्लुक़ है, उसका यही नज़रिया है कि इन शक्तियो को अपने-अपने साम्राज्यो पर हमेशा के लिए प्रभुता बनी रहे। इसके अलावा, जर्मनी व तुर्की से छीने हुए नये प्रदेश 'मैंन्डेट्स' (फरमानो) के नाम से मित्र-राष्ट्री शक्तियो को इनाम मे दे दिये गए। यह शब्द राष्ट्र-सघ की खामियत है, क्योकि इसका मतलब है पुराने साम्राज्यशाही शोषण को एक सुहावना नाम देकर जारी रखना। कहा जाता है कि ये फ़रमान, फरमानी प्रदेशो की जनता की इच्छाओ के मुताबिक दिये गए थे। इनमे से बेचारी कितनी ही कौमो ने इन फरमानो के खिलाफ बगावतें भी की और वर्षो तक खूनी लडाइयाँ जारी रक्खी, पर अन्त मे बमो और गोलो की मार से उन्हें झुकने को मजबूर कर दिया गया। मरोकारी कौमो की इच्छाएँ मालूम करने का यही तरीका था।

लच्छेदार शब्दो व फिकरो का इस्तेमाल किया गया। साम्राज्यशाही शक्तियाँ फरमानी प्रदेशो के निवासियो की 'अमानतदार' मानी गईं और सघ का काम यह देखना था कि अमानत की शर्तों का पालन हो। पर असल मे इससे मामला और भी ज्यादा बिगड गया। शक्तियो ने अपनी मनमानी की, पर ज़रा ज्यादा बगुला-भगती जामा पहन लिया, और इस तरह भोले-भाले लोगों के भीतरी मन को तसल्ली दिला दी। जब किसी छोटे राज्य ने किसी तरह की खिलाफ-वर्ज़ी की, तो सघ ने कडा रुख इख्तियार कर लिया और अपनी नाराज़गी की धमकी दिखाई। लेकिन जब किसी बडी शक्ति ने खिलाफ-वर्ज़ी की, तो सघ नज़र बचाकर दूर देखने लगा, या उसने कसूर को बिलकुल छोटा बनाने की कोशिश की।

इस तरह सघ मे बडी-बडी शक्तियो की तूती बोलती रही। जब-जब इनका स्वार्थ सधा तब-तब इन्होंने इससे फायदा उठाया, और जब उसकी परवाह न करना ज्यादा फायदेमन्द दिखाई दिया तब इसे ताक मे रख दिया। शायद इसमे सघ का कोई कसूर नही था, कसूर तो खुद उस ढाँचे का था जिसे सघ को इसलिए बर्दाश्त करना पडता था क्योकि वह बना ही इस ढग पर था। जुदा-जुदा शक्तियों के बीच कट्टर मुकाबलेबाज़ी और होडबाज़ी तो साम्राज्यवाद का सार ही था, क्योकि हरेक शक्ति दुनिया का ज्यादा-से-ज्यादा शोषण करने पर उतारू थी। अगर किसी समाज के लोग एक दूसरे की जेबें कतरने की बराबर कोशिशें करते रहें और एक

दूसरे की गर्दनें काटने के लिए चाकुओं पर सान चढ़ाते रहें, तो उनके बीच ज्यादा सहयोग होने की गुंजायश नही रहती और न यह गुंजायश रहती है कि समाज कोई निराली प्रगति करेगा। इसलिए, अगर सरपरस्तों और धर्म-पिताओं की आलीशान जमात के बावजूद राष्ट्र-संघ पनप नही सका, तो इसमे अचम्भे की बात नही है।

जब वर्साई मे सन्धि की चर्चाएँ चल रही थी, तब जापान सरकार की तरफ से यह प्रस्ताव रक्खा गया कि सन्धि में सब नस्लो के लोगो को बराबर माननेवाली एक धारा शामिल कर दी जाय। पर यह प्रस्ताव माना नही गया। मगर चीन में क्याउ-चाउ जापान को भेंट करके उसके आँसू पोंछ दिये गए। चीन-जैसे एक कमज़ोर और सीधे-सादे साथी को नुकसान पहुँचाकर 'तीन बड़ों' ने अपनी दरिया-दिली दिखाई। इसी वजह से चीन ने सन्धि पर दस्तखत नही किये।

ऐसी थी यह वर्साई की सन्धि जिसने 'युद्धो का अन्त करनेवाले युद्ध' का अन्त कर दिया। फ़िलिप स्नोडन ने, जो आगे चलकर वाइकाउण्ट स्नोडन और इंग्लैण्ड का एक मन्त्री हुआ, सन्धि के बारे मे नीचे लिखी टीका की थी :

> "यह सन्धि लुटेरों, साम्राज्यवादियो और फौजी-पेशा लोगों को राजी कर देगी। लेकिन जो इस इन्तज़ार मे थे कि युद्ध का अन्त होने पर अमन-चैन का राज हो जायगा, उनकी आशाओ का तो इसने गला घोंट दिया। यह अमन की सन्धि नही है बल्कि दूसरे युद्ध की घोषणा है। यह लोकतन्त्र के साथ और युद्ध के शहीदो के साथ विश्वासघात है। इस सन्धि ने मित्र-राष्ट्रो की असली नीयतो को उघाड़कर रख दिया है।"

यह सच भी है कि नफरत, घमण्ड और लालच के वश मे होकर मित्र-राष्ट्र अपने बूते से बाहर निकल गये। बाद के वर्षो मे जब उन्हें खुद ही अपनी बेवक़ूफ़ी के नतीजो मे गर्क हो जाने का खतरा पैदा हुआ, तो वे पछताने लगे। पर तबतक चिड़ियाँ खेत को चुग गई थी।

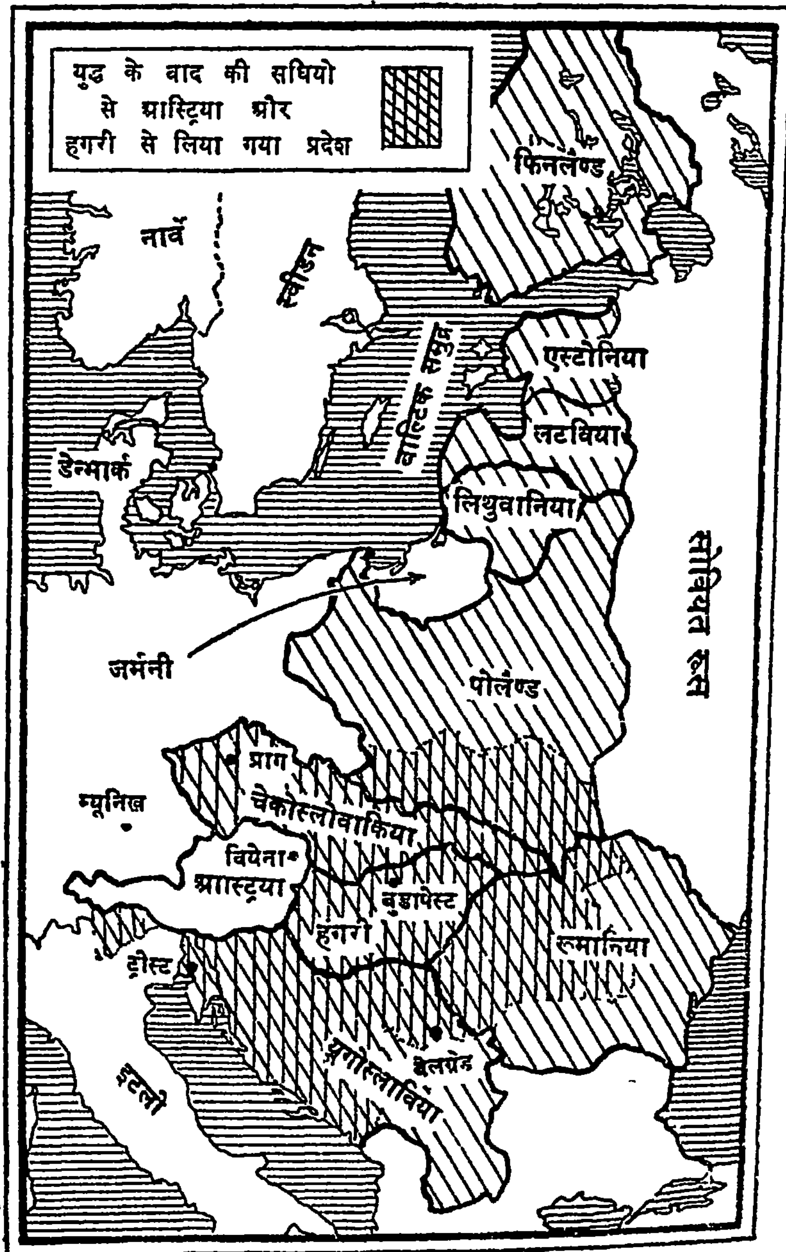
: १५६ :

युद्ध के बाद की दुनिया

२६ अप्रैल, १९३३

अब हम अपने लम्बे सफर की आखिरी मंज़िल पर आ गये हैं, यानी हम वर्तमान काल की देहली पर खड़े है। हमे महायुद्ध के बाद की दुनिया पर गौर करना है। अब हम अपने ही ज़माने मे हैं, जो वास्तव मे तुम्हारा ही ज़माना है।

यूरोप के नये राष्ट्र


युद्ध के बाद की संधियो
से आस्ट्रिया और
हंगरी से लिया गया प्रदेश
फिनलैण्ड
नार्वे
स्वीडन
बाल्टिक समुद्र
एस्टोनिया
लटविया
डेन्मार्क
लिथुवानिया
सोवियत रूस
जर्मनी
पोलैण्ड
प्राग
म्यूनिख
चेकोस्लोवाकिया
वियेना
आस्ट्रिया
बुडापेस्ट
हंगरी
रूमानिया
ट्रीस्ट
बेलग्रेड
इटली
युगोस्लाविया

यह आखिरी मंजिल है, और समय के लिहाज से बहुत छोटी-सी मंजिल है, पर फिर भी कठिन मंजिल है। युद्ध को खत्म हुए ठीक साढे चौदह वर्ष बीत गये हैं, और इतिहास के जिन लम्बे-लम्बे जमानो पर हम विचार कर चुके हैं उनके मुकाबले मे समय का यह नन्हा-सा टुकडा क्या चीज है? पर हम तो बिलकुल इसकी रेल-पेल के बीच मे हैं, और इतने नजदीक से घटनाओ के बारे मे सही रायें बनाना कठिन है। न तो हमे इसकी तसवीर को दूर से देखने का सही रुख मिल सकता है और न वह स्थिर अलगाव मिल सकता है, जिसका इतिहास तकाजा करता है। बहुतेरी घटनाओ के बारे मे हम बहुत ज्यादा भडके हुए हैं, और हो सकता है कि छोटी-छोटी चीजें हमे बडी दिखाई देने लगें, और कुछेक सचमुच बडी चीजो के महत्व को हम पूरी तरह न आंक सकें। हो सकता है कि हम पेडो के झुरमुट मे ही भटकते रह जायें और सारे जगल को न देख पा सकें।

इसके अलावा दूसरी कठिनाई यह पता लगाने मे है कि घटनाओ के महत्व को कैसे नापा जाय? इसके लिए हम कौन-सा गज काम मे लें? यह तो काफी जाहिर है कि बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम चीजो को किस ढग से देखते हैं। एक तरह की नजर से कोई घटना हमे महत्व की लग सकती है, पर दूसरी तरह की नजर से वह बिलकुल बिना महत्व की और तुच्छ मालूम दे सकती है। मुझे डर है कि अबतक जितने पत्र मैंने तुम्हें लिखे हैं उनमे कुछ हद तक इस सवाल को टाला है, मैंने इसका सफाई से और ठीक-ठीक उत्तर नही दिया है। इतने पर भी जो कुछ मैंने लिखा है उसपर मेरे आम नजरिये का रग चढ गया है। इन्ही जमानो और इन्ही घटनाओ के बारे मे कोई दूसरा लिखता तो शायद बिलकुल दूसरी तरह से लिखता।

यहाँ मैं इस बहस मे नही पडना चाहता कि इतिहास के बारे मे हमारा नजरिया क्या होना चाहिए। पिछले वर्षों मे इस विषय पर मेरा खुद का नजरिया बहुत बदल गया है। और जिस तरह इस मामले मे और दूसरे मामलो पर मैंने अपने विचार बदले हैं, उसी तरह बहुत-से दूसरे लोगो ने भी बदले हैं। क्योकि युद्ध ने हर चीज को और हर आदमी को बुरी तरह झँझोड दिया है। इसने पुरानी दुनिया को बिल्कुल उलट दिया है, और तब से हमारी बेचारी पुरानी दुनिया दुबारा उठ खडी होने की कोशिश मे तकलीफ उठा रही है, पर सफल नही हो पाती। युद्ध ने विचारो के उस सारे ढाँचे को हिला दिया जिसपर हमारा विकास हुआ था, और हमारे मन में आधुनिक समाज व सभ्यता की बुनियाद के बारे मे ही दुविधा पैदा कर दी है। हमने नौजवान जिन्दगियो की जबर्दस्त बर्बादी, झूठी बातें, मार-काट, हैवानियत, तबाही देखी और हम हैरान होकर सोचने लगे कि कही यह सभ्यता का अन्त तो नहीं है। रूस मे सोवियत का उदय हुआ, जो एक नई चीज थी, एक नई समाजी व्यवस्था थी, और पुरानेपन को एक चुनौती थी। दूसरे विचार भी हवा मे फैल रहे थे। यह विष-

टन का ज़माना था, यानी पुराने विश्वास और दस्तूर टुकडे-टुकडे हो रहे थे, यह दुविधा और ऐतराज़ का युग था जो एक हालत से दूसरी मे गुज़रनेवाले और तेज़ी से बदलनेवाले ज़माने मे सदा पैदा होते रहते हैं।

इन सब बातो से हमारे लिए युद्ध के बाद के जमाने पर इतिहास की तरह विचार करना कुछ कठिन हो जाता है। हम तरह-तरह के विश्वासो और विचारो पर चर्चाएँ और सवाल भले ही करे, और उनमे से किसी को सिर्फ इसलिए कबूल भले ही न करें कि वह पुराना कहा जाता है, मगर इन चीजो को हम विचारो से सिर्फ खिलवाड करने का, या अपना कर्त्तव्य जानने के लिए दिमाग लडाने की परेशानी से बचने का, बहाना नही बना सकते। ससार के इतिहास मे इस तरह के बदलते हुए जमाने दिमाग और शरीर की चुस्ती का खासतौर पर तकाज़ा करते हैं। ये ही ऐसे मौके होते हैं जब ज़िन्दगी के मन्द ढर्रे मे जान पड जाती है और जोखिम के काम हमे पुकारते हैं, और हम सब नई व्यवस्था की इमारत खडी करने मे अपना-अपना हिस्सा अदा कर सकते हैं। ऐसे ही मौको पर नौजवानो ने हमेशा आगे बढकर हिस्सा लिया है, क्योकि ये अपने को बदलते हुए विचारो और हालतो के मुताबिक़ उन लोगो की बनिस्बत ज्यादा आसानी से ढाल सकते है जो बूढे और सख्त हो गये हैं, और प्राचीन विश्वासो मे जम गये हैं।

इस युद्ध के बाद के जमाने की ज़रा ब्यौरे से जाँच करना शायद अच्छा होगा। पर इस पत्र मे मैं चाहता हूँ कि तुम इस पर चौतरफा निगाह डालो। नेपोलियन के पतन के बाद उन्नीसवी सदी का हमने जो सिंहावलोकन किया था वह तुम्हें याद होगा। अब १८१५ ई० की वियना की सुलह और उसके नतीजो पर बरबस हमारा ध्यान जाता है। और हम उसकी तुलना १९१९ ई० की वर्साई की सुलह व उसके नतीजो से करने लगते हैं। वियना की सुलह कोई मुबारक सुलह नही थी, उसने यूरोप मे आयन्दा युद्धो के बीज बो दिये। तजुर्बे से सबक न लेकर हमारे राजनीतिज्ञो ने वर्साई की सुलह को उससे भी बहुत ज्यादा बुरी बना दिया, जैसा कि हम पिछले पत्र मे देख चुके हैं। युद्ध के बाद के वर्षो पर इस नामधारी सुलह की अँधेरी छाया बहुत गहरी छायी रही है।

इन बीते चौदह वर्षों की मार्के की घटनाएँ क्या हैं? मेरे खयाल से महत्व मे अव्वल और सबसे ज्यादा ध्यान खीचनेवाली घटना सोवियत सघ का उदय होना और मजबूत बनना है। इस सोवियत सघ का पूरा नाम 'यूनियन ऑफ़ सोशलिस्ट सोवियत रिपब्लिक्स' है जो यू० एस० एस० आर० लिखा जाता है। अपनी हस्ती कायम रखने की लडाई मे सोवियत रूस को जिन ज़बर्दस्त कठिनाइयो

का सामना करना पडा उनका कुछ जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। इन कठिनाइयो के बावजूद भी उसका सफल होना इस सदी का एक चमत्कार है। सोवियत व्यवस्था पुराने ज़ारशाही साम्राज्य के सारे एशियाई भाग पर, ठेठ प्रशान्त महासागर तक साइबेरिया मे, और भारत की सरहद के बिलकुल नजदीक मध्य-एशिया मे, फैल गई। सोवियतो के गणराज्य तो अलग-अलग बने, पर वे सब एक सघ मे शामिल हो गये, और यही अब समाजवादी सोवियत गणराज्य सघ या सक्षेप मे सोवियत सघ कहलाता है। यह सघ यूरोप और एशिया के विशाल क्षेत्र पर छाया हुआ है, और सारे ससार की धरती के क्षेत्रफल का लगभग छठा भाग है। यहाँ का क्षेत्रफल बहुत बडा है, लेकिन बडापन खुद कोई अर्थ नहीं रखता, और रूस बहुत पिछडा हुआ था और साइबेरिया व मध्य-एशिया तो उससे भी गये-बीते थे। सोवियत रूस ने दूसरा चमत्कार यह कर दिखाया कि निर्माण की भारी-भरकम योजनाओ के जरिये अपने देश के बडे-बडे भागो का रूप ऐसा बदल दिया कि उन्हे पहचाना नही जा सकता। किसी कौम की इतनी तेजी के साथ तरक्की की ऐसी मिसाल इतिहास मे दूसरी नही मिलती है। मध्य-एशिया के सबसे ज्यादा पिछडे हुए इलाके भी इतनी तेजी के साथ बढ गये हैं कि हम भारतवासियो को उसकी होड करनी चाहिए। सबसे ज्यादा मार्के की प्रगतियाँ शिक्षा और उद्योगो मे हुई हैं। पचवर्षीय योजनाओ के जरिये रूस का उद्योगीकरण सरगर्मी और जोरो के साथ किया गया है और बहुत बडे-बडे कारखाने खडे कर दिये गए हैं। इस सबका जनता पर बडा भारी बोझ पडा है, जिसे आराम और जरूरी चीजो तक से महरूम रहना पडा है, ताकि उसकी कमाई का ज्यादातर हिस्सा पहले समाजवादी देश के निर्माण मे लग जाय। किसान वर्ग पर खासतौर से ज्यादा बोझ पडा है।

इस प्रगतिशील और आगे बढने की धुनवाले सोवियत देश के मुकाबले मे, सदा बढनेवाली परेशानियोवाले पश्चिमी यूरोप का फर्क साफ नजर आता है। अपनी तमाम कठिनाइयो के बावजूद पश्चिमी यूरोप अभी तक रूस से बहुत ज्यादा मालदार है। अपनी खुशहाली के लम्बे अर्से मे उसने बहुत काफी चर्बी जमा कर ली है जिसके आसरे वह कुछ समय तक गुजर कर सकता है। लेकिन हर देश पर लदा हुआ कर्जों का बोझ, मुआवजो की उस रकम की समस्या, जो वर्साई सन्धि के मातहत जर्मनी को अदा करनी थी, और बडी-छोटी शक्तियो की आपसी लगातार लाग-डाँट और लडाई-झगडे, इन सबने बेचारे यूरोप को बडी मुसीबत की हालत मे डाल दिया है। इस कठिनाई का हल निकालने के लिए बेशुमार सम्मेलनो की बैठकें होती रहती हैं, पर कोई रास्ता नही निकलता, और स्थिति दिन-पर-दिन बिगडती जाती है। सोवियत रूस की आज के पश्चिमी यूरोप से तुलना करना ऐसा है जैसे किसी भारी बोझा लदे हुए लेकिन जिन्दगी और जीवट

से भरपूर नौजवान की ऐसे बूढे आदमी से तुलना करना, जिसमे कोई आशा और फुर्ती बाकी नही रही है, और जो गर्व के साथ, लेकिन बरबस, अपनी मौजूदा अवस्था के अन्त की ओर बढा चला जा रहा है।

मालूम होता था कि युद्ध के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका यूरोप की इस छूत से बच गया। दस वर्ष तक उसने खूब दौलत बटोरी। युद्ध-काल मे उसने साहूकारी के धन्धे पर से इग्लैण्ड की सवारी को धक्का देकर हटा दिया था। अब अमेरिका सारी दुनिया का बोहरा बन गया था और तमाम दुनिया उसकी कर्जदार थी। आर्थिक निगाह से समूची दुनिया पर उसका दबदबा छा गया था और शायद दुनिया से मिलनेवाले खिराज पर वह बडे आराम से ज़िन्दगी बसर करता रहता, जैसा कि पहले कुछ हद तक इग्लैण्ड ने किया था। लेकिन इसमे दो दिक्क़तें थीं। कर्जदार देश तग हालत मे थे और अपने कर्ज़ों का भुगतान नकद रकम मे नहीं कर सकते थे। वास्तव मे अगर उनकी हालत अच्छी भी होती तो भी वे इतनी बडी-बडी रकमें नकदी मे नही दे सकते थे। क़र्ज़ अदा करने की कोशिश सिर्फ एक ही तरह की जा सकती थी कि वे माल तैयार करते और उसे अमेरिका भेज देते। मगर अमेरिका को यह विचार पसन्द नही था कि विदेशी माल उसके यहाँ आये, इसलिए ऊँची-ऊँची दीवारें खडी कर दी गईं जिससे बाहर के ज़्यादातर माल का वहाँ आना रुक गया। फिर बेचारे कर्जदार देश कर्ज़ किस तरह चुकाते? तब एक नई सूझ-बूझ का उपाय सोच निकाला गया। अमेरिका उन्हें और रुपया उधार दे ताकि वे उसका ब्याज उसे अदा कर सकें। कर्ज़ों का भुगतान कराने का यह अनोखा तरीका था, क्योंकि इसका अर्थ यह था कि कर्ज़ देनेवाला रक़में-पर-रकमे उधार देता चला जाय और कर्ज़ बढता चला जाय। थोडे ही दिनो मे यह बिलकुल जाहिर हो गया कि ज़्यादा कर्जदार देश कर्ज से कभी भी बरी नही हो पायेंगे। और तब अमेरिका ने अचानक उधार देना बन्द कर दिया और सारा कागजी ढाँचा फौरन ही टूटकर गिर पडा। और फिर एक बहुत ही अजीब बात हुई। अमेरिका, मालदार अमेरिका, नाक तक सोने से भरा हुआ अमेरिका अचानक ही बेशुमार बेकार मज़दूरो का देश हो गया, और उद्योग की कलें चलना बन्द हो गईं, और मुफलिसी फैलने लगी।

जब मालदार अमेरिका पर ऐसी कडी चोट पडी तो यह खयाल किया जा सकता है कि यूरोप की क्या हालत थी। हरेक देश ने भारी-भारी आयात-चुंगियाँ लगाकर, और दूसरे उपायो से, और 'स्वदेशी माल खरीदो' का आन्दोलन करके विदेशी माल का आना रोकने की कोशिशें की। हर देश यह चाहता था कि बेचे ही बेचे, खरीदे कुछ नही, और खरीदे भी तो जितना हो सके उतना कम। इस तरह की चीज़ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हत्या किये बिना ज़्यादा दिन नही चल

सकती, क्योकि व्यापार और व्यवसाय तो विनिमय के सहारे चलते हैं।, यह नीति आर्थिक राष्ट्रवाद कहलाती है। यह तमाम देशो मे फैल गई और इसी तरह सरगर्म राष्ट्रवाद के दूसरे रूप भी फैले। जब व्यापार और उद्योग मन्दे पडने लगे, तो हर देश की दिक्कतें बढ़ने लगी, और बडी-बडी साम्राज्यशाही शक्तियो ने बाहर तो साम्राज्यशाही शोषण बढाकर और घर मे मजदूरो की मजूरियाँ घटाकर अपना जमा-खर्च बराबर करने का जतन किया। ससार के अलग-अलग भागो को निचोडने की इच्छा और कोशिशें करनेवाली मुकाबलेदार साम्राज्यशाहियाँ आपस मे दिन-पर-दिन ज्यादा टकराने लगी। इधर तो राष्ट्र-सघ निरस्त्रीकरण की पाखण्डभरी बातें कर रहा था, और हाथ-पर-हाथ धरे बैठा था, उधर युद्ध का भूत सिर पर चढता हुआ दिखाई दे रहा था। शक्तियाँ एक बार फिर उस मुठभेड के लिए आपस मे गुट-बन्दियाँ करने लगी, जो न टलनेवाली दिखाई पड रही थी।

मतलब यह है कि अब हम उस बडे ज़माने के अन्त के नज़दीक पहुँचते हुए मालूम होते हैं, जिसमे पश्चिमी यूरोप व अमेरिका मे पूंजीशाही सभ्यता का राज रहा और बाकी दुनिया पर उसकी प्रभुता छाई रही। युद्ध के बाद के पहले दस वर्षों मे ऐसा मालूम होने लगा था कि शायद पूंजीशाही फिर पनप जाय और एक और लम्बे अर्से के लिए जमकर खडी हो जाय। लेकिन इसके बाद के करीब तीन वर्षों ने, इसकी सम्भावना बहुत कम कर दी है। पूजीशाही राज्यो की आपसी मुक़ाबलेदारी तो बढते-बढते खतरनाक शक्ल ले ही रही है, पर साथ ही हर राज्य के भीतर वर्गों के बीच, और सरकार को चलानेवाले पूंजीशाही मालिक-वर्ग व मजदूरो के बीच, रगडे-झगडे दिन-पर-दिन तेजी पकडते जा रहे हैं। ज्यो-ज्यो ये हालतें बिगडती जाती हैं, मालिक-वर्ग उठते हुए मजदूर-वर्ग को कुचलने का आखिरी प्रयत्न जान लडाकर करता है। यह फासीवाद[1] का रूप धारण कर लेता है। फासीवाद वहाँ प्रकट होता है, जहाँ वर्गों का सघर्ष बहुत तेज़ हो गया हो और मालिक-वर्ग के लिए अपनी खास-रियायती हैसियत खोने का खतरा पैदा हो गया हो।

फासीवाद का जन्म महायुद्ध के कुछ ही दिन बाद इटली मे हुआ। वहाँ जब मज़दूर लोग काबू से बाहर हो रहे थे तब मुसोलिनी की नेतागिरी मे फासीवादियो ने सत्ता छीन ली, और तब से वे ही सत्ताधारी हैं। फासीवाद का अर्थ है नगी तानाशाही। वह लोकतन्त्री प्रणालियो को खुल्लमखुल्ला हिक़ारत की नज़र से देखता है। फासीवादी तरीके कम या ज्यादा रूप मे यूरोप के कई देशो मे फैल गये हैं और तानाशाही वहाँ बिलकुल साधारण घटना हो गई है। १९३३ ई० के शुरू मे जर्मनी

[1] Fascism.

मे भी फासीवाद की पूरी जीत हुई, जहाँ १९१८ ई० मे कायम हुए कम-उम्र-वाले गणराज्य का अन्त कर दिया गया और मजदूरो के आन्दोलन का नाश करने के लिए निहायत वहशियाना उपायो का सहारा लिया गया।

बस, यूरोप मे फासीवाद लोकतन्त्र और समाजवादी ताकतो के मुक़ाबले मे खडा हो गया, और साथ ही पूँजीशाही शक्तियाँ एक दूसरी को घूरने लगी और आपस मे लडने की तैयारियाँ करने लगीं। और, इसके अलावा, पूँजीशाही ने एक तरफ बहुतायत और दूसरी तरफ़ गरीबी का बडा ही निराला नजारा पेश कर दिया, एक तरफ तो अन्न सड रहा था और फेंका भी जा रहा था और नष्ट भी किया जा रहा था, और दूसरी तरफ जनता भूखो मर रही थी।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान यूरोप का एक प्राचीन देश स्पेन गणराज्य बन गया है और उसने अपने हैप्सबुर्ग-बूर्वो राजा को निकाल बाहर किया है। इस तरह यूरोप मे और दुनिया मे एक बादशाह और कम हो गया है।

महायुद्ध के बाद के चौदह वर्षों मे जो मार्के की घटनाएँ हुईं, उनमें से तीन का जिक्र मैं कर चुका हूँ पहली, सोवियत यूनियन का उदय, दूसरी, दुनिया पर अमेरिका का आर्थिक दवदबा और उसका मौजूदा सकट, और तीसरी, यूरोप की गुत्थी। इस जमाने की चौथी मार्के की घटना है पूर्वी देशो का पूरी तरह जाग उठना और आजादी हासिल करने के लिए सरगर्म कोशिशें करना। पूर्व अब साफतौर पर दुनिया की राजनीति मे दाखिल हो जाता है। इन पूर्वी राष्ट्रो को दो दर्जों मे बाँटा जा सकता है एक तो वे जो स्वाधीन समझे जाते हैं, और दूसरे वे जो किसी-न-किसी साम्राज्यशाही शक्ति के अधीन उपनिवेशी देश हैं। एशिया व उत्तरी अफ्रीका के इन तमाम देशो मे राष्ट्रीयता जोर पकड गई है, और आजादी की उमग जोरदार व सरगर्म हो गई है। इन सब देशो मे पश्चिमी साम्राज्यशाही के खिलाफ जोरदार आन्दोलन हुए है, और कुछ देशो मे बग़ावतें तक हुई हैं। इनमे से कई देशो को अपनी लडाई मे संकट के मौके पर सोवियत सघ से सीधी मदद मिली है, और इससे भी बहुत ज्यादा महत्व की बात यह है कि सोवियत सघ ने उनकी पीठ ठोकी है।

तुर्की का फिर से जिन्दा होना एक ऐसे राष्ट्र का बहुत ही मार्के का जिन्दा होना है, जो गिरा हुआ और बीता हुआ दिखाई देता था। और इसके लिए ज्यादा-तर तारीफ उस दिलेर नेता मुस्तफा कमालपाशा की है, जिसने उस वक्त भी घुटने टेकने से इन्कार कर दिया जब सब-कुछ उसके विरोध मे नजर आ रहा था। उसने न सिर्फ अपने देश के लिए आजादी हासिल की, बल्कि आज के जमाने का जामा पहनकर उसे इतना बदल दिया कि उसकी शक्ल ही दूसरी हो गई। उसने सुलतानियत का, और खिलाफत का, और स्त्रियो के पर्दे का, और ढेरो पुराने

रिवाजो का अन्त कर दिया। सोवियत की हिमायत और असली सहारे ने उसे बड़ी भारी मदद पहुँचाई। अंग्रेजो के रोब-दाब से छुटकारा पाने की कोशिश मे सोवियत ने ईरान को भी मदद दी। यहाँ भी रिज़ा खाँ नामक मजबूत व्यक्ति आगे आया, और आजकल यही ईरान का शासक है। इस अर्से मे अफगानिस्तान भी अपनी मुकम्मिल स्वाधीनता हासिल करने मे सफल हो गया।

अरब देश को छोड़कर बाकी सारे अरबी देश अभी तक विदेशियों के अधीन हैं। अरबी क़ौमो की एकता की मॉग अभी तक पूरी नही हुई है। अरब देश का ज्यादातर भाग सुलतान इब्न सऊद के मातहत स्वाधीन हो गया है। इराक कागजी तौर पर तो स्वाधीन है, मगर अमलीतौर पर वह अंग्रेजो के असर और इख्तियार के दायरे में है। फ़िलिस्तीन और ट्रान्स-जोर्डन ब्रिटिश 'फरमानी' हैं और सीरिया फ्रान्सीसी 'फरमानी' है। सीरिया मे फ्रान्सीसियो के खिलाफ अनोखी बहादुराना बगावत हुई और यह कुछ-कुछ सफल भी हुई। मिस्र मे भी अंग्रेजो के खिलाफ़ छोटे-छोटे विद्रोह हुए और बड़ी लम्बी लड़ाई चली। यह लड़ाई अभी तक जारी है, हालाँकि कहने को मिस्र स्वाधीन है, पर अंग्रेजो के सहारे टिका हुआ बादशाह वहाँ राज करता है। उत्तरी अफ्रीका के दूर पश्चिम में, मोरक्को मे भी अब्दुल करीम की रहनुमाई मे बड़ी बहादुराना लड़ाई हुई। यह स्पेनियो को तो निकाल बाहर करने मे सफल हो गया पर बाद मे फ्रान्सीसियो ने पूरा जोर लगाकर उसे कुचल दिया।

एशिया और अफ्रीका मे आजादी की ये लड़ाइयाँ जाहिर करती है कि पूर्व में दूर-दूर देशों मे नई चेतना किस तरह फैल रही थी और नर-नारियो के दिलो में किस तरह घर कर रही थी। दो देशो के नाम आगे आते हैं, क्योंकि उनका ससार-व्यापी महत्व है। ये चीन और भारत हैं। इनमे से एक भी देश मे होनेवाला कोई बुनियादी परिवर्तन ससार की बड़ी शक्तियो के समूचे ढॉचे पर असर डालता है, ससारी राजनीति में इसके जबर्दस्त नतीजे पैदा हुए बिना नही रह सकते। इसलिए चीन व भारत मे होनेवाली लड़ाइयाँ इन देशो की जनता की घरू लड़ाइयाँ न रहकर दुनिया के लिए बहुत ज्यादा महत्व रखती हैं। चीन की कामयाबी का अर्थ है एक ज़बर्दस्त राज्य का उदय, जो शक्तियो के मौजूदा नामधारी सन्तुलन को बिगाड देता है और जो साम्राज्यशाही शक्तियो के हाथो चीन के शोषण का अपने-आप अन्त कर देता है। भारत की सफलता का भी अर्थ है ऐसे बडे राज्य का प्रकट होना, जिसमे और कुछ नही तो बहुत ताकत भरी हुई है, और इसका अर्थ है ब्रिटिश साम्राज्यशाही का न टलनेवाला अन्त।

गत दस वर्षो के दौरान चीन मे कितने ही उतार-चढाव आये। कुओ-मिन-ताड़ और साम्यवादियो का गठ-बन्धन टूट गया, और तबसे आज तक चीन

तूफानो व ऐसे ही लुटेरे सरदारो का शिकार बना हुआ है, जिन्हे अक्सर उन विदेशी स्वार्थों मे सहायता मिलती रहती है, जो चाहते हैं कि चीन मे गडबड चलती रहे। पिछले दो वर्षो से तो जापान ने चीन पर सचमुच चढाई कर रक्खी है और कई प्रान्तो पर कब्ज़ा कर लिया है। यह गैर-रस्मी युद्ध अभी तक चल रहा है। इस बीच चीन के भीतरी भाग मे कई बडे-बडे इलाके साम्यवादी बन गये हैं और वहाँ कुछ-कुछ सोवियत के ढंग की हुकूमत कायम हो गई है।

भारत मे पिछले चौदह वर्ष बडे भरपूर रहे हैं और इस समय में यहाँ सरगर्म लेकिन अमन-पसन्द राष्ट्रीयता सामने आई है। महायुद्ध के कुछ ही दिन बाद, जब बडे-बडे सुधारो के इन्तज़ार मे उम्मीदें बाँधी जा रही थी, हमे पजाब मे फ़ौजी क़ानून और जलियाँवाला बाग का भयकर हत्याकाण्ड मिला। इस पर गुस्से से, और तुर्की व खिलाफत के साथ बुरे बर्ताव पर मुसलमानो मे सख्त नाराजी से, गाधीजी की रहनुमाई मे १९२०-२२ ई० का असहयोग-आन्दोलन हुआ। वास्तव मे, १९२० ई० से ही गाँधीजी भारतीय राष्ट्रीयता के सर्वमान्य नेता हो गये हैं। भारत मे यह गाधी-युग रहा है, और अहिंसक विद्रोह के उनके बिलकुल नये व कारगर तरीको ने इसी ख़ासियत की वजह से दुनिया-भर का ध्यान खीच लिया है। कुछ दिनो धीमी हलचलो व तैयारियो के बाद, १९३० ई० मे, जब काग्रेस ने स्वाधीनता की मजिल पर पहुँचने का पक्का इरादा कर लिया, तो आज़ादी की लडाई फिर शुरू हो गई। तबसे हमारे यहाँ सविनय अवज्ञा,[1] और जेलो का ठसाठस भरना, और बहुत-सी दूसरी बातें जो तुम्हें मालूम हैं, होती रही हैं। इस बीच ब्रिटिश नीति यह रही है कि नाम के सुधारो से कुछ लोगो को हो सके तो अपनी तरफ मिला लिया जाय, और राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने का यत्न किया जाय।

१९३१ ई० मे बरमा मे भूखो-मरते किसान-वर्ग का एक बडा भारी विद्रोह हुआ। इसे बडी बेरहमी से दबा दिया गया। जावा और इन्दोनेशिया मे भी विद्रोह हुआ। स्याम मे खलबली मची और कुछ परिवर्तन हुआ, जिससे बादशाह के अधिकारो को पाबन्द कर दिया गया। फ्रान्सीसी हिन्द-चीन मे भी राष्ट्रीयता आगे बढ़ रही है।

मतलब यह कि सारे पूर्व मे राष्ट्रीयता ज़ाहिर होने के लिए छटपटा रही है और कही-कही उसमे कुछ साम्यवाद का मेल हो गया है। इन दोनो के बीच कोई एक-जैसी चीज़ नही है, सिवाय इसके कि दोनो साम्राज्यशाही से एक-जैसी नफरत करते हैं। सोवियत सघ के भीतर और बाहर के तमाम पूर्वी देशो के साथ

[1] Civil Disobedience—शान्ति के साथ क़ानून तोड़ना—सिविल नाफ़रमानी।

सोवियत रूस की समझदार और खुले दिल से मदद देनेवाली नीति ने गैर-साम्य-वादी देशों तक में भी उसके बहुत सारे दोस्त पैदा कर दिये हैं।

हाल के वर्षों का एक और मार्के का पहलू यह रहा है कि स्त्रियाँ उन बहुत-से क़ानूनी, समाजी और रिवाजी बन्धनों से आज़ाद हो गई हैं, जिन्होंने उन्हें जकड़ रक्खा था। पश्चिम में तो महायुद्ध ने इस चीज को बड़ी तेजी से आगे बढ़ाया। और पूर्व में भी, तुर्की से लगाकर भारत और चीन तक, स्त्री-जाति उठकर चलने लगी है और राष्ट्रीय व समाजी हलचलों में निडर होकर भाग ले रही है।

ऐसा है यह समय जिसमें हम रह रहे हैं। हर रोज परिवर्तन के, और बड़ी-बड़ी घटनाओं के, राष्ट्रों की आपसी रगड़-झगड़ के, पूँजीवाद व समाजवाद और फासिज़्म व लोकतन्त्र के बीच वैर-भाव के, बढ़ती हुई ग़रीबी और मुफ़लिसी के समाचार सुनाई पड़ते हैं, और इन सबके ऊपर युद्ध की श्याम की छाया पड़ रही है।

इतिहास का यह दिल हिलानेवाला ज़माना है, और इसमें जीना और हिस्सा लेना सौभाग्य की बात है, फिर चाहे यह हिस्सा देहरादून-जेल में एकान्त-वास ही क्यों न हो।

: १५७ :

गणतन्त्र के लिए आयर्लैण्ड की लड़ाई

२८ अप्रैल, १९३३

अब हम हाल के वर्षों की महत्व की घटनाओं पर कुछ ज्यादा ब्यौरे के साथ विचार करेंगे। मैं आयर्लैण्ड से शुरू करूँगा। दुनिया के इतिहास और दुनिया की ताक़तों के लिहाज से यूरोप के दूर पश्चिम में यह छोटा-सा देश आज कोई बड़ा महत्व नहीं रखता है। मगर यह एक बहादुर और कभी न दबनेवाला देश है, और ब्रिटिश-साम्राज्य की सारी ज़बर्दस्त ताकत भी इसकी आत्मा को न तो कुचल सकी है और न इसे डराकर सिर झुकाने को मजबूर कर सकी है।

आयर्लैण्ड के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने होमरूल बिल का ज़िक्र किया था जिसे ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने महायुद्ध शुरू होने के ठीक पहले पास किया था। अल्स्टर के प्रोटेस्टैण्ट नेताओं ने और इंग्लैण्ड के अनुदार दल ने इसका विरोध किया था और इसके खिलाफ बाकायदा बगावत खड़ी की गई थी। इस पर, ज़रूरत पड़े तो अल्स्टर के खिलाफ़ लड़ने को, दक्षिणी आयरवासियों ने भी अपने 'राष्ट्रीय स्वयंसेवकों' का संगठन किया था। ऐसा मालूम हो रहा था कि आयर्लैण्ड में गृह-युद्ध टल नहीं सकता। ठीक इसी समय महायुद्ध शुरू हो गया और लोगों का सारा

ध्यान बेलजियम और उत्तरी फ्रान्स के मोर्चों की तरफ बँट गया। पार्लमेण्ट मे आयरी नेताओ ने युद्ध मे सहायता देने की अपनी तैयारी जाहिर की, मगर देश को इसमे कोई दिलचस्पी नही थी और वह सहायता देने को ज़रा भी तैयार नही था। इधर अल्स्टर के 'बागियो' को ब्रिटिश सरकार मे ऊँचे-ऊँचे ओहदे दे दिये गये, जिससे आयरनिवासी और भी ज्यादा नाराज़ हो गये।

आयर्लैण्ड मे नाराज़ी बढने लगी और यह भावना ज़ोर पकडने लगी कि इंग्लैण्ड के युद्ध मे यहाँ के लोगो को कुर्बानी का बकरा न बनाया जाय। जब यह प्रस्ताव किया गया कि इग्लैण्ड की तरह आयर्लैण्ड मे भी लामबन्दी जारी की जाय और स्वस्थ शरीरवाले तमाम नौजवानो को सेना मे जबरन भर्ती किया जाय, तो सारे देश मे विरोध की गुस्साभरी आग भडक उठी। जरूरत पडने पर आयर्लैण्ड भी इसे रोकने के लिए तैयार हो गया।

१९१६ ई० के ईस्टर[1] सप्ताह मे डबलिन मे बलवा हुआ और आयरी गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। कुछ दिन की लडाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने इसे कुचल दिया, और बाद मे इस चन्द-रोज़ा बगावत मे भाग लेनेवाले आयर्लैण्ड के कुछ सबसे बहादुर और होनहार नौजवानो को गोलियो से उडा दिया गया। यह बलवा, जो 'ईस्टर बग़ावत' के नाम से मशहूर है, ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई गम्भीर प्रयास नही गिना जा सकता। यह तो दुनिया को सिर्फ़ यह जतलाने का एक बहादु ना इशारा था कि आयर्लैण्ड अब भी गणराज्य के सपने देखता था और अपनी इच्छा से अग्रेज़ो की मातहती कबूल करने को कभी तैयार नही था। दुनिया को यह दिखाने के लिए इस बलवे को खडा करनेवाले नवयुवको ने जान-बूझकर अपनी जानें निछावर कर दी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार असफल होंगे, पर उन्हें आशा थी कि उनकी कुर्बानी बाद में फल देगी और आयर्लैण्ड को आज़ादी के नज़दीक ले जायगी।

इसी बलवे के दिनो के आसपास जर्मनी से आयर्लैण्ड को हथियार लाने की कोशिश करनेवाले एक आयरवासी को अग्रेज़ो ने गिरफ्तार कर लिया। यह व्यक्ति सर रोजर केसमैण्ट था; जो बहुत वर्षों तक इग्लैण्ड की विदेशी व्यापार-सेवा मे रह चुका था। केसमैण्ट पर लन्दन मे मुकदमा चलाया गया और उसे मौत की सजा दी गई। अदालत मे कैदी के कठघरे मे खडे होकर उसने जो बयान पढ़ा था वह बडा ही दिल खीचनेवाला और असर डालनेवाला था और उसमे आयरी आत्मा के जोशीले देश-प्रेम को खोलकर रख दिया गया था।

---

[1] Easter week—ईसाइयो का त्योहार, जो ईसा मसीह के स्वर्गारोहण की याद मे मनाया जाता है। यह सप्ताह प्रतिवर्ष २१ मार्च से २८ अप्रैल के बीच मे पडता है।

बलवा तो असफल रहा, पर उसकी हार मे ही उसकी शानदार जीत थी। इसके बाद ही ब्रिटिश सरकार ने जो दमन किया, और खासकर नौजवान नेताओ के एक दल को जो गोलियो से उडा दिया, इनका आयरवासी जनता पर गहरा असर पडा। ऊपर-ऊपर तो आयर्लैण्ड खामोश नजर आता था, लेकिन नीचे गुस्से की आग दहक रही थी, और जल्द ही यह 'शिनफेन' के रूप मे फूट पडी। शिनफ़ेन की विचारधारा वडी तेजी से फैलने लगी। आयर्लैण्ड के बारे मे अपने पिछले पत्र मे मैं इस शिनफेन का जिक्र कर चुका हूँ। शुरू मे तो इसे सफलता नही मिली; पर अव यह जगल की आग की तरह फैलने लगा।

महायुद्ध खत्म होने के बाद लन्दन की पार्लमेण्ट के लिए सारे ब्रिटिश आइल्स[1] मे चुनाव हुए। आयर्लैण्ड मे, शिनफेन दल ने, अग्रेजो के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करनेवाले पुराने राष्ट्रवादियो को हराकर, पार्लमेण्ट की बहुत ज्यादा सीटो पर कब्जा कर लिया। मगर शिनफेनी लोगो ने चुनाव इसलिए नहीं जीता था कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट की बैठको मे भाग लें। उनकी नीति बिलकुल दूसरे क़िस्म की थी, वे तो असहयोग और बायकाट मे विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिनफेनी लन्दन की पार्लमेण्ट मे नही गये, और उन्होंने १९१९ ई० में डबलिन मे अपनी खुद की गणतन्त्री विधान-सभा बना डाली। उन्होंने आयरी गणराज्य की घोषणा कर दी और अपनी विधान-सभा का नाम 'देइल आरन'[2] रखा। वे लोग यह मान कर चले थे कि यह अल्सटर-समेत समूचे आयर्लैण्ड के लिए है, पर अल्सटरवालों का इससे अलग रहना लाजिमी ही था। कैथलिक आयर्लैण्ड से उन्हें कोई प्यार नही था। 'देइल आरन' ने दि वैलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफिथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय सयोग से नये गणराज्य के ये दोनो सरदार इग्लैण्ड की जेलो में थे।

फिर एक बहुत ही निराली लडाई शुरू हुई। यह लडाई बेमिसाल थी और आयर्लैण्ड व इग्लैण्ड के बीच पिछली कितनी ही लडाइयो से बिलकुल अलग तरह की थी। निरे मुट्ठीभर युवक और युवतियाँ, अपने देशवासियो की सहानुभूति का सहारा पाकर, अपने से बे-अन्दाज ज्यादा बडी ताकत के खिलाफ लडे, उनके मुक़ाबले मे एक बडा और सगठित साम्राज्य खडा था। शिनफेनी लडाई एक क़िस्म का असहयोग थी, जिसमे कभी-कभी खून बह जाता था। उन्होंने ब्रिटिश सस्थाओ के बायकाट का प्रचार किया और जहाँ सम्भव हुआ वहाँ अपनी सस्थाएँ क़ायम कर दी, जैसे मामूली अदालतो की जगह पचायती अदालतें। देहात मे

[1] Brit sh Isles—इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड, आयर्लैण्ड, और उसके तटवर्ती टापुओ का सामूहिक नाम।

[2] Dail Eireann

पुलिस की चौकियो के खिलाफ लडाई के छापामार ढग का सहारा लिया गया। जेलो मे भूख-हडताले करके शिनफेन कैदियो ने अग्रेज़ सरकार को वहुत परेशान किया। सबसे मशहूर भूख-हडताल, जिसने आयर्लैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लॉर्ड मेयर टैरेन्स मैकस्विनी की हुई। जब उसे जेल मे डाला गया तो उसने जाहिर कर दिया कि वह जेल से जरूर छूटेगा, जिन्दा नही छूटा तो मरकर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसकी लाश जेल से बाहर निकली।

माइकेल कॉलिन्स शिनफेन बगावत के नामी सगठन करनेवालो मे गिना जाता है। शिनफेन की चतुर चालो ने आयर्लैण्ड मे ब्रिटिश सरकार को बहुत-कुछ अपग बना दिया, और देहात के ज़िलो मे तो उसकी हस्ती ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनो तरफ हिंसा का ज़ोर बढने लगा और कई बार अदले के बदले लिये गए। आयर्लैण्ड मे लडने के लिए खास ब्रिटिश फौजी दल भर्ती किया गया। इस दल के सिपाहियो को बडी ऊँची-ऊँची तनख्वाहें दी गईं और इसमे महायुद्ध की सेनाओ से हाल ही मे छुट्टी पाये हुए वे लोग थे जो बहुत खतरनाक और खूनी समझ जाते थे। अपनी वर्दियो के रग के कारण यह दल 'काला व भूरा'[1] के नाम से मशहूर हो गया। इस काले व भूरे दल ने बेदर्द हत्याओ का जगी दौर शुरू कर दिया। ये लोग शिनफेन को आतकित करके सिर झुकाने को मजबूर करने के इरादे से सोते हुए लोगो को गोलियो से मार देते थे। पर शिनफेनो ने सिर नही झुकाया और अपना छापामार युद्ध जारी रक्खा। इस पर 'काले व भूरे' दल ने खूनी बदले निकाले, और समूचे गाँव-के-गाँव और शहरो के बडे हिस्से जलाकर राख कर डाले। आयर्लैण्ड लडाई का बडा भारी मैदान बन गया, जिसमे दोनो पक्ष खून-खराबी और बर्बादी मे एक-दूसरे से होड लगाने लगे। एक पक्ष के पीछे तो साम्राज्य का सगठित बल था, दूसरे के पीछे मुट्ठी भर लोगो का लोहे-जसा मजबूत इरादा था। १९१९ ई० से अक्तूबर, १९२१ ई० तक, दो वर्ष यह आंग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरम्यान, १९२० ई० मे, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने फुर्ती से नया होमरूल बिल पास कर दिया। युद्ध से पहले पास किया गया पुराना विधान, जिसकी वजह से अल्सटर मे विद्रोह की नौबत पहुँच गई थी, चुपचाप मसूख कर दिया गया। नये बिल के मुताबिक आयर्लैण्ड के दो टुकडे कर दिये गए—एक तो अल्सटर या उत्तरी आयर्लैण्ड, और दूसरा देश का बाकी भाग, और दोनो के लिए अलग-अलग पार्लमेण्टें रक्खी गईं। आयर्लैण्ड वैसे ही छोटा-सा देश है, इसलिए बँटवारा होने पर ये दोनो भाग एक छोटे-से टापू के नन्हे-नन्हे इलाके हो गये। उत्तरी भाग के लिए

[1] Black and Tan.

अल्स्टर में नई पार्लमेण्ट बना दी गई, पर दक्षिण में, यानी आयरलैण्ड के बाकी भाग में, होमरूल कानून पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। ये सब तो सिनफेनी बगावत में मशगूल थे।

अक्तूबर, १९२१ ई० में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री लॉयड जॉर्ज ने सिनफेनों से आरज़ी-सुलह की अर्ज़ी की ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके, और उनकी बात मान ली गई। इसमें शक नहीं कि अपने ज़बर्दस्त साधनों से, और सारे आयरलैण्ड को बर्बाद बनाकर, इंग्लैण्ड अन्त में सिनफेनों को कुचल ही डालता, पर आयरलैण्ड में इस नीति के सबब से वह अमेरिका व दूसरे देशों में बहुत बदनाम होता जा रहा था। लड़ाई जारी रखने के लिए अमेरिका में रहनेवाले और ब्रिटिश उपनिवेशों तक में रहनेवाले आयरी लोगों ने आयरलैण्ड को खूब धन भेजा। लेकिन इधर सिनफेन लोग भी पस्त हो गये थे, क्योंकि उनपर बड़ा भारी ज़ोर पड़ा था।

अंग्रेज और आयरी प्रतिनिधि लन्दन में मिले, और दो महीने की चर्चा व बहस के बाद दिसम्बर, १९२१ ई० में एक काम-चलाऊ समझौते पर दोनों के दस्तखत हो गये। इसमें आयरी गणराज्य को तो नहीं माना गया, पर दो-एक मामलों को छोड़कर इससे आयरलैण्ड को उतनी ही ज्यादा आज़ादी मिल गई जितनी किसी उपनिवेश को अबतक हासिल थी। इतने पर भी आयरी प्रतिनिधि इसे मंजूर करने को राजी नहीं थे, और उन्होंने तभी अपनी मंजूरी दी जब इंग्लैण्ड ने फ़ौरन और भयंकर युद्ध की धमकी की तलवार उनके सिर पर चलाई।

इस सन्धि के ऊपर आयरलैण्ड में ज़बर्दस्त खींच-तान हुई। कुछ लोग इसके समर्थक थे, दूसरे लोग घोर विरोधी थे। इस सवाल पर सिनफेन दल के दो टुकड़े हो गये। अन्त में जाकर डेल आयरन ने इस सन्धि को मंजूर कर लिया, और 'आयरिश आज़ाद राज्य' की स्थापना हुई, जो आयरलैण्ड में सरकारी तौर पर 'साओर्स्टाट आयरन' कहलाता है। मगर इसके नतीजे से सिनफेन दल के पुराने साथियों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। डेल आयरन का अध्यक्ष दि वैलेरा इंग्लैण्ड के साथ सन्धि के खिलाफ था, और दूसरे बहुत लोग भी खिलाफ थे, उधर माइकेल कॉलिन्स व दूसरे लोग पक्ष में थे। देश में कई महीनों तक गृह-युद्ध जोरों के साथ चलता रहा, और विपक्षियों को दबाने के लिए सन्धि व आज़ाद राज्य के समर्थकों को ब्रिटिश फ़ौजों ने मदद दी। गणराज्यवादियों ने माइकेल कॉलिन्स को गोली से मार दिया, और इसी तरह गणराज्यवादी नेताओं को आज़ाद राज्य के हामियों ने गोलियों से मार दिया। सारी जेलें गणराज्यवादियों से भर गईं। यह सारा गृह-युद्ध और आपसी वैर आयरलैण्ड की बहादुराना आज़ादी की

लडाई का बहुत ही ज्यादा दुखदायी नतीजा था। जहाँ अंग्रेजो के हथियार कुन्द पड गये थे वहाँ उनकी नीति ने विजय पाई। एक आयरवासी दूसरे आयरवासी से लड रहा था, और इग्लैण्ड इस नये शुगूफे से मन-ही-मन खुश होता हुआ कुछ हद तक एक पक्ष को चुपचाप सहायता दे रहा था और खडा-खडा तमाशा देख रहा था।

गृह-युद्ध धीरे-धीरे ठण्डा पड गया, पर गणराज्यवादी फिर भी आज़ाद राज्य को कबूल करने के लिए तैयार नही हुए। यहाँतक कि वे गणराज्यवादी भी, जो 'देइल' (आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट) मे चुने गये थे, उसकी बैठको मे हाज़िर होने से इन्कारी हो गये, क्योकि वफादारी की जिस शपथ मे बादशाह का नाम आता था उसे लेने मे उन्हें ऐतराज़ था। इसलिए दि वैलेरा व उसका दल 'देइल' से दूर रहे और दूसरे आज़ाद राज्य दल ने, जिसका नेता आज़ाद राज्य का अध्यक्ष कॉस्ग्रेव था, गणराज्यवादियो को तरह-तरह से कुचलने का यत्न किया।

आयरी आज़ाद राज्य के बनने से इग्लैण्ड की साम्राज्यवादी नीति मे दूर तक असर डालनेवाले नतीजे पैदा हो गये—आयरी सन्धि से आयर्लैण्ड को उससे कही ज्यादा स्वाधीनता मिल गई थी, जितनी उस समय कानूनन दूसरे उपनिवेशों को हासिल थी। ज्योही आयर्लैण्ड को यह मिली, त्योही दूसरे उपनिवेशो ने भी उसे आपसे-आप हासिल कर लिया, और उपनिवेशो के दर्जे के विचार मे परिवर्तन पैदा हो गया। इग्लैण्ड और उपनिवेशो के जो कई इम्पीरियल सम्मेलन हुए, उनके नतीजे से उपनिवेशो की ज्यादा स्वाधीनता की दिशा मे और भी परिवर्तन हुए। अपने ज़ोरदार गणराज्य आन्दोलनवाला आयर्लैण्ड हमेशा मुकम्मिल स्वाधीनता की तरफ गाडी खीचता रहता था। बोअरो के बहुमतवाले दक्षिण अफ्रीका का भी यही हाल था। इस तरह उपनिवेशो की स्थिति बदलती और सुधरती चली गई, और वे राष्ट्रो के ब्रिटिश कॉमनवैल्थ मे इग्लैण्ड की बराबरी के राष्ट्र माने जाने लगे। देखने-सुनने मे यह बडा भला लगता है, और इसमे शक नही कि एक-से राजनीतिक दर्जे की ओर यह बढता हुआ क़दम है। पर यह बराबरी जितनी कल्पना मे है उतनी असल मे नही है। आर्थिक लिहाज़ से उपनिवेश इग्लैण्ड और ब्रिटिश पूँजी के साथ बँधे हुए है, और उन पर आर्थिक दबाव डालने के बहुत-से रास्ते हैं। साथ-ही-साथ, ज्यो-ज्यो उपनिवेशो का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो उनके आर्थिक स्वार्थ इग्लैण्ड के आर्थिक स्वार्थों से टकरानेवाले सबब बनने लगते हैं। इस तरह साम्राज्य धीरे-धीरे कमज़ोर पडता जाता है। सच तो यह है कि साम्राज्य के टूट-फूट जाने का खतरा सिर पर सवार होने की वजह से ही इग्लैण्ड बन्धनो को ढीला करने पर और उपनिवेशो के साथ बराबरी का

राजनीतिक दर्जा कबूल करने के लिए रज़ामन्द हुआ। मौके पर इतना आगे बढ़कर उसने बहुत-कुछ बचा लिया। लेकिन ज़्यादा दिन के लिए नही ? उपनिवेशो को इग्लैण्ड से अलगानेवाली ताकतें लगातार काम कर रही हैं, खासतौर पर वे आर्थिक ताकतें हैं, और ये ताकतें साम्राज्य को लगातार कमज़ोर करने के सबब बन रही हैं। इस वजह से, और इग्लैण्ड के यकीनी पतन की वजह से, मैंने तुम्हें लिखा था कि ब्रिटिश साम्राज्य धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है। जब एक-सी परम्पराएँ व संस्कृति और नस्ली एकता के होते हुए भी उपनिवेशो का इग्लैण्ड के साथ ज्यादा दिनो तक बँधे रहना मुश्किल है, तो फिर भारत का उसके साथ बँधे रहना और भी ज्यादा मुश्किल होना चाहिए। क्योंकि भारत के आर्थिक हितो की तो ब्रिटिश स्वार्थों के साथ सीधी टक्कर है, और किसी एक को दूसरे के सामने झुकना ही पडेगा। इसलिए यह सम्भव नही कि आज़ाद भारत इग्लैण्ड के साथ बँधे रहना मजूर कर लेगा, क्योंकि इसका लाज़िमी नतीजा है भारत की आर्थिक नीति का इग्लैण्ड की आर्थिक नीति की तावेदार बन जाना।

इस तरह ब्रिटिश कॉमनवैल्थ का अर्थ है राजनीतिक लिहाज़ से आज़ाद इकाइयाँ, लेकिन इस समूह का मतलब सिर्फ आज़ाद उपनिवेशो से है, बेचारे पराधीन भारत से नही। परन्तु ये ईकाइयाँ अभी तक इग्लैण्ड के आर्थिक समूह साम्राज्य के अधीन हैं। आयरी सन्धि का अर्थ था ब्रिटिश पूँजी के हाथो कुछ हद तक आयर्लैण्ड का शोषण जारी रहना, और गणराज्य के लिए आन्दोलन के पीछे असली झगडा यही था। दि वैलेरा और गणराज्यवादी लोग ज़्यादा गरीब किसानो के, निचले मध्यम-वर्गों के, और गरीब दिमागी लोगो के, प्रतिनिधि थे। कॉस्ग्रेव और आज़ाद राज्यवाले धनवान मध्यम-वर्ग के और धनवान किसानो के प्रतिनिधि थे, और इन दोनो वर्गों के हित अग्रेज़ी व्यापार मे थे, और अग्रेज़ी पूँजी का हित इसमे था।

कुछ समय बाद दि वैलेरा ने अपने दाँव-पेच बदलने का फैसला किया। वह और उसका दल डेइल आरन मे गये और उन्होंने वफादारी की शपथ भी ले ली, पर साथ ही यह ज़ाहिर कर दिया कि यह शपथ उन्होने सिर्फ रस्म पूरी करने के लिए ली है, और अपना बहुमत होते ही वे उसे हटा देंगे। १९३२ ई० के शुरू मे होनेवाले चुनावो मे दि वैलेरा को आज़ाद राज्य की पार्लमेण्ट मे यह बहुमत हासिल भी हो गया और उसने फौरन ही अपने कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर दिया। गणराज्य के लिए लडाई तो अब भी चल रही थी पर लडाई का ढग बदल गया था। दि वैलेरा ने वफादारी की शपथ को मिटा देने का इरादा ज़ाहिर किया और ब्रिटिश सरकार को यह इत्तला भी दे दी कि आगे से वह ज़मीन की सालाना किस्तें नही देगा। मेरा खयाल है कि इन सालाना किस्तों का ज़िक्र मैं

पहले कर चुका हूँ। जब आयर्लैण्ड की ज़मीनें बडे-बडे ज़मीदारो से ले ली गई थीं तब उन्हें इनका भरपूर मुआवज़ा दिया गया था, और इसका रुपया हर साल उन किसानो से वसूल किया जाता था, जिन्हें ये ज़मीनें दी गई थी। यह सिलसिला शुरू हुए एक पीढी से ज़्यादा गुज़र चुकी थी, लेकिन यह अभी तक जारी था। दि वैलेरा ने कह दिया कि आगे यह एक पाई भी न देगा।

इस पर इग्लैण्ड मे फौरन ही वावैला मच गया और ब्रिटिश सरकार से झगडा ठन गया। अव्वल तो ब्रिटिश सरकार ने यह ऐतराज़ किया कि दि वैलेरा ने वफ़ादारी की शपथ हटाकर १९२१ ई० की आयरी सन्धि को तोडा है। दि वैलेरा ने कहा कि उपनिवेशो के बारे मे की गई घोषणा के मुताबिक़ अगर आयर्लैण्ड और इग्लैण्ड बराबर के राष्ट्र हैं और अगर हरेक को अपना सविधान बदलने की आज़ादी है, तो ज़ाहिर है कि आयर्लैण्ड को सविधान मे से वफादारी की शपथ को बदलने या निकाल देने का अधिकार है। इसलिए अब १९२१ ई० की सन्धि का सवाल ही नही उठता। अगर आयर्लैण्ड को यह अधिकार नही है, तो उस हद तक वह इग्लैण्ड के मातहत है।

दूसरे, सालाना किस्तो के बन्द किये जाने पर तो ब्रिटिश सरकार ने और भी ज़ोर-शोर से विरोध किया और कहा कि यह अहदनामे का और फ़र्ज़ की ज़िम्मेदारी का बहुत बेहूदा उल्लघन है। दि वैलेरा ने इस बात को नही माना, और इस पर कानूनी दलीलें हुईं। पर इसके पचडे मे हम नही पडना चाहते। जब सालाना क़िस्तें चुकाने का समय आया और वे नही दी गईं, तो इग्लैण्ड ने आयर्लैण्ड के खिलाफ नया युद्ध छेड दिया। यह आर्थिक युद्ध था। इग्लैण्ड मे आनेवाले आयरी माल पर भारी आयात चुंगियाँ लगा दी गई, ताकि इग्लैण्ड को अपनी उपज भेजनेवाले आयरी किसान बर्बाद हो जायँ और आयरी सरकार समझौता करने पर मजबूर हो जाय। जैसी कि इग्लैण्ड की आदत है, उसने दूसरे पक्ष को मजबूर करने के लिए अपना सोटा घुमाया, पर इस किस्म के तरीक़े अब पहले की तरह कारगर नही रह गये थे। आयरी सरकार ने इसके जवाब मे आयर्लैण्ड आनेवाले ब्रिटिश माल पर चुगियाँ लगा दी। इन आर्थिक युद्ध ने दोनो तरफ के किसानो और उद्योगो को भारी नुकसान पहुँचाया। परन्तु अपमानित राष्ट्रीयता और शान का खयाल दोनो मे से किसी भी एक पक्ष के झुकने के रास्ते मे रोडा बन गये।

१९३३ ई० के शुरू मे आयर्लैण्ड मे नये चुनाव हुए, और इनमे जब दि वैलेरा पहले से भी ज़्यादा सफल रहा और उसका पहले से भी ज़्यादा बहुमत हो गया तो ब्रिटिश सरकार को बहुत खिझलाहट हुई। इसका मतलब यह था कि आर्थिक शिकजा कसने की ब्रिटिश नीति सफल नही हुई। मज़ेदार बात यह है कि इधर तो

ब्रिटिश सरकार कर्ज़ न चुकाने में आयरवासियों की बदमाशी की पुकार करती है, उधर वह खुद अमेरिका के कर्ज़ नहीं चुकाना चाहती।

बस, आज दि वैलेरा आयरी सरकार का अध्यक्ष है और वह एक-एक पग बढ़ाता हुआ अपने देश को गणराज्य की ओर ले जा रहा है। वफ़ादारी की शपथ तो कभी की खत्म हो गई; सालाना किस्तों का भुगतान सदा के लिए बन्द कर दिया गया है, गवर्नर-जनरल का पुराना पद भी तोड़ दिया गया है, और इस पद पर, जिसका अब कोई महत्व नहीं रह गया है, दि वैलेरा ने अपने दल के एक आदमी को मुक़र्रर कर दिया है। गणराज्य के लिए लड़ाई चल रही है, पर अब उसके ढंग बदल गये हैं; सदियों पुरानी आंग्ल-आयरी कशमकश जारी है और आज इसने आर्थिक युद्ध का रूप ले लिया है।

आयर्लैण्ड के जल्द ही गणराज्य बन जाने के आसार हैं। पर एक बड़ी रुकावट रास्ते में अटकी हुई है। दि वैलेरा और उसके दल की सबसे बड़ी इच्छा यह है कि अल्स्टर समेत अखण्ड आयर्लैण्ड, एक गणराज्य बन जाय, और समूचे टापू की एक केन्द्रीय सरकार हो। आयर्लैण्ड इतना छोटा है कि उसके दो टुकड़े नहीं किये जा सकते। दि वैलेरा के सामने बड़ी समस्या यह है कि अल्स्टर को बाकी आयर्लैण्ड के साथ किस तरह जोड़ा जाय। जबर्दस्ती से यह काम नहीं हो सकता। १९१४ ई० में ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोशिश से बगावत होते-होते रह गई थी। और आज़ाद राज्य तो अल्स्टर को मजबूर कर ही नहीं सकता, न ऐसा करने का उसका सपने में भी कोई इरादा है। दि वैलेरा को आशा है कि वह अल्स्टर की सद्भावना हासिल कर लेगा और इस तरह दोनों को एक कर देगा। पर आशा में ज़रूरत से ज्यादा आशावाद दिखाई देता है, क्योंकि प्रोटेस्टेण्ट अल्स्टर का कैथलिक आयर्लैण्ड की तरफ़ कट्टर अविश्वास अभी तक चला आ रहा है।

टिप्पणी (१९३८ ई०)—कुछ साल चलने के बाद दोनों देशों के बीच यह आर्थिक युद्ध दोनों देशों के एक आपसी राज़ीनामे के ज़रिये खत्म कर दिया गया। यह राज़ीनामा, जिससे सालाना किस्तों की समस्या का और रुपये-पैसे तथा दूसरे देने-पावने का निपटारा हो गया, आयरी आज़ाद राज्य के लिए बहुत फायदेमन्द रहा। दि वैलेरा ने गणराज्य की तरफ़ और भी कदम बढ़ाये हैं, और ब्रिटिश सरकार और ताज से कितने ही रिश्ते तोड़ दिये हैं। आयर्लैण्ड का नाम अब 'आयर' रख दिया गया है। आयर के सामने सबसे ज्यादा ज़रूरी सवाल देश की एकता है, जिसमें अल्स्टर भी शामिल हो। पर अल्स्टर अभी राज़ी नहीं है।

: १५८ :

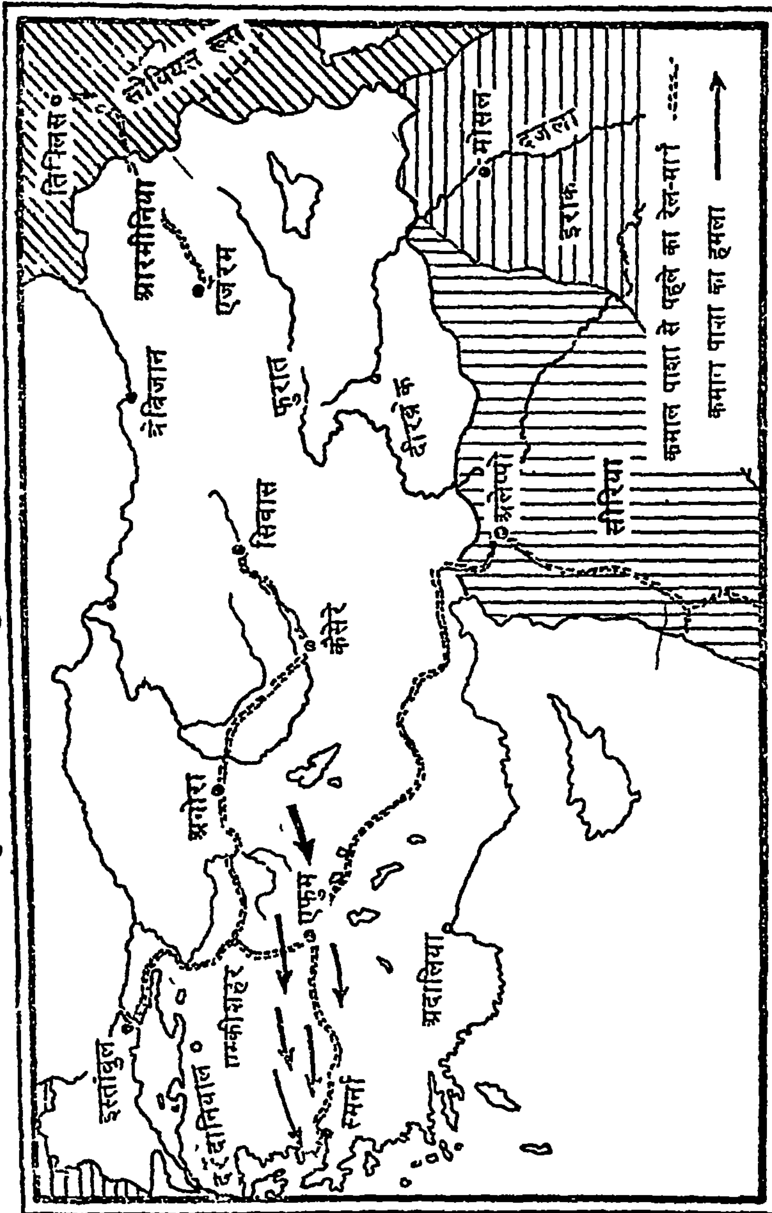
राख के ढेर से नये तुर्की का उदय

७ मई, १९३३

पिछले पत्र मे मैं गणराज्य के लिए आयर्लैण्ड की बहादुराना लडाई का हाल लिख चुका हूँ। आयर्लैण्ड का तुर्की से कोई वास्ता नहीं है, लेकिन आज मुझे नये तुर्की का ध्यान आ रहा है, इसलिए तुम्हें उसीके बारे मे लिखना चाहता हूँ। आयर्लैण्ड की ही तरह तुर्की ने भी जीतने के कोई आसार न होने पर भी हैरत में डाल लेनेवाला डटकर मुकाबला किया। हम देख चुके हैं कि महायुद्ध के नतीजों से रूस, जर्मनी व आस्ट्रिया, ये तीन साम्राज्य गायब हो गये। तुर्की मे हम चौथे बडे साम्राज्य, यानी उस्मानी साम्राज्य, का अन्त देखते हैं। उस्मान और उसके उत्तराधिकारियो ने ६०० वर्ष पहले इस साम्राज्य की नीव डाली थी और इसका निर्माण किया था। इसलिए इनका राजवश रूस के रोमोनॉफ घराने से या प्रशिया और जर्मनी के हॉयनत्सालर्न घराने से बहुत पुराना था। ये तेरहवीं सदी के शुरूआती हैप्सवर्गों के जमाने के थे, और इन दोनो प्राचीन घरानों का एक साथ पतन हुआ।

महायुद्ध मे जर्मनी की हार से कुछ दिन पहले ही तुर्की का ढेर हो गया, और उसने मित्र-राष्ट्रो के साथ लडाई वन्द करने का मामला अलग तय किया। देश वहुत-कुछ टूक-टूक हो चुका था, साम्राज्य मिट गया था, और सरकार की व्यवस्था टूट चुकी थी। इराक़ और अरबी देश तुर्की से बिलकुल कट गये थे और बहुत-कुछ मित्र-राष्ट्रो के अधीन थे। खुद कुस्तुन्तुनिया पर भी मित्र-राष्ट्रो का क़ब्ज़ा था, और विजयी ताकत के अहकारी निशान ब्रिटिश जगी-जहाज वास्फोरस मे, इस महान् शहर के सामने ही, लगर डाले पडे थे। हर जगह अंग्रेजी, फ्रान्सीसी व इतालवी सिपाही नजर आते थे, और ब्रिटिश खुफिया विभाग के जासूस सब जगह गीदड़-गश्त लगा रहे थे। तुर्की किले ढाये जा रहे थे, और बची-खुची तुर्की सेना के हथियार रखवाये जा रहे थे। नौजवान तुर्की नेता अनवर पाशा और तलअत बेग वग़ैरा, दूसरे देशो को भाग गये थे। सुलतान की गद्दी पर कठपुतली खलीफ़ा वहीदुद्दीन बैठा हुआ था, जो इस तबाही मे से अपने-आपको बचाने पर तुला हुआ था, उसका देश भले ही चूल्हे मे जाय। ब्रिटिश सरकार की पसन्द का एक और कठपुतली व्यक्ति वज़ीर आज़म बनाया गया। तुर्की पार्लमेण्ट तोड दी गई।

१९१८ ई० के अन्त मे और १९१९ ई० के शुरू मे, तुर्की के अन्दर इस तरह की हालतें थी। तुर्क लोग बिलकुल बेदम हो गये थे और उनके हौसले बिलकुल पस्त हो चुके थे। तुम्हे याद होगा कि उन्हें कितनी जबर्दस्त मुसीबतें सहनी पडी थीं।



मुस्तफा कमाल तुर्की को जगाता है

महायुद्ध के चार वर्षों से पहले बलकानी युद्ध हुआ था, और उससे भी पहले इटली के साथ युद्ध हुआ था, और यह सब नौजवान तुर्कों की उस क्रान्ति के बिलकुल पीछे-पीछे लगा हुआ आया था, जिसने सुलतान अब्दुल हमीद को हटाकर पार्लमेण्ट कायम कर दी थी। तुर्कों ने हमेशा अद्भुत धीरज का परिचय दिया है, लेकिन करीब आठ साल के लगातार युद्ध ने उनकी कमर तोड़ दी, ऐसी हालत में किसी भी कौम की कमर टूट जाती। इसलिए वे सारी उम्मीदें छोड़ बैठे और अपने-आपको बदनसीबी के हवाले करके मित्र-राष्ट्रों के फ़ैसले का इन्तज़ार करने लगे।

दो साल पहले युद्ध के दौरान, मित्र-राष्ट्रों ने इटली के साथ एक गुप्त करार कर लिया था, जिसमें उसे स्मर्ना और एशिया-कोचक का पश्चिमी भाग देने का वायदा था। इससे पहले कागज़ी तौर पर कुस्तुन्तुनिया रूस को भेंट कर दिया गया था और अरबी देशों का मित्र-राष्ट्रों ने आपस में बँटवारा करना तय कर लिया था। एशिया कोचक इटली को दिये जाने के बारे में इस आखिरी गुप्त करार पर रूस की रजामन्दी जरूरी थी। पर इटली की बदकिस्मती से, ऐसा होने के पहले ही, बोलशेविकों के हाथ में सत्ता आ गई। इसलिए यह करारनामा मंज़ूर नहीं हो पाया, जिसकी वजह से इटली मित्र-राष्ट्रों से बहुत कुढ़ा और नाराज़ हुआ।

बस, उस वक्त यह हालत थी। मालूम होता था कि बुज़दिल सुलतान से लगाकर नीचे तक सारे तुर्क गिर चुके हैं। 'यूरोप का बीमार' आखिरकार दम तोड़ चुका था, कम-से-कम नज़र यही आता था। लेकिन कुछ तुर्क ऐसे भी थे, जो क़िस्मत या परिस्थिति के आगे सिर झुकाने को तैयार नहीं थे, भले ही मुक़ाबला करना बिलकुल बे-उम्मीद दिखाई देता हो। कुछ दिनों तक तो वे चुपचाप और खुफिया तौर पर अपना काम करते रहे। वे उन्हीं गोदामों से हथियार और सामान इकट्ठा करते रहे जो सचमुच मित्र-राष्ट्रों के कब्ज़े में थे, और इन्हें जहाज़ों में भरकर काला सागर के रास्ते से अनातोलिया (एशिया-कोचक) के भीतरी भाग को रवाना करते रहे। इन खुफिया कार्रवाई करनेवालों में मुस्तफ़ा कमाल-पाशा मुख्य था, जिसका नाम मेरे पिछले कई पत्रों में आ चुका है।

अंग्रेज़ लोग मुस्तफा कमाल को फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। वे उसपर शुबहा करते थे और उसे गिरफ्तार करना चाहते थे। सुलतान भी, जो पूरी तरह अंग्रेज़ों के अँगूठे के नीचे दबा हुआ था, उसे नहीं चाहता था। मगर उसने सोचा कि कमाल को भीतर की तरफ़ बहुत दूर भेज देना बिना खतरे की चाल होगी, इसलिए कमालपाशा को पूर्वी अनातोलिया की सेना का इन्स्पेक्टर-जनरल मुक़र्रर कर दिया गया। सच पूछो तो वहाँ देख-भाल करने के लिए कोई सेना ही नहीं थी, और असल में कमालपाशा से यह चाहा गया था कि वह तुर्की सिपाहियों के

हथियार रखवाने का काम करे। कमाल के लिए यह बढ़िया मौका था, उसने तपाक से इसे मजूर कर लिया और वह फौरन रवाना हो गया। उसका चला जाना अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसके रवाना होने के कुछ ही घण्टे बाद सुलतान की मति पलट गई। कमाल के डर ने अचानक उसे दबा दिया, और आधी रात गये उसने अग्रेजो के पास खबर भेजी कि वे कमाल को रोक लें। पर चिडिया तो उड चुकी थी।

कमाल पाशा और कुछ गिने-चुने दूसरे तुर्क अनातोलिया मे राष्ट्रीय पैमाने पर मुकाबले की तैयारी करने लगे। शुरू-शुरू मे वे चुपचाप और चौकस होकर चले, और वहाँ पडे हुए फौजी अफसरो को अपनी तरफ मिलाने का यत्न करने लगे। ज़ाहिरा तौर पर तो वे सुलतान के कारकुनो की तरह काम करते थे,पर कुस्तुन्तुनिया से आनेवाले आदेशो पर वे कोई ध्यान नही देते थे। घटनाचक्र उनकी मदद कर रहा था। काकेशिया मे अग्रेज़ो ने आर्मीनिया का गणराज्य बनाया था और तुर्की के पूर्वी प्रान्त उसमे मिला देने का वायदा किया था। (आज़कल आर्मीनिया का गणराज्य सोवियत सघ का भाग है)। आर्मीनियनो और तुर्कों मे कट्टर दुश्मनी थी, और बीते वर्षों मे कभी एक ने और कभी दूसरे ने बहुतेरे हत्याकाण्ड किये थे। जबतक तुर्कों का दबदबा था तबतक तो इस खूनी खेल मे उनकी ही जीत होती रही, खासकर अब्दुल हमीद के राज में। इसलिए अब तुर्कों को आर्मीनियनो के मातहत रक्खे जाने का अर्थ था उनका सर्वनाश। इस तरह मरने से उन्होंने लडना अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी प्रान्तो के तुर्क कमाल पाशा की अपीलो और जोश दिलानेवाली बातो को बडे चाव के साथ सुनने को तैयार थे।

इसी बीच बहुत महत्व की दूसरी घटना ने तुर्कों को उभाड दिया। १९१९ ई० के शुरू मे इतालवी लोगो ने एशिया-कोचक मे अपने सिपाही उतारकर फ्रान्स व इग्लैण्ड के साथ किये गए उस खुफिया करार को पूरा करना चाहा, जो अमल मे नही आ पाया था। इग्लैण्ड और फ्रान्स ने इसे बिलकुल पसन्द नही किया, उस वक्त वे इतालवी लोगो को बढावा नही देना चाहते थे। जब उन्हें और कुछ न सूझा तो वे इसपर राजी हो गये कि स्मर्ना पर यूनानी सिपाही कब्ज़ा कर लें, ताकि इतालवी लोगो की पेशबन्दी हो जाय।

इस काम के लिए यूनानियो को क्यो पसन्द किया गया? फ्रान्सीसी और अग्रेज सिपाही लडाई से थक चुके थे और गदर पर उतारू थे। वे फौजी सेवा से छुटकारा पाना चाहते थे और जितनी जल्दी हो सके घर लौट जाना चाहते थे। इधर यूनानी तैयार थे, और यूनानी सरकार एशिया-कोचक व कुस्तुन्तुनिया दोनो को अपने राज्य मे मिलाने के और इस तरह पुराने बिज़न्तीन साम्राज्य मे फिर से

जान डालने के सपने देख रही थी। दो बड़े काबिल यूनानी लॉयड जॉर्ज के दोस्त थे, जो उन दिनो इग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री था और मित्र-राष्ट्रो की मण्डली मे जिसका बहुत ज़ोर था। इनमे से एक तो यूनान का प्रधान-मन्त्री वेनिज़ेलोस था। दूसरा सर वसील ज़हरॉफ के नाम से मशहूर एक बडा अजीब व्यक्ति था, हालाँकि उसका मूल नाम वेसीलिओस ज़करियास था। १८७७ ई० में ही, जबकि यह नौजवान था, यह हथियार बनानेवाली एक अग्रेज़ी कम्पनी का बलकानी राज्यो मे एजेण्ट बन गया था। जब महायुद्ध खत्म हुआ तब यह सारे यूरोप मे, और शायद सारे ससार मे, सबसे ज्यादा मालदार व्यक्ति था, और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ व सरकारें इसको सलाम झुकाने में बडी खुशी महसूस करते थे। इसे ऊँचे-ऊँचे अग्रेज़ी व फ्रान्सीसी खिताब दिये गए, यह कई अखबारो का मालिक था, और मालूम होता था कि पर्दे के पीछे से सरकारो पर खूब असर डालता था। आम लोगो को उसके बारे मे कोई जानकारी नही थी, और वह उजाले से दूर ही रहता था। सचमुच वह नमूने का आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार था, जो बहुत-से देशो व असरदार मण्डलो मे घरोपा महसूस करता है और जिसके हाथों मे कुछ हद तक कितनी ही लोकतन्त्री सरकारो की बागडोर रहती है। ऐसे देशो के लोग मन मे समझते है कि उनपर उनकी अपनी ही हुकूमत है, मगर पर्दे के पीछे आँखो से ओझल अन्तर्राष्ट्रीय साहूकारो की असली सत्ता काम करती रहती है।

जहरॉफ इतना मालदार और असरदार कैसे बन गया? उसका धन्धा था हर तरह के युद्ध का सामान बेचना, और बलकान मे तो खासतौर से यह बडे नफे का काम था। लेकिन बहुत लोगो का मानना है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे धन्धे मे और राजनीति मे बहुत मदद मिली, और बार-बार होनेवाले युद्धो मे उसने करोडो का मुनाफा बटोरा, और इस तरह वह आज का एक अजीब देव बन गया।

किस्से-कहानियो के जैसे मालदार इस अजीब आदमी ने और वेनिज़ेलोस ने लॉयड जॉर्ज को इस बात पर राज़ी करा लिया कि यूनानी सिपाही एशिया-कोचक मे भेज दिये जायँ। ज़हरॉफ इस कारंवाई का पूरा खर्चा उठाने को तैयार हो गया। उसने बिना मुनाफे के जो सौदे किये थे, उनमे से यह भी एक था, क्योंकि लोगो का खयाल है कि तुर्की युद्ध के लिए इसने यूनानियो को जो दस करोड डॉलर पेशगी दिये वे सब बट्टे खाते गये।

यूनानी सिपाही अग्रेज़ी जहाज़ो मे समुद्र पार करके एशिया-कोचक पहुँचे और मई, १९१९ ई० मे अग्रेज़ी, फ्रान्सीसी और अमेरिकी जगी-जहाज़ो की हिफाज़त मे स्मर्ना पर उतरे। इन सिपाहियो ने, जो तुर्की को मित्र-राष्ट्रो की 'भेंट' थे, फौरन ही ज़बर्दस्त पैमाने पर हत्याकाण्ड और अत्याचार शुरू कर दिये।

वहाँ आतक का ऐसा राज फैला कि युद्ध से थके हुए ससार का थका-माँदा विवेक भी थर्रा उठा। खुद तुर्की मे तो इसका बडा ही बुरा असर पडा, क्योकि तुर्कों को पता लग गया कि मित्र-राष्ट्रो के हाथो उनकी कैसी बुरी हालत होती दिखाई देती है। और फिर अपने पुराने दुश्मन व प्रजा यूनानियो के हाथो इस तरह मारा-काटा जाना और बर्ताव किया जाना! तुर्कों के दिल मे आग धधकने लगी, और राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकडने लगा। यहाँतक कहा जाता है कि, हालाँकि कमाल पाशा इस आन्दोलन का नेता था, मगर स्मर्ना पर यूनानियो का क़ब्ज़ा इसे पैदा करनेवाला था। कई तुर्की अफसर, जो तबतक डाँवाडोल थे, इस आन्दोलन मे शामिल हो गये, हालाँकि इसका अर्थ सुलतान को ललकारना था। क्योकि सुलतान ने अब मुस्तफा कमाल की गिरफ्तारी का हुक्म निकाल दिया था।

सितम्बर, १९१९ ई०, मे अनातोलिया के सिवास मे चुने हुए प्रतिनिधियो की एक काग्रेस हुई। इसने विरोध के नये आन्दोलन पर मोहर लगा दी, और कमाल की सदारत मे एक कार्यकारिणी कमेटी बना दी गई। मित्र-राष्ट्रो के साथ सुलह की कम-से-कम शर्तों का एक 'राष्ट्रीय करार' भी मजूर किया गया। इन शर्तों का आधार पूर्ण स्वाधीनता रक्खा गया था। कुस्तुन्तुनिया मे सुलतान पर इसका असर पडा और वह कुछ डरा भी। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन बुलाने का वायदा किया और चुनावो का हुक्म निकाला। इन चुनावो मे सिवास काग्रेस के लोगो को भारी बहुमत हासिल हुआ। कमाल पाशा को कुस्तुन्तुनिया के लोगो पर भरोसा नही था, और उसने नये चुने गये डिपुटियो को वहाँ न जाने की सलाह दी। पर वे इसपर राज़ी नही हुए और रऊफबेग की अगुआई मे वे इस्तम्बूल चले गये (कुस्तुन्तुनिया को अब मैं इसी नाम से पुकारूँगा)। उनके वहाँ जाने का एक सबब यह था कि मित्र-राष्ट्रो ने ज़ाहिर कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बूल मे सुलतान की सदारत मे बैठेगी तो वे उसे तस्लीम कर लेंगे। हालाँकि कमाल भी एक डिपुटी था, पर वह खुद नही गया।

नई पार्लमेण्ट जनवरी, १९२० ई०, मे इस्तम्बूल मे बैठी, और उसने फौरन ही उस 'राष्ट्रीय करार' को मजूर कर लिया, जो सिवास काग्रेस मे तैयार किया गया था। मित्र-राष्ट्रो के इस्तम्बूल मे तैनात प्रतिनिधियो को यह बात अच्छी नही लगी, और पार्लमेण्ट ने और भी जो बहुत-से काम किये वे भी उन्हें अच्छे नही लगे। इसलिए छै सप्ताह बाद उन्होंने अपनी वही हस्व-मामूल और ज़रा भोंडी चालबाज़ियाँ शुरू कर दी, जिनको वे मिस्र मे व दूसरी जगह कई बार आज़मा चुके थे। अग्रेज़ सेनापति अपनी फौज लेकर इस्तम्बूल मे घुस आया, उसने शहर पर कब्ज़ा कर लिया, फौजी कानून लागू कर दिया, रऊफबेग समेत चालीस राष्ट्रीय

डिपुटियो को गिरफ्तार कर लिया, और उन्हें देश-निकाला देकर माल्टा भेज दिया! अंग्रेजो के इस 'नर्म' उपाय का मतलब दुनिया को सिर्फ यह जाहिर करना था कि मित्र-राष्ट्रो ने 'राष्ट्रीय क़रार' को नापसन्द किया था।

तुर्की मे फिर खलबली मच गई। अब यह बिलकुल जाहिर हो गया कि सुलतान अंग्रेजो के हाथो की कठपुतली था। ज्यादातर तुर्की डिपुटी भागकर अंगोरा चले गये, और वहाँ पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय विधान-सभा' रक्खा। उसने अपनेको देश की सरकार क़रार दिया और ऐलान कर दिया कि जिस दिन से अंग्रेजो ने इस्तम्बूल पर क़ब्जा किया उसी दिन से सुलतान का और इस्तम्बूल में उसकी सरकार का राज खत्म हो गया था।

इसके जवाब मे सुलतान ने कमाल पाशा को व दूसरे लोगो को बाग़ी क़रार दिया, उनका हुक्का-पानी बन्द कर दिया और उन्हें मौत की सजा का हुक्म दे दिया। इसके अलावा उसने यह भी डुग्गी पिटवा दी कि अगर कोई आदमी कमाल पाशा व उसके साथियो की हत्या कर देगा तो वह पाक फर्ज अदा करेगा और उसे इस लोक व परलोक दोनो मे सवाब मिलेगा। याद रहे कि सुलतान खलीफा, यानी अमीर-उल-मोमिनीन भी था, और हत्या के लिए खुली इजाजत का उसका यह फतवा बडी भयकर चीज था। कमाल पाशा न सिर्फ ऐसा बाग़ी था, जिसके पीछे सरकारी भेडिये लगे हुए थे, बल्कि वह दीन से बेदीन होनेवाला भी करार दिया गया था, जिसे कोई भी मजहबी अन्धा या दीवाना कत्ल कर सकता था। सुलतान ने राष्ट्रवादियो को कुचलने मे कोई कसर बाक़ी नहीं रक्खी। उसने उनके खिलाफ जिहाद बोल दिया और उनसे लडने के लिए ग़ैर-सैनिको की एक 'खलीफा की फौज' तैयार करवाई। मुल्लाओ वगैरा को बलवे खडे करवाने के लिए भेजा गया। जगह-जगह बलवे हुए और कुछ दिन तो तुर्की मे गृह-युद्ध की आग धधकती रही। यह नगर-नगर के बीच, भाई-भाई के बीच, सख्त दुश्मनी की लडाई थी, और दोनो तरफ से निर्दय जुल्म ढाये गए।

इधर स्मर्ना मे यूनानी लोग ऐसी हरकतें कर रहे थे, मानो वे ही देश के हमेशा के लिए मालिक हो, और बिलकुल वहशियाना मालिक हो। उन्होंने उपजाऊ कांठो को वीरान कर दिया और हजारो बेघर तुर्कों को वहाँ से खदेड दिया। तुर्कों की तरफ़ से कोई कारगर मुक़ाबला न होने के सबब वे आगे बढते चले गये।

राष्ट्रवादियो के सामने दुखदायी माजरा था—घर मे गृह-युद्ध, जिसके पीछे उनके खिलाफ फतवा, उधर विदेशी हमलावरो की उनपर चढाई, और सुलतान व यूनानियो दोनो की पीठ ठोकनेवाली बडी मित्र-राष्ट्री शक्तियाँ, जो जर्मनी पर

जीत हासिल करने के बाद सारी दुनिया पर हावी हो रही थी। लेकिन कमाल पाशा ने अपने लोगो को यह नारा दिया कि 'जीतो या मर मिटो।' एक अमेरिकी ने जब उससे पूछा कि अगर राष्ट्रवादी नाकाम हुए तो क्या होगा, तो उसने जवाब दिया, "जो राष्ट्र जिन्दगी और स्वाधीनता के लिए आखिरी कुर्बानियाँ करता है वह कभी नाकाम नही होता। नाकामी का अर्थ है कि राष्ट्र मर चुका।"

मित्र-राष्ट्रो ने कम्बख्त तुर्की के लिए जो सन्धि तैयार की थी, वह अगस्त, १९२० ई०, मे प्रकाशित कर दी गई। यह सेव्र की सन्धि कहलाई। इसने तुर्की की आजादी का अन्त कर दिया, स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से तुर्की को मौत की सजा सुना दी गई। तुर्की के सिर्फ टुकडे-टुकडे ही नही कर दिये गए, बल्कि खुद इस्तम्बूल तक मे धरना देने और कब्जा बनाये रखनेवाला एक मित्र-राष्ट्री कमीशन बिठा दिया गया। सारे देश मे रज छा गया और प्रार्थनाओ व हडताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिन मनाया गया। अखबारो मे काले हाशिये छापे गये। पर इससे क्या होता था, क्योकि सुलतान के प्रतिनिधि सन्धि पर दस्तखत कर चुके थे। हाँ, राष्ट्रवादियो ने उसे बडी हिक़ारत के साथ ठुकरा दिया, और सन्धि के प्रकाशन का यह नतीजा हुआ कि उनका बल बढने लगा, और अपने देश की मिट्टी बिलकुल खराब होने से बचाने के लिए दिन-पर-दिन ज्यादा तुर्क उनकी तरफ़ आने लगे।

लेकिन बग़ावत पर उतारू तुर्की पर इस सन्धि का अमल कौन कराता? मित्र-राष्ट्र खुद यह काम नही करना चाहते थे। उन्होने अपनी फौजो को तोड दिया था, और घर में उन्हें फौजो से निकले हुए सिपाहियो व मजदूरो के बिगड़े हुए मिजाज का सामना करना पड रहा था। पश्चिमी यूरोप के देशो मे अभी तक हवा मे क्रान्ति की भावना मौजूद थी। उधर मित्र-राष्ट्रो मे आपस मे ही मतभेद पैदा हो रहे थे और वे युद्ध की लूट के बँटवारे पर लड-झगड रहे थे। पूर्व मे इंग्लैंण्ड को और कुछ हद तक फ्रान्स को एक खतरनाक सूरत का सामना करना पड रहा था। फ्रान्सीसी 'फरमान' के अधीन सीरिया मे बेचैनी की आग फैल रही थी और वहाँ गडबड के आसार थे। मिस्र मे खूनी बगावत हो ही चुकी थी, जिसे अग्रेजो ने कुचल दिया था। भारत मे १८५७ ई० के विद्रोह के बाद बगावत का पहला बडा आन्दोलन तैयार हो रहा था, हालाँकि यह शान्ति के साथ था। यह गाधीजी की रहनुमाई मे असहयोग का आन्दोलन था और खिलाफत का सवाल और तुर्की के साथ किया गया बर्ताव इस आन्दोलन का एक खास सहारा था।

इस तरह हम देखते हैं कि मित्र-राष्ट्र इस हैसियत मे नही थे कि खुद अपनी ही सन्धि तुर्की पर लाद सकें, न वे तुर्की राष्ट्रवादियो के हाथो इसकी खुल्लमखुल्ला

धज्जियाँ उडाया जाना ही सहने को तैयार थे। इसलिए उन्होने अपने दोस्तो वेनिज़ेलोस व ज़हरॉफ का सहारा ढूंढा और ये दोनो यूनान की तरफ से इस काम को अजाम देने के लिए पूरी तरह तैयार हो गये। यह किसीको आशा नही थी कि पस्त-हिम्मत तुर्क कुछ ज्यादा परेशान करेंगे, और एशिया-कोचक की लूट हथियाने लायक थी। इसलिए और भी ज्यादा यूनानी सिपाही भेजे गये, और यूनानी-तुर्की युद्ध बडे पैमाने पर छिड गया। १९२० ई० मे गर्मियो से लगाकर खरीफ तक जीत ने यूनानियो का साथ दिया, और उन्होंने सामना करनेवाले तुर्कों को खदेड दिया। कमाल-पाशा और उसके साथियो के हाथ मे सेना के जो बचे-खुचे टुकडे रह गये थे, उन्हीमे से एक कारगर सेना तैयार करने के लिए उन्होंने जी-तोड कोशिश की। जिस वक्त उन्हें मदद की निहायत ज़रूरत पडी तभी उन्हें मदद मिल गई, और ठीक मौके पर मिल गई। यानी सोवियत रूस ने हथियारा से और पैसे से उन्हें मदद पहुँचाई। क्योंकि इग्लैण्ड दोनो ही के लिए एक-सा दुश्मन था।

ज्यो-ज्यो कमाल की ताकत बढने लगी त्यो-त्यो मित्र-राष्ट्रो के दिलो मे इस लडाई के नतीजे के बारे मे कुछ-कुछ अन्देशा होने लगा, और उन्होंने पहले से अच्छी शर्तें पेश की। पर कमालियो के लिए अब भी वे मजूर करने लायक न थी, और उन्होंने इन्हें ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रो ने यूनानी-तुर्की झगडे से अपना पिण्ड छुडाया और अपनी ग़ैर-तरफदारी ज़ाहिर कर दी। यूनानियो को जजाल मे फँसवाकर उन्होने उन्हे मझधार मे छोड दिया। यहाँतक कि फ्रान्स ने, और कुछ हद तक इटली ने भी, तुर्कों को दोस्त बनाने की गुप-चुप कोशिशें की। पर अग्रेज़ अभी थोडे-बहुत यूनानियो की तरफ थे, लेकिन थे गैर-सरकारी तौर पर।

१९२१ ई० की गर्मियो मे यूनानियो ने तुर्की की राजधानी अगोरा पर क़ब्ज़ा करने के लिए बडा ज़ोर लगाया। वे नगर के बाद नगर पर क़ब्ज़ा जमाते हुए अगोरा के पास तक आ पहुँचे, पर अन्त मे सक़रिया नदी पर उन्हें रोक दिया गया। इस नदी के पास तीन सप्ताह तक दोनो सेनाएँ आपस मे जूझती रही, सदियो पुराने सारे नस्ली बैर को लेकर लगातार लडती रही, और एक ने दूसरी के साथ ज़रा भी रू-रियायत नही की। धीरज की यह ज़बर्दस्त कसौटी बन गई, तुर्क तो बस किसी तरह डटे रहे, पर यूनानियो ने घुटने टेक दिये और वे पीछे हट गये। जैसाकि उसका ढग रहा था, यूनानी सेना हर चीज़ को जलाती और तबाह करती हुई पीछे लौटी, और उसने दो सौ मील के उपजाऊ देहात को वीरान बना दिया।

सक़रिया नदी की जग मे तुर्कों की बस बाल-बाल जीत हुई। यह आखिरी जीत किसी तरह भी नही थी, पर फिर भी इसकी गिनती आधुनिक इतिहास की निर्णायक लडाइयो मे की जाती है। इसके बाद ज्वार का रुख ही पलट गया। पूर्व व

पश्चिम के बीच जिन बडी-बडी मुठभेडो ने पिछले दो सौ से भी ज्यादा वर्षों मे एशिया-कोचक की चप्पा-चप्पा ज़मीन को इन्सान के खून से तर कर दिया है, यह लडाई उन्हीमे एक और थी।

दोनो की सेनाएँ बेदम हो गई थी और वे फिर ताकत हासिल करने के लिए और दुबारा तैयार होने के लिए सुस्ताने लगी थी। मगर कमाल पाशा का सितारा बुलन्दी पर था। फ्रान्सीसी सरकार ने अंगोरा से सन्धि कर ली। अंगोरा और सोवियत के बीच भी सन्धि हो गई। फ्रान्स के तस्लीम कर लेने पर मुस्तफा कमाल को दो फायदे हुए। एक तो उसका डर निकल गया, दूसरे उसे कुछ चीज़ें भी मिली। इससे सीरिया की सरहद के तुर्की सिपाही यूनान के खिलाफ लडने के लिए खाली हो गये। ब्रिटिश सरकार अभी तक कठपुतली सुलतान को और इस्तम्बूल की निकम्मी सरकार को सहारा दे रही थी। इसलिए इस फ्रान्सीसी सन्धि से उसे धक्का पहुँचा।

अगस्त, १९२२ ई०, मे तुर्की सेना ने, अचानक, पर पूरी सावधानी से तैयारी के बाद, यूनानियो पर हमला बोल दिया और उन्हे आसानी से समुद्र मे धकेल दिया। आठ दिनो मे यूनानी लोग १६० मील पीछे हट गये, लेकिन हटते-हटते भी उन्होंने जो भी तुर्की पुरुष, स्त्री या बच्चा रास्ते मे पडा उसे मारकर खूनी बदला लिया। तुर्कों ने भी कम बेरहमी नही दिखाई, और वे यूनानियो को कैदी बनाने की झझट मे नही पडे। जो थोडे-से क़ैदी उन्होने पकडे उनमे यूनानी सेना का सेनापति व अफसर थे। यूनानी सेना का ज्यादा हिस्सा स्मर्ना से समुद्र के रास्ते निकल भागा, पर खुद स्मर्ना शहर का बडा भाग जला डाला गया।

इस विजय के बाद कमाल पाशा ने दम नही लिया और अपनी सेनाओ को लेकर इस्तम्बूल की तरफ कूच कर दिया। नगर के पास चनक पर अंग्रेज सिपाहियो ने उसे रोका और सितम्बर, १९२२ ई० मे कुछ दिनो तुर्की व इग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड जाने का अन्देशा रहा। पर अंग्रेज़ो ने तुर्की की करीब सभी माँगो को मजूर कर लिया और दोनो ने आरज़ी सुलह पर दस्तखत कर दिये, जिसमे अंग्रेज़ो ने सचमुच यह वायदा किया कि वे थ्रेस मे तबतक पडी हुई यूनानी फौजो को तुर्की से हटवा देंगे। तुर्की के पीछे सोवियत का भूत हमेशा खड़ा दिखाई दे रहा था, इसलिए मित्र-राष्ट्र ऐसा युद्ध नही छेडना चाहते थे, जिसमे रूस तुर्की की मदद पर आ जाय।

मुस्तफा कमाल ने शानदार विजय हासिल की, और १९१९ ई० के मुट्ठीभर बागी अब बडी-बडी शक्तियो के प्रतिनिधियो से बराबरी की हैसियत मे बात करने लगे। इन दिलेर लोगो को बहुत-सी सूरतो ने सहायता पहुँचाई थी—जैसे युद्ध के बाद पडनेवाले असर, मित्र-राष्ट्रो मे आपसी फूट, भारत व मिस्र मे होनेवाली गडबडो मे इग्लैण्ड का फँसा रहना, सोवियत रूस की सहायता, अंग्रेज़ो के

हाथो तुर्की का ज़लील किया जाना, वगैरा। मगर इन सबके अलावा, तुर्कों की शानदार विजय के कारण थे खुद उन्हीके मजबूत इरादे और आज़ाद होने की ज़ोरदार इच्छा, और तुर्की किसानो व सिपाहियो मे लडने की अद्भुत खूबियाँ।

लोज़ान मे एक सुलह-सम्मेलन हुआ और यह कई महीनो तक खिचता रहा। इंग्लैण्ड के अहकारी और रोब जमानेवाले प्रतिनिधि लॉर्ड कर्ज़न, और कुछ-कुछ बहरे व कूढ-मग्ज़ इस्मत पाशा के बीच अजीब कुश्ती हुई। इस्मत पाशा चुपचाप मुस्कराता रहता था, और जिस बात को वह नही सुनना चाहता था, उसे अनसुनी कर देता था, जिसमे कर्ज़न को सख्त झुंझलाहट होती थी। भारत के वायसराई ढगो के आदी और वैसे भी बहुत घमण्डी कर्ज़न ने गर्जन-तर्जन के तरीको का प्रयोग किया पर बहरे और मुस्कराते इस्मत के कानो पर जूँ तक नही रेंगी। आखिर तग आकर कर्ज़न लौट गया और सम्मेलन भग हो गया। सम्मेलन की बैठक बाद मे फिर हुई, पर इस बार कर्ज़न के बजाय दूसरा ब्रिटिश-प्रतिनिधि आया। 'राष्ट्रीय करार' मे शामिल तमाम तुर्की माँगें, सिवाय एक माँग के, मान ली गईं और जुलाई, १९२३ ई०, मे लोज़ान की सन्धि पर दस्तखत हो गये। इस बार भी सोवियत रूस के सहारे ने और मित्र-राष्ट्रो की आपसी लाग-डॉट ने तुर्की की मदद की।

गाज़ी, यानी विजयी, कमाल पाशा को वे सब चीज़ें मिल गईं, जिन्हे हासिल करने का उसने बीडा उठाया था। लेकिन शुरू से ही उसने यह बुद्धिमानी की थी कि अपनी माँगें कम-से-कम रक्खी थी और विजय की घडी मे भी वह उन्हीं पर जमा रहा। अरब, इराक, फिलस्तीन, सीरिया, वगैरा ग़ैर-तुर्की देशो पर तुर्की-प्रभुत्व जमाने का विचार उसने बिलकुल छोड दिया था। वह तो यही चाहता था कि तुर्क कौम का वतन खास तुर्की आज़ाद हो जाय। वह नही चाहता था कि तुर्क लोग दूसरी कौमो के मामलो मे टाँग अडायें, पर वह तुर्की मे विदेशियो की भी कोई दस्तन्दाज़ी बर्दाश्त करने को तैयार नही था। बस, तुर्की एक ठोस और एक-रस देश बन गया। कुछ वर्षों बाद, यूनानियो के सुझाव पर, आबादियो की अनोखी अदला-बदली हुई। अनातोलिया में बाकी बचे हुए यूनानी यूनान भेज दिये गए, और उनके बदले मे यूनान मे रहनेवाले तुर्क बुला लिये गए। इस तरह करीब पन्द्रह लाख यूनानियो की अदला-बदली हुई, और इनमे से ज्यादातर परिवार पीढ़ियो से और सदियो से अनातोलिया या यूनान मे रहते आये थे। यह कौमो की अजीब उखाड-पछाड थी और इसने तुर्की के आर्थिक जीवन को बिलकुल उलट-पलट दिया, क्योकि यूनानी लोगो का वहाँ के व्यवसाय मे खासतौर पर बडा-भारी साझा था। लेकिन इससे तुर्की और भी ज्यादा एक-रस देश बन गया, और शायद इसके जैसा एक-रस देश यूरोप या एशिया मे दूसरा कोई नही है।

मैं लिख चुका हूँ कि लोज़ान की सन्धि से तुर्की की एक के सिवाय सारी माँगे पूरी हो गई। यह अपवाद इराक की सरहद के पास विलायत यानी मोसल का सूबा था। चूंकि दोनो पक्ष इसके बारे में एकमत नही हो सके, इसलिए यह मामला राष्ट्र-सघ के सुपुर्द कर दिया गया। कुछ तो तेल के कुओ के कारण, पर ज्यादातर जगी महत्व के कारण, मोसल का महत्व था। मोसल के पहाड़ो पर कब्ज़ा रखने का अर्थ था कुछ हदतक तुर्की, इराक व ईरान, और रूस मे काकेशिया पर भी, दबाव रखना। इसलिए तुर्की के लिए इसका महत्व लाज़िमी था। इग्लैण्ड के लिए भी यह उतना ही महत्व रखता था, एक तो भारत जानेवाले खुश्की और हवाई रास्तो की रक्षा के लिए, और दूसरे सोवियत रूस पर हमले या उससे बचाव के मोर्चे के तौर पर। नकशा देखने से तुम्हे पता लग जायगा कि मोसल की जगह कितने महत्व की है। इस सवाल पर राष्ट्र-सघ ने इग्लैण्ड के हक मे फैसला दिया। तुर्को ने इसे मानने से इन्कार कर दिया, और युद्ध की चर्चा फिर शुरू हो गई। ठीक उसी समय, दिसम्बर, १९२५ ई० मे रूसी-तुर्की सन्धि हो गई। पर अन्त मे अगोरा की सरकार झुक गई, और मोसल इराक के नये राज्य को दे दिया गया। इराक स्वाधीन राज्य माना जाता है, पर अमल मे यह अभी तक इग्लैण्ड की सरपरस्ती मे है, और वहाँ अग्रेज अफसरो व सलाहकारो की भरमार है।

मुझे याद है कि लगभग ग्यारह वर्ष पहले जब हमने यूनानियो पर मुस्तफा कमाल की महान् विजय का समाचार सुना था तो हमे कितनी खुशी हुई थी। यह अगस्त, १९२२ ई० मे अफ्यूम काराहिसार की जग थी, जबकि उसने यूनानी मोर्चे को तोड दिया था और यूनानी सेना को स्मर्ना की तरफ और समुद्र मे खदेड दिया था। हममे से कई उस समय लखनऊ की जिला-जेल मे थे, और जो कुछ टीम-टाम हम इकट्ठी कर सके, उससे अपने बारक को सजाकर हमने तुर्की की विजय का उत्सव मनाया था, और शाम को रोशनी करने का भी कुछ ढग किया था।

: १५९ :

मुस्तफ़ा कमाल पाशा अतीत से नाता तोड़ता है

८ मई, १९३३

हमने तुर्की की पराजय के अँधेरे दिनो मे लगाकर उसकी शानदार विजय के दिन तक उसके उतार-चढाव को देखा है, और हमने यह काफी अजीब बात देखी है कि मित्र-राष्ट्रो ने, और खासकर इग्लैण्ड ने, तुर्को को दबाने व निर्बल करने के लिए जो उपाय अपनाये, उन्हीका उनपर बिलकुल उलटा असर हुआ,

और इन उपायो ने सचमुच राष्ट्रवादियो का बल बढा दिया तथा उन्हें ज्यादा जोरदार मुकाबला करने के लिए खूब मजबूत कर दिया। तुर्की का अग-भग करने की मित्र-राष्ट्रो की कोशिशें, यूनानी सैनिको का स्मर्ना भेजा जाना, मार्च, १९२० ई०, मे अग्रेजो की राजनीतिक चोट, जबकि राष्ट्रवादी नेताओ को गिरफ्तार करके देश से बाहर भेज दिया गया था, राष्ट्रवादियो के खिलाफ़ इग्लैण्ड का अपने कठपुतली सुलतान को सहारा दिया जाना, इन सब बातो ने तुर्को के क्रोध और जोश की आग मे घी का काम किया। किसी बहादुर कौम को ज़लील करने और कुचलने के यत्न का लाज़िमी नतीजा यही होता है।

मुस्तफा कमाल और उसके साथियो को जो विजय हासिल हुई, उसका उन्होने क्या किया ? कमाल पाशा पुरानी लकीर का फकीर बने रहने का कायल नही था, वह तुर्की को बाहर-भीतर पूरी तरह बदल देना चाहता था। लेकिन विजय के बाद खूब लोकप्रिय बन जाने पर भी उसे बडी सावधानी से आगे बढना जरूरी था, क्योंकि किसी कौम को लम्बी परम्परा व मज़हब की नींव पर खडे हुए उसके प्राचीन रिवाजो से ज़बर्दस्ती हटा देना कोई आसान काम नही होता। वह सुलतानियत और खिलाफत दोनो का अन्त करना चाहता था, पर उसके कई साथी इससे सहमत नही थे, और आम तुर्की भावना भी शायद ऐसे परिवर्तन के खिलाफ थी। कोई नही चाहता था कि कठपुतली सुलतान वहीदुद्दीन एक दिन भी बना रहे। उसे लोग देशद्रोही-जैसा नीच समझते थे जिसने अपने देश को विदेशियो के हाथ बेच देने की कोशिश की थी। मगर बहुत-से लोग एक क़िस्म की सविधानी सुलतानियत और खिलाफत चाहते थे, जिसमे असली सत्ता राष्ट्रीय विधान-सभा के हाथो मे हो। पर कमाल पाशा ऐसा कोई समझौता नही चाहता था, इसलिए वह मौके का इन्तज़ार करने लगा।

हमेशा की तरह इस बार भी अग्रेजो ने यह मौका दे दिया। जिस वक्त लोज़ान के शान्ति-सम्मेलन की तैयारी की जा रही थी, तब ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बूल मे सुलतान को उसमे शामिल होने के लिए बुलावा भेजा, जिसमे सुलतान से कहा गया था कि सुलह की शर्तो पर बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि भेजे। साथ ही उससे यह भी अर्ज की गई थी कि इस निमन्त्रण की खबर अगोरा पहुँचा दे। अगोरा की युद्ध जीतनेवाली राष्ट्रीय सरकार के साथ इस रूखे व्यवहार ने, और कठपुतली सुलतान को फिर आगे ढकेलने की इस इरादतन कोशिश ने, तुर्की मे सनसनी पैदा कर दी और तुर्को को आग-बबूला कर दिया। उन्हें शक हो गया कि अग्रेज़ और दगाबाज सुलतान मिलकर कोई और साजिश कर रहे हैं। मुस्तफा कमाल ने इस भावना का फौरन फायदा उठाया, और नवम्बर, १९२२ ई०, मे राष्ट्रीय विधान-सभा से सुलतानियत को रद्द करा डाला। पर सिर्फ़ खिलाफत

के रूप मे खिलाफत अब भी बाकी रह गई, और यह ज़ाहिर कर दिया गया कि उसका उत्तराधिकार उस्मानी खानदान मे रहेगा। इसके थोडे ही दिन बाद गद्दी से उतारे गये सुलतान वहीदुद्दीन के खिलाफ घोर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। उसने खुली अदालत के सामने जाने की बजाय भाग जाना बेहतर समझा, और वह एक अग्रेजी ऐम्बुलेन्स गाडी मे बैठकर चोरी-छिपे भाग गया, और इसने उसे एक अग्रेज़ी जगी जहाज़ तक पहुँचा दिया। राष्ट्रीय विधान-सभा ने उसके चचेरे भाई अब्दुल मजीद अफ़न्दी को नया खलीफा चुन लिया, जो अब सिर्फ रस्म के लिए अमीर-उल-मोमिनीन था, राजनीतिक सत्ता उसके हाथ मे कुछ नही थी।

अगले साल, १९२३ ई० मे, तुर्की गणराज्य की बाकायदा घोषणा हो गई, और उसकी राजधानी अगोरा रक्खी गई। मुस्तफा कमाल राष्ट्रपति चुना गया, और उसने सारी सत्ता अपनी मुट्ठी मे कर ली, जिससे वह तानाशाह बन गया। विधान-सभा उसके आदेशो का पालन करने लगी। अब उसने बहुत-से पुराने रिवाजो पर हथौडा चलाना शुरू किया। मज़हब की वह कोई ज्यादा इज्जत नही करता था। बहुतेरे लोग, खासकर मज़हबी खयालोवाले भोले लोग, उसके तरीक़ो से और तानाशाही से नाराज़ हो उठे, और वे नये खलीफा के गिर्द जमा हो गये। खलीफा एक ठण्डा और सीधा-सादा आदमी था। कमाल पाशा को यह बात ज़रा भी अच्छी नहीं लगी। उसने खलीफा के साथ ज़रा भद्दा बर्ताव किया, और वह अगला बडा क़दम उठाने के लिए मौके का इन्तज़ार करने लगा।

उसे यह मौका फिर जल्दी ही मिल गया, और मिला भी बडे अजीब ढग से। आग़ा खाँ और भारत के एक पेन्शनयाफ्ता जज अमीर अली ने लन्दन से उसके पास एक सयुक्त खत भेजा। उन्होंने भारत के करोडो मुसलमानो की वकालत का दावा किया और खलीफ़ा के साथ किये गए सलूक पर ऐतराज़ किया। उन्होंने माँग की कि खलीफा की शान कायम रक्खी जाय और उसके साथ बेहतर सलूक किया जाय। इस खत की नकलें उन्होने इस्तम्बूल के कुछ अखबारो को भेज दी, और हुआ यह कि असली खत के अगोरा पहुँचने से पहले ही उसकी नकल इस्तम्बूल मे प्रकाशित हो गई। इस खत मे भडकानेवाली कोई बात नही थी, पर कमाल पाशा ने फौरन इसे धर-दबाया और ज़बर्दस्त हो-हल्ला मचा दिया। जिस मौके की वह तलाश मे था, वह उसे मिल गया था, और वह इससे पूरा फायदा उठाना चाहता था। बस, यह बात फैला दी गई कि तुर्कों मे फूट डालने की यह एक और अग्रेज़ी साज़िश थी। कहा गया कि आगा खाँ अग्रेजो का खास एजेण्ट है, वह इग्लैण्ड मे रहता है, अग्रेज़ी घुडदौडो से उसका खास सरोकार है, और वह अग्रेज़ राजनीतिको से खूब

मिलता-जुलता है। वह कट्टर मुसलमान भी नही है, क्योकि वह एक ख़ास तबक़े का पीर है। इसके अलावा यह भी वतलाया गया कि महायुद्ध के दौरान अंग्रेज़ों ने आग़ा ख़ाँ को पूर्व के सुलतान-खलीफा के मुकावले मे वरावरी के दर्जे पर खडा कर दिया था, और प्रचार वग़ैरा से उसकी इज़्ज़त वढा दी थी, और उसे भारतीय मुसलमानो का नेता बनाने की कोशिश की थी, ताकि उन्हें मुट्ठी मे रक्खा जा सके। अगर आगा खाँ को खलीफा की इतनी चिन्ता थी तो उसने युद्धकाल मे उस वक्त खलीफा का समर्थन क्यो नही किया जव अग्रेजो के खिलाफ जिहाद का ऐलान कर दिया गया था ? उस वक्त तो उसने खलीफा के खिलाफ अग्रेज़ो का पक्ष लिया था वग़ैरा-वग़ैरा।

इस तरह कमाल पाशा ने इस सयुक्त खत के ऊपर, जिसे उसके लेखको ने लन्दन से भेजा था, अच्छा-खासा तूफान खडा कर दिया, और आगा खाँ को लोगो की निगाह मे गिरा दिया। खत लिखनेवालो को यह गुमान भी नही था कि इसके ये नतीजे निकलेंगे। खत छापनेवाले वेचारे इस्तम्बूली सम्पादको पर देश-द्रोही व इग्लैण्ड के एजेण्ट होने का इलज़ाम लगा दिया गया और उन्हें सख्त सजाएँ दी गई। इस तरह भावनाओ को खूब भडकाने के वाद मार्च, १९२४ ई०, मे खिलाफत को खत्म करने का विल राष्ट्रीय विधान-सभा मे पेश किया गया और उसी दिन पास कर दिया गया। इस तरह आज की दुनिया से एक ऐसी सस्था विदा हो गई, जिसने इतिहास मे वडा खेल खेला था। जहाँतक तुर्की का ताल्लुक था, कम-से-कम वहाँ तो अब कोई 'अमीर-उल-मोमिनीन' नहीं था, क्योकि तुर्की अब बग़ैर-मज़हव का राज्य बन गया था।

इससे कुछ दिन पहले, जव युद्ध के वाद अग्रेजो की तरफ से खिलाफत को खतरा था, तब भारत मे इसपर ज़वर्दस्त हलचल मची थी। सारे देश मे खिलाफ़त कमेटियाँ बन गई थी, और वहुतेरे हिन्दू इस हलचल मे मुसलमानो के साथ हो गये थे, क्योकि वे समझते थे कि ब्रिटिश सरकार इस्लाम को चोट पहुँचा रही है। अव, जव खुद तुर्को ने ही इरादा करके खिलाफत का अन्त कर दिया, तो इस्लाम खलीफा के बग़ैर हो गया। कमाल पाशा की यह पक्की राय थी कि तुर्को को अरबी देशो के साथ या भारत के साथ किसी मज़हवी मामले मे नही फँसना चाहिए। अपने देश को या अपने-आपको इस्लाम का नेता वनाने की उसकी विलकुल इच्छा नही थी। जव भारत और मिस्र के कुछ लोगो ने उससे कहा कि वह खुद खलीफा वन जाय, तो उसने इन्कार कर दिया। उसकी निगाह पश्चिम की तरफ़ यूरोप पर थी, और वह तुर्की को जल्दी-से-जल्दी पश्चिमी देशो के ढग का बनाना चाहता था। अखिल इस्लामवाद के विचार का वह पूरा विरोधी था। उसका नया नारा था अखिल तूरानीवाद, क्योकि तुर्क लोग तूरानी नस्ल के थे। यानी,

इस्लाम मे फैले हुए और ढीले-ढाले अन्तर्राष्ट्रीय नारे की बनिस्बत वह खालिस राष्ट्रीयता के ज्यादा कडे व ठोस रिश्ते को बेहतर समझता था।

मैं बतला चुका हूँ कि तुर्की अब पूरा एक-रस देश हो गया था, जिसमे विदेशी लोग नही के बराबर थे। पर इराक व ईरान की सीमाओ के आस-पास पूर्वी तुर्की मे अब भी एक ग़ैर-तुर्की नस्ल रहती थी। यह प्राचीन कुर्द नस्ल थी, जो ईरानी भाषा बोलती थी। ये लोग जिस कुर्दिस्तान के निवासी थे, उसके टुकडे तुर्की, इराक, ईरान व मोसल प्रदेश मे बाँट दिये गए थे। कुल तीस लाख कुर्दों मे से आधे के करीब अब भी खास तुर्की मे बसे हुए थे। १९०८ ई० के नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद यहाँ आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। वर्साई-सम्मेलन मे भी कुर्दों के प्रतिनिधियो ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की माँग रक्खी थी।

१९२५ ई० मे तुर्की के कुर्दी क्षेत्र मे ज़ोर की बग़ावत फूट पडी। यह ठीक वही ज़माना था जब मोसल का झगडा इंग्लैण्ड और तुर्की के बीच रगडा पैदा कर रहा था। मोसल खुद एक कुर्दी क्षेत्र था जो तुर्की के उस भाग से मिला हुआ था जहाँ बग़ावत हो रही थी। तुर्कों के लिए इस नतीजे पर पहुँचना लाज़िमी था कि इस बग़ावत के पीछे इंग्लैण्ड का हाथ है, और ब्रिटिश एजेण्टो ने ज्यादा कट्टर कुर्दों को कमाल पाशा के सुधारो के खिलाफ भडका दिया है। यह बतलाना सम्भव नही कि इस बगावत से ब्रिटिश एजेण्टो का कोई ताल्लुक था या नही, हालाँकि यह तो ज़ाहिर था कि उस मौक़े पर तुर्की मे इस कुर्दी गडबड पर ब्रिटिश सरकार को खुशी हुई थी। अलबत्ता यह साफ दिखाई देता है कि इस फिसाद मे मज़हबी कट्टरपन का बहुत बडा हाथ था, और यह भी उतना ही साफ है कि कुर्दी राष्ट्रीयता का भी इसमे बडा हाथ था। राष्ट्रीयता की उकसाहट सबसे ज़ोरदार थी।

कमाल पाशा ने फौरन यह हल्ला मचा दिया कि तुर्की राष्ट्र खतरे मे है, क्योंकि कुर्दों की पीठ पर इंग्लैण्ड है। उसने राष्ट्रीय विधान-सभा से एक कानून पास करा लिया, जिसमे लिखा गया था कि भाषणो के ज़रिये या छपे साहित्य के ज़रिये जनता की भावनाओ को भडकाने के वास्ते मज़हब का इस्तेमाल घोर देश-द्रोह माना जाना चाहिए, और इस हैसियत से उसके लिए सख्त-से-सख्त सज़ाएँ दी जानी चाहिएँ। मस्जिदो मे ऐसे मज़हबी उसूलो का पढाया जाना भी रोक दिया गया, जिनसे गणराज्य के लिए वफादारी की भावनाओ के गुमराह होने का अन्देशा हो। इसके बाद उसने बिना किसी दया-माया के कुर्दों को कुचलना शुरू किया और हज़ारो की सख्या मे उनका फैसला करने के लिए 'स्वाधीनता की खास अदालतें' कायम कर दी। शेख सईद, डॉक्टर फुआद, वग़ैरा कितने ही कुर्दी नेता फाँसी पर लटका दिये गए। वे कुर्दिस्तान की स्वाधीनता की पैरवी करते हुए मरे।

मतलब यह कि जो तुर्क कुछ ही दिन पहले अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे थे, उन्होंने अपनी आज़ादी चाहनेवाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि अपना बचाव करनेवाली राष्ट्रीयता किस तरह हमलावर राष्ट्रीयता बन जाती है, और आज़ादी के लिए लडाई दूसरो पर प्रभुता जमाने की लडाई बन जाती है। १९२९ ई० मे कुर्दों ने दूसरी बार विद्रोह किया, और कम-से-कम उस समय तो इसे भी फिर कुचल दिया गया। लेकिन जो कौम आज़ादी हासिल करने पर तुली हो और उसकी कीमत चुकाने को तैयार हो, उसे हमेशा के लिए कोई कैसे कुचल सकता है?

इसके बाद कमाल पाशा ने उनसब लोगो पर गुस्सा उतारना शुरू किया, जिन्होने राष्ट्रीय विधान-सभा मे या बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। तानाशाह की सत्ता की भूख हमेशा उसके इस्तेमाल के साथ बढ़ती जाती है, वह कभी नही बुझती, वह किसी तरह का विरोध बर्दाश्त नही कर सकती। बस, कमाल पाशा ने भी हर तरह के विरोध पर सख्त नाराज़ी ज़ाहिर की, और जब एक मज़हबी दीवाने ने उसकी हत्या की कोशिश की तब तो मामला बिलकुल ही बिगड गया। अब स्वाधीनता की अदालतें गाज़ी पाशा का विरोध करनेवाले सब लोगो का फ़ैसला करती हुई और उन्हें सख्त सज़ाएँ देती हुई सारे तुर्की का दौरा करने लगी। यहाँतक कि अगर विधान-सभा के बडे-से-बडे नेताओ और कमाल के पुराने राष्ट्रवादी साथियो ने भी विरोध किया तो उन्हें भी नही बख्शा गया। रऊफ़ बेग को, जिसे ब्रिटिश सरकार ने माल्टा मे निर्वासित कर दिया था और जो बाद मे तुर्की का प्रधान-मन्त्री हुआ, उसकी ग़ैर-हाज़िरी मे ही सज़ा दे दी गई। स्वाधीनता के युद्ध मे भाग लेनेवाले कितने ही बडे-बडे नेताओ व सेनापतियो को ज़लील किया गया, और सज़ाएँ दी गईं, और कुछ को तो फाँसी पर लटका दिया गया। उनपर यह इलज़ाम लगाया गया था कि उन्होंने कुर्दों से मिलकर, या तुर्की के पुराने दुश्मन इंग्लैण्ड तक से मिलकर, राज्य को ख़तरे मे डालनेवाली साज़िशें की थी।

तमाम विरोध का सफाया करके मुस्तफा कमाल अब एक-छत्र तानाशाह बन गया, और इस्मत पाशा उसका दाहिना हाथ था। उसके दिमाग मे जो विचार भरे हुए थे, उनमे से अब बहुतो को उसने अमल मे लाना शुरू किया। उसने बहुत छोटी-सी पर नमूनेदार चीज़ से शुरुआत की। उसने 'फ़ैज़'[1] टोपी पर हमला किया, जो तुर्क की और कुछ हद तक मुसलमान की निशानी बन गई थी। पहले

[1] Fez Cap—तुर्रेदार लाल तुर्की टोपी जो तुर्की, मिस्र, भारत आदि देशो के मुसलमान पहना करते थे। मोरक्को के फ़ैज़ नगर मे बनने के कारण इसका यह नाम पड़ा है।

उसने होशियारी के साथ फौज से इसकी शुरुआत की। इसके बाद वह खुद हैट पहनकर बाहर निकला, जिससे लोगो को बडा अचम्भा हुआ, और अन्त मे जाकर उसने फैज़ टोपी पहनना फौजदारी जुर्म ही करार दिया। सिर्फ टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना ज़रा नादानी की बात लगती है। बहुत ज्यादा महत्व की बात तो यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि सिर के ऊपर क्या रक्खा है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी चीज़ें बडी-बडी चीज़ो की निशानियाँ बन जाती हैं, और सीधी-सादी फैज़ टोपी के ज़रिये कमाल पाशा ने, मालूम होता है, पुराने रिवाजो और कट्टरपन पर हमला किया था। इस सवाल को लेकर दगे हो गये। इन्हे दबा दिया गया और दगाइयो को सख्त सज़ाएँ दी गईं।

इस पहली बाजी को जीतकर मुस्तफा कमाल ने एक कदम और आगे बढाया। उसने तमाम खानकाहो (मठो) और मज़हबी इबादत-गाहो को बन्द कर दिया और तोड दिया, और उनकी सारी जायदादें राज्य के लिए ज़ब्त कर ली। जो दरवेश इनमे रहते थे, उनसे कह दिया गया कि अपनी गुज़र के लिए मजूरी करें। दरवेशो की खास पौशाक पर भी पाबन्दी लगा दी गई।

इससे भी पहले मुस्लिम मकतब तोड दिये गए थे और उनकी जगह पर राज्य के गैर-मज़हबी स्कूल खोल दिये गए थे। तुर्की मे कितने ही विदेशी स्कूल और कॉलेज थे। इनमे दी जानेवाली मज़हबी शिक्षा भी बन्द करा दी गई, और अगर किसीने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे बन्द करा दिया गया।

कानूनो में एक साथ रद्दो-बदल कर दी गई। अभी तक बहुतेरी बातो मे कानून का आधार शरीअत[1] था। अब स्वीज़रलैण्ड का ज़ाब्ता दीवानी, और इटली का ज़ाब्ता फौजदारी, और जर्मनी का ज़ाब्ता व्यापारी, पूरे-के-पूरे लागू कर दिये गए। इसके नतीजो से विवाह, वसीयत, वगैरा पर लागू होनेवाले ज़ाती कानूनो मे बिलकुल परिवर्तन हो गया। इन मामलो मे सम्बन्ध रखनेवाला पुराना इस्लामी कानून बदल गया। कई बीवियाँ रखने की प्रथा भी हटा दी गई।

पुराने मज़हबी दस्तूर के खिलाफ जानेवाली दूसरी तब्दीली थी आदमी की शक्ल के आलेखो, चित्रो और मूर्त्तियो को बढावा दिया जाना। इस्लाम मे ऐसा करना शरीअत के खिलाफ माना जाता है। मुस्तफा कमाल ने ये काम सिखाने के लिए लडको व लडकियो की कला-शालाएँ खोल दी।

नौजवान तुर्को के ज़माने से ही तुर्की स्त्रियाँ आज़ादी की लडाई मे खूब महत्व का हिस्सा लेती आई थी। कमाल पाशा की खास मशा थी कि वे सब तरह के बन्धनो से छुटकारा पा जायँ। एक 'नारी अधिकार-रक्षा-समिति'

---

[1] क़ुरान के आदर्शों तथा सिद्धान्तो के अनुसार मुसलमानों का धर्मशास्त्र।

बनाई गई और नौकरियो व धन्धों के दरवाज़े स्त्रियों के लिए खोल दिये गए। सबसे पहले बुर्के पर जोरदार धावा बोला गया और यह ग़ज़ब की तेजी से गायब हो गया। स्त्रियो को तो इस बुर्के को फाड फेंकने का मौका मिलने की देर थी। कमाल पाशा ने उन्हें यह मौका दिया और वे दौडी-दौडी चली आई। उसने यूरोपीय ढग के नाच को खूब वढ़ावा दिया। वह खुद तो इसका शौकीन था ही, साथ ही उसके मन मे यह नारियो की रिहाई की और पश्चिमी सभ्यता की निशानी वन गया था। हैट और नाच, प्रगति और सभ्यता के नारे वन गये। ये पश्चिम के कोई अच्छे निशान नही थे, पर कम-से-कम ऊपरी सतह पर उनका असर पडा, और तुर्की ने अपनी टोपी और अपनी पोशाक और अपने रहन-सहन का ढग वदल दिये। पर्दे मे पाली-पोसी हुई स्त्रियो की सारी पीढी ने कुछ ही वर्षों मे एकदम वदलकर वकीलो, अध्यापको, डॉक्टरो और जजो के काम सम्हाल लिये। इस्तम्बूल के वाजारो मे स्त्री-पुलिस भी दिखाई देती है। यह देखकर बडी दिलचस्पी होती है कि किस तरह एक चीज़ का असर दूसरी चीज पर होता है। लातीनी वर्णमाला को अपनाने से तुर्की मे टाइप-राइटरो का इस्तेमाल बहुत वढ गया। इससे शीघ्र-लिपि (शार्ट-हैण्ड) जाननेवाले टाइपिस्टों की ज़रूरत बढ़ गई, और इसका नतीजा हुआ स्त्रियो को और भी ज्यादा नौकरियाँ मिलना।

बच्चो को भी कई तरह से वढ़ावा दिया गया कि मकतवो के पुराने तोता-रटन्ती नमूने वनने के वजाय अब पूरा विकास करके अपने पाँवो पर खडे होनेवाले और लायक नागरिक वन जायँ। एक बडी निराली सस्था 'बच्चों का सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल एक हफ्ते के लिए हर सरकारी कर्मचारी की कुर्सी पर नाम के लिए एक-एक बच्चे को वैठा दिया जाता था और सारे राज्य का शासन बच्चे करते थे। मैं नही कह सकता कि यह काम कैसे चलता होगा, पर यह सूझ बडी मजेदार है, और मुझे यक़ीन है कि कुछ बच्चे चाहे जितने नादान और नातजुर्वेकार क्यो न हो, उनका बर्ताव हमारे बडी उम्रवाले और गम्भीर और रोवदार सूरतोवाले शासको व सरकारी कर्मचारियो के बर्ताव से ज्यादा नासमझी का नही हो सकता।

एक छोटा-सा परिवर्तन, पर तुर्की के शासको के नये विचारो का खास इशारा, सलाम करने के रिवाज को रोकना था। उन्होने साफ़ वतला दिया कि हाथ मिलाना सलाम करने का ज्यादा सभ्य तरीक़ा है, और आगे से इसीको अपनाया जाना चाहिए।

इसके वाद कमाल पाशा ने तुर्की भाषा पर, या यूँ कहो कि उसमे जिन्हें वह विदेशी तत्व मानता था उनपर, जवर्दस्त हमला वोल दिया। तुर्की भाषा

लिपि मे लिखी जाती थी, और कमाल पाशा इसे कठिन भी समझता था

और विदेशी भी। मध्य-एशिया मे सोवियतो के सामने भी इसी किस्म की समस्या आई थी, क्योकि कई तातारी कौमो की लिपियाँ अरबी या फारसी लिपियो से निकली हुई थी। १९२४ ई० मे सोवियतो ने इस सवाल पर विचार करने के लिए बाकू मे एक सम्मेलन बुलाया, और इसमे यह तय किया गया कि मध्य-एशिया की जुदा-जुदा तातारी भाषाओ के लिए लातीनी लिपि काम मे ली जाय। मतलब यह कि भाषाएँ तो वैसी-की-वैसी रही, पर वे लातीनी या रोमन अक्षरो मे लिखी जाने लगी। इन भाषाओ की खास ध्वनियो को अदा करने के लिए चिह्नो की खास तरकीब सोच निकाली गई। इस तरकीब ने मुस्तफा कमाल को मोह लिया और उसने इसे सीख लिया। उसने इसे तुर्की भाषा पर लागू किया, और इसके पक्ष मे उसने खुद ज़ोरदार कार्रवाई शुरू कर दी। लगभग दो वर्षों के प्रचार और सिखाई के बाद कानून के ज़रिये एक तारीख तय कर दी गई, जिसके बाद अरबी लिपि का इस्तेमाल मना कर दिया गया, और लातीनी लिपि लाज़िमी कर दी गई। अखबार, किताबें, वगैरा, हर चीज़ लातीनी लिपि मे निकालना ज़रूरी कर दिया गया। सोलह से चालीस वर्ष तक की उम्र के हर व्यक्ति को लातीनी वर्णमाला सीखने के लिए स्कूल मे जाना पडा। जो सरकारी कर्मचारी इस लिपि को न जानते हो, उन्हें बर्खास्त किया जा सकता था। कैदी लोग जबतक नई लिपि मे पढना-लिखना न सीख लेते तबतक उन्हें सज़ा पूरी होने पर भी जेलो से नही छोडा जाता था! तानाशाह अच्छी तरह पूरा काम कर सकता है, खासकर अगर वह लोकप्रिय भी हो। कोई भी दूसरी सरकारें जनता के जीवन मे इस कदर दखल देने की हिम्मत नही कर सकती।

इस तरह तुर्की मे लातीनी लिपि की जड जम गई, पर इसके बाद जल्द ही दूसरा परिवर्तन किया गया। यह देखा गया कि अरबी व फारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नही लिखे जा सकते थे, उनकी खास ध्वनियां और उनके बारीक भेद इसमे अदा नही किये जा सकते थे। खालिस तुर्की शब्द इतने उम्दा नहीं थे, वे ज्यादा अनगढ, ज्यादा सीधे और ज़ोरदार थे, और नई लिपि मे आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह फैसला किया गया कि तुर्की भाषा मे से अरबी व फारसी शब्दो को निकाल दिया जाय और उनकी जगह खालिस तुर्की शब्द रक्खे जायें। इस फैसले के पीछे अलबत्ता राष्ट्रीय सबब था। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, कमाल पाशा चाहता था कि जहाँतक हो तुर्की को अरबी व दूसरे पूर्वी असरो से दूर कर दिया जाय। अरबी व फारसी शब्दो और मुहावरो से भरी पुरानी तुर्की भाषा शाही उस्मानी दरबार के सजधज और टीम-टामवाले रहन-सहन के लिए भले ही काफी माकूल हो, पर नये व ज़ोरदार गणतन्त्री तुर्की के लिए वह माकूल नही समझी गई। इसलिए अरबी-फारसी के उम्दा-उम्दा शब्द छोड दिये गए और विद्वान्, प्रोफेसर व दूसरे लोग किसानो की भाषा सीखने को,

और पुराने ख़ालिस तुर्की नस्ल के शब्दो की तलाश करने को, गाँव-गाँव घूमने लगे। यह परिवर्तन आजकल हो रहा है। उत्तरी भारत के हम लोग अगर ऐसा परिवर्तन करे, तो उसका अर्थ यह होगा कि हमे लखनऊ या दिल्ली की लच्छेदार और कुछ-कुछ बनावटी हिन्दुस्तानी को छोडना होगा, जो पुराने दरबारी ढग की बची-खुची निशानी है, और उसकी जगह देहात के बहुत सारे गँवारू शब्दो को अपनाना होगा।

भाषा मे इन परिवर्तनो के सबब से नगरो और व्यक्तियो के नामो मे भी परिवर्तन हो गये हैं। जैसा कि तुम जानती हो, कुस्तुन्तुनिया अब इस्ताम्बूल हो गया है, अगोरा अब अकारा है, और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की मे व्यक्तियो के नाम आमतौर पर अरबी से लिये गए हैं—मुस्तफ़ा कमाल भी अरबी नाम है। नई चाल ख़ालिस तुर्की नाम रखने की हो गई है।

एक परिवर्तन, जिसकी वजह से बखेड़ा पैदा हो गया है, यह क़ानून है कि इस्लामी नमाज़ और अज़ान[1] भी तुर्की भाषा मे हो। मुसलमान लोग हमेशा से मूल अरबी मे नमाज़ पढते आये हैं, भारत में आज भी ऐसा ही होता है। इसलिए बहुत-से मौलवियो और मस्जिदो के मुल्लाओ ने महसूस किया कि यह नयापन अनुचित है, और उन्होंने अपनी नमाज़ अरबी मे जारी रक्खी। पर तुर्की सरकार ने इस विरोध को भी दूसरे विरोधो की तरह कुचल दिया है।

गत दस वर्षो के इन तमाम लम्बे-चौडे समाजी उलट-फेरो ने जनता की ज़िन्दगी के ढग को बिलकुल बदल दिया है, और पुराने रिवाजो व मज़हबी लगावो से बिलकुल अलग एक नई पीढ़ी तैयार हो रही है। मगर महत्व रखते हुए भी इन परिवर्तनो का देश के आर्थिक जीवन पर बहुत ज्यादा असर नही पडा है। चोटी पर कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनो के सिवा इसका आधार वही बना हुआ है, जो पहले था। कमाल पाशा अर्थ-शास्त्री नही है, पर न वह ऐसे बुनियादी परिवर्तनो का हामी है, जैसे सोवियत रूस मे हुए है। इसलिए, हालाँकि राजनीतिक मामलो मे उसका सोवियतो के साथ दोस्ती का नाता है, पर आर्थिक मामलो मे वह साम्यवाद से दूर ही रहता है। मालूम होता है कि उसके राजनीतिक व समाजी विचार महान् फ़ान्सीसी राज्यक्रान्ति से लिये हुए हैं।

अभी तक तुर्की मे नौकरी-पेशा वर्ग को छोडकर कोई ज़ोरदार मध्यम-वर्ग नही है। यूनानियो व दूसरे विदेशी लोगो को निकाल देने से व्यवसाय की हालत कमज़ोर पड गई है। पर अपनी आर्थिक स्वाधीनता से हाथ धोने की बनिस्बत तुर्की सरकार राष्ट्र की ग़रीबी को और उद्योगो के धीमे विकास को जान-बूझकर ज्यादा अच्छा समझती है। और चूंकि उसे डर है कि तुर्की मे बडे पैमाने पर विदेशी

---

[1] नमाज़ के लिए मस्जिद में मुल्ला की बाँग।

पूंजी के आ जाने से उसे अपनी आर्थिक स्वाधीनता से हाथ धोना पडेगा, और इसकी वजह से विदेशियो के हाथो देश का शोषण होगा, इसलिए उसने विदेशी उद्योगो का शुरू होना रोक दिया है। विदेशी माल पर भारी चुगियाँ लगा दी गई हैं। उद्योगो का राष्ट्रीयकरण हो गया है—यानी जनता की तरफ से सरकार उनकी मालिक है और उन्हें चलाती है। रेलमार्गों का निर्माण काफी तेजी से हो रहा है।

खेती मे कमाल पाशा की ज्यादा दिलचस्पी है, क्योकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र व सेना की रीढ रहा है। आदर्श फार्म बनाये गए हैं, ट्रैक्टर चालू कर दिये गए हैं, और सहकारी समितियो को बढावा दिया जा रहा है।

बाकी दुनिया की तरह तुर्की भी युद्ध के बाद की महामन्दी मे फँस गया था और उसे अपना खर्च चलाना मुश्किल हो गया था। पर वह तो मुस्तफा कमाल की रहनुमाई मे धीरे-धीरे और मजबूती के साथ आगे बढ रहा है, और मुस्तफा कमाल देश का सबसे ऊँचा नेता व तानाशाह बना हुआ है। उसे 'अता तुर्क' यानी देश-पिता का ओहदा दिया गया है, और आजकल वह इसी नाम से मशहूर है।[1]

: १६० :

भारत गांधीजी के पीछे चलता है

११ मई, १९३३

अब मैं तुम्हें भारत की हाल की घटनाओ के बारे मे कुछ बतलाऊँगा। बाहर की घटनाओ की बनिस्बत इनमे हमारी ज्यादा दिलचस्पी होना लाजिमी ही है, और मुझे अपने ऊपर काबू रखना पडेगा कि कही मैं बहुत ज्यादा ब्यौरो मे न चला जाऊँ। पर हमारी जाती दिलचस्पी के अलावा भी, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, आज भारत दुनिया की एक बडी समस्या है। साम्राज्यशाही हुकूमत का यह एक ही नमूनेदार और सबसे बढिया देश है। ब्रिटिश साम्राज्यशाही का सारा ढाँचा ही इसपर खडा है, और अंग्रेजो की इस सफल मिसाल ने दूसरे देशो को भी साम्राज्यशाही हौसलेबाजी के रास्ते पर चलने के लिए लुभाया है।

भारत के बारे मे अपने पिछले पत्र मे मैंने यहाँ युद्ध के जमाने मे होनेवाले परिवर्तनो का, भारतीय उद्योगो व भारतीय पूंजीपति वर्ग के विकास का, और भारतीय उद्योगो की तरफ ब्रिटिश नीति मे परिवर्तन का, जिक्र किया है। इंग्लैण्ड पर भारत का औद्योगिक और व्यापारी दबाव बढता जा रहा था, और इसी तरह राजनीतिक दबाव भी बढ रहा था। समूचे पूर्व मे राजनीतिक चेतना जाग रही थी,

[1] कमाल पाशा की मृत्यु १९३८ ई० मे हो गई, और उसके बाद इस्मत इनोनू तुर्की का राष्ट्रपति चुना गया।

सारी दुनिया मे युद्ध के बाद उथल-पुथल और बेचैनी हो रही थी। भारत मे खूनी क्रान्तिकारी हलचलें अक्सर सामने आती रहती थी। लोगो के दिलो मे बडी-बडी उमगें थी। खुद ब्रिटिश सरकार भी महसूस करने लगी थी कि कुछ-न-कुछ किया जाना चाहिए। राजनीतिक मैदान मे उसने एक जाँच की कार्रवाई की, और उसके बाद माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट मे परिवर्तन के कुछ सुझाव पेश किये गए। आर्थिक मैदान मे उसने उठते हुए मध्यम-वर्ग को बहलाने के लिए टुकडे फेंकने की कार्रवाई की, पर यह ध्यान रक्खा कि सत्ता और शोषण के गढ उसीके हाथों मे बने रहें।

युद्ध के बाद कुछ दिनो तक व्यापार की तरक्क़ी हुई और काफ़ी तेज़ी का ज़माना रहा, जिसमे ज़बर्दस्त मुनाफे बटोरे गये, ख़ासकर बगाल के पटसन व्यापार मे। हिस्सेदारो को बाँटे जानेवाले मुनाफे अक्सर सौ फीसदी से भी ऊपर पहुँच जाते थे। चीज़ो की कीमतें बढ गईं, और कुछ हद तक मजूरियाँ भी बढीं, पर क़ीमतो के मुकाबले बहुत कम। क़ीमतो के साथ काश्तकारो के ज़मीदारों को दिये जानेवाले लगान भी बढ गये। इसके बाद मन्दी आई और व्यापार मन्दा होने लगा। कारखानो के मज़दूरो व खेतिहरो की हालत खराब हो गई और बेचैनी तेज़ी के साथ बढने लगी। दिन-पर-दिन ज़्यादा बुरी हालतें होने से कारखानो मे बहुत हडतालें होने लगी। अवध मे जहाँ ताल्लुकेदारी-प्रथा के मातहत काश्तकार-वर्ग की हालत खासतौर पर खराब थी, एक ज़बर्दस्त किसानी आन्दोलन बिलकुल अपने-आप ही पैदा हो गया। पढे-लिखे निचले मध्यम-वर्गों मे बेकारी बढ़ने लगी, जिसके सबब से बहुत मुसीबत फैली।

युद्ध के बाद के शुरू के दिनो मे आर्थिक तसवीर यही थी और अगर तुम इसे ध्यान मे रक्खोगी तो तुम्हें राजनीतिक घटनाचक्र को समझने मे मदद मिलेगी। देश मे लडाकू भावना फैल रही थी और तरह-तरह के रूपो मे ज़ाहिर हो रही थी। कारख़ानो का मज़दूर-वर्ग ट्रेड यूनियनें बनाकर अपना संगठन कर रहा था और बाद मे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को बढाने मे लग गया था। छोटे-छोटे ज़मीदार और मौरूसी काश्तकार सरकार से नाराज़ थे और राजनीतिक कार्रवाई को अच्छी निगाह से देख रहे थे। कहावत है कि चोट खाने पर कीडा भी उलटकर वार करता है, इसी तरह काश्तकार भी उलटने की कोशिश कर रहे थे। और मध्यम-वर्ग, खासकर बेरोजगार-वर्ग, के लोग साफ़तौर पर राजनीति की तरफ झुक रहे थे। और उनमे से कुछ गिने-चुने व्यक्ति क्रान्तिकारी हलचलो की तरफ झुक रहे थे। इन हालतो का हिन्दुओ, मुसलमानो, सिक्खो, वग़ैरा सबपर एक-सा असर पड रहा था, क्योंकि आर्थिक हालत मजहबी अलगावो की कोई परवाह नही करती। पर मुसलमान लोग इसके अलावा भी तुर्की के

खिलाफ युद्ध से, और इस डर से कि ब्रिटिश सरकार जजीरत-उल-अरब कहलानेवाले मक्का, मदीना और येरूशलम के पाक शहरो पर कब्जा कर लेगी, बहुत भड़के हुए थे (येरूशलम यहूदियो, ईसाइयो और मुसलमानो, तीनो के लिए पवित्र शहर है)।

बस, गुस्से से भरा, कुछ लड़ने पर आमादा और ज्यादा उम्मेदवार न होते हुए भी उम्मेद लगाये हुए भारत युद्ध के बाद कुछ मिलने की बाट देख रहा था। कुछ ही महीनो के अन्दर नई ब्रिटिश नीति के जिन पहले फलो की बेताबी से बाट देखी जा रही थी, वे क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए खास कानून बनाने के प्रस्ताव के रूप मे सामने आये। ज्यादा आजादी के बजाय ज्यादा दमन होनेवाला था। ये बिल एक कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर रक्खे गये थे और 'रौलट बिल' के नाम से मशहूर हुए। पर सारे देश मे ये बहुत जल्दी 'काले बिल' कहलाने लगे। हर जगह, हर भारतीय ने, यहांतक कि नर्म-से-नर्म विचारवाले भारतीय ने भी, इन बिलो की निन्दा की। सरकार को और पुलिस को इन बिलो ने ऐसे बहुत ज्यादा इख्तियार दे दिये थे कि जिस किसी व्यक्ति पर उन्हें नाराजी या सन्देह हो, उसे गिरफ्तार किया जा सकता था, बिना मुक़दमा चलाये जेल मे डाला जा सकता था, या उसपर गुप-चुप मुकदमा चलाया जा सकता था। उन दिनो इन बिलो के बारे मे यह बात मशहूर हो गई थी कि 'न वकील, न अपील, न दलील'। ज्योंही इनके खिलाफ मचनेवाली दुहाई ने जोर पकड़ा, त्योंही एक नया तत्व, राजनीतिक क्षितिज पर एक छोटा-सा बादल, प्रकट हुआ जो तेजी के साथ बढ़कर और फैलकर सारे भारतीय आकाश पर छा गया।

यह नया तत्व मोहनदास करमचन्द गाधी था। गाधीजी युद्ध-काल मे दक्षिण अफ्रीका से भारत लौट आये थे, और अपने साथियो को लेकर साबरमती के पास आश्रम मे बस गये थे। अभी तक वह राजनीति से दूर रहे थे। उन्होने युद्ध के लिए रंगरूटो की भर्ती मे सरकार को मदद भी दी थी। दक्षिण अफ्रीका मे उनकी सत्याग्रह की लड़ाई के समय से भारत मे तो लोग उन्हें अच्छी तरह जानते ही थे। १९१७ ई० मे उन्होंने बिहार के चम्पारन जिले के निलहे गोरो से सताये हुए और रौंदे हुए काश्तकारो की कामयाबी के साथ हिमायत की थी। बाद मे वह गुजरात के खेड़ा जिले के किसानो के लिए लड़े थे। १९१९ ई० के शुरू मे वह बहुत बीमार पड़ गये। इस बीमारी से वह पूरी तरह उठने भी न पाये थे कि रौलट बिल-विरोधी हलचल देश-भर मे फैल गई। चारो तरफ़ जो दुहाई मच रही थी, उसमे गाधीजी ने भी अपनी आवाज़ शामिल कर दी।

लेकिन यह आवाज़ दूसरी आवाज़ो से कुछ अलग तरह की थी। यह बे-शोर और धीमी थी, फिर भी भीड़ के शोरगुल के ऊपर सुनाई दे सकती थी। यह मुलायम और हल्की थी, पर मालूम होता था कि उसमे कही फौलाद की धार

छिपी हुई है। यह नम्र और दिल को छूनेवाली थी, पर फिर भी उसमें कोई डरावनी और दहशत पैदा करनेवाली चीज़ थी। इसका हर शब्द अर्थ-भरा था और उसमें जान लडाने की सच्ची लगन थी। सुलह और दोस्ती की भाषा के पीछे शक्ति थी, और कर्म की कांपती हुई छाया थी, और असत्य के आगे सिर न झुकाने का पक्का इरादा था। उस आवाज़ से अब हम परिचित हो चुके हैं, पिछले चौदह वर्षों मे हमने इसे बहुत बार सुना है। पर १९१९ ई० के फरवरी और मार्च मे यह हमारे लिए नई थी; हम अच्छी तरह समझ नही पाते थे कि इसका क्या अर्थ है, पर हम थर्रा उठते थे। यह चीज़ हमारी उस कोरी निन्दा करनेवाली गला-फाड राजनीति से बहुत अलग तरह की थी, जिसके लम्बे-लम्बे भाषण सदा एक-सरीखे उन बेकार और बेअसर प्रस्तावो पर ही खत्म हो जाते थे, जिनपर कोई ध्यान नही देता था। यह कर्म करने की राजनीति थी, कोरी बातो की नही।

महात्मा गाधी ने उन लोगो की सत्याग्रह-सभा बनाई, जो कुछ चुने हुए कानूनो को तोडने के लिए और इस तरह से जेल जाने के लिए तैयार थे। उस वक्त यह बिलकुल नया विचार था, जिस पर हममे से बहुत-से तो उतावले हो गये पर बहुत-से सहम गये। आज यह बहुत ही मामूली घटना हो गई है और हममे से ज्यादातर के लिए तो यह जिन्दगी का एक बंधा हुआ और बाकायदा सिलसिला बन गया है।

अपने कायदे के मुताबिक गाधीजी ने वायसराय को बडी नम्र अपील और चेतावनी भेजी। जब उन्होंने देखा कि सारे भारत के एक स्वर से विरोध के बावजूद ब्रिटिश सरकार रौलट बिलो को पास करने पर तुली हुई है, तो उन्होंने आवाज उठाई कि जिस दिन ये बिल कानून बन जायें, उससे आगे के पहले रविवार को सारे भारत मे मातम का दिन मनाया जाय, हडताल की जाय, सब कारोबार बन्द रक्खे जायें और सभाएँ की जायें। सत्याग्रह आन्दोलन इसी दिन से शुरू किया जानेवाला था, इसलिए ६ अप्रैल, १९१९ ई० के दिन सारे देश में, हर नगर और गाँव मे, सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। अपने ढग का यह पहला ही अखिल भारतीय प्रदर्शन था, जिसका निराला ही गहरा असर रहा, और जिसमे हर किस्म के लोगो ने और समुदायो ने भाग लिया। हमारे जिन लोगो ने इस हडताल के लिए कोशिशें की थी, वे इसकी सफलता को देखकर हैरत मे भर गये। हम शहरो के कुछ गिने-चुने लोगो के ही पास पहुँच पाये थे। पर हवा मे एक नया जोश भर रहा था, और किसी तरह यह सन्देश हमारे विशाल देश के दूर-से-दूर गांवो तक मे जा पहुँचा। पहली ही बार देहात के लोगो ने और शहरी मजदूरो ने सारी जनता के इस राजनीतिक प्रदर्शन मे भाग लिया।

दिल्लीवालो ने अप्रैल की ६ तारीख से एक सप्ताह पहले, तारीख की गलत-
ःमी से, इससे पहले के रविवार यानी ३१ मार्च को ही हडताल मना ली। वे
न दिल्ली के हिन्दुओ और मुसलमानो मे अद्‌भुत भाईचारे और मेल-मिलाप
थे, और लोगो ने आर्यसमाज के वडे नेता स्वामी श्रद्धानन्द का दिल्ली की मशहूर
ामा मस्जिद मे भारी भीडो के सामने भाषण देने का निराला नजारा देखा।
१ मार्च को पुलिस और फौज के सिपाहियो ने वाजारो की भारी भीडो को तितर-
तर करने की कोशिश की और उनपर गोलियाँ चलाई, जिनसे कुछ लोग मारे गये।
न्यासी के भेष-मे-वुलन्द और शानदार दिखाई देनेवाले स्वामी श्रद्धानन्द चांदनी
ौक मे छाती खोलकर और वेधडक होकर गुरखो की सगीनो के सामने खडे
' गये। इनसे तो वे वच गये और इस घटना से भारत-भर मे खुशी की लहर
ाड गई, पर दु:ख की बात तो यह है कि इस घटना को पूरे आठ वर्ष भी नही वीते
कि जव वह रोगशय्या पर पडे थे तब एक मजहवी दीवाने मुसलमान ने धोखे
गोली मारकर उन्हें मार डाला।

६ अप्रैल के उस सत्याग्रह-दिवस के वाद घटनाएँ तेजी के साथ दौडने लगी।
० अप्रैल को अमृतसर मे भी फिसाद हुआ। डा० किचलू व डॉ० सत्यपाल की
ारफ्तारी पर शोक मनानेवाली निहत्थी और सिर-नगी भीड पर फौज के
िपाहियो ने गोलियाँ चला दी, जिनसे वहुत लोग मारे गये। इसपर भीड ने
फ्तरो मे वैठे हुए पाँच-छै वेकसूर अग्रेजो को मारकर और उनके वैको की
मारतो मे आग लगाकर पागलपन भरा वदला निकाला। फिर तो पजाव पर
ानो पर्दा पड गया। खवरो पर कडा सेन्सर विठाकर उसे वाकी भारत से काट
दया गया था, वहाँ से कोई खवर नही आने पाती थी, और लोगो के लिए इस
ान्त मे जाना या वहाँ से आना बहुत मुश्किल था। वहाँ फौजी कानून लगा
दया गया था, और इसकी सख्त तकलीफ कई महीनो तक लोगो को सहनी
डी। धीरे-धीरे हफ्तो और महीनो की दर्दभरी अकुलाहट के वाद पर्दा उठा
ौर लोगो को उन खौफनाक सच्ची घटनाओ का पता लगा।

पजाव मे फौजी शासन के जमाने की दिल दहलानेवाली वातो का जिक्र
ै यहाँ नही करूँगा। अमृतसर के जलियाँवाला वाग मे १३ अप्रैल को जो हत्याकाण्ड
आ उसे सारी दुनिया जानती है। मौत के उस पिजरे मे, जिसमे से वच निकलने
ा कोई रास्ता नही था, हजारो मर गये और घायल हुए। 'अमृतसर' शब्द ही
त्याकाण्ड का अर्थ रखनेवाला हो गया है। यह तो वुरा था ही पर इसके अलावा
ारे पजाव मे और भी इससे ज्यादा शर्मनाक कारनामे हुए।

इतने वर्ष वीत जाने पर भी इस सारी वहशत और खौफनाक हालत को
ूलना मुश्किल है, पर फिर भी इसे समझना कठिन नही है। भारत मे अग्रेजो

की हुकूमत का ढग ही ऐसा है कि वे सदा अपनेको ज्वालामुखी के किनारे पर बैठा हुआ महसूस करते हैं। उन्होंने भारत के दिल या दिमाग को न तो कभी समझा और न कभी समझने की कोशिश की। अपनी लम्बे-चौडे और पेचीदा इन्तज़ामी ढांचे पर, और पीछे से उसे सहारा देनेवाले बल पर, भरोसा करते हुए वे अपनी ज़िन्दगी अलग ही बिताते रहे हैं। पर उनके इस सारे भरोसे के पीछे अनजान होनी का भय सदा बना रहता है, और डेढ सौ वर्षों के राज के बावजूद भी भारत उनके लिए अनजान देश बना हुआ है। १८५७ ई० के विद्रोह की यादें उनके दिमाग मे अभी तक ताज़ा हैं, और ये महसूस करते हैं कि मानो वे किसी अजनबी और दुश्मनी रखनेवाले देश में रहते हैं, जो किसी भी दिन उनपर उलटकर उन्हें साफ कर सकता है। उनके पीछे की ज़मीन आमतौर पर यही है। इसलिए जब इन्होने अपने खिलाफ लडने पर आमादा एक जबर्दस्त आन्दोलन देशभर मे उठता हुआ देखा तो, उनके मन मे डर पैदा हुआ। जब अमृतसर मे की गई १० अप्रैल की खूनी कार्रवाइयो का समाचार लाहौर मे पजाब के ऊँचे अफ़सरो के पास पहुँचा तो उनके होश बिलकुल गुम हो गये। उन्होंने समझा कि १८५७ ई० के विद्रोह की तरह यह भी बडे पैमाने पर दूसरा खूनी विद्रोह है, और सारे अंग्रेज़ लोगों की जानें खतरे मे हैं। उन्हें खतरे की लाल झण्डी दिखाई देने लगी, और उन्होंने आतक जमाने का फैसला कर लिया। जलियांवाला बाग़ और फौजी कानून और जो कुछ इनके बाद हुआ, वह सब इनके सोचने के इसी ढग का नतीजा था।

डरे हुए आदमी की बौखलाहट को भले ही कोई माफ न कर सके, पर वह उसे समझ सकता है, चाहे खौफ़ या असली सबब कुछ भी न हो। पर जिस चीज ने भारत को और भी ज्यादा हैरत मे डाला और गुस्सा दिलाया वह यह थी कि जिस जनरल डायर ने अमृतसर मे गोलियाँ चलवाई थी, और गोलियाँ चलवाने के बाद हज़ारो घायलो की तरफ वहशियाना लापरवाही दिखाई थी, उसने कई महीनों बाद अपनी इस कार्रवाई को बडे ताने के साथ वाजिब ठहराया। घायलो के बारे मे उसने कहा था—"यह मेरा काम नहीं था।" इग्लैण्ड के कुछ लोगो ने और वहाँ की सरकार ने डायर की हलकी-सी बुराई की, पर इग्लैण्ड के शासक-वर्ग का असल रवैय्या लॉर्ड-सभा की उस बहस मे प्रकट हुआ, जिसमे डायर पर तारीफ़ो की बौछार की गई। इन सब बातो ने भारत के गुस्से की आग मे घी का काम किया और पंजाब पर किये गए अत्याचारो से देश-भर मे सख्त कडवाहट पैदा हो गई। पंजाब मे सचमुच जो कुछ हुआ, उसका पता लगाने के लिए सरकार और कांग्रेस दोनों ने जाँच कमेटियाँ मुकर्रर कर दी थी। देश मे उनकी रिपोर्टों की बाट देखी जा रही थी।

उस साल से १३ अप्रैल का दिन भारत के लिए 'राष्ट्रीय दिवस' बन गया

है, और ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक के आठ दिन 'राष्ट्रीय सप्ताह' वन गये हैं। जलियाँवाला वाग अब राजनीतिक तीर्थस्थान हो गया है। आजकल यह खूबसूरत ढग से लगाया हुआ बाग है और उसकी पुरानी दिल दहलानेवाली सूरत बहुत-कुछ बदल गई है। पर याद अभी तक बाकी है।

उस साल, १९१९ ई० के दिसम्बर मे, एक अजीब सयोग से कांग्रेस का सालाना जलसा अमृतसर मे ही हुआ। चूंकि जाँचो के नतीजो की बाट देखी जा रही थी, इसलिए इस कांग्रेस मे कोई बडे फैसले नही किये गए, पर यह जाहिर हो गया कि कांग्रेस बदल गई थी। वह अब कुछ-कुछ जनता की कांग्रेस बन गई थी, और उसमे एक नई जीवट पैदा हो गई थी जो कुछ पुराने कांग्रेसजनों को घबराने-वाली थी। सदा की तरह अडिग लोकमान्य तिलक अपनी जिन्दगी मे आखिरी बार कांग्रेस मे भाग लेने आये थे, क्योंकि अगले कांग्रेस-अधिवेशन से पहले ही उनकी मृत्यु होनेवाली थी। इस कांग्रेस मे गाधीजी भी आये थे, जो जनता मे लोकप्रिय हो गये थे और कांग्रेस व भारतीय राजनीति पर जिनके रोब-दाब का लम्बा जमाना शुरू हो रहा था। इस कांग्रेस मे सीधे जेल से छूटकर बहुत-से नेता भी आये थे, जिन्हें फौजी कानून के दिनो मे षड्यन्त्र के बेहूदे मुकदमो मे फँसा दिया गया था और लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गई थी, पर अब उन सजाओ को माफ करके उन्हें छोड दिया गया था। और मशहूर अली-बन्धु[1] भी आये थे, जो कई वर्षों की नजर-बन्दी के बाद उसी समय छोडे गये थे।

अगले साल कांग्रेस लडाई मे कूद पडी और उसने गाधीजी के असहयोग का कार्यक्रम अपना लिया। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन मे यह कार्यक्रम मजूर किया गया और बाद मे नागपुर के सालाना अधिवेशन मे इसे तसदीक कर दिया गया। इस लडाई का तरीका पूरी तरह शान्ति का, यानी अहिंसा (बिना खून-खराबी) का रक्खा गया था और इसका आधार यह था कि भारत के शासन और शोषण मे सरकार को कोई मदद न दी जाय। इसकी शुरुआत कुछ बायकाटों से होनेवाली थी, जैसे विदेशी सरकार के दिये हुए खिताबो, सरकारी जलसो वगैरा का, वकीलों व मुकदमेबाजो द्वारा अदालतो का, सरकारी स्कूलो व कॉलेजो का, और माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारो के मातहत नई कौन्सिलो का। आगे चलकर इन बायकाटो मे असैनिक व सैनिक नौकरियो को और टैक्सो को भी शामिल किया जानेवाला था। रचनात्मक कार्यक्रम मे हाथ-कताई और खद्दर पर, और सरकारी अदालतो के बजाय पचायती अदालतें कायम करने पर, जोर दिया गया था। हिन्दू-मुस्लिम एकता और हिन्दुओ मे छुआछूत मिटाना इस आन्दोलन के दो और सबसे ज्यादा महत्व के अग थे।

---

[1] मौलाना मोहम्मदअली और मौलाना शौकतअली।

काग्रेस ने अपना सविधान भी बदल दिया, और वह कार्रवाई करने के काबिल जमात बन गई। साथ ही उसने अपनी मेम्बरी का दरवाजा जनता के लिए खोल दिया।

अबतक काग्रेस जो करती चली आई थी, उससे अब यह कार्यक्रम बिलकुल ही अलग चीज़ था, सचमुच यह दुनिया मे ही बिलकुल नई चीज़ थी, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का दायरा बहुत छोटा रहा था। इसका अर्थ था कि कुछ लोग फौरन और भारी कुर्बानियाँ दें, जैसे वकीलो से कहा गया था कि वे अपनी वकालत छोड दें, और विद्यार्थियो से कहा गया था कि सरकारी कॉलेजो का बायकाट कर दे। इसके बारे मे कोई पक्की राय देना मुश्किल था, क्योंकि इसे नापने के लिए कोई गज़ ही नही था। इसलिए अगर पुराने और अनुभवी काग्रेसी नेता आगा-पीछा सोचने लगे और दुविधा मे पड गये, तो इसमे अचम्भे की कोई बात नही थी। काग्रेस के सबसे बडे नेता लोकमान्य तिलक की मृत्यु इसके कुछ दिन पहले ही हो चुकी थी। बाकी के नामी काग्रेसी नेताओ मे सिर्फ़ अकेले मोतीलाल नेहरू ने शुरू की मजिलो मे गाधीजी का समर्थन किया था। पर साधारण काग्रेसजन के, या हर आदमी के, या जनता के रुख के बारे मे कोई शक न था। गाधीजी इन्हे अपने साथ बहा ले गये और उन्होंने इनपर मानो जादू डाल दिया। और 'महात्मा गाधी की जय' के ऊँचे नारो के साथ इन लोगो ने अहिंसावाले असहयोग के नये सिद्धान्त की मजूरी ज़ाहिर की। मुसलमानो में भी इसके लिए उतना ही जोश था, जितना दूसरो मे। सच तो यह है कि अली-बन्धुओ की रहनुमाई मे चलनेवाली खिलाफत कमेटी ने तो इस कार्यक्रम को काग्रेस से भी पहले अपना लिया था। जल्द ही जनता के जोश ने और आन्दोलन की जल्दी सफलताओ ने पुराने काग्रेसी नेताओ मे से ज्यादातर को इस आन्दोलन मे खीच लिया।

इन पत्रो मे मैं इस बिलकुल नई तरह के आन्दोलन की खूबियों-कमियों की, या इसे ठीक बतानेवाली दलीलो की, जाँच नही कर सकता। यह सवाल इतना पेचीदा है कि मेरे बूते से बाहर है, और सिवाय गाधीजी के, जो इसके कर्ता हैं, शायद कोई भी इसकी तसल्ली देने लायक व्याख्या नही कर सकता। फिर भी हमको इसे एक बाहरी व्यक्ति के नज़रिये से देखना चाहिए, और यह समझने की कोशिश करनी चाहिए कि यह इतनी तेज़ी से और सफलता से कैसे फैल गया।

मैं गरीब जनता पर पडनेवाले आर्थिक दबाव का, और विदेशी शोषण के मातहत उनकी बराबर गिरी हुई हालत का, और मध्यम-वर्गों मे बेकारी बढने का, ज़िक्र कर चुका हूँ। इसका इलाज क्या था? राष्ट्रीयता के विकास ने लोगो का ध्यान राजनीतिक आज़ादी की ज़रूरत की तरफ फेर दिया। आज़ादी

सिर्फ इसीलिए ज़रूरी नही थी कि पराधीन और गुलाम बने रहना ज़लालत था, या सिर्फ इसीलिए नही कि जैसा तिलक ने कहा था 'स्वराज हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे', बल्कि हमारी जनता की गरीबी के बोझ को कम करने के लिए भी जरूरी थी। पर यह आज़ादी कैसे हासिल हो सकती थी? ज़ाहिर था कि चुपचाप बैठे रहने और इन्तज़ार करते रहने से वह हमे मिलनेवाली नही थी। और यह भी इतना ही ज़ाहिर था कि कोरे विरोध और भीख मांगने के तरीके, जिनपर काग्रेस अबतक थोडी-बहुत सरगर्मी के साथ चल रही थी, किसी कौम की शान के खिलाफ ही नही थे, बल्कि बेकार और बे-असर भी थे। इतिहास मे ऐसी कोई मिसाल नही है, जिसमे इस किस्म के तरीके सफल हुए हो, या इनसे शासक-वर्ग अथवा खास रियायती वर्ग सत्ता छोडने को मजबूर हुए हो। इतिहास ने तो सचमुच हमे यह बतलाया था कि जिन कौमो को या वर्गों को गुलाम बना लिया गया था, उन्होंने अपनी आज़ादी खूनी बग़ावतो या विद्रोहो के ज़रिये हासिल की थी।

भारतीय जनता के लिए हथियारो की बगावत का कोई सवाल ही नही दिखाई देता था। हम लोग निहत्थे कर दिये गए थे, और हममे से बहुत ज्यादा लोग तो हथियार चलाना ही नही जानते थे। इसके अलावा मार-काट की लडाई ब्रिटिश सरकार की या किसी भी राज्य की सगठित शक्ति इतनी ज्यादा थी कि उसके मुकाबले मे कोई चीज़ खडी नही की जा सकती थी। फौजो मे गदर हो सकता था, पर निहत्थे लोगो का बगावत करना और हथियारबन्द फौजो का मुकाबला करना मुमकिन नही था। दूसरी तरफ, व्यक्तियो पर वार करने की नीति यानी अलग-अलग अफसरो को बम से या पिस्तौल से मार डालना दिवालियापन की नीति थी। यह चीज़ कौम को गिरानेवाली थी, और यह ख़याल बेहूदा था कि वह एक सगठित शक्तिशाली सरकार को हिला सकेगी, व्यक्तियो को भले ही वह चाहे जितनी दहशत दिला दे। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, इस किस्म की व्यक्तियो की मार-काट रूसी क्रान्तिकारियो तक ने भी त्याग दी थी।

तब फिर क्या रह जाता था? रूस अपनी क्रान्ति मे सफल हो गया था, और उसने मज़दूरो का गणराज्य कायम कर लिया था, और उसके तरीके थे सामूहिक कार्रवाई, जिसकी पीठ पर सेना का सहारा था। पर रूस मे भी सोवियतो को तभी कामयाबी मिली थी जबकि युद्ध के नतीजो से देश व पुरानी सरकार दोनो बिलकुल पस्त हो चुके थे, और सोवियतो का विरोध करनेवाला कोई बचा ही नही था। इसके अलावा उस समय भारत मे रूस को या मार्क्सवाद को कोई जानता भी न था और न मज़दूरो या किसानो की बाबत कुछ सोचता ही था।

इसलिए ये सब अन्धी गलियां थी, और ज़लालतभरी गुलामी की

सहन न की जा सकनेवाली हालतो मे से निकलने का कोई रास्ता नजर नही आता था। जो लोग जरा भी नाजुक-तबीयत थे, वे जबर्दस्त उदासी और लाचारी महसूस कर रहे थे। ठीक इसी मौके पर गाधीजी ने अपना असहयोग का कार्यक्रम देश के सामने रक्खा। आयर्लैण्ड के शिनफेन की तरह इसने हमे अपने ऊपर भरोसा करना और अपनी ताक़त बढाना सिखाया, और सरकार पर दबाव डालने का तो यह बहुत ही असरदार तरीका साफ दिखाई दे रहा था। सरकार तो ज्यादातर भारतवासियो की, मर्ज़ी या बेमर्ज़ी के, सहयोग पर टिकी हुई थी, और अगर यह सहयोग हटा लिया जाता और बायकाट पर अमल किया जाता, तो फ़र्ज़ी तौर पर तो सरकार के सारे ढाँचे को गिरा देना बिलकुल सम्भव था। और अगर असहयोग इतनी दूर न भी पहुँच पाता, तो भी इसमे तो कोई शक नही था कि इससे सरकार पर जबर्दस्त दबाव पड सकता था, और साथ ही जनता का बल बढ सकता था। असहयोग पूरी तरह शान्ति के साथ होनेवाला था, पर फिर भी वह कोरा अ-प्रति-रोध यानी खामोश मुकाबला नही था। सत्याग्रह गलत समझी जानेवाली बातो के मुकाबले का साफ-साफ, पर अहिंसावाला रूप था। अमल मे वह बिना मार-काट की बगावत था, लडाई लडने का सबसे ज्यादा सभ्य तरीका था, पर फिर भी राज्य के टिकाऊपन के लिए खतरनाक था। जन-समूह से अपना फर्ज अदा कराने का यह असरकारक उपाय था, और भारत के लोगो की अपनी खास तबीयत से मेल खाता हुआ नज़र आता था। हमको तो यह बडा भलामानस साबित करता था और सामनेवाले को मानो गलत साबित कर देता था। इसने हमारा वह डर दूर कर दिया, जिसके मारे हम मरे जा रहे थे, और हम इस तरह तनकर लोगो के सामने खडे होने लगे जैसा कि पहले कभी नही हुआ था, और अपने मन की बात पूरी तरह और साफ-साफ कहने लगे। हमारे दिलो पर से मानो बडा भारी बोझ हट गया और बोलने व काम करने की इस आज़ादी ने हमारे दिलो मे भरोसा और बल भर दिये। और, सबसे बडी बात यह हुई कि शान्ति के उपायों ने बहुत हद तक उन ज़बर्दस्त दुश्मनी के नस्ली व राष्ट्रीय वैर-भावो को नहीं बढने दिया जो अबतक सदा से ऐसी लडाइयो के साथ-साथ पैदा होते रहे थे, और इस तरह अन्त मे जाकर निबटारा ज्यादा आसान कर दिया।

इसलिए, अगर असहयोग के इस कार्यक्रम ने, जिसके साथ गाधीजी की निराली शख्सियत जुडी हुई थी, देश के खयालो को जगा दिया और उसे आशा से भर दिया, तो इसमे ताज्जुब की बात नही थी। यह फैलने लगा, और इसके आते ही पुरानी पस्त-हिम्मती गायब हो गई। नई काग्रेस ने देश के ज्यादातर जानदार तबक़ो को अपनी तरफ खीच लिया और उसका बल व उसकी इज़्ज़त बढने लगी।

इसी बीच सुधारों की माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-योजना के मातहत नई कौन्सिलें और असेम्बलियाँ बनाई जा चुकी थी। नर्म दल ने, जो अब उदार दल कहलाने लगा था, इनका स्वागत किया था और वे उनके मातहत मन्त्री या दूसरे सरकारी अफ़सर बन गये थे। वे तो एक तरफ़ से सरकार मे ही मिल गये थे, और उन्हें जनता का कोई समर्थन नही था। काग्रेस ने इन विधान-मण्डलो का बायकाट कर दिया था, और देश मे इनकी तरफ़ किसीका ध्यान नही था। सबकी निगाहें असली लडाई की ओर लगी हुई थी, जो बाहर नगरो में और गाँवो मे चल रही थी। पहली ही बार बहुतेरे काग्रेस कार्यकर्त्ता गाँवो मे गये, और वहाँ उन्होंने काग्रेस कमेटियाँ कायम की, और गाँवो के लोगो मे राजनीतिक चेतना फैलाने मे सहायता दी।

मामला अब तूल पकडने लगा था, और दिसम्बर, १९२१ ई० मे मुठभेड रुक नही सकी। इग्लैण्ड के युवराज की भारत-यात्रा, जिसका कांग्रेस ने बायकाट कर दिया था, इस मुठभेड का सबब बन गई। भारत-भर मे सामूहिक गिरफ्तारियाँ हुईं और जेलें हज़ारो 'राजबन्दियो' (राजनीतिक कैदियो) से भर गईं। हममे से बहुतो को तो जेल के भीतर का तब पहली बार तजुर्बा हुआ। काग्रेस के चुने हुए अध्यक्ष देशबन्धु चितरजनदास भी गिरफ्तार हो गये, और उनकी जगह पर अहमदाबाद-अधिवेशन की सदारत हकीम अजमलखा ने की। पर तबतक खुद गाधीजी को गिरफ्तार नही किया गया था। बस, आन्दोलन बढने लगा, और जो लोग गिरफ्तारी के लिए आगे आते थे, उनकी सख्या गिरफ्तार किये जानेवालो से सदा ज्यादा होती थी। चूकि नामी नेता और कार्यकर्त्ता जेलों मे ठूँस दिये गए थे, इसलिए नातजुर्बेकार और कभी-कभी ग़लत लोग तक भी (कभी-कभी खुफ़िया पुलिस के एजेण्ट भी), उनकी जगह लेने लगे, और ढांचा बिखर गया और कुछ मार-काट भी हुई। १९२२ ई० के शुरू के दिनो मे उत्तर प्रदेश मे गोरखपुर के पास चौरी-चौरा मे किसानो की भीड व पुलिस के बीच भिडन्त हो गई, जिसके बाद किसानो ने पुलिस चौकी को, जिसमे कुछ सिपाही भी थे, जला डाला। इस घटना से व ऐसी ही दूसरी घटनाओ से, जिनसे जाहिर होता था कि आन्दोलन बेतरतीब और खूनी होता जा रहा है, गाधीजी के दिल को बहुत चोट पहुँची। इसलिए उनके सुझाव पर काग्रेस कार्य-समिति ने असहयोग का कानून-भगवाला कार्यक्रम रोक दिया। इसके कुछ ही दिन बाद गाधीजी भी गिरफ्तार कर लिये गए, उनपर मुकदमा चला, और उन्हें छै साल कैद की सजा दे दी गई। यह मार्च, १९२२ ई० की बात है। असहयोग-आन्दोलन का पहला दौर इस तरह खत्म हुआ।

: १६१ :

सन् १९२०-३० ई० में भारत की हालत

१४ मई, १९३३

१९२२ ई० मे सविनय-अवज्ञा आन्दोलन के रोक लिये जाने पर असहयोग का पहला दौर खत्म हो गया, पर इसे रोक दिये जाने से बहुत-से काग्रेसजनो को बडी नाराजी हुई। इससे बडी भारी बेदारी पैदा हो गई थी। करीब ३०,००० व्यक्ति कानून तोडकर जेल गये थे। क्या यह सब फिजूल जानेवाला था, और क्या आन्दोलन को उसका मकसद हासिल होने से पहले ही अध-बीच मे सिर्फ इसलिए रोक देना चाहिए था कि कुछ बेचारे जोशीले किसानो ने गडबड कर दी थी ? आजादी तो अभी बहुत दूर थी और ब्रिटिश सरकार पहले ही की तरह अपना काम कर रही थी। दिल्ली मे और प्रान्तो मे कानून बनानेवाली कौन्सिलें थी, पर इनके हाथ मे असली सत्ता कुछ भी नहीं थी। काग्रेस ने उनका बायकाट कर दिया था। गाधीजी जेल मे थे।

अगला कदम क्या हो, इसके बारे मे काग्रेस के कार्यकर्ताओ मे बहुत मतभेद था, और काग्रेस की नीति मे परिवर्तन की पैरवी करने के लिए 'स्वराज पार्टी' के नाम से एक दल बनाया गया। इनका सुझाव था कि असहयोग के बुनियादी कार्यक्रम पर तो जमा रहा जाय, पर उसकी एक मद मे रद्दोबदल कर दी जाय। यानी कौन्सिलो का बायकाट उठा लिया जाय। इससे काग्रेस मे दो दल हो गये, और अन्त मे स्वराज-पार्टी की ही बात चली।

काग्रेसजन कौन्सिलो मे गये, और वहाँ उन्होने जोरदार भाषण दिये और सरकार के खर्चे को नामजूर कर दिया। पर सरकार ने उनके प्रस्तावो और वोटो की कोई परवाह नही की, और जिस बजट को विधान-सभा ने नामजूर कर दिया था उसे वायसराय ने तसदीक कर दिया। कौन्सिलो मे काग्रेसजनो की इन कार्रवाइयो ने कुछ समय के लिए प्रचार का अच्छा काम किया, पर इनसे आन्दोलन की तर्ज मे गिरावट आ गई। इनका नतीजा यह हुआ कि जन-समूह से इन लोगो का सम्पर्क टूट गया, और ये लोग प्रगति-विरोधी गुटो से भद्दे समझौते करने लगे।

१९२०-३० ई० के इन वर्षों मे जो तरह-तरह की ताकतें व आन्दोलन भारत को हिलकोर रहे थे, उन्हे समझने की हमे कोशिश करनी चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम समस्या सारी फिज़ा पर हावी हो रही थी। आपसी रगड बढ रही थी; और मस्जिदो के सामने बाजा बजाने के हक-जैसे तुच्छ सवालो पर उत्तर भारत की कई जगहो मे दगे हो गये थे। असहयोग के दिनो की निराली एकता

के बाद यह अजीब और अचानक परिवर्तन हो गया था। यह क्यो हुआ, और उस एकता की बुनियाद क्या थी ?

राष्ट्रीय आन्दोलन का बहुत-कुछ आधार था आर्थिक तगी और बेरोज़गारी। इसकी वजह से सब जमातो मे इकसार ब्रिटिश-सरकार विरोधी भावना और स्वराज के लिए धुंधली-सी चाहना पैदा हो गई थी। दुश्मन से लडने की यह भावना सबको जोडनेवाली कडी बन गई थी, और सब लोग मिलकर काम कर रहे थे, पर अलग-अलग जमातो की मशाएँ अलग-अलग थी। हर जमात के लिए स्वराज अलग-अलग माने रखता था—बेरोज़गार मध्यम-वर्ग नौकरियों की आशा लगा रहा था, किसान को यह आशा थी कि ज़मीदार की बहुत-सी भारी वसूलियो से राहत मिलेगी। मज़हबी जमातो की नज़र से इस सवाल को देखा जाय तो मुसलमान लोग सामूहिक रूप से आन्दोलन मे खासकर खिलाफत की वजह से शामिल हुए थे। यह निरा मज़हबी सवाल था, जो सिर्फ मुसलमानो से ताल्लुक रखता था, और ग़ैर-मुसलमानो को इससे कोई लेना-देना नही था। फिर भी गाधीजी ने इसे अपना लिया था, और दूसरो पर भी इसके लिए ज़ोर डाला था, क्योकि मुसीबत मे पडे भाई की मदद करना वह अपना फर्ज़ समझते थे। उन्हे यह भी उम्मेद थी कि इस तरह वे हिन्दुओ व मुसलमानो को एक-दूसरे के ज़्यादा नज़दीक ला सकेंगे। इस तरह मुसलमानो का आम नज़रिया मुस्लिम राष्ट्रीयता या मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता का था, सच्ची राष्ट्रीयता का नही। हाँ, उस घडी दोनो के बीच झगडा दिखाई नही दे रहा था।

दूसरी ओर, हिन्दुओं का राष्ट्रीयता का खयाल साफ तौर पर हिन्दू राष्ट्रीयता का खयाल था। इस मामले मे हिन्दू राष्ट्रीयता को सच्ची राष्ट्रीयता से एकदम अलग करना आसान नही था (मुसलमानो के मामले मे ऐसा करना आसान था)। दोनो राष्ट्रीयताएँ आपस मे मिली हुई थी, क्योकि भारत अकेला हिन्दुओ का घर है और उनका यहाँ बहुमत है। इसलिए मुसलमानो की बनिस्बत हिन्दुओ का पक्के राष्ट्रवादी दिखाई देना ज़्यादा आसान था, हालांकि दोनो ही अपनी-अपनी खास किस्म की राष्ट्रीयता की पैरवी करते थे।

तीसरी वह चीज़ थी, जिसे सच्ची या भारतीय राष्ट्रीयता कहा जा सकता था, और जो इन दोनो मज़हबी व साम्प्रदायिक किस्मो से बिलकुल जुदा थी। और, सही बात तो यह है कि, यही वह किस्म थी, जिसे इस शब्द के आज के अर्थो मे राष्ट्रीयता कहा जा सकता था। अलबत्ता इस तीसरी जमात मे हिन्दू भी थे और मुसलमान भी, और दूसरे लोग भी। राष्ट्रीयता की ये तीनो किस्मे असहयोग-आन्दोलन के ज़माने में, १९२० से १९२२ ई० तक, इत्तफाक से साथ हो गई

थी। रास्ते तो तीनो अलग-अलग थे, पर उस घडी तीनो बराबर-बराबर चल रहे थे।

१९२१ ई० के जन-आन्दोलन ने ब्रिटिश सरकार को बिलकुल हक्का-बक्का कर दिया। हालांकि इसकी सूचना उन्हें बहुत दिन पहले मिल गई थी, पर उन्हें यह नही सूझ रहा था कि इससे किस तरह निबटना चाहिए। गिरफ्तारियो और सज़ाओ का हस्ब-मामूल सीधा उपाय बे-असर हो रहा था, क्योकि काग्रेस तो यह चाहती थी ही। इसलिए उनके खुफिया विभाग ने काग्रेस को भीतर से कमज़ोर करने के लिए एक नई तरकीब ईजाद की। पुलिस के गुर्गे और खुफ़िया विभाग के कर्मचारी काग्रेस-कमेटियो मे घुस गये और मार-पीट की कार्रवाइयो को भडकाकर गडबडें पैदा करने लगे। दूसरा उपाय यह अपनाया गया कि साम्प्रदायिक झगडे पैदा करने के लिए खुफिया-विभाग के गुर्गे साधुओ और फकीरो के भेष मे जगह-जगह भेजे गये।

यह सही है कि लोगो की मर्ज़ी के खिलाफ राज करनेवाली सरकारें हमेशा इसी तरह के उपायो का सहारा लिया करती हैं। साम्राज्यशाही शक्तियो का धन्धा इन्ही चीजो पर चलता है। इन तरीको का सफल होना जनता की कमज़ोरी और पिछडेपन को जितना बतलाता है उतना उनसे ताल्लुक रखनेवाली सरकार की बदकारी को नही। दूसरे लोगो मे फूट डालना, और उन्हें आपस मे लडा देना, और इस तरह उन्हें कमज़ोर कर देना व उनका शोषण करना, अपने में ही इन्तज़ाम के बेहतर होने की निशानी है। यह नीति सिर्फ तभी सफल हो सकती है जब दूसरी तरफ फूट और अलहदगियाँ हो। यह कहना खुले तौर पर ग़लत होगा कि ब्रिटिश सरकार ने भारत मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या पैदा की, लेकिन उसने इस समस्या को ज़िन्दा रखने के और दोनो जातियो मे मेल न होने देने की जो लगातार कोशिशें की उनको दरगुज़र करना भी उतना ही ग़लत होगा।

१९२२ ई० मे, असहयोग-आन्दोलन मुल्तवी किया जाने के बाद, इस तरह के दाँव-पेचो के लिए ज़मीन तैयार थी। बिना कोई ज़ाहिरा नतीजा निकले एक दिलेर आन्दोलन अचानक खत्म होने के बाद उलटा असर हुआ। तीनो जुदा-जुदा रास्ते, जो एक दूसरे के बराबर-बराबर चल रहे थे, अब अलग-अलग दिशाओ मे जाने लगे। खिलाफत का सवाल रास्ते मे से हट गया था। हिन्दू और मुसलमान, दोनो जातियो के साम्प्रदायिक नेता, जो असहयोग के दिनो के जनता के जोश से दब गये थे, फिर उठ खडे हुए और सार्वजनिक हलचलो में भाग लेने लगे। बेरोज़गार मध्यम-वर्गी मुसलमान यह समझने लगे कि हिन्दुओ ने तमाम नौकरियो का ठेका ले रक्खा है, और उनके रास्ते मे रोडा बन रहे हैं। इसलिए उन्होंने अलग व्यवहार की और हर चीज़ मे अलग हिस्सो की माँग की।

राजनीतिक लिहाज से हिन्दू-मुस्लिम सवाल असल मे मध्यम-वर्गी मामला था, और नौकरियो के पीछे झगडा था। पर इसका असर जन-समूह पर भी पडने लगा।

कुल मिलाकर हिन्दू जाति मुसलमानो से ज्यादा अच्छी हालत मे थी। अग्रेजी शिक्षा को शुरू मे ही अपनाकर उन्होंने ज्यादातर सरकारी नौकरियो पर कब्जा कर लिया था। हिन्दू लोग मुसलमानो से मालदार भी ज्यादा थे। गाँव का बौहरा या साहूकार बनिया होता था, जो छोटे-छोटे जमीदारो और काश्तकारो को चूसता था, और उन्हें धीरे-धीरे भिखमगा बनाकर उनकी धरती पर खुद कब्जा कर लेता था। यह बनिया हिन्दू और मुसलमान काश्तकारो व जमीदारो को इकसार चूसता था, पर उसके हाथो मुसलमानो का शोषण साम्प्रदायिक मोड ले लेता था, खासकर उन प्रान्तो मे, जहाँ खेतिहर लोग ज्यादातर मुसलमान थे। मशीन से बने माल के ज्यादा चलन ने मुसलमानो को हिन्दुओ से ज्यादा नुकसान पहुँचाया, क्योंकि मुसलमानो मे दस्तकारो की सख्या हिन्दुओ से कही ज्यादा थी। इन तमाम कारणो ने भारत की दो बडी जातियो के बीच दुश्मनी की भावना बढाई और मुस्लिम राष्ट्रीयता को, जो देश के बजाय सम्प्रदाय का ज्यादा लिहाज रखती थी, मजबूत कर दिया।

मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओ की माँगें ऐसी थी कि जो भारत मे सच्ची राष्ट्रीय एकता की सारी उम्मीदो पर पानी फेरनेवाली थी। उनसे उन्हीके साम्प्रदायिक तरीके पर लोहा लेने के लिए हिन्दू साम्प्रदायिक सगठन भी जोर पकडकर आगे आने लगे। सच्ची राष्ट्रीयता का ढोग करनेवाले ये सगठन उतने ही फिरकापरस्त और तग-नजर थे, जितने मुसलमानो के।

खुद काग्रेस तो इन साम्प्रदायिक सगठनो से दूर रही, पर काग्रेस-जनो पर उनका जहर चढ गया। सच्चे राष्ट्रवादी लोगो ने इस साम्प्रदायिक जुनून को रोकने का जतन किया, पर उन्हें सफलता नही मिली और बडे-बडे दगे हो गये।

इस गडबडझाले को ज्यादा बढाने के लिए एक तीसरी तरह की फिरकेवाराना राष्ट्रीयता का, यानी सिक्ख राष्ट्रीयता का, उदय हुआ। अबतक हिन्दुओ व सिक्खो को अलहदा करनेवाली लकीर बहुत-कुछ धुंधली थी। पर राष्ट्रीय चेतना ने जीवटदार सिक्खो को भी हिला दिया और वे अपनी ज्यादा साफ व अलग हैसियत बनाने की कोशिश करने लगे। इनमे ज्यादा सख्या फौजो से छूटे हुए सिपाहियो की थी, जिन्होंने इस छोटे, पर खूब सगठित सम्प्रदाय को, जो कहनी की बनिस्वत करनी का ज्यादा आदी था, कडा रुख दे दिया। ज्यादातर सिक्ख पजाब मे मौरूसी किसान थे, और वे महसूस करने लगे थे कि शहरी साहूकार व शहरों के दूसरे स्वार्थ उन्हें खा जायेंगे। अपना अलग फिरका मनवाने

की उनकी इच्छा के पीछे यही भावना काम कर रही थी। शुरू-शुरू मे अकाली आन्दोलन मज़हबी मामलो मे, या यो कहो कि गुरुद्वारो की जायदाद पर कब्ज़ा करने मे, दिलचस्पी लेने लगा। इसे अकाली आन्दोलन इसलिए कहते थे कि अकाली लोग सिक्खो की एक चुस्त और सरगर्म जमात थे। इसलिए इस सवाल पर इनकी सरकार से मुठभेड हुई, और अमृतसर के पास गुरु का बाग़ में दिलेरी और धीरज का अद्भुत प्रदर्शन देखने मे आया। पुलिस के हाथो अकाली जत्थो की बडी बेदर्दी से पिटाई हुई, पर वे न तो कदम-भर पीछे हटे और न उन्होंने पुलिस पर हाथ उठाया। अन्त मे अकालियो की जीत हुई और गुरुद्वारो पर उनका कब्ज़ा हो गया। तब वे राजनीति के मैदान मे उतर आये और अपने लिए हर दर्जे की मांगे करने मे दूसरे साम्प्रदायिक फिरक़ो की होड करने लगे।

जुदा-जुदा जातियो की ये तग साम्प्रदायिक भावनाएँ, जिन्हें मैंने फ़िरक़े-वाराना राष्ट्रीयता कहा है, बडी दुखदायी थी। पर उनका होना एक तरह से कुदरती चीज़ थी। असहयोग ने भारत को पूरी तरह हिला डाला था, और ये फिरकेवाराना चेतनाएँ और हिन्दू, मुस्लिम व सिक्ख राष्ट्रीयता, इस थरथराहट का पहला नतीजा थीं। इनके अलावा और भी बहुत-सी छोटी-छोटी जमातो ने अपनी हस्ती को पहचाना। 'दलित वर्ग' कहलानेवाली जातियाँ इनमे खास हैं। दलित वर्ग के लोग, जिन्हें सवर्ण हिन्दुओ ने सदियो से दबा रक्खा था, ज्यादा-तर खेती मे काम करनेवाले बे-ज़मीन मजदूर थे। इसलिए जब इनमे अपनी हस्ती की भावना पैदा हुई तो यह लाज़िमी था कि अपनी कितनी ही मजबूरियो से छुटकारा पाने की उमग उनके सिर पर सवार हो जाती और जिन हिन्दुओं ने उन्हें सदियो से सताया था, उनके ख़िलाफ वे सख्त गुस्से मे भर जाते।

हरेक चेतन फ़िरका राष्ट्रीयता और देशभक्ति को अपने-अपने स्वार्थों की रोशनी मे देखने लगा। जिस तरह राष्ट्र स्वार्थी होते हैं, उसी तरह फ़िरक़े या जातियाँ भी स्वार्थी हुआ करते हैं, यह दूसरी बात है कि जातियो या राष्ट्रो के कुछ खास लोग बे-स्वार्थ नजरिया रखते हो। बस, हर फ़िरका अपने हिस्से से बहुत ज्यादा चाहता था, और इसलिए इनके बीच झगडे टल नही सकते थे। ज्यो-ज्यो साम्प्रदायिक बैर-भाव बढने लगा त्यो-त्यो हर फ़िरके के तेज़-तर्रार साम्प्रदायिक नेता आगे आने लगे, क्योकि क्रोध के आवेश मे हर फ़िरका उसी व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि समझता है, जो अपने फिरके की माँगें सबसे ऊँची रक्खे और दूसरो को सबसे ज्यादा गालियाँ दे। सरकार ने भी इस आपसी झगडे को कई तरीको से भडकाया, खासकर ज्यादा तेज़-तर्रार साम्प्रदायिक नेताओ को बढ़ावा देकर। बस, ज़हर फैलता चला गया, और हम ऐसे शैतानी चक्कर मे फँस गये, जिसमे से निकलने का कोई रास्ता दिखाई नही देता था।

जिन दिनों भारत में ये ताक़तें और ये फूट डालनेवाली हालतें पैदा हो रही थीं, उन्हीं दिनों यरवदा-जेल में गांधीजी बहुत बीमार पड़ गये और उन्हें ऑपरेशन कराना पड़ा। १९२४ ई० के शुरू में वह जेल से छोड़ दिये गए। साम्प्रदायिक झगड़ों से उन्हें बहुत रंज हुआ, और बाद में एक बड़े दंगे ने उनके दिल को इतनी चोट पहुँचाई कि उन्होंने इक्कीस दिन का उपवास किया? आपसी सुलह कराने के लिए कई 'एकता'-सम्मेलन हुए, पर कोई नतीजा नहीं निकला।

इन साम्प्रदायिक तकरारों और फिरकेवाराना राष्ट्रीयताओं का नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस और कौंसिलों की स्वराज पार्टी, दोनों कमज़ोर पड़ गईं। स्वराज का खयाल गड्ढे में जा पड़ा, क्योंकि ज्यादातर लोग अपने-अपने फिरकों के हितों के बाबत ही सोचने और बोलने लगे। किसी भी फिरके की तरफदारी से बचने की कोशिश में कांग्रेस पर चारों ओर से सम्प्रदायवादियों के हमले होने लगे। इन दिनों कांग्रेस ने चुपचाप संगठन और कुटीर-उद्योगों (खद्दर) वगैरा को अपना सबसे बड़ा काम बना लिया था, और इससे उसे किसानों के जन-समूह से सम्पर्क बनाये रखने में मदद मिली।

अपने देश के साम्प्रदायिक झगड़ों के बारे में मैंने ज़रा विस्तार के साथ इसलिए लिखा है कि १९२०-३० ई० के वर्षों में इन्होंने हमारे राजनीतिक जीवन पर बहुत बड़ा असर डाला। लेकिन इतने पर भी हमें इनको बहुत ज्यादा महत्व नहीं देना चाहिए। इन्हें ज़रूरत से बहुत ज्यादा महत्व देने की आदत पड़ गई है, और किसी हिन्दू लड़के और मुसलमान लड़के का हर आपसी झगड़ा एक साम्प्रदायिक झगड़ा समझा जाता है, और हर अदना दंगे को बड़ा भारी दर्शाया जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि भारत बहुत बड़ा देश है, और लाखों शहरों व गाँवों में हिन्दू व मुसलमान आपस में बड़े मेल से रहते हैं, और उनमें कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं है। आमतौर पर इस तरह के झगड़े कुछ गिने-चुने शहरों में ही होते हैं, हालांकि कभी-कभी गाँवों में भी झगड़ा फैल जाता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि साम्प्रदायिक सवाल भारत में जड़-मूल से एक मध्यम-वर्गी सवाल है, और चूंकि कांग्रेस में, कौंसिलों में, अखबारों में, और करीब-करीब सारी हलचलों में हमारी राजनीति पर मध्यम-वर्ग हावी हो रहा है, इसलिए इसे बहुत ज्यादा महत्व दे दिया जाता है। किसान-वर्ग तो शोर मचाना जानता ही नहीं, ये लोग तो अभी हाल ही में गाँवों की कांग्रेस-कमेटियों, किसान-सभाओं वगैरा के ज़रिये राजनीतिक कामों में भाग लेने लगे हैं। शहरी मज़दूर, खासकर बड़े-बड़े कारखानों के मज़दूर, ज़रा ज्यादा चौकस हैं, और उन्होंने अपनी ट्रेड यूनियनें खड़ी कर ली हैं। पर कारखानों के ये मज़दूर तक भी, और इनसे भी ज्यादा किसान-वर्ग, अपनी रहनुमाई के लिए मध्यम-वर्गों से निकले हुए व्यक्तियों का ही

मुँह ताकते हैं। अब हमे इस ज़माने के जन-समूह, किसान-वर्ग और कारखानो के मज़दूर-वर्ग की हालत पर गौर करना चाहिए।

महायुद्ध की वजह से भारतीय उद्योगो मे जो बढोतरी हुई, वह सुलह के कुछ वर्षों बाद तक भी जारी रही। ब्रिटिश पूंजी भारत में धडाधड आती रही, और नये कारखाने व उद्योगो को चलाने के लिए बहुत सारी नई-नई कम्पनियाँ दर्ज हुईं। ज्यादा बडी औद्योगिक कम्पनियाँ खासतौर पर विदेशी पूंजी के सहारे खडी की गई, और इस तरह् वडे पैमानेवाले उद्योगो की बागडोर दरअसल अंग्रेज पूँजीपतियो के हाथ मे आ गई। कुछ वर्ष हुए यह अन्दाजा लगाया गया था कि भारत मे काम करनेवाली कम्पनियों मे से ८७ फीसदी कम्पनियो मे अंग्रेजो की पूंजी लगी हुई थी, और शायद यह अन्दाजा भी नीचा है। इस तरह भारत पर इंग्लैण्ड का असली आर्थिक पंजा और भी मज़बूत हो गया। छोटे-छोटे क़स्बो को नुकसान पहुँचाकर बडे-बडे शहर पैदा हो गये, पर गाँवो को कोई नुकसान नही हुआ। कपडा-उद्योग खासतौर पर बढ गया, और खनिज-उद्योग भी इसी तरह बढ़ा।

बढते हुए उद्योगीकरण की नई-नई समस्याओ पर गौर करने के लिए सरकार ने बहुत कमेटियाँ और कमीशन मुकर्रर किये। इन्होंने सिफ़ारिश की कि विदेशी पूंजी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। साथ ही इन्होने भारत मे अंग्रेजो के औद्योगिक हितो का आमतौर पर पक्ष लिया। भारतीय उद्योगो को नुक़सान से बचाने के लिए एक टैरिफ बोर्ड मुकर्रर किया गया। लेकिन, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, बहुत-से मामलो मे इस बचाने का अर्थ था भारत मे ब्रिटिश पूंजी की रक्षा करना। मण्डियो मे इस रक्षा किये हुए माल की कीमतें बढ जाना लाज़िमी था, और इससे उसी हद तक रोज़ाना ज़रूरत की चीजें भी मँहगी हो गईं। नतीजा यह हुआ कि उद्योगो की रक्षा का बोझ जनता पर, या इस माल के खरीदारो पर, पडा और कारखानेदारो को ऐसी पनाहदार मण्डी मिल गई, जिसमे होड या तो बिलकुल नही रही थी, या कम हो गई थी।

कारखानो की बढ़ोतरी के साथ-साथ कुदरती तौर पर कारखानो में मज़दूरी कमानेवाले वर्ग की सख्याओ मे भी बढोतरी हुई। सन् १९२२ ई० में ही सरकारी अन्दाजा था कि भारत मे इस वर्ग के लोगो की सख्या कम-से-कम दो करोड थी। देहाती इलाको के बे-ज़मीन बेकार मज़दूर इस वर्ग मे शामिल होने के लिए कारखानेवाले नगरो मे आने लगे, और यहाँ इन्हें आमतौर पर शोषण की शर्मनाक हालतो मे रहने को मजबूर होना पडा। जो हालतें इंग्लैण्ड मे सौ वर्ष पहले कारखाना-प्रणाली के शुरू मे थी, वे ही अब भारत में पैदा हो गईं—जैसे कारखानो मे काम के कमर-तोड घण्टे, बहुत ही कम मजूरी, रहन-सहन की गिरी हुई और गन्दी हालतें। कारखानेदार-वर्ग की तो एक ही मशा थी' खूब मुनाफ़े

बटोरकर तेज़ी के ज़माने से पूरा फ़ायदा उठाना। और कुछ वर्षों तक तो उन्होंने बडी सफलता के साथ यह धन्धा किया, और हिस्सेदारो को भारी-भारी मुनाफ़े बाँटे, पर उधर मज़दूरो की हालत बहुत बुरी ही बनी रही। अपने पैदा किये हुए इन ज़बर्दस्त मुनाफ़ो मे मज़दूरो का कोई साझा नही था, पर आगे चलकर जब तेज़ी के ज़माने के बाद मन्दी आई और व्यापार गिरने लगा, तो मज़दूरो से कहा गया कि कम मजूरियाँ लेकर दोनो की इस कम्बख़्ती मे साझा बटावें।

ज्यो-ज्यो मज़दूरो के सगठन, यानी ट्रेड यूनियनें, ज़ोर पकडते गये, त्यो-त्यो साथ-ही-साथ, मज़दूरो के रहन-सहन और काम की बेहतर हालतो के लिए, काम के घण्टो मे कमी के लिए और ऊँची मजूरियो के लिए, पुकार भी ज़ोर पकडती गई। कुछ तो इसके असर से, और कुछ मज़दूर-वर्ग के साथ अच्छा बर्ताव किये जाने की आम ससार-व्यापी माँग के असर से, सरकार ने कारख़ानो के मज़दूरों की हालत मे सुधार करने के इरादे से कई कानून पास किये। मैं किसी पिछले पत्र मे कारख़ाना क़ानून पास किये जाने का ज़िक्र कर चुका हूँ। इसके मुताबिक बारह से पन्द्रह वर्ष की उम्र के बच्चो से दिन-भर मे छै घण्टे से ज्यादा काम नहीं लिया जाना चाहिए। स्त्रियो और बच्चो के रात मे काम करने पर भी रोक लगा दी गई थी। बालिग पुरुषो और स्त्रियो के लिए दिन-भर मे काम के ज्यादा-से-ज्यादा ग्यारह घण्टे और सप्ताह मे साठ घण्टे (काम का सप्ताह छै दिन का माना गया था) तय कर दिये गए। बाद मे होनेवाले कुछ सशोधनो के साथ यह कारख़ाना क़ानून अभीतक लागू है।

खानो मे काम करनेवाले कम्बख़्त मज़दूरो को, ख़ासकर ज़मीन के अन्दर कोयले की खानो मे काम करनेवालो को, कुछ राहत देने के लिए १९२३ ई० में भारतीय खान-क़ानून पास किया गया। तेरह वर्ष मे कम के बच्चो के लिए ज़मीन के अन्दर काम करने पर पाबन्दी लगा दी गई और स्त्रियाँ ज़मीन के अन्दर काम करती रहीं, और देखा जाय तो इनकी सख्या मज़दूरो की कुल सख्या से आधी के करीब थी। बालिगो के लिए छै दिन के हफ्ते मे काम के ज्यादा-से-ज्यादा घण्टे इस तरह तय किये गए · ज़मीन पर काम करने के साठ और ज़मीन के भीतर काम करने के चौवन। एक दिन मे मेरे ख़याल से, ज्यादा-से-ज्यादा बारह घण्टे होते हैं। काम के घण्टो के ये आँकडे मैं इसलिए बता रहा हूँ कि तुम्हे मज़दूरो की हालतो का कुछ अन्दाज़ा हो जाय। पर इनकी मदद मे भी तुम्हें थोडा-सा ही अन्दाज़ा हो सकता है, क्योकि पूरी जानकारी के लिए इनके अलावा और भी बहुत-सी चीज़ो का जानना ज़रूरी है, जैसे मजूरियो की दर, रहन-सहन की हालतें, वगैरा। यहाँ हम इन बातो के ब्यौरे मे नही जा सकते। लेकिन यह महसूस करना भी कम बात नहीं है कि किस तरह लडको व लडकियो और पुरुषो व स्त्रियो को कारख़ानो में

सिर्फ पेट भरने लायक टुच्ची मजूरी पर ग्यारह-ग्यारह घण्टे रोज़ काम करना पडता है। कारखानो मे जैसा हरदम एक-सा काम वे करते है, वह ज़बर्दस्त उदासी पैदा करनेवाला होता है, उसमे कोई मजा नही होता। और जब वे बिलकुल थके-माँदे घर पहुँचते हैं, तो आमतौर पर एक पूरे कुनवे को मिट्टी की छोटी-सी झोपडी मे भर जाना पडता है, जिसमे टट्टी-पेशाब की कोई सहूलियते नही होतीं।

कुछ और कानून भी पास किये गए, जिनसे मज़दूरो को मदद मिली। १९२३ ई० मे कामगरो का मुआवज़ा कानून बना, जिसके मातहत दुर्घटनाओ वगैरा मे घायल हुए मज़दूर को कुछ मुआवज़ा दिया जाना ज़रूरी था। और १९२६ ई० मे ट्रेड यूनियन कानून बनाया गया, जो ट्रेड यूनियनो के गठन और बाकायदा माने जाने से, ताल्लुक रखता था। इन दिनो मे भारत मे ट्रेड यूनियन आन्दोलन ज़रा तेज़ी के साथ बढा, ख़ासकर बम्बई मे। एक अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस बनी, पर कुछ वर्षो बाद यह दो दलो मे बँट गई। महायुद्ध व रूसी क्रान्ति के ज़माने से ही दुनिया-भर मे मज़दूर-वर्ग दो अलग-अलग दिशाओ मे खीचा जा रहा है। एक तरफ तो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ (जिसका जिक्र मैं कर चुका हूँ) से जुडे हुए पुराने कट्टर पन्थी और नर्मदली मज़दूर-सघ हैं, दूसरी तरफ सोवियत रूस व तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ का ज़बर्दस्त नया खिचाव है। इसलिए हर जगह कारख़ानो के नर्म विचारवाले और आमतौर पर खुशहाल मज़दूर कोई ख़तरा नहीं उठाना चाहते और द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ की ओर झुक रहे हैं, और ज्यादा क्रान्तिकारी मज़दूर तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सघ की ओर। यह खीचतान भारत में भी हुई और १९२९ के अन्त मे यहाँ भी दो दल हो गये। तभी से भारत मे मज़दूर-आन्दोलन कमजोर पड गया है।

किसान-वर्ग के बारे मे मैं उससे ज्यादा यहाँ कुछ नही लिख सकता जितना अपने पिछले पत्रो मे लिख चुका हूँ। इनकी हालत और भी बिगडती जा रही है और वे साहूकार के कर्ज़ों मे दिन-पर-दिन बडी बुरी तरह फँसते जा रहे हैं। छोटे-छोटे ज़मीदार, मौरूसी काश्तकार और साधारण काश्तकार, सब के-सब क़र्ज़ देनेवाले बनिये या साहूकार के पजो मे फँस जाते हैं। चूँकि काश्तकार क़र्ज़ नहीं चुका सकता है, इसलिए धरती धीरे-धीरे इस साहूकार के क़ब्ज़े मे चली जाती है। और चूँकि यह साहूकार ज़मीदार भी होता है और साहूकार भी, इसलिए काश्तकार उसका दोहरा गुलाम बन जाता है। आमतौर पर यह बनिया ज़मीदार शहर मे रहता है, और उसके व काश्तकार-वर्ग के बीच कोई गहरा आपसी सम्पर्क नही रहता। इसकी लगातार कोशिश इसी दिशा मे रहती है कि भूखो-मरते किसान-वर्ग से जितना मुमकिन हो सके उतना ज्यादा रुपया वसूल किया जाय। पुराना ज़मीदार, जो अपने काश्तकार-वर्ग के बीच मे ही रहता था, कभी-कभी उनपर

दया भी दिखा सकता था, पर शहर मे रहनेवाला साहूकार-ज़मीदार वसूली के लिए अपने कारिन्दे भेज देता है, और ऐसी कमज़ोरी कभी नही दिखाता।

सरकारी कमेटियो ने खेतिहर वर्गों के कर्ज़ों के बारे मे कितने ही सरकारी तख़मीने बनाये हैं। १९३० ई० मे यह अन्दाज़ा लगाया गया था कि सारे भारत मे (बरमा को छोडकर) इन वर्गों के कुल कर्ज़ों की भारी रक़म ८,०३,००,००,००० रुपये है! इसमे ज़मीदारो और खेती करनेवालो, दोनो के कर्ज़े शामिल हैं। मन्दी के वर्षों मे और बाद मे यह रकम बहुत ज्यादा बढ गई।

इस तरह खेतिहर-वर्ग, छोटे-छोटे ज़मीदार और काश्तकार दोनो, दिन-पर-दिन गहरी दलदल मे धँसते जा रहे है और इनके बाहर निकलने का सिवाय इसके कोई रास्ता नही है कि मौजूदा भूमि-प्रणाली की पूरी तरह से जड ही काट दी जाय। टैक्स लगाने की मौजूदा व्यवस्था ऐसी है कि उसका सबसे ज्यादा बोझ उस वर्ग पर पडता है, जो सबसे ज्यादा गरीब है और जो उसे बर्दाश्त करने की सबसे कम हैसियत रखता है। खर्च की बडी-बडी मदें सेना, प्रशासन सेवाएँ और इग्लैण्ड की दूसरी वसूलियाँ हैं, जिनसे जनता को कोई लाभ नही पहुँचता। शिक्षा पर फी आदमी करीब आठ आने खर्च किये जाते हैं, जबकि इसके मुकाबले मे इग्लैण्ड का यह खर्च २ पौण्ड १५ शिलिंग (करीब ४० रु०) फी-आदमी है। इस तरह इग्लण्ड मे शिक्षा पर भारत से ७३॥ गुना ज्यादा खर्च होता है।

पिछले वर्षों मे भारत की आबादी की फी-आदमी राष्ट्रीय आमदनी का तख़मीना लगाने के यत्न कई बार किये गए हैं। यह मुश्किल मामला है, और तख़मीनो में बडा फर्क है। १८७० ई० मे दादाभाई नौरोजी ने हिसाब लगाया था कि यह २० रु० फी-आदमी है। हाल के तख़मीने ६७ रु० तक जा पहुँचे है, और कुछ अंग्रेज़ो के लगाये हुए सबसे अच्छे तख़मीने भी ११६ रु० से ऊँचे नही जाते। सयुक्त राज्य अमेरिका मे इसके मुकाबले का आँकडा १९२५ रु० है, और तबसे यह बहुत ज्यादा बढ चुका है। इग्लैण्ड मे फी-आदमी आमदनी १,००० रु० है।[1]

१६२
भारत में हिंसा के बिना बग़ावत

१७ मई, १९३३

भारत व उसके गुज़रे ज़माने के बारे मे मैंने तुमको जितने ज्यादा पत्र लिखे हैं, उतने किसी और देश के बारे मे नही लिखे। लेकिन गुज़रा ज़माना अब मौजूदा ज़माने मे विलीन होता जा रहा है, और मुझे आशा है कि यह जो पत्र मैं शुरू कर

[1] ये आँकड़े प्रति व्यक्ति की सालाना औसत आमदनी के हैं।

रहा हूँ, वह मेरी कहानी को आज के भारत तक ले आयेगा। मैं हाल की कुछ घटनाओं का जिक्र करूँगा, जो हमारे दिमागों मे ताजा बनी हुई है। उनके बारे में लिखने का वक्त अभी नही आया है, क्योंकि कहानी अभी अधूरी है। मगर सारा इतिहास वर्तमान मे आकर एकदम ही रुक जाता है, और कहानी के बाक़ी अध्याय भविष्य के गर्भ मे छिपे पड़े रहते हैं। सच पूछो तो कहानी का कोई अन्त ही नही है, वह तो बराबर आगे चलती रहती है।

१९२७ ई० के आखिरी दिनो मे ब्रिटिश सरकार ने ऐलान किया कि सरकारी ढाँचे मे आयन्दा सुधारो व परिवर्तनो के बारे मे जाँच करने के लिए एक कमीशन भारत भेजा जायगा। भारत के सारे राजनीतिक दलो ने इस घोषणा पर क्रोध जाहिर किया और इसे बुरा बताया। काग्रेस ने इसपर इसलिए ऐतराज किया कि वह तो इस खयाल को ही सख्त नापसन्द करती थी कि स्वराज की काबलियत के लिए भारत का समय-समय पर इम्तहान लिया जाया करे। इस देश पर जबतक हो सके कब्ज़ा बनाये रखने की अपनी इच्छा पर पर्दा डालने के लिए अंग्रेज लोग इसी फिकरे का इस्तेमाल करते थे। काग्रेस ने बहुत बरसो से अपने देश के लिए आत्म-निर्णय के उसी हक का दावा किया था, जिसका महायुद्ध के दौरान मित्र-राष्ट्रो ने इतना ढिंढोरा पीटा था। और, उसने भारत पर हुक्म चलाने या उसकी किस्मत का आखिरी फैसला करने के ब्रिटिश पार्लमेण्ट के अधिकार को कबूल करने से इन्कार कर दिया। इसी बिना पर काग्रेस ने इस नये पार्लमेण्टी कमीशन पर ऐतराज़ किया। भारत के नर्म दलो ने इस कमीशन पर दूसरे सबबो से ऐतराज किया, जिनमे खास यह था कि किसी भारतीय को इसका सदस्य नही बनाया गया था। यह खालिस अंग्रेजी कमीशन था। हालाँकि ऐतराज के सबब अलग-अलग थे, पर यह सच बात है कि नर्म-से-नर्म विचार के लोगो समेत भारत की करीब-करीब हर जमात ने एक-स्वर से इसकी निन्दा की और इसके बायकाट की सिफारिश की।

इसी समय के लगभग, दिसम्बर, १९२७ ई० मे, मद्रास मे काग्रेस का सालाना अधिवेशन हुआ और उसने तय किया कि भारत के लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता उसका लक्ष्य है। यह पहला ही मौका था जब काग्रेस ने स्वाधीनता की घोषणा की। दो वर्ष बाद, लाहौर मे, स्वाधीनता साफ तौर पर कांग्रेस की नीति बन गई। मद्रास काग्रेस ने 'सर्वदल-सम्मेलन' भी बनाया, जो थोड़े दिन जोर-शोर से काम करके खत्म हो गया।

अगले वर्ष, १९२८ ई० मे, ब्रिटिश कमीशन ने भारत मे क़दम रक्खा और जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, आमतौर पर उसका बायकाट किया गया। जहाँ-जहाँ यह गया वहाँ-वहाँ इसके खिलाफ़ बड़े-बड़े प्रदर्शन किये गए। इसके सभापति

के नाम पर इसे साइमन कमीशन कहते थे, और 'साइमन लौट जाओ'[1] का नारा भारत-भर मे गूंज उठा। कई मौको पर पुलिस ने प्रदर्शन करनेवालो पर लाठियाँ चलाई, लाहौर मे पुलिस ने लाला लाजपतराय तक को पीटा। कुछ महीनो बाद लालाजी की मौत हो गई, और डॉक्टरो की राय थी कि हो सकता है पुलिस की मार से लालाजी को मौत जल्दी हो गई हो। इन सब बातो से देश मे कुदरती तौर पर बडी उत्तेजना और बडा क्रोध पैदा हो गया।

इस अर्से मे सर्वदल-सम्मेलन सविधान का मसौदा बनाने का और साम्प्रदायिक उलझन का हल ढूंढ निकालने की कोशिश कर रहा था। इसने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमे सविधान के बारे मे और साम्प्रदायिक समस्या के बारे मे सुझाव थे। यह रिपोर्ट नेहरू-रिपोर्ट कहलाती है, क्योकि जिस कमेटी ने इसका मसौदा बनाया था, उसके सभापति पण्डित मोतीलाल नेहरू थे।

सरकार द्वारा मालगुज़ारी की दर मे बढोतरी के खिलाफ गुजरात के बारडोली गाँव के किसानो का बडा मोर्चा इस वर्ष की एक और मार्के की घटना थी। उत्तर प्रदेश की तरह गुजरात मे बडी-बडी ज़मीदारियो की प्रथा नही है। वहाँ सिर्फ मालगुज़ार किसान हैं। इन किसानो ने सरदार वल्लभभाई पटेल की रहनुमाई मे अनोखी दिलेरी की लडाई चलाई और महान विजय हासिल की।

दिसम्बर, १९२८ ई०, की कलकत्ता-काग्रेस ने नेहरू-रिपोर्ट मजूर कर ली, जिसमे ब्रिटिश उपनिवेशो के सविधान से मिलते-जुलते सविधान की सिफारिश की गई थी। काग्रेस ने इसे मजूर तो कर लिया, पर यह मजूरी थोडे दिन के लिए थी, और इसके लिए उसने एक वर्ष की मीयाद मुक़र्रर कर दी। अगर एक वर्ष के भीतर ब्रिटिश सरकार से इसके आधार पर कोई समझौता न हो, तो काग्रेस फिर स्वाधीनता की माँग पर चली जायगी। इस तरह काग्रेस व देश न टलनेवाले सकट की तरफ दौड रहे थे।

मज़दूर-वर्ग भी बडा उतावला हो रहा था, और कुछ औद्योगिक केन्द्रो मे जब मजूरियाँ घटाने की कोशिश की गई तो वहाँ वह सरगर्म बनने लगा। बम्बई मे इनका सगठन खासतौर पर बहुत अच्छा था, और यहाँ बडी-बडी हडतालें हुई, जिनमे एक लाख से भी ज्यादा मज़दूरो ने भाग लिया। मज़दूरो मे समाजवादी, और कुछ हद तक साम्यवादी विचार फैलने लगे और इस क्रान्तिकारी उभाड से और मज़दूर-वर्ग की बढती हुई ताक़त से भयभीत होकर सरकार ने १९२९ ई० के शुरू मे एकाएक बत्तीस मज़दूर नेताओ को गिरफ्तार कर लिया, और उनके खिलाफ षड्यन्त्र का बडा मुकदमा चला दिया। यह मुकदमा दुनिया-भर मे 'मेरठ केस' के नाम से मशहूर हो गया। लगभग चार वर्ष की अदालती सुनवाई के बाद

[1] 'Simon go Back.'

तमाम मुजरिमो को कैद की जबर्दस्त सजाएँ दे दी गई। और मज़े की बात यह थी कि उनमे से किसीपर भी बगावत की असली कार्रवाई और शान्ति-भग करने तक का जुर्म नही लगाया गया था। मालूम होता है कि उनका क़सूर यह था कि व एक खास तरह का मत रखते थे और उसका प्रचार करते थे। अपील करने पर य सजाएँ बहुत कम कर दी गईं।

एक और क़िस्म की हलचल, जो अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी और कभी-कभी ऊपरी सतह पर भी प्रकट हो जाती थी, यह थी कि कुछ लोग क्रान्ति लाने के लिए हिंसा के उपायो मे विश्वास करते थे। ये हलचलें सबसे ज्यादा बगाल मे, कुछ हद तक पजाब मे, और थोडी-बहुत उत्तर प्रदेश मे थी। ब्रिटिश सरकार ने इसे दबाने के बहुत उपाय किये और षड्यन्त्रो के कितने ही मुक़दमे चलाये गए। सरकार ने 'बगाल आर्डिनेन्स' नामक एक विशेष क़ानून जारी किया ताकि जिस किसीपर वह सन्देह करने का इरादा कर ले, उसे गिरफ्तार करने और बिना मुकदमा चलाये जेल मे रखने का अधिकार उसे मिल जाय। इस आर्डिनेन्स के मातहत कितने ही सौ बगाली नौजवान गिरफ्तार करके जेलों मे डाल दिये गए। ये 'नजरबन्द' कहलाते थे और उनकी कैद की कोई मीयाद नही होती थी। ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि जब यह निराला आर्डिनेन्स जारी किया गया था, तब इंग्लैण्ड मे मजदूर सरकार सत्ता मे थी, और इस आर्डिनेन्स की जिम्मेदारी उसीके ऊपर आती थी।

इन क्रान्तिकारियों ने आतक फैलाने की बहुत-सी कार्रवाइयाँ की, जिनमे से ज्यादातर बगाल मे हुई। इनमे से तीन घटनाओ ने लोगो का ध्यान खासतौर पर खीचा। पहली तो लाहौर मे एक अग्रेज पुलिस अफसर पर गोली चलाने की थी, जिसके बारे मे खयाल किया जाता था कि उसने साइमन-कमीशन के खिलाफ प्रदर्शन मे लाला लाजपतराय को मारा था। दूसरी भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के हाथो दिल्ली के असेम्बली-भवन मे बम फेंके जाने की थी। इस बम से कोई नुकसान नही हुआ, और मालूम होता है कि यह सिर्फ जोरदार धडाका करने और देश का ध्यान खीचने के इरादे से फेंका गया था। तीसरी घटना १९३० ई० मे चटगाँव मे उस समय के लगभग हुई जब सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन शुरू ही हुआ था। यह वहाँ के हथियारखाने पर बडा हिम्मतवर और बडी तैयारी के साथ मारा गया छापा था, और कुछ सफल भी रहा। इस आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने दिमाग मे सूझनेवाली सारी तरक़ीबें काम मे ली। जासूस और मुखबिर रखे गये, बहुत लोगो को गिरफ्तार किया गया और षड्यन्त्र के मुकदमे चलाये गए, लोगो को नजरबन्द किया गया (कभी-कभी अदालतों से बरी किये गए लोगो को फौरन ही फिर गिरफ्तार करके आर्डिनेन्स के मातहत

गड़बड़वाला इलाक़ा समझा जाता था), और पूर्वी बंगाल के कुछ भागों पर फ़ौजी शासन क़ायम कर दिया गया था, और लोग परमिटों के बिना बाहर घूम-फिर नहीं सकते थे, न वे साइकिलों की सवारी कर सकते थे और न मनचाही पोशाक पहन सकते थे। पुलिस को इत्तला न देने के जुर्म में पूरे-के-पूरे नगरों और गांवों पर भारी-भारी जुर्माने लगा दिये गए थे।

१९२९ ई० में लाहौर के एक षड्यन्त्र के मुकदमे के एक क़ैदी जतीन्द्रनाथ दास ने जेल के बुरे बर्ताव के विरोध में भूख हड़ताल कर दी। यह नौजवान अन्त तक डटा रहा और इस भूख हड़ताल में इकसठवें दिन उसकी मौत हो गई। जतीन्द्रदास के आत्म-बलिदान से सारे देश में गहरा असर पड़ा। एक और घटना, जिसने देश की भावना को दर्द पहुँचाया, १९३१ ई० के शुरू में भगतसिंह की फाँसी थी।

अब मैं फिर कांग्रेस की राजनीति पर आता हूँ। कलकत्ता कांग्रेस ने जो एक साल की मियाद दी थी, वह पूरी हो चली थी। १९२९ ई० के आखिरी दिनों में सरकार ने इन राष्ट्रीय संस्थाओं को दबाने के लिए ज़ोर लगाया, जिसका अन्देशा नज़र आ रहा था। उसने आइन्दा कुछ आगे क़दम बढ़ाने के बारे में एक गोलमोल घोषणा की। इस पर भी कांग्रेस ने कुछ शर्तों के साथ सहयोग के लिए हाथ बढ़ाया। पर जब ये शर्तें पूरी नहीं हुईं तो दिसम्बर, १९२९ ई०, की लाहौर-कांग्रेस ने सम्पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में और उसे हासिल करने के लिए लड़ने का फ़ैसला किया।

इस तरह १९३० ई० का वर्ष ऐतिहासिक घटनाओं की घटा से घिरे हुए आसमान में शुरू हुआ। सविनय अवज्ञा की तैयारियाँ हो रही थीं। विधान सभा व कौंसिलों का फिर बहिष्कार कर दिया गया था और उनके कांग्रेसी सदस्यों ने इस्तीफ़े दे दिये थे। जनवरी की २६ तारीख को शहरों व गाँवों की अनगिनती सभाओं में सारे देश में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा ली गई। इस दिन की वर्षगाँठ हर साल 'स्वाधीनता दिवस' के नाम से मनाई जाती है। मार्च में, नमक-क़ानून तोड़ने के लिए समुद्र-तट पर गांधीजी की मशहूर डाण्डी-यात्रा हुई। अपना धावा शुरू करने के लिए उन्होंने नमक-कर को इसलिए चुना था कि यह कर ग़रीब लोगों पर बड़ा बोझ था, और इसलिए आमतौर पर बुरा था।

अप्रैल, १९३० ई० के बीच तक सविनय अवज्ञा का आन्दोलन पूरे ज़ोर पर पहुँच गया था। हर जगह सिर्फ़ नमक-क़ानून ही नहीं तोड़ा गया, बल्कि दूसरे क़ानून भी तोड़े गये। देश-भर में शान्ति के साथ बग़ावत फैल गई और उसे कुचलने के लिए नये-नये क़ानून और आर्डिनेन्स एक के बाद एक तेज़ी के साथ निकलने लगे। पर ये आर्डिनेन्स ही सविनय अवज्ञा के सबब बन गये। सामूहिक गिरफ़्तारियाँ

हुई, और लाठियो की हैवानी मार, शान्त भीडो पर गोलियाँ चलाना, काग्रेस-कमेटियो का ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया जाना, अखबारो का मुँह बन्द किया जाना, सेन्सर का बिठाया जाना, मार-पीट और जेलो मे सख़्ती का बर्ताव—ये सब रोजमर्रा की घटनाएँ हो गईं। एक तरफ तो आर्डिनेन्स का राज था, दूसरी तरफ इन्हें पक्के इरादे से और करीने से तोडा जाता था। साथ-साथ विदेशी माल और अंग्रेज़ी कपडे का बायकाट भी चल रहा था। लगभग एक लाख व्यक्ति जेलों मे गये, और कुछ दिनो तक भारत की इस शान्त मगर मज़बूत इरादे की लडाई पर दुनिया-भर का ध्यान लगा रहा।

तीन हकीकतें मैं तुम्हारी निगाह मे लाना चाहता हूँ। पहली तो थी उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त मे मार्के की राजनीतिक चेतना। लडाई शुरू होते ही, यानी १९३० ई० के अप्रैल मे, पेशावर मे शान्त भीडो पर गोलियों की ज़बर्दस्त बौछार की गई, और पूरे साल-भर तक सीमाप्रान्त के हमारे देशवासियों ने बे-अन्दाज़ ज़ालिमाना वर्ताव को शानदार धीरज के साथ बर्दाश्त किया। यह चीज़ दुगनी मार्के की थी, क्योंकि सरहदी लोग शान्ति-पसन्द बिलकुल नहीं होते, और ज़रा-सी उत्तेजना पर भडक उठते हैं। पर इतने पर भी वे शान्त बने रहे। राजनीतिक मैदान मे नया कदम रखनेवाली पठानो-जैसी कौम के लिए फ़ौरन ही आगे आ जाना और ऐसा बहादुरी का काम कर दिखाना अचम्भे की और बडी तारीफ़ के क़ाबिल बात थी।

दूसरी ध्यान देने लायक हकीक़त, जो यकीनन इस महान् वर्ष की सबसे ज़्यादा मार्के की घटना थी, भारतीय नारियो मे पैदा होनेवाली अद्भुत चेतना थी। जिस ढग से लाखो स्त्रियो ने घूँघट हटा दिये और वे घरो की चहारदीवारी को छोडकर लडाई मे अपने भाइयो के साथ कन्धे-से-कन्धा भिडाकर लडने के लिए गलियो और बाज़ारो मे निकल पडी, यह ऐसी चीज़ थी कि जिन लोगो ने इसे नही देखा वे इसपर विश्वास नही कर सकते थे।

तीसरी ध्यान देने लायक हकीकत यह थी कि ज्यो-ज्यो आन्दोलन ज़ोर पकडता गया त्यो-त्यो, जहाँतक किसान-वर्ग से ताल्लुक था, आर्थिक हेतु अपना असर दिखाने लगा। १९३० ई० का साल महान् ससारव्यापी सकट का पहला साल था, और खेती की उपज की कीमतें बहुत गिर गई थी। किसान-वर्ग को इससे बहुत नुकसान हुआ, क्योंकि उनकी आमदनी उनकी उपज की बिक्री पर निर्भर होती है। इसलिए टैक्सबन्दी के आन्दोलन ने उनकी मुसीबत से मेल खाया, और स्वराज उनके लिए सिर्फ दूर की राजनीतिक मंज़िल नहीं रहा, बल्कि मौजूदा आर्थिक सवाल बन गया, और यह चीज़ ज्यादा महत्व की थी। बस, उनके लिए इस आन्दोलन का एक नया और ज्यादा गहरा अर्थ हो गया और

ज़मीदारो व काश्तकारो के बीच वर्ग-सघर्ष का बीज पैदा हो गया। सयुक्त प्रान्त और पश्चिमी भारत मे यह बात खासतौर पर हुई।

जब भारत मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन ज़ोरो के साथ चल रहा था, तब समुद्र-पार लन्दन मे ब्रिटिश सरकार ने बडी धूम-धाम और कैफियत के साथ एक गोलमेज़-कान्फ्रेन्स बुलाई। काग्रेस को इससे कोई वास्ता नही था। जो भारतीय उसमे शामिल होने को गये, वे सब सरकार के नामजद किये हुए थे। कठ-पुतलियो की तरह, या बेजान छायामूर्तियो की तरह, वे लन्दन के उस रगमच पर फुदकते फिरते थे, और मन मे अच्छी तरह जानते थे कि असली लडाई तो भारत में हो रही है। भारतवासियो की कमज़ोरियाँ दुनिया को जताने के लिए सरकार ने चर्चाओ मे साम्प्रदायिक समस्या को सबसे आगे खडा कर दिया था। उसने यह होशियारी की थी कि कान्फ्रेन्स के लिए हद दर्जे के सम्प्रदायवादियो और प्रगति-विरोधियो को नामज़द किया था, जिससे समझौते का कोई मौका ही नही था।

मार्च, १९३१ ई०, मे काग्रेस और सरकार के बीच कुछ दिन के लिए सुलह या अस्थायी समझौता हुआ ताकि दोनो मिलकर आगे बातचीत कर सकें। यह 'गाधी-इर्विन समझौता' कहलाया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन कुछ दिन के लिए रोक दिया गया, और हज़ारो सत्याग्रही कैदी छोड दिये गए, और आर्डिनेन्स उठा लिये गए।

१९३१ ई० मे काग्रेस की तरफ से गाधीजी गोलमेज़-कान्फ्रेन्स मे भाग लेने के लिए लन्दन गये। इधर भारत मे तीन समस्याएँ उठ खडी हुई, और काग्रेस व सरकार दोनो का ध्यान उनपर अटक गया। पहली समस्या बगाल की थी, जहाँ आतकवादी कार्रवाइयो को रोकने के बहाने सरकार ने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओ के खिलाफ सख्त धावा बोल दिया था। पहले से भी ज्यादा सख्त एक नया आर्डिनेन्स जारी किया गया था, और दिल्ली समझौते के बावजूद बगाल ने नही जाना कि शान्ति क्या होती है।

दूसरी समस्या सीमाप्रान्त मे थी, जहाँ राजनीतिक चेतना लोगो को अभी तक कार्रवाई करने के लिए मजबूर कर रही थी। खान अब्दुलग़फ्फार खाँ की रहनुमाई मे एक विशाल, अनुशासनदार, पर शान्ति-पसन्द सगठन ज़ोर पकड रहा था। ये 'खुदाई खिदमतगार' कहलाते थे, और इन्हें 'लाल-कुर्ती दल' भी कहते थे, क्योकि ये लोग लाल रग की वर्दी पहनते थे (समाजवादियो या साम्यवादियो से उनका कोई वास्ता नही था)। सरकार इस आन्दोलन से बहुत चिढ़ती थी। वह इससे डरती भी थी, क्योकि वह अच्छे पठान-लडाकू के जौहर को जानती थी।

तीसरी समस्या संयुक्त प्रान्त में पैदा हुई। संसार-व्यापी मन्दी और कीमतों के गिरने से गरीब किसान पर बड़ी भारी मुसीबत आ गई थी। वह लगान अदा नहीं कर सकता था। उसे कुछ छूटें दी गईं, पर ये काफी नहीं समझी गईं। कांग्रेस ने उसकी ओर से बीच-बचाव करने की कोशिश की, पर कोई नतीजा नहीं निकला। जब १९३१ ई० के नवम्बर में लगान वसूली का मौका आया तो मामला तूल पकड़ गया। कांग्रेस ने इलाहाबाद जिले से शुरुआत की और काश्तकारों व ज़मींदारों दोनों को सलाह दी कि जबतक छूटों के सवाल का फ़ैसला न हो जाय तबतक वे लगान और मालगुज़ारी अदा न करें। बस, सरकार ने इसकी पेशबन्दी करने के लिए संयुक्त प्रान्त के लिए एक आर्डिनेन्स जारी कर दिया। यह आर्डिनेन्स बड़ा सख्त और बड़े पैमाने पर था, जिसमें ज़िला अफ़सरों को हर तरह की हलचल को कुचलने के और व्यक्तियों की गति-विधियों तक पर रोक लगाने के पूरे अधिकार दे दिये गए थे।

इस आर्डिनेन्स के फौरन बाद ही सीमाप्रान्त के लिए दो अनोखे आर्डिनेन्स निकले, और वहाँ व संयुक्त प्रान्त में नामी कांग्रेसी-जनों को गिरफ्तार कर लिया गया।

बस, जब साल के आखिरी हफ्ते में गांधीजी लन्दन से खाली हाथ लौटे, तो उनके सामने यह स्थिति खड़ी थी। तीन प्रान्तों में आर्डिनेन्स का राज था, और उनके कई साथी जेलों में बन्द हो चुके थे। एक ही सप्ताह के भीतर कांग्रेस ने दुबारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन की घोषणा कर दी, और उधर सरकार ने अपनी ओर से हजारों कांग्रेस-कमेटियों और कांग्रेस से मिले हुए ढेरों संगठनों को ग़ैर-कानूनी करार दिया।

यह लड़ाई १९३० की लड़ाई से बहुत ज्यादा कड़ी थी। पिछले तजुर्बों से फायदा उठाकर सरकार ने इसके लिए अपने-आपको बड़ी सावधानी से तैयार कर लिया था। रवादारी का पर्दा और कानून के रस्मी तरीके हटा दिये गए थे, और सारी चीजों को घेरनेवाले आर्डिनेन्सों के मातहत असैनिक अफसरों के मातहत देश भर में एक तरह के फौजी शासन का बोलबाला था। राज्य की असली हैवानी ताकत का नंगा नाच हो रहा था। यह नतीजा लाज़िमी था, क्योंकि ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता जाता है त्यों-त्यों वह विदेशी हुकूमत की जड़-बुनियाद को ही खतरे में डालता जाता है, और हुकूमत की तरफ से रुकावटी मुकाबला भी उतना ही खूंख्वार बनता जाता है। अमानतदारी और नेकनीयती की ढोंगी बातें ताक में रख दी जाती हैं और डण्डा व संगीन विदेशी शासन को सहारा देनेवाली असली थूनियों के रूप में सामने आते हैं। कानून सिर्फ ऊपर बैठे हुए वायसराय की ही नहीं, बल्कि हर अदना सरकारी कर्मचारी की मर्ज़ी का काम

हो जाता है और वह अपनी मनमानी करने लगता है क्योंकि वह खूब जानता है कि उसके ऊपर के अफसर उसे सहारा देंगे। खुफिया विभाग और सी० आई० डी०, ज़ारशाही रूस के ज़माने की तरह हर जगह फैल जाते हैं और उनकी शक्ति बढ़ जाती है। किसीपर कोई रोक-थाम नही रहती, और ज्यो-ज्यो निरकुश सत्ता का इस्तेमाल होता है त्यो-त्यो उसकी भूख भी बढ़ती जाती है। जो सरकार सबसे ज्यादा अपने खुफिया विभाग के बल पर हुकूमत करती है, और जो देश उसके मातहत तकलीफे उठाता है, उन दोनो का चाल-चलन बहुत जल्दी गिर जाता है। क्योंकि हर खुफिया विभाग साज़िश, जासूसी, मक्कारियो, आतकवाद, लोगो को भडकाना, झूठे मामले बनाना, डरा-धमकाकर रुपया ऐंठना, वग़ैरा की फ़िज़ा मे खूब मज़े से फूलता-फलता है। पिछले तीन वर्षो मे अदना सरकारी कर्मचारियो को और पुलिस को और सी० आई० डी० को, जो बेहद अधिकार दे दिये गए, और जिस तरह इनका इस्तेमाल किया गया, उसकी वजह से इन विभागो के लोग दिन-पर-दिन ज्यादा हैवान बनते गये और नीचे गिरते गये। इनका मकसद था देश मे आतक फैलाना।

मैं ब्यौरे मे नही जाना चाहता। इस मौके पर सरकार की नीति का एक मज़ेदार पहलू था सगठनो व व्यक्तियो, दोनो की जायदादो, मकानो, मोटरो, बैंको मे जमा रुपयो, वग़ैरा की चारो तरफ़ जब्ती। इसका मतलब था काग्रेस के मध्यम-वर्गी मददगारो पर चोट करना। एक आर्डिनेन्स का मामली पर निराला पहलू यह था कि माता-पिताओ और अभिभावको को उनके बच्चो या पालितो के कसूरो के लिए सज़ा दी जा सकती थी।

इधर तो ये सबकुछ हो रहा था, और उधर ब्रिटिश सरकार के प्रचार के सारे साधन दुनिया के सामने भारत की लुभावनी तसवीर खीचने मे लगे हुए थे। खुद भारत में तो कोई भी अखबार, बुरा नतीजा भुगतने के डर से, सच्ची बातें छापने की हिम्मत नही करता था—यहाँतक कि गिरफ्तार किये गए व्यक्तियो के नाम छापना भी जुर्म था।

लेकिन भारत के तमाम सबसे ज्यादा प्रगति-विरोधी तत्वो के साथ गठ-बन्धन करने का यत्न भारत मे ब्रिटिश नीति का सबसे ज्यादा भण्डा फोडनेवाला पहलू रहा है। आज भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य प्रगति के बलो से लडने के यत्न मे सामन्ती व परले सिरे के प्रगति-विरोधी बलो के सहारे खडा है। अग्रेजो ने अपने सहारे के लिए 'निहित स्वार्थों' को एक झण्डे के नीचे लाने का यत्न किया है, और उन्हे यह हौवा बताकर डराया है कि अगर भारत से ब्रिटिश सत्ता उठ जायगी तो समाजी क्रान्ति हो जायगी। सामन्ती राजा लोग उनके बचाव की पहली क़तार हैं, इनके बाद ज़मीदार वर्गों की कतार हैं। चालाक तिकडमे

करके और कट्टर सम्प्रदायवादियो को आगे धकेलकर, उन्होंने अल्पसख्यको की समस्या को भारत की आजादी के रास्ते मे एक बाड बना दिया है। हाल ही मे मन्दिर-प्रवेश के सवाल पर ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओ मे परले सिरे के कट्टरपन्थियो के साथ हर तरह की हमदर्दी और दिली उल्फत दिखाकर बडा अजीब नजारा पेश कर दिया था। ब्रिटिश सरकार हर जगह प्रगति-विरोधियो मे, और तग-नजर कट्टरपन्थियो मे और गुमराह स्वार्थियो मे अपना सहारा ढूंढ़ती रहती है।

जनता की सामूहिक लडाई मे एक बडा भारी फायदा होता है। जनता को राजनीति का पाठ पढाने का यह सबसे बढिया और सबसे जल्दी का तरीका है, हालांकि है शायद सख्त। क्योकि जनता को "बडी घटनाओ के स्कूल मे पाठ पढना" जरूरी होता है। शान्ति-काल की साधारण राजनीतिक हलचलें, मसलन लोकतन्त्री देशो के चुनाव, औसत आदमी को अक्सर भ्रम मे डाल देते हैं। लच्छेदार भाषणो की बाढ-सी आ जाती है। हर उम्मीदवार तरह-तरह के सब्ज बाग दिखाता है, और बेचारा मतदाता, या खेत मे या कारखाने मे या दूकान पर काम करनेवाला मामूली आदमी, चक्कर मे पड जाता है। उसे एक दल और दूसरे दल के बीच अलहदगी की कोई साफ लकीरें नहीं दिखाई देतीं। पर जब जनता की लडाई होती है, या क्रान्ति होती है, तो असली हालत साफ सामने आ जाती है, मानो बिजली कौंध उठी हो। सकट की ऐसी नाजुक घडियो मे समुदाय या वर्ग या व्यक्ति अपने असली भावो को या स्वरूप को छिपा नही सकते। सचाई जाहिर ही होकर रहती है। क्रान्ति का जमाना सिर्फ़ चरित्र, साहस, धीरज और बे-स्वार्थीपन की ही कसौटी नही होता, बल्कि वह जुदा-जुदा वर्गों और गिरोहो की उन आपसी असली टकराहटो को भी जाहिर कर देता है, जो तबतक लुभावने और गोलमोल फिकरो से ढकी हुई थी।

भारत मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन रहा है; वह वर्ग-सघर्ष कभी नहीं हुआ। और वह तो साफतौर पर मध्यम-वर्गी आन्दोलन रहा है, जिसे किसान-वर्ग ने सहारा दिया है। इसलिए वह वर्गों को इस तरह अलग नही कर सका जैसा कि वर्ग-आन्दोलन ने किया होता। पर फिर भी इस राष्ट्रीय आन्दोलन मे भी कुछ हदतक जुदा-जुदा वर्गों की अलग-अलग कतारें बन गईं। इनमे से सामन्ती राजाओ, ताल्लुकेदारो, बडे ज़मींदारों, वग़ैरा के कुछ वर्ग पूरी तरह सरकार की कतार मे चले गये। उन्होंने अपने वर्ग-हित को राष्ट्रीय आजादी पर तरजीह दी।

काग्रेस की रहनुमाई मे राष्ट्रीय आन्दोलन की तरक्क़ी की वजह से किसान जनता काग्रेस के साथ हो गई, और बहुत-से बोझो से छुटकारा पाने के लिए

काग्रेस की ओर देखने लगी। इससे काग्रेस की शक्ति बहुत बढ गई, और साथ ही उसका नज़रिया भी जनता का हो गया। नेतागिरी तो मध्यम-वर्ग के पास ही बनी रही, पर नीचे से दबाव के सबब से वह मुलायम पड गया और काग्रेस दिन-पर-दिन किसानो की व समाजी समस्याओ पर ज्यादा ध्यान देने लगी। समाजवाद की तरफ भी धीरे-धीरे उसका झुकाव बढने लगा। कराची-काग्रेस ने १९३१ ई० मे बुनियादी अधिकारो और आर्थिक कार्यक्रम का जो महत्ववाला प्रस्ताव पास किया, उससे यह चीज़ साफ हो गई। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि विधान मे कुछेक जाने-माने लोकतन्त्री अधिकारो व स्वतन्त्रताओ की, और अल्पसख्यको के हको की भी गारण्टी होनी चाहिए। इसमे यह भी कहा गया था कि मुख्य व बुनियादी उद्योगो और सेवाओ पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिए। स्वाधीनता के लिए लडाई का अर्थ अब ऐसी चीज़ हो गया जो राजनीतिक आज़ादी से बहुत ज्यादा थी, और अब इसमे समाजी बातें भी शामिल कर दी गईं। जनता की गरीबी और शोषण का अन्त करने का सवाल असली सवाल बन गया और स्वाधीनता इस मज़िल पर पहुँचने का ज़रिया बन गई।

जिस समय भारत मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन चल रहा था, और हज़ारो राजनीतिक कार्यकर्त्ता जेलो मे बन्द थे, तब ब्रिटिश सरकार ने भारत मे सविधानी सुधारो के बारे मे अपने प्रस्ताव पेश किये। इनमे प्रान्तीय स्व-शासन का एक बाडदार रूप सुझाया गया था, और ऐसे सघ का सुझाव था, जिसमे सामन्ती राजा लोगो की ही तूती बोलती। इन प्रस्तावो मे सरकार ने वे सब बन्दिशें रख दी थीं, जिनकी ईजाद आदमी की अक्ल कर सकती है, ताकि अग्रेज़ लोग न सिर्फ अपने स्वार्थ साधते रहें, बल्कि भारत पर उनका तिहरा—सैनिक, असैनिक और तिजारती—कब्ज़ा भी मज़बूत हो जाय। हर निहित स्वार्थ की पूरी तरह रक्षा की गई थी, और सबसे बडा स्वार्थ, यानी इग्लैण्ड का स्वार्थ, तो बखूबी बचाया गया था। हाँ, मालूम होता था कि नज़र-अन्दाज़ किया गया है सिर्फ भारत के क़रीब पैंतीस करोड निवासियो के हितो को। इन प्रस्तावो पर भारत मे विरोध का तूफान उठ खडा हुआ।

बरमा को मैंने अबतक बिलकुल छोड रक्खा है, इसलिए अब उसके बारे मे कुछ लिखूंगा। बरमा के लोगो ने १९३० या १९३२ ई० के सविनय अवज्ञा आन्दोलनो मे भाग नही लिया। मगर १९३० व १९३१ ई० मे आर्थिक मुसीबतो की वजह से उत्तर बरमा मे किसानो का बडा भारी विद्रोह हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इस विद्रोह को बडे वहशियाना ज़ुल्म करके दबा दिया। अब राजनीतिक लिहाज़ से बरमा को भारत से अलग करने के यत्न किये जा रहे है, ताकि अगर भारत आज़ादी हासिल कर ले तो भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही बरमा का शोषण

करती रहे। बरमा के तेल और इमारती लकड़ी और खनिज साधनों के सबब। उसका महत्व बहुत ज्यादा है।

टिप्पणी (अक्तूबर १९३८) :

जब साढ़े पांच वर्ष पहले जेल में यह पत्र लिखा गया था तब से अबतक भारत में बहुत परिवर्तन हो चुके हैं। उस समय सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चल तो रहा था, पर उसका रूप बहुत हल्का हो गया था और बहुत से कांग्रेसजन जेलों में पड़े थे। अपनी हजारों कमेटियों और जुड़ी हुई संस्थाओं समेत कांग्रेस गैर-कानूनी करार दी गई थी। १९३४ ई० में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा-आन्दोलन बन्द कर दिया और सरकार ने कांग्रेस पर लगाई गई रोक उठाली। कांग्रेस ने कौंसिलों के बायकाट की अपनी पुरानी नीति बदल दी और केन्द्रीय विधान सभा के चुनाव लड़कर उनमें काफ़ी कामयाबी हासिल की।

१९३५ ई० में, बड़ी लम्बी बहस के बाद, ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट पास किया, जिसमें भारत के लिए नया संविधान तय किया गया था। इसके मातहत कई तरह की पाबन्दियों के साथ किसी हद तक प्रान्तीय स्व-शासन दिया गया था, और प्रान्तों व देशी रियासतों का एक संघ रक्खा गया था। भारत में इस क़ानून का चारों ओर से विरोध हुआ, और कांग्रेस ने इसे ठुकरा दिया। गवर्नरों व वायसराय के हाथों में दी गई पाबन्दियों और 'विशेष शक्तियों' पर खासतौर से ऐतराज किया गया, क्योंकि इनसे प्रान्तीय स्व-शासन का असली तत्व ही निकल जाता था। संघ का और भी ज़ोरों के साथ विरोध किया गया, क्योंकि इससे देशी रियासतों का निरंकुश राज सदा के लिए कायम रहता था, और सामन्ती व निरंकुश सत्तावाली इकाइयों और आधे-लोकतन्त्री प्रान्तों के बीच एक नाकारा गठ-जोड़ा बनता था। इसको भारत की राजनीतिक व समाजी प्रगति का गला घोटने का, और सीधे तौर पर व सामन्ती राजा लोगों के ज़रिये, ब्रिटिश साम्राज्यशाही का पंजा मज़बूत करने का, नपा-तुला प्रयत्न समझा गया। एक साम्प्रदायिक तरक़ीब भी इस नये संविधान का अंग थी, और इससे बहुत-से पृथक निर्वाचक मण्डल पैदा हो जाते थे। कुछ अल्पसंख्यकों ने इसका स्वागत किया, क्योंकि उनको कुछ हद तक इससे फायदा पहुँचता था, लेकिन इस बिना पर सबने इसे बुरा बताया कि यह लोकतन्त्री उसूलों के खिलाफ था और प्रगति को रोकनेवाला था।

इस कानून का प्रान्तीय स्व-शासन से ताल्लुक रखनेवाला हिस्सा १९३७ ई० के शुरू में लागू कर दिया गया, और इसके मुताबिक़ सारे भारत में आम चुनाव हुए। हालांकि कांग्रेस ने इस कानून को ठुकरा दिया था, पर उसने इन

चुनावो मे शरीक होने का फ़ैसला किया और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चुनाव का ज़ोरदार और चौतरफा हल्ला बोल दिया। सारे प्रान्तो मे से बहुत ज्यादा प्रान्तो मे काग्रेस को ज़बर्दस्त सफलता मिली और ज्यादातर नये प्रान्तीय विधान मण्डलो मे काग्रेस-जनो के बहुमतवाले दल बन गये। अब इस सवाल पर गर्मा-गर्म बहस हुई कि प्रान्तीय हुकूमतों मे इन्हें मन्त्रियो की कुर्सियाँ लेनी चाहिए या नही। निदान काग्रेस ने कुर्सियाँ लेने का फैसला किया, पर यह ज़ाहिर कर दिया कि स्वाधीनता का पुराना मुद्दा और पुरानी नीति बरकरार हैं और उसने इसी नीति को आगे बढाने के इरादे से और स्वाधीनता की लडाई के लिए देश को बलवान बनाने के इरादे से, कुर्सियो पर बैठना कबूल किया है। उसने यह भी जतला दिया कि गवर्नरो को पाबन्दियाँ लगाने का अधिकार काम मे नही लाना चाहिए।

इस फैसले के नतीजे से इन सात प्रान्तो मे काग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने—बम्बई, मद्रास, सयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त, उडीसा, और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त। असम मे कुछ दिन बाद काग्रेस ने मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया। जिन दो प्रान्तो मे गैर-काग्रेसी मन्त्रि-मण्डल थे, वे बगाल और पजाब थे।

काग्रेस मन्त्रि-मण्डलो के बनने के बाद राजनीतिक कैदी रिहा कर दिये गए, और उन प्रान्तो मे नागरिक स्वतन्त्रता पर लगी हुई पाबन्दियाँ हटा दी गई। जनता ने इस परिवर्तन का स्वागत किया और अपनी हालत मे जल्दी सुधार होने का बेताबी से इन्तज़ार करने लगी। जनता में राजनीतिक चेतना तेजी से बढ गई और किसानो व मज़दूरो के आन्दोलन ज़ोर पकडने लगे। बहुत-सी हडतालें हुई। मन्त्रि-मण्डलो ने किसान-वर्ग का बोझ हलका करने के लिए आराज़ी व कर्ज़ों के कानून बनाने का काम फौरन हाथ मे ले लिया और कारखानो के मज़दूरो की हालत सुधारने की कोशिश की। उन्होंने कुछ-न-कुछ किया ज़रूर, पर वे ऐसी परिस्थिति मे थे और कानून की ऐसी बन्दिशो के भीतर काम चला रहे थे कि दूर तक असर करनेवाले कोई भी परिवर्तन शुरू नही कर सकते थे।

काग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों और गवर्नरो के बीच बार-बार टक्करें हुई, और दो मौको पर तो मन्त्रियो ने अपने इस्तीफे भी पेश कर दिये। इन इस्तीफों की मजूरी का नतीजा यह होता कि काग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच गहरी मुठभेड हो जाती। सरकार यह नहीं चाहती थी, इसलिए मन्त्रियो की राय मान ली गई। पर फिर भी हकीकत मे स्थिति डांवा-डोल है और दोनो की टक्करें लाज़िमी हैं। काग्रेस के लिए तो यह एक चलती-फिरती छाया है, और स्वाधीनता ही उसका मुद्दा बना हुआ है।

अगर ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से भारत को ज़बर्दस्ती सघ बनाने की

कोशिश की गई तो बड़ी मुठभेड़ बहुत जल्दी हो सकती है। कट्टर विरोध की वजह से अभी तक तो ऐसा नहीं किया गया है। कांग्रेस आज इतनी ज्यादा ताक़तवर हो गई है जितनी अपनी ज़िन्दगी मे वह पहले कभी नहीं हुई, इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसने फ़ैसला कर लिया है कि सघ के सवाल पर नहीं झुकेगी। कांग्रेस की मांग है कि बालिग मताधिकार से चुनी हुए सविधान-सभा बनाई जाय, जो आज़ाद भारत के सविधान की रचना करे।

भारत मे साम्प्रदायिक समस्या ने फिर सिर उठाया है और इसकी वजह से रगड़े-झगड़े पैदा हो गये हैं। मगर कुछ ऐसे आसार हैं कि आर्थिक व समाजी सवाल सबसे आगे आ जायें और साम्प्रदायिक व मजहबी भेदभावो की ओर से ध्यान हटा दें।

भारत मे जनता की चेतना देशी रियासतो मे भी फैलने लगी है, और बहुत सी रियासतो मे उत्तरदायी शासन की मांग करनेवाले ज़ोरदार आन्दोलन चल रहे हैं। बड़ी-बड़ी रियासतो मे मैसूर, कश्मीर और त्रावनकोर के नाम लिये जा सकते हैं। रियासती अधिकारियो ने इन मांगो का जवाब ज़ालिमाना दमन और हिंसा से दिया है, खासकर त्रावनकोर मे तो यह हाल ही की बात है। इनमे से बहुत-सी अर्ध-सामन्ती रियासतो (मसलन कश्मीर) के राज-काज की बागडोर अंग्रेज अफ़सरो के हाथो मे है।

पिछले कुछ वर्षों के दौरान भारत अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे दिन-पर-दिन ज्यादा दिलचस्पी लेता रहा है और अपनी खुद की समस्या को ससार की समस्या के लिहाज से देखने की कोशिश करता रहा है। अबीसीनिया, स्पेन, चीन, चेको स्लोवाकिया और फिलस्तीन की घटनाओ ने भारतवासियो के दिलो पर गहरा असर डाला है, और कांग्रेस की विदेशी नीति धीरे-धीरे बनने लगी है। यह नीति शान्ति की और लोकतन्त्र के समर्थन की है। वह जितना साम्राज्यवाद का विरोध करती है उतना ही फासीवाद का भी।

१९३७ ई० मे बरमा भारत से अलग कर दिया गया। उसे भी एक विधान सभा दे दी गई है, जो भारत की प्रान्तीय विधान-सभाओ से मिलती-जुलती है।

१६३
मिस्र आज़ादी के लिए जूझता है

२० मई, १९३३

अब हम मिस्र की चर्चा करेंगे और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता व साम्राज्य शाही शक्ति के बीच एक और लड़ाई के दौर पर निगाह डालेंगे। यह शक्ति

भारत की तरह मिस्र मे भी इग्लैण्ड ही है। कई बातो मे मिस्र भारत से बहुत जुदी तरह का है, और इग्लैण्ड को वहाँ अड्डा जमाये बहुत ज़माना नही हुआ है। फिर भी दोनो देशो मे कई समान बातें और समान सूरते हैं। भारत व मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलनो ने अलग-अलग तरीके अपनाये है, लेकिन बुनियादी तौर पर आज़ादी की उमग एक-सी ही है और मुद्दा भी एक-सा ही है। और इन राष्ट्रीय आन्दोलनो को दवाने की कोशिशो मे साम्राज्यशाही जिस ढग से काम करती है, वह भी बहुत-कुछ एक-सा है। हम दोनो एक दूसरे के तजुर्बों से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। हम भारतवासियो के लिए तो यह ख़ास नसीहत की चीज़ है, क्योकि मिस्र की मिसाल मे हम देख सकते हैं कि अग्रेज़ो का 'आज़ादी' बख़्शना क्या अर्थ रखता है और उसका क्या नतीजा होता है।

सारे अरबी देशो (अरब, इराक, सीरिया, फिलस्तीन) मे मिस्र सबसे ज्यादा आगे वढा हुआ है। यह पूर्व और पश्चिम के बीच वडा राजमार्ग और स्वेज़ नहर तैयार होने के समय से ही भाप के जहाज़ो का बडा तिजारती रास्ता रहा है। उन्नीसवी सदी के नये यूरोप के साथ इसका सम्पर्क पश्चिमी एशिया के किसी भी देश के मुकाबले मे वहुत ही ज्यादा रहा है। यह बहुत ही ख़ास किस्म की राष्ट्रीय इकाई है, जो दूसरे अरबी देशो से बिलकुल अलग है, पर जिसका सस्कृति के मामले मे उनके साथ वहुत गहरा रिश्ता है, क्योकि इन सबकी भाषा, दस्तूर व मज़हब एक ही हैं। काहिरा के दैनिक अख़बार सारे अरबी देशो मे पहुँचते हैं और वहाँ इनका वडा भारी असर है। इन तमाम देशो मे से मिस्र मे हीं पहले-पहल राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ल बनी, इसलिए यह लाज़िमी ही था कि मिस्री राष्ट्रीयता दूसरे अरबी देशो के लिए नमूना बन जाय।

मिस्र के बारे मे अपने सबसे पिछले पत्र मे मैंने अरबी पाशा की रहनुमाई मे १८८१-८२ ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन का ज़िक्र किया था और बताया था कि इग्लैण्ड ने इसे किस तरह कुचल दिया। मैं शुरू के सुधारको का, जमालुद्दीन अफ़गानी का, और शरीअत के पावन्द इस्लाम पर नई विचारधाराओ की टक्कर का ज़िक्र भी कर चुका हूँ। इन सुधारको ने पुराने उसूलो का सहारा लेकर और दीन से चिपकी हुई बहुत-सी बुराइयो को हटाकर, यानी उन चीज़ो को हटाकर जो सदियो के दौरान मज़हब के साथ जुड जाती है, इस्लाम का ज़माने की रफ्तार के साथ मेल विठाने की कोशिश की। प्रगति-पसन्द लोगो का अगला कदम था मज़हब को समाजी रस्मो से अलग करना। पुराने मज़हबो का कुछ ढग है कि वे हमारी रोज़ाना ज़िन्दगी के हर पहलू को घेर लेते हैं और उसे कायदो के मुताबिक चलाते हैं। इस तरह हिन्दूधर्म ने और इस्लाम ने, अपने-अपने खरे मज़हबी उपदेशो से बिलकुल जुदा, विवाह, उत्तराधिकार, दीवानी व फौजदारी

क़ानून, राजनीतिक ढाँचा और वास्तव मे लगभग हर बात के लिए, समाजी ज़ाब्ते व कायदे तय कर दिये हैं। दूसरे शब्दो मे, इन्होंने समाज के लिए पूरा ढाँचा तय कर दिया है और उसे मज़हब की सनद व सत्ता देकर हमेशा कायम रखने की कोशिश की है। हिन्दूधर्म तो अपनी बेलोच वर्ण-व्यवस्था से इस मामले मे हद दर्जे को पहुँच गया है। किसी समाजी ढाँचे को यो मज़हब के नाम पर सदा के लिए कायम कर देने से फिर कोई परिवर्तन मुश्किल हो जाता है। इसलिए, दूसरे देशो की तरह मिस्र के प्रगति-पसन्द लोगो ने भी मज़हब को समाजी ढाँचे और रस्मो से अलगाने की कोशिश की। उन्होंने यह दलील दी कि ये पुरानी रस्में, जिन्हें मजहब या रिवाज ने गुज़रे ज़माने मे लोगो पर लाद दिया था, उन हालतो के लिए बेशक उचित और मौज़ूं थी, जो धर्म पुस्तको के ज़माने मे चालू थीं। पर अब ये हालतें बहुत बदल गई थी और पुरानी रस्मे इनके साथ मेल नही खाती थीं। साधारण सहज बुद्धि हमे बतलाती है कि बैलगाडी के लिए बनाया गया क़ायदा मोटर गाडी या रेलगाडी पर लागू नही हो सकता।

इन प्रगति-पसन्द लोगो व सुधारको की यही दलील थी। इसके नतीजे में राज्य को व बहुतेरी रस्मो को दिन-पर-दिन ज्यादा ग़ैर-मज़हबी बना दिया गया, यानी उन्हें मजहब से अलग कर दिया गया। जैसा कि हम देख चुके हैं, तुर्की में रफ्तार हद दर्जे तक पहुँच गई है। तुर्की गणराज्य का राष्ट्रपति तो अपने पद की शपथ भी खुदा के नाम पर नही लेता, अपनी ईमानदारी के नाम पर लेता है। मिस्र मे मामला इस हद तक तो नही पहुँचा, पर वहाँ व दूसरे इस्लामी देशो में इसी किस्म का झुकाव काम कर रहा है। तुर्की, मिस्र, सीरिया, ईरान, वग़ैरा के लोग आज मज़हब की पुरानी बातो की बनिस्बत राष्ट्रीयता की नई बातो पर ही ज्यादा ज़ोर देते हैं। भारत को एक राष्ट्र बनाने की इस रफ्तार को रोकने की भारतीय मुसलमानो ने जितनी कोशिश की है, उतनी दुनिया के मुसलमानो की किसी और बडी जमात ने नही की। इसलिए भारत के मुसलमान इस्लामी देशो के अपने सहधर्मियो के मुकाबले मे बहुत ज्यादा दकियानूसी और मज़हबी रग मे रँगे हुए हैं। यह एक विचित्र और मार्के की हकीकत है। नई राष्ट्रीयता अक्सर करके पूँजीवादी आर्थिक ढाँचे के मातहत मध्यम-वर्गों के विकास के साथ-ही-साथ चलती आई है। भारत के मुसलमान इन मध्यम-वर्गों का विकास करने मे पिछड़ गये हैं, और इस कमी ने शायद राष्ट्रीयता की ओर उनकी गति मे रुकावट डाल दी है। यह भी सम्भव है कि भारत का एक अल्पसख्यक समुदाय होने के नाते उनकी भय की भावना इतना ज़ोर पकड गई है कि वे ज्यादा दकियानूसी बन गये व पुराने दस्तूरो के साथ ज्यादा बँध गये हैं, और नई बातें पसन्द करनेवाली रायो व विचारो को सन्देह की नजर से देखने लगे हैं। इसलिए लगभग एक हज़ार वर्ष पहले जब भारत मे मुसलमानो के हमले शुरू हुए, तब कुछ इसी प्रकार की मनोदशा ने

सबब से ही हिन्दू लोग अपने खोलो मे घुस गये होंगे और जात-पांत मे खूब मजबूती के साथ जकड-बन्द समुदाय बन गये होंगे।

उन्नीसवी सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों मे और इनके बाद के समय मे, विदेशी व्यापार की बढोतरी के साथ मिस्र मे एक नया मध्यम-वर्ग पैदा हो गया। इस वर्ग का एक व्यक्ति सअद जगलूल था, जिसका जन्म 'फलाह' या किसान-परिवार में हुआ था और जो तरक्की करके इस वर्ग मे आ गया था। जब अरबी पाशा १८८१-८२ ई० मे ब्रिटिश सरकार के मुकाबले मे खडा हो गया था, तब जगलूल नौजवान था और उसने अरबी पाशा के मातहत काम किया था। तबसे लगाकर १९२७ ई० में अपनी मृत्यु तक, जगलूल ने मिस्र की आजादी के लिए काम किया, और वह मिस्र के स्वाधीनता-आन्दोलन का नेता बन गया। वह मिस्र का सबका माना हुआ नेता था। जिस किसान-वर्ग मे उसका जन्म हुआ था, उनका यह बहुत प्यारा था, और जिन मध्यम-वर्गों का वह आदमी था वे उसकी पूजा करते थे। पर नामधारी रईस-वर्ग, यानी पुराना सामन्ती जमीदार-वर्ग, उसे पसन्द नही करता था। वे लोग उठते हुए मध्यम-वर्ग को पसन्द नही करते थे, क्योंकि यह देहात मे उनकी प्रभुता को धीरे-धीरे छीनता जा रहा था। उनकी निगाह मे जगलूल कल का छोकरा था, और इसे एक नेता की हैसियत से और अपने वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से उनके खिलाफ लडना पडता था। भारत की तरह यहां भी ब्रिटिश सरकार ने इसी सामन्ती जमीदार-वर्ग मे अपना पाया तलाश करने की कोशिश की। असल मे यह वर्ग मिस्री की बनिस्बत तुर्की ज्यादा था, और पुराने शासक अमीर-वर्ग का प्रतिनिधि था।

इस तरह ब्रिटिश सरकार ने मिस्र मे, साम्राज्यशाही के माने हुए और जँचे-जँचाये ढग से, किसी-न-किसी समाजी जमात या राजनीतिक तबके को अपने साथ जोड लेने का यत्न किया, और जुदा-जुदा वर्गों व तबको को एक दूसरे से लडाकर देश मे सच्ची राष्ट्रीयता के विकास मे रुकावटें डाल दी। भारत की तरह यहां भी अंग्रेजो ने अल्पसंख्यको का सवाल खडा करने की कोशिश की, क्योंकि मिस्र मे ईसाई कॉप्ट लोग अल्प संख्या मे थे। पर इसमे यह सफल नही हुए। और यह सबकुछ उसी माने हुए ढग से किया गया, उनकी जबान पर व्यंगभरे शब्द थे और यह बहाना था कि जो कुछ वे करते थे वह सब दूसरो की भलाई के लिए था। वे अपनेको 'मूक जनता' का 'अमानतदार' बतलाते थे, और कहते थे कि अगर 'फिसादी' या ऐसे ही दूसरे लोग, जिनका "देश के नफे-नुकसान से कोई वास्ता नहीं", गडबड न करें तो सब काम ठीक हो जाय। सयोग की बात है कि भलाइयां बख्शने की इस रफ्तार का बहुत करके यह रूप बना कि जिन लोगो की भलाई की गई, उनमे बहुतो को गोलियो से भून दिया गया। शायद

इस तरह उन्हें दुनिया की मुसीबतों से छुटकारा दिला दिया गया, और बहुत जल्दी स्वर्ग पहुँचा दिया गया!

युद्ध के दौरान शुरू से आखीर तक और बाद मे भी बहुत समय तक मिस्र फौजी कानून के मातहत रहा। युद्ध के ज़माने मे वहाँ एक तो बेहथियार करने का कानून और दूसरा जबरन् फौज मे भर्ती का कानून पास किये गए थे। सारे देश मे ब्रिटिश सिपाही भरे थे। युद्ध के शुरू मे ही मिस्र को इंग्लैण्ड की सरपरस्ती-वाली रियासत करार दिया गया था।

१९१८ ई० मे सुलह होते ही मिस्र के राष्ट्रवादी फिर तेज़ हो गये और उन्होने ब्रिटिश सरकार को और पेरिस के सुलह-सम्मेलन को पेश करने के लिए मिस्र की स्वाधीनता का दावा तैयार किया। उस वक्त मिस्र मे दलों की कोई हस्ती नही थी। 'वतनी' नामक एक राजनीतिक दल था, जिसके सदस्यों की सख्या बहुत कम थी। मिस्र की स्वाधीनता की पैरवी के लिए सअद जग़लूल पाशा की निगरानी मे एक बड़े प्रतिनिधि-मण्डल को लन्दन व पेरिस भेजे जाने का प्रस्ताव किया गया, और इस प्रतिनिधि-मण्डल को मज़बूत करने और राष्ट्रीय रूप देने के लिए देशव्यापी सगठन बनाया गया। मिस्र के बड़े वफ्द दल का मूल यही था क्योंकि 'वफ्द' का अर्थ प्रतिनिधि-मण्डल होता है। ब्रिटिश सरकार ने इस प्रतिनिधि-मण्डल को लन्दन जाने की इजाज़त नही दी और १९१९ ई० के मार्च मे ज़गलूल व दूसरे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

इस कारण से ख़ूनी क्रान्ति भड़क उठी। कुछ अग्रेज़ मारे गये, और क़ाहिरा शहर व दूसरे केन्द्र क्रान्तिकारी समिति के हाथो मे चले गये। कई जगह राष्ट्रवादियो की जन-सुरक्षा समितियाँ बन गईं। इस बगावत मे विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियों ने बड़ा भारी हिस्सा लिया। पर इन शुरू की सफलताओं के बावजूद यह बग़ावत बहुत हद तक दबा दी गई। हालांकि कभी-कदास अग्रेज़ अमलदार मारे जाते रहे और तेज़ विद्रोह दब गया था, पर आन्दोलन कुचला नही जा सका। उसने अपने पैंतरे बदल दिये और निष्क्रिय प्रतिरोध के दूसरे दौर मे कदम रक्खा। यह इतना सफल रहा कि ब्रिटिश सरकार मिस्र की माँग पूरी करने के लिए कुछ क़दम उठाने पर मजबूर हो गई। लॉर्ड मिलनर की निगरानी मे इग्लैण्ड से एक कमीशन भेजा गया। मिस्र के राष्ट्रवादियो ने इस कमीशन का बायकाट करने का फैसला किया, और इसमे उन्हें मार्के की सफलता मिली। मिलनर-कमीशन के बायकाट मे विद्यार्थियो ने फिर बहुत बड़ा भाग लिया। इस राष्ट्र-व्यापी प्रतिरोध का कमीशन पर इतना गहरा असर पड़ा कि उसने कुछ ऐसी सिफारिशें कर डाली, जिनका नतीजा बहुत दूर तक पहुँचता था। ब्रिटिश सरकार ने इस सिफारिशो की परवाह नही की, और मिस्र की आज़ादी के लिए लड़ाई

१९१९ ई० के शुरू से लगातार १९२२ ई० के शुरू तक, तीन साल चलती रही। मिस्री लोग 'इस्तिकलाल-अल-ताम' यानी पूरी स्वाधीनता से कम कोई चीज लेने को तैयार नहीं थे।

गिरफ्तार होने के कुछ दिन बाद, १९१९ ई० में, जगलूल पाशा को रिहा कर दिया गया। पर दिसम्बर, १९२१ ई० में उसे फिर गिरफ्तार कर लिया गया और देश-निकाला दे दिया गया। पर अंग्रेजों की निगाह में इससे स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ और मिस्रवासियों को ठण्डा करने के लिए उन्हें कुछ कार्रवाई करने को मजबूर होना पड़ा। हालांकि जगलूल कोई हठधर्मी गर्म-ख्याली नहीं था, पर राजीनामे के सब प्रयत्न विफल हो गये। सच तो यह है कि कुछ लोगों ने एक बार जगलूल की हत्या तक की कोशिश की, क्योंकि वे उसपर यह आरोप लगाते थे कि उसने अंग्रेजों के साथ ढीले-ढाले राजीनामे की कोशिश करके अपने देश के साथ दगा की है। पर उस वक्त ब्रिटिश सरकार व मिस्री राष्ट्रवादियों के एकमत न हो सकने के असली सबब बुनियादी थे और अबतक भी चले आते हैं। वे सबब उन सबबों से मिलते-जुलते हैं, जो भारत में समझौता नहीं होने दे रहे हैं। मिस्री लोग मिस्र में सारे ब्रिटिश हितों को नामंजूर नहीं करना चाहते थे। वे इन पर बातचीत करने के लिए, और साम्राज्यव्यापी व्यापार, जंगी महत्व के रास्तों व दूसरे मामलों पर इंग्लैण्ड के हितों की गुंजायश रखने को तैयार थे। लेकिन उनका कहना था कि वे इन सवालों पर बातचीत तभी करेंगे जब उनकी पूरी स्वाधीनता मान ली जायगी, और इन सवालों का इस स्वाधीनता पर कोई बुरा असर न पड़ेगा। दूसरी ओर इंग्लैण्ड का खयाल था कि मिस्र को कितनी आजादी दी जाय यह तय करना उनका काम है। और यह आजादी भी इंग्लैण्ड के हितों के अन्तर्गत होनी चाहिए, क्योंकि इन हितों की हिफाजत सबसे पहली चीज थी।

इसलिए दोनों के बीच समझौते का कोई दुतरफा आधार नहीं था। मगर ब्रिटिश सरकार ने महसूस किया कि कुछ-न-कुछ तो किया जाना लाजिमी है, इसलिए उसने २८ फरवरी, १९२२ ई०, को बिना किसी समझौते के ही एक घोषणा कर दी। उसने बयान दिया कि आगे से वह मिस्र को 'स्वाधीन प्रभु राज्य' मानेगी, मगर—और यह बड़ा भारी मगर था—चार बातें आगे गौर करने के लिए हाथ में रख ली गईं। ये थीं

१ मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के आवा-जाई के साधनों की सुरक्षा।
२. सीधे या तिरछे विदेशी हमले या दखलन्दाजी से मिस्र का बचाव।
३ मिस्र में विदेशी हितों की और अल्पसंख्यकों की हिफाजत।
४ सूडान के भविष्य का सवाल।

ये शर्तें उन शर्तों की खानदानी बहनों-जैसी लगती हैं, जो भारत पर लगाई

जाती हैं। हम इन्हें 'सुरक्षण'[1] कहते हैं, और यहाँ इनका कुनबा बहुत बड़ा है। मिस्र ने इन शर्तों को मजूर नही किया, क्योंकि देखने में तो ये सीधी-सादी और भोली-भाली नजर आती थी, पर इनका अर्थ यह था कि मिस्र को, न तो घरेलू मामलो मे और न विदेशी मामलो मे, कोई असली स्वाधीनता मिलनेवाली थी। इसलिए २८ फरवरी, १९२२ ई०, की घोषणा ब्रिटिश सरकार की एकतरफा कार्रवाई थी, जिसे मिस्र ने नही माना। शर्तों और सुरक्षणों के साथ स्वाधीनता का भी क्या अर्थ हो सकता है, यह आगे के वर्षों में मिस्र मे खूब अच्छी तरह जाहिर हो गया।

इस 'स्वाधीनता' के बावजूद ब्रिटिश अफसरो की मातहती में फौजी क़ानून डेढ साल और लागू रहा। इसका अन्त तभी हुआ जब मिस्र की सरकार ने एक बरियत का कानून पास किया, यानी तमाम सरकारी कर्मचारियो को फ़ौजी कानून के जमाने मे की गई सारी ग़ैर-कानूनी कार्रवाइयो की जिम्मेदारी से बरी करने का कानून बनाया।

नये 'स्वाधीन' मिस्र को बहुत ही उलटी चाल का सविधान भेंट किया गया, जिसमे बादशाह के हाथों मे बड़ी भारी शक्तियाँ थी। यह बादशाह फ़ुआद था, जो बेचारे मिस्रियो के सिर पर थोप दिया गया था। बादशाह फ़ुआद और ब्रिटिश अफसरो मे बड़े मजे की पटने लगी। दोनों राष्ट्रवादियों से नफ़रत करते थे और जनता की आजादी के विचार को, या असली पार्लमेण्टी हुकूमत तक को, नापसन्द करते थे। फ़ुआद ने अपने-आपको ही सरकार समझ लिया और अपनी खूब मन-मानी की। उसने पार्लमेण्ट को बर्खास्त कर दिया, और आड़े समय मे मदद के लिए सदा तैयार ब्रिटिश मशीनो के भरोसे तानाशाह की तरह राज करने लगा।

मिस्र की स्वाधीनता की घोषणा करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने परोपकार की सबसे पहली कार्रवाई यह की कि नई हुकूमत के मातहत जो अफ़सर रिटायर होनेवाले थे, उनके लिए मुआवजे की भारी-भारी रक़मों का दावा पेश किया। मिस्री सरकार की हैसियत से बादशाह फुआद फौरन राजी हो गया, और इस तरह ६५,००,००० पौण्ड की जबर्दस्त रकम चुका दी गई है। एक ऊँचे अफसर को तो ८५,००० पौण्ड भी दिये गए। और मजेदार बात यह है कि रिटायर होने के लिए जिन अफसरो को इतने भारी-भारी मुआवजे दिये गए थे, उन्हींमे से कुछको खास मुआहिदो के मातहत फिर रख लिया गया। यह याद रहे कि मिस्र कोई बड़ा देश नही है और उसकी आबादी सयुक्त प्रान्त की आबादी की तिहाई से भी कम है।

मिस्र के सविधान मे बड़े ठाठ-बाट से यह माना गया है कि "सारी सत्ता का निकास राष्ट्र म है।" पर असल मे, नये सविधान के लागू होने के वक्त से ही, मिस्री

[1] Safeguards.

पार्लमेण्ट बड़ी डांवाडोल रही है। जहाँतक मुझे मालूम है, कोई भी पार्लमेण्ट अपनी नियम की मीयाद पूरी नही कर पाई है। बादशाह फुआद ने सविधान को बार-बार ताक मे रखकर जब मन मे आया तब उसकी हत्या की है और निरकुश राजा की तरह राज किया है।

नई पार्लमेण्ट के सबसे पहले चुनाव १९२३ ई० मे हुए, और जग़लूल पाशा और उसके दल ने, जो आजकल वफ्द दल कहलाता है, देश-भर मे झाड़ फेर दी। उन्हें नव्वे फी सदी वोट मिले और उन्होंने पार्लमेण्ट की २१४ सीटो में से ११७ जीत ली। इग्लैण्ड को मनाने की एक और कोशिश की गई, और इस काम के लिए जग़लूल लन्दन भी गया। पर दोनो की रायो मे मेल नही बैठ सका, और समझौते की बातचीत कई सवालो पर टूट गई, जिनमे से एक सवाल सूदान का था। सूदान मिस्र के दक्षिण मे एक देश है, मिस्र से यह बिलकुल अलग है, निवासी भी अलग हैं, और भाषा भी। नील नदी अपने ऊपरले प्रदेशो मे सूदान मे होकर बहती है। लिखे हुए इतिहास के शुरू से ही, यानी सात-आठ हज़ार वर्षों से, नील नदी मिस्र की रगो का खून रही है। मिस्र की सारी खेती-बाडी और ज़िन्दगी का दारोमदार नील नदी मे हर साल आनेवाली बाढो पर रहता है, जिन्होंने अबीसीनिया के पठारो से खादभरी मिट्टी लाकर इस रेगिस्तान को हरी-भरी और उपजाऊ धरती बना दिया है। लॉर्ड मिलनर (बायकाट किये गए कमीशन के अध्यक्ष) ने नील नदी के बारे मे लिखा है.

"यह विचार परेशानी पैदा करनेवाला है कि इस बडी नदी से पानी का बराबर मिलते रहना मिस्र के लिए महज सहूलियत व खुशहाली का ही नही बल्कि जीने-मरने का सवाल है, और इसे तबतक हमेशा कुछ-न-कुछ खतरो का अन्देशा बना रहना लाज़िमी है जबतक कि इस नदी के ऊपरले फैलाव मिस्र के कब्ज़े मे न हो।"

नील नदी के ऊपरले फैलाव सूदान मे हैं, इसलिए मिस्र के वास्ते सूदान जीवन का आधार है।

पहले यह माना जाता था कि सूदान पर इग्लैण्ड व मिस्र का जुडवाँ इख्तियार है। इसका नाम आँग्ल-मिस्री सूदान[1] था। चूकि असल मे मिस्र पर इग्लैण्ड का राज था, इसलिए दोनो के हितो मे कोई टक्कर नही थी, और मिस्र का बहुत-सा रुपया सूदान मे खर्च किया जाता था। लॉर्ड कर्ज़न ने १९२४ ई० मे ब्रिटिश पार्लमेण्ट मे सचमुच यह बयान दिया था कि अगर मिस्र ने सूदान के खर्च की ज़िम्मेदारी न उठाई होती तो सूदान दिवालिया हो गया होता। लेकिन जब अग्रेजो को आखिरकार मिस्र से अपना बिस्तर गोल करने के सवाल का सामना करना

[1] Anglo-Egyptian Sudan.

पडा तो उन्होंने सूदान पर कब्ज़ा बनाये रखना चाहा। दूसरी ओर, मिस्री यह महसूस करते थे कि उनकी हस्ती सूदान मे नील नदी की ऊपरली धाराओ पर मिस्र के इख्तियार के साथ बँधी हुई है। इसलिए दोनो के हितो की टक्कर हुई।

१९२४ ई० मे जब सूदान के सवाल पर सअद ज़गलूल और ब्रिटिश सरकार के बीच बातचीत चल रही थी, तब सूदानियो ने मिस्र के साथ कई तरह से अपना लगाव ज़ाहिर किया। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सख्त सज़ा दी, और मिस्र की सरकार से कोई सलाह-मशविरा किये बिना ही जो मन मे आया सो किया, हालाँकि सूदान मे दोनो का जुडवाँ शासन था, जिसके लिए मिस्र को काफ़ी खर्च करना पडता था।

मिस्र की स्वाधीनता की नामधारी घोषणा में इग्लैण्ड ने विदेशी हितो की हिफाजत की एक और शर्त रक्खी थी। ये विदेशी हित क्या थे? पिछले किसी पत्र मे मैं इनके बारे मे लिख चुका हूँ। जब तुर्की साम्राज्य कमज़ोर हो रहा था, तब बडी-बडी शक्तियो ने उसपर तरह-तरह के कायदे थोप दिये थे, जिनके मातहत तुर्की मे उनके नागरिको के साथ खास तरह का बर्ताव होना चाहिए था। ये यूरोपीय विदेशी तुर्की मे चाहे जो जुर्म करें, उनपर न तो तुर्की कानून लागू होते थे और न तुर्की अदालतो मे मुकदमे चल सकते थे। उनके खिलाफ मुकदमो की सुनवाई या तो उन्हींके देशो के राजदूतो अथवा राजनयिक प्रतिनिधियो के सामने हो सकती थी, या विदेशी जजो की खास अदालतों में। उन्हें और भी कइ रियायतें थी, जैसे, कई क़िस्म के टैक्सो से छूट। विदेशियों की ये खास और बडी कीमती रियायतें "कैपिटयुलेशन्स" यानी 'शर्तो पर सौंपना' कहलाती थी, क्योकि वे कुछ हद तक किसी राज्य का अपनी प्रभुता सौंप देने के बराबर थी। चूँकि तुर्की को इन्हें बर्दाश्त करना पडा, इसलिए तुर्की साम्राज्य के जुदा-जुदा भागो को भी उन्हें मजूर करना पडा। मिस्र को, जो पूरी तरह ब्रिटिश राज के अधीन था और जहाँ तुर्की की नाम को भी सत्ता नही थी, इस मामले में तुर्की साम्राज्य के अग की तरह पीसा गया, और यहाँ ये कैपिटयुलेशन्स ज़बर्दस्ती लागू किये गए। इन बहुत ही खुश-नसीब हालतो को पाकर शहरो मे विदेशी व्यापारियो व पूँजीपतियो की असरदार बस्तियाँ पैदा हो गईं। इसलिए यह लाज़िमी ही था कि ये लोग उस ढाँचे को हटाने का विरोध करते जो हर तरह से इनकी हिफाजत करता था और कोई टैक्स न देने पर भी इन्हें मालदार और खुशहाल बनने की छूट देता था। ये ही वे विदेशी निहित स्वार्थ थे जिनकी हिफ़ाजत की ब्रिटिश सरकार ने ज़िम्मेदारी ली थी। मिस्र के लिए ऐसा ढाँचा अगीकार करना सम्भव नही था, जो सिर्फ स्वाधीनता से बिलकुल मेल खानेवाला ही नही था बल्कि जिसके सबब से उसकी आमदनी मे जबर्दस्त कमी आती थी। और जब

सबसे ज्यादा मालदार लोग ही टैक्सो से बरी हो जाते थे, तो समाजी हालतो मे सुधार की दिशा मे बडे पैमाने पर कुछ भी करना ज़रा भी सम्भव नही था। सीधे ब्रिटिश राज के लम्बे ज़माने मे, अग्रेज़ो ने प्राइमरी शिक्षा, या सफाई, या गाँवो की हालत सुधारने के लिए, देखा जाय तो कुछ भी नही किया था।

सयोग से तुर्की ने, जो कैपिटचुलेशन्स का मूल सबब रहा था, कमाल पाशा की जीत के बाद इनसे पिण्ड छुडाया। यहाँ मैं यह भी ज़िक्र कर दूं कि चीन भी इन्ही कैपिटचुलेशन्स से मिलती-जुलती चीज़ के साथ अभी तक जूझ रहा है। उन्नीसवी सदी मे कुछ समय तक जापान को भी ये बर्दाश्त करने पडे, पर ज्यो-ही वह ताकतवर हुआ, उसने इन्हें मानने से इन्कार कर दिया।

मतलब यह कि विदेशी निहित स्वार्थों का सवाल इग्लैण्ड व मिस्र के आपसी समझौते के रास्ते मे एक और रोडा था। निहित स्वार्थ आज़ादी के रास्ते मे हमेशा रोडा लगाया करते हैं।

अपनी हस्व-मामूल नेक मशा के साथ ब्रिटिश सरकार ने अल्पसख्यको के हितो की रक्षा का भी फैसला कर लिया था। फरवरी, १९२२ ई० की स्वाधीनता की घोषणा मे यह भी एक शर्त थी। मुख्य अल्पसख्यक वर्ग कॉप्टो का था। ये लोग प्राचीन मिस्रियो की औलाद माने जाते हैं और इसलिए मिस्र की सबसे पुरानी नस्ल हैं। ये लोग ईसाई हैं, और ईसाइयत के शुरू मे, जब यूरोप ईसाई नही हुआ था, ईसाई बन गये थे। अल्पसख्यको के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो बडी भारी चिन्ता दिखाई, उसपर धन्यवाद देने के बजाय इन कॉप्टो ने ऐसा नाशुकरापन दिखाया कि उससे कह दिया कि आप हमारी फिक्र न करे। फरवरी, १९२२ ई० की घोषणा के कुछ ही दिनो बाद कॉप्टो ने अपनी बडी भारी सभा बलाई और प्रस्ताव किया कि "राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय मकसद पर पहुँचने की खातिर वे अल्पसख्यको को दी गई सारी खास सहूलियतें और हिफाज़तें निछावर करते हैं।" अग्रेज़ो ने कॉप्टो के इस फैसले को बिलकुल बे-समझी का कहकर उसकी बुराई की। मगर समझदारी का हो या बे-समझी का, इस फैसले ने अग्रेज़ो के अल्पसख्यको की हिफाज़त के दावे को रद्द कर दिया और अल्पसख्यको का सवाल चर्चा का विषय नही रह गया। सच तो यह है कि आज़ादी की लडाई मे कॉप्टो ने बडा भारी हिस्सा लिया था और वफ्द दल मे ज़गलूल पाशा के सबसे ज्यादा भरोसे के साथियो मे कुछ कॉप्ट भी थे।

इन एक-दूसरी के खिलाफ मशाओ के कारण और स्वार्थों की असली टक्करो के कारण, १९२४ ई० मे मिस्र, जिसके प्रतिनिधि सअद ज़गलूल और उसके साथी थे, और ब्रिटिश सरकार के बीच चलनेवाली समझौते की बातचीत बीच मे ही टूट गई। इसपर ब्रिटिश सरकार को बड़ा गुस्सा आया। उन्हें तो

मिस्र मे अपनी मर्जी का काम करवाने की आदत पडी हुई थी, इसलिए काहिरा की नई पार्लमेण्ट पर और खासकर वफ्द दल के नेताओ पर उन्हें बडी खीझ महसूस हुई। उन्होंने वफ्द दल को और मिस्री पार्लमेण्ट को अपने साम्राज्यशाही तरीक़े से सबक सिखाने का फैसला किया। इसका मौका भी उन्हें जल्दी ही मिल गया, और जिस अजीब ढग से उन्होंने इस मौके को झपटकर उससे फायदा उठाया, उसका बयान मैं अगले पत्र मे करूँगा। यह निराली घटना, जो एक तरह से आज की साम्राज्यशाही के कारनामों को आईना दिखा देती है, एक अलग पत्र मे लिखने लायक है।

: १६४ :

अंग्रेजों की मातहती में स्वाधीनता का अर्थ

२२ मई, १९३३

पिछले पत्र मे मैं मिस्री सरकार के राष्ट्रवादी प्रतिनिधियो और ब्रिटिश सरकार के बीच १९२४ ई० मे समझौते की बातचीत विफल होने का और इसपर ब्रिटिश सरकार के गुस्से का ज़िक्र कर चुका हूँ। इसके बाद होनेवाली खास-खास घटनाओ का हाल शुरू करने से पहले मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि नामधारी स्वाधीनता के बावजूद मिस्र मे ब्रिटिश फ़ौजें दखल जमाकर बैठी रहीं। वहाँ न सिर्फ ब्रिटिश फौज तैनात कर दी गई थी, बल्कि मिस्री फौज भी अंग्रेजों के इख्तियार मे थी, और इसके ऊपर एक अंग्रेज था, जो फ़ौज का 'सरदार' कहलाता था। पुलिस के मुख्य अफसर भी अंग्रेज थे, और मिस्र मे विदेशियों की हिफ़ाजत के बहाने ब्रिटिश सरकार का वित्त, न्याय तथा अन्दरूनी मामलो के विभागो पर भी इख्तियार था। मतलब यह कि सरकार की हरेक निहायत जरूरी चीज़ पर अंग्रेजो का इख्तियार था। मिस्री लोगो का इस बात पर जोर देना लाजिमी था कि ब्रिटिश सरकार इस किस्म के क़ब्ज़े को हटा ले।

१९ नवम्बर, १९२४ ई० को सर ली स्टैक को, जो मिस्री फ़ौज के सरदार के पद पर था और सूदान का गवर्नर जनरल भी था, कुछ मिस्रियो ने हत्या कर दी। इससे मिस्र मे व इग्लैण्ड मे अंग्रेजो को कुदरती तौर पर सदमा पहुँचा। शायद इससे भी ज्यादा सदमा मिस्र के राष्ट्रवादी दल वफ्द को हुआ, क्योंकि वे जानते थे कि इसका मतलब उनपर हमला होगा। और यह हमला काफी फुर्ती से हुआ। तीन ही दिन के भीतर, २२ नवम्बर को, मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर लॉर्ड ऐलनबी ने मिस्री सरकार को अपना आखिरी शर्तनामा पेश कर दिया, जिसमें नीचे लिखी माँगें फौरन पूरी करने को कहा गया था:

१. क़सूर माना जाय और उसके लिए माफी माँगी जाय;

२. मुजरिमो को सजा दी जाय;

३ तमाम राजनीतिक प्रदर्शनो पर रोक लगा दी जाय,

४ पाँच लाख पौण्ड का हर्जाना चुकाया जाय;

५ सूदान से सारे मिस्री सिपाहियो को चौबीस घण्टे के भीतर हटा लिया जाय,

६ सूदान मे सिंचाई के क्षेत्रो पर मिस्र के हित मे जो बन्दिशें लगा दी गई थी, उन्हें उठा लिया जाय,

७ मिस्र मे तमाम विदेशियो की हिफाजत का जो अधिकार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया था, उसका विरोध आयन्दा से खत्म कर दिया जाय। (इसका खास मतलब, वित्त, न्याय व अन्दरूनी मामलो के विभागो पर ब्रिटिश सत्ता बनी रहने से था।) ।

ये सातो माँगें ज़रा ध्यान देने काबिल हैं। चूंकि कुछ लोगो ने सर ली स्टैक की हत्या कर दी थी, इसलिए ब्रिटिश सरकार ने, किसी जांच की गुंजायश तक न रहने देकर, फौरन ही समूची मिस्री सरकार के साथ यानी मिस्र की जनता के साथ ऐसा बर्ताव किया मानो वे सब-के-सब हत्या के अपराधी थे। इसके अलावा, इस सारे मामले से उसने खूब अच्छा माली फायदा उठाया, और सबसे महत्व की बात तो यह है कि उसने इस मौके का उपयोग करके अपने व मिस्री सरकार के बीच झगडे के उन सब मामलो को ज़बर्दस्ती तय कर दिया, जिनके बारे मे कुछ ही महीने पहले लन्दन मे होनेवाली समझौते की बातचीत टूट चुकी थी। मानो सिर्फ यही काफी नही था, इसलिए उसने यह भी जोड दिया कि तमाम राजनीतिक प्रदर्शन बन्द कर दिये जायें। इस तरह उसने देश की जनता की हस्ब-मामूल ज़िन्दगी के सिलसिले को ही रोक दिया।

देखा जाय तो यह सब उस हत्या से पैदा होनेवाला बडा अजीब-सा माजरा था, और एक हत्या मे से ब्रिटिश सरकार के फायदे की इतनी सारी चीज़ें निकाल लेना बडी ज़ोरदार और उपजाऊ कल्पना-शक्ति का काम था। इसे और भी ज्यादा विचित्र बनानेवाली बात यह है कि जिन दो मुख्य अफसरो को (ये नाम-मात्र को मिस्री सरकार के अधीन थे), यानी काहिरा की पुलिस के सरदार और जन-सुरक्षा के यूरोपीय विभाग के डायरेक्टर-जनरल को, अपराध व जुल्म रोकने के लिए खासतौर पर ज़िम्मेदार माना जा सकता था, वे दोनो अंग्रेज़ थे। उन्हें किसी ने भी हत्या के लिए ज़िम्मेदार नही ठहराया। पर बेचारी मिस्री सरकार को, जिसने हत्या के बाद फ़ौरन ही अपना सख्त रंज और अफसोस ज़ाहिर कर दिया था, ब्रिटिश सरकार के भारी, पर बेदर्दी से हिसाब लगाये गए और नफ़े-दार, गुस्से का नतीजा भुगतना पडा।

मिस्री सरकार इतनी झुक गई कि ज़मीन चाटने लगी। ज़गलूल पाशा ने शर्तनामे की लगभग सारी बातें मान ली, यहाँतक कि चौवीस घण्टे में पांच लाख पौण्ड का हर्जाना भी चुका दिया। सिर्फ सूदान के बारे में मिस्री सरकार ने कहा कि वह अपने हक नही छोड सकती। पर लॉर्ड ऐलनवी के लिए यह खाक-सारी और माफीनामा भी काफी नही थे, और चूंकि सूदानवाली शर्त नही मानी गई थी, इसलिए उसने ब्रिटिश सरकार की ओर से इस्कन्दरिया के चुंगीघर पर ज़बर्दस्ती कब्ज़ा कर लिया और इस तरह चुंगी की आमदनी का अपने हाथ में ले लिया। इसके अलावा, मिस्री सरकार के ऐतराज़ो के वावजूद उसने इन शर्तों को सूदान पर ज़बर्दस्ती लागू कर दिया और सूदान को ब्रिटिश उपनिवेश बना दिया। सूदान मे मिस्री फौजियो ने विद्रोह किये, पर उन्हें हद दर्जे की सख्ती से दवा दिया गया।

ब्रिटिश सरकार की इस कार्रवाई पर विरोध जताने के लिए ज़गलूल पाशा व उसकी सरकार ने फौरन इस्तीफे दे दिये, और १९२४ ई० के उसी नवम्बर महीने मे शाह फुआद ने पार्लमेण्ट को भग कर दिया। इस तरह ब्रिटिश सरकार ज़गलूल व उसके वफ्द दल को कुर्सियो से हटाने मे और कम-से-कम उस वक्त पार्लमेण्ट को खत्म करने मे सफल हुई। उसने सूदान पर भी कब्ज़ा कर लिया, और इस तरह सूदान मे नील नदी की धाराओ पर कब्ज़ा करके मिस्र का गला घोटने की आसानी हासिल कर ली।

वेचारी मिस्री पार्लमेण्ट ने "एक दुखदायी वारदात से साम्राज्यशाही मतलबो के लिए फायदा उठाने" के खिलाफ राष्ट्रसघ मे अपील की। पर बडी-बडी शक्तियो के खिलाफ शिकायतो को राष्ट्रसघ न देखता है न सुनता है।

इस समय से मिस्र मे एक लगातार लडाई शुरू हो गई। इस खींचतान मे एक तरफ तो सारे देश का असली प्रतिनिधि वफ्द दल था, और दूसरी तरफ़ शाह फुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर का गुट्ट था, जिसके पीछे कई विदेशी स्वार्थ और दरबार के टुकड-खोर थे। इस सारे वक्त मे सविधान को ताक मे रख-कर तानाशाहियाँ देश पर राज कर रही थी, और शाह फुआद निरकुश राजा बना हुआ था। जब-जब पार्लमेण्ट का अधिवेशन होने दिया गया तब-तब उसने ज़ाहिर कर दिया कि लगभग सारा देश वफ्द दल का समर्थक है, इसलिए पार्ल-मेण्ट को ही भग कर दिया गया। अगर फुआद को अंग्रेज़ो का और उनके अधीन सेना व पुलिस का सहारा न होता, तो वह इस ढग की कार्रवाइयाँ शायद नही कर सकता। 'स्वाधीन' मिस्र के साथ वहुत-कुछ भारत की किसी देशी रियासत-जैसा सलूक किया जाता है, जहाँ असली सत्ताधारी ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट के इशारो पर काम होता है।

नवम्बर, १९२४ ई०, को पार्लमेण्ट भग कर दी गई थी। मार्च, १९२५ ई० मे नई चुनी हुई पार्लमेण्ट का अधिवेशन हुआ। इसमे वफ्द दल का भारी बहुमत था, और इसने उसी वक्त जगलूल पाशा को 'चैम्बर ऑफ डिपुटीज़' का अध्यक्ष चुन लिया। यह चीज न तो अग्रेजो को पसन्द आई और न बादशाह फुआद को। इसलिए बस उसी दिन यह नई-नकोर, एक दिन की उम्रवाली पार्लमेण्ट, भग कर दी गई। इसके बाद पूरे एक वर्ष तक सविधान के रहते-रहते मिस्र मे कोई पार्लमेण्ट नही रही, और फुआद ने एक तानाशाह की तरह राज किया। हाँ, उसकी पीठ पर असली ताकत ब्रिटिश कमिश्नर की थी। इस पर सारे देश ने नाराजी जाहिर की, और शाह फुआद व अग्रेजो के इस गुट का विरोध करने के लिए जग़लूल सारे तबको को एक करने मे सफल हो गया। नवम्बर, १९२५ ई०, मे यहाँतक हुआ कि सरकारी मुमानियत को अगूठा दिखाकर पार्लमेण्ट के सदस्यो की एक सभा हुई। चूंकि पार्लमेण्ट-भवन मे फ़ौजी सिपाही भरे हुए थे, इसलिए सदस्यो की यह सभा दूसरी जगह की गई।

तब फुआद ने अपने महलो से महज़ एक फरमान निकालकर सारे सविधान को ही बदल डालने की कोशिश की। उसका इरादा इसे और भी ज्यादा दकियानूसी बनाने का था, ताकि आगे की पार्लमेण्टो पर ज्यादा आसानी से काबू रक्खा जा सके और जग़लूल-दल को बाहर ही रक्खा जा सके। पर इसके खिलाफ जबर्दस्त हो-हल्ला मच गया, और यह साफ हो गया कि नये ढांचे के भीतर चुनावों का बायकाट कर दिया जायगा। इसपर शाह फुआद को झुकना पडा और चुनाव पुराने ढांचे के ही मुताबिक हुए। नतीजा जग़लूल के दल का भारी बहुमत, यानी इस दल की सख्या २०० और विरोधियो की सख्या १४। राष्ट्र पर जगलूल के काबू का, और मिस्र क्या चाहता था इसका, इससे ज्यादा बडा सबूत नही हो सकता था। इसके बावजूद भी ब्रिटिश कमिश्नर (जो भारत का एक भूतपूर्व गवर्नर लॉर्ड लॉयड था) ने कहा कि उसे जग़लूल के प्रधान-मन्त्री बनने पर ऐतराज है, इसलिए इसकी जगह दूसरा व्यक्ति मुकर्रर किया गया। यह समझना ज़रा मुश्किल है कि इस मामले मे अग्रेजो को दखल देने का क्या वास्ता था। फिर भी, नई सरकार की बागडोर बहुत-कुछ जगलूल के ही दल के हाथो मे थी, और सम्हलकर चलने के जतनो के बावजूद उसकी लॉर्ड लॉयड से अक्सर टक्करें होती रहती थी, क्योकि लॉर्ड लॉयड निहायत शाह-मिजाज और धौंस जमानेवाला व्यक्ति था, और वह मिस्र को अक्सर अग्रेजी जगी-जहाजो की धमकियाँ दिया करता था।

१९२७ ई० मे इग्लैण्ड के साथ समझौता करने की एक और कोशिश की

गई, पर बादशाह फुआद का बहुत मुलायम प्रधान-मन्त्री भी अंग्रेज़ो की शर्तों पर हक्का-बक्का रह गया। कागज़ी स्वाधीनता के पर्दे मे उनका असली इरादा मिस्र को इग्लैण्ड की रियासत बनाने का था। इसलिए समझौते की बातचीत फिर विफल हुई।

जिन दिनो समझौते की ये बातचीतें चल रही थी तभी २३ अगस्त, १९२७ ई० को मिस्र के महान् नेता सअद ज़गलूल पाशा की सत्तर वर्ष की उम्र मे मृत्यु हो गई। वह तो नही रहा, पर मिस्र मे उसकी याद एक चमत्कार व क़ीमती विरासत के रूप मे जिन्दा है, और लोगो को प्रेरणा देती है। उसकी पत्नी, बेगम सफिया ज़गलूल, अभी ज़िन्दा है, सारा राष्ट्र उसे चाहता है, उसे अपनी बुज़ुर्ग मानता है और उसे 'मादरे कौम' कहकर पुकारता है। काहिरा मे ज़गलूल का मकान, जो 'कौम का मकान' कहलाता है, बहुत अर्से से मिस्री राष्ट्रवादियो का सदर मुकाम है।

ज़गलूल के बाद मुस्तफा नहास पाशा वफ़्द का नेता हुआ। कुछ दिन बाद, मार्च, १९२८ ई० मे वह प्रधान-मन्त्री बना। उसने नागरिक स्वतन्त्रता और लोगो के हथियार रखने के हक से वास्ता रखनेवाले कुछ मामूली-से अन्दरूनी सुधार किये। फौजी कानून के जमाने मे ब्रिटिश सरकार ने इन हक़ो को कम कर दिया था। ज्योही मिस्री पार्लमेण्ट ने इस सवाल पर ग़ौर करना शुरू किया, त्योही इग्लैण्ड से धमकियाँ आईं कि ऐसा नही किया जाना चाहिए। इग्लैण्ड का इस तरह एक बिलकुल घरू मामले मे दखल देना बडी विचित्र बात मालूम होती है। मगर लॉर्ड लॉयड ने, माने हुए पुराने ढग से, आखिरी चेतावनी दे दी और ब्रिटिश जगी-जहाज़ माल्टा से इस्कन्दरिया के बन्दरगाह मे आ धमके। नहास पाशा कुछ हद तक झुक गया, और इन मामलो को कुछ महीने बाद अगले अधिवेशन तक के लिए टालने पर राज़ी हो गया।

मगर दूसरा अधिवेशन तो होनेवाला ही न था। शाह फुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने, यानी प्रगति-विरोधी तत्वो और साम्राज्यशाही ने ऐसी तरकीब की कि पार्लमेण्ट को गडबड करने का आगे कोई मौका ही न मिले। इन दोनो की साज़िश एक अजीब रग लाई। नहास पाशा के लिए ख़ासतौर पर कहा जाता था कि उसका चरित्र बडा ऊंचा है और वह किसी लालच मे नही फँस सकता। अचानक ही, एक पत्र के आधार पर (जो बाद मे जाली साबित हुआ) नहास पाशा और वफ़्द के एक कॉप्ट नेता पर भ्रष्टाचार का इलजाम लगाया गया। दरबारी लोगो ने और अग्रेज़ो ने इसके बारे मे धुँआँधार प्रचार किया। ब्रिटिश सवाद-एजेन्सियो और पत्र-सवाददाताओ ने इन झूठे अभियोगो को सिर्फ मिस्र मे ही नहीं बल्कि विदेशो मे भी खूब फैलाया। इस इलजाम की आड लेकर शाह फुआद ने नहास पाशा से प्रधान-

मन्त्री-पद से इस्तीफा देने को कहा। जब नहास पाशा ने ऐसा करने से इन्कार किया तो फुआद ने उसे बरखास्त कर दिया। अब लॉयड-फुआद-साजिश का अगला कदम उठाया गया। अचानक एक राजनीतिक दांव खेला गया और बादशाह ने फरमान जारी करके पार्लमेण्ट को मुल्तवी कर दिया और सविधान को बदल दिया। सविधान मे से अखबारो की आजादी व दूसरी नागरिक स्वतन्त्रताओ से ताल्लुक रखनेवाली दफाएँ रद्द कर दी गई और तानाशाही की घोषणा कर दी गई। इस पर इग्लैण्ड के अखबारो ने और मिस्र मे रहनेवाले विदेशियो ने खूब खुशियाँ मनाई।

पर तानाशाही की घोषणा के बावजूद पार्लमेण्ट के सदस्यो ने अपनी सभा की, और नई सरकार को गैरकानूनी करार दिया। मगर लॉयड को या फुआद को इनमे कोई परेशानी नही थी। 'कानून और व्यवस्था' का फर्ज है प्रगति-विरोध और साम्राज्यशाही को सहारा देना, इनके खिलाफ हथियार की तरह इस्तेमाल किया जाना नही।

सरकार ने नहास पाशा पर जो मुकदमा चलाया था, वह सरकारी दबाव के बावजूद धूल मे मिल गया। उसके ऊपर लगाये गए आरोप झूठे साबित हुए। और सरकार ने हुक्म जारी कर दिया कि इस मुकदमे का फैसला अखबारो मे न छापा जाय (सरकार कैसी अद्भुत इन्साफ-पसन्द और बहादुर दिलवाली थी!) मगर इसपर भी यह समाचार फौरन फैल गया, और हर जगह बहुत खुशियाँ मनाई गई।

तानाशाही ने, जिसकी पीठ पर लॉर्ड लॉयड व अंग्रेजी फौजें थी, वफ्द दल को, यानी वास्तव मे मिस्री राष्ट्रीयता को, कुचलने और तहस-नहस करने का भरसक यत्न किया। देश में बाकायदा आतंक का राज हो गया और समाचारो पर पूरी रोक लगा दी गई। पर इस सबके बावजूद बडे-बडे राष्ट्रीय प्रदर्शन हुए, जिनमे स्त्रियो ने खास हिस्सा लिया। सप्ताह-भर की एक हड़ताल हुई, जिसमे वकीलो व दूसरे लोगों ने भाग लिया, मगर समाचारो पर सेन्सर होने की वजह से अखबार इसे प्रकाशित तक नही कर सके।

बस, १९२८ ई० का साल बडी खलबली और मुसीबत मे बीता। साल के अन्त मे इग्लैण्ड की राजनीतिक स्थिति मे परिवर्तन होने से मिस्र मे भी फौरन ही इसका असर पडा। वहाँ मजदूर दल की सरकार कायम हो गई थी, और सबसे पहली कार्रवाई इसने यह की कि लॉर्ड लॉयड को वापस बुला लिया, जो ब्रिटिश सरकार तक के लिए नाकाबिले-बर्दाश्त हो गया था। लॉयड के हटाये जाने से कुछ दिनो के लिए फुआद-अंग्रेज गठबन्धन टूट गया। बिना अंग्रेजो के सहारे फुआद एक दिन भी काम नही चला सकता था, इसलिए उसने दिसम्बर, १९२८ ई० मे पार्लमेण्ट के

नये चुनावों की इजाजत दे दी। इस बार फिर वफद दल ने लगभग सारी सीटों पर कब्जा कर लिया।

इंग्लैण्ड की मजदूर सरकार ने मिस्र के साथ समझौते की बातचीत फिर शुरू की, और इस काम के लिए १९२९ ई० में नहास पाशा लन्दन गया। इस बार मजदूर सरकार अपने पहले की सरकारों से कुछ आगे बढ़ी और तीन शर्तों के बारे मे नहास पाशा का कहना मान लिया गया। लेकिन चौथी शर्त—सूदान के बारे में फिर कोई समझौता नही हुआ, इसलिए बातचीत भग हो गई। फिर भी इस मौके पर पहले से बहुत ज्यादा बातों पर समझौता हो गया था, दोनों पक्षो मे दोस्ताना ताल्लुक बने रहे और दोनों ने फिर चर्चा चलाने के वादे किये। कुल मिलाकर नहास पाशा और वफद दल के लिए यह सफलता की बात थी, जो मिस्र मे अंग्रेज व दूसरे विदेशी व्यापारियों और साहूकारों को जरा भी अच्छी न लगी। कुछ महीने बाद, जून, १९३० ई० मे बादशाह और पार्लमेण्ट के बीच झगडा हो गया और नहास पाशा ने प्रधान-मन्त्री के पद से इस्तीफा दे दिया।

इस खाली जगह मे फुआद फिर तानाशाही लेकर आ कूदा—यह उसके राज्य-काल की तीसरी तानाशाही थी। पार्लमेण्ट भग कर दी गई, वफद दल के अखबार बन्द कर दिये गए और आमतौर पर यह तानाशाही बडी सख्ती के साथ काम करने लगी। पार्लमेण्ट की दोनों सभाओं, यानी चेम्बर व सीनेट, के सब सदस्यों ने महलों की सरकार की जरा भी परवाह नही की और पार्लमेण्ट-भवन मे जबर्दस्ती घुसकर अधिवेशन कर डाला। २३ जून, १९३० ई० को उन्होंने सविधान की वफादारी की गम्भीर शपथ ली और कसम खाई कि वे अपनी पूरी ताकत के साथ उसकी रक्षा करेंगे। सारे देश मे बडे-बडे प्रदर्शन हुए। इन्हें फ़ौजी सिपाहियों ने सगीनों के जोर से तितर-बितर कर दिया, और बहुत खून-खराबी हुई। नहास पाशा खुद भी घायल हो गया। इस तरह ब्रिटिश अफ़सरों के मातहत फौजियों और पुलिस के सिपाहियों ने उस तानाशाही को बरकरार रक्खा, जिसपर शाह के पिछलग्गू, मुट्ठीभर रईसों व धनवानों के सिवाय, सारा राष्ट्र सख्त नाराज था। वफदियों के अलावा दूसरे लोगों तक ने, यहाँतक कि भारत की तरह के नर्मदली और उदारदली लोगों ने भी, जो जनता की ओर से सख्त कार्रवाई के विरोध मे हल्ला मचाते थे, तानाशाही के खिलाफ आवाज उठाई।

इसी साल, यानी १९३० ई० मे, कुछ दिन बाद शाह ने एक नये सविधान की घोषणा करनेवाला फरमान जारी किया, जिसमे उसने पार्लमेण्ट के अधिकार तो कम कर दिये और अपने अधिकार बढा लिये। इस किस्म की चीज बहुत आसान थी। बस, एक घोषणापत्र जारी किया और काम हुआ, क्योंकि शाह के पीछे एक साम्राज्यशाही शक्ति की भयानक छाया थी।

मिस्र के १९२२ ई० से लगाकर १९३० ई० तक के, इन नौ वर्षों की कहानी मैंने तुम्हें ज़रा ब्यौरे के साथ बतलाई है, क्योंकि यह कहानी मुझे अनोखी मालूम हुई। ये वर्ष, ब्रिटिश सरकार की फरवरी, १९२२ ई० की घोषणा के अनुसार मिस्र की 'स्वाधीनता' के वर्ष थे। मिस्री लोग क्या चाहते थे, इसका तो कोई सवाल ही नही था। हां, जब-जब उन्हें मौका दिया गया तब-तब उनके बहुत बडे बहुमत ने, जिसमे मुसलमान व कॉप्ट दोनो शामिल थे, वफ्दियो को ही चुना। मगर चूंकि ये लोग विदेशियो की और खासकर अग्रेज़ो की, देश का शोषण करने की ताकत को कम करना चाहते थे, इसलिए इन सारे विदेशी निहित स्वार्थों ने सगीनो के ज़ोर पर और खून-खराबी, जालसाज़ी व साज़िश से, हर तरह इनका विरोध किया, और अपने इशारे पर नाचनेवाला कठपुतली-जैसा शाह खडा कर दिया।

वफ्द-आन्दोलन बिल्कुल राष्ट्रीय मध्यम-वर्गी आन्दोलन रहा है। इसने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लडाई लडी है, और समाजी समस्याओ मे दखल नही दिया है। जब कभी पार्लमेण्ट ने अपना काम किया, उसने शिक्षा व दूसरे विभागो मे कुछ अच्छा काम कर दिखाया। सच तो यह है कि राष्ट्रीय लडाई के होते हुए भी इन थोडे-से समय मे पार्लमेण्ट ने जितना किया उतना ब्रिटिश शासन पिछले चालीस वर्षों मे भी नही कर पाया था। किसान-वर्ग वफ्द दल को कितना चाहता है, यह बात चुनावो से और बडे-बडे प्रदर्शनो से ज़ाहिर हो चुकी है। मगर फिर भी चूंकि यह आन्दोलन असल मे मध्यम-वर्गी था, इसलिए उस हद तक चेतना नही पैदा कर सका है जिस हद तक समाजी परिवर्तन के मकसदवाला कोई आन्दोलन करता।

इस पत्र को खत्म करने से पहले मैं स्त्रियो के आन्दोलन का हाल बतलाना चाहता हूं। शायद खुद अरब को छोडकर सारे अरबी देशो की नारियो मे बडी भारी चेतना जागी है। दूसरी बहुत-सी बातो की तरह इस बात मे भी इराक या सीरिया या फ़िलस्तीन के मुकाबले मे मिस्र ज्यादा आगे बढा हुआ है। पर इन सब देशो मे नारियो का एक सगठित आन्दोलन है, और जुलाई १९३० ई० मे दमिश्क मे अरब नारियो की काग्रेस का पहला अधिवेशन भी हुआ था। उन्होंने राजनीतिक मामलो की बनिस्बत सस्कृति व समाज की तरक्की पर ही ज्यादा ज़ोर दिया। मिस्र की स्त्रियो का राजनीति की तरफ ज़्यादा झुकाव है। वे राजनीतिक प्रदर्शनो मे भाग लेती हैं, और उनका एक मज़बूत 'नारी मताधिकार सघ' भी है। उनकी मॉंग है कि विवाह के कानून मे ऐसा सुधार किया जाय, जो उनके हक मे हो, रोज़गारो मे स्त्रियो को पुरुषो के बराबर की सहूलियतें दी जायँ, वगैरा। मुसलमान व ईसाई नारियाँ आपस मे पूरा सहयोग करती हैं। मुँह पर बुर्का डालने की आदत हर जगह कम होती जा रही है, खासकर मिस्र मे। तुर्की की तरह से बुर्का गायब तो नही हुआ है, पर उसकी धज्जियाँ उड रही हैं।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८)

१९३० ई० से मिस्र तानाशाही हुकूमत के मातहत रहा, जिसकी नकेल महलो से घुमाई जाती थी। फर्जी तौर पर तो वह 'प्रभुता-सम्पन्न स्वाधीन राज्य' था, पर अमल मे वह एक तरह से इग्लण्ड का उपनिवेश था, जहाँ क़ाहिरा व इस्कन्दरिया मे विदेशी छावनियाँ पडी हुई थी, और स्वेज़ नहर व सूदान पर इग्लैण्ड का इख्तियार था। ये साल दुनिया भर मे भारी आर्थिक मन्दी के थे, और रुई की कीमते गिरने के सबब से मिस्र को बहुत नुकसान उठाना पडा था।

१९३५ ई० मे फासीवादी इटली ने अबीसीनिया पर धावा बोल दिया, और मिस्र व नील के ऊपरले काँठे मे ब्रिटिश हितो के लिए इस नये खतरे से मिस्र व इग्लैण्ड के आपसी रिश्तो मे फर्क आ गया। अब इग्लैण्ड की यह ताकत नहीं थी कि मिस्र बागी और विरोधी बना रहे, और मिस्री नेताओ को इग्लैण्ड के साथ दोस्ती के आसार नज़र आने लगे। पार्लमेण्ट के चुनावो मे वफ्द दल की शानदार जीत हुई, और नहास पाशा प्रधान-मन्त्री बना। अबीसीनिया मे इटली की हमलावर कार्रवाई से जो नई फिज़ा पैदा हुई, उसमे मिस्र व इग्लैण्ड ने एक दूसरे की शर्ते मान ली, और अगस्त, १९३६ ई० मे एक सन्धि पर दोनो के दस्तखत हो गये। सुलह की खातिर मिस्र उन बहुत-सी बातो को छोडने पर राजी हो गया, जिन-पर वह पहले अडा हुआ था, उसने सूदान मे जैसी-की-तैसी हालत को और स्वेज़ नहर को बचाने के इग्लैण्ड के अधिकार को कबूल कर लिया। इसके अलावा मिस्र की विदेश नीति इग्लैण्ड की विदेश नीति से जोड दी गई। दूसरी ओर, इग्लैण्ड ने क़ाहिरा व इस्कन्दरिया मे अपने फौजी हटा लिये, मिली-जुली अदालतो और विदेशियो के खास अधिकारो को मसूख कराने मे मदद देने का और राष्ट्रसघ मे मिस्र के दाखिले की हिमायत का वायदा किया।

इस समझौते पर खूब खुशियाँ मनाई गईं, लेकिन अभी इनके लिए ठीक वक्त नही आया था। राजाओ के बदल जाने के बावजूद भी राज-महल वफ्द दल से नफरत करता रहा और उसके खिलाफ साजिशे रचता रहा। पर्दे की आड से ब्रिटिश साम्राज्यशाही अब भी अपना काम कर रही थी। मिस्र की धरती के बहुत बडे हिस्से पर मुट्ठीभर लोगो की मालकियत है, और शाही-घराना भी इसके ज़बर्दस्त हिस्से का मालिक है। ये बडे-बडे भू-स्वामी प्रगतिशील कानून बनाये जाने के और जनता की शक्ति मे बढोतरी के घोर विरोधी हैं। इसलिए लगातार रगड-झगड होने लगी, और शाह ने नहास पाशा को उसके पद से हटा दिया और पार्लमेण्ट को भग कर दिया।

कुछ अर्से तक राजमहल की हुकूमत के बाद नये चुनाव हुए, और जब इनमे वफ्द दल की भारी हार हुई, तो सबको ताज्जुब हुआ। बाद मे मालूम हुआ कि

यह चुनाव ज्यादातर बनावटी मामला था, और धोखेबाजी से चुनाव के गलत विवरण तैयार किये गए थे। नहास पाशा की रहनुमाई मे वफ्द दल अब भी जनता का बहुत प्यारा बना हुआ है, पर आज की सरकार को राजमहल का गुट्ट ब्रिटिश साम्राज्यशाही के सहारे पर चलाता है।

१६५
पश्चिमी एशिया का दुनिया की राजनीति में दुबारा प्रवेश

२५ मई, १९३३

समुद्र की एक जरा-सी पट्टी ही मिस्र व अफ्रीका को पश्चिमी एशिया से अलग करती है। अब हम इस स्वेज़ नहर को लाँघ कर अरब और फिलस्तीन, सीरिया और इराक--इन तमाम देशो की, और इनसे कुछ परे ईरान की यात्रा करेंगे। जैसा कि हम देख चुके हैं, पश्चिमी एशिया ने इतिहास मे जबर्दस्त हिस्सा अदा किया है, और यह अक्सर ससार के मामलो की धुरी रहा है। इसके बाद कई सदियो तक चलनेवाला ऐसा जमाना आया जब राजनीतिक लिहाज से यह नजर से ओझल हो गया। यह रुके हुए पानी की खाडी-जैसा बन गया, जीवन की धारा इसके पास होकर हरहराती हुई बहती रही, पर इससे इसकी खामोश सतह पर हल्की-सी लहर भी पैदा नही हुई। और अब हम एक और परिवर्तन अपनी आँखो से देख रहे हैं, जो मध्य-पूर्व के देशो को फिर दुनिया के गोरखधन्धे मे ला रहा है, पूर्व और पश्चिम को जानेवाला राजमार्ग फिर इनमे होकर गुज़रने लगा है। यह हकीकत हमारे लिए ध्यान देने लायक है।

जब कभी मैं पश्चिमी एशिया की बात सोचता हूँ तो मैं गुज़रे जमाने मे अपना आपा खो बैठता हूँ। मेरे मन मे पुराने दिनो की इतनी यादें भर जाती हैं कि उनकी मोहिनी से बचना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है। मैं इस आकर्षण से बचने की कोशिश करूँगा, लेकिन कही तुम भूल न जाओ, इसलिए मैं तुम्हे याद दिलाना चाहता हूँ कि दुनिया के इस हिस्से के इतिहास का शुरू से ही हजारो वर्षों तक बडा महत्व रहा है। पुराना खाल्दिया सात हज़ार वर्ष पहले इतिहास मे कदम रखता है (यह प्रदेश आजकल का इराक है)। उसके बाद बाबिलन आता है। और बाबिलनो के बाद असीरियाइयो का उदय होता है, जिनकी महान् राजधानी निनीवे है। फिर इन असीरियाइयो को भी धक्का देकर निकाल दिया जाता है, और ईरान से आनेवाला एक नया राजवश और एक नई कौम भारत की सरहद से लगाकर मिस्र तक सारे मध्य-पूर्व पर अपना सिक्का जमा लेते हैं। ये लोग ईरान के हखामनी थे, जिनकी राजधानी पर्सिपोली थी। इनमे 'महान्

बादशाह कुरुश और दारा और ज़रक्स पैदा हुए, जिन्होंने छोटे-से यूनान को हड़पने की कोशिश की पर जो उसे जीत नही सके। बाद मे यूनान के, या यो कहो कि मकदूनिया के एक सपूत सिकन्दर ने इन्हें अपनी करनी का मजा चखाया। सिकन्दर की ज़िन्दगी मे यह निराली घटना हुई कि उसने एशिया व यूरोप के इस मिलन स्थान मे दोनो महाद्वीपो के लिए एक योजना बनाई, जिसे 'विवाह' कहा जाता है। उसने खुद ईरान के शाह की पुत्री से विवाह किया (हालाँकि पहले ही उसकी कई पत्नियाँ थी) और उसके हज़ारो अफसरो व सिपाहियो ने भी ईरानी लडकियो से विवाह किये।

सिकन्दर के बाद कितनी ही सदियो तक भारत की सरहद से लगाकर मिस्र तक सारे मध्य-पूर्व मे यूनानी सस्कृति छाई रही। इस ज़माने मे रोम की शक्ति बढी और एशिया की तरफ फैली। पर सासानियो के नये ईरानी साम्राज्य तक पहुँचकर इसे रुकना पडा। खुद रोमन साम्राज्य के ही टूटकर दो भाग हो गये—एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी, और कुस्तुन्तुनिया पूर्वी साम्राज्य की राजधानी बन गया। पश्चिमी एशिया के इन मैदानो मे पूर्व और पश्चिम का पुराना झगडा जारी रहा, जिसमे कुस्तुन्तुनिया का बिज़ैन्तीन साम्राज्य व ईरान का सासानी साम्राज्य इसके दो मुख्य लडवैये थे। और उधर उन्ही दिनो ऊँटों पर सौदागरी का सामान लादे बडे-बडे कारवाँ इन मैदानो को पार करके पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व आते-जाते थे, क्योकि मध्य-पूर्व उन दिनो ससार के बडे राजमार्गों मे गिना जाता था।

पश्चिमी एशिया के इन देशो मे तीन महान् मज़हबो का जन्म हुआ था, एक यहूदा मज़हब (यानी यहूदियो का मज़हब), दूसरा ज़रतुश्त-मज़हब (आजकल के पारसियो का मज़हब), और तीसरा ईसाइयत। अब अरब के रेगिस्तान मे चौथा मज़हब प्रकट हुआ, और ससार के इस भाग मे यह बहुत जल्दी इन तीनो पर छा गया। इसके बाद बगदाद का अरबी साम्राज्य आया और पुराने झगडे ने नया रूप ले लिया—यानी एक तरफ अरब लोग, दूसरी तरफ बिज़ैन्तीन लोग एक लम्बे और शानदार दौर के बाद सेलजूक तुर्कों के मुकाबले मे अरबी-सभ्यता मन्द पड गई, और मगोल चगेज़खाँ के उत्तराधिकारियो ने उसे सदा के लिए दबा दिया।

पर मगोलो के पश्चिम आने से पहले ही एशिया के पश्चिमी तटो पर ईसाई-पश्चिम और मुस्लिम-पूर्व के बीच खूँख्वार लडाई शुरू हो चुकी थी। ये क्रूसेडो की लडाई थी, जो बीच-बीच मे रुकती हुई लगभग तेरहवी सदी के बीच तक चली। ये क्रूसेड मज़हबी युद्ध माने जाते थे, और वास्तव मे थे भी। मगर युद्धो के लिए मज़हब बहाना ज्यादा था, सबब नही। उन दिनो पूर्व के लोगो के मुकाबले मे यूरोप के लोग पिछडे हुए थे। यूरोप मे यह अन्धकार का युग था। लेकिन यूरोप जागने लगा

था, और ज्यादा आगे बढ़े हुए व सुसंस्कृत पूर्व ने उसे चुम्बक की तरह खींच लिया। पूर्व की ओर इस खिंचाव ने कई रूप लिये और इनमें क्रूसेडों का सबसे ज्यादा महत्व था। इन युद्धों के नतीजे से यूरोप ने पश्चिमी एशियाई देशों से बहुत-कुछ सीखा। उसने कई ललित कलाएँ और दस्तकारियाँ और विलास की आदतें सीखीं, और सबसे महत्व की बात तो यह है कि काम करने व सोचने के वैज्ञानिक तरीके सीखे।

जब मंगोल लोग तबाही साथ लिये हुए पश्चिमी एशिया पर टूट पड़े थे, तबतक क्रूसेडों का युद्ध खत्म नहीं होने पाया था। पर तुम्हें मंगोलों को महज उजाड़ करनेवाले ही नहीं समझना चाहिए। चीन से लगाकर रूस तक उनकी लम्बी-चौड़ी हुकूमत ने दूर-दूर देशों के बीच का भेद कम किया और व्यापार व आमद-रफ़्त को बढ़ाया। उनके विशाल साम्राज्य के मार्फत पुराने कारवानी रास्ते यात्रा के लिए निरापद हो गये और इन रास्तों पर सिर्फ सौदागर लोग ही नहीं, बल्कि राजदूत, धर्म-प्रचारक व दूसरे लोग भी अपनी जबर्दस्त यात्राओं पर आते-जाते थे। मध्य-पूर्व सदा से इन प्राचीन राजमार्गों के बीचो-बीच में पड़ता था और यह एशिया और यूरोप को जोड़नेवाली कड़ी था।

तुम्हें शायद याद होगा कि मंगोलों के जमाने में ही मार्को पोलो अपने वतन वेनिस से सारे एशिया को लाँघकर चीन पहुँचा था। उसकी लिखी हुई, या यों कहो कि लिखाई हुई एक पुस्तक संयोग से हमें मिल गई है, जिसमें उसकी यात्राओं का हाल दिया हुआ है, और इसीलिए हम उसका नाम जानते हैं। लेकिन और भी बहुत लोगों ने इस किस्म की लम्बी यात्राएँ की होंगी, और सोचा होगा कि इनके बारे में लिखने की जरूरत नहीं है, और अगर कुछ लिखा भी होगा तो उनकी पुस्तकें शायद नष्ट हो गई होंगी, क्योंकि वे दिन तो हाथ की लिखी पुस्तकों के थे। एक देश से दूसरे देश को आने-जानेवाले कारवाँ नित्य चलते रहते थे, और हालाँकि सफ़र करना खतरनाक था, पर कितने ही लोग धन की व धन कमाने के मौकों की तलाश में इनके साथ हो जाते थे। पुराने जमाने का एक और महान् यात्री मार्को पोलो की तरह सामने आता है। यह इब्नबतूता नामक एक अरब था, जिसका जन्म चौदहवीं सदी के शुरू में मोरक्को के तनजीर में हुआ था। यह मार्को पोलो के ठीक एक पीढ़ी बाद पैदा हुआ था। इक्कीस साल का यह नौजवान लम्बी-चौड़ी दुनिया में अपनी जबर्दस्त यात्रा पर निकल पड़ा। समझ-बूझ, बुद्धि और एक मुसलमान काज़ी से पाई हुई शिक्षा के सिवाय इसका कोई सम्बल नहीं था। मोरक्को से सारे उत्तरी अफ्रीका को लाँघकर यह मिस्र जा पहुँचा और वहाँ से अरब और सीरिया और ईरान गया। फिर यह अनातोलिया (तुर्की), और दक्षिणी रूस (सुनहले गिरोह के मंगोल खानों के अधीन), और कुस्तुन्तुनिया (जो अभी तक बिजेन्तिया की राजधानी था), और मध्य-एशिया होता हुआ

भारत आया। भारत को उत्तर से दक्षिण तक लाँघकर वह मलाबार और लंका पहुँचा, और फिर चीन चला गया। वापस लौटते वक्त वह अफ्रीका में घूमता फिरा, और उसने सहारा के रेगिस्तान तक को पार कर डाला। यात्रा का यह ऐसा लेखा है कि आज बहुतेरी सहूलियतों के होते हुए भी इसकी मिसाल बहुत दुर्लभ है। इसे देखकर चौदहवीं सदी के बारे में हमारी आँखें ताज्जुब से खुली रह जाती है, और इससे हमें पता लगता है कि उन दिनों साधारण यात्रा की क्या हालत थी। कुछ भी हो, इब्नबतूता पिछले व अगले सारे महान् यात्रियों में गिना जाना चाहिए।

इब्नबतूता की पुस्तक मे, जहाँ-जहाँ वह गया वहाँ-वहाँ के निवासियों और देशों के बारे में बड़ी मजेदार बातें हैं। उस समय मिस्र मालदार था, क्योंकि पश्चिम के साथ भारत का सारा व्यापार यहीं होकर गुज़रता था और यह बड़े मुनाफे का धन्धा था। इन मुनाफों के सबब मे काहिरा बड़ा शहर बन गया था, जिसमे बड़ी सुन्दर पुरानी इमारतें थी। इब्नबतूता ने भारत में जात-पाँत का, सती का, और पान-सुपारी भेंट करने के रिवाजों का वर्णन किया है। उसकी पुस्तक से हमें पता चलता है कि भारत के सौदागर विदेशी बन्दरगाहों में जोरों का व्यापार करते थे, और भारतीय जहाज़ समुद्रों पर यात्राएँ करते थे। उसने इस पर खासतौर से ध्यान दिया है और लिखा है कि सुन्दर स्त्रियाँ उसने कहाँ-कहाँ देखीं और उनके लिबास, इत्र-फुलेल व ज़ेवर किस-किस ढंग के थे। दिल्ली शहर का वह यों वर्णन करता है "यह भारत की राजधानी है, एक विशाल और शानदार शहर है, जिसमे खूबसूरती और मज़बूती मिली हुई हैं"। यह उस सनकी सुलतान महमूद तुगलक का ज़माना था, जो क्रोध के आवेश में अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर दक्षिण मे दौलताबाद ले गया था, और जिसने इस "विशाल व शानदार शहर" को "खाली, और कुछेक निवासियों के सिवा निर्जन" बना कर वीरान कर दिया था, और जो गिने-चुने लोग वहाँ थे, वे भी बहुत दिनों बाद चुपचाप वहाँ आ बसे थे।

मैंने इब्नबतूता के बहाव मे थोडा बह जाने का ढंग निकाल लिया है, क्योंकि पुराने ज़माने की यात्राओं की ये कहानियाँ मुझे बहुत लुभाती हैं।

बस, हम देखते हैं कि चौदहवीं सदी तक मध्य-पूर्व, यानी पश्चिमी एशिया, ने दुनिया के मामलों में बड़ा भारी हिस्सा लिया था, और यह पूर्व व पश्चिम को जोड़नेवाली मुख्य कड़ी था। पर अगले सौ वर्षों मे हालत बदल गई। उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा कर लिया, और वे मिस्रसमेत मध्य-पूर्व के इन तमाम देशों में फैल गये। यूरोप व एशिया के बीच व्यापार को इन्होंने रोकने की कोशिश की, और इसका कुछ कारण यह था कि यह व्यापार भूमध्य सागर में

उनके मुक़ाबलेदार वियेनावासियो और जिनोआवासियो के हाथो मे था। पर व्यापार ने खुद ही दूसरी राह पकड ली, क्योकि नये समुद्री रास्ते खुल गये थे और इन समुद्री रास्तो ने खुश्की के पुरानी कारवानी रास्तो की जगह ले ली थी। इस तरह पश्चिमी एशिया मे होकर गुजरनेवाले ये खुश्की के रास्ते, जिन्होने हज़ारो वर्षो तक बडा अच्छा काम दिया था, अब बेकाम हो गये, और जिन देशो मे होकर ये गुज़रते थे, उनका महत्व धीरे-धीरे कम होता गया।

सोलहवी सदी की शुरुआत से लगाकर उन्नीसवी सदी के अन्त तक, यानी लगभग चार सौ वर्षो तक, समुद्री रास्तो का सबसे ऊँचा महत्व रहा। इन्होने खुश्की के रास्तो को पीछे डाल दिया, खासकर उन जगहो मे, जहाँ रेलमार्ग नही थे—और पश्चिमी एशिया मे तो रेलमार्ग थे ही नही। महायुद्ध मे कुछ दिन पहले जर्मन सरकार के भरोसे पर, कुस्तुन्तुनिया और बगदाद के बीच रेलमार्ग डालने की योजना बनाई गई थी। दूसरी शक्तियाँ यह जरा भी नही सहन कर सकती थीं कि जर्मनी इस काम को करे, क्योकि इससे मध्य-पूर्व मे जर्मनी का असर बढ जाता। मगर इसी बीच महायुद्ध शुरू हो गया।

१९१८ ई० मे जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तब पश्चिमी यूरोप मे इग्लैण्ड का बोलबाला था और, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, जरा देर के लिए, भारत से लगाकर तुर्की तक एक महान् मध्य-पूर्वी साम्राज्य के नज़ारे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो की चौंधियाई हुई आँखो के आगे नाचने लगे। लेकिन यह तो होनेवाला न था। इस सपने के पूरा होने मे बोलशेविक रूस और कमाल पाशा और दूसरे कारणो ने रुकावट डाल दी, लेकिन फिर भी इग्लैण्ड बहुत-कुछ हिस्से पर कब्ज़ा जमाये रहा। इराक और फिलस्तीन अंग्रेजो के रोब या इख्तियार मे बने रहे। इसलिए हालाँकि अंग्रेज लोग अपने लम्बे-चौडे अरमानो को पूरा नही कर सके, पर वे भारत को जानेवाले मार्गो और भारत के दरवाज़ो पर कब्जा बनाये रखने की अपनी पुरानी नीति पर टिके रहने मे सफल हो गये। इसी उद्देश्य से ब्रिटिश सेनाएँ युद्ध-काल मे शाम व फिलस्तीन मे लडी थी और इसी उद्देश्य से उन्होंने तुर्की के खिलाफ अरबो के विद्रोह को भडकाया था और सहायता दी थी। यही वजह थी कि युद्ध के बाद मोसल के सवाल पर इग्लैण्ड और तुर्की के बीच भारी झगडा पैदा हो गया। और इग्लैण्ड व सोवियत रूस के बीच मन-मुटाव का यह एक खास कारण था, क्योकि इग्लैण्ड इस विचार को ही सख्त नापसन्द करता है कि रूस-जैसी बडी शक्ति भारत को जानेवाली राह के किनारे की मेंड पर बैठी हुई ताक लगाती रहे।

जिन दो रेलमार्गो के बारे मे महायुद्ध से पहले इतना झगडा था—एक तो बगदाद रेलवे और दूसरी हिजाज रेलवे—वे अब तैयार हो गये है। बगदाद

रेलवे बगदाद को भूमध्य-सागर व यूरोप से जोड़ती है। हिजाज़ रेलवे अरब देश मे मदीना को अलेप्पो पर बगदाद रेलवे से जोड़ती है (हिजाज़ अरब का सबसे ज्यादा महत्व का भाग है, जिसमे इस्लाम के मशहूर शहर मक्का और मदीना है)। इस तरह पश्चिमी एशिया के कई बड़े शहर रेलमार्गों के ज़रिये यूरोप व मिस्र से जुड़ गये हैं, और अब वहाँ आसानी से पहुँचा जा सकता है। अलेप्पो शहर बहुत बड़ा रेलवे जंक्शन बनता जा रहा है, क्योंकि तीन महाद्वीपों के रेलमार्ग यहाँ मिलनेवाले हैं : पहला तो यूरोप से आनेवाला रेलमार्ग, दूसरा बग़दाद होकर एशिया से आनेवाला, तीसरा काहिरा होकर अफ्रीका से आनेवाला। एशिया और अफ्रीका के इन रास्तों पर काबू रखना ब्रिटिश नीति का बहुत वर्षों से इरादा रहा है। बगदाद से आगे बढ़ाया जाने पर एशियाई रेलमार्ग भारत तक भी आ सकता है। अफ्रीकावाले रेलमार्ग को अफ्रीका महाद्वीप के ठेठ आर-पार काहिरा से धुर दक्षिण मे केपटाउन तक ले जाने का इरादा है। केप से क़ाहिरा तक 'पूरा-लाल' रेलमार्ग बहुत दिनो से अंग्रेज़ साम्राज्यवादियो का सपना रहा है, और अब जल्दी ही पूरा होने जा रहा है। 'पूरा-लाल' का अर्थ यह है कि यह रेलमार्ग ठेठ ब्रिटिश प्रदेश मे होकर गुज़रे, क्योंकि ब्रिटिश-साम्राज्य ने नक़्शो मे लाल रंग पर अपना इजारा कर लिया है।

कह नही सकते कि आगे चलकर ये बातें पूरी होंगी या नहीं, क्योंकि मोटरकार और हवाई-जहाज़ अब रेल के करारे मुकाबलेदार होते जा रहे हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान मे रखने लायक है कि पश्चिमी एशिया के ये दोनो रेलमार्ग—बगदाद रेलवे और हिजाज़ रेलवे—ज्यादातर अंग्रेज़ो के इख्तियार मे है, और उनके इख्तियार मे भारत तक एक नया और सीधा रास्ता खोलने की ब्रिटिश नीति का मकसद पूरा कर रहे हैं। बगदाद रेलवे का एक टुकड़ा सीरिया मे होकर गुज़रता है, जो फ्रान्सीसियो के कब्ज़े मे है। फ्रान्सीसियो के भरोसे रहना ब्रिटिश सरकार पसन्द नही करती, इसलिए वह इसकी जगह फ़िलस्तीन मे होकर एक नया रेलमार्ग डालने का इरादा कर रही है। एक और छोटा-सा रेल-मार्ग अरब मे लाल सागर के बन्दरगाह जद्दा व मक्का के बीच बनाया जा रहा है। हर साल मक्का जानेवाले हज़ारो यात्रियो को इससे बड़ी सुविधा हो जायगी।

यह वर्णन रेलमार्गों की उस प्रणाली का है, जो पश्चिमी एशिया का दरवाज़ा दुनिया के लिए खोलती जा रही है। मगर यह काम पूरा होने से पहले ही इसका महत्व कुछ कम होता जा रहा है, और मोटरकार व हवाई-जहाज़ इसे हटाकर इसकी जगह ले रहे हैं। मोटरकार रेगिस्तान मे बड़ी आसानी से चलती है, और उन्ही कारवानी रास्तो पर सरपट दौड़ने लगती है, जिनपर चुपचाप कष्ट सहनेवाला ऊँट हज़ारो वर्षों से पैर घसीटता रहा है। रेलमार्ग पर बहुत खर्चा

बैठता है, और उसे बनाने मे वक्त भी बहुत लगता है। मोटर सस्ती पडती है और जब ज़रूरत हो तब फौरन काम मे ली जा सकती है। लेकिन मामूली तौर पर मोटर-गाडियाँ व लारियाँ लम्बी दूरियाँ तय नही कर सकती, वे तो ज्यादा-से-ज्यादा सौ मील के छोटे-छोटे क्षेत्रो मे ही इधर-उधर दौड सकती है।

मगर लम्बी-लम्बी दूरियो के लिए हवाई-जहाज़ है ही, जो रेल से सस्ता भी है और बहुत ज्यादा तेज़-रफ्तारवाला भी। इसमे कोई शक नही कि सवारियाँ व सामान ढोने के लिए हवाई-जहाजो का उपयोग दिन-पर-दिन तेज़ी के साथ बढता जायगा। इस दिशा मे बडी भारी प्रगति हो चुकी है और हवाई रास्तो पर चलनेवाले खूब बडे-बडे हवाई-जहाज़ एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को बराबर आने-जाने लगे हैं। पश्चिमी एशिया फिर से इन बडे हवाई रास्तो का चौराहा बन गया है, और बगदाद तो इनका खास केन्द्र हो गया है। लन्दन से भारत जानेवाले 'ब्रिटिश इम्पीरियल एयरवेज़' के हवाई-जहाज बगदाद होकर जाते है, इसी तरह डच के० एल० एम० के एम्स्टरडम से बटाविया जानेवाले हवाई-जहाज़ और 'एयर फ्रान्स' के पेरिस से हिन्द-चीन जानेवाले फ्रान्सीसी हवाई जहाज़ भी बग़दाद से गुज़रते हैं। मास्को व ईरान को भी बगदाद से हवाई-जहाज़ जाते-आते हैं। चीन व सुदूर-पूर्व जानेवाले हवाई मुसाफिर को बगदाद होकर जाना पडता है। बगदाद से हवाई-जहाज़ काहिरा भी जाते हैं, और वहाँ केपटाउन जानेवाले अफ्रीकी हवाई-जहाज़ो से मिलान करते हैं।

हवाई-जहाज़ चलानेवाली ज्यादातर कम्पनियाँ घाटे मे चल रही हैं, और इनकी अपनी-अपनी सरकारें इन्हें रुपये की भरपूर सरकारी सहायता देती हैं, क्योकि साम्राज्यो के लिए हवाई ताकत आज सबसे ज्यादा महत्व की चीज़ है। हवाई ताकत की बढोतरी के साथ-साथ समुद्री-ताकत का महत्व बहुत कम हो गया है। इग्लैण्ड, जिसे अपनी नौ-सेना पर बडा घमण्ड था और जो अपने को हमलो से बचा हुआ समझता था, अब बचाव के लिहाज़ से टापू नही रह गया। हवाई हमलो से उसे उतनी ही जोखम है, जितनी फ्रान्स या दूसरे किसी देश को। इसलिए सारी बडी-बडी शक्तियाँ अपनी-अपनी हवाई ताकत बढाने की धुन मे हैं, और समुद्र पर मुकाबलेदारी की जगह अब हवाई मुकाबलेदारी ने ले ली है। शान्ति-काल मे हर देश हवाई मुसाफ़िरी को बढावा और सरकारी सहायता देता है, क्योकि इसके ज़रिये ट्रेनिंग पाये हुए हवाबाज़ो की सेना तैयार हो जाती है, जिनका युद्ध-काल मे इस्तेमाल किया जा सकता है। असैनिक उडान से फौजी उडान के विकास मे मदद मिलती है। इसलिए असैनिक उडान का बडी तेज़ी से विकास हो रहा है, और यूरोप व अमेरिका मे हवाई आमद-रफ्त के सैकडो सिलसिले चल रहे हैं। इस मामले मे सयुक्त राज्य अमेरिका शायद सबसे आगे है। सोवियत

संघ मे भी खूब प्रगति हुई है और इसके विशाल प्रदेशो मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक आमद-रफ्त के बहुत सिलसिले चल रहे है।

हवाई शक्ति के इस युग मे पश्चिमी एशिया ने नया महत्व हासिल कर लिया है। वजह यह है कि दूर-दूर देशो को जानेवाले हवाई रास्ते यही मिलान करते हैं। पश्चिमी एशिया ने संसार की राजनीति मे फिर कदम रक्खा है, और यह महाद्वीपो के आपसी सरोकार के मामलो की चूल बन गया है। इसका मतलब यह भी है कि पश्चिमी एशिया बडी-बडी शक्तियो की आपसी रगड-झगड और लडाई का अखाडा बन गया है, क्योंकि इनकी हविसे टकराती हैं और हरेक शक्ति इस कोशिश मे रहती है कि दूसरी को धोखा देकर आगे निकल जाय। अगर हम यह ध्यान मे रख ले, तो हम उस नीति को समझ सकते है जिसने मध्य-पूर्व व दूसरे देशो मे इंग्लैण्ड व दूसरी शक्तियो की कार्रवाइयां को ढाला है।

भारत को जानेवाले इस नये बडे रास्ते मे पडने के अलावा मोसल मे तेल है, और हवाई ताकत के इस युग मे तेल का महत्व इतना ज्यादा बढ गया है, जितना पहले कभी नही था। इराक मे तेल के महत्वपूर्ण कुएँ हैं, और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह महाद्वीपो के बीच चलनेवाली हवाई प्रणाली के ठीक बीच मे है। इसलिए इराक पर काबू रखने का अंग्रेजो के लिए बडा भारी महत्व है। ईरान मे भी लम्बे-चौडे तेल-क्षेत्र है, जिनमे से ऐंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी बहुत अर्से से तेल निकाल-कर फायदा उठा रही है। इस कम्पनी मे ब्रिटिश सरकार के भी कुछ हिस्से हैं। तेल व पेट्रोल का महत्व बढता जा रहा है, और साम्राज्यशाही नीतियो पर असर डाल रहा है। सच तो यह है कि आज की साम्राज्यशाही को कभी-कभी 'तेल की साम्राज्यशाही' भी कहा जाता है।[1]

इस पत्र मे हमने कुछेक उन कारणो पर विचार किया है, जिन्होंने मध्य-पूर्व को नया महत्व दे दिया है और उसे संसार की राजनीति के भँवर मे दुबारा ला पटका है। लेकिन इस सबके पीछे सारे एशियाई पूर्व की चेतना है।

: १६६ :

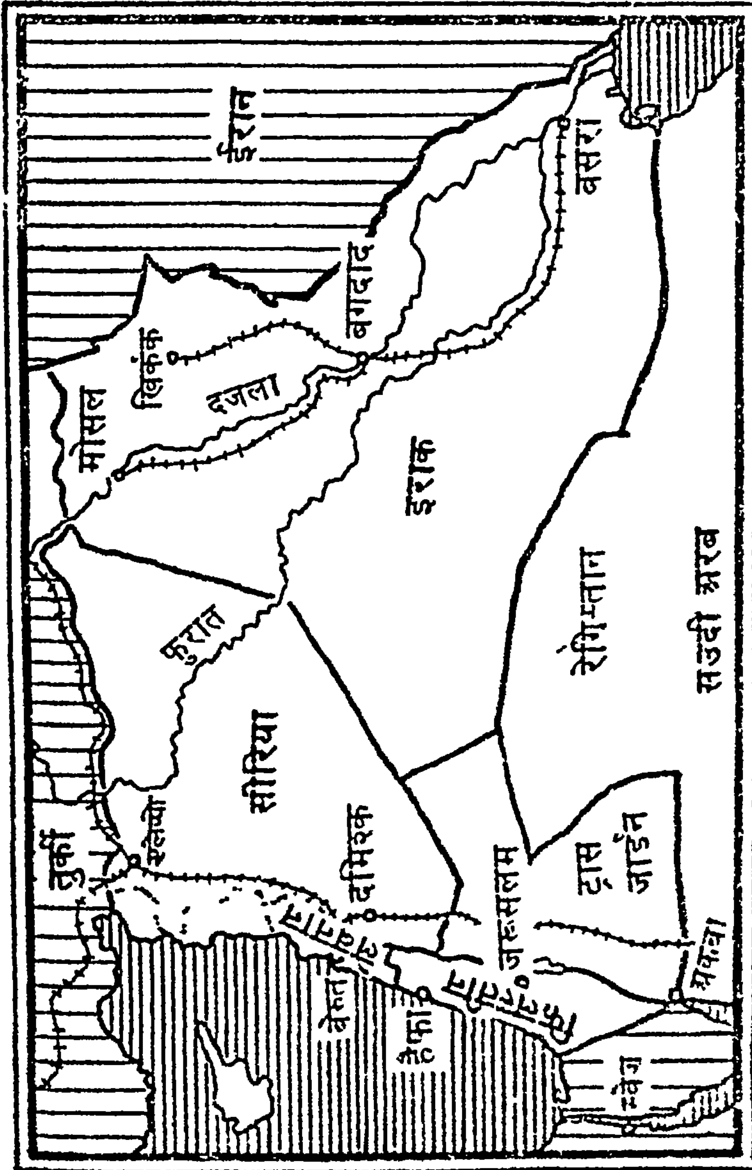
अरब-देश—सीरिया

२८ मई, १९३३

हम देख चुके हैं कि आमतौर पर एक-सी भाषा व परम्पराओवाले देशो

---

[1] यहां तेल से अभिप्राय खनिज तेल से है, जिसमें से मिट्टी का तेल, पेट्रोल वगैरा अनेक आवश्यक चीजें निकलती हैं। यह तेल जमीन मे छेद किये हुए कुओ मे से निकाला जाता है।


अरब देश
ईरान
बसरा
बगदाद
किर्कुक
मोसल
दजला
इराक
फुरात
रेगिस्तान
सऊदी अरब
सीरिया
दमिश्क
अलेप्पो
तुर्की
ट्रांस जार्डन
जरूसलम
अकबा
स्वेज
हैफा
बेरूत

मे रहनेवाले अलग-अलग लोगो को एक डोरी मे बाँधने और मज़बूत बनाने मे राष्ट्रीयता कितना ज़ोरदार बल रही है। लेकिन जहाँ यह राष्ट्रीयता किसी एक समुदाय को एक डोरी मे बाँधती है, वहाँ दूसरे समुदायो से उसका भेद जता देती है और उसे ज्यादा अलग कर देती है। मिसाल के लिए, राष्ट्रीयता ने फ्रान्स को एक मज़बूत, ठोस राष्ट्रीय इकाई बना दिया है, जो कसकर बँधा हुआ है, और बाक़ी दुनिया को ऐसे देख रहा है मानो वह कोई दूसरी तरह की चीज़ हो, इसी तरह इसने जुदा-जुदा जर्मन कौमो को मिलाकर एक ताकतवर जर्मन राष्ट्र बना दिया है। पर फ्रान्स व जर्मनी का इस तरह अगल-अलग बँध जाना ही दोनो को एक दूसरे से और भी ज्यादा जुदा कर रहा है।

जिस देश मे अपनी-अपनी खासियत रखनेवाले कई राष्ट्रीय समुदाय होते हैं, वहाँ राष्ट्रीयता अ सर फूट डालनेवाले बल का काम करती है, जो देश को मज़बूत बनाने और एक डोरी मे बाँधने के बजाय सचमुच उसे कमज़ोर कर देता है और उसे टूक-टूक करने लगता है। महायुद्ध से पहले आस्ट्रिया-हगरी का साम्राज्य कई छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयो का ऐसा ही देश था, जिनमे से दो, यानी जर्मन-आस्ट्रियाई व हगेरियाई, तो प्रधान थी और बाकी उनकी मोहताज थी। इसलिए राष्ट्रीयता की बढोतरी ने आस्ट्रिया-हगरी को कमज़ोर कर दिया, क्योंकि उसने हरेक राष्ट्रीय इकाई मे अलग-अलग ताज़ा ज़िन्दगी भर दी, और इसके साथ उनमे आज़ादी की तमन्ना पैदा हुई। युद्ध ने मामले को और भी बिगाड दिया, और जब युद्ध के बाद हार सामने आई, तो देश छोटे-छोटे टुकडो मे बँट गया, और हर राष्ट्रीय क्षेत्र एक अलग राज्य बन गया (यह बँटवारा कुछ अच्छा या सही नही था, पर यहाँ हमे इसके ब्यौरे मे जाने की ज़रूरत नही है)। दूसरी ओर, करारी हार के बावजूद भी, जर्मनी के टुकडे नही हुए। राष्ट्रीयता के ज़बर्दस्त दबाव के नीचे वह आफ़त मे भी बँधा रहा।

महायुद्ध के पहले, आस्ट्रिया-हगरी की भाँति तुर्की भी कई राष्ट्रीय इकाइयो का जमघट था। बलकानी नस्लो के अलावा वहाँ अरबी, आर्मीनियाई, वग़ैरा नस्लें भी थी। इसलिए इस साम्राज्य मे भी राष्ट्रीयता फूट डालनेवाला बल साबित हुई। सबसे पहले बलकान देशो पर इसका असर पडा, और उन्नीसवी सदी मे शुरू से आखीर तक तुर्की को, यूनान से शुरू करके, सब बलकानी नस्लो के साथ बारी-बारी मे लडना पडा। बडी शक्तियो ने, और खासकर ज़ारशाही रूस ने, इस उगती हुई राष्ट्रीयता से फायदा उठाने की कोशिश की और उसके साथ साँठ-गाँठ की। उन्होने आर्मीनियाई लोगो को उस्मानी साम्राज्य को कमज़ोर बनाने का और उसपर हथौडे चलाने का औज़ार भी बनाया, और इसीलिए तुर्की सरकार और आर्मीनियाई लोगो मे बार-बार लडाइयाँ हुई, जिनके सबब से खूनी हत्या-

काण्ड हुए। बडी शक्तियो ने इन आर्मीनियाई लोगो को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करके प्रचार का साधन बनाया। पर महायुद्ध के बाद जब इनका कोई काम नही रहा, तो उन्होने इन्हें अपने भाग्य के भरोसे छोड दिया। बाद मे आर्मीनिया, जो काले सागर से लगा हुआ तुर्की के पूर्व मे है, एक सोवियत गणराज्य बन गया और रूसी सोवियत सघ मे शामिल हो गया।

तुर्की उपनिवेशो के अरबी भागो को चेतन होने मे ज्यादा वक्त लगा, हालांकि अरबो व तुर्कों मे बहुत आपसी मन-मुटाव था। सबसे पहले सस्कृति की चेतना पैदा हुई और अरबी भाषा व साहित्य मे फिर से जान पडी। इसकी शुरुआत सीरिया मे १८६० ई० के लगभग ही हो गई थी, और फिर यह चीज़ मिस्र व दूसरे अरबी भाषा-भाषी देशो मे फैली। तुर्की मे १९०८ ई० की नौजवान तुर्क क्रान्ति और सुलतान अब्दुल हमीद के पतन के बाद राजनीतिक आन्दोलन ज़ोर पकडने लगा। अरबी मुसलमानो व ईसाइयो दोनो मे राष्ट्रवादी भावनाएँ ज़ोर पकडने लगी, और अरबी देशो को तुर्की-राज से आज़ाद करने और उन्हें मिलाकर एक राज्य बनाने का खयाल शक्ल लेने लगा। हालांकि मिस्र अरबी भाषा-भाषी देश था, पर राजनीतिक लिहाज़ से वह बहुत-कुछ अलग-सा था। इसलिए इस सोचे गये अरबी राज्य मे, जिसमे अरब, सीरिया, फ़िलस्तीन व इराक़ को शामिल करने का इरादा था, मिस्र के शरीक होने की आशा नही की गई थी। अरब लोग यह भी चाहते थे कि खलीफ़ा के पद को उस्मानी सुलतान से हटाकर किसी अरबी राजवश मे लाया जाय, जिससे दीन इस्लाम की नेतागिरी फिर उनके हाथ मे आ जाय। इस चीज़ को भी मज़हबी कदम की बनिस्बत राष्ट्रीय क़दम ही ज्यादा माना गया,—ऐसा कदम जो अरबो के महत्व और शान को चार चाँद लगानेवाला था। इसलिए सीरिया के ईसाई अरबो तक ने इसका समर्थन किया।

इग्लैण्ड ने महायुद्ध के पहले से ही इस अरबी राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ साँठ-गाँठ शुरू कर दी थी। युद्धकाल मे एक महान् अरबी सल्तनत के बारे में तरह-तरह के वायदे किये गए, और मक्का के शरीफ हुसैन ने अपने सामने लटकी हुई इस आशा से लुभाकर अग्रेजो का साथ दिया और तुर्कों के खिलाफ़ अरबो की बगावत खडी की कि वह एक बडा शासक व खलीफा बन जायगा। सीरिया के मुसलमान व ईसाई अरबो ने बगावत मे शरीफ हुसैन का साथ दिया, और उनके कई नेताओ को इसकी कीमत अपनी जानें देकर चुकानी पडी, क्योकि तुर्कों ने इन्हें फांसी पर लटका दिया। ये लोग मई की ६ तारीख को दमिश्क और बेरूत मे फाँसियों पर चढ़ाये गये थे, और तबसे इन राष्ट्रीय शहीदो की याद में यह दिन सीरिया मे अभी तक मनाया जाता है।

अरबो का यह विद्रोह सफल हो गया, ब्रिटिश सरकार ने इसे रुपये की सहायता की थी, और अंग्रेजो के एक निराले व पोशीदा आदमी और खुफ़िया विभाग के एजेण्ट कर्नल लॉरेन्स का इसमे खास हाथ था। युद्ध खतम होते-होते, तुर्कों के लगभग सारे अरबी उपनिवेश अंग्रेजो के इख्तियार मे आ गये थे। तुर्की साम्राज्य टूक-टूक हो गया था। मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि मुस्तफा कमाल का, तुर्कों की स्वाधीनता के लिए अपनी लडाई मे, ग़ैर-तुर्की प्रदेशो पर (कुर्दिस्तान के कुछ भाग के सिवा) कब्ज़ा जमाने का इरादा कभी नही रहा। उसने खास तुर्की पर ही जमे रहकर बडी अक्लमन्दी का काम किया।

इसलिए युद्ध के बाद इन अरबी देशो के भविष्य का निपटारा ज़रूरी हो गया। विजयी मित्र-राष्ट्रो ने, या यो कहो कि ब्रिटिश व फ्रान्सीसी सरकारो ने, ईमानदारी का ढोंग रचकर इन देशो के बारे मे यह जाहिर किया कि उनका इरादा था "अर्से से तुर्कों से सताई हुई कौमो की पूरी और साफ़-साफ़ मुक्ति, और ऐसी राष्ट्रीय सरकारो व प्रशासनो की स्थापना, जिनकी सत्ता उनके मूल निवासियो की पहल व स्वतन्त्र पसन्द मे से निकलती हो"। इस ऊँचे इरादे को पूरा करने के लिए इन दोनो सरकारो ने इन अरबी राज्यो के बडे भाग की आपस मे बन्दर-बाँट शुरू कर दी। फ्रान्स और इंग्लैण्ड को, राष्ट्रसंघ के आशीर्वाद के साथ, 'फरमान' जारी कर दिये गए, जो साम्राज्यशाही शक्तियो का प्रदेश हडपने का नया तरीका था। फ्रान्स को सीरिया मिला, इंग्लैण्ड को फ़िलस्तीन और इराक मिल गये। अरब का सबसे बढ़िया हिस्सा हिजाज़, इंग्लैण्ड के पिट्ठू मक्का के शरीफ हुसैन के मातहत कर दिया गया। इस तरह एक अकेला अरबी राज्य बनाने के वायदो के बावजूद, इन अरबी प्रदेशो को अलग-अलग 'फरमानों' के अधीन अलग-अलग क्षेत्रो मे बाँट दिया गया। हिजाज़ का एक राज्य अलबत्ता ऊपर से स्वाधीन था, पर वास्तव मे वह अंग्रेज़ो के अधीन था। इन बँटवारो से अरब लोगो को भारी निराशा हुई और उन्होंने इन्हें अटल मानने से इन्कार कर दिया। लेकिन उन्हें तो अभी और भी अचम्भे और निराशाएँ देखना बाक़ी था, क्योकि इन लोगो पर ज्यादा आसानी से राज करने के लिए, हर 'फ़रमान' की हदो के भीतर वही पुरानी साम्राज्यशाही भेदनीति बरती जाने लगी। अब इन देशो मे से हरेक पर अलग-अलग गौर करना आसान होगा। इसलिए सबसे पहले मैं फ्रान्सीसी 'फरमान' सीरिया को लेता हूँ।

१९२० ई० के शुरू मे सीरिया मे, अंग्रेज़ो की मदद से अमीर फ़ैसल (हिजाज़ के शाह हुसैन का पुत्र) के अधीन एक अरबी सरकार क़ायम की गई। सीरियाई राष्ट्रीय कांग्रेस का एक अधिवेशन हुआ और उसने संयुक्त सीरिया के लिए एक लोकतन्त्री संविधान का मसविदा पास किया। लेकिन यह तो कुछ ही महीनो का

तमाशा था, क्योंकि १९२० ई० की गर्मियो मे फ्रान्सीसी अपनी जेब मे राष्ट्रसघ का सीरिया के लिए 'फ़रमान' लेकर आ धमके, और उन्होने फैसल को निकाल बाहर किया और देश पर जबर्दस्ती कब्ज़ा कर लिया। सब मिलाकर भी सीरिया एक छोटा-सा देश है, जिसकी आबादी तीस लाख से कम है। लेकिन फ्रान्सीसियो के लिए यह बर्रों का छत्ता साबित हुआ, क्योकि अब जब मुसलमान व ईसाई दोनों सीरियाई अरबों ने स्वाधीनता का फ़ैसला कर लिया था, तब वे किसी दूसरी शक्ति की हुकूमत को आसानी से कैसे मजूर कर सकते थे। बस, वहाँ लगातार झगड़ा-फसाद रहने लगा और जगह-जगह बलवे होने लगे और सीरिया मे फ्रान्सीसियों का राज चलाने के लिए बडी भारी फ्रान्सीसी सेना की जरूरत पड गई। तब फ्रान्सीसी सरकार ने, साम्राज्यशाही के हस्ब-मामूल दाव-पेंच चलाये, और देश को और भी छोटे-छोटे राज्यो मे बांटकर और मज़हबी व अल्पसख्यक मतभेदों को महत्व देकर सीरियाई राष्ट्रीयता को कमज़ोर करने का जतन किया। 'राज करने के लिए फूट डालने' की यह नीति इरादा करके अपनाई गई थी, और करीब-करीब सरकारी तौर पर ज़ाहिर कर दी गई थी।

सीरिया पहले ही छोटा-सा देश था, अब उसे पाँच अलग-अलग राज्यो में बाँट दिया गया। पश्चिमी समुद्र-तट पर लबनान पहाडो के नज़दीक लबनान का राज्य बना दिया गया। यहाँ की आबादी मे ज्यादा सख्या ईसाइयो के मैरोनाइट सम्प्रदाय की थी। इन लोगों को सीरियाई अरबो के खिलाफ़ अपनी तरफ मिलाने के लिए फ्रान्सीसियो ने खास दर्जा दे दिया।

लबनान के उत्तर मे, समुद्र के ही किनारे, पहाडों में, जहाँ अलावी नामक मुसलमान क़ौम निवास करती थी, एक और छोटा-सा राज्य बना दिया गया। इसके भी और आगे उत्तर मे अलेग्ज़ैण्ड्रेटा नामक तीसरा राज्य कायम किया गया; यह तुर्की से लगा हुआ था और इसके निवासी ज्यादातर तुर्की भाषा-भाषी लोग थे।

इस तरह कट-छँटकर जो खास सीरिया रह गया, वह अपने सबसे ज्यादा उपजाऊ ज़िलो से महरूम था, और इससे भी ज्यादा खराबी की बात यह थी कि समुद्र से वह बिलकुल कट गया था। हज़ारो वर्षों से सीरिया भूमध्य सागर के किनारों के बडे देशो मे गिना जाता था, लेकिन अब यह प्राचीन रिश्ता टूट गया और उसे उजाड रेगिस्तान से नाता जोडना पडा। यही नही बल्कि इस बचे-खुचे सीरिया में से भी एक पहाडी टुकडा अलग करके जबल-उद्-द्रूज़ नामक अलग राज्य बना दिया गया, जहाँ क़बीलोंवाली द्रूज़ कौम बसती थी।

सीरियावासी शुरू से ही फ्रान्सीसी 'फ़रमान' को चुपचाप सहन करने को तैयार नहीं थे। वहाँ मुठभेड़ें और बड़े-बडे प्रदर्शन हुए, जिनमे अरब स्त्रियो ने

भाग लिया। फ़्रान्सीसियों ने इनका बड़ी सख्ती से दमन किया। देश के बँटवारे ने, और मजहबी व अल्पसंख्यक समस्याएँ खड़ी करने के जान-बूझकर किये गए प्रयत्न ने, मामला और भी बिगाड़ दिया और असन्तोष बढ़ने लगा। इसे दबाने के लिए फ़्रान्सीसियों ने, भारत में अँग्रेजों के ढंग पर, व्यक्तिगत व राजनीतिक आजादी पर पाबन्दियाँ लगा दीं, और देश-भर में अपने भेदियों व खुफिया विभाग के आदमियों का जाल फैला दिया। उन्होंने ऐसे 'वफादार' सीरियाइयों को सरकारी ओहदों पर मुक़र्रर किया, जिनका जनता पर कोई असर नहीं था और जिन्हें उनके देशवासी आमतौर पर ग़द्दार समझते थे। अलबत्ता यह सब खूब नेक-नीयती का ढोंग रचकर किया गया, और फ़्रान्सीसियों ने घोषणा की कि वे "सीरियाइयों को राजनीति में समझदार बनाने के लिए और स्वाधीनता के लिए तैयार करना अपना फ़र्ज़" समझते हैं। यह फ़िक़रा भारत में भी खूब जाना-पहचाना है।

मामला नाजुक होता जा रहा था, खासकर जबल-उद्-द्रूज़ के लड़ाकू व कुछ-कुछ आदिम निवासियों में (जो हमारे उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के क़बीलों से मिलते-जुलते हैं)। फ़्रान्सीसी गवर्नर ने इन द्रूज़ों के नेताओं के साथ बड़ी गन्दी चाल खेली। उसने इन्हें बुलाया और फिर क़ैद करके बन्धक बनाकर रख लिया। यह घटना १९२५ ई० की गर्मियों में हुई, और जबल-उद्-द्रूज़ में फ़ौरन बलवा फूट पड़ा। यह मुक़ामी विद्रोह सारे देश में फैल गया, और सीरिया की आज़ादी व एकता के लिए आम बग़ावत बन गया।

सीरिया की स्वाधीनता का यह युद्ध एक निराली चीज़ था। भारत के दो या तीन ज़िलों के आकार का यह छोटा-सा देश उस फ़्रान्स से लड़ने को खड़ा हो गया, जो उस समय संसार की सबसे ज़बर्दस्त फौजी शक्ति था। यह तो सही है कि सीरियाई लोग फ़्रान्स की बेशुमार और साज़-सामान से पूरी तरह लैस सेनाओं से जमकर लड़ाइयाँ नहीं लड़ सकते थे, पर उन्होंने इनका देहाती इलाक़ों पर कब्ज़ा रखना मुश्किल कर दिया। फ़्रान्सीसियों के क़ब्ज़े में सिर्फ़ बड़े-बड़े नगर थे, और इनपर भी सीरियाई लोग अक्सर छापे मारते रहते थे। फ़्रान्सीसियों ने हज़ारों को गोलियों से भूनकर और बहुत-से गाँवों को आग लगाकर लोगों में दहशत फैलाने का भरसक प्रयत्न किया। अक्तूबर, १९२५ ई० में दमिश्क के मशहूर पुराने शहर पर भी बम बरसाये गए और उसका बहुत-सा हिस्सा तबाह कर दिया गया। सारा-का-सारा सीरिया फौजी छावनी बन गया था। पर यह सबकुछ होते हुए भी उपद्रव दो साल तक नहीं दबा। आखिरकार फ़्रान्स की ज़बर्दस्त फ़ौजी मशीन ने इसे कुचल दिया, पर सीरियाइयों की महान् क़ुर्बानियाँ अकारथ नहीं थीं। उन्होंने अपनी आज़ादी का हक़ साबित कर दिया था, और दुनिया जान गई थी कि वे किस मसाले के बने हुए थे।

ग़ौर करने की दिलचस्प बात यह है कि फ्रान्सीसियो ने तो इस उपद्रव को मज़हबी रग देने की कोशिश की और ईसाइयो को द्रूज़ो से लडाना चाहा, पर सीरियाइयो ने साफ कह दिया कि वे तो राष्ट्रीय आजादी के लिए लड रहे थे, किसी मज़हबी मक़सद के लिए नही। उपद्रव के ठेठ शुरू मे ही द्रूज़ प्रदेश मे एक कामचलाऊ सरकार क़ायम कर ली गई थी। इस सरकार ने एक घोषणा जारी की, जिसमें जनता से अपील की गई थी कि वह स्वाधीनता के युद्ध मे शरीक होकर "एक व अखण्ड सीरिया के लिए स्वाधीनता" हासिल करे, "सविधान का मसौदा बनाने के लिए सविधान-सभा का आज़ाद चुनाव हो, देश मे दखल जमानेवाली विदेशी सेना हटाई जाय, और सुरक्षा का ज़िम्मा लेने के लिए तथा फ्रान्सीसी क्रान्ति व मानव-अधिकारो के उसूलो को लागू करने के लिए एक राष्ट्रीय सेना तैयार की जाय।" मतलब यह कि फ्रान्सीसी सरकार और फ्रान्सीसी सेना ने ऐसी कौम को दबाने की कोशिश की, जो फ्रान्सीसी क्रान्ति के उसूलो के लिए और उसके ऐलान किये हुए हक़ो के लिए लड रही थी !

१९२८ ई० के शुरू के दिनो मे ही सीरिया मे फौजी शासन खत्म हो गया; अखबारो पर से सेन्सर भी हटा लिया गया, बहुत-से राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये गए। राष्ट्रवादियो की मॉग के मुताबिक सविधान का मसौदा बनाने के लिए एक सविधान-सभा बनाई गई। लेकिन अलग-अलग मजहबी निर्वाचक मण्डलो का जाल रचकर (जैसा कि आजकल भारत मे है), फ्रान्सीसियो ने आफत के बीज बो दिये। मुसलमानो, यूनानी कैथलिको, यूनानी कट्टर-पन्थी ईसाइयो और यहूदियो के लिए अलग-अलग परकोटे बना दिये गए और हर मतदाता को अपने ही मज़हबी तबक़े के आदमी को वोट देने के लिए मजबूर किया गया। दमिश्क में एक विचित्र और आँखें खोलनेवाली सूरत पैदा हो गई। राष्ट्रवादियो का नेता प्रोटेस्टेण्ट ईसाई था। प्रोटेस्टेण्ट होने के नाते वह किसी खास निर्वाचक-मण्डल में नही आता था, और इसलिए चुना ही नही जा सकता था, हालाँकि वह दमिश्क के सबसे ज्यादा लोकप्रिय आदमियो मे गिना जाता था। मुसलमानो ने अपनी दस सीटो मे से एक सीट खाली करने की तैयारी दिखाई ताकि वह प्रोटेस्टेण्टो को दी जा सके, पर फ्रान्सीसी सरकार इसपर राज़ी नहीं हुई।

फ्रान्सीसियो की इन तमाम कार्रवाइयो के बावजूद सविधान-सभा पर राष्ट्रवादियो का क़ब्ज़ा हो गया, और उन्होंने सीरिया के लिए स्वाधीन व प्रभु-राज्य के सविधान का मसौदा बनाया। इसके मुताबिक सीरिया ऐसा गणराज्य बननेवाला था, जिसमे सारी सत्ता का स्रोत जनता थी। इस सविधान मे फ्रान्सीसियों का या उनके 'फरमान' का कही ज़िक्र भी न था। फ्रान्सीसियों ने इसपर अपना विरोध ज़ाहिर किया, मगर सविधान-सभा टस-से-मस न हुई, और महीनो तक खीच-

तान होती रही। अन्त मे फ्रान्सीसी हाई कमिश्नर ने सुझाव रक्खा कि इस सविधान को सिर्फ एक कामचलाऊ दफा के साथ पास कर दिया जाय, और वह यह कि जब तक 'फरमान' चलता रहे तबतक सविधान की किसी दफा को ऐसे लागू न किया जाय कि वह 'फरमान' के मातहत फ्रान्स की जिम्मेदारियो के खिलाफ पड़े। यह कुछ गोलमोल बात थी, पर फिर भी फ्रान्सीसियो की तो इसमे वडी हेठी होती थी। लेकिन सविधान-सभा यह बात भी मानने को तैयार नही हुई। निदान, मई, १९३० ई०, मे फ्रान्सीसी सरकार ने सविधान-सभा को भग कर दिया और साथ ही सविधान का अपना तैयार किया हुआ मसौदा ज़ाहिर कर दिया, जिसमे वह काम-चलाऊ दफा जोड दी गई थी।

इस तरह खास सीरिया जो कुछ चाहता था, उसका बडा हिस्सा हासिल करने मे सफल हो गया। मगर न तो उसने अपनी किसी एक भी माँग को समझौते की खातिर ढीली किया और न छोडा। दो चीजें रह गई थी—एक तो 'फरमान' का अन्त, जिसके साथ कामचलाऊ दफा भी खत्म हो जाती, दूसरी सीरिया की एकता का बडा सवाल। इनके अलावा वैसे यह सविधान प्रगति की तरफ ले जाने-वाला है, और ऐसा बनाया गया है कि देश पूरी तरह आज़ाद हो जाय। अपने महान् विद्रोह मे सीरियाइयो ने अपने को बहादुर और हठी लडाके साबित कर दिया, और बाद मे समझौते की बातचीत मे भी वे उतने ही पक्के इरादेवाले और अटल बने रहे, और उन्होंने पूरी आज़ादी की अपनी माँग को जरा भी मुलायम करने या शर्तों मे बाँधने से इन्कार कर दिया।

नवम्बर, १९३३ ई० मे फ्रान्स ने सीरिया के 'डिपुटियो के चैम्बर' के सामने एक सन्धि रक्खी। इस चैम्बर मे ऐसे लोग भर दिये गए थे, जो फ्रान्स की तरफ़ झुके हुए थे। इसमे फ्रान्सीसी सरकार के हिमायती नर्मदली लोगो का बहुमत था। लेकिन इसपर भी चैम्बर ने इस सन्धि को ठुकरा दिया। इसकी वजह यह थी कि फ्रान्स एक तो इसपर अडा हुआ था कि सीरिया का पाँच राज्यो मे मौजूदा बँटवारा बना रहे और दूसरे यह कि सीरिया मे उसकी छावनियाँ, बारकें, हवाई अड्डे और फौजें क़ायम रहें।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८) :

चेकोस्लोवाकिया मे नात्सियो की शानदार जीत ने, और यूरोप पर जर्मनी के बढते हुए दबदबे ने और उपनिवेशो के लिए उसकी माँग ने, ससार-भर मे एक नई सूरत पैदा कर दी है। फ्रान्स अब बडी शक्तियो की दूसरी कतार मे हो गया है, और इतने लम्बे-चौडे समुद्रपार साम्राज्य को ज्यादा दिनो तक नही सम्हाल सकता। फ़िलस्तीन मे जो मुश्किलें पैदा हो गई हैं, उनके सबब से यह सुझाव दिया जा रहा

है कि सीरिया और फिलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन को एक करके उनका अरब-सघ बनाया जा सकता है।

: १६७ :

फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन

२९ मई, १९३३

सीरिया से लगा हुआ फिलस्तीन है, जिसपर ब्रिटिश सरकार को राष्ट्रसघ से 'फरमान' मिला हुआ है। यह देश तो और भी छोटा है, जिसकी आबादी दस लाख से भी कम है, लेकिन जो अपने पुराने इतिहास और लगावो की वजह से लोगो का ध्यान बहुत खीचता है। क्योकि यह यहूदियो व ईसाइयो, दोनो की पवित्र-भूमि है, और कुछ हद तक मुसलमानो की भी है। इसके निवासी ज्यादातर मुसलमान अरब हैं, और वे आज़ादी की और सीरिया के अपने अरब-भाइयो के साथ एकता की माँग करते हैं। लेकिन अग्रेजो की नीति ने यहाँ यहूदियो की खास अल्पसख्यक समस्या खडी कर दी है। ये यहूदी अग्रेजो का पक्ष लेते हैं और फिलस्तीन की आज़ादी का विरोध करते हैं, क्योकि उन्हें डर है कि इससे वहाँ अरबी राज हो जायगा। अरब और यहूदी अलग-अलग दिशाओ मे जोर लगा रहे हैं, इसलिए आपसी मुठभेडें हो जाना लाज़िमी है। अरबो की तरफ उनकी बडी सख्या है, दूसरी तरफ रुपये के जबर्दस्त साधन हैं और यहूदी कौम का ससार-व्यापी सगठन है। इसलिए इग्लैण्ड यहूदी मजहबी राष्ट्रीयता को अरब राष्ट्रीयता के मुकाबले मे खडी कर रहा है, और दुनिया मे दिखावा यह करता है कि बीच-बचाव करनेवाले की हैसियत से और दोनो के बीच अमन रखने के लिए उसका वहाँ बना रहना जरूरी है। यह वही पुराना खेल है, जिसे हम साम्राज्यशाही हुकूमत के मातहत दूसरे देशो मे देख चुके हैं, यह अनोखी बात है कि इसे बार-बार दोहराया जाता है।

यहूदी लोग बडी निराली कौम हैं। शुरू-शुरू मे फिलस्तीन मे इनका छोटा-सा कबीला था, या कई कबीले थे, और इनकी पहले की कहानी बाइबिल के पुराने अहदनामे (तौरात) मे बयान की गई है। वे बडे ही मगरूर थे, और यह समझते कि वे 'खुदा की प्यारी कौम' हैं। लेकिन इस तरह की मगरूरी मे लगभग सभी कौमे फँसी हुई हैं। यहूदियो को बार-बार जीता गया, उनका दमन किया गया और उन्हें गुलाम बनाया गया, और बाइबिल के सही माने गये अनुवाद मे इन यहूदियो के जो गीत और विलाप दिये हुए हैं, वे अग्रेजी भाषा की सबसे सुन्दर और मर्मस्पर्शी कविताओ मे गिने जाते हैं। मेरा खयाल है कि मूल हिब्रू भाषा मे वे इतने ही या इससे ज्यादा सुन्दर होंगे। एक भजन की कुछ सतरें मैं यहाँ देना चाहता हूँ:

"बाबिलन के समुद्रतट पर हम बैठ गये और विलाप करने लगे : उस समय ऐ जाइयन[1] हमें तेरी याद आई।

अपने सुरमण्डलों[2] को हमने लटका दिया : उन पेड़ों पर जो वहाँ थे।

क्योंकि जो हमें बन्दी बनाकर हाँक ले गये थे, वे हमसे, हमारी रंजीदा हालत में, एक गीत और राग सुनना चाहते थे : हमे जाइयन का एक गीत सुनाओ।

हम प्रभु का गीत कैसे गावें : एक बिराने देश में ? ऐ येरूशलम, अगर मैं तुझे भूल जाऊँ : तो मेरा दाहिना हाथ अपना हुनर भूल जाय।

अगर मैं तुझे याद न करूँ, तो मेरी ज़बान तालू से चिपक जाय, हाँ, अगर हँसी-खेल में भी मैं येरूशलम का तिरस्कार करूँ।"

आखिरकार ये यहूदी ससार-भर मे बिखर गये। इनका न तो कोई वतन था और न कोई राष्ट्र, इसलिए जहाँ-जहाँ वे गये वहाँ-वहाँ उनके साथ नागवार और नापसन्द अजनबियो जैसा बर्ताव किया गया। इन्हें शहरो के खास मोहल्लों मे, जिन्हें 'गैटो' कहते थे, दूसरो से बिलकुल अलग बसाया गया, ताकि ये दूसरो को नापाक न कर दें। कभी-कभी तो इन्हें खास तरह का लिबास पहनने को मजबूर किया जाता था। इन्हें ज़लील किया जाता था, नफरतभरे ताने सुनाये जाते थे, भयानक तकलीफें दी जाती थी, और हत्याकाण्डो के ज़रिये मौत के घाट उतार दिया जाता था। 'यहूदी' शब्द ही एक गाली, और क़ंजूस व मक्खीचूस बोहरे का अर्थ रखनेवाला शब्द बन गया है। इतने पर भी यह अद्भुत कौम इस सबमे से न सिर्फ ज़िन्दा निकल आई, बल्कि अपनी नस्ली व सस्कृति की खास निशानियाँ भी क़ायम रख सकी, और खूब फूली-फली, और इसने ढरो महान् पुरुषो को जन्म दिया। आज यहूदियो ने वैज्ञानिको, राजनीतिज्ञो, साहित्यकारो, साहूकारो, व्यापारियो, वग़ैरा में आगे का दर्जा हासिल कर लिया है, यहाँतक कि बड़े-से-बड़े समाजवादी और साम्यवादी भी यहूदी रहे हैं। अलबत्ता इनमे ज्यादातर लोग बहुत मालदार नहीं हैं, ये पूर्वी यूरोप के शहरो मे भरे हुए हैं, और समय-समय पर इन्हें 'पोग्रोमों' यानी हत्याकाण्डो का शिकार बनना पडता है। इन बे-घरबार और बे-वतन लोगो ने, खासकर इनमे से ग़रीबो ने, उस पुराने येरूशलम के सपने देखना कभी नहीं छोड़ा जो उनकी कल्पना मे इतना महान् व शानदार दिखाई देता है जितना असलियत में वह कभी रहा ही नहीं। वे येरूशलम को जाइयन कहते हैं और उसे बहिश्त (स्वर्ग) की तरह मानते हैं। जाइयनवाद वही पुरातन की पुकार है, जो इन्हें येरूशलम व फिलस्तीन की ओर खीचती है।

---

[1] Zion or Sion—येरूशलम की एक पहाड़ी, जिसपर हज़रत दाऊद का निवास-स्थान था।

[2] एक प्रकार का तारों का बाजा।

उन्नीसवी सदी के आखिरी वर्षों मे इस जाइयनवादी आन्दोलन ने धीरे-धीरे उपनिवेश बसाने के आन्दोलन की शक्ल ले ली, और बहुत-से यहूदी फ़िलस्तीन में बसने को चले गये। इबरानी भाषा को भी फिर से जिलाया गया। महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश सेनाओ ने फिलस्तीन पर धावा किया, और जब वे येरूशलम पर कूच कर रही थीं तब ब्रिटिश सरकार ने, नवम्बर, १९१७ ई० मे एक घोषणा की जो बाल्फ़ोर-घोषणा कहलाती है। उन्होंने ऐलान किया कि उनका इरादा फ़िलस्तीन मे 'यहूदी राष्ट्रीय वतन' क़ायम करने का है। यह घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय यहूदी कौम की सद्भावना हासिल करने के लिए की गई थी, और पैसे के लिहाज़ से इसका महत्व भी था। यहूदियों ने इसका स्वागत किया। लेकिन एक छोटी-सी कमी रह गई। मालूम होता है एक ऐसी हकीकत पर ध्यान ही नही गया, जो कम महत्व की नही थी। फिलस्तीन कोई वीरान जगल या खाली और बे-आबाद जगह नहीं थी। वह तो पहले से ही किसी दूसरो का वतन था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने जो यह फ़ैय्याज़ी दिखाई वह वास्तव मे उन लोगो को नुकसान पहुँचानेवाली थी, जो फिलस्तीन मे पहले से ही रहते आये थे। और इन लोगो ने, जिनमें अरब, ग़ैर-अरब, मुसलमान, ईसाई, और वास्तव मे सारे ग़ैर-यहूदी शामिल थे, इस घोषणा पर जोरदार विरोध जाहिर किया। यह तो असल में आर्थिक सवाल था। इन लोगो को लगा कि यहूदी लोग तमाम काम-धन्धो मे उनका मुकाबला करेंगे, और अपनी भारी दौलत के बल पर देश के आर्थिक स्वामी बन जायेंगे। उन्हें डर था कि यहूदी लोग उनके मुँह की रोटी और किसान-वर्ग की धरती छीन लेंगे

तभी से फ़िलस्तीन की कहानी अरबो और यहूदियो के बीच लडाई-झगड़े की कहानी रही है, जिसमे ब्रिटिश सरकार ने हवा के रुख़ के मुताबिक कभी एक का और कभी दूसरे का पक्ष लिया है, लेकिन आमतौर पर यहूदियो की हिमायत की है। इस देश को बिना स्वराज का ब्रिटिश उपनिवेश माना जाता रहा है। अरबो ने ईसाइयो व दूसरी ग़ैर-यहूदी कौमो का सहारा लेकर आत्म-निर्णय के हक़ की और पूरी आज़ादी की माँग रक्खी है। उन्होंने 'फरमान' पर और नये आनेवालो पर इस वजह से सख़्त ऐतराज़ किया है कि वहाँ ज्यादा लोगो के लिए गुंजायश ही नही है। ज्यो-ज्यो यहूदी आवासियो का ताँता बँध रहा है, त्यो-त्यों उनका डर व गुस्सा भी बढते जा रहे है। अरबो ने साफ कह दिया है कि "जाइयनवाद ब्रिटिश साम्राज्यशाही का मददगार है, जिम्मेदार जाइयनवादी नेता इसपर बराबर ज़ोर देते रहे हैं कि बलवान 'यहूदी राष्ट्रीय वतन' भारत के मार्ग पर पहरा देने के लिए अंग्रेजो के लिए बहुत फायदेमन्द होगा, और सिर्फ इस कारण होगा कि वह अरबो की राष्ट्रीय तमन्नाओ को रोकनेवाला बल है।" भारत का नाम कैसी अटपटी जगहो मे उठ खड़ा होता है

अरब कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग का, और उसके द्वारा बनाई जानेवाली विधान-परिषद् के चुनावो के बायकाट का फैसला किया। यह बायकाट बडा सफल हुआ, और परिषद् बन ही नही सकी। एक तरह के असहयोग की नीति वर्षो चलती रही, फिर वह जरा हलकी पड गई और कुछ तबको ने ब्रिटिश सरकार को कुछ सहयोग दिया। मगर इसपर भी अंग्रेज लोग चुनी हुई परिषद् नही बनवा सके और हाई कमिश्नर सर्व-सत्ताधारी सुलतान की तरह हुकूमत करने लगा।

१९२८ ई० मे जुदा-जुदा अरबी फिरके अरब कांग्रेस मे मिलकर फिर एक हो गये, और उन्होने "अपने हक की तरह" लोकतन्त्री पार्लमेण्टी ढग की सरकार की मांग की। उन्होने निडर होकर यह भी कह दिया कि "फिलस्तीन की जनता मौजूदा निरकुश उपनिवेशी ढग की हुकूमत को न तो बर्दाश्त कर सकती है और न करेगी।" अरबी राष्ट्रीयता की इस नई लहर का ध्यान देने लायक पहलू था आर्थिक सवालो पर जोर दिया जाना। यह हमेशा इस बात का चिह्न हुआ करता है कि लोग मौके की असलियत के महत्व को दिन-पर-दिन ज्यादा समझते जा रहे हैं।

अगस्त, १९२९ ई० मे बडे भारी अरब-यहूदी दगे हुए। इनका असली सबब तो था यहूदियो की बढती हुई दौलत व सख्या की वजह से अरबो में कडवाहट और डर फलना, और साथ ही यहूदियो की तरफ से अरबो की आजादी की मांग का विरोध। लेकिन नजदीकी सबब उस दीवार का झगडा था, जो "विलाप की दीवार"[1] कहलाती है। यह दीवार पुराने जमाने मे हिरोद के मन्दिर के परकोटे का हिस्सा थी। इसलिए यहूदियो के लिए यह पवित्र जगह है और वे इसे अपने उन दिनो की यादगार मानते हैं जब वे एक महान् कौम थे। बाद मे इस जगह मस्जिद बना दी गई, और वह दीवार उसीकी इमारत मे शामिल कर दी गई। यहूदी लोग इस दीवार के पास प्रार्थना करते हैं, और जोर-जोर से नौहा[2] पढते हैं। इसीलिए इसका नाम "विलाप की दीवार" पड गया है। अपनी एक सबसे मशहूर मस्जिद के पास इस नौहा-गरी पर मुसलमान लोग ऐतराज करते हैं।

दगो के दबा दिये जाने के बाद यह झगडा दूसरे तरीको से चलने लगा। और अनोखी बात यह है कि अरबो को इसमे फिलस्तीन के सारे ईसाई सम्प्रदायों का समर्थन हासिल था। इसलिए मुसलमानो और ईसाइयो, दोनो ने एक होकर बडी-बडी हडतालें और प्रदर्शन किये। स्त्रियो तक ने भी इसमे आगे होकर भाग लिया। इससे जाहिर होता है कि असली झगडा मजहबी नही था, बल्कि नये

---

[1] Wailing Wall

[2] बाइबिल के पुराने अहदनामे का वह अंश, जिसमें यहूदी कौम का विलाप है।

आनेवालों और पुराने निवासियों के बीच आर्थिक टक्कर थी। ब्रिटिश हुकूमत 'फ़रमान' के मातहत अपने फ़र्ज़ पूरे नहीं कर सकी, और खासकर १९२९ ई० के दंगों को न रोक सकी, इसके लिए राष्ट्रसंघ ने उसकी कड़ी निन्दा की।

बस, फ़िलस्तीन असल में एक ब्रिटिश उपनिवेश बना हुआ है, और कुछ बातों में तो मुकम्मिल उपनिवेश से भी बदतर है। और अंग्रेज लोग यहूदियों को अरबों के खिलाफ़ अपना मोहरा बनाकर इस हालत को बरकरार रख रहे हैं। यहाँ अंग्रेज कर्मचारी भरे हुए हैं और तमाम ऊँचे ओहदों को घेरे हुए हैं। जैसाकि अंग्रेजों के सब अधीन देशों में होता आया है, यहाँ भी शिक्षा के लिए कुछ नहीं किया गया है, हालाँकि अरब लोग बहुत ही चाहते हैं। यहूदियों के आलीशान स्कूल और कॉलेज हैं, क्योंकि उनके पास खर्च करने के खूब साधन हैं। यहूदियों की आबादी मुसलमानों की आबादी की लगभग एक-चौथाई तक तो पहुँच ही चुकी है, और उनकी आर्थिक शक्ति भी बहुत ज्यादा है। वे तो शायद उस दिन की आस लगाये बैठे हैं जिस दिन फ़िलस्तीन में उनकी कौम का बोलबाला होगा। राष्ट्रीय आज़ादी व लोकतन्त्री शासन के लिए अपनी लड़ाई में अरबों ने यहूदियों का सहयोग हासिल करने की कोशिश की, पर इस प्रस्ताव को यहूदियों ने ठुकरा दिया। उन्होंने विदेशी शासक शक्ति का पक्ष लेने में ही अपना भला समझा है, और इस तरह बहुसंख्यक जनता की आज़ादी रोक रखने में उसे मदद पहुँचाई है। इसलिए ताज्जुब नहीं कि यह बहुमत, जिसमें अरबों की सबसे ज्यादा संख्या है और ईसाई भी हैं, यहूदियों के इस रुख पर सख्त नाराज है।

ट्रान्स-जॉर्डन

फ़िलस्तीन से लगा हुआ, जॉर्डन नदी के उस पार एक और छोटा-सा राज्य है, जो अंग्रेजों की युद्ध के बाद की उपज है। यह ट्रान्स-जॉर्डन कहलाता है। यह नन्हा-सा इलाका रेगिस्तान की सीमा पर है और सीरिया व अरब के बीच में है। इस राज्य की कुल आबादी तीन लाख है, जो किसी बिचले दर्जे के शहर के बराबर भी नहीं है। ब्रिटिश सरकार इसे आसानी से फ़िलस्तीन में शामिल कर सकती थी, पर साम्राज्यशाही नीति मिलाकर एक करने के बजाय बँटवारा करना हमेशा बेहतर समझती है। यह राज्य भारत को जानेवाले खुश्की और हवाई रास्ते में एक महत्वपूर्ण मंजिल की तरह है। रेगिस्तान और पश्चिम में समुद्र तक फैले हुए उपजाऊ प्रदेशों के बीच यह उपयोगी सरहदी राज्य भी है।

छोटा-सा होने पर भी इस राज्य में घटनाओं का वही सिलसिला चलता रहता है जो पड़ौस के बड़े देशों में। यहाँ भी लोकतन्त्री पार्लमेण्ट के लिए माँग है, जो मानी नहीं जाती, प्रदर्शनों का दमन होता है, अखबारों पर सेन्सर है, नेताओं

को देश-निकाला है, सरकारी कार्रवाइयों का बायकाट है, वग़ैरा, वग़ैरा। अंग्रेजों ने अमीर अब्दुल्ला (हिजाज़ के शाह हुसैन का दूसरा पुत्र और फ़ैसल का भाई) को बडी चालाकी से ट्रान्स-जॉर्डन का शासक बना दिया, जो पूरी तरह उनके अँगूठे के नीचे कठपुतली शासक है। लेकिन वह अंग्रेजो को जनता से छिपानेवाले परदे का काम देता है। जो कुछ वहाँ होता है, उसका ज्यादातर कसूर उसीके सिर मढा जाता है, और जनता उससे बुरी तरह नाराज़ होती जा रही है। अब्दुल्ला के मातहत ट्रान्स-जॉर्डन वास्तव मे कुछ ऐसा ही है जैसे कि हमारी बहुत-सी छोटी-छोटी देशी रियासतें।

फर्जी तौर पर तो यह राज्य स्वाधीन है, लेकिन १९२८ ई० मे अब्दुल्ला ने ब्रिटिश सरकार के साथ जिस सन्धि पर दस्तखत किये थे, उसके मुताबिक़ इंग्लैण्ड को तरह-तरह की फौजी व दूसरी खास रियायतें दे दी गई हैं। अंग्रेजो की छत्रछाया मे नये नमूने की जो स्वाधीनता गुलज़ार होती है, उसकी यह छोटे पैमाने पर एक और मिसाल है। मुसलमान और ईसाई दोनो ही इस सन्धि से, और आमतौर पर इस हालत से, बुरी तरह नाराज़ हैं। सन्धि के खिलाफ जोरदार हलचल दवा दी गई, यहाँतक कि इसका समर्थन करनेवाले अखबार भी बन्द कर दिये गए, और जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, नेताओ को देश से बाहर निकाल दिया गया। इसपर विरोध और भी बढ गया, और राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपना अधिवेशन करके एक राष्ट्रीय करार पास किया, और सन्धि की खुली निन्दा की। जब नये चुनावो के लिए मतदाताओ की सूचियाँ बनने लगी तो कुछ लोगो के सिवाय सबने इसका बायकाट कर दिया। मगर फिर भी अब्दुल्ला व ब्रिटिश सरकार ने सन्धि की दिखाऊ तसदीक़ के लिए जैसे-तैसे कुछ समर्थक जमा कर ही लिये।

१९२९ ई० मे फिलस्तीन मे जो उपद्रव हुए, उनके दौरान ट्रान्स-जॉर्डन मे भी ब्रिटिश सरकार और बाल्फोर-घोषणा के खिलाफ भारी प्रदर्शन हुए।

मैं जुदा-जुदा देशो मे होनेवाली घटनाओ के बारे मे विस्तार के साथ लिखता जा रहा हूँ, और ये घटनाएँ ऐसी दिखाई पडती हैं, मानो एक ही क़िस्सा बार-बार दोहराया जाता हो। ये बातें मैं तुम्हें यह भान कराने को लिख रहा हूँ कि किस तरह हम अपने-अपने देशो मे इस भ्रम मे पड जाते हैं कि हमे सिर्फ राष्ट्रो की अपनी-अपनी बातो पर जितना विचार करना है, उतना उन ससार-व्यापी बलो पर नहीं, जिनके साथ सारे पूर्व की उठती हुई राष्ट्रीयता है, जिससे लडने के लिए साम्राज्यशाही का वही ढग व सलीक़ा है। ज्यो-ज्यो राष्ट्रीयता पनपती है और आगे बढती है, त्यो-त्यो साम्राज्यशाही के दाव-पेंच ज़रा बदल जाते हैं, जहाँतक ऊपरी बातो का ताल्लुक है वहाँतक लोगो को राजी करने का और झुकने का दिखावटी यत्न होता है। उधर ज्यो-ज्यो यह राष्ट्रीय लडाई अलग-अलग देशो मे आगे

बढ़ती है, त्यो-त्यो समाजी झगडा, यानी हर देश के जुदा-जुदा वर्गों में वर्ग-संघर्ष, भी ज्यादा जाहिर होता जाता है, और सामन्ती-वर्ग, और कुछ हद तक मालिक-वर्ग, साम्राज्यशाही शक्ति की दिन-पर-दिन ज्यादा तरफ़दारी करने लगते हैं।

टिप्पणी (अक्तूबर, १९३८) :

फ़िलस्तीन मे अरब राष्ट्रीयता, यहूदी ज़ाइयनवाद और ब्रिटिश साम्राज्य-शाही की तिकोनी टक्कर जारी है, और दिन-पर-दिन ज्यादा ला-इलाज होती गई है। जर्मनी में नात्सियों की शानदार सफलता ने यहूदियो की बहुत बडी सख्या को मध्य-यूरोप से खदेड दिया, और इसलिए फ़िलस्तीन पर यहूदियो का बोझ बढ़ने लगा। इसने अरबो के इन अन्देशों को गहरा कर दिया कि वे यहूदी आवासियो की बाढ़ में डूब जायँगे, और फ़िलस्तीन मे यहूदियो की हुकूमत हो जायगी। अरबो ने इसके खिलाफ़ लडाई ठान दी, और उनमें से कुछ लोग आतकवादी कार्रवाइयो मे पड गये। बाद मे कुछ ज्यादा सरगर्म ज़ाइयनवादियो ने भी इसी ढग की कार-वाइयो के ज़रिये जैसे-का-तैसा बदला लिया।

अप्रैल, १९३३ ई० मे फ़िलस्तीन के अरबो ने आम हड़ताल का ऐलान कर दिया। ब्रिटिश अधिकारियो ने फौजी ताकत और बदले की कार्रवाइयो से इस हड़ताल को कुचलने की भरपूर कोशिश की, पर इसके बावजूद यह क़रीब छै महीने चली। नात्सियो के नामी नमूने की, बहुत बडी-बडी नज़रबन्द-छावनियां बन गईं। इस कोशिश मे असफल होने पर सरकार ने फिलस्तीन के मामलो की जाँच करने के लिए एक शाही कमीशन मुक़र्रर किया। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा कि 'फ़रमान' सफल नही हुआ, इसलिए वह वापस लौटा दिया जाना चाहिए। कमीशन ने सुझाव दिया कि देश को तीन क्षेत्रो मे बाँट दिया जाय, सबसे बडा क्षेत्र अरबो के इख्तियार मे, समुद्र के पासवाला छोटा क्षेत्र यहूदियो के इख्तियार में, और येरूशलम समेत तीसरा क्षेत्र सीधा अग्रेजो के इख्तियार मे। बँटवारे की इस योजना पर अरबो, यहूदियो, वग़ैरा सभी ने ऐतराज़ किया, लेकिन बहुत-से यहूदी इसपर अमल करने को भी तैयार हो गये। पर अरबो ने साफ़ कह दिया कि वे इस योजना से कोई वास्ता नही रक्खेंगे, और राष्ट्रीय कार्रवाइयां ज़ोर पकडने लगीं। पिछले कुछ महीनो मे इस विरोध ने, अग्रेजी राज के कट्टर वैरी एक जबर्दस्त राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप ले लिया है, जो फ़िलस्तीन के बडे-बडे क्षेत्रो मे से उसे धीरे-धीरे हटाता जा रहा है, और ये क्षेत्र अरब राष्ट्रवादियो के क़ब्ज़े में आ गये हैं। ब्रिटिश सरकार ने इस देश को दुबारा जीतने के लिए नई सेनाएँ भेज दी हैं, और आजकल वहाँ आतक और भय का राज हो रहा है।

दुःख की बात है कि अरब लोगो ने आतक फैलानेवाली बहुत-सी कार्रवाइयाँ कर डाली हैं। कुछ हदतक यहूदियो ने भी अरबो के खिलाफ़ ऐसा ही किया है।

उधर ब्रिटिश सरकार ने आजादी की राष्ट्रीय लड़ाई को कुचलने के इरादे से तबाही और हत्याओ की बेरहम नीति का सहारा लिया और अब भी ले रही है। आयर्लैण्ड मे 'काले और भूरे' आतक के दिनो में जिन तरीको का इस्तेमाल किया गया था, उनसे भी बुरे तरीके फिलस्तीन मे अपनाये जा रहे हैं, और समाचारो पर लगाये गए कड़े सेन्सर ने उन्हें दुनिया की नजरो से छिपा रक्खा है। लेकिन फिर भी जो खबरें आ रही हैं, वे काफी बुरी हैं। अभी मैंने पढ़ा है कि 'मुश्तबा'[1] अरब लोगो को ब्रिटिश फ़ौजी सिपाही किस तरह 'लोहे के पिंजरे' कहलानेवाले और काँटेदार तारो से घिरे बड़े-बड़े बाडो मे भेडो की तरह ठूँस देते हैं। हरेक 'पिंजरे' मे ५० से लगाकर ४०० तक कैदियों को भर दिया जाता है, और इनके रिश्तेदार इन्हें ठीक इस तरह खाना खिलाते हैं जैसे पिंजरो मे बन्द जानवरो को खिलाया जाता है।

इस बीच सारी अरबी दुनिया मे गुस्से की भावना आग की तरह भड़क उठी है, और अपनी आजादी के लिए छटपटानेवाली कौम को कुचलने की इस हैवानी कार्रवाई ने पूर्व-भर के मुसलमानो और गैर-मुसलमानो दोनो के दिलो को हिला दिया है। यह सही है कि इन लोगो ने बहुत-सी ग़लत और आतकवादी कार्रवाइयाँ की हैं, लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि वे असल मे राष्ट्रीय आजादी के लिए लड रहे हैं, और ब्रिटिश साम्राज्यशाही की फौजो ने बडी बेरहमी से उनको दवाया है।

बडे दुख की बात है कि अरब व यहूदी, दो सतायी हुई कौमें, आपस मे ही एक दूसरी से टकरा रही हैं। यूरोप मे यहूदी लोग जबर्दस्त आफ़तो की मार में से गुज़र रहे है और वहाँ इनकी बडी भारी सख्या हर देश से दुतकारी जाकर बे-वतनो की तरह मारी-मारी फिर रही है, इसलिए इनके साथ हरेक की सहानुभूति होना लाजिमी है। फिलस्तीन की तरफ उनके खिचाव की वजह भी हरेक समझ सकता है। और यह भी हकीकत है कि यहूदी आवासियो ने देश की तरक्क़ी की है, वहाँ उद्योगो के कल-कारखाने डाले हैं, और रहन-सहन के दर्जों को ऊँचा उठाया है। लेकिन हमे यह न भूलना चाहिए कि लाज़िमी तौर पर फिलस्तीन एक अरबी देश है, और ऐसा ही रहेगा, और अरबो को उन्हींके बाप-दादों की ज़मीनो पर कुचला जाना और दवाया जाना ठीक नही है। दोनो क़ौमो की भलाई इसीमे है कि आज़ाद फिलस्तीन मे, एक दूसरी के वाजिब हितो को बेजा तौर पर छीने बिना, आपसी सहयोग के साथ रहे और एक आगे बढनेवाला देश बनाने मे मदद दें।

बदकिस्मती की बात यह है कि भारत व पूर्व को जानेवाले समुद्री व हवाई

---

[1] जिसपर किसी तरह का सन्देह किया जाय।

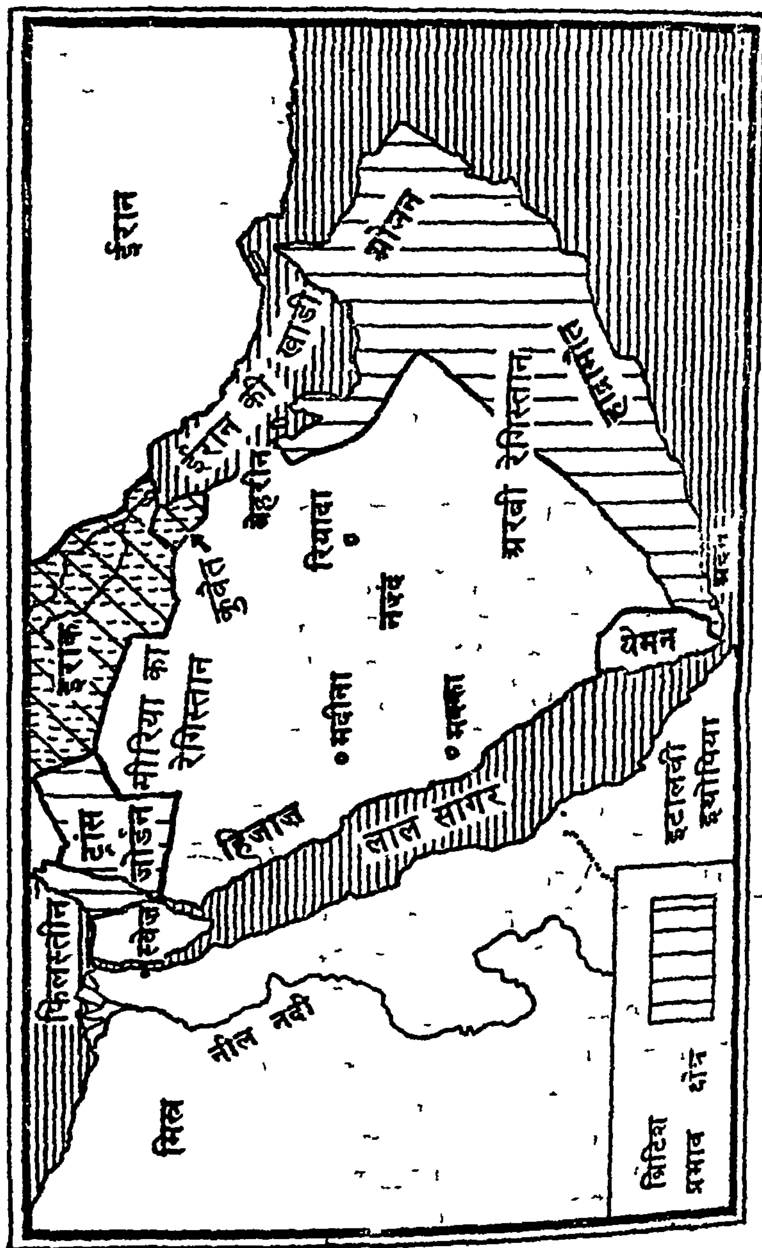
रास्तों में पड़ने से, फिलस्तीन ब्रिटिश साम्राज्यशाही योजना का निहायत जरूरी हिस्सा है, और इन योजना को आगे बढ़ाने के लिए अरबों व यहूदियों, दोनों का बेजा तरीके से इस्तेमाल किया गया है। आगे क्या होगा, यह कहना मुश्किल है। बँटवारे की पुरानी योजना के असफल होने का अन्देशा है, और अब अरब देशों के बड़े संघ की चर्चा चल रही है, जिनके बीच में यहूदियों का स्वाधीन इलाक़ा रहेगा। पर यह साफ़ है कि फिलस्तीन में अरब राष्ट्रीयता कुचली नहीं जा सकेगी, और देश का भविष्य सिर्फ अरब-यहूदी सहयोग और साम्राज्यशाही के सफ़ाये की पक्की नींव पर ही बनाया जा सकता है।

: १६८ :

अरब की मध्य-युगों से छलांग

३ जून, १९३३

मैंने तुम्हें अरब-देशों के बारे में तो लिख दिया है, पर अरबी भाषा व संस्कृति के बड़े विकास और इस्लाम की जन्मभूमि खास अरब का अभी तक कुछ बयान नहीं किया है। हालांकि अरब अरबी सभ्यता का निवास रह चुका है, पर वह पिछड़ा और मध्यकालीन ही बना हुआ है, और हमारी आधुनिक सभ्यता की कसौटी के मुताबिक़, उसके पड़ोसी अरब-देश मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन और इराक़ उससे बहुत दूर आगे निकल गये हैं। अरब बहुत लम्बा-चौड़ा देश है—आकार और क्षेत्रफल में वह भारत के दो-तिहाई के बराबर है। लेकिन इतना बड़ा होने पर भी आबादी इस सारे देश की सिर्फ चालीस या पचास लाख ही आँकी जाती है—यानी भारत की आबादी का क़रीब ७०वां या ८०वां भाग। इससे ज़ाहिर है कि यह बहुत ही बिखरा बसा हुआ है। इसका ज्यादा हिस्सा असल में रेगिस्तान है, और इसी कारण गुजरे जमाने में यह लालची ले-भग्गुओं की नजर से बचा रह गया, और चारों ओर की दुनिया में परिवर्तन होते हुए भी मध्यकालीन हालतों की निशानी बना रहा, जिसमें रेल, तार, टेलीफ़ोन, वग़ैरा कुछ भी नहीं हैं। इसके ज्यादातर निवासी घुमक्कड़ खानाबदोश कबीले थे, जो बदद् कहलाते हैं। ये लोग 'रेगिस्तान के जहाज' कहे जानेवाले अपने तेज ऊँटों पर बैठकर और दुनिया-भर में नामी अपने सुन्दर अरबी घोड़ों पर सवार होकर रेगिस्तान की बालू पर एक छोर से दूसरे छोर तक सफर किया करते थे। ये लोग कबीलों की जिन्दगी बसर करते थे, जिनमें हर कबीले का बुजुर्ग ही उसका मुखिया होता था। उनकी यह परम्परा हजार वर्ष से वैसी-की-वैसी चली आ रही थी। लेकिन महायुद्ध ने जिस तरह और बहुत-सी चीजों को बदल दिया, उसी तरह इसे भी बदल दिया।


ईरान
ओमन
हज़रमौत
अरबी रेगिस्तान
ईरान की खाड़ी
बेहरीन
कुवैत
रियाद
नज्द
इराक़
सीरिया का रेगिस्तान
ट्रांस जोर्डन
मदीना
मक्का
यमन
अदन
हिजाज़
लाल सागर
इटालवी इथोपिया
फ़िलस्तीन
स्वेज़
नील नदी
मिस्र
ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र

इब्न सऊद का अरब

अगर तुम नक्शे को देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि अरब का बड़ा प्रायद्वीप लाल सागर व ईरान की खाड़ी के बीच में पड़ा है। इसके दक्षिण में अरब सागर है; उत्तर में फ़िलस्तीन, ट्रान्स-जॉर्डन व सीरियाई रेगिस्तान है, और उत्तर-पूर्व में इराक़ की हरी-भरी और उपजाऊ घाटियां हैं। पश्चिमी किनारे पर, लाल सागर से लगा हुआ, हिजाज़ का प्रदेश है, जहां इस्लाम ने परवरिश पाई, और जिसमें मक्का व मदीना के पाक शहर और जद्दा का बन्दरगाह है, जहां हर साल मक्का जानेवाले हज़ारों हाजी उतरते हैं। अरब के बीचों-बीच और पूर्व की ओर ईरान की खाड़ी तक नज्द फैला हुआ है। हिजाज़ और नज्द अरब के दो मुख्य टुकड़े हैं। दक्षिण-पश्चिम में यमन है, जो पुराने रोमन ज़माने से "अरेबिया फ़ेलिक्स" यानी मुबारक, खुशहाल अरब के नाम से मशहूर रहा है, क्योंकि बाक़ी के ज़्यादातर बंजर और रेगिस्तानी हिस्से के मुकाबले में यह उपजाऊ और फलदार है। इस हिस्से की आबादी जैसी घनी होनी चाहिए वैसी ही है। अरब की दक्षिण-पश्चिमी नोक के ठीक पास ही अदन है, जो अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में है, और जिसके बन्दर पर पूर्व से पश्चिम को जाने-आनेवाले जहाज़ ठहरा करते हैं।

महायुद्ध के पहले लगभग समूचा देश तुर्की इख़्तियार में था, या यों कहो कि तुर्की की छत्रछाया को मानता था। पर नज्द में अमीर इब्न सऊद धीरे-धीरे स्वाधीन शासक के रूप में आगे आ रहा था और प्रदेशों को जीतता हुआ ईरान की खाड़ी की ओर बढ़ रहा था। इब्न सऊद मुसलमानों के वहाबी नामक ख़ास सम्प्रदाय या फ़िरक़े का सरदार था, जिसे अठारहवीं सदी में अब्दुल वहाब ने चलाया था। यह अरब में ईसाइयत के प्यूरिटनों की तरह इस्लाम में सुधार का आन्दोलन था। वहाबी लोग बहुत-सी रस्मों के विरोधी हैं और उस वीर-पूजा के भी विरोधी हैं, जो पीरों-फ़कीरों की क़ब्रों और निशानियां मानी जानेवाली चीज़ों की पूजा के रूप में मुसलमान जनता में बहुत फैली हुई है। वहाबी लोग इसे 'बुतपरस्ती'[1] कहते हैं, जिस तरह यूरोप के प्यूरिटन लोग सन्तों की मूर्त्तियों और यादगारों की पूजा करनेवाले रोमन कैथलिकों को बुतपरस्त कहा करते थे। इसलिए राजनीतिक लाग-डांट के अलावा वहाबियों और अरब के दूसरे मुसलमान फ़िरक़ों के बीच मज़हबी बैर भी था।

महायुद्ध के दिनों में अरब अंग्रेज़ों की साज़िशों के लिए बड़ी उपजाऊ जगह बन गया, और जुदा-जुदा अरब सरदारों को रिश्वतें व धन की सहायता देने में इंग्लैण्ड का और भारत का रुपया पानी की तरह बहाया गया। उनसे तरह-तरह के वायदे किये गए, और उन्हें तुर्की के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के लिए उकसाया गया। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि आपस में लड़नेवाले दो मुकाबलेदार सरदारों में

---

[1] मूर्ति-पूजा।

दोनो को अंग्रेजो की तरफ से पैसे की मदद मिलती रहती थी। आखिर अंग्रेजों ने मक्का के शरीफ हुसैन को अरब-विद्रोह का झण्डा खडा करने के लिए आमादा कर ही लिया। शरीफ हुसैन का महत्व इस सबब से था कि वह मुसलमानो के पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद के वश का था, और इसलिए इसकी बडी इज़्ज़त थी। ब्रिटिश सरकार ने हुसैन को सयुक्त अरब की सल्तनत देने का वायदा किया।

लेकिन इब्न सऊद ज्यादा होशियार था। उसने ब्रिटिश सरकार से अपनेको स्वाधीन बादशाह कबूल करवा लिया, पाँच हजार पौण्ड, यानी करीब सत्तर हज़ार रुपये की अच्छी-खासी रकम माहवारी लेना मजूर कर लिया, और ग़ैर-तरफ़दार रहने का वचन दे दिया। बस, जबकि दूसरे तो लड-झगड रहे थे, उसने अपनी हैसियत जमा ली, और कुछ हद तक इग्लैण्ड के धन से उसे मजबूत बना ली। उधर तुर्की के सुलतान के खिलाफ, जो उस समय खलीफा भी था, बगावत की वजह से शरीफ़ हुसैन भारत समेत तमाम इस्लामी देशो मे बदनाम होता जा रहा था। इब्न सऊद ने चुपचाप तटस्थ रहकर इन बदलती हुई हालतो से पूरा फायदा उठाया, और धीरे-धीरे इस्लाम का सरगर्म नेता होने की शोहरत बना ली।

अरब के दक्षिण मे यमन था। यमन का इमाम महायुद्ध के शुरू से आखीर तक तुर्कों का वफादार रहा। लेकिन वह जग के मैदानो से अलग जा पडा था, इसलिए कुछ कर-धर नही सकता था। तुर्की की पराजय के बाद वह स्वाधीन हो गया। अभी तक यमन एक स्वाधीन राज्य है।

जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तब अरब पर इग्लैण्ड का दबदबा था, और वह शरीफ हुसैन व इब्न सऊद दोनो को अपना औज़ार बनाने की कोशिश कर रहा था। लेकिन इब्न सऊद इतना होशियार था कि उसने अपनेको इस तरह उल्लू नही बनने दिया। लेकिन शरीफ हुसैन के खानदान की शान-शौकत एकदम पूरी तरह खिल उठी, क्योकि उसकी पीठ पर अंग्रेज़ो की फ़ौज जो थी। खुद हुसैन हिजाज़ का बादशाह बन गया, उसका एक पुत्र फैसल सीरिया का शासक बना, दूसरे पुत्र अब्दुल्ला को अंग्रेजो ने ट्रान्स-जॉर्डन के छोटे-से नये राज्य का शासक बना दिया। लेकिन यह शान ज्यादा दिन नही टिकी, क्योकि, जैसा हम देख चुके हैं, फैसल को फ्रान्सीसियो ने सीरिया से निकाल बाहर किया, और हुसैन की बादशाहत इब्न सऊद के वहाबियो की बाढ मे बह गई। फैसल को, जो फिर बेकारो की मण्डली मे शामिल हो गया था, अंग्रेज़ो ने इराक की हुकूमत बख्श दी, और वहाँ वह अपने सरपरस्तो की कृपा के भरोसे राज करने लगा।

हिजाज़ मे हुसैन की बादशाहत के चन्द दिनो मे अगोरा की तुर्की पार्लमेण्ट ने १९२४ ई० में खलीफा का पद हटा दिया। जब कोई खलीफा न रहा तो हुसैन बडी हौसलेबाज़ी से इस खाली सिंहासन पर कूद पडा और उसने अपने को इस्लाम का

खलीफ़ा ऐलान कर दिया। इब्न सऊद ने देखा कि अब उसका मौका आ गया है, इसलिए उसने अरब राष्ट्रीयता व मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीयता से हुसैन के खिलाफ़ कार्रवाई की अपील की। यह एक मग़रूर शेख़-वंश के मुक़ाबले में इस्लाम के ग़ाज़ी की हैसियत से खड़ा हो गया, और हुशियारी से किये गए प्रचार की बदौलत दूसरे देशों के मुसलमानों की अच्छी राय हासिल करने में भी सफल हो गया। भारत की ख़िलाफ़त-कमेटी ने भी उसे अपनी नेक दुआएँ भेजीं। अंग्रेज़ों ने हवा का रुख देखकर, और यह महसूस करके कि जिस घोड़े पर उन्होंने दाव लगाया था, वह जीतनेवाला नहीं है, चुपचाप हुसैन का साथ छोड़ दिया। उन्होंने रुपये की मदद देना बन्द कर दिया और बेचारा हुसैन, जिसे इतनी उम्मीदें दिलाई गई थी, ताक़तवर और बढ़े आनेवाले दुश्मन के आगे एक तरह से अकेला व बे-सहारे छोड़ दिया गया।

कुछ ही महीनों के भीतर, अक्तूबर, १९२४ ई० में वहाबी लोग मक्का में घुस आये, और अपने सुधारवादी इस्लाम के मुताबिक़ उन्होंने कुछ मक़बरे तोड़ डाले। इन तोड़-फोड़ से इस्लामी देशों में बहुत घबराहट फैल गई, भारत में भी मुसलमानों की भावनाएँ बहुत भड़क गईं। अगले साल मदीना और जद्दा भी इब्न सऊद के कब्ज़े में आ गये और हुसैन व उसके ख़ानदान को हिजाज़ से निकाल बाहर किया गया। १९२६ ई० के शुरू में इब्न सऊद ने अपने को हिजाज़ का बादशाह ऐलान कर दिया। अपनी नई हैसियत को मज़बूत बनाने के लिए और विदेशों के मुसलमानों को राज़ी रखने के लिए, उसने जून, १९२६ ई० में मक्का में विश्व इस्लामी कांग्रेस का इजलास किया, जिसमें दूसरे देशों के प्रतिनिधि मुसलमानों को न्यौता देकर बुलाया। ख़लीफ़ा बनने की उसकी कोई इच्छा दिखाई नहीं देती थी, और कम-से-कम उसके वहाबी मत की वजह से यह मुमकिन भी नहीं था कि ज़्यादातर मुसलमान उसे ख़लीफ़ा मान लेते। मिस्र का शाह फ़ुआद, जिसके राष्ट्र-विरोधी और ज़ालिमाना कारनामों की जाँच हम कर चुके हैं, ख़लीफ़ा-बनने का बड़ा शौक़ीन था, लेकिन उसे कोई भी नहीं चाहता था, यहाँतक कि उसकी मिस्री प्रजा भी नहीं चाहती थी। हुसैन ने जो ख़लीफ़ा की गद्दी ले ली थी, उसे उसने अपनी हार के बाद त्याग दिया।

मक्का की इस्लामी कांग्रेस ने कोई महत्व का फ़ैसला नहीं किया, और शायद किसी फ़ैसले पर पहुँचने के इरादे से वह बुलाई भी नहीं गई थी। यह तो इब्न सऊद ने अपनी हैसियत को, ख़ासकर विदेशी शक्तियों के सामने, मज़बूत बनाने के लिए एक चाल चली थी। ख़िलाफ़त-कमेटी के भारतीय प्रतिनिधि, जिनमें मेरे ख़याल से मौलाना मोहम्मद अली भी थे, नाकाम होकर और इब्न सऊद से नाराज़ होकर वापस आये। लेकिन इससे उसका कुछ नहीं बिगड़ा।

उसने तो जरूरत के वक्त भारत की खिलाफत-कमेटी से अपना मतलब साधा था, और अब उसे इसकी हिमायत की कोई ज़रूरत नही रही थी।

इब्न सऊद कुछ ही दिनो मे करीब-करीब सारे अरब का मालिक बन गया, सिवाय यमन के, जो अपने पुराने इमाम के मातहत स्वाधीन राज्य बना रहा। दक्षिण-पश्चिम के इस कोने के अलावा वह अरब का सरदार था। उसने नज्द के बादशाह का खिताब ले लिया, और इस तरह वह दोहरा बादशाह बन गया, यानी हिजाज़ का बादशाह और नज्द का बादशाह। विदेशी शक्तियो ने उसकी स्वाधीनता को मान लिया, और उसने विदेशियो को ऐसी कोई खास रियायतें नही दी जैसी मिस्र मे अभी तक है। सच तो यह है कि वे वहाँ शराब वगैरा तक नहीं पी सकते थे।

इब्न सऊद एक सफल सिपाही और लडाका साबित हो गया था। अब उसने अपने राज्य को जमाने की हालतो के मुताबिक ढालने का ज्यादा मुश्किल काम हाथ मे लिया। बुजुर्ग-मुखियावाले कबीलो की जिन्दगी से छलाँग मारकर वह आज के ससार मे आनेवाली बात थी। मालूम तो यह होता है कि इस काम मे भी इब्न सऊद को भारी कामयाबी मिली है, और इस प्रकार उसने दुनिया को जतला दिया है कि वह एक दूरन्देश राजनीतिज्ञ है।

उसकी सबसे पहली कामयाबी अन्दरूनी गडबड को दबाने मे हुई। कुछ ही दिनो मे कारखानो और हाजियो के बडे रास्ते पूरी तरह बेखतरे के हो गये। यह बडी भारी सफलता थी, और हाजियो की उस बडी सख्या ने कुदरती तौर पर इसका स्वागत किया, जिन्हें रास्तो मे अबतक अक्सर डाकुओ का सामना करना पडता था।

खानाबदोश बद्दुओ को बसा देना इससे भी ज्यादा मार्के की कामयाबी थी। हिजाज़ को जीतने से पहले ही इब्न सऊद ने इनकी बस्तियाँ बसाना शुरू कर दिया था, और इस तरह एक आधुनिक राज्य की नीव डाल दी थी। एक जगह न टिकनेवाले और घुमक्कड और आजादी-पसन्द बद्दुओ को बसाना आसान नही था, लेकिन इब्न सऊद इस काम मे बहुत-कुछ सफल हो गया है। राज्य की शासन-व्यवस्था को कई दिशाओ मे सुधारा गया है, और हवाई-जहाज़ और मोटरें और टेलीफोन और आज की सभ्यता के बहुत-से दूसरे चिह्न नज़र आने लगे हैं। हिजाज़ को धीरे-धीरे लेकिन सचमुच नये ज़माने का बनाया जा रहा है। लेकिन मध्य-युगो से छलाँग लगाकर आजकल के ज़माने मे आना कोई आसान बात नही है, क्योकि सबसे बडी कठिनाई तो लोगो के विचारो को बदलने मे होती है। यह नई प्रगति और नया परिवर्तन बहुत-से अरब-वासियो को अच्छे नही लगे, पश्चिम की नये-नये ढग की मशीन, उसके इजन और मोटरें और हवाई-जहाज़, उन्हें शैतान

की करामातो जैसे दिखाई दिये। उन्होने इन नये रवैयो के खिलाफ आवाज उठाई, और १९२९ ई० मे तो वे इब्न सऊद के खिलाफ़ भड़क ही उठे। इब्न सऊद ने हिकमत और दलीलो से उन्हें अपनी राय का बनाने की कोशिश की, और बहुतो को तो उसने बना भी लिया। लेकिन कुछ लोग विद्रोह करते रहे, पर इब्न सऊद ने उन्हें हरा दिया।

इसके बाद इब्न सऊद के सामने एक और कठिनाई आई, लेकिन इस कठिनाई का सामना सारी दुनिया को करना पड़ रहा था। १९३० ई० से हर जगह व्यापार मे ज़बर्दस्त मन्दी आने लगी है। इसका सबसे ज्यादा असर पश्चिम के बड़े-बड़े औद्योगिक देशो पर पड़ा है, जो इनके लगातार कसते हुए शिकजे मे अभी तक छटपटा रहे हैं। अरब का ससार के व्यापार से कोई वास्ता नही है, पर वहाँ इस मन्दी ने अपना असर दूसरे ही ढग से डाल दिया है। मक्का की बड़ी सालाना ज़ियारत से वसूल होनेवाली आमदनी इब्न सऊद की मालगुज़ारी का खास ज़रिया रही है। सारे देशो से हर साल लगभग एक लाख हाजी हज के लिए मक्का जाया करते थे। १९३० ई० मे यह सख्या एकदम घटकर चालीस हज़ार रह गई, और यह घटोतरी बाद के वर्षो मे भी चलती रही। इसके सबब से देश का आर्थिक ढाँचा बिलकुल उलट गया और अरब के कई हिस्सो के लोगो पर जबर्दस्त मुसीबत पड़ गई। पैसे की कमी ने इब्न सऊद के लिए बहुत-से कामो मे खर्च की तगी पैदा कर दी है, और सुधार की उसकी बहुत-सी योजनाओ को खटाई मे डाल दिया है। वह विदेशियो को रियायतें देने के लिए कभी तैयार नही था, क्योकि उसका यह डर वाजिब था कि देश के साधनो से विदेशियो को फायदा उठाने दिया गया तो देश मे उनका प्रभाव बढ़ जायगा, और इसका नतीजा होगा विदेशियो की दस्तन्दाज़ी और देश की स्वाधीनता मे कमी आना। उसके ये अन्देशे बिलकुल वाजिब थे, क्योकि पराधीन उपनिवेशी देशो को जो मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं, उनमे से ज्यादातर मुसीबतें विदेशियो के हाथो उनके शोषण से पैदा हुई हैं। इब्न सऊद ने बिना आज़ादी की घड़ा-भरी प्रगति व दौलत की बनिस्बत गरीबी और आज़ादी को ज्यादा अच्छा समझा।

मगर व्यापार की मन्दी के दबाव ने इब्न सऊद को अपनी नीति मे थोड़ा-सा परिवर्तन करने को मजबूर कर दिया, और उसने विदेशियो को कुछ रियायतें देना शुरू किया। पर फिर भी उसने यह सावधानी रक्खी कि उसकी स्वाधीनता पर आँच न आने पावे, और इसके लिए उसने शर्तें लगा दी। फिलहाल ये रियायतें सिर्फ विदेशी मुसलमानो की कम्पनियो को ही दी जायँगी। मसलन, सबसे पहली रियायत भारतीय मुसलमान पूँजीपतियो की एक कम्पनी को, जद्दा बन्दरगाह और मक्का के बीच रेलमार्ग डालने के लिए दी गई है। अरब के लिए यह रेलमार्ग

एक जबर्दस्त चीज है, क्योंकि इससे हज की सालाना ज़ियारत का रूप ही बिलकल बदल जाता है। हाजियो को तो इससे सुविधा होगी ही, पर अरबों के नज़रिये को जमाने के माफिक बनाने मे भी यह बहुत बड़ा हाथ बटायेगी।

पिछले किसी पत्र मे मैं लिख चुका हूँ कि फिलहाल अरब मे एक ही रेलमार्ग है। यह हिजाज़ रेलवे है जो मदीना को सीरिया के अलेप्पो नामक स्थान पर बगदाद रेलवे से जोडती है।

इस पत्र के शुरू मे मैं लिख चुका हूँ कि दक्षिण-पश्चिम मे यमन पहले 'अरेबिया फेलिक्स' कहलाता था। सच तो यह है कि यह नाम दक्षिणी अरब के उस बडे भाग का भी था, जो करीब-करीब ईरान की खाडी तक फैला हुआ है। पर इस इलाके के लिए यह नाम बिलकुल गैर-मौजूं है, क्योंकि यह तो वीरान रेगिस्तान है। पुराने ज़माने मे लोग शायद इसके बारे मे ज्यादा नही जानते थे, इसीलिए यह गलती हो गई। कुछ ही दिन पहले तक यह अनजाना प्रदेश था, जिसकी न तो कोई खोज की गई थी और न नकशा तैयार किया गया था।

: १६९ :

इराक़ और हवाई बमबारी की खूबियाँ

७ जून, १९३३

अब एक अरबी देश पर विचार करना बाकी रह गया है। यह है इराक़ या मैसोपोटामिया—दजला और फुरात नामक दो नदियो के बीच का हरा-भरा और उपजाऊ खण्ड, बगदाद और हारूं रशीद और अलिफलैला की पुरानी कहानियो की भूमि। यह ईरान व अरब के रेगिस्तान के बीच मे है। इसके दक्षिण मे इसका मुख्य बन्दरगाह बसरा है, जो ईरान की खाडी मे गिरनेवाली नदी के मुहाने से कुछ ऊपर हट कर है, उत्तर मे इसकी सरहद तुर्की से लगी हुई है। इराक़ और तुर्की की सरहदें कुर्दिस्तान मे मिलती हैं, जहाँ कुर्द लोग रहते हैं। इन कुर्दों की ज्यादातर सख्या आजकल तुर्की मे है, और तुर्कों के खिलाफ इनकी आज़ादी की लडाई का हाल मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। लेकिन बहुत-से कुर्द इराक़ मे भी हैं, और ये यहाँ की एक बडी अल्पसख्यक कौम हैं। मोसल, जो बहुत वर्षों तक इग्लैण्ड और तुर्की के बीच बखेडे की जड रहा था, अब इराक़ के इसी कुर्दी इलाके मे है, और इसका मतलब यह है कि वह अग्रेजो के इख्तियार मे है। मोसल के पास असीरियाइयो के प्राचीन नगर निनीवे के खण्डहर हैं।

इराक उन देशो मे से था, जिनके लिए राष्ट्रसघ ने इग्लैण्ड को 'फरमान' दिया था। राष्ट्रसघ की पाखण्डी भाषा मे 'फरमान' का अर्थ है राष्ट्रसघ के नाम पर सभ्यता की 'पवित्र धरोहर'। मतलब यह था कि 'फरमानी' प्रदेश के

निवासी न तो इतने आगे बढ़े हुए थे, और न अपने निजी हितो को सम्हालने के काबिल थे, इसलिए बडी शक्तियो के हाथो उन्हें इसके लिए मदद दिया जाना जरूरी था। इसके मुकाबले की कार्रवाई शायद यह होगी कि गायो या हिरनो के झुण्ड के हितो की रखवाली के लिए किसी शेर को तैनात किया जाय। कहा यह गया था कि ये 'फ़रमान' वहाँ की जनता की मांग पर दिये गए थे। पश्चिमी एशिया मे तुर्की राज से छुटकारा दिलाये हुए देशो के 'फरमान' इंग्लैण्ड और फ्रान्स के हिस्से पड़े। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, इन दोनो देशो की सरकारो ने घोषणा की थी कि उनकी एक ही इच्छा थी "इन क़ौमो की मुकम्मिल व साफ-साफ मुक्ति और ऐसी हुकूमतें व प्रशासन कायम करना, जिनकी सत्ता वही के निवासियो की पहल और आज़ाद पसन्द से निकली हुई हो"। पिछले बारह वर्षों मे इस नेक मशा को पूरा करने के लिए क्या-क्या कार्रवाइयाँ की गई हैं, उनकी कुछ झांकी हम सीरिया, फ़िलस्तीन और ट्रान्स-जॉर्डन मे देख चुके हैं, जहाँ बार-बार उपद्रव हुए और असहयोग हुआ और बायकाट हुआ। उस समय लोगो की "पहल और आज़ाद पसन्द" को बढ़ावा देने के लिए उन्हें गोलियो का शिकार बनाया गया, उनके नेताओ को देश से बाहर भेज दिया गया या निकाल दिया गया, उनके अखबारो का गला घोंट दिया गया, उनके शहर और गाँव बर्बाद कर दिये गए, और अक्सर फौजी कानून लागू कर दिया गया। इस तरह की घटनाएँ कोई नई चीज़ नही हैं। जबसे इतिहास लिखा जाना शुरू हुआ है, तभी से साम्राज्य-शाही शक्तियो ने खून-खराबी और बर्बादी और आतक का दिल खोलकर सहारा लिया है। आज के नमूने की साम्राज्यशाही की नई खासियत यह है कि वह अपने आतक और शोषण को 'अमानतदारी' और 'जनसमूह की भलाई' और 'पिछडी हुई क़ौमो को स्वराज की तालीम' वग़ैरा के पाखण्डभरे शब्दो के परदे मे छिपाने की कोशिश करती है। अगर वे गोलियाँ चलाते हैं और हत्याएँ करते हैं और बर्बादी करते हैं, तो सिर्फ उन लोगो की भलाई के लिए जो गोलियो से मारे जाते हैं। शायद यह पाखण्ड तरक्की का चिह्न हो, क्योंकि पाखण्ड का मतलब है नेकी की बडाई कबूल करना, और पाखण्ड इस बात को जाहिर करता है कि चूंकि सच्ची बात लोगो को पसन्द नही आती है, इसलिए उसे इस तरह के दिलासा देनेवाले और प्रशसा देनेवाले शब्दो मे लपेटकर छिपा लिया जाता है। पर कुछ भी हो, यह मक्कारीभरा पाखण्ड नगी सचाई के मुकाबले मे बहुत बदतर मालूम होता है।

अब हमे यह देखना है कि इराक मे वहाँ के निवासियो की तमन्नाओ को किस तरह पूरा किया गया, और इस देश ने ब्रिटिश 'फरमान' के मातहत आज़ादी की तरफ़ कैसे कदम बढाया है। महायुद्ध के दौरान अग्रेजो ने इराक को, जो उस समय मैसोपोटामिया कहलाता था, तुर्की के खिलाफ अपने जग का अड्डा बनाया था। उन्होने इस देश को ब्रिटिश व भारतीय फौजियो से भर दिया। अप्रैल, १९१६

ई० मे उन्होंने भारी शिकस्त खाई, जबकि जनरल टाउनशैण्ड के मातहत लड़नेवाली ब्रिटिश सेना को कुतल-अमारा मे तुर्कों के आगे हथियार डालने पड़े। मैसोपोटामिया अभियान मे जबर्दस्त बर्बादी और बद-इन्तज़ामी हुई, और चूंकि भारत-सरकार इसके लिए बहुत ज्यादा ज़िम्मेदार थी, इसलिए उसे अपनी नाकाबलियत व बेवकूफी की कड़ी आलोचनाएँ खूब सुननी पड़ी। फिर भी, अन्त में अंग्रेज़ो के बढ़िया साधनो ने अपना असर दिखाया, और उन्होंने तुर्कों को उत्तर की ओर खदेड दिया और बग़दाद पर कब्ज़ा कर लिया और बाद मे वे मोसल के नज़दीक जा पहुँचे। महायुद्ध का अन्त होते-होते समूचे इराक़ पर अंग्रेजी फौजो ने कब्ज़ा जमा लिया।

इंगलैण्ड को इराक का जो 'फरमान' दिया गया था, उसका पहला असर १९२० ई० के शुरू मे दिखाई दिया। इसके खिलाफ ज़ोरदार विरोध ज़ाहिर किया गया और इस विरोध ने बहुत जल्दी दगे-फिसाद का रूप ले लिया, और इन दगे-फिसादो ने बढते-बढते बगावत का रूप ले लिया, जो सारे देश मे फैल गई। यह अनोखा और दिलचस्प सयोग है कि १९२० ई० के इस पहले हिस्से में तुर्की, मिस्र, सीरिया, फिलस्तीन और इराक मे करीब-क़रीब एक ही साथ दगे-फिसाद हुए। उन दिनो भारत मे भी असहयोग-आन्दोलन की चर्चा थी। इराक की बग़ावत आखिरकार कुचल दी गई, और इसमे भारत के सिपाहियो ने ज्यादातर मदद दी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही का गन्दा काम करना बहुत वर्षों से भारतीय सेना का अमल रहा है, और इसी वजह से मध्य-पूर्व व दूसरी जगहो मे हमारे देश की काफी बदनामी हो गई है।

अंग्रेज़ो ने इराक़ की बग़ावत को कुछ तो ताक़त से और कुछ आयन्दा स्वाधीनता का यकीन दिलाकर ठण्डा कर दिया। उन्होंने अरबी मन्त्रियों की कामचलाऊ सरकार कायम की, लेकिन हर मन्त्री के साथ एक-एक अंग्रेज़ सलाहकार लगा दिया, जिसके हाथ मे असली सत्ता थी। लेकिन ये सीधे-सादे और नामज़द मन्त्री तक भी इतने सरगर्म साबित हुए कि अंग्रेज़ो को पसन्द न आये। ब्रिटिश सरकार की योजनाओ का तकाजा था कि इराक पूरी तरह उसका ताबेदार बन जाय, पर कुछ मन्त्रियो ने उसका साथ देने से इन्कार कर दिया। इसलिए अप्रैल, १९२१ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने मन्त्रियो के नेता सैयद तालिबशाह को, जो सबसे काबिल था, गिरफ्तार करके देश से निकाल दिया, और इस तरह देश को स्वाधीनता के लिए तैयार करने की दिशा मे दूसरा कदम उठाया गया। १९२१ ई० की गर्मियो मे ब्रिटिश सरकार हिजाज़ से हुसैन के पुत्र फैसल को पकड़ लाई और उसे इराकियो को उनके होनेवाले बादशाह की तरह भेंट कर दिया। तुम्हें याद होगा कि फैसल उन दिनो बेकार था, क्योंकि सीरिया मे इसने जो दाँव

झेला था वह फ्रान्सीसी हमले के सामने बिलकुल ढेर हो गया था। अंग्रेजो का यह भला दोस्त था, और महायुद्ध के दौरान मे इसने तुर्की के खिलाफ अरबो के विद्रोह मे खास हिस्सा लिया था। इसलिए, अंग्रेजो के मनसूबों के साथ इसके हाँ-मे-हाँ मिलाने की उससे ज्यादा उम्मीद थी, जितनी कि देशी मन्त्रियो ने अबतक पूरी की थी। 'नामवर' लोग, मालदार मध्यम-वर्ग के लोग, और दूसरे बड़े-बड़े आदमी फ़ैसल को इस शर्त पर अपना बादशाह बनाने के लिए राजी हो गये कि लोकतन्त्री पार्लमेण्टवाली सविधानी हुकूमत कायम की जायगी। इस मामले मे उनके लिए कोई चारा तो था ही नही। पर वे चाहते थे कि जो पार्लमेण्ट बने वह असली हो और चूंकि फ़ैसल तो हर हालत मे बादशाह होने ही वाला था, इसलिए उन्होंने पार्लमेण्ट की यह शर्त रख दी। आम जनता की इस बारे मे कोई राय नही ली गई। बस, अगस्त, १९२१ ई० मे फ़ैसल बादशाह बन गया।

लेकिन समस्या का यह कोई हल नही था, क्योंकि इराक की जनता ब्रिटिश 'फ़रमान' की कट्टर विरोधी थी, और पूरी स्वाधीनता व बाद मे दूसरे अरबी देशों के साथ एक होना चाहती थी। शोर-गुल व प्रदर्शन जारी रहे, और एक साल बाद, अगस्त, १९२२ ई० मे, मामला नाजुक हो गया। तब ब्रिटिश अधिकारियो ने इराकियों को स्वाधीनता का एक और सबक़ पढ़ाया। ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर पर्सी कॉक्स ने बादशाह (जो उस समय बीमार पड़ा हुआ था) के अधिकारो को, और साथ ही मन्त्रियों के और इराक को दी गई कौन्सिल के अधिकारो को, खत्म कर दिया और हुकूमत की सारी बागडोर खुद अपने हाथो मे ले ली। सच तो यह है कि वह एक-छत्र तानाशाह बन गया। उसने अपनी मनमानियो पर जबरन अमल करवाया, और अंग्रेजी फ़ौजो की मदद से, और खासकर ब्रिटिश हवाई फौज की मदद से, उपद्रवों को दबा दिया। वही पुराना किस्सा, जो जुदा-जुदा रूपो मे भारत, मिस्र, सीरिया, वग़ैरा मे हर जगह हुआ, यहाँ भी दोहराया गया। राष्ट्रवादी अखबार बन्द कर दिये गये, राजनीतिक दल तोड दिये गए, नेताओं को देश-निकाला दे दिया गया, और ब्रिटिश हवाई-जहाजो ने अपने बमो से ब्रिटिश-साम्राज्य की जबर्दस्त ताक़त साबित कर दी।

मगर फिर भी यह समस्या का हल नही था। कुछ महीनो के बाद सर पर्सी कॉक्स ने बादशाह और मन्त्रि-मण्डल को जाहिरा तौर पर अपना काम करने की इजाजत दे दी, और उन्हें इंग्लैण्ड के साथ सन्धि करने पर राजी करा लिया। यह यक़ीन फिर दिलाया गया कि इराक को स्वाधीनता हासिल कराने मे इंग्लैण्ड उसकी मदद करेगा, और उसे राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बना लेगा। मगर इन लच्छेदार और दिलासाभरे वायदो के पीछे ठोस हकीकत यह थी कि इराक सरकार को इस बात पर राजी होने के लिए मजबूर किया गया कि वह अपना राज-काज अंग्रेज

अफ़सरो की मदद से, या इग्लैण्ड के मजूरशुदा अफसरो की मदद से चलावे। अक्तूबर, १९२२ ई० की यह सन्धि जनता की राय के खिलाफ की गई थी, और उसने इसे लानत दी। लोगो ने साफ कह दिया कि अरबी सरकार सिर्फ ढकोसला है और असली सत्ता पहले की तरह ही अग्रेज़ अधिकारियो के हाथ मे है। नेताओ ने फैसला किया कि आयन्दा सविधान का मसौदा बनाने के लिए जो राष्ट्रीय सविधान-सभा बुलाई जानेवाली थी, उसके चुनावो का बायकाट किया जाय। यह असहयोग सफल हुआ और सविधान-सभा बुलाई ही न जा सकी। टैक्सो की वसूली मे भी दगे हुए, और मुश्किलें आई।

साल-भर से ज्यादा, यानी १९२३ ई० के शुरू से आखीर तक, ये गडबडियाँ चलती रही। आखिरकार, इस सन्धि मे इराक के हक मे कुछ परिवर्तन किये गए और हलचल मचानेवालो के कुछ नेताओ को देश-निकाला दे दिया गया। इससे आन्दोलन कुछ ठण्डा पडा, और १९२४ ई० के शुरू मे सविधान-सभा के चुनाव किये जा सके। पर इस सभा ने भी ब्रिटिश-सन्धि का विरोध किया। इसपर ब्रिटिश सरकार ने सविधान-सभा पर जोरदार दबाव डाला, और अन्त मे एक-तिहाई से कुछ ज्यादा सदस्यो ने सन्धि पर मजूरी की मोहर लगा दी, क्योकि डिपुटियो की बडी सख्या इस अधिवेशन मे हाज़िर ही नही थी।

सविधान-सभा ने इराक के लिए नये सविधान का मसौदा बनाया, और कागज़ पर तो यह वाजिब ही मालूम देता था, क्योकि इसमे यह तजवीज़ थी कि इराक सविधानी मौरूसी बादशाहत और पार्लमेण्टी ढग की हुकूमतवाला पूरा सत्ताधीश और स्वाधीन आज़ाद राज्य है। लेकिन पार्लमेण्ट के दो सदनो मे से एक-सीनेट बादशाह का नामज़द होनेवाला था। इस तरह बादशाह के हाथ मे बहुत बडी शक्ति थी, और बादशाह की पीठ पर अग्रेज़ अफसर थे, जो कुजीवाले ओहदो पर बैठे हुए थे। यह सविधान मार्च, १९२५ ई० मे लागू हुआ, और पार्लमेण्ट ने कुछ वर्षों तक अपना काम किया, पर 'फरमान' के खिलाफ आवाज़ें उठती रही। मोसल के बारे मे इग्लैण्ड व तुर्की के बीच तकरार पर लोगो का बहुत-सा ध्यान सिमटकर लगा रहा, क्योकि इस इलाके के लिए इराक़ भी दावेदार था। जून, १९२६ ई० मे इग्लैण्ड, इराक व तुर्की की आपसी शामिल सन्धि से यह झगडा आख़िरी तौर पर तय हो गया। मोसल इराक को दे दिया गया, और चूंकि इराक़ तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही की छाया मे है ही, इसलिए इस तरह ब्रिटिश स्वार्थों की हिफाज़त हो गई।

जून, १९३० ई० मे इग्लैण्ड और इराक के बीच दोस्ती की नई सन्धि हुई। अन्दरूनी और विदेशी दोनो मामलो मे इराक की पूरी स्वाधीनता इस बार फिर मान ली गई। पर इसमे जो पाबन्दियाँ और शर्तें रक्खी गई थीं, वे ऐसी थी कि

उनसे इस स्वाधीनता का रूप बदलकर ढकी हुई सरपरस्ती की हुकूमत बन जाता था। भारत को जानेवाले रास्ते की हिफाजत के लिए, जिसे सन्धि मे इंग्लैण्ड के 'आवा-जाई के ज़रूरी ज़रिये' कहा गया है, इराक इंग्लैण्ड को हवाई अड्डो के लिए जगहें देता है। इंग्लैण्ड मोसल मे व दूसरी जगहो पर अपने फौजी सिपाही भी हमेशा रखता है। इराक फौजी तालीम के लिए सिर्फ अंग्रेजो को ही रख सकता है, और इराकी फौजो मे अंग्रेज अफसर सलाहकारो की हैसियत से काम करेंगे। हथियार गोला-बारूद और हवाई-जहाज़ इंग्लैण्ड से ही हासिल किये जायँगे। अगर युद्ध छिड जाय तो दुश्मन के खिलाफ युद्ध-जैसी कार्रवाइयों के लिए देश मे इंग्लैण्ड को सब तरह की सुविधाएँ दी जायँगी। इस तरह मोसल के आस-पास के जगी अहमियतवाले मुकामो तुर्की व ईरान पर, या अजरबाइजान मे सोवियतो पर, इंग्लैण्ड आसानी से वार कर सकता है।

इस सन्धि के फौरन बाद ही, १९३१ ई० मे इंग्लैण्ड और इराक के बीच एक न्यायिक (जुडीशल) करार हुआ, जिसमे इराक ने वचन दिया है, कि वह एक ब्रिटिश न्यायिक सलाहकार, अपील की अदालत का अंग्रेज़ अध्यक्ष, और बगदाद, बसरा, मोसल वगैरा मे अदालतो के अंग्रेज़ अध्यक्ष तनख्वाहें देकर रक्खेगा।

इन शर्तो के अलावा भी यह नजर आता है कि इराक मे अंग्रेज़ अफसरो ने बहुत-से ऊँचे ओहदों को घेर रक्खा है। इसलिए अमल मे यह 'स्वाधीन' देश एक तरह मे इंग्लैण्ड का पलुआ देश है, और इसको पक्का करनेवाली १९३० ई० की दोस्ती की सन्धि पच्चीस वर्ष के लिए है।

हालाँकि पार्लमेण्ट ने १९२५ ई० मे नये सविधान की मजूरी के बाद से ही अपना काम चालू कर दिया था, पर जनता ज़रा भी खुश नही थी, और दूर के इलाकों में कभी-कभी फिसाद हो जाते थे। कुर्दी इलाको मे तो खासतौर पर यह बात थी। यहाँ बार-बार उपद्रव हुए, जिन्हें ब्रिटिश हवाई फौज ने बमबारी की व समूचे गाँवों के सत्यानाश की हलकी-सी कार्रवाई से दबा दिया। १९३० ई० की सन्धि के बाद, अंग्रेजो की छत्रछाया मे इराक को राष्ट्रसघ का सदस्य बनाये जाने का सवाल उठा। पर देश मे शान्ति नही थी और फिसाद चालू थे। यह न तो 'फ़रमानी' शक्ति इंग्लैण्ड के लिए नामवरी की बात थी और न शाह फैसल की मौजूदा सरकार के लिए। क्योंकि ये विद्रोह इस बात के काफी सबूत थे कि जनता उस हुकूमत से खुश नही थी, जो ब्रिटिश सरकार ने उसपर जबरन थोप दी थी। इन मामलो का राष्ट्रसघ के सामने आना बहुत बुरा समझा गया, इसलिए इन उपद्रवो को डण्डे के ज़ोर से और आतक की कार्रवाइयो से खत्म करने के लिए खास ज़ोर लगाया गया। इस काम के लिए ब्रिटिश हवाई फौज का इस्तेमाल किया गया, और शान्ति व अमन कायम करने के इन जतनो का क्या नतीजा हुआ, यह कुछ हद तक एक ऊँचे अंग्रेज़ अफसर के बयान से जाना जा सकता है। लैफ्टिनेन्ट

कर्नल सर आर्नोल्ड विल्सन ने ८ जून, १९३२ ई० को लन्दन की रॉयल एशियन सोसाइटी के सालाना जलसे पर दिये गए अपने भाषण मे ज़िक्र किया था कि किस

"ढिठाई के साथ (जेनेवा की घोषणाओ के बावजूद) रॉयल एयर फ़ोर्स पिछले दस वर्षों से, और खासकर गुज़रे छै महीनो मे, कुर्दिस्तान के निवासियो पर बमबारी करता रहा। 'टाइम्स' के विशेष सवाददाता के शब्दो मे, तबाह किये गए गाँव, कत्ल किये गए मवेशी, अग-भग किये गए स्त्रियाँ और बच्चे, सभ्यता के एक-समान नमूने का सबूत देते है।"

जब यह पता लगा कि गाँवो के लोग हवाई-जहाज़ की आवाज़ पर भाग जाते थे और छिप जाते थे, और इतनी भी खिलाडी की भावना नही थी कि जबतक बमों से मर न जायँ तबतक बमो का इन्तज़ार करते रहें, तो देर से फटनेवाले नई किस्म के बमो का इस्तेमाल किया गया। ये बम गिरने पर नही फटते थे, बल्कि इस तरह बँधे हुए होते थे कि कुछ देर बाद फटते थे। इस शैतानी फरेब का मक़सद यह था कि हवाई-जहाज़ो के चले जाने पर गाँव के लोग धोखे मे आकर अपनी झोपडियो मे लौट आवें और फिर बम के फटने से घायल हो जायँ। जो लोग मर जाते थे, उनकी किस्मत एक तरह से अच्छी थी। जो अपग हो जाते थे, जिनके हाथ-पाँव कभी-कभी कटकर जा पडते थे, वे बहुत ज्यादा बदनसीब थे, क्योंकि दूर-दूर के उन गाँवो मे डॉक्टरी इलाज का कोई इन्तज़ाम नही था।

बस, इस तरह शान्ति व अमन फिर कायम कर दिये गए और ब्रिटिश सरकार की छत्र-छाया मे इराक ने अपनेको राष्ट्रसघ के सामने पेश किया, और उसे सदस्य बना लिया गया। कहा जाता है, और यह सही भी है, कि इराक को 'बमों के ज़रिये' राष्ट्रसघ मे फेंक दिया गया।

राष्ट्रसघ का सदस्य-राज्य बन जाने की वजह से इराक़ पर ब्रिटिश 'फ़रमान' खत्म हो गया है। उसकी जगह अब १९३० ई० की सन्धि ने ले ली है, जिसके मातहत इस राज्य पर अग्रेज़ो का कारगर इख्तियार पक्का हो गया है। इस सूरते-हाल पर नाराज़ी बराबर जारी है, क्योंकि इराक की जनता मुकम्मिल आज़ादी और अरबी देशो के साथ एक होना चाहती है। राष्ट्रसघ का सदस्य होने में उनकी ज्यादा दिलचस्पी नही है, क्योंकि पूर्व की दूसरी सताई हुई कौमो की तरह वे समझते हैं कि राष्ट्रसघ को तो यूरोप की बडी शक्तियो ने अपने उपनिवेशी व दूसरे स्वार्थ साधने का महज़ औज़ार बना रक्खा है।[1]

[1] शाह फैसल की मृत्यु सितम्बर, १९३३ ई० में हो गई। इसके बाद इसका पुत्र गाज़ी प्रथम गद्दी पर बैठा, जिसका १९३९ ई० मे एक दुर्घटना में प्राणान्त हो गया। इसके बाद इसका बालक पुत्र गद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

अब हमने अरबी कौमो का सिंहावलोकन पूरा कर दिया है। तुमने गौर किया होगा कि महायुद्ध के बाद भारत व दूसरे पूर्वी देशो के साथ-साथ ये सब भी राष्ट्रीयता की लहर से किस तरह ज़ोरो के साथ उमड उठे थे। ऐसा मालूम होता था कि सबमे एक साथ बिजली की धारा चल रही है। दूसरा मार्के का पहलू था सबका एक ही तरह के तरीके अपनाना। इनमे से बहुत-से देशो मे बगावतें और ख़ूनी उपद्रव हुए, पर धीरे-धीरे वे असहयोग और बायकाट की नीति का दिन-पर-दिन ज्यादा सहारा लेने लगे। इसमे कोई शक नही कि मुकाबले मे अडने के इस नये तरीके का रिवाज भारत ने ही १९२० ई० मे डाला था, जबकि काग्रेस गाधीजी के दिखाये रास्ते पर चली थी। असहयोग और विधान-मण्डलो के बायकाट का विचार भारत से ही पूर्व के दूसरे देशो मे फैला है, और राष्ट्रीय आज़ादी की लडाई का यह एक जाना-माना और अक्सर अमल मे आनेवाला तरीका बन गया है।

साम्राज्यवादी अधिकार के अंग्रेज़ी और फ्रान्सीसी तरीको मे एक दिलचस्प फ़र्क की तरफ़ मैं तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ। इंग्लैण्ड ने अपने सारे उपनिवेशी देशो मे सामन्ती, ज़मीदारो, और सबसे ज्यादा दकियानसी व पिछडे हुए वर्गों से गठ-बन्धन का जनन किया। यह चीज़ हम भारत मे, मिस्र मे और कई जगह देख चुके हैं। उसने अपने उपनिवेशी देशो मे डाँवाडोल राजगद्दियाँ कायम की, और उनपर प्रगति-विरोधी शासको को बिठा दिया, क्योकि वह अच्छी तरह जानता था कि ये उसकी मदद करेंगे। बस, उसने मिस्र मे फुआद को, इराक मे फ़ैसल को और ट्रान्स-जॉर्डन मे अब्दुल्ला को बिठाया, और हिजाज़ मे हुसैन को बिठाने की कोशिश की। दूसरी ओर फ्रान्स खुद ही अपने नमूने का मध्यम-वर्गी देश होने के सबब से उपनिवेशी देशो के कुछ मध्यमवर्गों मे, यानी उठते हुए मध्यमवर्गों मे अपना सहारा ढूँढने की कोशिश करता है। मसलन सीरिया मे उसने सहारे के लिए ईसाई मध्यमवर्गो पर नज़र डाली। इंग्लैण्ड और फ्रान्स दोनो ही अपने अधीन उपनिवेशी देशो मे ज्यादातर इस नीति पर अमल करते हैं कि विरोध करनेवाली राष्ट्रीयता को फूट डालकर कमज़ोर कर देना, और मज़हबी, अल्पसख्यक और नस्ली समस्याएँ खडी कर देना। मगर सारे पूर्व मे राष्ट्रीयता धीरे-धीरे इन भेद-भावो को दबाती जा रही है, और शायद यह चीज़ इतनी कही नही हो रही, जितनी कि मध्य-पूर्व के अरबी देशो मे, जहाँ मज़हबी फिरके आम राष्ट्रीयता के आदर्श के आगे कमज़ोर पडते जा रहे हैं।

ऊपर मैंने इराक मे इंग्लैण्ड के रॉयल एयर फोर्स की कार्रवाइयो का ज़िक्र किया है। पिछले करीब बारह वर्षो से ब्रिटिश सरकार की यह साफ-साफ नीति बन गई है कि अपने नीम-उपनिवेशी देशो मे नामधारी 'पुलिस कार्रवाई' के लिए हवाई-जहाज़ो का इस्तेमाल करना। जहाँ कुछ हदतक स्वराज दे दिया गया है और जहाँ का प्रशासन बहुत-कुछ देशी हो गया है, वहाँ यह नीति ख़ासतौर पर बरती जाती है। इन देशों मे अब कब्ज़ा जमानेवाली सेनाएँ या तो रक्खी नही

जाती या उन्हें बहुत कम कर दिया गया है। इसमे बहुत लाभ हैं। एक तो बहुत-सा खर्च बच जाता है, दूसरे, देश पर फौजी कब्ज़ा कम नज़र आने लगता है। साथ ही हवाई-जहाज़ो व बमो के ज़रिये स्थिति उनके पूरे काबू मे रहती है। इस तरह, स्वाधीन इलाको मे हवाई-जहाज़ो से बमबारी का इस्तेमाल बहुत ज्यादा बढ़ गया है, और इग्लैण्ड इस तरीके का जितना ज्यादा इस्तेमाल करता है उतना शायद दूसरी कोई शक्ति नही करती। इराक के बारे मे तो मैं बतला ही चुका हूँ। यही किस्सा भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के लिए दोहराया जा सकता है, जहाँ इस तरह की बमबारी लगातार और बार-बार का वाक़या हो गई है।

शायद यह तरीका फौजें भेजने के पुराने तरीके से ज्यादा सस्ता और ज्यादा जल्दी का है। पर यह तरीका निहायत ज़ालिमाना और भयानक है। सच तो यह है कि ऐसी किसी चीज़ की कल्पना ही कठिन है, जो बम गिराने और खासकर देर से फटनेवाले बम गिराने, और बेगुनाहो व गुनहगारो की एकसार हत्या करने के तरीके से ज्यादा नफरत पैदा करनेवाली व वहशियाना हो। इस तरीके से दूसरे देश पर हमला करना भी बहुत आसान हो जाता है। इसलिए इसके खिलाफ़ हो-हल्ला मच गया है, और शहरी आबादियो पर हवाई हमलो के वहशीपन के खिलाफ जेनेवा मे राष्ट्र-सघ मे बडे असरदार भाषण दिये जाते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका समेत सारे राष्ट्र इस पक्ष मे थे कि हवाई बमबारी बिलकुल बन्द कर दी जाय। लेकिन इग्लैण्ड अपने उपनिवेशो मे 'पुलिस कार्रवाइयो' के लिए हवाई-जहाज़ो के इस्तेमाल का अधिकार अपने हाथ मे रखने पर अडा रहा, और इसलिए राष्ट्र-सघ मे और १९३३ ई० के निरस्त्रीकरण-सम्मेलन मे इस बात पर कोई आपसी समझौता नही हो पाया।

: १७० :

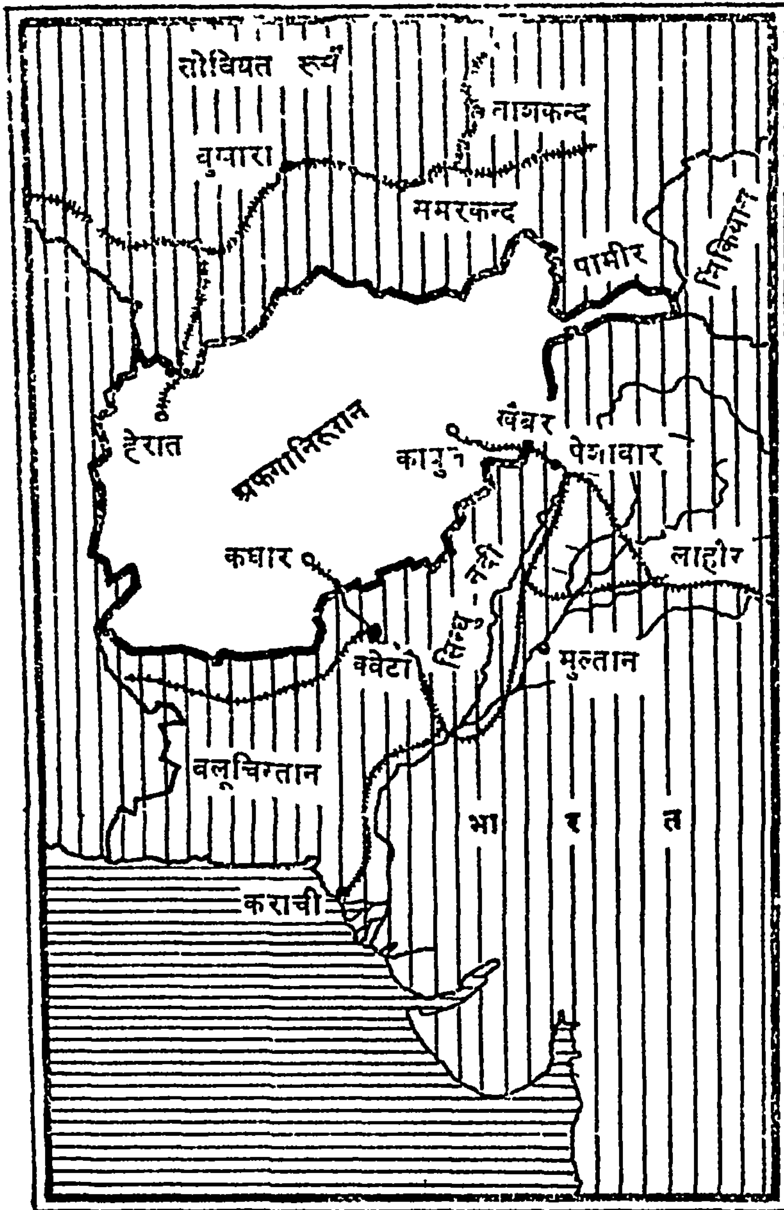
अफ़ग़ानिस्तान और एशिया के कुछ और देश

८ जून, १९३३

इराक के पूर्व मे ईरान फैला हुआ है और ईरान के पूर्व में अफग़ानिस्तान फैला हुआ है। ईरान और अफगानिस्तान दोनो भारत के पडौसी हैं, क्योंकि ईरान की सरहद कई सौ मील तक (बलूचिस्तान) मे भारत से लगती है, और अफग़ानिस्तान व भारत, बलूचिस्तान के ठेठ पश्चिमी सिरे से लगाकर हिन्दूकुश के उत्तरी पहाडो तक,—जहाँ भारत अपना बर्फ से ढँका माथा मध्य-यूरोप के सीने पर आराम से टिकाये हुए है और नीचे सोवियत प्रदेशो मे नज़र डाल रहा है,—करीब एक हज़ार मील तक अगल-बगल फैले हुए हैं।[1] ये तीनो देश सिर्फ पडौसी

[1] हिन्दुस्तान के विभाजन के बाद ये सीमाएँ अब पाकिस्तान मे चली गई हैं, और ईरान तथा अफग़ानिस्तान भारत के पड़ौसी नहीं रहे।

अफ़ग़ानिस्तान


सोवियत रूस
ताशकन्द
बुखारा
समरकन्द
पामीर
सिंकियांग
अफ़ग़ानिस्तान
हेरात
खैबर
काबुल
पेशावर
कंधार
लाहौर
सिन्धु-नदी
क्वेटा
मुल्तान
बलूचिस्तान
भा र त
कराची

ही नही हैं, बल्कि नस्ली लिहाज से भी इनमे एक ही खून है, क्योंकि इन सबमें आर्य नस्ल के लोग सबसे ज्यादा हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, सस्कृति के लिहाज से गुजरे जमाने मे इनमे बहुत-सी बातें एक-समान रही है। कुछ ही दिन पहले तक उत्तर भारत मे फारसी भाषा विद्वानो की भाषा गिनी जाती थी, और यह अभी तक भी चल रही है, खासकर मुसलमानो में। अफगानिस्तान मे तो फारसी अभी तक दरबारी भाषा है, हालाँकि अफगानो की आम भाषा पश्तो है।

ईरान के बारे मे जितना मैं पिछले पत्रो मे लिख चुका हूँ, उससे ज्यादा कुछ नही लिखना चाहता। पर अफग़ानिस्तान की हाल की घटनाओ का थोडे मे बयान करना जरूरी है। अफगानी इतिहास एक तरह से भारतीय इतिहास का ही टुकडा है; असल मे बहुत वर्षों तक अफगानिस्तान भारत का ही भाग था। अलग होने के बाद से, और खासकर पिछले सौ वर्षों से ऊपर के समय मे, यह रूस और इग्लैण्ड के दो महान् साम्राज्यो के बीच झोक झेलनेवाला राज्य रहा है। रूसी साम्राज्य तो मिट चुका है और उसकी जगह सोवियत-सघ ने ले ली है, पर अफग़ानिस्तान अभी तक वही पुराना झोक झेलनेवाला काम कर रहा है, जहाँ अग्रेजो और रूसियो की साँठ-गाँठें चलती रहती हैं, और दोनो अपना-अपना पौवा जमाने की कोशिश मे रहते हैं। उन्नीसवी सदी मे इन साज़िशो ने बढ़कर इग्लैण्ड और अफग़ानिस्तान के बीच युद्ध का रूप ले लिया, जिसके नतीजे से अग्रेजो को आफ़तें तो बहुत झेलनी पडी, पर अन्त मे उनकी प्रभुता कायम हो गई। अफग़ानी राज-घराने के कितने ही व्यक्ति नज़रबन्दो की तरह उत्तर भारत मे अभी तक इधर-उधर बसे हुए हैं, और हमे अफगानिस्तान मे इग्लैण्ड की दस्तन्दाजी की याद दिलाते हैं। यहाँ अग्रेजों से दोस्ती रखनेवाले अमीरो का राज रहा, और अफग़ानिस्तान की विदेशी नीति तो साफ-साफ अग्रेजो के इख्तियार मे रक्खी गई। पर ये अमीर कितने ही दोस्ताना क्यो न हो, उनपर पूरी तरह भरोसा नही किया जा सकता था, इसलिए ब्रिटिश सरकार की ओर से उन्हें हर साल बडी-बडी रक़मे सरकारी मदद के तौर पर दी जाती थी। अमीर अब्दुल रहमान, जिसकी लम्बी बादशाही १९०१ ई० मे खत्म हुई, इसी तरह का अमीर था। इसके बाद अमीर हबीबुल्ला गद्दी पर बैठा। यह भी अग्रेजो की तरफ ही बहुत झुका हुआ था।

अफगानिस्तान को भारत की अग्रेज़ी हुकूमत का सहारा इसलिए लेना पडा कि दुनिया के नकशे मे इसकी जगह ही ऐसी है। नकशे मे, तुम देखोगी कि ब्लूचिस्तान के बीच मे आने से इसका समुद्र से लगाव कट गया है। इसलिए इसकी हालत उस मकान जैसी है जिसे आम रास्ते पर पहुँचने के लिए दूसरे की जमीन पर होकर गुज़रने के सिवाय कोई चारा न हो। और यह बडी झझट का मामला है। अफ़ग़ानिस्तान के लिए बाहरी दुनिया से सम्बन्ध कायम रखने का सबसे आसान

रास्ता भारत होकर था। अफ़गानिस्तान के उत्तर के रूसी प्रदेशो मे उन दिनो आवा-जाई के अच्छे साधन नही थे। मेरा खयाल है कि हाल मे सोवियत सरकार ने रेलमार्ग डालकर और हवाई व मोटर सेवाओ को बढावा देकर आवा-जाई के साधनो का विकास किया है। बस, चूंकि अफ़गानिस्तान के लिए भारत ही दुनिया की तरफ़ खुलनेवाला दरवाज़ा था, इसलिए ब्रिटिश सरकार उसपर कई तरह से दबाव डालकर इस कमज़ोरी का फ़ायदा उठा सकती थी। समुद्र तक पहुँचने मे अफ़गानिस्तान की यह दि.कत, देश के सामने खडी हुई एक बहुत बडी समस्या है।

१९१९ ई० के शुरू मे अफ़गानी राजदरबार की साजिशें और लाग-डॉट भीतर से ऊपर को निकलकर फूट पडी, और राजमहलो की दो लगातार क्रान्तियाँ तुर्त-फुर्त हो गईं। मुझे यह ठीक तरह नही मालूम कि परदे के पीछे क्या-क्या हुआ और इन परिवर्तनो के लिए कौन ज़िम्मेदार था। अमीर हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई, और उसके बाद उसका भाई नसरुल्ला अमीर हुआ। लेकिन नसरुल्ला भी बहुत जल्दी हटा दिया गया, और हबीबुल्ला का एक छोटा पुत्र अमानुल्ला अमीर बना। गद्दी पर बैठते ही उसने १९१९ ई० मे भारत पर एक छोटा-सा हमला कर दिया। इस हमले का उस व त भडकानेवाला ठीक क्या कारण था या पहल किसकी तरफ से हुई, यह मुझे नही मालूम। शायद अमानुल्ला ब्रिटिश सरकार का किसी भी तरह मोहताज बनने से सख्त नाराज़ था और अपने देश की पूरी स्वाधीनता कायम करना चाहता था। शायद उसने यह भी सोचा हो कि हालतें उसके माफ़िक थी। तुम्हें याद होगा कि उन दिनो पजाब मे फौजी कानून लागू था, भारत मे चारो तरफ असन्तोष था, और खिलाफ़त के सवाल पर मुसलमानो की हलचल ज़ोर पकड रही थी। सबब या लोभ कुछ भी रहे हो, अग्रेज़ो के साथ अफ़ग़ानो का युद्ध छिड गया। पर यह युद्ध बहुत ही थोडे दिन चला और लडाई भी बहुत कम हुई। फौजी हैसियत से भारत मे अग्रेज़ लोग अमानुल्ला से अलबत्ता बहुत ज्यादा ताकतवर थे, मगर वे लडने को तैयार नही थे और कुछ मामूली वारदातो से ही वे अफ़ग़ानो के साथ राज़ीनामा करने को तैयार हो गये। नतीजा यह हुआ कि अफ़गानिस्तान को स्वाधीन देश मान लिया गया, और दूसरे देशो के साथ विदेशी रिश्तो के मामले मे उसका पूरा इख्तियार कबूल कर लिया गया। इस तरह अमानुल्ला ने अपना उद्देश्य हासिल कर लिया, और यूरोप व एशिया मे हर जगह उसकी शान बढ गई। अग्रेज़ो का तो उससे नाराज़ होना लाज़िमी ही था।

अमानुल्ला ने अपने देश मे जो नई नीति बरती, उससे लोगो का ध्यान उसकी ओर और भी खिचने लगा। यह नीति थी पश्चिमी ढग पर तेज़ी के साथ सुधार, जिसे अफ़गानिस्तान का 'पश्चिमीकरण' कहा जाता है। इस काम मे

उसकी बेगम सुरैय्या ने उसे बहुत सहायता दी। उसने यूरोप मे कुछ शिक्षा पाई थी, और बुर्क़े मे स्त्रियो का परदा उसे बहुत अखरता था। इस तरह एक पिछडे हुए देश को कुछ ही दिनो मे बदल डालने का, यानी अफ़ग़ानो को ढकेलकर और पुराने ढर्रे मे से निकालकर नये रास्ते पर डालने का अनोखा सिलसिला शुरू हुआ। मालूम होता है कि अमानुल्ला ने मुस्तफा कमाल पाशा को अपना नमूना बनाया था, और कई बातो मे उसकी नकल करने की कोशिश की, यहाँतक कि अफ़ग़ानो को कोट-पतलून और यूरोपीय टोप भी पहना दिये, और उनकी दाढियाँ भी मुँडवा दी। पर अमानुल्ला मे मुस्तफा कमाल जैसी हिम्मत और काबलियत नही थी। मुस्तफा कमाल ने अपने झाड्-फेर सुधारो की शुरुआत करने से पहले राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से अपनी हैसियत खूब मज़बूत बना ली थी। उसकी पीठ पर एक मुस्तैद व सगीन फौज थी और अपने तमाम देशवासियो पर ज़बर्दस्त रोब था। पर अमानुल्ला इन पेशबन्दियो के बिना ही आगे बढ गया और उसे बहुत ज्यादा मुश्किलें उठानी पडी, क्योकि अफगान लोग किसी भी तुर्क से बहुत ज्यादा पिछडे हुए थे।

लेकिन काम बिगड जाने पर समझदारी की बातें करना आसान होता है। अपने राजकाल के शुरू के वर्षों मे अमानुल्ला मानो सारी रुकावटो को पार करता चला गया। उसने बहुत-से अफगान लडको व लडकियो को शिक्षा पाने के लिए यूरोप भेजा। उसने अपने राजकाज मे बहुत-से सुधार शुरू किये। उसने अपने पडौसी देशो और तुर्की के साथ सन्धियाँ करके अन्तर्राष्ट्रीय मामले मे अपनी हैसियत मज़बूत बनाई। सोवियत रूस ने चीन से लगाकर तुर्की तक सारे पूर्वी देशो के साथ जान-बूझकर शरीफाना और दोस्ताना नीति अपनाई थी, और तुर्की व ईरान को विदेशी पजे से छुटकारा दिलाने मे रूस की यह दोस्ती और सहायता बडा भारी हेतु बनी थी। १९१९ ई० मे इग्लैण्ड के साथ चन्दरोज़ा युद्ध मे अमानुल्ला ने जिस आसानी से अपना मकसद हासिल कर लिया था, उसका भी यह बडा हेतु रही होगी। बाद के वर्षों मे, सोवियत रूस, तुर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान, इन चार शक्तियो के बीच काफी सन्धियाँ और आपसी कौल-करार हुए। इन सबके बीच कोई शामिल सन्धि नही हुई, या किन्ही तीन के बीच भी नही हुई। हरेक ने बाक़ी तीन के साथ अलग-अलग और बहुत कुछ मिलती-जुलती सन्धियाँ की। इस तरह मध्य-पूर्व मे, इनसब देशो की ताकत बढानेवाली सन्धियो का जाल-सा बिछ गया। यहाँपर मैं इन सन्धियो की सिर्फ सूची, उनकी तारीखो के, साथ देता हूँ

तुर्की-अफगान सन्धि	१० फरवरी, १९२१ ई०
सोवियत-तुर्की सन्धि	१७ दिसम्बर, १९२५ ई०
तुर्की-ईरान सन्धि	२२ अप्रैल, १९२६ ई०

सोवियत-अफगान सन्धि	३१ अगस्त, १९२६ ई०
सोवियत-ईरान सन्धि	१ अक्तूबर, १९२७ ई०
ईरान-अफगान सन्धि	२८ नवम्बर, १९२७ ई०

ये सन्धियां सोवियत कूटनीति की शानदार जीत थी, मगर मध्य-पूर्व मे अग्रेजो के असर पर गहरी चोट थी। कहना न होगा कि ब्रिटिश सरकार ने इन पर सख्त ऐतराज़ किया और अमानुल्ला की सोवियत रूस के साथ दोस्ती को, और रूस की तरफ़ झुकाव को तो, खासतौर पर नापसन्द किया।

१९२८ ई० के शुरू मे अमानुल्ला और बेगम सुरैय्या अफगानिस्तान से यूरोप के शानदार दौरे पर रवाना हुए। वे रोम, पेरिस, बर्लिन, लन्दन, मास्को, वगैरा, यूरोप की कई राजधानियो मे गये और हर जगह उनकी खूब आव-भगत हुई। ये तमाम देश व्यापार व राजनीति के मतलबो से अमानुल्ला को खुश रखना चाहते थे। उसे कीमती तोहफे भी दिये गए। पर उसने राजनयिको जैसा खेल खेला और किसी बात की हामी नही भरी। लौटते समय वह तुर्की और ईरान होता हुआ आया।

उसके लम्बे दौरे ने लोगो का ध्यान खूब खीचा। इन दौरे ने अमानुल्ला की इज्ज़त बढा दी, और दुनिया मे अफगानिस्तान का महत्व भी बहुत बढा दिया। मगर खुद अफगानिस्तान मे हालत अच्छी नही थी। अमानुल्ला ने ऐसे बडे-बडे परिवर्तनो के बीच मे अपने देश से बाहर जाकर भारी जोखिम उठाई थी, जो रहन-सहन के पुराने ढर्रे को ही उलट-पुलट कर रहे थे। मुस्तफा कमाल ने ऐसी जोखिम कभी नही उठाई थी। अमानुल्ला की गैरहाजिरी के लम्बे समय मे, उसके खिलाफ कतार बाँधनेवाले तमाम प्रगति-विरोधी लोग और ताकतें धीरे-धीरे सामने आ गये। उसे बदनाम करने के लिए हर तरह की साज़िशें की गई और अनगिनत अफवाहें फैलाई गई। इस अमानुल्ला-विरोधी प्रचार के लिए न मालूम कहाँ से रुपये की मानो नदी बही चली आ रही थी। मालूम होता था कि बहुत-से मुल्लाओ को इस काम के लिए रुपया मिल रहा था। ये लोग देश-भर मे फैल गये और अमानुल्ला को काफिर करार देकर फतवे निकालने लगे। यह दिखलाने के लिए कि बेगम सुरैय्या कितनी भद्दी पोशाक पहनती है, उसकी हज़ारो ऐसी विचित्र तसवीरें गाँव-गाँव मे बाँटी गई, जिनमे वह यूरोपीय ढग की शाम की पोशाक या कोई ढीला-ढाला गाउन पहने हुए दिखाई गई थी। इस तूल-तवील और खर्चीले प्रचार के लिए कौन ज़िम्मेदार था? अफगानो के पास न तो इसके लिए पैसा था और न कभी उन्होंने यह काम सीखा था, वे तो इसके लिए सिर्फ काम का मसाला थे। मध्य-पूर्व मे और यूरोप मे आमतौर पर यह खयाल किया जाता था, और कहा जाता था, कि इस प्रचार के पीछे ब्रिटिश खुफिया विभाग का हाथ था। इस तरह

की बातें कभी साबित नहीं की जा सकती, और इस काम के साथ अंग्रेजो का नाम जोड़ने के लिए कोई साफ-साफ सबूत भी नही मिल रहा था, हालांकि यह कहा जाता है कि अफगान-बागियो के पास अंग्रेजी रायफलें थी। परन्तु यह तो काफी जाहिर बात है कि अफ़ग़ानिस्तान मे अमानुल्ला की ताकत कम करने मे इंग्लैण्ड की दिलचस्पी थी।

जब इधर अफगानिस्तान में अमानुल्ला की जड़ें खोखली की जा रही थीं तब वह यूरोप की राजधानियो में शानदार स्वागतो के मजे ले रहा था। जब वह देश लौटा तो अपने सुधारो के लिए नये जोश से भरा हुआ, नये विचारो से भरा हुआ और कमाल पाशा का, जिससे वह अगोरा मे मिला था, पहले से भी ज्यादा मुरीद बना हुआ था। वह इन सुधारो को आगे बढाने मे फ़ौरन जुट गया। उसने अमीर-वर्ग की उपाधियाँ मिटा दीं, और मुल्लाओ की ताकत कम करने का प्रयत्न किया। उसने मन्त्रियो की एक कौन्सिल के हाथ मे सरकार की बागडोर भी देने की कोशिश की, और इस तरह खुद अपने निरकुश अधिकारों को कम कर दिया। नारियो के बन्धन काटने का काम भी धीरे-धीरे आगे बढाया गया।

लेकिन सुलगती हुई आग अचानक भड़क उठी, और १९२८ ई० के अन्त मे बग़ावत की लपटें फैलने लगी। यह बगावत बच्चा सक्का नामक एक मामूली भिश्ती की सरदारी मे जोर पकड़ गई और १९२९ ई० मे पूरी तरह सफल हो गई। अमानुल्ला और उसकी बेग़म देश छोड़कर भाग गये और बच्चा-सक्का बादशाह बन बैठा। पाँच महीने तक बच्चा सक्का काबुल मे राज करता रहा, फिर अमानुल्ला के एक सेनापति व मन्त्री नादिर ख़ाँ ने उसे हटा दिया। नादिर ख़ाँ ने अपनी ही चालें खेली, और जब वह पूरी तरह सफल हो गया तो खुद ही नादिरशाह के नाम से राजगद्दी पर बैठ गया। देश मे बार-बार झगडे और उपद्रव होते रहे, लेकिन नादिरशाह बादशाह बना रहा, क्योंकि इंग्लैण्ड से उसकी दोस्ती थी, और सहायता भी मिलती थी। ब्रिटिश सरकार ने उसे बहुत बडी रक़म बिना सूद के उधार दी और रायफलें व गोली-बारूद भी भेजी। अफग़ानिस्तान की डावाँडोल हालत का सबसे बडा सबब यह है कि वह दो ताकतवर मुकाबलेदारो के बीच मे झोक झेलनेवाला राज्य है।[1]

मैं अफगानिस्तान का और पश्चिमी व दक्षिणी एशिया का हाल पूरा कर चुका हूँ। अब मैं तुम्हें एशिया के दक्षिण-पूर्वी कोने की कुछ हाल की घटनाओ के बारे में थोडे मे बतलाकर इस पत्र को ख़त्म कर दूंगा।

---

[1] नवम्बर, १९३३ ई० मे नादिरशाह की हत्या कर दी गई और उसके बाद उसका पुत्र जहीरशाह गद्दी पर बैठा।

वरमा के पूर्व मे स्याम[1] है, और दुनिया के इस भाग मे अकेला यही देश अपनी स्वाधीनता बनाये रख सका है। यह ब्रिटिश बरमा और फ़ान्सीसी हिन्दचीन के वीच मे भिचा हुआ है। इस देश मे पुराने भारतीय चिह्न भरे पडे हैं, और इसकी परम्पराओ और सस्कृति और रीति-रिवाजो पर अभी तक पुरानी भारतीयता की छाप है। कुछ ही दिन पहले तक यहाँ निरकुश सल्तनत थी, और यहाँ की समाजी हालत ज्यादातर सामन्ती थी, जिसमे छोटा-सा उठता हुआ मध्यमवर्ग था। मेरा खयाल है कि यहाँ के राजा की उपाधि बहुत करके 'राम' होती थी और यह शब्द हमे भारत की याद दिलाता है। यानी यहाँ राम प्रथम, राम द्वितीय, वगैरा नाम के राजा होते रहे है। महायद्ध के दौरान, जब मित्र-राष्ट्रो की जीत साफ़-साफ दिखाई देने लगी, तव यह देश मित्र-राष्ट्रो के साथ शामिल हो गया, और बाद मे यह राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया।

१९३२ ई० मे स्याम की राजधानी बैंकाक मे अचानक राजनीतिक उखाड-पछाड हुई और निरकुश ढग का राज खत्म हो गया, और इसकी जगह स्यामी लोक-दल की सरकार के मातहत लोकतन्त्र की शुरुआत हो गई। लुआङ्ग प्रदीत नामक एक वकील की नेतागिरी मे नौजवान स्यामी फौजी अफसरो व दूसरे लोगों के दल ने राजघराने के व्यक्तियो को और खास-खास मन्त्रियो को गिरफ्तार कर लिया, और राजा प्रजाधिपोक को एक सविधान मजूर करने पर मजबूर कर दिया। राजा की शक्तियाँ सीमित कर दी गईं और एक लोकसभा बनाई गई। इस परिवर्तन का जनता ने समर्थन तो किया पर यह सारी जनता की उथल-पुथल के सबब से नही हुआ था। यह घटना उस अचानक फौजी उखाड-पछाड से मिलती-जुलती थी, जिसके ज़रिये नौजवान तुर्को ने सुलतान अब्दुल हमीद के जुल्मो का अन्त कर दिया था। राजा के फौरन घुटने टेकने से सकट तो टल गया, पर परिवर्तन के आगे झुकने की उसकी यह तैयारी सच्ची नही थी। अप्रैल, १९३३ ई० मे उसने लोक-सभा को अचानक भग कर दिया और लुआङ्ग प्रदीत को निकाल दिया। दो महीने बाद फिर अचानक राजनीतिक उखाड-पछाड हुई और लोक-सभा फिर से बहाल कर दी गई। स्याम की नई सरकार ने इग्लैण्ड के साथ कोई गहरे लगाव कायम नही किये हैं, बल्कि वह जापान की तरफ बहुत ज्यादा झुकी हुई है।[2]

स्याम के पूर्व मे फ़ान्सीसी हिन्दचीन मे भी राष्ट्रीयता फैल रही है और जोर पकडती जा रही है। इस राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए फ़ान्सीसी सरकार

---

[1] आजकल इसका राष्ट्रीय नाम थाईलैण्ड है।

[2] अक्तूबर, १९३३ ई० मे एक दक्षिण-पक्षीय उपद्रव हुआ, पर इसे दबा दिया गया और लुआंङ्ग प्रदीत सरकार का नेता बना रहा।

ने षड्यन्त्र के बहुत-से मुकदमे चला दिये हैं, और बहुत लोगो को कैद की लम्बी-लम्बी सज़ाएँ दे दी है। मार्च, १९३३ ई० मे, जिनेवा मे होनेवाले निरस्त्रीकरण सम्मेलन की बैठक मे फ्रान्सीसी प्रतिनिधि ने एक भेद खोलनेवाला बयान दिया था। यह प्रतिनिधि, मोश्ये सारियो, फ्रान्सीसी हिन्द-चीन का खुद गवर्नर रह चुका था। उसने बतलाया कि "उपनिवेशी मिल्कियतो मे राष्ट्रीयता का विकास हो रहा है और वहाँ राज चलाना दिन-पर-दिन निहायत दुश्वार हो रहा है"। उसने फ्रान्सीसी हिन्दचीन की मिसाल दी कि जब वह वहाँ का गवर्नर था तब अमन कायम रखने के लिए १५०० आदमी काफी थे, पर इसके मुक़ाबले मे अब वहाँ १०,००० आदमियो की ज़रूरत पड रही थी।

अन्त मे डच ईस्ट-इण्डीज़ मे जावा है, जो अपनी शकर और अपने रबड के लिए मशहूर है, और अपनी जनता के उस ज़बर्दस्त शोषण के लिए भी नामी है, जो उसके बागानो मे हुआ करता था। भारत के साथ-साथ यहाँ भी राष्ट्रीयता बढने की वजह से कुछ हद तक सुधार हुए हैं और बहुत ज्यादा दमन हुआ है। जावा-निवासियो मे ज्यादातर मुसलमान हैं, और महायुद्ध के दौरान, और उसके बाद, पश्चिमी एशिया की घटनाओ का उनपर भी असर पडा। कैण्टन मे चीनी क्रान्तिकारी आन्दोलन के उत्थान ने उनपर बहुत असर डाला, और वे भारत के असहयोग आन्दोलन की तरफ भी मायल हुए। १९१६ ई० मे डच सरकार ने जावा-वासियो को सविधानी सुधार देने का वायदा किया, और बटाविया मे जनता की कौन्सिल कायम कर दी गई। पर इसके ज्यादातर सदस्य नामज़द थे और इसे कोई ख़ास अधिकार नहीं दिये गए थे, इसलिए इसके खिलाफ आन्दोलन जारी रहा। १९२५ ई० मे फिर नया सविधान लागू किया गया, पर इससे कुछ फर्क नही हुआ, यह जनता को राजी न कर सका। जावा व सुमात्रा मे हडतालें और दगे हुए, और १९२७ ई० मे डच सरकार के खिलाफ एक बलवा हुआ। इसे बडी बेरहमी से कुचल दिया गया। पर राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहा, और ठोस कामो के मैदान मे इसने बहुत-से राष्ट्रीय स्कूल खोले, और भारत की तरह कुटीर उद्योगो व दस्तकारियो को बढावा दिया। आज़ादी के लिए लडाई अब भी जारी है। ससार-व्यापी आर्थिक मन्दी की वजह से, और भारी बचाव चुगियाँ लगाने से विदेशी मण्डियाँ पाबन्द हो जाने की वजह से, जावा के चीनी-उद्योग को बहुत नुकसान पहुँचा है।

१९३३ ई० के शुरू मे जावा के पूर्वी तट के पास एक विचित्र वारदात हो गई। एक डच जगी-जहाज़ के मल्लाहो ने, वेतन मे कटौती किये जाने का विरोध करने के लिए, जहाज़ पर कब्ज़ा कर लिया और उसे लेकर चल दिये। उन्होंने जहाज़ को कोई नुकसान नही पहुँचाया और यह भी ज़ाहिर कर दिया कि वे तो सिर्फ अपने वेतनो के लिए अड रहे थे। यह एक किस्म की सरगर्म हडताल थी। इसपर डच

हवाई-जहाजो ने इस जगी जहाज पर बम गिराये, जिससे बहुत-से मल्लाह मारे गये, और जहाज पर कब्जा कर लिया गया।

बस, अब हम राष्ट्रीयता व साम्राज्यशाही के बीच बार-बार होनेवाली टक्करोंवाले एशिया को छोडकर यूरोप की तरफ़ चलते हैं, क्योंकि यूरोप हमारा ध्यान खीच रहा है। हमने अभी तक युद्ध के बाद के यूरोप पर गौर नही किया है। ध्यान रहे कि यूरोप की हालत आज भी ससार-व्यापी हालतो की कुजी है। इसलिए मेरे कुछ अगले पत्र यूरोप के ही बारे मे होंगे।

लेकिन अभी एशिया के भी दो भागो पर, दो विशाल प्रदेशो पर, गौर करना बाकी है एक तो चीन और दूसरा उत्तर मे सोवियत इलाका। इनका हम कुछ समय बाद लौटकर बयान करेंगे।

: १७१ :

क्रान्ति, जो होते-होते रह गई

१३ जून, १९३३

जी० के० चैस्टरटन नामक मशहूर अग्रेज लेखक ने कहीं लिखा है कि इग्लैण्ड मे उन्नीसवी सदी की सबसे बडी घटना वह क्रान्ति थी, जो नही हुई। तुम्हें याद होगा कि इस सदी मे कई मौको पर इग्लैण्ड क्रान्ति की ठेठ ड्योढी पर पहुँच गया था, यानी वहाँ छोटे-छोटे मध्यम-वर्गो और मज़दूरो की पैदा की हुई समाजी क्रान्ति होने ही वाली थी। मगर शासक-वर्ग हमेशा ऐन मौके पर ज़रा झुक गये, उन्होंने वोट का हक बढाकर पार्लमेण्टी ढाँचे मे जनता को दिखावटी हिस्सा दे दिया, और विदेशो के साम्राज्यशाही शोषण की लूट का ज़रा-सा टुकडा भी उन्हें दे दिया, और इस तरह सिर पर झूमनेवाली क्रान्ति को रोके रक्खा। अपने फैलते हुए साम्राज्य और उससे वसूल होनेवाले पैसे के बल पर उनके लिए ऐसा करना आसान था। इसलिए इग्लैण्ड मे क्रान्ति तो नही हुई, पर उसकी छाया देश पर अक्सर पडती रही, और उसके भय से घटनाओ के रूप ज़रूर बने-बिगडे। कहा जाता है कि इस तरह वह चीज़, जो हकीकत मे हुई ही नही, पिछली सदी की सबसे बडी घटना है।

इसी तरह शायद यह भी कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप मे युद्ध के बाद के ज़माने की सबसे बडी घटना वह क्रान्ति थी, जो होते-होते रह गई। जिन हालतो ने रूस मे बोलशेविक क्रान्ति पैदा की थी, वे मध्य व पश्चिमी यूरोप के देशो मे भी मौजूद थी, हालाँकि थी किसी कदर कम। रूस और पश्चिमी यूरोप के इग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, वगैरा औद्योगिक देशो के बीच खास फर्क यह था कि रूस मे ज़ोरदार मध्यम-वर्ग नही थे। सच तो यह है कि मार्क्स के मुताबिक मज़दूर-वर्ग की क्रान्ति पहले इन आगे बढे हुए औद्योगिक देशो मे फूट पडने की उम्मीद थी, पिछडे,

हुए रूस मे तो हरगिज़ नही। पर महायुद्ध ने ज़ारशाही के घुने हुए पुराने ढाँचे को चकनाचूर कर दिया, और मज़दूरो की सोवियतो ने सिर्फ़ इसी वजह से सत्ता छीन ली कि वहाँ ऐसा कोई ज़ोरदार मध्यम-वर्ग नही था, जो आगे आकर पश्चिमी ढग की पार्लमेण्ट के ज़रिये सरकार पर कब्ज़ा करता। इसलिए, यह बडी विचित्र बात है कि रूस का यह पिछडापन ही, जो उसकी कमज़ोरी का सबब था, उसके लिए ज्यादा आगे बढे हुए देशो से भी बडा कदम बढाने का सबब बन गया। बोलशेविको ने लेनिन की रहनुमाई मे यह कदम उठाया था, पर वे किसी भ्रम मे नही थे। वे जानते थे कि रूस पिछडा हुआ देश है और ज्यादा आगे बढे हुए देशो के बराबर पहुँचने मे उसे वक्त लगेगा। उन्हे आशा थी कि मज़दूर-वर्ग का गणराज्य क़ायम करने की जो मिसाल उन्होने पेश की थी, वह यूरोप के दूसरे देशो के मज़दूरो को मौजूदा हुकूमतो के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उकसायेगी। उन्होंने महसूस किया कि यूरोप की इस आम समाजी क्रान्ति मे ही उनके ज़िन्दा रहने की अकेली उम्मीद भरी है, वरना बाकी की पूँजीवादी दुनिया रूस की कम-उम्र सोवियत सरकार को उभरने ही न देगी।

अपनी क्रान्ति के शुरू के दिनो मे उन्होंने इसी आशा और इसी भरोसे के साथ ससार के मज़दूरो के नाम अपनी अपीलें बिखेरी थी। उन्होंने मुल्क जीतने के तमाम साम्राज्यशाही इरादो की खुली मलामात की, उन्होने कहा कि ज़ारशाही रूस और फ्रान्स व इग्लैण्ड के बीच जो खुफिया सन्धियाँ हुई थीं, उनके आधार पर वे कोई दावा नही करेंगे, उन्होने साफ कह दिया कि कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के ही कब्ज़े मे रहेगा। उन्होंने पूर्वी देशो और ज़ारशाही साम्राज्य की सताई हुई कई छोटी-छोटी कौमो के सामने बहुत ही शरीफाना शर्तें रक्खी। और, सबसे बडी बात यह थी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-वर्ग के हामी की तरह सामने आ डटे, और उन्होंने हर जगह के मज़दूरो से अपील की कि वे भी उनकी मिसाल पर चलकर समाजवादी गणराज्य कायम करें। राष्ट्रीयता या राष्ट्र के रूप मे रूस उनके लिए कोई महत्त्व नही रखते थे, सिवाय इसके कि यह ससार का वह भाग था, जहाँ इतिहास मे पहली बार मज़दूरो की सरकार कायम हुई थी।

जर्मन सरकार और मित्र-राष्ट्र-सरकारो ने तो बोलशेविको की अपीलो को अपने यहाँ नही पहुँचने दिया, पर इनकी खबरें जैसे-तैसे कितने ही मोर्चों और कारखानी इलाको मे जा पहुँची। हर जगह उनका ज़बर्दस्त असर पडा, और फ्रान्सीसी फौजो मे तो काफी दरारें नज़र आने लगी। जर्मन फौजो और मज़दूरो पर तो और भी ज़्यादा असर पडा। जर्मनी, आस्ट्रिया, हगरी, वग़ैरा हारे हुए देशो मे तो बलवे और विद्रोह भी हुए, और कई महीनो तक, या साल दो साल तक, ऐसा मालूम हुआ मानो यूरोप एक ज़बर्दस्त समाजी क्रान्ति की ड्योढ़ी पर खडा है।

फतहमन्द मित्र-राष्ट्री देशो की हालत हारे हुए देशो से कुछ बेहतर थी, क्योकि सफलता ने उनमे ताज़गी पैदा कर दी थी और उम्मीदें पैदा कर दी थी (जिन्हे बाद की घटनाओ ने बिलकुल थोथी साबित कर दिया) कि वे हारी हुई शक्तियो से धन वसूल करके अपने कुछ नुकसानो को पूरा कर सकेंगे। पर मित्र-राष्ट्री देशो तक मे भी क्रान्ति की हवा थी। वास्तव मे यूरोप व एशिया-भर की फिज़ा नाराज़ी के धुएँ से भरी हुई थी, और क्रान्ति की आग अन्दर-ही-अन्दर सुलग रही थी, और भभक उठना ही चाहती थी। मगर एशिया और यूरोप मे फैली हुई नाराज़ी जुदा-जुदा ढग की थी और क्रान्ति पर आमादा वर्गो मे भी कुछ फर्क था। एशिया मे पश्चिमी साम्राज्यशाही के खिलाफ राष्ट्रीय विद्रोहो की बागडोर मध्यम-वर्ग के हाथ मे थी, यूरोप के मज़दूर-वर्ग मौजूदा मध्यय-वर्गी पूंजीवादी समाजी व्यवस्था को उलटने पर और मध्यम-वर्गो से सत्ता छीन लेने पर आमादा हो रहे थे।

पर इन तमाम गडगडाहटो और बुरे शकुनो के बावजूद, मध्य यूरोप और पश्चिमी यूरोप मे रूसी क्रान्ति की तरह की कोई क्रान्ति नही भडकी। पुराना ढाँचा इतना मज़बूत था कि अपने ऊपर किये गए वारो को बर्दाश्त कर सकता था। लेकिन इन वारो ने उसे इतना कमज़ोर कर दिया और इतना हिला दिया कि इससे सोवियत रूस बच गया। अगर सोवियत रूस को मोर्चों के पीछे से यह ज़ोरदार मदद न मिली होती, तो पूरा अन्देशा था कि वह १९१९ या १९२० ई० मे साम्राज्यशाही शक्तियो के आगे ढेर हो जाता।

धीरे-धीरे महायुद्ध के बाद ज्यो-ज्यो एक के बाद दूसरा साल गुज़रता गया, त्यो-त्यो कुछ हद तक गडबडियाँ ठण्डी पडती दिखाई देने लगी। एक तरफ तो प्रगति-विरोधी दकियानूसी बादशाहवादी व सामन्ती ज़मीदार थे और दूसरी तरफ नर्म समाजवादी या समाजी लोकतन्त्रवादी थे। इनके अजीब गठ-बन्धन ने क्रान्तिकारी तत्वो को दबा दिया। सचमुच यह गठ-बन्धन अजीब था, क्योकि समाजी लोकतन्त्रवादी लोग यह दुहाई देते थे कि वे मार्क्सवाद और मज़दूरो की हुकूमत मे विश्वास रखते हैं। इसलिए ऊपर से तो उनका आदर्श वही नज़र आता था, जो सोवियतो और साम्यवादियो का था। मगर फिर भी ये समाजी लोकतन्त्रवादी पूंजीवादियों से उतना नही डरते थे, जितना साम्यवादियो से, और साम्यवादियो को कुचलने के लिए पूंजीवादियो से मिल गये। या यह भी हो सकता है कि वे पूंजीवादियो से इतना डरते थे कि उनके खिलाफ जाने की हिम्मत नही कर सकते थे, वे बिना लडाई-झगडे के और पार्लमेण्टी उपायो से अपनी हैसियत मज़बूत बनाने की, और इस तरह बिलकुल नामालूम तरीके से समाजवाद लाने की उम्मीद करते थे। उनके इरादे चाहे जो रहे हो, उन्होंने क्रान्तिकारी भावना को कुचलने के लिए प्रगति-विरोधी तत्वो को मदद दी, और इस तरह यूरोप के कई देशो मे सचमुच

उलट-क्रान्ति पैदा कर दी। लेकिन जब इस उलट-क्रान्ति की बारी आई तो इसने इन समाजी लोकतन्त्री दलो को ही कुचल डाला, और नई व सरगर्म समाजवाद-विरोधी ताकतो ने सत्ता हथिया ली। महायुद्ध के पीछे आनेवाले वर्षों मे यूरोप मे घटनाओ ने मोटे तौर पर इसी तरह का रूप लिया।

लेकिन कशमकश अभी खत्म नही हुई है, और पूंजीवाद व समाजवाद, इन दो मुक़ाबले की ताकतो के बीच लडाई चल रही है। दोनो के बीच कोई पक्का समझौता नही हो सकता, हालाँकि दोनो के बीच काम-चलाऊ ठहराव और सन्धियाँ हुई है, और शायद आयन्दा भी हो। रूस व साम्यवाद एक छोर पर खडे हैं तो पश्चिमी यूरोप व अमेरिका दूसरे छोर पर। दोनो के बीच के उदार दल, नर्म दल व बिचले दल हर जगह गायब होते जा रहे हैं। ये कशमकश और बेज़ारी वास्तव मे ससार-भर मे पूरी आर्थिक उलट-पुलट और बढती हुई मुसीबतो से पैदा हो रही है, और यह खीच-तान तबतक जारी रहेगी जबतक कि पलडे कुछ बराबर न हो जायँ।

महायुद्ध के बाद जो कई विफल क्रान्तियाँ अबतक हुई है, उनमे जर्मनी की क्रान्ति सबसे ज्यादा दिलचस्प और भेद खोलनेवाली है। इसलिए इसका कुछ हाल मैं तुम्हें बतलाऊँगा। मैं लिख चुका हूँ कि जब महायुद्ध छिडा तब यूरोप के तमाम देशो के समाजवादी अपने आदर्शों और वायदो पर अमल मे चूक गये। वे अपने-अपने देश की भयकर राष्ट्रीयता मे बह गये, और युद्ध की पागल खूनी प्यास मे समाजवाद के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों को भूल गये। १९१४ ई० की ३० जुलाई को, जब महायुद्ध के बादल मँडरा रहे थे, जर्मनी के समाजी लोकतन्त्रवादी दल के नेताओ ने हैप्सबर्गों के साम्राज्यशाही इरादो के लिए "जर्मन सिपाही के खून की एक भी बूंद" कुर्बान किये जाने के खिलाफ पुकार मचाई थी। (उस समय आस्ट्रिया के आर्क-ड्यूक फ्रान्सिस-फर्दिनैन्द की हत्या के मामले पर आस्ट्रिया और सर्बिया के बीच झगडा था।) मगर पाँच दिन बाद इस दल ने युद्ध का समर्थन किया, और अन्य देशो के ऐसे ही अन्य दलो ने भी यही किया। यहाँतक कि आस्ट्रिया के समाजवादी नेता ने तो सचमुच पोलैण्ड और सर्बिया को आस्ट्रिया के साम्राज्य मे मिला लेने की बात कह डाली, और कह दिया कि इसे जबरन कब्ज़ा नही माना जायगा।

१९१८ ई० के शुरू के दिनो मे यूरोप के मजदूरो के नाम बोलशेविको की अपीलो का जर्मन मजदूरो पर काफी असर पडा, और गोला-बारूद के कारखानो मे बडी-बडी हडतालें हुई। इससे जर्मनी की साम्राज्यशाही सरकार के लिए खतरनाक सूरत पैदा हो गई, और शायद उसका तख्ता ही उलट गया होता। मगर समाजवादी नेताओ ने हडताल-कमेटियो मे शामिल होकर और हडताल को भीतर से फोड-कर स्थिति को बिगडने से बचा लिया।

१९१८ ई० की ४ नवम्बर को उत्तरी जर्मनी मे कील[1] मे जहाजी फौज मे गदर की आग भडक उठी। जर्मन वेडे के वडे-वडे जगी जहाजो को वाहर जाने का आदेश दिया गया था, पर मल्लाहो और कोयला झोकनेवालो ने उन्हें चलाने से इन्कार कर दिया। उन्हें दवाने के लिए जो फौजी भेजे गये, वे भी उन्ही मे जा मिले और उनके ही तरफदार वन गये। इन लोगो ने अफसरो को हटा दिया या गिरफ्तार कर लिया, और मजदूरो व सिपाहियो की कौन्सिले (सोवियतें) वन गई। ये रूस मे सोवियत क्रान्ति की पहली शुरुआत जैसे लक्षण थे, और यह जर्मनी-भर मे फैलती हुई मालूम दे रही थी। पर समाजी लोकतन्त्रवादी नेता झटपट कील मे आ धमके, और मल्लाहो व मजदूरो का ध्यान दूसरी वातो की तरफ वँटाने मे कामयाव हो गये। मगर ये मल्लाह अपने-अपने हथियार लेकर कील से चले गये और विद्रोह के वीज वोते हुए जर्मनी-भर मे फैल गये।

अव क्रान्तिकारी आन्दोलन फैलता जा रहा था। ववेरिया (दक्षिणी जर्मनी) मे गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। पर कैसर फिर भी अडा रहा। नवम्वर की ९ तारीख को वर्लिन मे आम हडताल हो गई। सारे काम वन्द हो गये, पर खून-खरावी जरा भी नही हुई, क्योकि शहर की छावनी मे पडी हुई सारी पल्टन क्रान्तिकारियो से जा मिली। पुरानी व्यवस्था जाहिरा तौर पर खत्म हो गई थी, और अव सवाल यह था कि उसकी जगह कौन-सी चीज आयेगी। कुछ साम्यवादी नेता सोवियत या गणराज्य की घोपणा करने ही वाले थे कि एक समाजी लोकतन्त्रवादी नेता पार्लमेण्टी ढग के गणराज्य की घोपणा करके उनसे वाजी ले गया।

इस तरह जर्मन गणराज्य का जन्म हुआ। पर यह गणराज्य की महज छाया थी, क्योकि असलियत मे हालत जरा भी नही वदली थी। समाजी लोकतन्त्रवादियो ने, जिन्होने स्थिति पर कावू कर रक्खा था, लगभग हर चीज को जैसा-का-तैसा रहने दिया। उन्होने मन्त्रियो वगैरा के कुछ ऊँचे ओहदे ले लिये, लेकिन फौज, असैनिक सेवाएँ, न्याय-विभाग, और सारा प्रशासन उसी तरह चलते रहे जैसे कैसर के जमाने मे चलते थे। वस, हाल ही मे निकली एक पुस्तक के नाम के मुताविक "कैसर चला गया सेनापति रह गये"।[2] क्रान्तियाँ न तो इस तरह वनती है, न ताकत हासिल करती है। असली क्रान्ति वह होती है, जो राजनीतिक, समाजी और आर्थिक ढाँचे को वदल डाले। अगर सत्ता क्रान्ति के दुश्मनो के हाथ मे रह जाय तो यह उम्मीद रखना वेकार है कि क्रान्ति जिन्दा रह जायगी। मगर जर्मनी के समाजी लोकतन्त्र-

---

[1] Kiel—जर्मनी के उत्तर मे महत्वपूर्ण वन्दरगाह और जर्मनी जहाजी वेडे का अड्डा। यहाँ समुद्र के उस पार तक नहर काटी गई है, जो कील नहर कहलाती है।

[2] The Kaiser Goes The Generals Remain

वादियों ने ठीक यही बात की, और क्रान्ति के वैरियों को क्रान्ति को धूल में।मलाने की तैयारी करने के पूरे मौक़े दे दिये।

नई समाजी लोकतन्त्रवादी सरकार को यह अच्छा न लगा कि कील के मल्लाह क्रान्तिकारी विचार फैलाते हुए देश-भर में घूमते फिरें। उन्होंने बर्लिन में इन मल्लाहों को दबाने की कोशिश की और जनवरी, १९१९ ई० के शुरू में संगीन मुठभेड़ हुई। इसपर जर्मन साम्यवादियों ने सोवियत ढंग की सरकार कायम करने का प्रयत्न किया और शहर की जनता से मदद देने को कहा। जनता ने उन्हें कुछ मदद दी। उन्होंने सरकारी इमारतों पर क़ब्ज़ा कर लिया और जनवरी में करीब एक सप्ताह तक—जो बर्लिन का 'लाल सप्ताह' कहलाता है—शहर में उन्हीका बोलबाला नज़र आता था। मगर जनता ने उनके कहे मुताबिक़ अच्छी तरह काम नहीं किया, क्योंकि ज्यादातर लोग चक्कर में पड़ गये थे और यह नहीं जानते थे कि क्या करना चाहिए। बर्लिन में फौज के सिपाही भी चक्कर में पड़ गये और गैर-तरफदार बने रहे। चूंकि इन सिपाहियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता था, इसलिए समाजी लोकतन्त्रवादियों ने अपने काम के लिए कुछ खास स्वयंसेवक सिपाही भर्ती किये और इनकी सहायता से उन्होंने साम्यवादी बलवे को बिलकुल ठण्डा कर दिया। लड़ाई बड़ी बेरहमी के साथ हुई और ज़रा भी दया नहीं दिखाई गई। लड़ाई खतम होने के कुछ दिन बाद कार्ल लीबनेख्त और रोज़ा लुग्ज़मबुर्ग नामक दो साम्यवादी नेताओं को उनके छिपने की जगह से खोज निकाला गया और उनकी बेदर्दी के साथ हत्या कर दी गई। इस हत्या की वजह से और बाद में इस हत्या के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों को बरी करने की वजह से, साम्यवादियों और समाजी लोकतन्त्रवादियों के बीच सख्त दुश्मनी पैदा हो गई। कार्ल लीबनेख्त उन्नीसवीं सदी के पुराने और मशहूर समाजवादी लड़ाके विल्हेम लीबनेख्त का लड़का था, जिसका ज़िक्र मैं अपने किसी पिछले पत्र में कर चुका हूँ। रोज़ा लुग्ज़मबुर्ग भी पुराना कार्यकर्ता था और लेनिन का बड़ा दोस्त था। वाकया यह है कि लीबनेख्त और लुग्ज़मबुर्ग दोनों ही उस साम्यवादी बलवे के विरोधी थे, जिसने उन्हें मौत के घाट उतारा।

समाजी लोकतन्त्री गणराज्य ने साम्यवादियों को कुचल दिया, और बाद में फौरन ही वाइमर में गणराज्य के संविधान का मसौदा तैयार किया गया, इसीलिए यह वाइमर संविधान कहलाता है। तीन महीनों के भीतर ही गणराज्य में एक और परिवर्तन का खतरा पैदा हो गया, पर यह दूसरी ओर से था। प्रगति-विरोधियों ने गणराज्य के खिलाफ एक उल्टा-क्रान्ति रच डाली और पुराने सेनापतियों ने इसमें आगे आकर हिस्सा लिया। यह विद्रोह 'काप पुत्श' कहलाता है, क्योंकि काप इसका नेता था और 'पुत्श' जर्मन भाषा का शब्द है, जो इस प्रकार

के बलवे का द्योतक है। समाजी लोकतन्त्री सरकार वर्लिन छोडकर भाग गई, पर वर्लिन के मजदूरो ने एकदम आम हडताल करके इस 'पुत्श' को ख़त्म कर दिया। इस हडताल से सारे काम-काज बिलकुल बन्द हो गये और बर्लिन के महान् नगर का जीवन ठप्प हो गया। इन सगठित मजदूरो के सामने काप और उसके साथियो को वर्लिन छोडकर भाग जाना पडा, और समाजी लोकन्त्रवादी नेता हुकूमत सम्हालने के लिए फिर लौट आये। सरकार ने साम्यवादियो के साथ जितना सख्त वर्ताव किया था, उसके मुकाबले मे काप-दली वागियो के साथ काफी नर्मी बरती। इनमे से बहुत-से तो अफसर थे, जिन्हें पेन्शनें मिलती थी। पर बलवे के बावजूद इनकी पेन्शनें तक चालू रही।

बवेरिया मे भी इसी किस्म का उलट-क्रान्तिकारी 'पुत्श' या बलवा खडा किया गया था। यह भी असफल रहा, मगर इसमे खास दिलचस्पी की बात यह है कि इसका सगठन करनेवाला आस्ट्रिया का एक अदना अफसर हिटलर था, जो आज जर्मनी का तानाशाह है।

इस सबका नतीजा यह हुआ कि हालांकि जर्मन गणराज्य नाम के लिए चलता रहा, पर वह दिन-पर-दिन कमजोर पडता गया। समाजवादियो यानी समाजी लोकतन्त्रवादियो और साम्यवादियो की आपसी फूट ने दोनो को कमजोर कर दिया, और गणराज्य की खुली बुराई करनेवाले प्रगति-विरोधी लोग दिन-पर-दिन ज्यादा जोरदार व सरगर्म होते गये। वडे-वडे जमीदारो ने, जिन्हें जर्मनी मे 'यून्कर' कहते हैं और वडे-वडे पूंजीपतियो ने, सरकार में जो थोडा-बहुत समाजवादी तत्व रह गये थे, उन्हें भी धीरे-धीरे वाहर धकेल दिया। वर्साई की सुलह-सन्धि से जर्मन जनता के दिलो को वडा धक्का लगा, और प्रगति-विरोधियो ने इससे खूब फायदा उठाया। इस सन्धि की शर्तों के मुताबिक जर्मनी को वे-हथियार होना पडा और अपनी भारी फौज तोड देनी पडी। उसे सिर्फ एक लाख सिपाहियो की छोटी-सी फौज रखने की इजाजत दी गई। नतीजा यह हुआ कि ऊपर-ऊपर तो निरस्त्रीकरण होता रहा पर हकीकत में हथियारो का वडा भारी भण्डार छिपा दिया गया। विशाल 'खानगी फौजें', यानी जुदा-जुदा दलो के स्वयसेवक दल, खडे हो गये। अनुदार राष्ट्रवादियो की स्वयमेवक सेना 'स्टील हैल्मैट्स'[1] कहलाती थी, साम्यवादी मजदूरो के स्वयसेवक 'रेड फ्रण्ट'[2] कहलाते थे और हिटलर के पीछे चलनेवाले 'नात्सी'[3] सिपाही कहलाते थे।

---

[1] Steel Helmets—फौलादी टोप।

[2] Red Front—लाल मोर्चा।

[3] Nazi—नात्सी। यह शब्द जर्मनी की नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के नाम का सक्षिप्त रूप है।

जर्मनी में युद्ध के बाद इन शुरू के वर्षों के बारे मे मैंने तुम्हें बहुत-कुछ बतला दिया है, और इससे भी ज्यादा मैं तुम्हें यह बतला सकता हूँ कि किस तरह क्रान्ति हवा मे मँडरा रही थी और उलट-क्रान्ति से लड़ी थी। जर्मनी के ववेरिया, सैक्सनी वगैरा कई भागो मे भी बलवे हुए। इसीसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती हालत आस्ट्रिया मे चल रही थी, जो सुलह-सन्धि के मातहत कट-छँटकर अपने पहले रूप का नन्हा-सा टुकडा रह गया था। यह छोटा-सा देश, जिसकी राजधानी वियेना जैसा विशाल शहर था, भाषा व संस्कृति के लिहाज से पूरी तरह जर्मन था। लड़ाई बन्द होने के दूसरे ही दिन, १२ नवम्बर, १९१८ ई० को यह गणराज्य बन गया था। यह जर्मनी का अंग बनना चाहता था, पर मित्र-राष्ट्री शक्तियों ने इसकी सख्त मनाई कर दी, हालाँकि यह चीज कुदरती तौर पर हो जानी चाहिए थी। आस्ट्रिया व जर्मनी के लिए तजवीज किये गये इस मिलाप को जर्मन भाषा के 'आन्श्लुस'[1] शब्द से जाहिर किया जाता है।

जर्मनी की तरह आस्ट्रिया मे भी शुरू मे समाजी लोकतन्त्रवादियों के हाथ मे सत्ता थी, पर डर के मारे और हिम्मत न होने की वजह से ये मध्यम-वर्गी दलो के साथ समझौते की नीति पर चले। नतीजा यह हुआ कि समाजी लोकतन्त्रवादी बहुत कमजोर हो गये और हुकूमत दूसरे लोगो के हाथो मे चली गई। जर्मनी की तरह यहाँ भी खानगी फौजे खडी हो गई और अन्त मे प्रगति-विरोधी तानाशाही कायम हो गई। बहुत दिनो तक वियेना के समाजवादी शहर और देहातो के पुरातन-पन्थी किसानो मे आपसी रगड-झगड चलती रही। वियेना की समाजवादी म्युनिसिपल कमेटी मजदूर-वर्गों के लिए बढिया मकानो की व दूसरी योजनाओं के लिए मशहूर हो गई।

हंगरी मे बहुत पहले ही, ३ अक्तूबर, १९१८ ई० को, युद्ध खत्म होने के पाँच सप्ताह पहले ही, क्रान्ति भडक उठी। नवम्बर मे गणराज्य की घोषणा कर दी गई। चार महीने बाद, मार्च, १९१९ ई० मे, दूसरी क्रान्ति हुई। यह बेला-कुन नामक एक साम्यवादी की सरदारी मे, जो पहले लेनिन के साथ रह चुका था, सोवियत क्रान्ति थी। यहाँ सोवियत सरकार कायम हो गई और कुछ महीनो तक सत्ता मे रही। इसपर देश के दकियानूसी व प्रगति-विरोधी तत्वों ने अपनी मदद के लिए रूमानिया की फौज बुलवाई। रूमानियावाले बडी खुशी से वहाँ आये, उन्होंने बेला-कुन की सरकार को कुचलने मे मदद दी, और फिर वे देश को लूटने के लिए वहीं जम गये। हंगरी को उन्होंने तभी छोडा जब मित्र-राष्ट्रों ने उनके खिलाफ कार्रवाई की धमकी दी। रूमानियावाले ज्योंही हंगरी से हटे, त्योंही

[1] Anschluss—एकीकरण। यह एकीकरण मार्च, १९३८ ई० मे हो गया।

वहाँ के दकियानूसी लोगो ने देश के तमाम उदार व तरक्की-पसन्द तत्वो पर आतक जमाने के लिए एक खानगी सेना, या स्वयसेवको के जत्थे तैयार किये, ताकि आयन्दा क्रान्ति के किसी भी प्रयत्न को रोका जा सके। इस तरह १९१९ ई० मे हगरी मे 'सफ़ेद आतक' कहलानेवाला जमाना शुरू हुआ, जो "युद्ध के वाद के इतिहास का एक सबसे ज्यादा खूनी सफा" माना जाता है। हगरी मे आज भी कुछ हद तक सामन्ती प्रथा है, और इन सामन्ती जमीदारो ने, युद्ध के दौरान मे खूब दौलत पैदा करनेवाले उद्योगपतियो से मिलकर, सिर्फ साम्यवादियो को ही नहीं, वल्कि आमतौर पर मजदूरो को, और समाजी लोकतन्त्रवादियो को, और उदारदली लोगो को, और शान्तिवादियो को और यहूदियो तक को, कत्ल किया और खौफ दिलाया। तभी से हगरी एक प्रगति-विरोधी तानाशाही के मातहत चला आ रहा है। दिखावे के लिए एक पार्लमेण्ट भी है, पर उसका मतदान खुला है, यानी पार्लमेण्ट के सदस्यो का चुनाव खुले तौर पर होता है, और पुलिस व फौज का काम यह देखने का होता है कि तानाशाही के पसन्द किये हुए लोग ही चुने जायँ। राजनीतिक सवालो पर किसी किस्म की आम सभाएँ वर्दाश्त नही की जाती।

इस पत्र मे मैंने युद्ध के वाद मध्य यूरोप की कुछ घटनाओ का, और युद्ध से पहले मध्य-यूरोपीय शक्तियाँ कहे जानेवाले देशों पर युद्ध और हार और रूसी क्रान्ति के गहरे असर का, जिक्र किया है। युद्ध के अचरजभरे आर्थिक नतीजो का और उनके सवव से पूंजीवाद आज की बुरी हालत मे कैसे पहुँच गया, इसका बयान हमे अलग से करना है। इस पत्र मे मैंने जिन वातो के वारे मे लिखा है, उनका सीधा मतलब यह है कि युद्ध के वाद मे उन दिनो यूरोप मे क्रान्ति सिर पर खडी हुई नज़र आ रही थी। इस हक़ीकत से सोवियत रूस को मदद मिली, क्योकि अपने-अपने मजदूर-वर्ग पर बुरा असर पडने के डर से कोई भी साम्राज्यशाही शक्ति रूस पर खुले दिल से हमला करने का हौसला नही कर सकती थी। मगर क्रान्ति हुई ही नही, सिवाय इसके कि कही-कही उसके लिए कुछ प्रयत्न हुए, जो कुचल दिये गए। इस समाजी क्रान्ति को कुचलने मे और रोकने मे समाजी लोकतन्त्रवादियो ने वहुत वडा हिस्सा लिया, हालाँकि उनका समूचा दल ही ऐसी समाजी क्रान्ति के उसूल पर वना था। मालूम होता है इन समाजी लोकतन्त्रवादियो को यह उम्मीद थी या यकीन था कि पूंजीवाद अपनी मौत मर जायगा। इसलिए, उसपर खूब जोर के साथ हमला करने के वजाय उन्होने उस वक्त तो उसे वचाने का ही काम किया। या यह भी हो सकता है कि उनके दल का भारी-भरकम और मालदार सगठन काफी आराम-तलव था और मौजूदा व्यवस्था मे इतना उलझा हुआ था कि समाजी उथल-पुथल की जोखिम नही उठाना चाहता था। उन्होंने वीच के रास्ते पर चलने की कोशिश की, जिसका नतीजा यह हुआ कि उन्होने सारा काम

बिगाड दिया और गाँठ का भी खो दिया। जर्मनी मे हाल की घटनाओ से यह बात इतनी साफ हो गई है जितनी पहले कभी नही हुई थी।

युद्ध के बादवाले इन वर्षों पर छा जानेवाली एक और हकीकत है हिंसा की भावना का बढना। यह विचित्र बात है कि जब भारत मे अहिंसा धर्म का उपदेश दिया जा रहा था, तब लगभग सारी दुनिया मे हिंसा का नगा और बेहया नाच हो रहा था, और उसकी बडाई की जा रही थी। इसके लिए ज्यादातर तो युद्ध ज़िम्मेदार था और बाद मे जुदा-जुदा वर्गों के स्वार्थों की टक्करें। ज्यो-ज्यो ये टक्करें ज्यादा ज़ाहिर और गहरी होती गईं त्यो-त्यो हिंसा बढी। उदारवाद तो मानो गायब हो गया और उन्नीसवी सदी के लोकतन्त्र लोगो की नज़रों से गिर गया। अब तानाशाहो का खेल शुरू हो गया।

इस पत्र मे मैंने हारनेवाली शक्तियो का ज़िक्र किया है। जीतनेवाली शक्तियो को भी ऐसी ही मुसीबतें उठानी पडी थी, हालाँकि इग्लैण्ड और फ्रान्स मध्य-यूरोप की तरह के किसी बलवे या उथल-पुथल से अछूते बच गये। इटली मे बडी भारी उथल-पुथल हुई जिसके अजीब नतीजे निकले। इनपर अलग से रोशनी

१७२ :
पुराने क़र्ज़े चुकाने का नया तरीक़ा

१५ जून, १९३३

महायुद्ध के बाद हम यूरोप को, और सच तो यह है कि कुछ हद तक सारी दुनिया को, खलबलाते हुए देग़ की-सी हालत मे पाते हैं। वर्साई की सुलह से या दूसरी सन्धियो से हालत मे कोई सुधार नही हुआ। पोलो, और चेको और बाल्टिक कौमो के आज़ाद कर दिये जाने पर यूरोप का जो नया नकशा बना, उससे कुछ पुरानी राष्ट्रीय समस्याएँ हल हो गईं। लेकिन साथ ही आस्ट्रिया के टाइरोल को इटली के अधीन और यूक्रेन के कुछ भाग को पोलैण्ड के अधीन कर दिये जाने से, और पूर्वी यूरोप के दूसरे प्रदेशो का बुरा बँटवारा किया जाने से, इस नये नकशे ने नई-नई राष्ट्रीय समस्याएँ पैदा कर दी। पोलैण्ड के गलियारे और डैन्ज़िग का बन्दोबस्त सबसे ज्यादा निराला और खिझानेवाला था। मध्य व पूर्वी यूरोप का, कई छोटे-छोटे नये राज्य बनाकर, 'बलकानीकरण' कर दिया गया था, जिसका अर्थ था—और ज्यादा सरहदें, चुगी की और ज्यादा चौकियाँ, व और ज्यादा हैवानी दुश्मनियाँ।

१९१९ ई० की इन सन्धियो के अलावा, रूमानिया ने तरकीब लगाकर

बैसरेबिया पर, जो पहले दक्षिण-पश्चिमी रूस का भाग था, कब्ज़ा कर लिया। तभी से यह मामला सोवियत रूस व रूमानिया के बीच झगड़े और तकरार का मामला बना हुआ है। बैसरेबिया 'नीपर के किनारे का अलसास-लॉरेन' कहलाने लगा है।

इन प्रादेशिक परिवर्तनों के सवाल से भी बड़ा सवाल हर्जानों का था—यानी उस रक़म का जिसे हारा हुआ जर्मनी, युद्ध के ख़र्चे और युद्ध से होनेवाले नुकसान के मुआवज़े के तौर पर, जीते हुए मित्र-राष्ट्रों को देने के लिए मजबूर किया जानेवाला था। वर्साई की सन्धि में इनके लिए कोई ठीक-ठीक रक़म तय नहीं की गई थी, पर बाद के सम्मेलनों में इन हर्जानों की ज़बर्दस्त रक़म ६,६०,००,००,००० पौण्ड तय की गई जो सालाना किस्तों में चुकाई जानेवाली थी। इस भारी रकम का चुकाना किसी भी देश के लिए नामुमकिन था, फिर हारे हुए और पस्त जर्मनी के लिए तो इसे चुकाना और भी ज़्यादा दुश्वार था। जर्मनी ने इन्कार किया, पर वह बेकार हुआ। कोई और चारा न देखकर उसने संयुक्त राज्य अमेरिका से उधार लेकर दो-तीन किस्तें अदा कीं। उसने वक्त टालने के लिए ऐसा किया था, क्योंकि उसे सारे सवाल पर दुबारा ग़ौर करवाने की आशा थी। जर्मनी और बहुत-से दूसरे देश अच्छी तरह समझ गये थे कि उसके लिए पीढ़ियों तक ये भारी रकमें देते रहना मुमकिन नहीं था।

जर्मनी की माली हालत बहुत जल्दी बिगड़ गई, और सरकार के पास इतना रुपया नहीं रहा कि वह हर्जानों वगैरा के विदेशी कर्ज़े चुका सके या अन्दरूनी खर्च तक पूरे कर सके। दूसरे देशों की अदायगी के लिए सोना देना पड़ता था। इसलिए जब तयशुदा तारीख़ों पर ये अदायगियाँ न हुईं तो इकरार टूट गया। इधर जर्मनी में तो सरकार नोटों के जरिये भुगतान कर सकती थी, इसलिए उसने लगातार ज्यादा काग़ज़ी नोट छापने की तरकीब अपनाई। मगर नोट छापने से रुपया पैदा नहीं होता, सिर्फ लेन-देन की सहूलियत पैदा होती है। लोग नोटों का इस्तेमाल इसलिए करते हैं कि वे जानते हैं कि अगर वे चाहें तो उनके बदले में सोना या चाँदी ले सकते हैं। इन नोटों की साख के लिए बैंकों में हमेशा सोने की कुछ राशि जमा रहती है, ताकि नोटों की कीमत न गिरने पाये। इस तरह कागजी सिक्का बड़ा अच्छा काम देता है, क्योंकि इससे रोज़ाना लेन-देन के काम में लगनेवाला बहुत-सा सोना और चाँदी बच जाता है और सरकार की साख बढ़ जाती है। लेकिन अगर कोई सरकार बेहिसाब कागजी सिक्के छापती चली जाय और इसकी परवाह न करे कि बैंकों में कितना सोना जमा है, तो इस सिक्के की कीमत गिर जाना लाज़िमी है। जितने ज्यादा नोट छपते हैं उतनी ही उनकी कीमत घटती जाती है, और उनके जरिये होनेवाला लेन-देन का काम भी उतना ही कम हो जाता है। यह सिलसिला

सिक्के का फैलाव कहलाता है।[1] १९२२ व १९२३ ई० मे जर्मनी मे ठीक यही हुआ। जर्मन सरकार को अपने खर्चे चलाने के लिए ज्यादा रुपये की जरूरत हुई, तो उसने ज्यादा नोट छाप डाले। इसका नतीजा यह हुआ कि दूसरी सब चीज़ो की कीमतें तो बढ गईं, पर पौण्ड, डॉलर या फ्रैंक[2] के मुकाबले मे जर्मनी के मार्क[3] की कीमत गिर गई। इसलिए सरकार को मार्क के नोट और छापने पडे और मार्क की कीमत और भी गिरी। यह सिलसिला हद दर्जे तक पहुँच गया, यहाँतक कि एक डॉलर या पौण्ड की कीमत अरबो कागज़ी मार्क हो गई। असल मे कागज़ी मार्क की कोई क़ीमत ही नही रह गई। चिट्ठी पर लगाने के लिए एक टिकट की कीमत दस लाख कागज़ी मार्क हो गई। दूसरी चीज़ो की क़ीमतें भी इसी तरह चढ गईं और लगातार बढ़ती रहती थी।

जर्मन सिक्के का यह फैलाव और मार्क की क़ीमत मे यह हैरतभरी गिरावट अपने-आप ही नही हुई। यह तो जर्मन सरकार ने अपनी आर्थिक मुश्किलो मे से निकलने के इरादे से जानबूझकर किया था, और बहुत हद तक ऐसा ही हुआ। क्योंकि सरकार ने, म्यूनिसिपल कमेटियो ने और दूसरे कर्ज़दारो ने जर्मनी मे अपने-अपने तमाम अन्दरूनी कर्ज़े निकम्मे कागज़ी मार्कों के ज़रिये आसानी से चुका दिये। अलबत्ता वे इस तरह विदेशो मे या विदेशो को क़र्ज़े नही चुका सके, क्योंकि वहाँ उनका कागज़ी सिक्का कोई भी लेने को तैयार नही था। जर्मनी मे तो कानून के ज़ोर से लोगो को यह सिक्का लेने के लिए मजबूर किया जा सकता था। इस तरह सरकार ने और हर कर्ज़दार ने क़र्ज़ के दुखदायी बोझ से पिण्ड छुडाया। लेकिन इसके बदले मे जनता को ज़बर्दस्त तकलीफें उठानी पडी। इस फैलाव के ज़माने मे सब लोगो ने दुःख सहे, पर सबसे ज्यादा दुःख मध्यम-वर्ग को सहने पडे, क्योंकि इन वर्गों के ज्यादातर लोगो को बँधी-बँधाई तनख्वाहें मिलती थी या दूसरी बँधी-बँधाई आमदनियाँ होती थी। ज्यो-ज्यो मार्क की कीमत गिरी त्यो-त्यो ये तनख्वाहें ज़रूर बढ़ी, पर इतनी ऊँची कभी नही हुईं कि मार्क की तेज़ी से गिरती हुई कीमत का मुकाबला करती। इस फैलाव ने निचले मध्यम-वर्गों का तो क़रीब-करीब सफाया ही कर दिया, और आगे के वर्षों मे जर्मनी मे होनेवाली मार्के की घटनाओ पर विचार करते वक्त यह बात हमे ध्यान मे रखनी होगी। क्योंकि अब इन नाराज़ व दर्जे से गिरे हुए मध्यम-वर्गों की ज़बर्दस्त विद्रोही फौज तैयार हो गई, जिसमे क्रान्ति की आग भरी थी। ये लोग धीरे-धीरे उन खानगी सेनाओ मे जा मिले, जो बडे-बडे दलो के इर्द-गिर्द बढ़ती जा रही थी, और ज्यादातर लोग हिटलर के नये राष्ट्रीय समाजवादी या नात्सी दल मे जा मिले।

---

[1] Inflation—मुद्रा-स्फीति।

[2] फ्रान्स का सिक्का। [3] Mark—जर्मनी का सिक्का।

पुराना मार्क, जो अब किसी भी मतलब के लिए बेकार हो गया था, मसूख कर दिया गया, और इसकी जगह 'रैन्टनमार्क' का नया सिक्का जारी किया गया। इसका सिक्के के फैलाव से कोई वास्ता नही था, और इसकी कीमत वही थी, जो उतनी कीमत के सोने की। इस तरह अपने निचले मध्यम-वर्गों का पूरी तरह सफाया करके जर्मनी फिर पायेदार सिक्के पर लौट आया।

जर्मनी की इ ा आर्थिक गडबडियो का नतीजा सारे राष्ट्रो को भुगतना पडा। मित्र-राष्ट्रो को हर्जानो की अदायगी मे चूक पड गई। इन हर्जानो को मित्र-राष्ट्री शक्तियाँ आपस मे बाँट लेती थी और सबसे बडा हिस्सा फ्रान्स को मिलता था। रूस अपना हिस्सा नही लेता था, अगर उसका कोई दावा था भी तो उसने छोड दिया था। जब जर्मनी किस्त अदा करने मे चूक गया तो फ्रान्स और बैलजियम ने जर्मनी के रूर इलाके पर फौजी कब्ज़ा कर लिया। वर्साई सन्धि के मातहत राइनलैण्ड पर मित्र-राष्ट्रो का पहले ही कब्ज़ा हो चुका था। जनवरी, १९२३ ई० मे फ्रान्स और बैलजियम ने कुछ और इलाक़े पर कब्ज़ा कर लिया (इस कार्रवाई मे इग्लैण्ड ने शामिल होने से इन्कार कर दिया था)। रूर का यह इलाका राइनलैण्ड से मिला हुआ है और इसमे कोयले से भरपूर खानें हैं और कारखाने हैं। फ्रान्स इस कोयले पर और वहाँ तैयार होनेवाली दूसरी चीज़ो पर कब्ज़ा करके अपना रुपया वसूल करना चाहता था। पर यहाँ एक मुश्किल खडी हो गई। जर्मन सरकार ने निष्क्रिय प्रतिरोध यानी सत्याग्रह[1] के ज़रिये फ्रान्सीसियो के इस कब्ज़े को रोकने का फैसला किया, और उसने रूर के खान-मालिको व मज़दूरो से कहा कि वे काम बन्द कर दें और फ्रान्स को किसी तरह की मदद न दें। उसने खान-मालिको व उद्योगपतियो को करोडो मार्कों की मदद दी, ताकि काम बन्द करने की वजह से होनेवाले नुकसान पूरे हो जायँ। नौ-दस महीने बाद, जो फ्रान्स और जर्मनी दोनो को बहुत महँगे पडे, जर्मन सरकार ने यह असहयोग उठा लिया, और इस इलाके की खानो और कारखानो को चलाने के काम मे फ्रान्सीसियो को सहयोग देना शुरू कर दिया। १९२५ ई० मे फ्रान्सीसियो और बैलजियनो ने रूर छोड दिया।

रूस मे जर्मनो का खामोश मुकाबला तो असफल हो गया था, पर इसने साबित कर दिया था कि हर्जानो के सवाल पर दुबारा गौर करना और अदायगी की वाजिब रक़मे तय करना ज़रूरी था। इसलिए जल्दी-जल्दी एक के बाद दूसरे सम्मेलन हुए और कमीशन बैठे, और एक के बाद दूसरी नई-नई योजनाएँ निकाली गईं। १९२४ ई० मे डौज़ योजना[2] बनी, पाँच साल बाद, १९२९ ई० मे, यग योजना

---

[1] Passive Resistance—निष्क्रिय प्रतिरोध।

[2] Dawes Plan—इस योजना को बनानेवाला Charles Gates Dawes नामक अमरीकी अर्थ-विद् और राजनीतिज्ञ था।

आई, और तीन साल बाद सबो ने एक तरह से मान लिया कि हर्जाने अब आगे नही चुकाये जा सकते। इसलिए यह सारा विचार ही रद्द कर दिया गया।

१९२४ ई० से लगाकर अगले कुछ वर्षों तक जर्मनी ने हर्जानो का बराबर भुगतान किया, लेकिन जब जर्मनी के पास रुपया ही नही था और वह दिवालिया हो रहा था, तो यह भुगतान हुआ कैसे ? यह सयुक्त राज्य अमेरिका मे कर्ज़ लेकर हुआ। मित्र-राष्ट्रो (इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा) को अमेरिका का रुपया देना था— वह रुपया, जो उन्होने युद्ध-काल मे उधार लिया था, उधर जर्मनी को हर्जानो के तौर पर मित्र-राष्ट्रो का रुपया देना था। बस, अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, ताकि जर्मनी मित्र-राष्ट्रो को रुपया अदा कर सके, और मित्र-राष्ट्र यही रुपया अमेरिका को दे दे। यह बडी खूबसूरत तरकीब थी, और हरेक राज़ी दिखाई देता था ! सच तो यह है कि रुपया वसूल करने का और कोई रास्ता ही नही था। अलबत्ता कर्ज़ लेने और उधार देने का यह सारा चक्कर एक छोटी-सी चीज़ पर निर्भर था—वह यह कि अमेरिका जर्मनी को रुपया उधार देता चला जाय। अगर यह बन्द हुआ तो सारा इन्तज़ाम चौपट हुआ समझो।

कर्ज देने और उधार लेने के इस सिलसिले का अर्थ यह नही था कि सचमुच कोई नकद रुपया दिया-लिया जाता हो। यह तो सब कागज़ी लेन-देन था। अमेरिका जर्मनी के खाते मे एक खास रकम लिख देता था, जर्मनी इसे मित्र-राष्ट्रो के खाते मे जमा कर देता था, और मित्र-राष्ट्र इसी को फिर अमेरिका के खाते मे लिख देते थे। असल रुपया तो कही जाता-आता नही था, सिर्फ बही-खातो मे कुछ इन्दराज़ हो जाते थे। अमेरिका ऐसे कगाल देशो को उधार क्यो देता चला जाता था, जो पिछले कर्ज़ो का सूद तक अदा नही कर पाते थे ? अमेरिका ऐसा इसलिए करता था कि इन देशो को किसी तरह अपनी गाडी चलाने मे मदद मिल जाय और वे दिवालिया होने से बच जायँ। क्योकि अमेरिका को यूरोप के चौपट हो जाने का डर था, जिसके और तो बुरे नतीजे निकलते ही, पर जिसका अर्थ यह होता कि अमेरिका का सारा लेना ही मारा जाता। इसलिए समझदार बोहरे की तरह अमेरिका ने अपने कर्ज़दारो को ज़िन्दा और काम चलाने लायक बनाये रक्खा। लेकिन कुछ वर्षों बाद अमेरिका लगातार उधार देने की इस नीति से उकता गया, और उसने इसे खत्म कर दिया। बस, हर्जानो और कर्ज़ो का सारा ढाँचा फौरन भहराकर गिर पडा और अदायगियाँ रुक गईं, और यूरोप के सारे राष्ट्र व अमेरिका दलदल मे फँस गये।

इस तरह हर्जानो की समस्या महायुद्ध के बाद लगभग बारह वर्षो तक यूरोप पर छायी रही। इसके साथ ही युद्ध के कर्ज़ो का सवाल था—यानी जर्मनी के अलावा दूसरे देशो के कर्ज़ो का। जैसाकि मैं महायुद्ध के बारे मे अपने एक पत्र मे लिख चुका

हूं, महायुद्ध के शुरू के दिनो मे इग्लैण्ड और फ्रान्स ने युद्ध का खर्चा उठाया, और अपने साथी छोटे-छोटे राष्ट्रो को रुपया उधार दिया। फिर फ्रान्स के साधन खत्म हो गये और वह आगे उधार देने काविल नही रहा। मगर इग्लैण्ड उधार देता रहा। वाद मे इग्लैण्ड का खज़ाना भी खाली हो गया, और वह भी आगे उधार देने काविल नही रहा। अकेला सयुक्त राज्य अमेरिका ही उधार देनेवाला रह गया, और उसने इग्लैण्ड, फ्रान्स व दूसरे मित्र-राष्ट्रो को, अपने फायदे का ध्यान रखते हुए, खुले दिल से रुपया उधार दिया। वस, युद्ध का अन्त होने पर कुछ देशो को फ्रान्स का देना था, वहुत-से देश इग्लैण्ड के कर्ज़दार थे, और तमाम मित्र-राष्ट्री देशो को अमेरिका को वडी-वडी रकमे देना वाकी थी। अकेला अमेरिका ही ऐसा देश था, जिसे किसी दूसरे देश को कुछ देना नही था। उस समय वह वडा भारी साहूकार राष्ट्र था। उसने इग्लैण्ड की पुरानी हैसियत हासिल कर ली थी, और दुनिया भर का बोहरा वन गया था। कुछ आँकडो मे शायद यह वात साफ हो जायगी। महायुद्ध से पहले अमेरिका कर्ज़दार राष्ट्र था, जिसे दूसरे देशो को तीन अरव डॉलर चुकाने थे। लेकिन युद्ध का अन्त होते-होते यह सारा कर्ज़ा चुक गया, और उलटे अमेरिका ने भारी-भारी रकमे उधार दे दी थी। १९२६ ई० मे अमेरिका पच्चीस अरव डॉलर का लेनदार, साहूकार राष्ट्र वन गया था।

युद्ध के ये कर्ज़े इग्लैण्ड, फ्रान्स, इटली वगैरा कर्ज़दार देशो पर ज़वर्दस्त वोझ थे, क्योंकि ये सव सरकारी कर्ज़े थे, जिनके लिए सरकारें जिम्मेदार थी। इन देशो ने अमेरिका से अपने हित मे खासतौर पर अच्छी शर्तें हासिल करने की कोशिश की, और इन्हें कुछ रियायतें मिल भी गई, पर वोझ फिर भी वना रहा। जवतक जर्मनी हर्जानो की किस्ते देता रहा तवतक कर्ज़दार देश इन अदायगियो को (जो वास्तव मे अमेरिका के ही उधार खाते की थी) अमेरिका के खाते मे डालते रहे। पर जव हर्जानो की ये किस्ते वक्त पर न चुकाई गई या आना वन्द हो गई, तो कर्ज़े चुकाना भी मुश्किल हो गया। यूरोप के कर्ज़दार देशो ने हर्जानो व युद्ध के कर्ज़ो को जोडने का यत्न किया, उन्होंने कहा कि अगर एक की अदायगी वन्द हो जाती है तो दूसरे की भी अपने-आप वन्द हो जानी चाहिए। मगर अमेरिका ने दोनो को मिलाने से इन्कार कर दिया। उसने कहा कि जो रुपया उसने उधार दिया था, उसे वह वापस चाहता था, जर्मनी से वसूल होनेवाले हर्जानो का सवाल बिलकुल अलग था, क्योंकि इनकी हैसियत ही जुदा थी। अमेरिका के इस रुख पर यूरोप मे वहुत नाराज़गी ज़ाहिर की गई, और उसे वहुत जली-कटी वाते सुनाई गई। कहा गया है कि वह शाइलॉक की तरह, "आधा सेर माँस" चाहता है। फ्रान्स मे खासतौर पर यह वात कही गई कि अमेरिका से जो रुपया उधार लिया गया था, वह सवके शामिल मकसद के लिए, यानी युद्ध मे खर्च हुआ था, इसलिए वह साधारण कर्ज़े की तरह नही माना जाना चाहिए। उधर अमेरिकावासियो को 'यूरोप मे युद्ध के

बाद की आपसी लाग-डांटो और साजिशो से बडी नफरत हो गई थी। उन्होंने देखा कि फ्रान्स और इंग्लैण्ड और इटली अपनी-अपनी फौजो व जगी-बेडो पर खूब रुपया खर्च करते चले जा रहे थे, और छोटे-छोटे देशो को हथियार खरीदने के लिए रुपया तक उधार दे रहे थे। अगर यूरोप के इन देशो के पास लडाई के सामानो के लिए इतना सारा रुपया था, तो अमेरिकावाले उनके कर्ज़ माफ़ क्यो करें? अगर वे इन कर्जों को माफ कर दे तो शायद यह रुपया भी लडाई के सामानो मे झोक दिया जायगा। अमेरिका की यही दलील थी, और वह कर्ज़ों के अपने दावो पर अडा रहा।

हर्जानो की ही तरह युद्ध के कर्ज़ों का भी किसी तरह चुकाया जाना बहुत मुश्किल था। अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज़ या तो सोना देकर अदा किये जा सकते हैं, या माल देकर, या सेवाएं (जैसे माल लाना-लेजाना, जहाजरानी, व दूसरी सेवाएँ) देकर। इन भारी रकमो का सोने के रूप मे अदा किया जाना नामुमकिन था, इतना सोना मिल ही नही सकता था। और माल व सेवाओ के रूप मे भारी हर्जानो व क़र्ज़ों दोनो की अदायगी करीब-करीब नामुमकिन हो गई थी, क्योंकि अमेरिका ने और यूरोप के देशो ने भी चुगी की पाबन्दियाँ लगाकर विदेशी माल आना रोक दिया था। इससे एक अनहोनी सूरत पैदा हो गई, और यही असली कठिनाई थी। मगर फिर भी कोई देश न तो चुगी की पाबन्दियाँ कम करने को तैयार था, और न अपने कर्ज़ की रक़म के बदले मे माल लेने को तैयार था, क्योंकि इससे देशी उद्योगो को नुकसान पहुँचने का खतरा था। यह एक विचित्र और खोटा चक्कर था।

अकेला यूरोप ही ऐसा महाद्वीप नही था, जो सयुक्त राज्य अमेरिका का क़र्ज़दार था। अमेरिकी बोहरो और व्यापारियो ने कनाडा व लातीनी अमेरिका (यानी दक्षिण व मध्य अमेरिका और मैक्सिको) मे करोडो की पूंजी लगा रक्खी थी। महायुद्ध के ज़माने मे लातीनी अमेरिका के इन देशो पर आजकल के उद्योगो व मशीनो की शक्ति का गहरा असर पडा था। इसलिए उन्होंने उद्योगो के विकास पर सारा ध्यान लगा दिया, और सयुक्त राज्य मे जो धन की नदी बह रही थी, वह इस काम के लिए उत्तर से इन देशो की तरफ आने लगी। इन्होंने इतना रुपया उधार ले लिया कि उसपर व्याज देना भी मुश्किल हो गया। हर जगह तानाशाह पैदा हो गये, और जबतक यह उधार-खाता चलता रहा तबतक सब काम ठीक होता रहा, उसी तरह जिस तरह कि जबतक अमेरिका कर्ज़ देता रहा तबतक जर्मनी मे सब काम ठीक होता रहा। जब लातीनी अमेरिका को कर्ज़ देना बन्द कर दिया गया तो वहाँ भी उसी तरह दिवाला निकल गया जिस तरह यूरोप मे निकला था।

अमेरिका की लगाई हुई पूंजियो का, और लातीनी अमेरिका मे वे किस

तेज़ी के साथ वढी इसका कुछ अन्दाज़ा तुम्हें देने के लिए मैं यहाँ दो आँकडे देता हूँ। १९२६ ई० मे इन पूँजियो की रकम सवा चार अरब डॉलर थी। तीन साल वाद, १९२९ ई० मे, यह रकम साढे पाँच अरब तक पहुच गई थी।

वस, युद्ध के वाद के वर्षों मे अमेरिका दुनिया का माना हुआ वोहरा वन गया। वह मालदार था, खुशहाल था, और दौलत के मारे फटा पड रहा था। उसका रोव सारे ससार पर छा गया था, और उसके निवासी यूरोप को, और उससे भी ज्यादा एशिया को, कुछ हिकारत के साथ ऐसा समझते थे मानो वे कोई सठियाए हुए वूढे और झगडालू महाद्वीप हो। १९२०-३० ई० मे खुशहाली के उन चोटी के दिनो मे अमेरिकी दौलत की कुछ कल्पना करने की कोशिश करो। १९१२ से लगाकर १९२७ ई० तक के पन्द्रह वर्षों मे अमेरिका की कुल राष्ट्रीय दौलत १,८७,२३,९०,००,००० डॉलर से वढकर ४,००,००,००,००,००० डॉलर हो गई। १९२७ ई० मे यहाँ की आवादी पौने वारह करोड के लगभग थी, और औसत से एक आदमी की आमदनी ३,४२८ डॉलर आती थी। तरक्की इतनी तेज़ी से हो रही है कि ये आँकडे हर साल वदलते जाते हैं। पिछले एक पत्र मे, भारत व दूसरे देशो की राष्ट्रीय आमदनियो की तुलना करते हुए मैंने अमेरिका के लिए इससे वहुत नीचा आँकडा दिया था। पर यह आँकडा राष्ट्रीय आमदनी का था, दौलत का नही, और वह भी शायद किसी पिछले वर्ष का था। ऊपर दिया हुआ १९२७ ई० का आँकडा अमेरिका के राष्ट्रपति कूलिज के नवम्बर, १९२६ ई० मे दिये हुए एक वयान के आधार पर है।

कुछ और आँकडे भी शायद तुम्हें दिलचस्प मालूम हो। ये सव १९२७ ई० के हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका मे कुटुम्वो की सख्या २,७०,००,००० थी। इनके पास विजली की रोशनीवाले १,५९,२३,५०० घर थे, और व्यवहार मे आनेवाले टेलीफोनो की सख्या १,७७,८०,००० थी। यहाँ १,९२,३७,१७१ मोटरें चलती थी, और यह सख्या सारी दुनिया की मोटरो की ८१ फीसदी थी। अमेरिका मे मोटर गाडियो का उत्पादन सारे ससार के उत्पादन का ८७ फीसदी था, पैट्रोलियम का उत्पादन ७१ फीसदी था, और कोयले का ४३ फीसदी। मज़ा यह है कि सयुक्त राज्य की आवादी सारी दुनिया की आवादी की सिर्फ ६ फीसदी थी। इस तरह वहाँ की जनता के जीवन का दर्जा वहुत ऊँचा था, मगर उतना ऊँचा नही था जितना कि हो सकता था, क्योकि दौलत तो कुछेक हज़ार लखपतियो और करोडपतियो के हाथो मे जमा थी। ये 'वडे व्यापारी' देश पर राज करते थे। राष्ट्रपति उनकी मर्ज़ी का चुना जाता था, कानून वे वनाते थे, और अक्सर करके कानूनो को तोडते भी थे। इन वडे व्यापारियो मे ज़वर्दस्त भ्रष्टाचार था, पर जवतक आम खुशहाली थी, तवतक अमेरिकी जनता को इसकी कोई परवाह नही थी।

१९२०-३० ई० मे अमेरिका की खुशहाली के ये आंकडे मैंने कुछ तो तुम्हें यह बतलाने के लिये दिये हैं कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने भारत व चीन-जैसे पिछडे हुए और उद्योग-विहीन देशो के मुकाबले मे एक देश को किस ऊँची चोटी पर पहुँचा दिया है, और कुछ इसलिए कि अमेरिका की इस खुशहाली का बाद मे वहाँ आनेवाले सकट और पतन के मुकाबले मे फर्क ज़ाहिर हो गया। इसका हाल मैं आगे चलकर लिखूंगा।

यह सकट तो बाद मे आनेवाला था। ठेठ १९२९ ई० तक तो ऐसा मालूम हुआ कि दुखी यूरोप और एशिया की तकलीफो से अमेरिका अछूता रह गया। पराजित शक्तियो की हालत बहुत बुरी थी। जर्मनी के कष्टो का कुछ हाल मैं तुम्हें बतला चुका हूँ। मध्य-यूरोप के ज्यादातर छोटे-छोटे देशो की, और खासकर आस्ट्रिया की, हालत तो और भी बुरी थी। आस्ट्रिया को भी सिक्के के फैलाव की मुसीबत सहनी पडी, और पोलैण्ड को भी, और दोनो को अपने सिक्के बदलने पडे।

पर यह मुसीबत सिर्फ पराजित देशो मे ही नही थी। धीरे-धीरे विजेता देश तक भी इसमे फँस गये। यह तो हमेशा से माना जाता रहा था कि कर्जदार होना अच्छी चीज़ नही है। पर अब एक नया और अजीब अनुभव हुआ वह यह कि कर्ज-देवा होना भी उतना ही बुरा है जितना कर्ज-लेवा। क्योकि वे विजेता शक्तियाँ, जो जर्मनी से हर्जानो की लेनदार थी, इन हर्जानो के कारण बडी कठिनाइयो मे पड गईं, और इनकी वसूली के काम ने तो इन्हे और भी आफत मे डाल दिया। इन बातो का जिक्र मैं अगले पत्र मे करूँगा।

: १७३ :

रुपये का अजीब बर्ताव

१६ जून, १९३३

यह युद्ध के बाद की एक सबसे ज्यादा मार्के की खामियत है रुपये का अजीब बर्ताव। युद्ध से पहले हर देश मे रुपये का बहुत कुछ ठहरा हुआ मूल्य था। हर देश का निजी सिक्का था, जैसे भारत मे रुपया, इंग्लैण्ड मे पौण्ड, अमेरिका मे डॉलर, फ्रान्स मे फ्रैन्क, जर्मनी मे मार्क, रूस मे रूबल, इटली मे लीरा, वगैरा, और इन सिक्को का आपस मे ठहरा हुआ सम्बन्ध था। ये आपस मे 'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान' से बँधे हुए थे—यानी हर सिक्के का सोने की कीमत के अनुसार एक तयशुदा मूल्य होता था। हर देश की सीमाओ के भीतर उसका अपना सिक्का ठीक काम देता था, पर बाहर के देशो मे नही। दो सिक्को को जोडनेवाली कड़ी सोना थी,

इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सोने के लेन-देन से किये जाते थे। जबतक इन सिक्कों के स्वर्ण-मान कायम रहते थे, तबतक उनमे ज्यादा उतार-चढाव नही हो सकता था, क्योंकि जहांतक मूल्य का सम्बन्ध है, वहांतक सोना ऐसी धातु है, जिसका भाव ज्यादा उतरता-चढता नही।

मगर युद्ध काल की जरूरतो ने लडनेवाली सरकारो को यह स्वर्ण-मान छोडने पर मजबूर कर दिया, जिससे उनके सिक्को के मूल्य गिर गये। कुछ हद तक सिक्के का फैलाव भी हुआ। इनसे व्यापार चलाने मे तो मदद मिली, पर सिक्को के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उलट-पुलट हो गये। युद्धकाल मे दुनिया दो विशाल शिविरो मे बँट गई थी—एक मित्र-राष्ट्री शिविर और दूसरा जर्मन शिविर। और हर शिविर के भीतर आपसी सहयोग व तालमेल था और हर चीज़ युद्ध पर निछावर कर दी जाती थी। युद्ध के बाद कठिनाइयां पैदा हो गईं, और बदलनेवाली आर्थिक हालतो और राष्ट्रो के आपसी अविश्वासो का नतीजा यह हुआ कि जुदा-जुदा सिक्के अजीब व्यवहार करने लगे। आजकल लेन-देन का सारा ढांचा ज्यादातर साख के आधार पर खडा है। बैंक का नोट व हुण्डी, दोनो रुपया देने के इकरार-नामे होते है, जिन्हें असली रुपये की तरह माना जाता है। साख विश्वास पर निर्भर रहती है, और अगर विश्वास जाता रहता है, तो उसके साथ साख भी चली जाती है। युद्ध के बाद के वर्षो के दौरान लेन-देन के ढग ने इतनी गडबड क्यो मचा दी, इसका यह भी एक कारण है, क्योंकि यूरोप की झंझट-भरी हालतो ने सारे विश्वास की जड हिला दी थी। आज के संसार मे आपसी निर्भरता है, हर भाग का दूसरे भाग के साथ गहरा सम्बन्ध है और कितनी ही अन्तर्राष्ट्रीय हलचलें सदा होती रहती है। इसका अर्थ यह है कि एक देश की गडबडियो की फौरन ही दूसरे देशो मे प्रतिक्रिया होती है। अगर जर्मन मार्क का मूल्य गिर जाय या कोई जर्मन बैंक दिवालिया हो जाय, तो लन्दन और पेरिस और न्यूयार्क के लोगो मे भी इससे बहुत घबराहट फैल सकती है। इन सबबो ने और दूसरे सबबो से, जिनका जिक्र करके मैं तुम्हें परेशान नही करना चाहता, करीब-करीब सभी देशो मे सिक्के या रुपये की दिक्कतें पैदा हो गई, और उद्योगो के लिहाज़ से जो देश जितना ज्यादा आगे बढा हुआ था उतनी ही ज्यादा बार उनपर दिक्कतें आई। क्योंकि उद्योगो मे तरक्की का अर्थ था बहुत पेचीदा और नाजुक अन्तर्राष्ट्रीय ढांचा। अलबत्ता, तिब्बत जैसे पिछडे हुए व सबसे अलग-थलग प्रदेश पर मार्क या पौण्ड के उतार-चढाव का कोई असर न होगा, पर डॉलर के मूल्य मे गिरावट होने से जापान मे तो फौरन घबराहट फैल सकती है।

इसके अलावा हर उद्योग-प्रधान देश मे अलग-अलग तबको के स्वार्थ भी अलग-अलग थे। यानी कुछ लोग सस्ता रुपया और सिक्के का फैलाव चाहते थे

(अलबत्ता वैसा बेहद फैलाव नही जैसा जर्मनी मे हुआ था), उधर कुछ लोग इससे बिलकुल उलटा सिक्के का सिकुडना, यानी रुपये का ऊँचा स्वर्ण-मान चाहते थे। मसलन, साहूकार, बौहरे, वगैरा रुपये के ऊँचे मूल्य के पक्ष मे थे, क्योकि उन्हें दूसरो से रुपया लेना था, और कर्ज़दार लोग अपने कर्ज़ चुकाने के लिए कुदरती तौर पर सस्ता रुपया चाहते थे। उद्योगपति व कारखानेदार सस्ते रुपये के पक्ष मे थे, क्योकि आमतौर पर वे बौहरो के कर्ज़दार थे, और इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि सस्ता रुपया होने से विदेशो मे उनके माल की बिक्री बढती थी। सस्ते अग्रेज़ी सिक्के का अर्थ यह होगा कि विदेशी मण्डियो मे जर्मन, अमेरिकी या दूसरे विदेशी मालो की कीमतो के मुकाबले मे ब्रिटिश माल की कीमत कम होगी, और इसकी वजह से ब्रिटिश उद्योगपति फायदे मे रहेंगे और उनका माल ज्यादा बिकेगा। बस, तुम्हारे ध्यान मे यह बात आ गई होगी कि अलग-अलग तबके अलग-अलग दिशाओ मे खीचतान कर रहे थे, और खास रस्सा-कशी उद्योगपतियो व बौहरो के बीच चल रही थी। मैं इस चीज़ को जहांतक हो आसान तौर पर लिखने की कोशिश कर रहा हूँ। पर सच तो यह है कि इसमे उलझनें पैदा करने-वाले बहुत-से सबब थे।

फ्रान्स व इटली दोनो मे सिक्के का फैलाव था, और फ्रैन्क व लीरा के मूल्य गिर गये थे। फ्रैन्क का पुराना मूल्य यह हुआ करता था कि एक पौण्ड स्टर्लिंग (यह ब्रिटिश पौण्ड का नाम है) के २५ फ्रैन्क होते थे। यह भाव गिरकर एक पौण्ड के २७५ फ्रैन्क हो गया। बाद मे एक पौण्ड का भाव करीब १२० फ्रैन्क तय कर दिया गया।

युद्ध के बाद, जब अमेरिका ने इग्लैण्ड को सहायता देना बन्द कर दिया, तब पौण्ड का मूल्य कुछ गिर गया। उस समय इग्लैण्ड के सामने एक कठिनाई पैदा हो गई। क्या वह पौण्ड के मूल्य मे इस कुदरती गिरावट को मजूर कर ले और पौण्ड का यह नया मूल्य तय कर दे? इससे माल सस्ता हो जाने की वजह से उद्योगो को तो मदद मिलती, पर बौहरो और साहूकारो को घाटा पहुँचता। इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह थी कि इससे लन्दन की वह हैसियत खत्म हो जाती, जिससे वह सारे ससार का आर्थिक केन्द्र बना हुआ था। तब यह होता कि लन्दन की जगह न्यूयार्क इस हैसियत मे आ बैठता और कर्ज़ लेनेवाले लन्दन न जाकर वहाँ पहुँचने लगते। दूसरा रास्ता यह था कि पौण्ड को उसकी मूल कीमत पर ऊपर चढा दिया जाता। इससे पौण्ड की साख बढ जाती और लन्दन की आर्थिक अगुआई कायम रहती। पर उद्योगो को हानि पहुँचती और, जैसा कि इस घटना ने साबित कर दिया, और भी कई अनचाही बातें पैदा हो जाती।

ब्रिटिश सरकार ने १९२५ ई० मे दूसरा रास्ता अपनाया, और पौण्ड का

स्वर्ण-मान पहले की बराबर ऊँचा कर दिया। इस तरह उसने कुछ हद तक अपने उद्योगों को अपने बौहरो के हित मे निछावर कर दिया। उसके सामने जो असली मुद्दा था, वह इससे भी ज्यादा महत्व का था, क्योंकि उसका ब्रिटिश साम्राज्य की पायेदारी पर गहरा असर पडता था। अगर लन्दन ससार की आर्थिक नेतागिरी खो देता, तो साम्राज्य के जुदा-जुदा अग फिर उसकी रहनुमाई या सहायता के आसरे न रहते, और साम्राज्य धीरे-धीरे गायब हो जाता। बस, यह सवाल साम्राज्यशाही नीति का सवाल बन गया, और यह बडा साम्राज्यवाद इग्लैण्ड के उद्योगो व मौजूदा घरेलू हितो को कुर्बान करके जीत गया। तुम्हें याद होगा कि साम्राज्यशाही हितो ने ठीक इसी तरह इग्लैण्ड को, लकाशायर व ब्रिटिश उद्योगो को नुक़सान पहुँचाकर भी, युद्ध के बाद भारत के उद्योगीकरण को बढावा देने के लिए उकसाया था।

बस, अपनी नेतागिरी और साम्राज्य बनाये रखने के लिए इग्लैण्ड ने जोरदार प्रयत्न किया, पर यह कोशिश बडी महँगी पडी, और इसकी असफलता मानो पहले ही बदी थी। ब्रिटिश सरकार या कोई भी दूसरी सरकार, आर्थिक होनहार के अटल चक्र को रोक नही सकती थी। कुछ देर के लिए पौण्ड ने अपना प्राचीन गौरव हासिल कर लिया था, लेकिन उद्योगों को दिन-पर-दिन ज्यादा अपग बनाकर। बेरोजगारी बढ गई, और कोयला-उद्योग पर तो खासतौर से मार पडी। पौण्ड का सिकुडना (स्वर्ण-मान बढाने की प्रक्रिया का यही नाम है) ही इसके लिए ज्यादातर जिम्मेदार था। पर कुछ और कारण भी थे। हर्जानो की अदायगी के रूप मे जर्मनी से कुछ कोयला वसूल हुआ था, और इसका नतीजा यह हुआ कि इग्लैण्ड के कोयले की माँग कम हो गई। इसके नतीजे से कोयले की खानो मे बेकारी और भी ज्यादा बढ गई। इस तरह कर्ज-देवा और विजेता देशो को यह मानना पडा कि पराजित देशो से इस तरह का खिराज वसूल करना कोई ऐसी नियामत नही है, जो बुराई से खाली हो। इग्लैण्ड का कोयला-उद्योग भी बहुत बुरी तरह चलाया जा रहा था। वह सैकडो छोटी-छोटी कम्पनियो मे बँटा हुआ था, और यूरोप व अमेरिका की बडी-बडी व अच्छे इन्तजामवाली सयुक्त कम्पनियो के साथ आसानी से होड नही कर सकता था।

जब कोयला-उद्योग की हालत दिन-पर-दिन ज्यादा बिगडने लगी, तो खान-मालिको ने अपने मजदूरो की मजूरियाँ घटाने का फैसला किया। खान-मजदूरो मे इसपर गुस्से की आग भडक उठी, और उन्हे दूसरे उद्योगो के मज़दूरो का भी सहारा मिला। इग्लैण्ड का सारा मजदूर-आन्दोलन खान-मजदूरो के हित मे लडने के लिए तैयार हो गया, और एक 'युद्ध कौन्सिल' बना दी गई। इससे पहले खान-मजदूरों, रेल-मजदूरो और माल लादनेवाले मज़दूरो की तीन बडी मजदूर यूनियनो

का एक ताकतवर 'तिहेरा सगठन' बन गया था, जिसमे लाखो सु-सगठित व सीखे हुए मज़दूर शामिल थे। मज़दूर-वर्ग के इस सरगर्म रवैये ने सरकार को काफी भयभीत कर दिया, और उसने खान-मालिको को सरकारी सहायता देकर सकट को टाल दिया। यह सहायता इसलिए दी गई थी कि वे मज़दूरो को पुराने दर पर मजूरी एक साल तक और देते रहें। एक जाँच-कमीशन भी मुक़र्रर किया गया। पर इन सब बातो का कोई नतीजा नही निकला, और अगले साल, १९२६ ई० मे, जब खान-मालिको ने मजूरी घटानी चाही तो सकट फिर पैदा हो गया। इस बार सरकार मज़दूर-वर्ग से लडने पर आमादा थी, क्योकि पिछले महीनो के अन्दर उसने हर तरह की तैयारी कर ली थी।

खान-मालिको ने खानो मे ताला-बन्दी का फैसला किया, क्योकि खान-मज़दूर मजूरी मे कटौती के लिए राज़ी नही हुए। इससे ट्रेड यूनियन काग्रेस की पुकार पर सारे इग्लैण्ड मे झटपट आम हडताल हो गई। इस पुकार का अनोखा असर हुआ, और देश-भर के लगभग सारे सगठित मज़दूरो ने काम बन्द कर दिया। देश का सारा कारोबार करीब-करीब ठप्प हो गया, रेलें चलनी बन्द हो गईं, अखबार नही छप सके, और ज्यादातर दूसरी हलचले भी रुक गईं। सरकार स्वय-सेवको की मदद से किसी तरह बहुत ज़रूरी सेवाएँ चलाती रही। आम हडताल ३-४ मई की आधीरात मे शुरू हुई थी। दस दिन बाद ट्रेड यूनियन काग्रेस के नर्म नेताओ ने, जो इस किस्म की क्रान्तिकारी हडताल को बुरी समझते थे, यह बहाना लगाकर हडताल को एकदम तुडवा दिया कि उन्हें कुछ भरोसा दिला दिया गया है। खान-मज़दूर मँझधार मे छोड दिये गए, मगर वे कई महीनो तक लस्टम-पस्टम और थके-हारे हडताल को चलाते रहे। पर अन्त मे वे भूख से लाचार हो गये और उन्हें बुरी तरह हार खानी पडी। यह सिर्फ खान-मज़दूरो की ही नही, बल्कि आम-तौर पर इग्लैण्ड के सारे मज़दूरो की करारी हार थी। कई उद्योगो मे मज़दूरी घटा दी गई, कुछ उद्योगो मे काम के घटे बढा दिये गए, और मज़दूर-वर्ग के रहन-सहन के दर्जे नीचे गिर गये। सरकार ने अपनी जीत का लाभ उठाकर मज़दूर-वर्ग को कमज़ोर करने के, और खासतौर पर आयन्दा आम हडतालें रोकने के, क़ानून बनाये। १९२६ ई० की यह आम हडताल मज़दूर-नेताओ की ढिलमिल-यकीनी और कमज़ोरी के कारण, और इसकी तैयारी मे उनकी कसर के कारण, असफल हुई। सच तो यह है कि उनका सारा उद्देश्य इसे टालने का था, पर जब वे ऐसा न कर सके तो उन्होंने मौका पाते ही इसे खत्म कर दिया। उधर सरकार इसके लिए पूरी तरह तैयार थी, और उसे मध्यम-वर्गों का सहारा भी मिल गया था।

इग्लैण्ड की आम हडताल और कोयला-खानो की लम्बी ताला-बन्दी ने

सोवियत रूस मे बडी हलचल पैदा कर दी, और रूस की मजदूर यूनियनो ने बडी-बडी रकमे भेजी, जो रूसी मज़दूरो ने इग्लैण्ड के खान-मज़दूरो की सहायता के लिए खासतौर पर चन्दा करके जमा की थीं।

उस वक्त तो इग्लैण्ड का मजदूर-वर्ग कुचला जा चुका था। लेकिन गिरते हुए उद्योगो और बढती हुई बेरोजगारी की समस्या का यह कोई हल नही था। बेकारी के सबब से मज़दूरो मे आम मुसीबत फैल गई, इसके सबब से राज्य पर भी बोझ आ पडा, क्योकि कई देशो मे बेरोजगारी के बीमे की योजना चालू हो चुकी थी। यह मान लिया गया था कि अगर कोई मज़दूर बिना किसी कसूर के बेकार हो जाय तो उसको सहारा देना राज्य का कर्त्तव्य था। इसलिए रजिस्ट्री-शुदा बेकारो को कुछ सहायता या खैराते, जो 'डोल' कहलाती थी, बाँटी जाती थी, और इसका अर्थ यह था कि सरकार को और स्थानीय सस्थाओ को भारी रकमे खर्च करनी पडती थी।

यह सब क्यो हो रहा था? उद्योगो का पतन क्यो हो रहा था? व्यापार की हालत क्यो गिर रही थी? बेकारी क्यो बढ रही थी? और सिर्फ इग्लैण्ड मे ही नही बल्कि करीब-करीब सब देशो मे हालतें क्यो बिगडती जा रही थी? सम्मेलन का ताँता लग रहा था, राजनीतिज्ञ और शासक भी हर तरह से हालतो को सुधारना चाहते थे, पर उन्हे कोई सफलता नही मिल रही थी। यह भी नही था कि भूचाल या बाढ या सूखा-जैसी कोई अकाल और मुसीबत पैदा करनेवाली कुदरती आफत आ पडी हो। दुनिया बहुत करके अपने पुराने ढग पर ही चल रही थी। देखा जाय तो ससार मे पहले से ज्यादा अन्न था, कारखाने भी ज्यादा थे, और हर ज़रूरी चीज़ ज्यादा थी, लेकिन इसपर भी इन्सान की मुसीबत बढ गई थी। ज़ाहिर था कि यह उलटा नतीजा पैदा करनेवाली कोई-न-कोई जड-मूल की खराबी थी। कही-न-कही बेहद बद-इन्तज़ामी थी। समाजवादियो व साम्यवादियो का कहना था कि यह सब पूँजीवाद का कसूर था, जो अपने दिन गिन रहा था। वे रूस की मिसाल देते थे, जहाँ बहुत सारी मुसीबतो और दिक्कतो के बावजूद कम-से-कम बेरोज़गारी तो नही थी।

ये सवाल काफी पेचीदा हैं, और इन्सानी तकलीफो के इलाज के बारे मे डॉक्टरो व पण्डितो मे बडा भारी मतभेद है। फिर भी हमे उनपर गौर करना चाहिए और उनके कुछ खास पहलुओ की जाँच करनी चाहिए।

सारा ससार आज एक ही इकाई बनता जा रहा है, और बहुत-कुछ बन भी गया है। कहने का मतलब यह है कि रहन-सहन, हलचलें, पैदावार, खपत, वगैरा सब अन्तर्राष्ट्रीय और ससार-व्यापी बनने की तरफ रुजू हो रहे हैं और यह रुझान बढ़ रही है। व्यापार, उद्योग-धन्धे, सिक्को का चलन वगैरा भी बहुत-कुछ अन्त-

राष्ट्रीय चीज़ें हैं। जुदा-जुदा देशो के बीच गहरा सम्बन्ध और आपसी निर्भरता है, और किसी भी देश की घटना का दूसरे देशो मे असर पडता है। मगर इस तमाम अन्तर्राष्ट्रीयता के बावजूद हुकूमतें व उनकी नीतियां तग राष्ट्रीयता के ढग पर ही चल रही हैं। वास्तव मे, यह तग राष्ट्रीयता युद्ध के बाद के वर्षो के दौरान और भी ज्यादा खराब और उग्र हो गई है, और आज सारी दुनिया पर हावी होनेवाला हेतु बन गई है। इसके सबब से ससार की वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ और हुकूमतो की राष्ट्रवादी नीतियो के बीच लगातार सघर्ष हो रहा है। यह समझ लो कि ससार की अन्तर्राष्ट्रीय हलचलें मानो समुद्र की ओर बहनेवाली नदी हैं, और राष्ट्रीय नीतियाँ मानो उसे रोकने के, उसमे बाँध बनाने के, उसका बहाव बदलने के, और यहाँतक कि उसे उलटी दिशा मे बहाने के, प्रयत्न हैं। यह तो साफ है कि नदी उलटी दिशा मे नही बह सकती, न उसे रोका ही जा सकता है। हाँ, यह सम्भव है कि कभी-कभी उसका बहाव कुछ बदल दिया जाय, या बाँध से उसमे बाढ़ आ जाय। इसलिए आजकल की राष्ट्रीयताएँ नदी के सीधे बहाव मे रुकावट डाल रही हैं, और बाढ व दहें और सडे पानी की तलैयां पैदा कर रही हैं, पर वे नदी की होनेवाली प्रगति को नही रोक सकती।

व्यापारी व आर्थिक क्षेत्रो मे इस तरह वह चीज़ हमारे सामने है, जिसे 'आर्थिक राष्ट्रीयता' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हर देश को चाहिए कि वह जितना खरीदे उससे ज्यादा बेचे और जितना खपावे उससे ज्यादा उत्पादन करे। हर देश अपना माल बेचना चाहता है, तो फिर उसे खरीदेगा कौन ? हर तरह की बिक्री के लिए यह ज़रूरी है कि एक बेचनेवाला हो तो दूसरा खरीदनेवाला हो। सिर्फ बेचनेवालो की दुनिया होना बिलकुल बेहूदा बात है। पर मज़ा यह है कि आर्थिक राष्ट्रीयता का आधार यही है। हर देश विदेशी माल का आयात रोकने के लिए तटकरो की दीवारें, आर्थिक बाडें, खडी कर देता है, और साथ ही अपने विदेशी व्यापार को बढाना चाहता है। जिस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधुनिक ससार खडा हुआ है, उसमे तटकरो की ये दीवारें रुकावट डालती हैं और उसका गला घोट देती हैं। जब व्यापार मन्दा हो जाता है, तो उद्योगो को हानि पहुँचती है, और बेकारी बढ़ने लगती है। इसका फिर यह नतीजा होता है कि विदेशी माल को रोकने के लिए ज़बर्दस्त कोशिशें की जाती हैं, क्योकि उसे देशी उद्योगो मे रुकावट माना जाता है, और चुगियो की दीवारें और भी ऊँची कर दी जाती हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और भी ज्यादा नुकसान पहुँचता है, और यह खोटा चक्कर चलता रहता है।

सच तो यह है कि आज का उद्योग-प्रधान जगत राष्ट्रीयता की मजिल से आगे निकल गया है। माल के उत्पादन और वितरण की समूची व्यवस्था सरकारो

व देशों के राष्ट्रवादी ढाँचे में ठीक नहीं बैठती। भीतर के बढ़नेवाले शरीर के लिए यह खोल बहुत छोटा हो जाता है, इसलिए तड़क जाता है।

व्यापार के मार्ग में ये अटकाव व रुकावटें वास्तव में हर देश के कुछ गिने-चुने वर्गों को लाभ पहुँचाते हैं, पर चूँकि ये वर्ग अपने-अपने देशों में हावी होते हैं, इसलिए ये ही देश की नीति को बनाते हैं। बस, हर देश दूसरे देश से आगे निकल जाना चाहता है और नतीजे में सबको एक-साथ मुसीबत उठानी पड़ती है, और राष्ट्रीय मुक़ाबलेदारी और बैर-भाव बढ़ जाते हैं। आपसी मतभेदों को सम्मेलनों के ज़रिये निबटाने के बार-बार यत्न किये जाते हैं, और अलग-अलग देशों के राजनीतिज्ञ ऊँचे-से-ऊँचे इरादे ज़ाहिर करते हैं, पर फिर भी सफलता उनके हाथ नहीं आती। क्या इनसे तुम्हें उन कोशिशों का ध्यान नहीं आता, जो साम्प्रदायिक समस्या को, हिन्दू-मुस्लिम-सिख समस्याओं को, निबटाने के लिए भारत में बार-बार हुई हैं? शायद दोनों ही मामलों में असफलता के कारण हैं गलत धारणाएँ, ग़लत हेतु और साथ ही ग़लत उद्देश्य।

आर्थिक राष्ट्रीयता को बढ़ावा देनेवाले तटकरों, और सरकारी अनुदानों, सरकारी सहायताओं, रेल में माल भेजने की विशेष दरों, वग़ैरा दूसरे उपायों से सिर्फ़ मिल्कियतदार और कारखानेदार वर्गों को ही लाभ होता है, क्योंकि अपने देश की इन महफ़ूज़ घरेलू मण्डियों का फ़ायदा ये ही उठाते हैं। इस तरह संरक्षणों और संरक्षण-करों के भीतर निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं, और तमाम निहित स्वार्थों की तरह ये ऐसे हर परिवर्तन का घोर विरोध करते हैं, जिनसे उन्हें नुकसान पहुँचने की सम्भावना हो। यह भी इसका एक हेतु है कि एक बार जारी हो जाने पर संरक्षण-कर क्यों हमेशा के लिए क़ायम हो जाते हैं, और दुनिया में आर्थिक राष्ट्रीयता क्यों पनपती है, बावजूद इसके कि ज्यादातर लोग उसे सबके लिए बुरा समझते हैं। एक बार पैदा हो जाने पर निहित स्वार्थों का अन्त करना आसान नहीं है, और किसी देश का इस दिशा में अकेला आगे बढ़ना तो और भी कठिन है। अगर सारे देश संरक्षण-करों का अन्त करने के लिए और उन्हें बहुत-कुछ घटाने के लिए मिलकर काम करने को राज़ी हो जायँ तो शायद ऐसा हो भी सके। मगर फिर भी दिक्कतें आयेंगी, क्योंकि उद्योगों के लिहाज़ से पिछड़े हुए देशों की हानि होगी, क्योंकि वे उन्नत देशों का बराबरी के दर्जे पर मुकाबला नहीं कर सकेंगे। नये उद्योग अक्सर करके संरक्षण-करों के आसरे ही पनपते हैं।

आर्थिक राष्ट्रीयता राष्ट्रों के आपसी व्यापार को भी कम करती और रोकती है। इस तरह दुनिया की मण्डी पर बुरा असर पड़ता है। हर राष्ट्र संरक्षित मण्डीवाला ठेकेदार क्षेत्र बन जाता है, खुला व्यापार खत्म हो जाता है। हर राष्ट्र के भीतर भी इजारेदारियाँ बढ़ जाती हैं, और आज़ाद व खुली मण्डियाँ

ग़ायब होने लगती है। बड़े-बड़े कम्पनी-समूह, बड़े-बड़े कारखाने और बड़ी-बड़ी दुकानें, छोटे-छोटे उत्पादकों और छुटभैये दूकानदारों को चाट जाते हैं, और इस तरह होड़ को ख़त्म कर देते हैं। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, जापान, वग़ैरा उद्योग-प्रधान देशों में ये राष्ट्रीय इजारेदारियाँ बढ़ीं, और इस तरह सारी सत्ता कुछ लोगों के हाथों में जमा हो गई। पैट्रोल, साबुन, रासायनिक वस्तुएँ, लड़ाई का सामान, इस्पात, बैंक, व इसी तरह की बहुत-सी चीज़ों में इजारेदारियाँ क़ायम हो गईं। इसका नतीजा बड़ा विचित्र होता है। यह सब विज्ञान की उन्नति और पूँजीवाद के विकास का लाज़िमी नतीजा है, मगर फिर भी यह इसी पूँजीवाद की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाता है। क्योंकि पूँजीवाद का जन्म तो संसारी मण्डी और आज़ाद मण्डी के साथ हुआ था। मुकाबलेदारी पूँजीवाद की जान थी। अगर संसारी मण्डी चली जाती है, और आज़ाद मण्डी व राष्ट्रीय सीमाओं में होड़ भी चली जाती है, तो समाज के इस पुराने पूँजीवादी ढाँचे का पेंदा ही फूट जाता है। इसकी जगह कौन-सी व्यवस्था आवेगी यह तो दूसरी बात है, पर ऐसा मालूम होता है कि आपस में इन विरोधी झुकावों के होते हुए पुरानी व्यवस्था ज़्यादा समय तक नहीं टिक सकती।

विज्ञान व उद्योगों की उन्नति समाज के मौजूदा ढंग से बहुत आगे निकल गये हैं। इनके ज़रिये खाने-पीने व ऐश-आराम की चीज़ें बेहद मिकदार में तैयार होती हैं, और पूँजीवाद की समझ में नहीं आता कि इनका क्या करे। कई बार तो वह सचमुच इन्हें नष्ट करने पर या इनकी पैदावार बाँधने पर उतारू हो जाता है। इस तरह बहुतायत और ग़रीबी के साथ-साथ बने रहने का अजीब नज़ारा हमारे सामने आ जाता है। अगर पूँजीवाद आज के विज्ञान और मशीनी तरीक़ों की प्रगति के साथ नहीं चल सकता, तो कोई ऐसी व्यवस्था बनानी होगी, जो विज्ञान से ज़्यादा मेल खाती हो। वरना दूसरा रास्ता यह है कि विज्ञान का गला घोंट दिया जाय और उसे प्रगति करने से रोक दिया जाय। मगर यह बेवकूफ़ी की बात होगी, और किसी भी हालत में इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

इसलिए, अगर आर्थिक राष्ट्रीयता, और इजारेदारी व राष्ट्रीय मुकाबलेदारियों की बढ़ोतरी, और मरते हुए पूँजीवाद के दूसरे नतीजों की वजह से सारे जगत में मुसीबत फैल गई हो, तो इसमें अचम्भे की बात नहीं है। आधुनिक साम्राज्यवाद ख़ुद भी इसी पूँजीवाद का एक रूप है, क्योंकि हर साम्राज्यशाही शक्ति दूसरी क़ौमों का शोषण करके अपनी राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझाने की कोशिश करती है। इसका नतीजा यह होता है कि साम्राज्यशाही शक्तियों के बीच मुकाबलेदारी व संघर्ष ज़्यादा बढ़ जाते हैं। आज के उलटे-पुलटे संसार में हर चीज़ संघर्ष ही पैदा करती हुई नज़र आती है।

मैंने यह पत्र इस जिक्र के साथ शुरू किया था कि युद्ध के बाद के जमाने के दौरान रुपये ने अजीब तौर पर बर्ताव किया। पर जब और सारी चीजें ही बड़ा निराला बर्ताव कर रही हैं, तो क्या हम केवल रुपये को ही दोष दे सकते हैं?

· १७४

चाल और जवाबी चाल

१८ जून, १९३३

पिछले दो पत्रों में मैंने आर्थिक और सिक्का के सवालों पर विचार किया है। ये विषय बहुत भेदभरे व मुश्किल से समझ में आनेवाले माने जाते हैं। यह सच है कि ये विषय आसान नहीं है, और इन्हें समझने के लिए दिमाग पर जोर देना पड़ता है, पर आखिर ये इतने डरावने भी नहीं है, और इन विषयों को जो रहस्य की हवा घेरे हुए है, उसके लिए कुछ हद तक अर्थ-शास्त्री व विशेषज्ञ जिम्मेदार हैं। पुराने जमाने में रहस्य के ठेकेदार पण्डे-पुजारी हुआ करते थे, जो लोगों के समझ में न आनेवाली पुरातन भाषा में तरह-तरह के कर्म-काण्डों व पूजा-पाठों के जरिये और छिपी हुई शक्तियों से ताल्लुक रखने का ढोंग रचकर, भोली-भाली जनता को अपनी इच्छा के मुताबिक नचाते थे। इन पण्डे-पुजारियों की सत्ता आज बहुत कम हो गई है, और उद्योग-प्रधान देशों में तो करीब-करीब खत्म ही हो गई है। पर इन पण्डे-पुजारियों की जगह अब विशेषज्ञ, अर्थशास्त्री, बौहरे, वगैरा पैदा हो गये हैं, जो ज्यादातर पारिभाषिक शब्दों से भरी हुई भेद-भरी भाषा में बोलते हैं, जिसे समझना साधारण आदमी के लिए मुश्किल हो जाता है। इसलिए औसत दर्जे के आदमी को इन प्रश्नों का निबटारा विशेषज्ञों पर छोड़ना पड़ता है। मगर यह विशेषज्ञ, जाने या अनजाने, शासक वर्गों के पिछलग्गू बन जाते हैं और इन्हीं का हित-साधन करते हैं। और विशेषज्ञों में भी मतभेद होता है।

इसलिए अच्छा यह है कि हम सब इन आर्थिक प्रश्नों को कुछ समझने की कोशिश करें जो आज राजनीति पर व दूसरी सब चीजों पर हावी नज़र आते हैं। मनुष्य-जाति को समुदायों व वर्गों में बाँटने के कई ढंग हैं। एक सम्भव तरीका यह होगा कि इनके दो वर्ग कर दिये जायं—एक तो बहनेवाले, यानी वे लोग, जिनमें अपनी कोई इच्छा-शक्ति नहीं होती और जो अपने-आपको पानी की सतह पर तिनके की तरह इधर-उधर बह जाने देते हैं, और दूसरे वे लोग जो ज़िन्दगी पर असर डालते हैं और अपने चौगिर्द को बदल देते है। पिछले वर्ग के लिए ज्ञान और समझ होना जरूरी है, क्योंकि कारगर काम इन्हीं के आधार पर हो सकता है। सिर्फ नेक इरादे या नेक उम्मीदें काफी नहीं होती। जब कोई कुदरती आफत आती है, या महामारी फैलती है, या सूखा पड़ता है, या और कोई भी अचानक मुसीबत आ पड़ती है, तो हम देखते हैं कि सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि यूरोप में भी, राहत

के लिए लोग ईश्वर से प्रार्थना किया करते हैं। अगर प्रार्थना से उन्हें शान्ति मिलती है और उनमे आत्म-विश्वास और साहस पैदा होता है, तो यह अच्छी चीज़ है, और इस पर किसी को ऐतराज़ नही हो सकता। पर इस विचार की जगह कि प्रार्थना से रोग की महामारी रुक जायगी, अब यह वैज्ञानिक ख़याल बन रहा है कि बीमारी की जड को सफाई व दूसरे उपायो से मिटा देना चाहिए। अगर किसी कारख़ाने की मशीनें चलते-चलते रुक जाती हैं या किसी मोटर-गाडी के टायर मे पंचर हो जाता है, तो क्या किसी ने सुना है कि लोग हाथ-पर-हाथ घरकर बैठ जाते हो और सिर्फ आशा करने लगते हो, या मनाने लगते हो, या प्रार्थना भी करने लगते हों कि मशीन की ख़राबी अपने-आप ठीक हो जाय या पचर अपने-आप जुड जाय ? वे तो तुरन्त काम मे जुट जाते हैं और मशीन को या टायर को दुरुस्त कर देते हैं, और फौरन ही मशीन काम करने लगती है या मोटर-गाडी मज़े से सडक पर दौडने लगती है।

इसी तरह इन्सानी और समाजी मशीन में भी हमको अच्छे इरादो के अलावा उसकी चालढाल और सम्भावनाओ का अच्छा ज्ञान होना ज़रूरी है। यह ज्ञान बहुत करके सही नही होता, क्योंकि इसका सम्बन्ध इन्सान की इच्छाओं और तमन्नाओ और रुचियो और ज़रूरतो-जैसी अनिश्चित बातो से होता है। और जब हम सामूहिक रूप से जनता का, या सारे समाज का, या जनता के जुदा-जुदा वर्गों का, विचार करते हैं तो यह ज्ञान और भी ज़्यादा अनिश्चित हो जाता है। लेकिन अध्ययन और अनुभव और निरीक्षण से धीरे-धीरे इस अनिश्चित ढेर में भी व्यवस्था आने लगती है, और ज्ञान बढता है, और इसके साथ-साथ अपने चौगिर्द का मुकाबला करने की हमारी क्षमता भी बढती है।

अब मैं युद्ध के बाद के वर्षों मे यूरोप के राजनीतिक पहलू के बारे मे भी कुछ कहना चाहता हूँ। सबसे पहली बात जो नज़र के सामने आती है, वह है यूरोप महाद्वीप का तीन खण्डो मे बँटना एक तो युद्ध मे जीतनेवाले देश, दूसरे पराजित देश और तीसरा सोवियत रूस। नार्वे, स्वीडन, हॉलैण्ड, स्वीज़रलैण्ड, वग़ैरा कुछ छोटे-छोटे देश ऐसे भी थे, जो इन तीनो मे से किसी खण्ड मे नही आते थे, पर राजनीतिक लिहाज़ से इनका कोई ख़ास महत्व नही था। हाँ, मज़दूरो की हुकूमतवाला सोवियत रूस अपनी निराली हैसियत रखता था और जीतनेवाली शक्तियो के लिए बराबर चिढ़न और खीझ का सबब बना हुआ था। इस चिढन का कारण रूस के शासन का वह ढग ही नही था, जो दूसरे देशो के मज़दूरो को क्रान्ति का न्यौता दे रहा था, बल्कि यह भी था कि जीतनेवाली शक्तियाँ पूर्व में जो बहुत-सी तरकीबें लडा रही थी, रूस उनके मार्ग मे अडगा लगा रहा था। दूसरे देशो मे दस्तन्दाज़ी के युद्धो का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ, जिनके दौरान, १९१९

और १९२० ई० में, ज्यादातर जीतनेवाली शक्तियो ने सोवियत रूस को कुचलने की कोशिश की थी। मगर फिर भी सोवियत रूस बच गया, और यूरोप की साम्राज्यशाही शक्तियो को उसकी हस्ती बर्दाश्त करने को मजबूर होना पडा, मगर इसमे भी उन्होंने जहाँतक हो सका सद्भावना और शराफत नही दिखाई। खासकर जारशाही जमाने से चला आनेवाला इग्लैण्ड व रूस का पुराना वैर बना रहा, और कभी-कभी इसमे ऐसे खतरे और ऐसी घटनाएँ फूट पडती थीं, जिनसे युद्ध का खतरा तक हो जाता था। सोवियत रूस को पक्का विश्वास हो गया था कि इग्लैण्ड उसके खिलाफ लगातार साजिशें कर रहा था और यूरोप मे शक्तियों का सोवियत-विरोधी गुट्ट रचने की कोशिशें कर रहा था। कई बार तो युद्ध के हल्ले भी हो गये।

पश्चिमी व मध्य यूरोप मे जीतने व हारनेवाली शक्तियो के बीच का भेद बहुत साफ था, और फ्रान्स तो विजय की भावना का खास प्रतीक बना हुआ था। पराजित देश सुलह की सन्धियो की कई शर्तों से कुदरती तौर पर नाराज थे, और हालांकि वे कुछ करने मे असमर्थ थे, पर आयन्दा परिवर्तनो की उम्मीदें लगाये बैठे थे। आस्ट्रिया व हगरी बहुत बेजार हो गये थे, और उनकी हालत दिन-पर-दिन बिगडती नजर आती थी। दूसरी ओर यूगोस्लाविया सर्बिया का ही फूला हुआ रूप था, और वह बेमेल तत्वो व छोटी कौमो का जमघट बना हुआ था। ये जुदा-जुदा भाग कुछ ही वर्षो मे एक-दूसरे से तग आ गये और बिखरने लगे। क्रोशिया मे (जो आजकल यूगोस्लाविया का एक प्रान्त है) स्वाधीनता का जोरदार आन्दोलन चल रहा है, और सर्बिया की सरकार इसे जोरो के साथ दबा रही है। पोलैण्ड का नकशा काफी बडा हो गया है, पर उसके साम्राज्यशाही लोग ये अजीब आशाएँ दिल मे लिये बैठे हैं कि पोलैण्ड दक्षिण मे काले सागर तक फैल जाय और १७७२ ई० की उसकी पुरानी सीमा फिर कायम हो जाय। इन दिनो पोलैण्ड मे रूसी यूक्रेन का कुछ भाग शामिल है, और इसे हैवानी सजाओ के आतक-राज से 'शान्त करने' की या 'पोलीकरण' की कोशिश की जाती रही है, और अब भी की जा रही है। ये आग के कुछेक छोटे-छोटे ढेर हैं, जो पूर्वी यूरोप मे सुलग रहे हैं। इनका महत्व इसीमे है कि आग फैल जाने का खतरा है।

राजनीतिक लिहाज से, और फौजी लिहाज से भी, युद्ध के बाद के वर्षों मे, यूरोप की शक्तियो मे फ्रान्स का ही बोलबाला था। जो कुछ वह चाहता था, उसका बडा हिस्सा उसे प्रदेश के रूप मे और हर्जानो की उम्मीद के रूप मे मिल गया था, लेकिन फिर भी उसे चैन नही था। उसके सिर पर भय का भयकर भूत सवार था। उसे भय था कि जर्मनी कही फिर इतना बलशाली न हो जाय कि उससे लड पडे और शायद उसे हरा भी दे। इस भय का मुख्य कारण था जर्मनी की बहुत बडी

आबादी। आकार मे फ्रान्स जर्मनी से सचमुच बड़ा है, और शायद उससे ज्यादा उपजाऊ भी है। फिर भी फ्रान्स की आबादी ४,१०,००,००० से कम है, और ज्यादा घटती-बढ़ती नहीं है। मगर जर्मनी की आबादी ६,२०,००,००० से ऊपर है, और बढ़ती जा रही है। जर्मनो के बारे मे यह भी मशहूर है कि वे एक हमलावर और युद्ध-प्रिय कौम हैं, और एक ही पीढ़ी मे फ्रान्स पर दो बार चढ़ाइयाँ कर चुके हैं।

इसलिए जर्मनी के बदला लेने का भय फ्रान्स के सिर पर सवार था, और उसकी समूची नीति की बुनियाद और इस नीति का सचालन करनेवाली भावना 'सुरक्षा' की थी, यानी जो कुछ उसे मिल गया था, उसे बनाये और बचाये रखने के लिए फ्रान्स की सुरक्षा। वर्साई की सुलह से जिन तमाम देशो को निराशा हुई थी, उन्हें फ्रान्स की बढ़ी-चढ़ी फौजी ताक़त काबू मे रखे हुए थी, और इस सुलह का कायम रहना फ्रान्स की सुरक्षा के लिए ज़रूरी समझा जाता था। अपनी हैसियत को और भी मज़बूत बनाने के लिए फ्रान्स ने उन राष्ट्रो का एक गुट्ट बना लिया, जिनका हित वर्साई की सन्धि के कायम रहने मे था। ये देश थे : बेलजियम, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, और यूगोस्लाविया।

इस तरह फ्रान्स ने यूरोप मे अपना दबदबा या नेतृत्व कायम कर लिया। यह चीज़ इग्लैण्ड को पसन्द नही थी, क्योंकि इग्लैण्ड नहीं चाहता कि यूरोप मे उसके सिवाय किसी और शक्ति का दबदबा हो। इग्लैण्ड के दिल मे फ्रान्स के लिए प्यार और दोस्ती की भावना बहुत ठण्डी पड़ गई। इग्लैण्ड के अखबारो ने फ्रान्स को स्वार्थी और सख्त-दिल कहकर उसकी आलोचना की, और पुराने शत्रु जर्मनी के बारे मे दोस्ताना बातें लिखी। अग्रेज़ो ने कहा कि हमे पुरानी बातो को भूल जाना और क्षमा कर देना चाहिए, और शान्ति काल मे अपनेको युद्ध के दिनो की यादो से प्रभावित नही होने देना चाहिए। ये भावनाएँ कितनी तारीफ के काबिल थी, और अग्रेज़ो के नज़रिये से तो ये दोहरी तारीफ के काबिल थी, क्योकि सयोग से वे अग्रेज़ो की नीति के साथ मेल खाती थी। इतालवी राजनीतिज्ञ काउण्ट स्फोर्ज़ा ने कहा है कि यह "इग्लैण्ड के लोगो को ईश्वर की कृपा का दिया हुआ एक क़ीमती वरदान" है कि अगर इग्लैण्ड को कोई राजनीतिक लाभ होता हो, या ब्रिटिश सरकार को कोई कूटनीतिक कार्रवाई करनी पड़े, तो सभी वर्गो के लोग ऊँची-से-ऊँची नैतिक दलीलो से उनको उचित साबित करते हैं।

१९२२ ई० के शुरू से ही आग्ल-फ्रान्सीसी रगड़-झगड़ यूरोप की राजनीति का एक दायमी पहलू बन गई है। ऊपर-ऊपर तो मुस्कराहटें और शरीफाना शब्द थे, और दोनो के राजनीतिज्ञ और प्रधान मन्त्री अक्सर आपस मे मिलते थे और साथ फोटो खिचवाते थे, लेकिन दोनो सरकारें अक्सर अलग-अलग दिशाओ मे खीच-तान

करती रहती थी। १९२२ ई० में जब जर्मनी हर्जानों की अदायगी में चूक गया, तो उस समय इंग्लैण्ड इस पक्ष में नहीं था कि रूर की घाटी पर मित्र-राष्ट्र कब्जा कर लें। मगर फ्रान्स ने इंग्लैण्ड के विरोध की परवाह न करके अपनी मर्जी का काम किया। मगर रूर पर कब्जा करने में इंग्लैण्ड ने कोई हिस्सा नहीं लिया।

एक और पुराना साथी इटली भी फ्रान्स से बिगड़ गया और इन देशों के बीच भी लगातार रगड़-झगड़ रहने लगी। इसका कारण था १९२२ ई० में मुसोलिनी का सत्ता हथियाना और उसके साम्राज्यशाही हौसले जिनमें फ्रान्स रुकावट डालता था। मुसोलिनी और फासीवाद का बयान मैं अपने अगले पत्र में करूँगा।

युद्ध के बाद के वर्षों में ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर भी टूट-फूट के कुछ लक्षण दिखाई दिये। इस सवाल के कुछ पहलुओं पर मैं दूसरे पत्रों में चर्चा कर चुका हूँ। यहाँ मैं केवल एक ही पहलू का जिक्र करूँगा। आस्ट्रेलिया व कनाडा दोनों दिन-पर-दिन अमेरिका के सांस्कृतिक व आर्थिक प्रभाव के दायरे में खिंचते जा रहे थे, और तीनों देश मिलकर जापानियों को और खासकर जापानियों के आवास को नापसन्द करते थे। आस्ट्रेलिया को इनसे खास खतरा है, क्योंकि यहाँ लम्बे-चौड़े बे-आबाद क्षेत्र हैं, और जापान ज्यादा दूर नहीं है और उसकी आबादी समाई से ज्यादा हो गई है। इसलिए इंग्लैण्ड की जापान के साथ दोस्ती को न तो ये दोनों उपनिवेश पसन्द करते थे और न अमेरिका। इंग्लैण्ड अमेरिका को खुश रखना चाहता था, क्योंकि साहूकार की हैसियत से और दूसरी तरह से अमेरिका सारी दुनिया पर हावी हो रहा था। साथ ही इंग्लैण्ड अपने साम्राज्य को भी जबतक सम्भव हो तबतक चलाये रखना चाहता था। इसलिए उसने १९२२ ई० में वाशिंगटन-सम्मेलन में आंग्ल-जापानी दोस्ती को कुर्बान कर दिया। चीन-सम्बन्धी अपने पिछले पत्र में मैं इस सम्मेलन के बारे में लिख चुका हूँ। इसी सम्मेलन में चार शक्तियों के समझौते और नौ शक्तियों की सन्धि की रचनाएँ हुई थी। ये सन्धियाँ चीन और प्रशान्त महासागर के तट से सम्बन्ध रखती थीं, पर सोवियत रूस को, जिसका इनसे गहरा वास्ता था, सम्मेलन में नहीं बुलाया गया, हालाँकि उसने आपत्ति भी उठाई थी।

इस वाशिंगटन-सम्मेलन में इंग्लैण्ड की पूर्वी नीति बदलनी शुरू हो गई। उस समय तक तो इंग्लैण्ड दूर पूर्व में, और जरूरत पड़ने पर भारत में भी, सहायता के लिए जापान पर भरोसा करता आ रहा था। पर अब दूर पूर्व के देश दुनिया के मामलों में बड़े महत्व का कारण बनते जा रहे थे और अलग-अलग शक्तियों के बीच स्वार्थों की टक्करें थी। चीन का उदय हो रहा था, या उदय होता दिखाई दे रहा था, और जापान व अमेरिका का आपसी वैरभाव दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था। बहुत लोगों का खयाल था कि अगले महायुद्ध का मुख्य केन्द्र प्रशान्त

महासागर बनेगा। जब जापान और अमेरिका का सवाल सामने आया तो इग्लैण्ड अमेरिका के पक्ष मे जा मिला, या यह कहना ज्यादा सही होगा कि उसने जापान का साथ छोड दिया। उसकी नीति साफ-साफ यह थी कि किसी तरह के वादो मे बँधे बिना, बलशाली व मालदार अमेरिका से दोस्ती बनाये रक्खे। जापान की दोस्ती खत्म करने के बाद इग्लैण्ड दूर पूर्व मे होनेवाले युद्ध की तैयारियो मे लग गया। उसने सिंगापुर मे खूब बडी और भारी लागत की गोदियाँ बनवाईं, और इस स्थान को बहुत बडा जहाजी अड्डा बना दिया। यहाँ से वह हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के बीच चलनेवाले जहाजो पर काबू रख सकता है। वह एक ओर भारत व बरमा पर और दूसरी ओर फ्रान्सीसी व डच उपनिवेशो पर हावी रह सकता है, और सबसे ज्यादा महत्व की बात यह है कि वह प्रशान्त महासागर मे होनेवाली टक्कर मे कारगर हिस्सा ले सकता है, चाहे वह जापान के साथ हो या किसी दूसरी शक्ति के साथ।

१९२२ ई० मे वाशिंगटन मे आग्ल-जापानी दोस्ती के इस तरह टूट जाने से जापान का सम्बन्ध सबसे टूट गया। तब जापानियो को लाचार होकर रूस की तरफ निगाह डालनी पडी और वे सोवियतो के साथ अच्छे ताल्लुक पैदा करने लगे। तीन वर्ष बाद, जनवरी, १९२५ ई० मे जापान व सोवियत सघ के बीच सन्धि हो गई।

युद्ध के ठीक बाद के कुछ वर्षों तक जीतनेवाली शक्तियो ने जर्मनी के साथ ऐसा बर्ताव किया मानो वह बिरादरी से छेका हुआ राष्ट्र हो। इन शक्तियो से ज्यादा सहानुभूति न पाकर, और उन्हें कुछ डराने के इरादे से, यह भी सोवियत रूस की ओर झुका और अप्रैल, १९२२ ई० मे इसने रूस के साथ सन्धि कर ली जो रापालो की सन्धि कहलाती है। इस सन्धि की बातचीत गुप्त रक्खी गई थी, इसलिए जब इसे प्रकाशित किया गया तो मित्र-राष्ट्री सरकारें हक्का-बक्का हो गईं। ब्रिटिश सरकार तो खासतौर पर घबरा गई, क्योंकि इग्लैण्ड का शासक-वर्ग सोवियत रूस को बुरी तरह नापसन्द करता था। जर्मनी के बारे मे इग्लैण्ड की नीति मे परिवर्तन पैदा करनेवाला कारण वास्तव मे इग्लैण्ड का यह महसूस करना था कि अगर जर्मनी के साथ अच्छा सलूक नही किया गया और उसे मनाया नही गया तो वह रूस से जा मिलेगा। अग्रेज लोग जर्मनी की कठिनाइयो की तरफ़ बडी सहानुभूति दिखाने लगे और गैर-सरकारी तौर पर हर तरह से उसकी ओर दोस्ती का हाथ बढाने लगे। रूर की कार्रवाई से वे बिलकुल अलग रहे। यह सब जर्मनी से यकायक प्रेम हो जाने के सबब से नही हुआ, बल्कि इस इच्छा से किया गया कि जर्मनी को रूस से अलग और राष्ट्रो के सोवियत-विरोधी गुट्ट मे बनाये रक्खा जाय। कुछ वर्षों तक अग्रेजो की नीति इसीपर टिकी रही और उन्हें १९२५ ई०

मे लोकार्नो मे सफलता भी मिल गई। लोकार्नो मे बडी-बडी शक्तियो का एक सम्मेलन हुआ, और युद्ध के बाद पहली बार जीतनेवाली शक्तियो और जर्मनी के बीच कुछ बातो पर सच्चा समझौता हुआ, और इन्हें सन्धि का रूप दिया गया। मगर मुकम्मिल समझौता नही हुआ, हर्जानो का जबर्दस्त सवाल व दूसरे सवाल वैसे ही रह गये। हाँ, शुरुआत अच्छी हो गई, और आपस मे बहुत-से वायदे किये गए और पक्के यकीन दिलाये गए। जर्मनी ने वर्साई की सन्धि के मुताबिक तय की गई अपनी पश्चिमी फ्रान्सीसी सरहद को मजूर कर लिया, पर पूर्वी सरहद को, जहाँ समुद्र तक जानेवाला पोली गलियारा था, उसने आखिरी तौर पर मजूर करने से इन्कार कर दिया, मगर यह वायदा कर दिया कि इस सरहद को बदलवाने की कोशिशो मे वह बिना लडाई के उपायो का सहारा लेगा। सन्धि मे एक शर्त यह भी थी कि अगर एक पक्ष इस समझौते को तोडे तो बाकी मिलकर उससे लडने को पाबन्द होंगे।

लोकार्नो की सन्धि ब्रिटिश नीति की जीत थी। इससे इग्लैण्ड कुछ हद तक फ्रान्स व जर्मनी के आपसी झगडो का पच बन गया, और जर्मनी रूस से दूर हट गया। मगर लोकार्नो का सबसे बडा महत्व वास्तव मे यह था कि इसने पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रो को एक सोवियत-विरोधी गुट्ट मे ला इकट्ठा किया। इसपर रूस घबराया, और कुछ ही महीनो मे उसने तुर्की के साथ गठ-बन्धन करके इसका जवाब दिया। इस रूसी-तुर्की सन्धि पर दिसम्बर, १९२५ ई० मे राष्ट्र-सघ के मोसल के खिलाफ फैसले के ठीक दो दिन बाद, दस्तखत हुए थे। तुम्हें याद होगा कि यह फैसला तुर्की के खिलाफ था। सितम्बर, १९२६ ई० मे जर्मनी राष्ट्र-सघ मे दाखिल हुआ, और आपस मे खूब गले-मिलना और हाथ मिलाना हुआ, और राष्ट्र-सघ मे सबने खुशियाँ ज़ाहिर की और एक दूसरे को बधाइयाँ दी।

इस तरह यूरोपीय राष्ट्रो के बीच ये चालें और जवाबी-चालें चलती रही, जिनपर अक्सर उनकी घरू नीतियो का असर पडता था। इग्लैण्ड मे दिसम्बर, १९२३ ई० के आम चुनावो के बाद अनुदार दल की हार हुई, और पार्लमेण्ट मे मजदूर दल की पहली बार सरकार बनी, हालाँकि इनका साफ बहुमत नही था। रैम्बे मैकडोनल्ड प्रधान मन्त्री हुआ। यह सरकार साढे नौ महीने के थोडे-से वक्त तक ही चली। मगर इस थोडे समय मे ही उसने रूस के साथ समझौता कर लिया, और दोनो के बीच राजनयिक और तिजारती सम्बन्ध कायम हो गये। अनुदार दल-वाले सोवियत को किसी भी तरह तस्लीम करने के खिलाफ थे, और इसी साल के भीतर होनेवाले आम चुनावो मे रूस का नाम बहुत सामने आया। इसकी वजह यह थी कि चुनावो मे अनुदार दल ने एक पत्र को, जो 'ज़िनोवीफ़ का पत्र' कहलाता है, अपना मात देनेवाला मोहरा बनाया। इस पत्र मे इग्लैण्ड के साम्यवादियो को

गुप्त रूप से क्रान्ति की तैयारी करने के लिए उकसाया गया था। जिनोवीफ सोवियत सरकार मे एक नामी बोल्शेविक था; उसने इस पत्र का लेखक होने से बिलकुल इन्कार किया, और कहा कि वह ज़रूर जाली होगा। मगर फिर भी अनुदार दल-वालो ने इस पत्र से पूरी तरह फायदा उठाया और कुछ हद तक इसकी सहायता से वे चुनाव जीतने मे सफल हो गये। अब अनुदार-दली सरकार बनी, जिसका प्रधान मन्त्री स्टैनली बाल्डविन था। इस सरकार से बार-बार कहा गया कि 'जिनो वीफ के पत्र' की सचाई या झुठाई की जाँच करे, मगर उसने इन्कार कर दिया। बाद मे बर्लिन मे जो भेद खुले, उनसे ज़ाहिर हो गया कि यह पत्र एक 'श्वेत' रूसी ने, यानी एक बोलशेविक-विरोधी रूसी प्रवासी ने, जालसाज़ी करके बनाया था। मगर इस जालसाजी ने इंग्लैण्ड मे अपना काम पूरा कर दिया था, और एक सरकार का अन्त करके दूसरी को ला बिठाया था। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर कितनी तुच्छ घटनाओ का असर पड जाया करता है!

इसी साल मे कुछ दिन बाद, एक नई घटना, जो इस बार दूर पूर्व मे हुई, ब्रिटिश सरकार की भारी खिसलाहट का सबब बन गई। चीन मे एक मजबूत सयक्त राष्ट्रीय सरकार अचानक सामने आई और सोवियत सरकार के साथ इसके गहरे सम्बन्ध मालूम दिये। कई महीनो तक अंग्रेज लोग चीन मे भारी कठिनाइयो मे फँसे रहे। उन्हें अपनी शान किरकिरी करवानी पडी, और बहुत-सी ऐसी बातें करनी पड़ी, जो उन्हे पसन्द नहीं थी। और फिर, यह चीनी आन्दोलन, कुछ दिन की सफलता भोगकर, फूट के फन्दे मे पड गया और टूक-टूक हो गया। सेनापतियो ने आन्दोलन के वामपक्षी तत्वो को मार डाला या निकाल बाहर किया, और शाघाई के विदेशी बोहरो का पल्ला पकडना बेहतर समझा। अन्तर्राष्ट्रीय खेल मे रूस की यह भारी हार थी और चीन मे व दूसरे देशो मे उसकी शान किरकिरी हो गई। मगर इग्लैण्ड के लिए यह शानदार जीत थी, और उसने सोवियत रूस की इस हार को ठेठ तक पहुँचाकर इस मौके से फायदा उठाना चाहा। सोवियत-विरोधी गुट्ट को सगठित करने के और रूस को चारो ओर से घेरने के प्रयत्न फिर किये गए।

१९२७ ई० के बीच मे ससार के जुदा-जुदा भागो मे सोवियत रूस के खिलाफ कार्रवाइयाँ की गई। अप्रैल, १९२७ ई० मे एक ही दिन, पेकिंग मे सोवियत दूतावास पर और शाघाई मे रूसी व्यापारिक दूतावास पर छापे मारे गये। इन दोनो क्षेत्रो पर अलग-अलग चीनी सरकारो का कब्जा था, पर इस मामले मे दोनों ने एक साथ कार्रवाई की। दूतावास पर छापा मारना और किसी राजदूत का अपमान करना बहुत ग़ैर-मामूली बात होती है,- बहुत करके इसका लाज़िमी नतीजा युद्ध ही होता है। रूसी लोगो का विश्वास था कि इगलण्ड व दूसरी सोवियत-

विरोधी शक्तियो ने चीनी सरकार को दबाकर इस तरह का काम कराया है ताकि रूस को लडाई के लिए मजबूर होना पडे। मगर रूस नही लडा। एक महीने बाद, मई, १९२७ ई० मे एक और गैर-मामूली छापा मारा गया। इस बार यह छापा लन्दन मे रूस के एक तिजारती दफ्तर पर था। यह 'आर्कोस' का छापा कहलाता है, क्योकि आर्कोस इग्लैण्ड मे रूस की एक सरकारी तिजारती कम्पनी का नाम था। यह भी दूसरी शक्ति का बडा भारी अपमान था, और जैसाकि इस घटना से साबित हुआ, बिलकुल गैर-वाजिब अपमान था। इसके नतीजे से दोनो देशो के आपसी राजनयिक व तिजारती सम्बन्ध फौरन टूट गये। अगले महीने, यानी जून मे, सोवियत मन्त्री की वारसा मे हत्या कर दी गई। (इससे चार वर्ष पहले रोम मे सोवियत के प्रतिनिधि की लोज़ान मे हत्या हो चुकी थी)। इन घटनाओ ने, जो एक के बाद एक जल्दी-जल्दी हो रही थी, रूसी लोगो के होश उडा दिये, और उन्हें सारी साम्राज्यशाही शक्तियो के हाथो अपने ऊपर हमले का पूरा अन्देशा हो गया। रूस मे युद्ध की बडी दहशत फैल गई, और पश्चिमी यूरोप के कई देशो के मज़दूरो ने सोवियत रूस की हिमायत मे, और होनहार दिखाई देनेवाले युद्ध के खिलाफ, प्रदर्शन किये। पर यह दहशत गुजर गई, और कोई युद्ध नही छिडा।

१९२७ ई० के ही साल मे सोवियत रूस ने बडे समारोह के साथ बोलशेविक क्रान्ति का दसवाँ वार्षिकोत्सव मनाया। उस समय इग्लैण्ड व फ्रान्स का रूस की तरफ बहुत वैर-भाव था, पर पूर्वी राष्ट्रो के साथ रूस की दोस्ती इस घटना से साबित हो गई और इस समारोह मे ईरान, तुर्की, अफगानिस्तान, और मगोलिया के सरकारी प्रतिनिधि-मण्डलो ने भाग लिया।

इधर तो यूरोप मे और दूसरे देशो मे ये खतरे के घण्टे बज रहे थे और युद्ध की तैयारियाँ हो रही थी, उधर निरस्त्रीकरण की भी बहुत काफी चर्चा चल रही थी। राष्ट्र-सघ के इकरारनामे मे यह तजवीज़ थी कि "सघ के सदस्य मानते हैं कि अमन बना रहने के लिए यह ज़रूरी है कि राष्ट्रीय सुरक्षा का लिहाज़ रखते हुए राष्ट्रीय हथियारो मे ज्यादा-से-ज्यादा कमी हो, और अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो को सब राष्ट्र शामिल कारंवाई करके पालन करायें।" इस खोखले सिद्धान्त की तजवीज़ करने के अलावा उस समय राष्ट्रसघ ने और कुछ नही किया, पर उसने अपनी कौन्सिल से अनुरोध किया कि वह इस दिशा मे ज़रूरी कदम उठावे। जर्मनी व दूसरी हारी हुई शक्तियो को तो शान्ति सन्धियो के ज़रिये बे-हथियार कर ही दिया गया। जीतनेवाली शक्तियो ने भी वचन दिया था कि इसके बाद वे भी ऐसा ही करेंगी, पर बार-बार होनेवाले सम्मेलनो से भी कोई ठोस नतीजा नही निकल पाया। जब हर शक्ति अपना निरस्त्रीकरण इस तरह करना चाहती थी कि दूसरों की बनिस्बत ज्यादा ताकतवर बनी रहे, तो यह असफलता कोई अचम्भे की बात

रही थी। यह लाज़िमी ही था कि दूसरी शक्तियाँ इस बात पर राज़ी न होती। फ्रान्सीसी तो हमेशा अपनी इसी माँग पर अडे रहे कि निरस्त्रीकरण से पहले उनकी सुरक्षा का इन्तज़ाम होना चाहिए।

बडी शक्तियो मे से न तो अमेरिका ही राष्ट्र-सघ का सदस्य था और न सोवियत सघ। सोवियत रूस तो राष्ट्र-सघ को वास्तव मे एक मुक़ाबलेदार व वैरी धोखे की टट्टी, और सोवियत सघ के खिलाफ़ डटा हुआ पूँजीशाही शक्तियो का गुट्ट, समझता था। सोवियत सघ तो खुद ही राष्ट्रो का सघ माना जाता था (जैसा कि कभी-कभी ब्रिटिश साम्राज्य के बारे मे कहा जाता है), क्योंकि इस सघ मे कितने ही गणराज्य सघटित थे। पूर्वी राष्ट्र भी राष्ट्र-सघ को शका की दृष्टि से देखते थे और उसे साम्राज्यशाही शक्तियो का औज़ार समझते थे। यह होते हुए भी अमेरिका, रूस और लगभग सब देश निरस्त्रीकरण के सवाल पर विचार करने के लिए सघ के सम्मेलनो मे भाग लेते थे। १९२५ ई० मे राष्ट्र-सघ ने एक तैयारी करानेवाला कमीशन नियुक्त किया, जिसे यह काम सौंपा गया कि निरस्त्रीकरण के एक विश्व-सम्मेलन के लिए ज़मीन तैयार करे। यह कमीशन, एक के बाद एक योजना पर विचार करता हुआ, सात साल तक लगातार चलता रहा, पर कोई नतीजा नही निकला। १९३२ ई० मे विश्व-सम्मेलन का हो अधिवेशन हुआ, पर कई महीनो की बेकार बातचीत के बाद इसका नाम ही मिट गया।

अमेरिका ने निरस्त्रीकरण की इन चर्चाओ मे तो भाग लिया ही, साथ ही यूरोप और यूरोप के मामलो मे उसकी दिलचस्पी भी बढ गई, क्योंकि ससार-भर मे उसकी आर्थिक हैसियत का दबदबा था। सारा यूरोप उसका क़र्ज़दार था, और वह यूरोप के देशों को दुबारा एक दूसरे की गर्दनें उडाने से रोकना चाहता था, क्योंकि इसमें ऊँचे इरादो के अलावा यह भी खयाल था कि अगर वे लड पडे तो उसके कर्ज़ो का और व्यापार का क्या होगा? जब निरस्त्रीकरण की चर्चाओ का जल्दी कोई नतीजा निकलता नही दिखाई दिया, तो फ्रान्सीसी व अमेरिकी सरकारो की आपसी बातचीत के बाद १९२८ ई० मे शान्ति क़ायम रखने मे मदद पहुँचाने के लिए एक नया प्रस्ताव सामने रक्खा गया। इस प्रस्ताव मे युद्ध को 'ग़ैर कानूनी' करार दिये जाने का ज़ोरदार प्रयत्न किया गया। मूल सुझाव यह था कि सिर्फ़ फ्रान्स और अमेरिका के बीच इकरारनामा हो जाय, पर इसे आगे बढाया गया, और अन्त मे इसमे ससार के सारे राष्ट्रो को शामिल करने की बात रक्खी गई। अगस्त, १९२८ ई० मे पेरिस मे इस इकरारनामे पर दस्तखत हुए, इसलिए यह १९२८ ई० का पेरिस-क़रार कहलाता है। इसे केलॉग-ब्रियाँ-करार या सिर्फ केलॉग-क़रार भी कहते हैं। केलॉग अमेरिका का राज्य-मन्त्री था, जिसने इस मामले मे अगुआई की थी, और आरिस्ताइद ब्रियाँ फ्रान्स का विदेश-मन्त्री था। यह इक़रार-

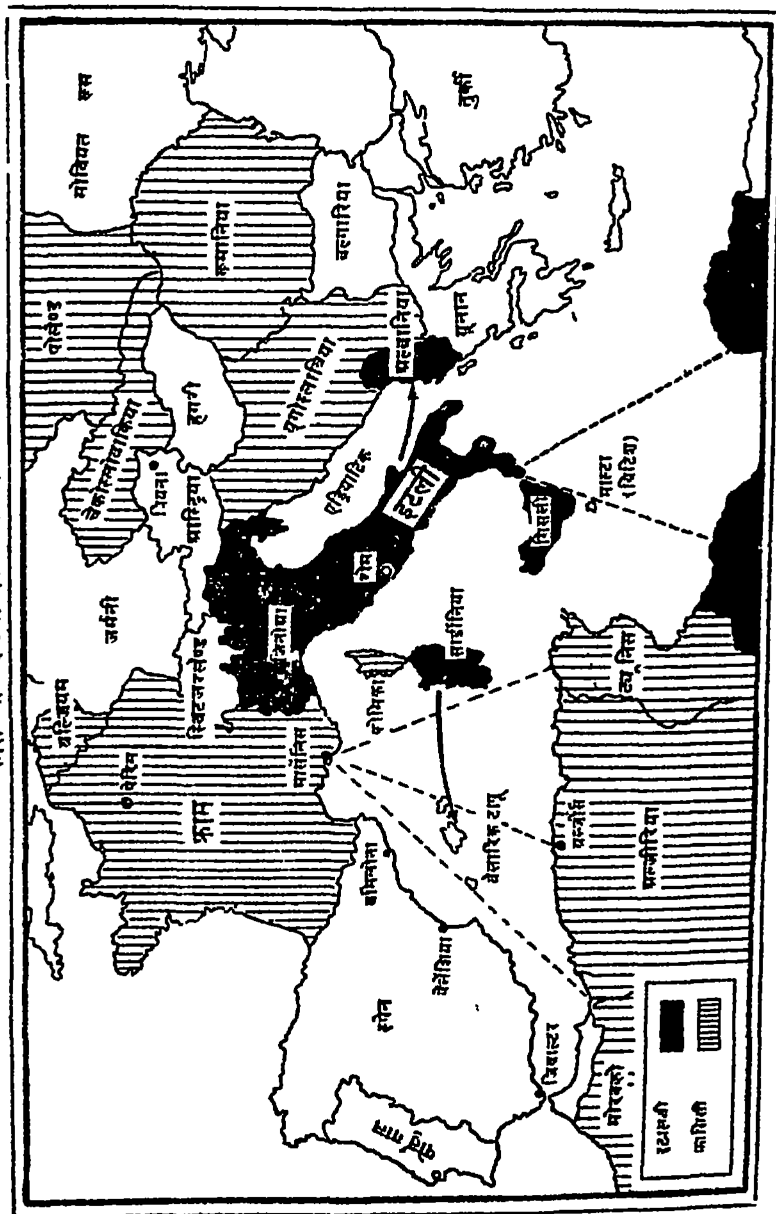
नामा एक छोटा-सा दस्तावेज था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों का निपटारा करने के लिए युद्ध का आसरा लेना बुरा बतलाया गया था, और इकरारनामे पर दस्तखत करनेवालों के आपसी सम्बन्धों में युद्धनीति के त्याग को राष्ट्रीय नीति का आधार माना गया था। यह भाषा, जो एक तरह से सब इकरारनामों की ही शब्दावली है, मीठी लगती है, और अगर इसमें ईमानदारी की भावना होती तो युद्ध का अन्त हो जाता। लेकिन यह बहुत जल्दी जाहिर हो गया कि इन शक्तियों के मन में कितना कपट था। फ्रान्स व इंग्लैण्ड दोनों ने, और इंग्लैण्ड ने, खासतौर पर इस इकरारनामे पर दस्तखत करने से पहले कई शर्तें रख दी थीं, जिनकी वजह से उनके लिए तो यह नहीं के बराबर हो गया था। ब्रिटिश सरकार ने इस इकरारनामे में से ऐसी तमाम युद्ध-सम्बन्धी कार्रवाइयाँ निकाल दी थी, जो उसे अपने साम्राज्य के हित में करनी पड़ें। इसका अर्थ यह था कि वह जब चाहे तब युद्ध छेड़ सकती थी। उसने अपनी हुकूमत व असरवाले प्रदेशों पर एक किस्म के ब्रिटिश 'मुनरो सिद्धान्त' की घोषणा कर दी।

इधर तो इस तरह खुले तौर पर युद्ध को 'ग़ैर-क़ानूनी' करार दिया जा रहा था, उधर १९२८ ई० में एक गुप्त आंग्ल-फ्रान्सीसी नौ-सेना समझौता हो गया। इसका भेद किसी तरह खुल गया, और इससे यूरोप व अमेरिका में सनसनी फैल गई। पर्दे के पीछे असली मामला क्या था, यह इससे काफ़ी सामने आ गया।

सोवियत रूस ने केलॉग-करार को मान लिया और उसपर दस्तखत कर दिये। ऐसा करने में उसका असली हेतु यह था कि इस तरह कुछ हद तक ऐसे सोवियत-विरोधी गुट्ट का बनना रुक जायगा, जो क़रार की आड़ में सोवियत पर हमला करे। ब्रिटिश सरकार ने जो शर्तें रक्खी थी, वे खासतौर पर सोवियत को ही लक्ष्य करके रक्खी थीं। दस्तखत करते वक्त रूस ने इन अंग्रेज़ी व फ्रान्सीसी शर्तों पर सख्त ऐतराज किया था।

रूस युद्ध को टालने के लिए इतना बेताब था कि उसने अपने पड़ौसी पोलैण्ड, रूमानिया, ऐस्टोनिया, लैटविया, तुर्की और ईरान के साथ सुलह का एक खास क़रार करके अलग पेशबन्दी कर ली। यह लितुविनोफ़-करार कहलाता है। केलॉग-क़रार के अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बनने के छै महीने पहले, फरवरी, १९२९ ई०, में, इस पर दस्तखत हुए।

इस तरह झगड़ालू और तबाही की तरफ जानेवाले संसार को बचाने की लाचार कोशिशों की तरह ये करार और गुट-बन्दियाँ और सन्धियाँ बराबर होती रहीं, मानो ऊपर-ऊपर के ऐसे करारों या लेपा-पोतियों से किसी भीतरी रोग का इलाज हो सकता हो। यह १९२०-३० ई० का जमाना था जब यूरोपीय देशों में समाजवादियों और समाजी लोकतन्त्रवादियों की सरकारें अक्सर बनती रहती थी।



फ्रांस और इटली का प्रभाव क्षेत्र

इन लोगो को ज्यो-ज्यो पद और सत्ता का चस्का लगता गया, त्यो-त्यो ये पूंजीशाही ढाँचे मे मिलते गये। सच तो यह है कि वे पूंजीवाद के सबसे बड़े हिमायती बन गये, और अक्सर करके उतने ही सरगर्म साम्राज्यवादी बन गये जितने कि कट्टर-पन्थी, या प्रतिगामी लोग थे। युद्ध के बाद कुछ वर्षों की क्रान्तिकारी उथल-पुथल के बाद यूरोपीय जगत कुछ हद तक ठण्डा पड गया था। मालूम होता था कि पूंजीवाद ने एक और ज़माने तक के लिए अपने-आपको नई सूरतो मे ढाल लिया था, और फ़ौरन ही किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की कोई उम्मीद कही भी दिखाई नही देती थी।

१९२९ ई० मे यूरोप की यह हालत थी।

: १७५ :

मुसोलिनी और इटली मे फ़ासीवाद

२१ जून, १९३३

यूरोप की कथा की रूप-रेखा मैं १९२९ ई० तक ले आया हूँ। पर अभी-तक इसका एक महत्व का अध्याय छूट गया है, और इसको लिखने के लिए मुझे कुछ पीछे जाना पडेगा। यह इटली के युद्ध के बाद की घटनाओ से सम्बन्ध रखता है। ये घटनाएँ इसलिए इतने महत्व की नही हैं कि वे हमे बतलाती हैं कि इटली मे क्या हुआ, बल्कि इसलिए कि वे नये ढग की हैं, और दुनिया-भर की हलचलो के एक नये पहलू की और सघर्ष की चेतावनी देती हैं। इसलिए इनकी खासियत राष्ट्रीय ही नही है, बल्कि उससे बहुत ज्यादा है। इसीलिए इन्हें मैंने एक अलग पत्र के लिए रख छोड़ा था। इसलिए इस पत्र मे मैं आज के एक नामी व्यक्ति मुसोलिनी[1] का और इटली मे फासीवाद के उदय का ज़िक्र करूँगा।

महायुद्ध शुरू होने से पहले ही इटली सख्त आर्थिक मुसीबत मे फँसा हुआ था। १९११-१२ ई० मे तुर्की के साथ उसके युद्ध का अन्त उसकी विजय के साथ हुआ था, और उत्तरी अफ्रीका मे त्रिपोली पर उसका कब्ज़ा होने से उसके साम्राज्यवादी लोगो को बडी खुशी हुई थी। मगर इस छोटे-से युद्ध से उसे अन्दरूनी तौर पर ज्यादा लाभ नही हुआ था, और न इससे उसकी आर्थिक हालत ही सुधरी थी। बल्कि हालत और भी बिगडती गई और १९१४ ई० मे, जबकि महायुद्ध शुरू होने ही वाला था, इटली क्रान्ति के दरवाज़े पर खडा दिखाई दे रहा था। कारखानो मे बडी-बडी हडतालें हुई, और मज़दूर-वर्ग के नर्मदली समाजवादी नेताओ की

[1] बेनितो मुसोलिनी की अप्रैल, १९४५ ई० में द्वितीय महायुद्ध के अन्त होने पर उसके विरोधियो ने हत्या कर दी।

कोशिशो ने ही मजदूरो को रोके रक्खा। ये लोग हडतालो को रोकने मे सफल हो गये। इसके बाद महायुद्ध छिड गया। इटली ने अपने जर्मन दोस्तो का साथ देने से इन्कार कर दिया, और दोनो पक्षो को दबाकर उनसे रियायतें हासिल करने के लिए अपनी तटस्थ स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। सबसे ऊँची बोली बोलने-वाले को अपनी सहायता भेंट करने का यह रुख कुछ नसीहत देनेवाला नही था, लेकिन राष्ट्र बिलकुल सख्त-दिल हुआ करते हैं, और उनके व्यवहार का तरीक़ा ऐसे ढग का होता है कि किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के लिए तो वह शर्म की बात समझी जाय। मित्र-राष्ट्र, यानी इग्लैण्ड और फ्रान्स, ऊँची रिश्वतें दे सकते थे—नकदी के रूप मे भी और प्रदेश देने के वायदे के रूप मे भी—इसलिए मई, १९१५ ई० मे इटली मित्र-राष्ट्रो की तरफ युद्ध मे शरीक हो गया। मेरा खयाल है कि मैं बाद मे की गई उस गुप्त सन्धि का ज़िक्र कर चुका हूँ, जिसमे स्मर्ना व एशिया-कोचक का कुछ टुकडा इटली के हिस्से मे रक्खा गया था। मगर इस सन्धि पर अमल होने से पहले ही रूस मे बोलशेविक क्रान्ति हो गई और यह छोटा-सा खेल बिगड गया। इटली की यह शिकायत थी, और पेरिस की शान्ति-सन्धियो के बारे मे कुछ असन्तोष भी था, और यह भावना थी कि इटली के 'हको' का जान-बूझकर लिहाज़ नही किया गया। साम्राज्यवादियो और मध्यम-वर्गों ने आशा लगा रक्खी थी कि नये उपनिवेशी प्रदेशो पर कब्ज़ा मिलेगा और इनके शोषण से उनके देश का आर्थिक बोझ हलका हो जायगा।

युद्ध के बाद इटली मे हालत बहुत बिगडी हुई थी, और यह देश दूसरे सब मित्र-राष्ट्री देशो से ज्यादा पस्त हो गया था। आर्थिक व्यवस्था टूटती हुई नज़र आ रही थी, और समाजवाद व साम्यवाद के हिमायतियो की सख्या बढ रही थी। रूसी बोलशेविको की मिसाल तो उनके सामने थी ही। एक तरफ़ तो कारखानो के मज़दूर थे, जो आर्थिक हालतो की मुसीबतें सह रहे थे, दूसरी तरफ उन फ़ौजी सिपाहियो की बडी सख्या थी, जिनकी सेवाएँ तोड दी गई थी और जो बेकार हो गये थे। गडबडियाँ फैलने लगी, और मध्यम-वर्गी नेताओ ने मज़दूरो की बढती हुई ताकत का मुक़ाबला करने के लिए इन सिपाहियो को सगठित करने की कोशिश की। १९२० ई० की गर्मियो मे सकट पैदा हो गया। धातु का काम करनेवाले मज़दूरो के बडे सघ ने, जिसके लगभग पाँच लाख सदस्य थे, ऊँची मजूरी की माँग की। यह माँग ठुकरा दी गई, और तब मज़दूरो ने एक नई तरह की हडताल का फैसला किया, जिसका नाम 'कामरोक हडताल' रक्खा गया। इस हडताल का मतलब यह था कि मज़दूर लोग कारखानो मे तो जाते थे, पर काम करने के बजाय ठाली बैठे रहते थे, बल्कि काम मे रुकावटें डालते थे। यह वह मज़दूर-सघवादी कार्यक्रम था, जिसकी सिफारिश बहुत दिनो पहले फ्रान्स के मज़दूरो ने की थी। कारखानेदारो ने इस रुकावटी हडताल के जवाब मे ताला-बन्दी का सहारा लिया, यानी उन्होंने

कारखानो मे ताले डाल दिये। इस पर मजदूरो ने कारखानो पर ही कब्ज़ा कर लिया और उन्हें समाजवादी ढग पर चलाने का प्रयत्न किया।

मज़दूरो की यह कार्रवाई साफ-साफ क्रान्तिकारी थी, और अगर वे इसपर डटे रहते तो या तो समाजी क्रान्ति हुए बिना न रहती या उन्हें मुंह की खानी पडती। ज्यादा दिन तक कोई बीच की हालत नही रह सकती थी। उस समय इटली मे समाजवादी दल का बहुत जोर था। मज़दूर-सघो के अलावा तीन हज़ार म्यूनिसिपल कमेटियो की बागडोर भी उसके हाथो मे थी, और पार्लमेण्ट मे उसके सदस्यो की सख्या डेढ सौ, यानी सदस्यो की कुल सख्या की एक-तिहाई थी। ऐसा जोरदार और जड जमा हुआ दल, जिसके पास जायदाद हो और जिसके हाथ मे बहुत-ऐसे सरकारी ओहदे हो, कभी क्रान्तिकारी नही हुआ करता। मगर ऐसा होने पर भी इस दल ने, अपने नर्म लोगो समेत, कारखानो पर मजदूरो के कब्ज़ा किये जाने की कार्रवाई को मजूरी दे दी। पर मजूरी देने के सिवा इसने और कुछ नही किया। वह पीछे लौटना नही चाहता था, लेकिन उसमे आगे बढ़ने की भी हिम्मत नहीं थी। इसलिए उसने कम-से-कम प्रतिरोध का बिचला रास्ता अपनाया, और तमाम सशयी लोगो की तरह और उन लोगो की तरह जो आगा-पीछा सोचते रहते हैं, और ऐन मौक़े पर फैसला नहीं कर पाते, इन लोगो ने भी समय का साथ छोडकर उसे आगे निकल जाने दिया। नतीजा यह हुआ कि वे कुचल दिये गए। मज़दूर-वर्ग के नेताओ और वामपक्षी दलो की हिचकिचाहट की वजह से कारखानो पर मज़दूरो का क़ब्ज़ा फिसफिसा कर जाता रहा।

इससे मालिक वर्गों का हौसला बहुत बढ गया। उन्होंने मज़दूरो व उनके नेताओ की ताकत को तोल लिया था, और देख लिया था कि वह उतनी नही थी जितनी कि वे उसे समझते थे। इसलिए अब उन्होंने मजदूर-आन्दोलन और समाजवादी दल को कुचलने की बदला लेनेवाली योजना बनाई। उन्होंने अपनी सहायता के लिए स्वयसेवको के कुछ गिरोहो की ओर खास ध्यान दिया, जिन्हें १९१० ई० मे, बैनितो मुसोलिनी ने, सेना से निकले हुए सिपाहियो को जमा करके बनाया था। ये 'लडाकू गिरोह'[1] कहलाते थे, और इनका खास काम यह था कि जब मौक़ा लगे तब समाजवादियो, वाम-पक्षियो व इनकी सस्था पर हमले करना। मसलन, कभी वे किसी समाजवादी अखबार के छापेखाने को तहस-नहस कर देते थे, कभी किसी ऐसी म्यूनिसिपल सस्था या सहकारी समिति पर हमला करते थे, जो समाजवादियों या वाम-पक्षियो के हाथ मे होती थी। बडे-बडे उद्योगपति व आमतौर पर

[1] इतालवी भाषा मे इनका नाम Fasci di combattimenti (फासि दि कॉम्बैतिमेंन्ति) था। फासिज़्म (Fascism) यानी फासीवाद शब्द इसीसे निकला है।

ऊँचे मध्यम-वर्गी लोग, मजदूर-वर्ग व समाजवाद के खिलाफ अपनी लडाई मे, इन 'लडाकू गिरोहो' को आसरा व और धन की महायता देते थे। सरकार तक भी इनकी तरफ़ से आँखें मूँदे रहती थी, क्योकि वह समाजवादी दल की ताकत को बर्बाद करना चाहती थी।

इन लडाकू गिरोहो या 'फासियो' को सगठित करनेवाला यह बैनितो मुसोलिनी कौन था ? उस समय यह नौजवान था (इसका जन्म १८८३ ई० मे हुआ था, इसलिए आज यह ठीक पचास वर्ष का है), और इसकी ज़िन्दगी उथल-पुथल और ज़िन्दा-दिली से भरी हुई थी। इसका पिता लोहार था और समाजवादी था। इसलिए बैनितो का लालन-पालन समाजवादी असर मे हुआ। जवानी के दिनो मे यह सरगर्म आन्दोलनकारी था, और अपने क्रान्तिकारी प्रचार की वजह से स्वीज़रलैण्ड के कई प्रान्तो से निकाला गया था। यह नर्म समाजवादी नेताओ को उनकी नर्मी के लिए बुरी तरह फटकारता था। राज्य के खिलाफ बमो के इस्तेमाल का व दूसरे उपायो का यह खुला समर्थन करता था। तुर्की के साथ इटली के युद्ध के समय ज्यादातर समाजवादी नेताओ ने युद्ध का समर्थन किया था। मगर मुसोलिनी का ढग दूसरा था, इसने युद्ध का विरोध किया, और खून-खराबी की कुछ कार्रवाइयो की वजह से उसे कुछ महीनो की जेल भी भुगतनी पडी थी। इसने नर्म समाजवादी नेताओ की, युद्ध का समर्थन करने के लिए कडी आलोचना की, और उन्हें समाजवादी दल से निकलवाकर रहा। यह मिलान से निकलनेवाले समाजवादी दैनिक 'अवन्ती' का सम्पादक बन गया, और मज़दूरो को रोज़ यह सलाह देता रहा कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से करें। नर्म मार्क्सवादी नेताओ ने इस तरह हिंसा भडकाये जाने पर सख्त ऐतराज़ किया।

इतने मे ही महायुद्ध शुरू हो गया। कुछ महीनो तक तो मुसोलिनी ने युद्ध का विरोध किया और इटली को तटस्थ रखने के लिए प्रचार किया। मगर फिर इसने अपने विचार यकायक बदल दिये, या विचारो को ज़ाहिर करने का ढग बदल दिया, और अपना यह ऐलान कर दिया कि इटली को मित्र-राष्ट्रो के साथ शरीक हो जाना चाहिए। यह समाजवादी अखबार को छोड बैठा, और एक नये अखबार का सम्पादन करने लगा, जिसने इस नई नीति का प्रचार किया। इसे समाजवादी दल से निकाल दिया गया। बाद मे यह एक साधारण सिपाही की तरह सेना मे भरती हो गया, इटली के मोर्चे पर लडा, और लडाई मे घायल हुआ।

युद्ध के बाद मुसोलिनी ने अपने को समाजवादी कहना बन्द कर दिया। वह न इधर का रहा न उधर का, क्योकि उसका पुराना दल उससे नफरत करता था और मज़दूर वर्गो मे उसका कोई असर नही था। वह शान्तिवाद और समाज-वाद की निन्दा करने लगा, और मध्यम-वर्गी राज्य की भी। उसने हर तरह के

राज्य की निन्दा की, और अपनेको 'व्यक्तिवादी' कहकर अराजकता की सराहना की। यह सारी बातें उसीने लिखी हैं। उसने यह काम किया कि मार्च, १९१९ ई० मे फासीवाद की बुनियाद डाली और अपने लडाकू दस्तो मे बेकार सिपाहियो की भरती शुरू कर दी। इन गिरोहो का हिंसा मे विश्वास था, और चूंकि सरकार कभी इनके मामले मे दखल नही देती थी, इसलिए इनके हौसले और सरगर्मी बढ़ती गई। शहरो मे कभी-कभी मजदूर-वर्गो की इनके साथ बाकायदा मुठभेड़ें होती थी और वे इन्हें खदेड देते थे। मगर समाजवादी नेता मजदूरो के लडाकू जोश का विरोध करते थे और उन्हें सलाह देते थे कि फासी आतक का मुकाबला करने के लिए शान्ति व सब्र से काम लें। उन्हें उम्मीद थी कि इस तरह फासीवाद अपने-आप पस्त हो जायगा। लेकिन शान्त होने के बजाय फासीवादी गिरोह ही जोर पकडते गये, क्योकि इन्हें धनवानो से चन्दे मिलते थे और सरकार ने इनके मामलो मे दखल देने से इन्कार कर दिया था। उधर, जन-साधारण प्रतिरोध की बची-खुची भावना भी खो चुके थे। यहाँ तक कि फासीवादी हिंसा को रोकने के लिए मजदूर-वर्ग के हथियार हडताल की भी कोशिश नही की गई।

मुसोलिनी के नीचे फासीवादियो ने दो परस्पर-विरोधी नारो का मेल साध लिया। सबसे पहले और सबसे आगे तो वे समाजवाद और साम्यवाद के दुश्मन थे, इस वजह से उन्हें जमीन-जायदादवाले वर्गों का समर्थन हासिल हो गया। लेकिन मुसोलिनी तो पुराना समाजवादी आन्दोलनकारी और क्रान्तिकारी था, और उसकी जबान पर उन चालू पूंजीपति-विरोधी नारो की भरमार थी, जिन्हें बहुत-से गरीब-से-गरीब वर्ग खूब पसन्द करते थे। उसने आन्दोलन का शास्त्र भी इस धन्धे के माहिर साम्यवादियो से बहुत-कुछ सीख लिया था। इसलिए फासीवाद एक विचित्र खिचडी बन गया, और उसकी अलग-अलग तरह से व्याख्या की जा सकती थी। असल मे तो यह एक पूंजीवादी आन्दोलन था, पर वह कई ऐसे नारे लगाता था, जो पूंजीवाद के लिए खतरनाक थे। इस तरह इसने अपनी मण्डली मे एक रग-बिरगी भीड जमा कर ली। मध्यम-वर्गो के लोग, और खासकर निचले मध्यम-वर्ग के बेकार लोग, इसकी रीढ थे। ज्यो-ज्यो इसकी शक्ति बढती गई त्यो-त्यो बेकार व बे-हुनर मजदूर लोग, जो मजदूर-सघो मे संगठित नही थे, हवा के साथ बहकर इसमे आने लगे, क्योकि सफलता से बढकर सफल बनानेवाली चीज कोई नही होती। फासीवादियो ने दूकानदारो को कीमते कम करने के लिए जबर्दस्ती मजबूर किया, और इस तरह गरीबो की सहानुभूति भी हासिल कर ली। बहुत-से ले-भगू भी फासी झण्डो के नीचे जमा हो गये। मगर इस सबके बावजूद फासीवाद अल्पसख्यक आन्दोलन ही रहा।

बस, जबकि समाजवादी नेता सशय मे पड़े थे और आगा-पीछा सोचते थे

और आपस मे लडते-झगडते थे और उनके दल मे फूट और भेद पड रहे थे, तब फासीवादियो का बल बढ रहा था। स्थायी सेना फासीवाद की ओर बहुत झुकी हुई थी, और मुसोलिनी ने सेना के सेनापतियो को अपने पक्ष मे मिला लिया था। मुसोलिनी का यह अद्‌भुत करतब था कि उसने ऐसे विविध और परस्पर-विरोधी तत्वो को अपनी ओर मिला लिया, और उन्हें एक सूत्र मे बांधे रक्खा, और अपने दल के हर गिरोह के मन मे एक खयाल जमा दिया कि फ़ासीवाद खासतौर पर उसी के लिए है। मालदार फासीवादी मुसोलिनी को अपनी जायदाद का रक्षक समझता था और यह समझता था कि उसके पूंजीपति-विरोधी भाषण व नारे सिर्फ़ थोथे शब्द थे, जिनका मतलब जन-साधारण को उल्लू बनाना था। उधर ग़रीब फासीवादी का यह विश्वास था कि यह पूंजीवाद-विरोध ही फासीवाद का असली तत्व है, और बाकी सब बातो का मतलब सिर्फ मालदार लोगो को राज़ी रखना है। इस तरह मुसोलिनी एक के ख़िलाफ दूसरे को चकमा देने की कोशिश करता रहता था। एक दिन वह मालदारो के पक्ष मे बोलता तो दूसरे दिन ग़रीबो के पक्ष मे। लेकिन असल मे वह ज़मीन-जायदादवाले वर्गों का हामी था, जो उसे धन की सहायता देते थे और जो मज़दूर-वर्ग व समाजवाद की ताकत का नाश करने पर तुले हुए थे, क्योंकि इनकी तरफ से उन्हें बहुत दिनो से खतरा था।

आखिरकार अक्तूबर, १९२२ ई० मे स्थायी सेना के सेनापतियो की रहनुमाई मे इन फासीवादी दस्तों ने रोम पर चढाई कर दी। प्रधान मन्त्री ने, जो अबतक फासीवादियो की कार्रवाइयो को दरगुज़र करता रहा था, फौजी कानून लागू कर दिया। मगर अब वक्त निकल चुका था और अब खुद बादशाह तक मुसोलिनी की तरफ था। उसने (बादशाह ने) फौजी कानून के हुक्मनामे को रद्द कर दिया, अपने प्रधान मन्त्री का इस्तीफा मंजूर कर लिया, और नया प्रधान मन्त्री बनने के लिए और अपना मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिए मुसोलिनी को बुलाया। ३० अक्तूबर, १९२२ ई० को फासीवादी सेना रोम पहुँच गई, और उसी दिन मुसोलिनी प्रधान मन्त्री बनने के लिए मिलान से रेल मे आ गया।

फासीवाद पूरी तरह सफल हो गया था, और बागडोर मुसोलिनी के हाथो मे आ गई थी। पर इसका दावा क्या था? इसका कार्यक्रम क्या था और इसकी नीति क्या थी? बडे आन्दोलन करीब-करीब बिना अपवाद के, किसी साफ विचारधारा के गिर्द खडे हुआ करते हैं, जो कुछ तयशुदा उसूलो पर बनती है और जिसके साफ-साफ ध्येय व कार्यक्रम होते हैं। फासीवाद की निराली खासियत यह थी कि उसके न तो कोई तयशुदा उसूल थे न कोई विचार-धारा थी, न उसके पीछे कोई दर्शन था। हां, अगर समाजवाद, साम्यवाद व उदार-नीति के खाली विरोध को ही दर्शन समझ लिया जाय तो बात दूसरी है। १९२० ई० मे, फ़ासीवादी गिरोहो के

संगठन के एक वर्ष बाद, फासीवादियो के बारे मे मुसोलिनी ने ऐलानिया कहा था

"चूंकि वे किसी तरह के तयशुदा उसूलो मे बंधे हुए नही हैं, इसलिए वे बिना रुके एक ही लक्ष्य की तरफ़ बढते जाते है, और यह लक्ष्य है इटली की जनता की भावी भलाई।"

मगर यह तो कोई ऐसी नीति नही है, जो अपनी अलग खासियत रखती हो, क्योकि हर व्यक्ति यह कह सकता है कि वह अपने देशवासियो की भलाई का समर्थन करने को तैयार है। १९२२ ई० मे, रोम पर चढाई के ठीक एक महीने पहले, मुसोलिनी ने कहा था "हमारा कार्यक्रम बहुत सीधा-सादा है, हम इटली पर राज करना चाहते हैं।"

मुसोलिनी ने इतालवी भाषा के एक विश्व-कोश मे फासीवाद के जन्म पर जो लेख लिखा है, उसमें उसने इस बात को और भी साफ कर दिया है। उसने लिखा है कि जब वह रोम पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हुआ था तब भविष्य के बारे मे उसके दिमाग़ मे कोई योजना नही थी। राजनीतिक सकट के समय कुछ करने की ज़ोरदार इच्छा ने ही उसे इस मुहिम पर कूच करने के लिए प्रेरित किया था, और यह उसकी पिछली समाजवादी साधना का परिणाम था।

हालांकि फ़ासीवाद और साम्यवाद एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं, पर कुछ हलचलें दोनो मे एक-सी हैं। लेकिन जहांतक सिद्धान्तो का और विचारधारा का सम्बन्ध है वहांतक इन दोनो मे ज़मीन-आसमान का फर्क है। क्योकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, फासीवाद के कोई बुनियादी सिद्धान्त नही हैं, वह तो कोरे काग़ज़ से शुरू होता है। दूसरी तरफ साम्यवाद या मार्क्सवाद एक पेचीदा आर्थिक मत और इतिहास की व्याख्या है, जिसके लिए सख्त दिमागी अनुशासन की ज़रूरत है।

हालांकि फासीवाद के कोई सिद्धान्त या आदर्श नही थे, पर उसका मारकाट व आतंक का साफ़ ढंग था, और गुज़रे ज़माने के बारे मे उसका एक खास नज़रिया था, जिससे हमको उसे कुछ समझने मे सहायता मिलती है। उसका चिह्न रोम का एक पुराना साम्राज्यशाही चिह्न था, जो रोम के सम्राटो और मजिस्ट्रेटो के आगे-आगे चला करता था। यह छडियो का एक बण्डल होता था, जिसके बीच मे कुल्हाडी रहती थी।[1] फासीवादी सगठन इसी पुराने रोमी नमूने के आधार पर रचा गया था, यहांतक कि नाम भी पुराने ही काम मे लाये गए थे। फासी सलाम[2] भी

[1] ये छडियां fasces कहलाती थी, और Fascismo शब्द इसीसे बना है।
[2] इसे Fascista कहते हैं।

पुराना रोमी सलाम है, जिसमे बाजू को उठाकर एक तरफ फैला दिया जाता है। इस तरह फासीवाद लोग प्रेरणा के लिए साम्राज्यशाही रोम की ओर पीछे नज़र डालते थे, उनका नज़रिया भी साम्राज्यशाही था। उनका गुरुमन्त्र था 'तर्क वितर्क नही, सिर्फ आज्ञापालन'। यह मन्त्र शायद सेना के लिए ठीक हो, पर लोकतन्त्र के लिए तो कभी भी ठीक नहीं है। उनका नेता मुसोलिनी 'इल दयूचे' (Il Ducc), यानी तानाशाह था। अपनी वर्दी के लिए उन्होंने काला कुर्ता अपनाया, और इसलिए उनका नाम 'काले कुर्तोवाले' (Black shirts) पड गया।

चूंकि फासीवादियो का एक ही पक्का कार्यक्रम सत्ता हासिल करना था, इसलिए मुसोलिनी के प्रधान मन्त्री बनने पर वह पूरा हो गया। तब मुसोलिनी अपने विरोधियो को कुचलकर अपनी हैसियत मजबूत बनाने मे पूरी तरह जुट गया। मारकाट व आतक की खूब बदमस्तियाँ मची। इतिहास मे मारकाट की घटनाएँ बहुत आम हैं, लेकिन मामूली तौर पर मारकाट को ज़रूरत के वक्त और वह भी बडे दुःख के साथ अपनाया जाता है, और उसके झूठे-सच्चे कारण बताये जाते हैं और सफाई दी जाती है। मगर फासीवाद मारकाट के लिए जवाब देने-जैसे किसी रुख मे विश्वास नही करता था। फासीवादी लोग तो मारकाट को मानते थे और उसकी खुली तारीफ करते थे, और उनका कोई मुकाबला न होने पर भी मारकाट मचाते थे। पार्लमेण्ट के विरोधी सदस्यो को मार-पीटकर दहला दिया गया, और सविधान को बिलकुल बदल देनेवाला चुनाव-सम्बन्धी नया कानून ज़बर्दस्ती पास करा लिया गया। इस तरह मुसोलिनी के पक्ष मे भारी बहुमत हासिल कर लिया गया।

सत्ता पर सचमुच कब्जा हो जाने पर भी और पुलिस व सरकारी अमले की बागडोर हाथो मे होने पर भी फासीवादियो का अपनी गैर-कानूनी मारकाट जारी रखना अचम्भे की बात थी। मगर उन्होंने मारकाट जारी रक्खी। उनके सामने मैदान तो खाली पडा ही था, क्योंकि राज्य की पुलिस तो दखल देती ही कैसे? हत्याएँ की गईं, लोगो को सख्त तकलीफें दी गई, मार-पीट की गई, सम्पत्ति बर्बाद की गई, और इन फासीवादियो ने एक नये तरीके का आमतौर पर इस्तेमाल किया। वह यह था कि जो कोई उनका विरोध करने की जुर्रत करता, उसे अरण्डी के तेल की सेरो खुराके पिला दी जाती थी।

१९२४ ई० मे गायाकोमो मैतिआती की हत्या से सारा यूरोप थर्रा उठा। यह एक नामी समाजवादी था और पार्लमेण्ट का सदस्य था। उन दिनो जो चुनाव होकर ही चुका था, उसके दौरान इसने पार्लमेण्ट मे अपने भाषणो मे फासीवादी तरीको की निन्दा की थी। इसके कुछ ही दिनो के भीतर उसकी हत्या कर दी गई।

धनापूर्ण करने के लिए हत्यारो पर मुकदमे तो चलाए गए, पर वे एक तरह से बिना सजा पाये ही छूट गये। मारपीट के सबब से अमेन्दोला नामक नरमदली नेता की मौत हो गई। उदार-दली पिछला प्रधान मन्त्री नित्ती बडी मुश्किल से जान बचाकर इटली से भाग गया, पर उसका मकान तहस-नहस कर दिया गया। ये कुछ थोडी-सी मिसालें हैं जिनकी तरफ सबका ध्यान खिंचा लेकिन मारकाट की कार्रवाइयाँ तो लगातार और चारो तरफ होती रहती थी। यह मारकाट दमन के कानूनी तरीकों से अलग थी और उनके अलावा थी। मगर यह भी सिर्फ जोशीली भीड की मारकाट नहीं थी। यह तो अनुशासन मे बँधी हुई मारकाट थी, जिसका इस्तेमाल तमाम विरोधियो के ऊपर इतमीनान किया जाता था, और सिर्फ समाजवादियो व साम्यवादियो पर ही नहीं बल्कि अमन-पसन्द और बहुत नर्म व उदारदली लोगो पर भी। मुसोलिनी का हुक्म था कि उनके विरोधियो का जीना दुश्वार 'या असम्भव' कर दिया जाय। इस हुक्म पर फरमाबरदारी से अमल किया गया। कोई दूसरा दल, कोई दूसरा सगठन, कोई दूसरी सस्था, जिन्दा न रहने पावे। हर चीज फासी ढग की हो। सारी नौकरियाँ फासीवादियो को ही दी जायँ।

मुसोलिनी इटली का तानाशाह बन बैठा, जिसके हाथ मे सारी ताकत थी। वह सिर्फ प्रधान मन्त्री ही नहीं था, बल्कि पर-राष्ट्र-विभाग, स्वराष्ट्र-विभाग, उपनिवेश-विभाग, युद्ध-विभाग, नौ-सेना-विभाग, हवाई-सेना-विभाग और मजदूर-विभाग का भी मन्त्री था। एक तरह से वह पूरा मन्त्रि-मण्डल था। बेचारा बादशाह कोने मे जा बैठा। और उसका नाम भी सुनाई नहीं देता था। पार्लमेण्ट भी धीरे-धीरे एक तरफ धकेल दी गई और अपने रूप की हल्की छाया रह गई। सारी हलचलो पर 'फैसिस्ट ग्राण्ड कौन्सिल' छाई हुई थी और इस कौन्सिल पर मुसोलिनी छाया हुआ था।

पर-राष्ट्र-सम्बन्धी मामलो पर मुसोलिनी के शुरू के भाषण से यूरोप मे बहुत ताज्जुब और घबराहट फैल गये। ये भाषण अजीब ढग के थे। लफ्फाजी व धमकियो से भरे हुए और राजनीतिज्ञो की कूटनीतिभरी बातो से बिलकुल अलग किस्म के। मालूम होता था कि वह हमेशा लडने पर आमादा था। वह इटली की तकदीर मे लिखे साम्राज्य की और बेशुमार इतालवी हवाई-जहाजो के आकाश मे छा जाने की बातें करता था, और कई बार तो उसने अपने पडौसी फ्रान्स को खुल्लम-खुल्ला धमकियाँ दीं। फ्रान्स इटली से बहुत ज्यादा ताकतवर जरूर था, मगर लडना कोई नहीं चाहता था, इसलिए मुसोलिनी की बहुत-सी बातो को बर्दाश्त कर लिया जाता था। हालाँकि इटली राष्ट्र-सघ का सदस्य था, पर मुसोलिनी ने राष्ट्र-सघ को अपने व्यग और तिरस्कार का खास निशाना बनाया, और एक बार

तो उसने राष्ट्र-सघ को बहुत ही लडाकू तरीके से चुनौती दी। मगर फिर भी राष्ट्र-सघ ने व दूसरी शक्तियो ने इसे सहन कर लिया।

इटली मे बहुत-से ऊपरी परिवर्तन हो गये हैं, और वहाँ हर जगह क़ायदा और वक्त की पाबन्दी को देखकर विदेशी यात्रियो के मन पर अच्छी छाप पडती है। शाही शहर रोम को सुन्दर बनाया जा रहा है। और उसे अच्छा बनाने की कई लम्बी-चौडी योजनाएँ हाथ मे ली गई है। मुसोलिनी की आँखो के आगे नये रोमन साम्राज्य के खयाली नज़ारे नाचते रहते हैं।

पोप और इटली की सरकार के बीच जो पुराना झगडा चला आता था, वह १९२९ ई० मे, पोप और इटली की सरकार के प्रतिनिधि के बीच राज़ीनामा होने से ख़त्म हो गया। जब से, १८७१ ई० मे, इटली की बादशाहत ने रोम को अपनी राजधानी बनाया था, तभी से पोप इसे मानने से या रोम पर अपनी प्रभुता का दावा छोडने से इन्कार करता आ रहा था। इसलिए जितने भी पोप हुए वे अपना चुनाव होते ही रोम मे वैतिकन[1] के अपने खूब बडे महल मे, जिसमे सेण्ट पीटर का गिरजा भी शामिल है, जा बैठते थे, और कभी उससे बाहर निकलकर इटली की ज़मीन पर पाँव नही देते थे। वे अपने-आपको मर्ज़ी से कैदी बना लेते थे। १९२९ ई० के राजीनामे से रोम का यह छोटा-सा वैतिकन इलाका एक स्वाधीन व पूरा प्रभुताधारी राज्य मान लिया गया। पोप इस राज्य का कामिल राजा होता है, और इसके नागरिको की कुल सख्या पाँच सौ के करीब है। इस राज्य की अपनी निजी अदालते हैं, सिक्का है, डाक के टिकट हैं, और सार्वजनिक सेवाएँ है, और दुनिया-भर मे सबसे महँगी छोटी-सी रेल-व्यवस्था है। अब पोप मर्ज़ी से बना हुआ कैदी नही रहा, कभी-कभी वह वैतिकन से बाहर निकलता है। इस सन्धि ने मुसोलिनी को कैथलिको मे लोकप्रिय बना दिया। फासीवादी मारकाट का गैर-कानूनी पहलू करीब एक साल तो खूब तेज़ रहा, और बाद मे १९२६ ई० तक कुछ मन्दा रहा। १९२६ ई० मे राजनीतिक विरोधियो का मुक़ाबला करने के लिए 'गैर-मामूली कानून' पास किये गए, जिनके ज़रिये राज्य को ज़बर्दस्त अधिकार मिल गये और गैर-कानूनी कार्रवाइयो की ज़रूरत नही रह गई। ये कानून उन आर्डिनेन्सो और आर्डिनेन्सो के आधार पर रचे गये क़ानूनो से कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे, जिनकी हमारे भारत मे भरमार है। इन 'ग़ैर-मामूली कानूनों' के मातहत अनगिनती लोगो को सज़ाएँ दी जाती रही,

[1] रोम के पास वैतिकन पहाडी पर बने हुए पोपो के विशाल राजभवन का नाम। सन् १३७७ ई० से यह पोपो का आवास है। इसी महल के नीचे बसा हुआ वैतिकन नगर पोपो की राजधानी और स्वतन्त्र रियासत माना जाता है।

उन्हें जेलों में डाला जाता रहा, और देश-निकाला दिया जाता रहा। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़, नवम्बर, १९२६ ई० से लगाकर अक्तूबर, १९३२ ई० तक, कम-से-कम १०,०४४ व्यक्ति खास अदालतों के सामने पेश किये गए। देश से निकाले हुओं के लिए पोञ्ज़ा, वैन्तोतीन, व ग्रेमिती' नामक तीन ताज़ीरी टापू अलग मुक़र्रर कर दिये गए थे, और वहाँ की हालतें बहुत ही खराब थी।

दमन और गिरफ्तारियों का अभी तक खूब ज़ोर चला आ रहा है, और इनसे साफ़ ज़ाहिर है कि देश में एक गुप्त व क्रान्तिकारी विरोधी-दल मौजूद है, हालाँकि इसे कुचलने की सारी कोशिशें की गई हैं। देश पर खर्च का बोझ बढ़ रहा है और उसकी आर्थिक हालत दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है।

: १७६ :

लोकतन्त्र और तानाशाहियाँ

२२ जून, १९३३

बेनितो मुसोलिनी ने अपनेको इटली का तानाशाह बनाकर जो मिसाल पैदा की, उसकी छूत मालूम होता है यूरोप-भर में फैल गई। उसने कहा था: "यूरोप के हर देश में राजगद्दियाँ इस इन्तज़ार में खाली पड़ी हुई हैं कि योग्य व्यक्ति उनपर बैठ जायँ"। बस, कई देशों में तानाशाह पैदा हो गये, और पार्लमेण्टों को या तो भंग कर दिया गया या उन्हें तानाशाहों की मर्ज़ी के मुताबिक चलने को ज़बर्दस्ती मजबूर किया गया। इसकी एक नामी मिसाल स्पेन था।

स्पेन महायुद्ध के चक्कर में नहीं पड़ा था। उसने लड़नेवाले राष्ट्रों को माल बेचकर खूब रुपया बनाया। लेकिन उसकी निजी मुसीबतें थी और उद्योगों के लिहाज़ से यह बहुत पिछड़ा हुआ था। यूरोप में उसकी महानता के वे दिन बीत चुके थे जब उसके बन्दरगाहों में अमेरिकाओं और पूर्व का धन उलटता था। अब यूरोप की बड़ी शक्तियों में उसकी कोई गिनती नहीं थी। यहाँ एक कमज़ोर पार्लमेण्ट थी, जो 'कोर्ते' कहलाती थी, और रोमन पादरियों का बहुत ज़ोर था। उद्योगों के लिहाज़ से पिछड़े हुए दूसरे यूरोपीय देशों की तरह यहाँ भी जर्मनी व इंग्लैण्ड के ठोस मार्क्सवाद और नर्म समाजवाद के बजाय मज़दूर-संघवाद और अराजकतावाद का प्रचार हुआ। १९१७ ई० में, जब बोलशेविक लोग रूस में सत्ता के लिए संघर्ष कर रहे थे, तब स्पेन के मज़दूरों और वामपक्षियों ने आम हड़ताल करके लोकतन्त्री गणराज्य कायम करने का यत्न किया। पर बादशाह की सरकार और सेना ने इस सारे आन्दोलन को कुचल दिया, और इसके नतीजे से

' ये तीनों छोटे-छोटे टापू इटली के दक्षिणी तट के पास हैं।

देश मे सारी सत्ता सेना के हाथो मे आ गई। वादशाह भी सेना के भरोसे कुछ और स्वाधीन व निरकुश हो गया।

फ्रान्स और स्पेन ने मोरक्को को एक तरह से दो प्रभाव-क्षेत्रो मे बाँट लिया था। १९२१ ई० मे मोरक्को के रिफ लोगो मे अब्दुल करीम नामक एक योग्य नेता स्पेनी शासन के खिलाफ उठ खडा हुआ। इसने वडी योग्यता और वीरता का परिचय दिया और स्पेनी सेना की टुकडियो को वार-वार हराया। इससे स्पेन मे अन्दरूनी सकट पैदा हो गया। वादशाह और फौज के नेता, दोनो ही सविधान व पार्लमेण्ट का अन्त करके तानाशाही कायम करना चाहते थे। इस बात पर तो दोनो एकमत हो गये, पर मतभेद इसपर हुआ कि तानाशाह कौन बने। वादशाह तो खुद तानाशाह या निरकुश राजा वनना चाहता था, और सेना के नेता फौजी तानाशाही चाहते थे। सितम्बर, १९२३ ई० मे सेना का विद्रोह हुआ, और इसने इस मुद्दे का फैसला सेना के पक्ष मे कर दिया, और जनरल प्राइमो दि रिवेरा तानाशाह वन गया। उसने कोर्ते (पार्लमेण्ट) को मसूख कर दिया और खुल्लमखुल्ला फौज के वल पर, राज करने लगा। मगर रिफो के खिलाफ मोरक्को का मुहिम फिर भी सफल नही हुआ, और अब्दुल करीम स्पेनियो को सरगर्मी के साथ वरावर चुनौती देता रहा। स्पेनी सरकार ने उसे अच्छी शर्ते पेश की। मगर उसने इन्हें ठुकरा दिया, और वह पूरी स्वाधीनता की माँग पर डटा रहा। मुमकिन है कि स्पेनी सरकार अकेली उसे दवाने मे सफल न होती। पर १९२५ ई० में फ्रान्सीसियो ने, जिनका मोरक्को मे वहुत वडा स्वार्थ था, दखल देने का फैसला किया, और अपने ज़वर्दस्त साधनो का अब्दुल करीम के खिलाफ इस्तेमाल किया। १९२६ ई० के वीच तक अब्दुल करीम परास्त हो चुका था, और फ्रान्सीसियो के आगे घुटने टेकने के साथ उसकी लम्वी और वहादुराना लडाई खत्म हो गई।

इन सारे वर्षों के दौरान स्पेन मे प्राइमो दि रिवेरा की तानाशाही, फौजी ताकत के तमाम हस्व-मामूल लवाज़मो—जैसे अखवारो पर पावन्दी, दमन, और कभी-कभी फौजी कानून वगैरा—के साथ वरावर चलती रही। याद रहे कि यह तानाशाही मुसोलिनी की तानाशाही से जुदा थी, क्योकि यह सिर्फ फौज के सहारे टिकी हुई थी, इटली की तरह जनता के कुछ वर्गों पर नही। इसलिए ज्योही फ़ौज प्राइमो दि रिवेरा से उकता गई त्योही उसका कोई सहारा बाकी नही रहा। १९३० ई० के शुरू मे बादशाह ने प्राइमो को बरखास्त कर दिया। उसी साल क्रान्ति भी हुई जो दवा दी गई। लेकिन गणराज्य की और क्रान्ति की भावना इतनी फैल गई थी कि उसे दबाकर नही रक्खा जा सकता था। १९३१ ई० मे गणराज्यवादियो ने म्यूनिसिपल चुनावो मे अपनी ताकत का सबूत दिया, और इसके कुछ ही दिन बाद बादशाह अल्फोन्सो ने, यह समझकर कि बहादुरी दिखाने मे भलाई

नहीं है, राजगद्दी को त्याग दिया, और देश छोड़कर भाग गया। स्पेन में काम-चलाऊ सरकार क़ायम हो गई और यह देश जो यूरोप में निरकुश बादशाहत और पादरियों के राज का नमूना था, यूरोप का सबसे कम-उग्र गणराज्य बन गया। इसने बादशाह अल्फोन्सो को क़ानून के बचाव से बाहर कर दिया और पादरियों के असर के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ दी।

लेकिन मैं तो तानाशाहों का बयान कर रहा था। इटली और स्पेन के अलावा जिन और देशों ने लोकतन्त्री हुकूमतों को धता बताई और तानाशाहियाँ क़ायम कर लीं, उनके नाम ये हैं पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूनान, बल्गारिया, पुर्तगाल, हंगरी और आस्ट्रिया। पोलैण्ड में आजकल ही ज़माने का पुराना समाजवादी पिल्सूदस्की तानाशाह था, क्योंकि सेना उसके हाथों में थी। पोली पार्लमेण्ट के सदस्यों के लिए बहुत ही तेज़ पैदा करनेवाली नागवार भाषा बोलना उसने अपनी आदत बना ली थी, और कभी-कभी तो सचमुच इन्हें गिरफ्तार करके फ़ौरन चलता कर दिया जाता था। यूगोस्लाविया में खुद बादशाह अलेग्ज़ैण्डर ही तानाशाह बना हुआ है। कहा जाता है कि देश के कुछ भागों में तो हालत और भी बिगड़ गई है, और इतना अत्याचार हो रहा है जितना तुर्कों के राज में भी कभी नहीं हुआ था।

जिन देशों का मैंने ज़िक्र किया है, उन सबमें लगातार खुल्लमखुल्ला तानाशाहियाँ नहीं रही हैं। कभी-कभी इनकी पार्लमेण्ट जाग उठती हैं और उन्हें काम करने दिया जाता है; जैसा कि हाल ही में बल्गारिया में हुआ, कभी-कभी सत्ताधारी हुकूमत डिपुटियों के साम्यवादी सरीखे किसी गिरोह को, जिसे वह पसन्द नहीं करती, गिरफ्तार कर लेती है, और उन्हें ज़बर्दस्ती पार्लमेण्ट से निकाल देती है, और बाक़ी के लोगों को जैसे-तैसे काम चलाने के लिए छोड़ देती है। ये देश बराबर या तो तानाशाही के अधीन रहते हैं या उसके किनारे पर। और ज़ोर-ज़बर्दस्ती पर टिकी हुई व्यक्तियों अथवा छोटे-छोटे गिरोहों की इन हुकूमतों को दमन, विरोधियों की हत्याओं व गिरफ्तारियों, खबरों पर सख्त पाबन्दी, और जासूसों के फैले हुए जाल का लगातार सहारा ढूंढना पड़ता है।

यूरोप के बाहर भी तानाशाहियाँ पैदा हो गई। तुर्की और कमाल पाशा का ज़िक्र मैं कर ही चुका हूँ। दक्षिण अमेरिका में भी कई तानाशाह थे, लेकिन वहाँ तो तानाशाही एक पुराना दस्तूर बन गई है, क्योंकि दक्षिण अमेरिका के गण-राज्यों में लोकतन्त्री परम्पराओं के लिए अच्छी भावना कभी नहीं रही है।

तानाशाहियों की इस सूची में मैंने सोवियत सघ को शामिल नहीं किया है, क्योंकि वहाँ की तानाशाही औरों की ही तरह बेरहम होते हुए भी जुदा किस्म की है। यह किसी व्यक्ति या छोटे गिरोह की तानाशाही नहीं है, बल्कि एक सुसगठित राजनीतिक दल की है, जिसने खासतौर पर मज़दूरों को अपना आधार बना रक्खा

है। वे इसे 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही'[1] कहते हैं। इस तरह संसार मे तीन किस्म की तानाशाहियाँ हैं साम्यवादी ढग की, फासीवादी और फौजी। फ़ौजी तानाशाही कोई निराली चीज़ नही है, यह तो शुरू से ही चली आई है। साम्यवादी और फासीवादी ढगो की तानाशाहियाँ इतिहास मे नई हैं, और हमारे ज़माने की खास उपज हैं।

ध्यान खीचनेवाली सबसे पहली चीज़ यह है कि ये *तमाम तानाशाहियाँ* और इनके भेद, लोकतन्त्री और पार्लमेण्टी ढग की हुकूमतो से ठीक उलटी चीज़ें हैं। तुम्हें याद होगा कि मैं बतला चुका हूँ कि उन्नीसवी सदी लोकतन्त्रवाद की सदी थी। *यानी इस सदी मे प्रगतिशील विचारो पर फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के मानव-अधिकारो का असर था,* और व्यक्ति की आज़ादी इनका लक्ष्य था। इसीमे से यूरोप के ज्यादातर देशो मे पार्लमेण्टी ढग की हुकूमत का कही कम और कही ज्यादा विकास हुआ। आर्थिक क्षेत्र मे इसके सबब से दखल न देने का मत चला। बीसवी सदी ने, या यो कहो कि युद्ध के बाद के वर्षों ने, उन्नीसवी सदी की इस महान् परम्परा का अन्त कर दिया, और अब लोकतन्त्र के विचार का आदर करनेवालो की सख्या दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। और लोकतन्त्र के इस पतन के साथ-साथ हर जगह नामधारी उदार दलो का भी यही हाल हुआ है, और अब असर रखनेवाली ताकतो मे इनकी गिनती नही होती।

साम्यवाद और फासीवाद दोनो ही लोकतन्त्र के विरोधी है और उसकी बुराई करते हैं, हालाँकि हरेक इसके लिए बिलकुल अलग-अलग दलीलें देता है। जो देश साम्यवादी या फासीवादी नहीं हैं, वहाँ भी लोकतन्त्र अब पहले जितना पसन्द नही किया जाता। पार्लमेण्ट का पुराना रूप अब नही रहा, और उसके लिए लोगो की ज्यादा इज्जत भी नही रही। बडे अमलदारो को इतने ज्यादा अधिकार दे दिये जाते हैं कि अगर वे किसी कार्रवाई को जरूरी समझें तो उसे पार्लमेण्ट की निगाह मे लाये बिना ही कर सकते हैं। इसकी कुछ वजह तो यह है कि हम ऐसे नाजुक ज़माने मे रह रहे हैं जब फौरन कार्रवाई करना लाजिमी हो जाता है और प्रतिनिधि-सभाओ के लिए हमेशा झटपट कार्रवाई करना नामुमकिन होता है। हाल ही मे जर्मनी ने अपनी पार्लमेण्ट को बिलकुल उखाड फेंका है, और अब फासी हुकूमत का बुरे-से-बुरा नमूना दिखाई दे रहा है। सयुक्त राज्य अमेरिका ने तो अपने राष्ट्रपति को हमेशा से ही बहुत अधिकार दे रक्खा है, और इन दिनो यह और भी बढा दिया गया है। शायद आजकल सिर्फ इग्लैण्ड और फ्रान्स ही दो ऐसे देश हैं, जहाँ की पार्लमेण्ट ज़ाहिरा तौर पर अब भी पहले ही की तरह अपना काम कर रही है। इनकी फासीवादी कार्रवाइयाँ तो इनके मातहत देशो और उपनिवेशो

[1] Dictatorship of the Proletariat.

मे ही जाहिर होती हैं। जैसे, भारत मे ब्रिटिश फासीवाद काम कर रहा है और हिन्द-चीन मे फ्रान्सीसियो का फासीवाद देश मे "अमन कायम कर रहा है"। लेकिन लन्दन और पेरिस की पार्लमेण्टे भी अब खोखली होती जा रही हैं। पिछले महीने मे ही एक बडे उदार-दली अग्रेज ने कहा था

> "हमारी प्रतिनिधि पार्लमेण्ट बडी तेजी के साथ एक ऐसे शासक गुट्ट की हिदायतो को दर्ज करनेवाला औजार बनती जा रही है, जिसका चुनाव एक अधूरी और ठीक तरह काम न करनेवाली चुनाव मशीन से होता है।"

इस तरह उन्नीसवी सदी के लोकतन्त्र और पार्लमेण्टो का असर हर जगह कम होता जा रहा है। कुछ देशो मे तो लोगो ने इन्हे खुल्लम-खुल्ला और भोडेपन से धता बताई है, बाकी देशो मे इनका असली महत्व गायब हो गया है, और ये "गम्भीर और थोथी तडक-भडक" की चीज बनती जा रही हैं। एक इतिहास-लेखक ने पार्लमेण्टो के इस पतन की तुलना उन्नीसवी सदी मे बादशाहतो के पतन से की है। इस इतिहास-लेखक का कहना है कि जिस तरह इग्लैण्ड मे और दूसरे देशो मे बादशाह की असली सत्ता खत्म हो गई है और वह सविधानी राजा बन गया है—सो भी एक तरह से नुमाइश के लिए, उसी तरह पार्लमेण्टे भी ऐसे बे-अधिकार और शान-शौकतवाले चिह्न बन जायँगी और बन रही हैं, जो बडे और महत्ववाले दिखाई तो देते हैं, पर जिनका मतलब कुछ नही है।

ऐसा क्यो हुआ है? वह लोकतन्त्र जो एक सदी से ज्यादा तक अनगिनती लोगो का आदर्श और प्रेरणा देनेवाला रहा, और जिसके लिए हजारो शहीद हो गये, अब लोगो की नजरो से क्यो गिर गया है? इस तरह के परिवर्तन बिना काफी कारणो के नही हुआ करते, वे जनता की महज सनको व पसन्दो के कारण भी नही होते। जिन्दगी की आधुनिक हालतो मे कोई ऐसी चीज जरूर है, जो उन्नीसवी सदी के 'बाकायदा' लोकतन्त्र से मेल नही खाती। यह विषय बडा दिलचस्प और पेचीदा है। मैं इसके ब्यौरे मे तो नही जा सकता, लेकिन दो-एक कारण तुम्हारे सामने रक्खूँगा।

ऊपर के पैरे मे मैंने लोकतन्त्र के बारे मे 'बाकायदा' शब्द इस्तेमाल किया है। साम्यवादियो का कहना है कि वह असली लोकतन्त्र नही था, वह तो इस सचाई को छिपानेवाला सिर्फ लोकतन्त्री खोखा था कि एक वर्ग दूसरे वर्गों पर राज करता है। उनका कहना था कि लोकतन्त्र पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का गिलाफ था। यह तो धन-तन्त्र, यानी मालदारो की हुकूमत था। जनता को दिया गया वोट का अधिकार, जिसकी खूब डुग्गी पीटी गई थी, उन्हें चार या पाँच वर्षों मे एक बार यह कहने की छूट देता है कि कोई एक व्यक्ति उनपर राज करे और उनका शोषण करे, या कोई दूसरा व्यक्ति। हर हालत मे शासक-वर्ग जनता का शोषण करता है।

असली लोकतन्त्र तभी आ सकता है जब यह वर्ग-शासन व शोपण वन्द हो और सिर्फ़ एक वर्ग रह जाय। मगर इस तरह का समाजवादी राज्य बनाने के लिए कुछ समय तक सर्वहारा वर्ग की तानाशाही जरूरी है, ताकि आवादी के तमाम पूंजीवादी और मध्यम-वर्गी तत्वो को दवाकर रक्खा जा सके और उन्हे मजदूरो के राज्य के खिलाफ साज़िशे करने से रोका जा सके। रूस मे इस तानाशाही का प्रयोग सोवियतें करती हैं, जिनमे तमाम मजदूरो, किसानो और दूसरे 'क्रियाशील' तत्वो के प्रतिनिधि होते हैं। इस तरह यह ९० फीसदी या ९५ फीसदी लोगो की, वाकी के १० या ५ फीसदी लोगो पर, तानाशाही हो जाती है। यह उनका मत है। असल मे सोवियतो की वागडोर साम्यवादी दल के हाथों में रहती है, और इस दल की नकेल साम्यवादियों के शासक गुट्ट के हाथों मे रहती है। और जहांतक समाचारो पर पावन्दी और विचार व कार्रवाई की आजादी का सवाल है, वहांतक यह तानाशाही भी उतनी ही कठोर होती है जितनी कि कोई दूसरी। मगर चूंकि यह मजदूरो की खैरख्वाही पर टिकी होती है, इसलिए इसे मजदूरो को साथ लेकर चलना जरूरी होता है। और अन्त मे जाकर किसी दूसरे वर्ग के हित के लिए मजदूरो का या किसी वर्ग का शोषण नही होता। हकीकत मे कोई शोषक वर्ग ही नही रह जाता। अगर किसी तरह का शोषण होना है तो राज्य के जरिये, सवकी भलाई के लिए। याद रखने लायक वात है कि रूस मे लोकतन्त्री ढग की सरकार कभी रही ही नही। वह तो १९१७ ई० मे निरकुश राजाशाही से छलांग मारकर एकदम साम्यवाद मे ही आ कूदा।

फासीवादी नजरिया इससे विलकुल जुदा है। जैसाकि मैं अपने पिछले पत्र मे तुम्हे वतला चुका हूँ, यह पता लगाना आसान नहीं है कि फासीवादी उसूल क्या हैं, क्योंकि फासीवादियो के कोई जमे हुए उसूल होते ही नही। लेकिन वे लोकतन्त्र के विरोधी है, इसमे कोई शक नही, और उनका विरोध साम्यवादियो की इस दलील पर नही है कि लोकतन्त्र असली चीज नहीहै, वल्कि धोखा है। फासीवादी तो लोकतन्त्री विचारो के समूचे उसूल पर ही ऐतराज करते हैं, और वे अपने पूरे जोर के साथ लोकतन्त्र को गालियाँ देते हैं। मुसोलिनी लोकतन्त्र को 'सडा हुआ मुर्दा' कहता है। फासीवादी लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता से भी इतने ही चिढते है, वे कहते हैं कि राज्य ही सवकुछ है, व्यक्ति की कोई गिनती नही (साम्यवादी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रताओ को कोई महत्व नही देते)। उन्नीसवी सदी के लोकतन्त्री उदारवाद का ऋषि मेजिनी अगर जिन्दा होता तो अपने देशवासी मुसोलिनी से क्या कहता?

सिर्फ साम्यवादी व फासीवादी ही नही, वल्कि वहुत-से दूसरे लोग भी, जिन्होंने मौजूदा जमाने की मुसीवतो पर गौर किया है, इस पुराने विचार से नाखुश हो गये हैं कि वोट का हक दे देने का ही नाम लोकतन्त्र है। लोकतन्त्र का अर्थ है बरावरी, और लोकतन्त्र सिर्फ वरावरीवाले समाज मे ही फूल-फल सकता है।

रूप पारमार्थिक अहम् की क्रियाओं के ज़रिये करनी चाहिए (इसका कुछ भी अर्थ हो, पर मेरी समझ से बाहर है)। इस तरह इस मत मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता और व्यक्ति की खासियत के लिए कोई गुजायश नही है, क्योकि सच्ची असलियत और व्यक्ति की स्वतन्त्रता वह चीज़ है, जिसे वह अपने-आपको किसी दूसरी चीज़ मे, यानी राज्य मे, खोकर हासिल करता है।

"कुटुम्ब, राज्य, आत्मा मे विलीन होकर फिर वहाल हो जाने से मेरी व्यक्तिगत खासियत दवती नही है वरन् ऊँची उठती है, मजबूत होती है और व्यापक होती है।" जैन्टाइल आगे लिखता है

"जहाँतक कोई ताकत इच्छा को ढालने की हैसियत रखती है वहाँतक वह ताकत नैतिक है, फिर वह उपदेश या लाठी किसी भी दलील को काम मे ले।"

बस, इससे हम समझ सकते हैं कि ब्रिटिश सरकार भारत मे जव कभी लाठियाँ चलाती है, तो वह कितनी नैतिक ताकत खर्च कर देती है!

ये सव किसी वात को उसके होने के वाद वाजिव सावित करने के या उसकी सफाई देने के प्रयत्न हैं। यह भी कहा जाता है कि फासीवाद का उद्देश्य 'सामूहिक राज्य' है, जिसमे, मेरे खयाल से हर व्यक्ति सवके समान हित के लिए सवके साथ मिल-जुलकर जोर लगाता है। पर ऐसा राज्य न तो अभी तक इटली में हुआ है, न किसी दूसरे देश मे। इटली मे पूँजीवादी वहुत-कुछ इसी तरह अपना काम कर रहा है, जिस तरह दूसरे पूँजीवादी देशो मे, हालाँकि यहाँ कुछ पावन्दियाँ लगा दी गई हैं।

ज्यो-ज्यो फासीवाद दूसरे देशो मे फैलता जा रहा है, त्यो-त्यो यह ज़ाहिर होता जा रहा है कि फासीवाद ऐसी घटना नही है, जो इटली मे ही हुई हो, वल्कि वह तो ऐसी चीज़ है, जो किसी भी देश मे, खास तरह की समाजी तथा आर्थिक, हालतें पैदा होने पर सामने आ जाती है। जव कभी मज़दूर-वर्ग ताकतवर हो जाता है और पूँजीवादी राज्य के लिए सचमुच खतरा वन जाता है, तव पूँजीवादी राज्य क़ुदरती तौर पर अपनेको वचाने की कोशिश करता है। आमतौर पर मज़दूर-वर्ग की तरफ से यह खतरा भयकर आर्थिक सकट के मौको पर ही पैदा होता है। जव मालिक-वर्ग और शासक-वर्ग पुलिस व सेना का इस्तेमाल करके साधारण लोकतन्त्री उपायो से मज़दूरो को नही दवा पाता, तव वह फासीवादी उपाय का आसरा लेता है। वह उपाय यह है कि मिल्कियतवाले पूँजीपति-वर्ग की हिफाज़त के खातिर एक आम जन-आन्दोलन खडा कर दिया जाता है, जिसमे जन-समूह के दिल को छूनेवाले कुछ नारे रख दिये जाते हैं। इस आन्दोलन की रीढ निचला मध्यम-वर्ग होता है, क्योकि इसके ज्यादातर लोग वेकारी की मुसीवत मे फँसे हुए होते हैं।

और नारो से व अपनी हालत सुधारने की आशाओ से खिंचकर राजनीतिक लिहाज से पिछडे हुए और बिखरे हुए बहुत-से मजदूर और किसान भी इसमे आ मिलते हैं। इस तरह के आन्दोलन को मध्यम-वर्ग पैसे की सहायता देते हैं, क्योकि वे इससे लाभ उठाने की आशा रखते हैं । और हालांकि यह खून-खराबी को अपना धर्म व रोज का धन्धा बना लेता है, पर देश की पूंजीवादी सरकार बहुत हदतक जान-बूझकर इसको चलने देती है, क्योकि यह दोनो के एक-से दुश्मन समाजवादी मज़दूर-वर्ग से लडता है। यह फासीवादी आन्दोलन एक दल के रूप मे और देश का शासक बन जाने पर तो और भी जोर से, मज़दूर-सगठनो को नष्ट कर देता है, और तमाम विरोधियों पर अपना आतक जमा देता है ।

फासीवाद का उदय तब होता है जब बढते हुए समाजवाद और मोर्चा-बन्द पूंजीवाद के बीच वर्ग-सघर्ष तीखे व नाजुक हो जाते हैं। यह समाजी युद्ध किसी गलतफहमी से नही होता, बल्कि हमारे आज के समाज मे छिपे हुए सघर्षों और तरह-तरह के स्वार्थों को ज्यादा अच्छी तरह समझने के कारण होता है। इन सघर्षों को उनकी तरफ आँखें मूंदकर नही सुलझाया जा सकता । और, मौजूदा ढांचे की वजह से दुःख उठानेवाले लोग तरह-तरह के इन स्वार्थों को ज्यो-ज्यो ज्यादा समझते जाते हैं, त्यो-त्यो उनकी नाराजी बढती जाती है क्योकि उन्हें लगता है कि उनका वाजिब हिस्सा उनसे छीना जा रहा है। मिल्कियतवाले-वर्ग अपने हाथ की चीज़ो को छोडना नही चाहता, इसलिए सघर्ष और भी तेज हो जाता है। जबतक पूंजीवाद लोकतन्त्री सस्थाओ की कल का इस्तेमाल सत्ता मे बने रहने के लिए और मज़दूर-वर्ग को दबाने के लिए कर सकता है, तबतक वह लोकतन्त्र को भी फूलने-फलने देता है। पर जब यह मुमकिन नही रहता, तो पूंजीवाद लोकतन्त्र को बता बताता है और खून-खराबी व आतक के खुले फासीवादी उपायो का सहारा लेता है।

मेरा खयाल है कि रूस के अलावा यूरोप के दूसरे सब देशो मे फासीवाद किसी-न-किसी हद तक मौजूद है। जर्मनी मे उसने सबसे ताजा कामयाबी हासिल की है। इग्लैण्ड तक मे भी शासक-वर्गों मे फासीवादी विचार घर कर रहे हैं, और भारत मे तो हम इनका अमल अक्सर देखते ही रहते हैं। आज ससार के अखाडे मे साम्यवाद के मुकाबले मे पूंजीवाद का आखिरी सहारा फासीवाद खडा हुआ है ।

फासीवाद के दूसरे पहलू कुछ भी हो, यह ससार को सतानेवाली आर्थिक मुसीबतो का कोई हल पेश नहीं करता । अपने राष्ट्रवाद के सबब से यह आपसी निर्भरता की ससार-व्यापी तासीर के खिलाफ जाता है, पूंजीवाद के पतन से पैदा हुई समस्याओ को और भी विकट बनाता है, और राष्ट्रीय कशमकश बढाता है, जिसका नतीजा अक्सर युद्ध होता है।

. १७७ .

चीन में क्रान्ति और उलट-क्रान्ति

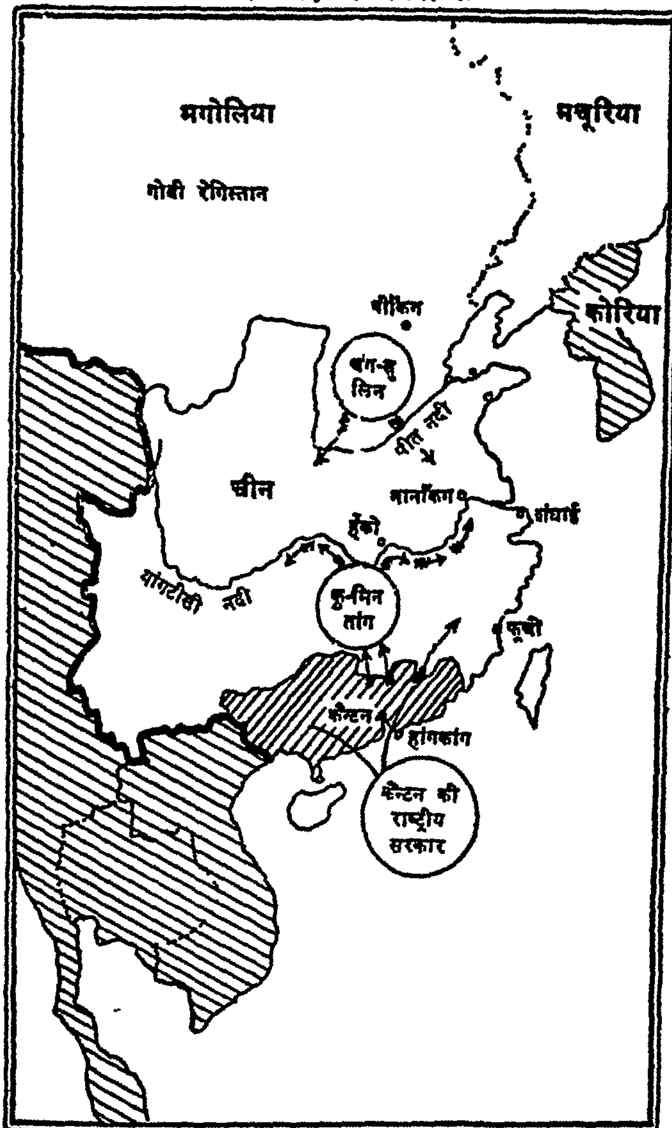
२६ जून, १९३३

अब हम बेकारियों से भरे यूरोप से विदा लेते हैं और इससे भी ज्यादा गड़बड़ियोंवाले दूसरे प्रदेश—दूर-पूर्व—चीन और जापान चलते हैं। चीन के बारे में अपने पिछले पत्र में मैंने उस कम-उम्र गणराज्य की बहुत-सी कठिनाइयों का जिक्र किया था, जिसकी कलम संसार की सबसे प्राचीन और जानदार संस्कृति पर लगी थी। यह देश छिन्न-भिन्न होता दिखाई दे रहा था और यहाँ बिना उसूलवाले लड़ाकू सरदार, तूचन और महा-तूचन जोर पकड़ रहे थे। इन्हें वे साम्राज्यशाही शक्तियाँ बढ़ावा और मदद देती रहती थीं, जिनका स्वार्थ इसीमें था कि चीन कमजोर बना रहे और उसमें अन्दरूनी फूट बनी रहे। इन तूचनों के कोई उसूल नहीं थे, हरेक अपने-अपने व्यक्तिगत हौसले पूरे करने पर तुला हुआ था और लगातार चलनेवाले छोटे-छोटे गृहयुद्धों में ये लोग अक्सर कभी एक तरफ हो जाते थे, कभी दूसरी तरफ। साथ ही ये अपना और अपनी सेनाओं का खर्च बेचारे दुखी किसान-वर्ग से वसूल करते थे। चीन के महान् नेता डॉ० सन-यात-सेन की दक्षिण में कैंटन में जमाई हुई राष्ट्रीय सरकार का हाल भी मैं लिख चुका हूँ। इसने जिन्दगी-भर चीन की आजादी के लिए काम किया था।

सारे देश पर विदेशी साम्राज्यशाही शक्तियों के आर्थिक स्वार्थ छाये हुए थे, जो शंघाई, हांगकांग, वगैरा बड़े-बड़े बन्दरगाहों में जमी बैठी थीं, और चीन के सारे विदेशी व्यापार पर कब्जा किये हुए थीं। डॉ० सन ने बिलकुल सच कहा था कि आर्थिक निगाह से चीन इन साम्राज्यशाही शक्तियों का उपनिवेश है। एक ही मालिक होना काफी बुरा होता है, कई मालिकों का होना तो कभी-कभी और भी बुरा होता है। डॉ० सन ने अपने देश के उद्योगों के विकास के लिए और अपने देश की हालत सुधारने के लिए विदेशियों की सहायता लेने का यत्न किया। उसे अमेरिका व इंग्लैण्ड से खासतौर पर सहायता की आशा थी, पर उसकी सहायता के लिए न तो ये दोनों सामने आये, न दूसरी कोई साम्राज्यशाही शक्ति। इन सबका स्वार्थ तो चीन के शोषण में था, उसकी भलाई या मजबूती में नहीं। तब १९२४ ई० में डॉ० सन ने सोवियत रूस की तरफ निगाह डाली।

चीन के विद्यार्थियों और दिमागी वर्गों में साम्यवाद छिपे-छिपे और तेजी के साथ जोर पकड़ रहा था। १९२० ई० में यहाँ साम्यवादी दल कायम किया गया था, और वह गुप्त समिति की तरह काम करता था, क्योंकि बदलती हुई सरकार उसे खुल्लम-खुल्ला काम नहीं करने देती थी। डॉ० सन तो साम्यवाद से कोसों

चीन की राज्यक्रांन्ति


मंगोलिया
मंचूरिया
गोबी रेगिस्तान
पीकिंग
कोरिया
फंग-यू
शिन
पीत नदी
चीन
नानकिंग
शंघाई
हैंको
यांगटीसी नदी
कु-मिन
तांग
फूचो
कैन्टन
हांगकांग
कैन्टन की
राष्ट्रीय
सरकार

दूर था; वह तो मुलायम समाजवादी था, जैसाकि उसकी पुस्तक 'जनता के तीन सिद्धान्त'[1] से जाहिर होता है। पर चीन व दूसरे पूर्वी देशो के बारे मे सोवियत रूस के उदार व खरे व्यवहार का उस पर अच्छा असर पडा और उसने रूस के साथ दोस्ताना ताल्लुक कायम कर लिये। उसने कुछ रूसी सलाहकारो को अपने यहां रक्खा। इनमे एक बहुत काबिल बोलशेविक बोरोदिन को लोग सबसे ज्यादा जानते हैं। बोरोदिन कैण्टन की कुओ-मिन-ताङ को मजबूत करनेवाला स्तम्भ बन गया, और उसने मेहनत करके राष्ट्रीय दल को एक बडा ताकतवर सगठन बना दिया, जिसके पीछे जनता का सहारा था। उसने कोरे रूसी ढग पर काम करने की कोशिश नही की। उसने दल का राष्ट्रीय आधार कायम रक्खा; लेकिन अब साम्यवादियो को कुओ-मिन-ताङ के सदस्यो मे भरती किया जाने लगा। इस तरह राष्ट्रीय कुओ-मिन-ताङ और साम्यवादी दल के बीच एक किस्म का ग़ैर-रस्मी गठबन्धन हो गया। कुओ-मिन-ताङ के बहुत-से रूढिवादी और मालदार सदस्यो को, खासकर जमींदारो को, साम्यवादियो के साथ का यह मेल-जोल अच्छा नही लगा। उधर साम्यवादियो को भी यह चीज पसन्द नही थी, क्योंकि इसके सबब से उन्हें अपना कार्यक्रम ठण्डा करना पडा और ऐसे बहुत-से कामो को छोडना पडा, जिन्हें वरना वे करते। यह गठ-बन्धन बहुत टिकाऊ नही था और, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, नाजुक घडी आने पर वह टूट गया और इससे चीन पर आफत का पहाड टूट पडा। दो या ज्यादा वर्गों को, जिनके स्वार्थ आपस मे टकराते हो, एक जमात मे बांधे रखना हमेशा कठिन हुआ करता है। पर जितने दिन यह गठ-बन्धन रहा उतने दिन खूब फूला-फला और कुओ-मिन-ताङ व कैण्टन सरकार की ताकत बढ़ती गई। काश्तकारो के सगठनो को और कामगरो के मजदूर-सघो को भी बढने मे सहायता दी गई और ये तेजी के साथ फैलने लगे। जनता का यह समर्थन ही कैण्टन की कुओ-मिन-ताङ को असली ताकत देनेवाला था, और इसीने ही जमीदारो के नेताओ को डरा दिया और आगे चलकर उन्हें दल को तोड देने के लिए उकसाया।

कई बुनियादी भेदो के होते हुए भी चीन व भारत की हालतें बहुत-कछ मिलती-जुलती हैं। असल मे चीन खेती-प्रधान देश है, जिसमे किसानो की बहुत बडी सख्या है। पूंजीवादी उद्योग ज्यादातर छै-सात शहरो मे ही हैं और विदेशियो के क़ब्जे मे हैं। करोडो किसान व असामी काश्तकार कर्ज के ज़बर्दस्त बोझ के नीचे पिसे जा रहे हैं। लगानो की दर बहुत ऊंची है, और भारत की तरह यहां भी किसानो को मजबूरी से महीनो ठाली बैठे रहना पडता है, क्योकि उन दिनो खेतो मे कोई काम नही होता। इसलिए इस फ़ालतू समय का उपयोग करने के लिए और आमदनी बढाने के लिए उन्हें घरेलू उद्योगो की जरूरत है। वास्तव मे ऐसे कई उद्योग चालू भी हो

[1] Thnee Principles of the People.

की सलाह पर चलती हुई कैण्टन सरकार अपनी ताकत बढाती चली गई। कुछ ही दिन बाद कुछ घटनाएँ ऐसी हुईं, जिन्होने चीनी जनता के दिलो मे विदेशी साम्राज्य-वादियो के खिलाफ और खासकर अग्रेज़ो के ख़िलाफ गुस्सा भर दिया। शाघाई की कपडा-मिलो मे हडतालें हुईं और मई, १९२५ ई० मे एक प्रदर्शन मे एक मज़दूर मारा गया। उसकी याद मे एक बडी सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया, और विद्यार्थियो व मज़दूरो ने इस मौके को साम्राज्यशाही-विरोधी प्रदर्शन बना लिया। एक अग्रेज़ पुलिस अफसर ने अपने मातहत सिख सिपाहियो की भीड पर गोली चलाने की आज्ञा दी। आज्ञा यह थी कि "मारने के लिए गोली चलाओ", और कई विद्यार्थी मारे गये। इसपर सारे चीन मे अग्रेज़ो के खिलाफ गुस्से की आग भडक उठी, और इसके बाद की एक घटना ने तो मामला और भी बिगाड दिया। यह घटना, जून, १९२५ ई० मे कैण्टन के विदेशी इलाके मे (जो शमीन इलाक़ा कहलाता था) हुई, जहाँ चीनियो की एक भीड पर, जिसमे विद्यार्थियो की ज्यादा तादाद थी, मशीनगनो से गोलियाँ बरसाई गईं, जिसमे बावन आदमी मारे गये और बहुत-से घायल हुए। यह घटना 'शमीन का हत्याकाण्ड' कहलाती है, और इसके लिए ख़ासतौर पर अग्रेज़ो को ज़िम्मेदार ठहराया गया था। कैण्टन में ब्रिटिश माल का राजनीतिक बायकाट कर दिया गया और हागकाग का व्यापार कई महीनो तक बन्द पडा रहा, जिससे अग्रेज़ी कम्पनियो की और ब्रिटिश सरकार की भारी हानि हुई। शायद तुम जानती हो कि हागकाग दक्षिण चीन मे अग्रेज़ो का इलाका है। यह कैण्टन के बहुत नज़दीक है, और यह व्यापार की बडी भारी मण्डी है।

डॉ० सन की मौत के बाद कैण्टन सरकार के अनुदार दक्षिण-पक्ष और प्रगतिशील वाम-पक्ष के बीच निरन्तर खीचतान चलने लगी। कभी एक पक्ष के हाथ मे सत्ता आ जाती तो कभी दूसरे पक्ष के हाथ मे। १९२६ ई० के बीच के लगभग, दक्षिण-पक्षी चाग-काई-शेक प्रधान सेनापति बन गया, और इसने साम्यवादियो को निकालना शुरू कर दिया। लेकिन फिर भी दोनो दल कुछ हद तक साथ-साथ काम करते रहे, हालाँकि दोनो एक-दूसरे पर भरोसा नही करते थे। इसके बाद तूशनो से लडने के लिए और उन्हें निकाल बाहर करने के लिए सारे देश मे एक ही राष्ट्रीय सरकार क़ायम करने के वास्ते कैण्टन की सेना ने उत्तर की तरफ कूच किया। उत्तर का यह कूच एक निराली चीज़ थी, और सारी दुनिया का ध्यान बहुत जल्दी इसकी तरफ़ खिच गया। असली लडाई ज़रा भी नही हुई और दक्षिण की सेना विजय-पर-विजय हासिल करती हुई तेज़ी के साथ आगे बढती गई। उत्तर चीन मे फूट तो थी, पर दक्षिणवालो की असली ताक़त किसानो व मज़दूरो मे उनकी लोकप्रियता के कारण थी। प्रचारको और आन्दोलनकारियो की छोटी-सी टुकडी सेना के आगे-आगे चलती थी, जो किसानो व मज़दूरो के सघ क़ायम करती जाती थी और उन्हें

समझती थी कि कैन्टन सरकार के राज में उन्हें खास-खास फायदे मिलनेवाले हैं। इसलिए शहर-शहर और गाँव-गाँव में इन आगे बढ़नेवाली सेनाओं का स्वागत होता था और उन्हें हर तरह की सहायता दी जाती थी। कैन्टन की सेनाओं के खिलाफ जो सिपाही भेजे जाते थे, वे लड़ते ही नहीं थे, और अक्सर सारे सामान के साथ उन्हीं में आ मिलते थे। १९२६ ई० के खतम होते-होते राष्ट्रवादियों ने आधे चीन को पार कर लिया था और याङ्त्सी नदी पर हैन्काउ के बड़े शहर पर कब्जा कर लिया था। वे अपनी राजधानी को कैन्टन से उठाकर हैन्काउ में ले आये और इसका नाम बदलकर वूहान रख दिया। उत्तर के लड़ाकू सरदारों को हरा दिया गया और खदेड़ दिया गया। साम्राज्यशाही ताकतों को जब अचानक यह मालूम हुआ कि एक नया और मजबूत राष्ट्रीय चीन उनके सामने खड़ा हुआ बराबरी का दावा कर रहा है और उनकी पकड़ में नहीं आ रहा है, तो वे बुरी तरह खीझ उठीं।

१९२७ ई० के शुरू में जब राष्ट्रवादियों ने हैन्काउ में अंग्रेजी रियायती इलाके पर कब्जा करने की कोशिश की तो चीनियों और अंग्रेजों के बीच झगड़ा पैदा हो गया। मामूली हालत में चीनियों के ऐसे कदम उठाने से युद्ध छिड़ गया होता, और ब्रिटिश सरकार ने उनसे कड़ाई से बदला लिया होता और उन्हें डरा-धमकाकर उनसे हर्जाने और ज्यादा रियायतें वसूल कर ली होतीं। हम देख ही चुके हैं कि १८४० ई० के 'अफ़ीम-युद्ध' के समय से लगभग सौ वर्षों तक सदा यही दस्तूर रहा था। लेकिन अब जमाना बदल गया था और नया चीन उनके मुकाबले में खड़ा था। बस, ब्रिटिश नीति में भी फ़र्क़ हुआ, और चीन के इतिहास में पहली बार परिवर्तन पैदा हो गया, और चीन की तरफ उसका रुख मुलायम पड़ गया। हैन्काउ के रियायती इलाके का मामला एक मामूली-सी चीज़ था और आसानी से तय हो सकता था। मगर हैन्काउ के नजदीक, और राष्ट्रवादियों की चढ़ाई के रास्ते में, शंघाई का बड़ा बन्दरगाह पड़ता था जो चीन में सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा मालदार विदेशी रियायती इलाका था। शंघाई की किस्मत के साथ विदेशियों के जबर्दस्त निहित स्वार्थ जुड़े हुए थे। खुद शंघाई शहर, या यों कहो कि रियायती इलाका, विदेशियों के कब्जे में था, और चीनी सरकार के अधिकार से करीब-करीब बाहर था। इसलिए जब राष्ट्रवादी सेनाएँ शंघाई के नज़दीक आ पहुँचीं तो वहाँ के इन विदेशियों और उनकी सरकारों में बहुत चिन्ता पैदा हो गई, और उनके जंगी जहाज़ व सैनिक तुरन्त इस बन्दरगाह पर पहुँच गये। ब्रिटिश सरकार ने तो जनवरी, १९२७ ई० के शुरू में हमला करनेवाली एक बड़ी फौज खासतौर पर शंघाई भेजी, जिसमें कुछ भारतीय सिपाही भी थे। राष्ट्रवादी सरकार ने हैन्काउ या वूहान में अड्डा जमा लिया था। उसके सामने एक कठिन समस्या पैदा हो गई—आगे बढ़ा जाय या नहीं, और शंघाई पर कब्जा किया जाय या नहीं। अभी तक की आसान

सफलताओ से उनके हौसले बढ़ गये थे और उनके दिल जोश से भर गये थे, और शाघाई बडा ललचानेवाला माल था। दूसरी ओर हालत यह थी कि अभी तक वे पाँच सौ मील से ऊपर प्रदेश पर सिर्फ कूच-दर-कूच करते आ रहे थे और वहाँ अपनी हैसियत मज़बूत नही बना पाये थे। यह मुमकिन था कि शाघाई पर हमला करने से वे विदेशी शक्तियो से भिडकर कठिनाइयो मे फँस जायँ और अबतक उन्होने जो हासिल किया था, वह खतरे मे पड जाय। बोरे.दिन ने सावधानी बरतने की और हालत मज़बूत बनाने की सलाह दी। उसकी राय थी कि राष्ट्रवादियो को शाघाई पर हाथ नही डालना चाहिए और चीन का जो दक्षिणी आधा हिस्सा उनके कब्ज़े मे आ चुका था, उसमे अपनी हैसियत मज़बूत कर लेनी चाहिए और उत्तर मे प्रचार के ज़रिये ज़मीन तैयार करनी चाहिए। उसे आशा थी कि बहुत जल्द, साल-डेढ-साल मे ही, समूचा चीन राष्ट्रवादियो की चढाई का स्वागत करने को तैयार हो जायगा। शाघाई पर कब्ज़ा करने का, पेकिंग पर चढाई करने का और साम्राज्यशाही शक्तियो का मुकाबला करने का ठीक समय तभी आयेगा। क्रान्तिकारी बोरोदिन ने यह सावधानीभरी सलाह इस कारण दी थी कि उसे मौके पर असर डालनेवाले कई तरह के कारणो को आँकने का अनुभव था। मगर कुओ-मिन-ताङ के दक्षिण-पक्षी नेताओ ने, और खासकर उसके प्रधान सेनापति चाग-काई-शेक ने, शाघाई पर चढाई करने की हठ की। शाघाई को लेने की इस इच्छा का असली कारण बाद मे ज़ाहिर हुआ तब कुओ-मिन-ताङ के दो टुकडे हो गये। काश्तकारो और मज़दूरो के सघो की बढ़ती हुई ताक़त इन दक्षिण-पक्षी नेताओ को अच्छी नही लगती थी। बहुत-से सेनापति खुद ज़मींदार थे। इसलिए उन्होंने दल के दो टुकडे हो जाने और राष्ट्रवादी हित कमज़ोर पड जाने की परवाह न करके इन सघो को कुचल डालने का फैसला किया। शाघाई बडे-बडे चीनी मध्यम-वर्गों का खास केन्द्र था, और इन दक्षिण-पक्षी सेनापतियो को यक़ीन था कि दल के प्रगतिशील तत्वो से और खासकर साम्यवादियो से लडने के लिए उन्हें इन मध्यम-वर्गो से धन की व दूसरे क़िस्म की मदद मिल जायगी। वे जानते थे कि इस किस्म की लडाई मे वे शाघाई के विदेशी बौहरो और उद्योगपतियो की मदद पर भी भरोसा कर सकते थे।

बस, उन्होंने शाघाई पर चढाई कर दी और २२ मार्च, १९२७ ई० को शहर का चीनी भाग उनके हाथ मे आ गया, विदेशी रियायती इलाको पर उन्होने हमला नही किया। शाघाई का यह पतन भी ज्यादा लडाई लडे बिना ही हो गया। मुकाबला करनेवाले सिपाही राष्ट्रवादियो की तरफ़ जा मिले, और राष्ट्रवादियो का समर्थन करने के लिए शहर के मज़दूरो ने जो आम हड़ताल की, उससे शाघाई की मौजूदा सरकार का पतन पूरा हो गया। दो दिन बाद नानकिंग के बडे नगर पर भी राष्ट्रवादियो ने कब्ज़ा कर लिया। और तब कुओ-मिन-ताङ के वाम-पक्ष और

दक्षिण-पक्ष के बीच यह फूट पैदा हुई, जिससे राष्ट्रवादियों की शानदार सफलता धूल में मिल गई और चीन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। क्रान्ति का अन्त हो गया, और अब उलट-क्रान्ति शुरू हो गई।

चांग-काई-शेक ने हैन्काउ सरकार के कितने ही सदस्यों की मर्जी के खिलाफ़ शांघाई पर चढ़ाई की थी। अब दोनों दल एक-दूसरे के खिलाफ़ साजिशें करने लगे। हैन्काउवालों ने सेना में चांग के ऊपर भी जड़ खोदने की और इस तरह उससे पिण्ड छुड़ाने की कोशिशें कीं, उधर चांग ने नानकिंग में मुकाबले की दूसरी सरकार क़ायम कर ली। ये सब घटनाएँ शांघाई पर कब्ज़ा होने के कुछ ही दिनों के भीतर हो गईं। हैन्काउ की अपनी ही सरकार से बग़ावत करके चांग ने अब साम्यवादियों, वाम-पक्षियों और मज़दूर-संघों के कार्यकर्ताओं के खिलाफ जंग छेड़ दिया। जिन कार्यकर्ताओं की बदौलत उसने शांघाई को आसानी से जीत लिया था, और उन्होंने जहाँ उसका बड़ी खुशी के साथ स्वागत किया था, उन्हींको अब उसने बीन-बीनकर कुचल डाला। बहुत-से लोगों को गोलियों से भून दिया गया, बहुतों के सिर उड़ा दिये गये, हज़ारों को गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया गया। शांघाई में राष्ट्रवादी जिस आज़ादी को लाये थे, उसीको उन्होंने बहुत जल्दी खूनी आतंक में बदल दिया।

१९२७ ई० के अप्रैल महीने के इन्हीं दिनों में पेकिंग के सोवियत राजदूतावास पर और शांघाई के सोवियत व्यापार दूतावास पर एक साथ छापे मारे गये। यह साफ़ दिखाई दे रहा था कि चांग-काई-शेक उत्तर के लड़ाकू सरदार चांग-सो-लिन से मिलकर कार्रवाई कर रहा था, हालाँकि वैसे चांग-सो-लिन के साथ उसकी लड़ाई समझी जाती थी। पेकिंग में भी और शांघाई में भी साम्यवादियों और प्रगतिशील कार्यकर्ताओं का 'सफ़ाया' किया गया। साम्राज्यशाही शक्तियों को तो इस नई घटना से खुशी होनी ही थी, क्योंकि इससे चीनी राष्ट्रवादियों का दल तहस-नहस और कमज़ोर हो गया। चांग-काई-शेक ने शांघाई में विदेशी शक्तियों के प्रतिनिधियों से सहयोग करना चाहा। तुम्हें याद होगा कि इसी समय के लगभग, मई, १९२७ ई० में, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में सोवियत के आर्कोस भवन पर छापा मारा था और फिर रूस से ताल्लुक़ तोड़ दिया था।

इस तरह, एक दो महीने के भीतर चीन की सारी तसवीर ही बदल गई। जो कुओ-मिन-तांग चीनी राष्ट्र का प्रतिनिधि माना जानेवाला संगठित और विजयी दल था और सफलता की उमंग में विदेशी शक्तियों के मुकाबले में खड़ा था, वही अब टूटकर आपस में युद्ध करनेवाले गिरोहों में बँट गया था। और जो मज़दूर और किसान उसकी जान और ताक़त बने हुए थे, उन्हींको अब सताया गया और ढूंढ़-ढूंढ़कर पकड़ लिया गया। शांघाई के विदेशी स्वार्थों ने फिर सुख

की साँस ली, और नवाज़िश के साथ एक गिरोह के खिलाफ दूसरे को मदद दी। मजदूरो को चारा डालकर फँसाने और तग करने के मज़ेदार और फायदेमन्द खिलवाड के लिए यह मदद खासतौर पर दी गई। शाघाई के कारखानो के इन मजदूरो का (वास्तव मे चीन-भर के मज़दूरो का) कारखानेदार ज़बर्दस्त शोषण करते थे और इनकी ज़िन्दगी के दस्तूर और रहन-सहन की हालतें बहुत ही नीचे दर्जे की थी। मज़दूर-सघ-आन्दोलन से इनकी ताकत बढ गई थी और इसके कारण कारखानेदारो को मजबूर होकर इन्हें ऊँची मजूरी देनी पडी थी। इसलिए यूरोपीय, जापानी या चीनी कारखानेदार मज़दूर-सघो को पसन्द नही करते थे।

चीन मे घटनाओ ने जो पलटा खाया, उसके कारण रूस मे बोरोदिन की कडी आलोचना हुई और जुलाई, १९२७ ई० मे वह रूस चला गया। उसके जाते ही हैन्काउ मे कुओ-मिन-ताङ का वाम-पक्ष तहस-नहस हो गया। अब नानकिंग-सरकार का कुओ-मिन-ताङ पर पूरा कब्ज़ा हो गया, और खासतौर पर साम्यवादियो के खिलाफ और तमाम वाम-पक्षियो और मज़दूर-नेताओ के खिलाफ लडाई जारी रही। इस मौके पर जो लोग चीन से चले गये या निकाल दिये गये उनमे महान् नेता सन-यात-सेन की बुज़ुर्ग विधवा श्रीमती सन-यात-सेन भी थी। इसने बडे दुख के साथ कहा था कि जगखोरो व दूसरे लोगो ने चीन की आज़ादी की खातिर किये गए उसके पति के महान् काम की पीठ मे छुरा भोक दिया। तुर्रा यह है कि ये जगखोर डॉ० सन के तीन मश्हूर उसूलो की दुहाई देते रहते थे। ये उसूल थे—राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजी न्याय।

चीन एक बार फिर आपस मे लडनेवाले लडाकू सरदारो व सेनापतियो का गोरखधन्धा बन गया। कैण्टन ने नानकिंग सरकार से रिश्ता तोड दिया और दक्षिण मे अपनी अलग सरकार कायम कर ली। १९२८ ई० मे पेकिंग नानकिंग-सरकार के हाथो मे आ गया। इसका नाम बदलकर पीपिंग कर दिया गया, जिसका अर्थ है, 'उत्तरी शान्ति'। पेकिंग का अर्थ था 'उत्तरी राजधानी' पर अब यह राजधानी नही रह गया था।

पेकिंग, जिसे अब हम पीपिंग कहेंगे, के पतन के बावजूद देश के जुदा-जुदा हिस्सो मे घरेलू युद्ध चलता रहा। कैण्टन ने तो अपनी अलग सरकार बना ली थी, लेकिन उत्तर मे भी कितने ही लडाकू सरदारो ने बहुत-कुछ अपनी मनमानी मचा रक्खी थी। ये लोग एक-दूसरे से खानगी लडाइयाँ लडते रहते थे और कभी-कभी कुछ दिनो के लिए आपस मे सुलह भी कर लेते थे। कहने को तो नानकिंग की नामधारी 'राष्ट्रीय' सरकार कैण्टन के सिवा सारे चीन पर शासन करती थी, मगर बहुत-से प्रदेश उसके कब्ज़े से बाहर थे, खासकर भीतर का एक बडा क्षेत्र, जहाँ साम्यवादी सरकार क़ायम हो गई थी। नानकिंग-सरकार पैसे की मदद के लिए ज़्यादातर

शांघाई के बोहरो पर निर्भर रहती थी। बहुत सारे सेनापतियो की बडी-बडी सेनाएं किसान-वर्ग पर जबर्दस्त बोझ बन रही थी। सेनाओ से निकाले हुए हजारो सिपाही रोजगार की तलाश मे देहातो मे घूमते-फिरते थे, और रोजगार न मिलने पर अक्सर डाकेजनी करते रहते थे।

दिसम्बर, १९२७ ई० मे नानकिंग-सरकार और सोवियत सरकार का आपसी रिश्ता टूट गया, और साम्राज्यशाही शक्तियो की छत्रछाया मे नानकिंग-सरकार ने सरगर्म सोवियत-विरोधी नीति अपनाई। अगर रूस युद्ध न करने के इरादे पर डटा नही रहता तो नतीजा यह होता कि १९२७ ई० मे युद्ध छिड जाता। १९२९ ई० मे चीनी सरकार, इस बार मचूरिया मे, फिर हमलावर नीति पर उतर आई। उसने सोवियत व्यापार-दूतावास पर छापा मारा और चीनी पूर्वी रेलवे के रूसी कर्मचारियो को बर्खास्त कर दिया। यह रेलवे ज्यादातर रूस की मिल्कियत थी, इसलिए सोवियत सरकार ने फौरन चीनी सरकार के खिलाफ कार्रवाई की। कुछ महीनो तक युद्ध-जैसी हालत चलती रही, और तब चीनी सरकार ने पुराना बन्दोबस्त फिर से कायम करने की रूसी मांग मजूर कर ली।

मचूरिया और उसमे होकर गुजरनेवाले रेल-मार्गों की वजह से बहुत-सी अन्तर्राष्ट्रीय उलझने होती रही हैं, क्योंकि यहां बहुत-से स्वार्थ, खासकर चीनी, जापानी और रूसी स्वार्थ, टकराते हैं। पिछले दिनो, सारी दुनिया का विरोध होते हुए भी, जापान ने चीन के इन उत्तर-पूर्वी प्रान्तो पर कब्जा जमा लिया है। इसके बारे मे मैं अपने अगले पत्र मे लिखूंगा।

ऊपर मैंने जिक्र किया है कि चीन के कुछ भागो मे साम्यवादी हुकूमतें कायम हो गई थीं। मालूम होता है कि सबसे पहली साम्यवादी सरकार, नवम्बर, १९२९ ई० मे, दक्षिण मे क्वान्तुङ प्रान्त के हाइफंग जिले मे कायम हुई थी। यह 'हाइफंग सोवियत गणराज्य' था, जो किसानो के जुदा-जुदा सघो के मिलने से बना था। चीन के भीतरी हिस्सो मे सोवियत इलाका बढने लगा, यहांतक कि १९३२ ई० के बीच तक इनमे चीन के कुल क्षेत्रफल का करीब छठा भाग शामिल हो गया, जिसका क्षेत्रफल २,५०,००० वर्गमील था और जिसकी आबादी ५,००,००,००० थी। इस सरकार ने ४,००,००० जवानो की लाल सेना तैयार कर ली, और इस सेना मे लडके और लडकियो के सहायक दस्ते भी थे। नानकिंग-सरकार और कैण्टन सरकार दोनो ने इन चीनी सोवियतो को कुचलने के लिए पूरा जोर लगाया, और चाग-काई-शेक ने बार-बार सेना लेकर उनपर चढाइयां की, पर ये कोशिशें ज्यादा सफल नही हुई। कभी-कभी ये सोवियतें पीछे हट जाती थी, और भीतरी भागो मे दूसरी जगहो पर अपने पांव जमा लेती थी।[1]

---

[1] चांग-काई-शेक और चीनी सोवियतों के बीच सघर्ष, जापानी आक्रमण के

: १७८ :

जापान सारी दुनिया को ललकारता है

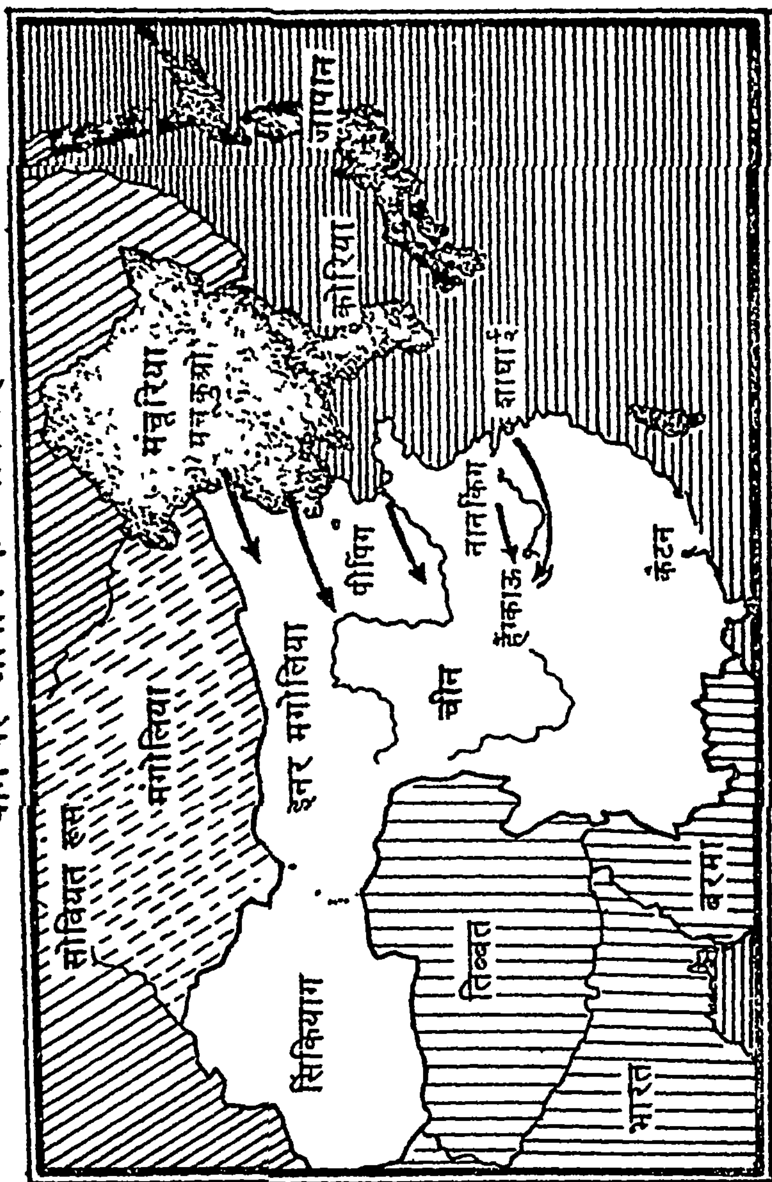
२९ जून, १९३३

चीन कैसे टूक-टूक हुआ, जो क्रान्ति पहले पूरी तरह सफल नज़र आती थी वह एकदम कैसे पस्त हो गई और खूंख्वार उलट-क्रान्ति उसे कैसे हड़प कर गई, इसकी शुरू से अवतक की गमनाक कहानी मैं तुम्हे वतला चुका हूँ। यह कहानी अभी पूरी नही हुई है, और वहुत-कुछ बाकी है। क्रान्ति इसलिए असफल हुई कि चेतन वर्ग-हितो की भीतरी कशमकश, राष्ट्रीयता की बाँधनेवाली ताकत से ज्यादा ज़ोरदार सावित हुई। मालदार ज़मीदारो व दूसरे स्वार्थों ने किसान व मज़दूर जनता के दबदबे का खतरा उठाने के बजाय राष्ट्रवादी आन्दोलन को खत्म करना बेहतर समझा।

अपनी अन्दरूनी गडवडो के अलावा चीन को अब एक विदेशी दुश्मन के ज़ोरदार हमले का भी मुकाबला करना पडा। यह जापान था, जो चीन की कमज़ोरी से, और दूसरी शक्तियो के अपने ही झझटो मे फँसे रहने से, फायदा उठाने पर तुला हुआ था।

जापान आज के उद्योगवाद और मध्य-कालीन सामन्तवाद की, औरपार्लमेण्टी रीके और एकतन्त्री सत्ता और फौजी कब्ज़े की खिचडी की एक अजीब मिसाल ा। यहाँ के हुकूमतवाले ज़मीदार व फौजी वर्गों ने जानवूझकर खानदानी ढग का ाज्य बनाने की कोशिश की है, जिससे वे खुद तो मुखिया है और सम्राट् नका सबसे बडा सरदार है। मज़हब, शिक्षा, वगैरा हरेक चीज़ को इसी सलसिले को बढाने का साधन बनाया गया है। मज़हबी चीज़ो पर सरकारी खल है, यहाँतक कि मन्दिर और पूजा की जगहें भी सरकारी कब्ज़े मे हैं, और जारियो के ओहदे सरकारी हैं। इस तरह मन्दिरो व पाठशालाओ के ज़रिये काम रनेवाली ज़बर्दस्त प्रचार-मशीन लोगो को सिर्फ देशभक्ति ही नही सिखाती, ल्कि सम्राट् की इच्छा के मुताबिक हुक्म बजाना भी सिखाती है, क्योंकि सम्राट् को आधा-देवता माना जाता है। पुरानी वहादुरी का कुछ-कुछ अर्थ रखनेवाला पुराना जापानी शब्द 'बुशीदो' था, जिसका अर्थ था एक किस्म की खानदानी वफादारी। इस खयाल का विस्तार करके समूचे राज्य पर लागू कर दिया गया है, और इसके साथ सबके ऊपर सम्राट् का नाता जोड दिया गया है। सम्राट् तो वास्तव मे एक चिह्न है, जिसके नाम पर शासन करनेवाले बडे-बडे ज़मीदार व

विरुद्ध इनका आपस मे मिल जाना, जापान का चीन पर हमला और उसके फलस्वरूप होनेवाला युद्ध—इन सबका हाल पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट मे दिया गया है।



चीन पर जापान के आक्रमण

फ़ौजी वर्ग सत्ता की तामील करते हैं। उद्योगो के सबब से जापान मे भी मध्यम-वर्गों का उदय हुआ है, परन्तु बडे-बडे उद्योगपति पुराने ज़मीदार-परिवारो मे से ही निकले हुए हैं। इसलिए खास मध्यम-वर्गों के हाथ मे कोई सत्ता नही आई है। अमली तौर पर तो जापान मे इतनी ठेकेदारी है कि कुछेक शक्तिशाली परिवारो का देश के उद्योगो पर भी कब्ज़ा है, और राजनीति पर भी।

जापान मे बौद्ध-धर्म बहुत समय से आम मज़हब रहा है, मगर शिन्तो एक तरह से राष्ट्रीय मज़हब है, और इसमे पुरखो की पूजा पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। इस पूजा मे गुज़रे सम्राटो और राष्ट्रवीरो की और खासकर युद्धो मे मारे गये शहीदो की पूजा शामिल है। इस तरह यह पूजा देश के लिए प्रेम का, और गद्दीनशीन सम्राट् के लिए आज्ञापालन की भावना का पाठ पढाने का एक ज़ोरदार और कारगर साधन बन गई है। जापानी लोग अपनी अद्‌भुत देशभक्ति के लिए और देश के हित मे कुर्बानी की हैसियत के लिए मशहूर है। पर इस बात को बहुत लोग नही जानते कि यह देशभक्ति बहुत ही हमलावर ढंग की है, और सारी दुनिया पर अपने साम्राज्य के सपने देखा करती है। १९१५ ई० के लगभग जापान मे एक नया पन्थ शुरू हुआ। इसका नाम 'ओमोतो-क्यो' पन्थ था और यह बडी तेज़ी से देश-भर मे फैल गया। इस पन्थ का खास मज़हबी उसूल यह था कि जापान सारे ससार का शासक बने और सम्राट् उसका सबसे आला सरदार हो। इस पन्थ की ओर से कहा गया था—

> "हमारा उद्देश्य यह है कि जापान के सम्राट् को सारे ससार पर राज करनेवाला और शासन करनेवाला बनावे, क्योकि ससार मे वही अकेला ऐसा राजा है, जिसमे सबसे पहले के स्वर्गवासी पूर्वज से विरासत मे मिली हुई आध्यात्मिक ज़िम्मेदारी कायम है।"

जैसा कि हम देख चुके हैं, महायुद्ध के दौरान, जापान ने चीन को डरा-धमका-कर उससे अपनी इक्कीस मांगें मजूर कराने की कोशिश की। अमेरिका व यूरोप मे हो-हल्ला मच जाने से उसकी सारी मांगें तो पूरी नही हुईं, पर फिर भी उसे बहुत कुछ मिल गया। युद्ध के बाद ज़ारशाही साम्राज्य के पतन पर जापान ने देखा कि एशिया मे अपने राज्य को फैलाने का यह बढिया मौका है। उसकी फौजें साइबेरिया मे दाखिल हो गईं और उसके एजेण्ट मध्य-एशिया मे ठेठ समरकन्द और बुखारा तक जा पहुंचे। पर रूस के सम्हल जाने से और कुछ हदतक अमेरिका के विरोध और शक की वजह से, यह हौसलेबाज़ी नाकामयाब हो गई। क्योकि यह हमेशा याद रखने की बात है कि जापान और सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच कट्टर दुश्मनी है। ये एक दूसरे से बहुत नफरत करते हैं, और प्रशान्त महासागर के आर-पार एक-दूसरे पर आंखें तरेरते रहते हैं। १९२२ ई० के वाशिंगटन-सम्मेलन से जापान की उमगो पर पानी फिर गया और अमेरिकी कूटनीति की जीत हो गई। इस सम्मेलन मे जापान समेत नौ शक्तियो ने

चीन को अखण्ड मानने के वचन दिये, और इसका अर्थ यह था कि जापान चीन में पैर फैलाने की सारी उम्मीदें छोड़ दे। इसी सम्मेलन में आंग्ल-जापानी दोस्ती खत्म हो गई और सुदूर-पूर्व में जापान बिल्कुल अकेला रह गया। ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर में एक जबर्दस्त जहाजी अड्डा बनाना शुरू कर दिया, और जाहिर है कि यह जापान के लिए खतरे की चीज था। १९२४ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापानियों का आना रोकने का बिल पास किया, क्योंकि वह अपने राज्य में जापानी मजदूरों को नहीं आने देना चाहता था। रंग-भेद की इस नीति पर जापान में, और कुछ एशियाई भागों में, बहुत गुस्सा जाहिर किया गया, मगर जापान अमेरिका का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसलिए जब उसने यह मालूम किया कि वह अकेला पड़ गया है और चारों तरफ दुश्मनों से घिर गया है, तो उसने रूस की तरफ रुख मोड़ा, और जनवरी, १९२५ ई० में रूस के साथ सन्धि कर ली।

इसी दौरान जापान पर जो बड़ी आफत आई और जिसने उसे बहुत कमजोर कर दिया उसका हाल मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ। १९२५ ई० की सितम्बर की पहली तारीख को जापान में भयंकर भूचाल आया और उसके साथ समुद्री ज्वार की लहर आई और राजधानी टोकियो के विशाल नगर में आग लग गई। यह विशाल नगर बर्बाद हो गया और याकोहामा बन्दरगाह का भी यही हाल हुआ। करीब एक लाख आदमी मर गये, और बहुत भारी नुकसान हुआ। जापानियों ने बड़े साहस और धीरज के साथ इस आफत का मुकाबला किया, और पुराने नगरों के खण्डहरों पर नया शहर खड़ा कर लिया।

अपनी कठिनाइयों की वजह से जापान ने रूस से सुलह तो कर ली थी, पर इसका यह मतलब नहीं था कि वह साम्यवाद का हामी हो गया था। साम्यवाद का अर्थ था सम्राट्-पूजा का और सामन्तवाद का, और शासक-वर्ग के हाथों जनता के शोषण का अन्त, और सच तो यह है कि मौजूदा अमल जिन चीजों को बरकरार रखना चाहता था, उन सबका अन्त। जापान में यह साम्यवाद जनता की बढ़ती हुई मुसीबतों की वजह से जोर पकड़ रहा था, क्योंकि उद्योगपति अपने स्वार्थ की खातिर जनता को दिन-पर-दिन ज्यादा चूस रहे थे। उधर आबादी भी तेजी से बढ़ रही थी। जापानी लोग अमेरिका या कनाडा में या ऑस्ट्रेलिया के बंजर उजाड़-खण्डों तक में जाकर नहीं बस सकते थे, उनके लिए, वहाँ जाने के दरवाजे बन्द थे। चीन नजदीक था, लेकिन वहाँ आबादी पहले ही बहुत ज्यादा थी। कुछ लोग कोरिया और मंचूरिया में जा बसे। निजी खास मुसीबतों के अलावा जापान को उद्योगवाद और व्यापार की मन्दी की उन मुसीबतों का भी सामना करना पड़ा, जिन्हें सारा संसार आमतौर पर भुगत रहा था। जब अन्दरूनी हालत ज्यादा गम्भीर होने लगी तो साम्यवादियों

और सारे वाम-पक्षियो का सख्ती से दमन किया गया। १९२५ ई० मे 'अमन कायम रखने का कानून' पास किया गया। चूंकि इसकी भाषा दिलचस्प है, इसलिए इस क़ानून की पहली धारा मैं यहाँ देता हूँ। इसमे लिखा है—

"जिन्होंने राष्ट्रीय सविधान को बदलने के मक़सद से, या निजी जायदाद के कायदे को उलटने के मकसद से, कोई समिति या बिरादरी खडी की हो, या जो किसी ऐसे संगठन के मकसद से पूरी तरह जानकार होकर उसमे शामिल हुए हो, उन्हें मौत की सजा से लगाकर पाँच साल से ऊपर तक की कडी कैद की सजाएँ दी जायेंगी।"

इस कानून की हद दर्जे की सख्ती, जो सिर्फ साम्यवादी सुधारो को ही नहीं बल्कि सब किस्मो के समाजवादी या बुनियादी या सविधानी सुधारो तक को रोकती है, यह जतलाती है कि साम्यवाद की तरक्क़ी से जापानी सरकार कितनी डरी हुई है।

लेकिन साम्यवाद समाजी हालतो से पैदा होनेवाली आम मुसीबत का नतीजा है, और जबतक ये हालतें सुधरेंगी नही तबतक दमन से कोई फल नही निकल सकता। आजकल जापान मे भयकर मुसीबत है। चीन व भारत की तरह यहाँ भी किसान-वर्ग कर्जों के जबर्दस्त बोझ से पिसा जा रहा है। खासकर भारी फौजी खर्च और युद्ध की तैयारियो की वजह से जनता पर करो का भारी बोझ है। खबरें आती रहती हैं कि भूखो मरते किसान जान बचाने के लिए घास और जडें खा रहे हैं, और अपने बच्चो तक को बेच रहे हैं। बेकारी के सबब मध्यम-वर्गों की भी बुरी हालत है, और आत्म-हत्याएँ बढ गई हैं।

साम्यवाद के खिलाफ १९२८ ई० के शुरू मे बडे पैमाने पर धावा ला गया, और एक रात मे एक हजार से ज्यादा गिरफ्तारियाँ हुईं, मगर खबारो को इस घटना का समाचार महीने-भर तक नही छापने दिया गया। तबसे हर साल पुलिस तलाशियाँ और सामूहिक गिरफ्तारियाँ करती रहती है। अक्तूबर, १९३२ ई० मे पुलिस ने बहुत बडा छापा मारा, और २,२५० व्यक्तियो को गिरफ्तार किया। इनमे से ज्यादातर लोग मजदूर नही थे, बल्कि विद्यार्थी और शिक्षक थे। इनमे सैकडो ग्रेजुएट थे और स्त्रियाँ थीं। निराली बात यह नजर आती है कि जापान के बहुत-से मालदार नौजवान साम्यवाद की तरफ खिंच रहे हैं। भारत और दूसरे देशो की तरह यहाँ भी प्रगतिशील विचारको को चोर-डाकुओ से ज्यादा खतरनाक समझा जाता है। भारत मे मेरठ के षड्यन्त्र के मामले की तरह जापान मे भी साम्यवादियो के कुछ मुकदमे वर्षों तक चलते रहे।

जापान की अन्दरूनी हालतो के बारे मे ये सब बातें मैंने तुम्हें इसलिए

तुम्हें याद होगा कि १९२२ ई० मे वाशिगटन-सम्मेलन के मौके पर नौ शक्तियों की जो सन्धि हुई थी, उनकी बावत मैं लिख चुका हूँ। पश्चिमी शक्तियो के सुझाव पर यह सन्धि खासतौर से चीन मे जापान की चालो को रोकने के लिए की गई थी। इन नौ-की-नौ शक्तियो ने (जिनमे जापान भी शामिल था) साफ तौर पर और बिना लाग-लपेट के 'चीन की प्रभु-सत्ता, स्वाधीनता और प्रादेशिक व प्रशासनिक अखण्डता का लिहाज रखने' का आपसी फैसला किया था।

कुछ वर्षों तक तो जापान ने कोई कार्रवाई नही की। मगर परदे के पीछे से वह कुछ चीनी लड़ाकू-सरदारो या तूशनो को पैसे वगैरा की मदद देता रहा, ताकि वे घरेलू युद्ध चलाते रहें और इस तरह चीन को कमजोर बना दें। उसने चाग-सो-लिन को खासतौर पर सहायता दी, जिसका दबदबा मचूरिया पर और दक्षिणी राष्ट्र-वादियो की विजय से पहले पेकिंग तक पर छाया हुआ था। १९३१ ई० मे जापानी सरकार ने मचूरिया मे खुल्लम-खुल्ला हमलावर रवैय्या अपनाया। या तो इसका

कारण वह गहरा आर्थिक सकट था, जिसने उसे बाहर के देशो मे कुछ कार्रवाई करने पर मजबूर किया ताकि लोगो का ध्यान भी बँट जाय और अन्दरूनी तनाव भी कम हो जाय, या सरकार मे फौजी फिरके का जोर था, या यह भावना थी कि दूसरी सारी शक्तियाँ अपनी-अपनी मुसीबतो मे और व्यापार की मन्दी के चक्कर मे फँसी हुई है, और दखल देनेवाली नही हैं। शायद इन सब कारणो ने मिलकर जापानी सरकार को इतना जोखिमभरा कदम उठाने के लिए उकसाया हो। क्योकि इस कार्रवाई से १९२२ ई० की नौ शक्तियो की सन्धि साफ तौर पर भग हो गई, इससे राष्ट्रसघ का इकरारनामा भी भग होता था, क्योकि चीन और जापान दोनो ही राष्ट्रसघ के सदस्य थे, और इस हैसियत से राष्ट्रसघ मे मामला ले जाये बिना एक दूसरे पर हमला नही कर सकते थे। और आखिरी बात यह है कि इससे १९२८ ई० के युद्ध को गैरकानूनी ठहरानेवाला पेरिस-करार (या केलॉग-करार) भी साफ तौर पर भग हो गया। चीन के खिलाफ युद्ध-जैसी कार्रवाइयाँ जारी रखकर जापान ने इन सन्धियो और वादो को तोड दिया, और सारे ससार को अँगूठा दिखा दिया।

हाँ, जापान ने इस बात का इकरार नही किया। उसने कुछ लचर और निरा झूठा बहाना बनाया कि मचूरिया मे डाकुओ और कुछ मामूली वारदातो की वजह से अमन कायम करने के लिए और अपने हितो की हिफाज़त के लिए उसे वहाँ अपने सिपाही भेजने के लिए मजबूर होना पडा है। युद्ध का कोई खुला ऐलान नही किया गया, मगर फिर भी जापान ने मचूरिया पर धावा बोल दिया था। चीनी लोगो को इस पर बडा गुस्सा आया। चीनी सरकार ने विरोध जाहिर किया और राष्ट्र-सघ व दूसरी शक्तियो के आगे फरियाद की, लेकिन किसी ने भी कोई ध्यान नही दिया। हर देश अपनी निजी मुसीबतो मे फँसा हुआ था और जापान का विरोध करके नये झगडे मोल नही लेना चाहता था। यह भी मुमकिन है कि कुछ शक्तियो ने, खासकर इग्लैण्ड, ने, जापान के साथ कोई गुप-चुप साँठ-गाँठ कर ली हो। चीन के गैर-फौजी सिपाहियो ने मचूरिया मे जापानियो को काफी परेशान कर डाला। पर मजा यह है कि माना यह जाता था कि इन दोनो देशो के बीच कोई युद्ध नही है। चीन मे जापानी माल के बायकाट का बडा आन्दोलन जापान को और भी परेशान करनेवाली चीज़ था।

जनवरी, १९३२ ई० मे जापानी सेना शघाई के नज़दीक चीन की धरती पर अचानक उतर पडी और वहाँ उसने जो हत्याकाण्ड मचाया, वह इस ज़माने के सबसे ज्यादा सहमानेवाले हत्याकाण्डो मे गिना जाता है। उसने विदेशी रियायती इलाको को तो जान-बूझकर छोड दिया, ताकि पश्चिमी शक्तियाँ नाराज़ न हो जायँ, और घनी आबादीवाले चीनी मोहल्लो पर हमला कर दिया। शघाई के

नजदीक एक लम्बे-चौडे क्षेत्र पर (शायद इसका नाम चापेइ था) बम और गोले बरसाये गए और उसे बिलकुल बर्बाद कर दिया गया। हज़ारो आदमी मारे गए और बेशुमार आदमी बेघर-बार हो गये। याद रहे कि यह लडाई किसी फौज के साथ नही थी। यह तो मासूम नागरिको पर बमबारी थी। यह जवांमर्दी की कार्रवाई जिस जापानी एडमिरल की निगरानी मे हुई थी, उससे जब पूछा गया तो उसने कहा था कि जापान ने दया करके यह फैसला किया है कि "नागरिको पर यह अँधाधुन्ध बमबारी सिर्फ दो दिन और" होनी चाहिए। शाघाई मे लन्दन के टाइम्स अखबार का सम्वाददाता जापान की तरफ झुका हुआ था, पर वह भी जापानियो के हाथो चीनियो के इस 'कत्ले-आम' (ये शब्द उसीके है) से हक्का-बक्का रह गया। इसलिए चीनियो ने इसके बारे मे क्या महसूस किया होगा, उसकी कल्पना करना बहुत आसान है। सारे चीन मे गुस्से की लहर दौड गई, और इस वहशियाना विदेशी हमले के सामने देश के सारे लडाकू सरदार और सरकारें अपने आपसी बैर भूल गये या भूलते हुए दिखाई देने लगे। जापान के खिलाफ शामिल मोर्चे की चर्चा होने लगी और अन्दरूनी चीन की साम्यवादी सरकार तक भी नानकिंग-सरकार को अपनी सेवाएँ देने के लिए तैयार हो गई। मगर अचरज की बात है कि नानकिंग या उसके नेता चाग-काई-शेक ने, इतने पर भी, आगे बढते हुए जापानी सिपाहियो से शाघाई को बचाने के लिए कोई कदम नही उठाया। नानकिंग ने सिर्फ इतना किया कि राष्ट्र-सघ के सामने अपना विरोध पेश कर दिया। उसने तो जापानियो के खिलाफ शामिल मोर्चा भी खडा करने की कोशिश नही की। मालूम यह होता है कि अपनी लम्बी-चौडी बातो और देश मे फैली हुई गुस्से की आग के बावजूद मुकाबला करने की उसकी कोई इच्छा नही थी।

और तब दक्षिण से आई हुई एक अजीब सेना शाघाई मे दाखिल हुई। इसका नाम उन्नीसवी रूट आर्मी[1] थी। इसमे कैण्टनवासी लोग थे, पर न तो यह नानकिंग-सरकार की फरमाबरदार थी और न कैण्टन-सरकार की। यह फटी-टूटी-सी सेना थी, जिसके पास न तो लडाई का सामान था, न बडी तोपें थी, न अच्छी वर्दियाँ थीं, और न चीन की कडाके की सर्दी से बचानेवाले काफी कपडे थे। इसमे चौदह से सोलह साल की उम्र के बहुत-से लडके भर्ती हो गये थे, कुछ की उम्र तो सिर्फ बारह साल की थी। इस टूटी-फूटी सेना ने चाग-काई-शेक के हुक्म की परवाह न करके जापानियो से लडने और लोहा लेने का फैसला किया। १९३२ ई० के जनवरी महीने मे, दो हफ्ते तक ये लोग नानकिंग-सरकार की मदद के बिना ही लडते रहे, और ये ऐसी निराली जवांमर्दी से लडे कि इन्होने अपने से कही ज्यादा तादादवाले और बेहतर हथियारोवाले जापानियो को रोक कर उन्हे हैरत मे

---

[1] Nineteenth Route Army

डाल दिया। इससे सिर्फ जापानियो को ही नही बल्कि हरेक को अचम्भा हुआ, यहाँतक कि विदेशी शक्तियाँ तथा खुद चीन की जनता भी अचम्भे मे पड गई। बिना किसी मदद के दो हफ्ते लडने के बाद, जब चारो तरफ इस फौज को शाबासी दी जाने लगी, तब शाघाई को बचाने के लिए चाग-काई शेक ने अपने कुछ सिपाही भेजे।

इस उन्नीसवी फौज ने इतिहास रच डाला और यह ससार-भर मे मशहूर हो गई। इनके मुकाबले ने जापानियो की योजनाओ पर पानी फेर दिया। और चूंकि पश्चिमी शक्तियो को भी शाघाई मे अपने स्वार्थों की चिन्ता थी, इसलिए जापानी सिपाहियो को धीरे-धीरे शाघाई-क्षेत्र से हटा लिया गया और जहाजो मे लादकर भेज दिया गया। यह नोट करने लायक बात है कि इन पश्चिमी शक्तियो को अपने आर्थिक व दूसरे स्वार्थों की जितनी ज्यादा चिन्ता थी, उतनी चिन्ता हजारो को मौत के घाट उतारनेवाले चापेइ-जैसे अजीब हत्याकाण्डो की और गम्भीर सन्धियो व अन्तर्राष्ट्रीय इकरारनामो के भग हो जाने की नही थी। राष्ट्र-सघ मे यह मामला बार-बार पेश किया गया, पर उसने कार्रवाई टालने का हमेशा कोई-न-कोई बहाना ढूंढ लिया। राष्ट्र-सघ के लिए यह हकीकत कोई बहुत जरूरी कार्रवाई का मामला नही थी कि सचमुच युद्ध हो रहा था और उसमे हजारो आदमी मारे जा चुके थे या मारे जा रहे थे। कहा यह गया कि असल मे कोई युद्ध था ही नही, क्योकि इस युद्ध का कोई बाकायदा ऐलान ही नही किया गया था। राष्ट्र-सघ की इस कमजोरी से, और अन्याय की तरफ एक तरह से जान-बूझकर आँखें मूंद लेने की नीति से, उसकी शोहरत और शान को बहुत धक्का पहुँचा। देखा जाय तो कुछ बडी-बडी शक्तियाँ ही इसके लिए जिम्मेदार थी, और इग्लैण्ड ने तो राष्ट्र-सघ मे खासतौर पर जापान की हिमायत का रवैय्या अपनाया। आखिरकार राष्ट्र-सघ ने मचूरिया के मामले की जाँच करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन लॉर्ड लिटन की सदारत मे मकर्रर किया। तमाम शक्तियो ने इसे फौरन मजूर कर लिया, क्योकि इसका मतलब यह था कि किसी भी किस्म का फैसला महीनो तक के लिए टल गया। उन्होने सोचा कि मचूरियाँ बहुत दूर है, और कमीशन को वहाँ जाकर जाँच करने मे बहुत वक्त लग जायगा, और तबतक शायद सारा मामला ही ठण्डा पड जाय।

जापानी लोग शाघाई से तो हट गये, पर अब उन्होने मचूरिया पर ज्यादा ध्यान दिया। उन्होने वहाँ एक कठपुतली सरकार कायम कर दी, और ऐलान कर दिया कि मचूरिया ने अपने आत्म-निर्णय के हक की तामील की है। इस नये कठपुतली राज्य का नाम मचूकुओ रक्खा गया, और चीन के पुराने मचू राजाओ के वश का एक फटे-हाल नौजवान इस नई रियासत का राजा बना दिया गया।

इसमे कोई शक नही कि यह सब दिखावे के लिए ही था, और असली शासक तो जापान था। हर कोई जानता था कि अगर जापानी फौजें हटाली जायें तो मचूकुओ राज्य एक दिन मे लुढक पडेगा।

मचूरिया मे जापानियो को बहुत परेशानियाँ उठानी पडी, क्योकि चीनी स्वयसेवकों के दस्ते उनसे बराबर लडते रहते थे। जापानी लोग इन दस्तो को 'डाकुओ के दस्ते' कहते हैं। जापानियो ने मुकामी चीनियो को फौजी तालीम और लडाई का सामान देकर मचूकुओ की फौजें तैयार की। मगर जब ये फौजें इन 'डाकू-दस्तो' से लडने को भेजी गईं तो अपने सारे नये-से-नये सामान के साथ उन्हीमे जा मिली। हर वक्त की इस लडाई से मचूरिया का भारी नुकसान हुआ, और सोयाबीन का व्यापार तबाह होने लगा।

महीनो की जांच के बाद लिटन-कमीशन ने राष्ट्र-सघ मे अपनी रिपोर्ट पेश की। यह सावधान, मुलायम और मुसिफाना भाषा मे लिखा हुआ दस्तावेज़ था, पर जापान के बिलकुल ही खिलाफ जाता था। इससे ब्रिटिश सरकार बहुत घबराई, क्योकि वह तो जापान को बचाने पर तुली बैठी थी। इसलिए इस मामले का विचार कई महीनो के लिए फिर टाल दिया गया। लेकिन अन्त मे राष्ट्र-सघ को इस सवाल पर ग़ौर करना ही पडा। अमेरिका का रुख इग्लैण्ड के रुख से बिलकुल और तरह का था, वह जापान के बहुत ज्यादा खिलाफ था। अमेरिका ने साफ कह दिया था कि वह जापान के हाथो मचूरिया मे या दूसरी जगह जबर्दस्ती किये गए किसी परिवर्तन को नहीं मानेगा। मगर अमेरिका के इस कठोर रुख के बावजूद इग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ्रान्स, इटली व जर्मनी ने, जापान का पक्ष लिया।

इधर तो राष्ट्र-सघ मे मचूरिया के सवाल को टालने की भरसक कोशिश की जा रही थी, उधर जापान ने एक नई कारंवाई कर डाली। १९३३ ई० की पहली जनवरी के दिन जापानी सेना अचानक ठेठ चीन मे जा धमकी और उसने शान-हाइ-क्वान नगर पर हमला कर दिया। यह नगर चीन की बडी दीवार के भीतरी किनारे पर बसा है। बडी-बडी तोपो और विध्वसक जहाजो से गोले और हवाई-जहाजो से बम बरसाये गए। यह सरासर नये-से-नये ढग का हमला था। शान-हाइ-क्वान जलकर राख का ढेर हो गया, और ज्यादातर नगरवासी मौत के शिकार हुए या मौत की घडियां गिनने लगे। और इसके बाद जापानी फौज आगे बढती हुई चीनी प्रान्त जेहोल मे घुस गई और पीपिंग के नज़दीक जा पहुँची। बहाना यह बनाया गया कि लुटेरो ने मचूकुओ पर हमला करने के लिए जेहोल को अपना सदर मुक़ाम बना रक्खा था और कुछ भी हो, जेहोल तो मचूकुओ का हिस्सा ही था।

हमले की इस ताज़ा कारंवाई से और नये दिन के हत्याकाण्ड से राष्ट्र-सघ

की नींद खुली, और बहुत करके छोटी-छोटी शक्तियों के ज़ोर देने पर राष्ट्र-संघ ने एक प्रस्ताव करके लिटन-रिपोर्ट को मंजूर कर लिया और जापान को, कसूरवार ठहराया। जापान ने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की (क्या वह जानता नहीं था कि इंग्लैण्ड और कुछ दूसरी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ चुपचाप उसकी पीठ ठोक रहे थे?) और राष्ट्र-संघ से किनारा किया। राष्ट्र-संघ से इस्तीफा देकर जापान आराम से पीपिंग की तरफ बढ़ता चला गया। उसे ज़रा भी रुकावट का सामना नहीं करना पड़ा, और जब जापानी सेना, मई, १९३३ ई० में करीब-करीब पीपिंग के दरवाजे पर जा पहुँची, तो चीन और जापान के बीच लड़ाई बन्द करने का ऐलान कर दिया गया। जापान पूरी तरह सफल हो गया था। नानकिंग-सरकार ने और मौजूदा कुओ-मिन-ताङ ने जापानियों की हमलावर कार्रवाई के खिलाफ जो ओछापन दिखलाया, उससे अगर वह चीन में बहुत बदनाम हो गई, तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है।

मंचूरिया के इस झगड़े के बारे में मैंने काफी बातें कह दी हैं। यह इसलिए महत्व रखता है कि चीन के भविष्य पर इसका असर पड़ता है। मगर इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि इससे ज़ाहिर हो गया है कि राष्ट्र-संघ एक ढकोसला है, और जो अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाइयाँ गलत साबित हो चुकी हैं, उनको दुरुस्त करने में, बिलकुल नपुंसक और बेकार साबित हुआ है। इससे यूरोप की बड़ी शक्तियों की दुरंगी नीति और साज़िशों की भी कलई खुल गई है। इस खास मामले में तो अमेरिका (जो राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं है) जापान के खिलाफ कड़ा रुख इख्तियार करने को तैयार हो गया था, और ऐसा मालूम होता था कि वह जापान से भिड़ भी पड़ेगा। लेकिन उधर इंग्लैण्ड व दूसरी शक्तियों ने जापान को चुपचाप जो बढ़ावा दिया, उससे अमेरिका का यह रुख बे-असर हो गया, और जब अमेरिका को डर हुआ कि जापान के खिलाफ वह अकेला रह जायगा, तो वह भी ज्यादा खबरदार हो गया। राष्ट्र-संघ ने अपनी नेकनीयती दिखाने के लिए जापान की बुराई तो कर दी, पर आगे कोई कदम नहीं उठाया। यह तय हुआ था कि राष्ट्र-संघ के सदस्य मंचूकुओ के कठपुतली-राज्य को क़बूल नहीं करेंगे, लेकिन यह गैर-कबूलियत कोरा मज़ाक बन गई।

राष्ट्र-संघ में जापान की निन्दा के बावजूद इंग्लैण्ड के मन्त्री और राजदूत मौके-बे-मौके आगे बढ़कर जापान की कार्रवाई को वाजिब ठहराने का यत्न करते रहते हैं। रूस के साथ इंग्लैण्ड का बर्ताव अजीब तौर पर इससे उलटा नज़र आता है। अप्रैल, १९३३ ई० में रूस में कुछ अंग्रेज़ इंजीनियरों पर भेदिये होने के जुर्म में मामला चलाया गया। कुछ तो बरी कर दिये गए और दो को थोड़े-थोड़े दिनों की कैद की सज़ाएँ दी गईं। इसपर इंग्लैण्डवालों ने बड़ा वावेला मचाया, और ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैण्ड में रूसी माल के आयात पर फ़ौरन रोक लगा दी।

रूस ने भी इसके जवाब मे अपने यहाँ ब्रिटिश माल का आना बन्द कर दिया।[1]

इस तरह मंचूरिया, और इससे भी बहुत-कुछ ज्यादा, चीन के हाथ से निकल गया, और बाकी हिस्से पर भी जापान का खतरा बराबर बना रहा। तिब्बत स्वाधीन था। मंगोलिया सोवियत देश था जो रूसी सोवियत संघ के साथ जुडा हुआ था। चीन के एक और बडे प्रान्त सिंकियाङ या चीनी तुर्किस्तान मे भी गडबड हुई। यह तिब्बत और साइबेरिया के बीच है। इस प्रान्त मे कश्मीर के श्रीनगर से, लद्दाख मे लेह के रास्ते से यारकन्द और काशगर को काफिले बराबर जाया करते हैं। इस प्रान्त के ज्यादातर निवासी मुसलमान तुर्क है। इनका रंग-ढंग, इनकी संस्कृति और इनके नाम तक चीनी हैं। मगर ये चीन के भीतरी हिस्से से बहुत दूर हैं, और गोबी के रेगिस्तान ने इन्हें चीन से बिलकुल अलग कर दिया है। आवा-जाई के साधन बहुत ही पुराने जमाने के हैं। इन्हें चीन के साथ बांधनेवाले बन्धन ज्यादा मजबूत नही हैं, और इनमे तुर्की राष्ट्रीयता की भावना है, जो समय-समय पर फूट पडती है। महायुद्ध के समय से ही यह बहुत बडा प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय साजिशो का अखाडा बना हुआ है। इंग्लैण्ड, रूस और जापान एक-दूसरे के खिलाफ और चीनी सरकार के खिलाफ जासूसी और साजिशें करते रहते है और यहाँ के आपस मे लडनेवाले सरदारो को सहायता देते रहते हैं।

१९३३ ई० के शुरू मे सिंकियाङ मे तुर्कों ने विद्रोह कर दिया, यारक़न्द और काशगर पर उनका कब्ज़ा हो गया, और उसे गणराज्य ज़ाहिर कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने सोवियत पर इस विद्रोह को भडकाने का आरोप लगाया। उधर सोवियत ने ब्रिटिश सरकार पर खुल्लम-खुल्ला यह आरोप लगाया कि उसने मंचूकुओ की तरह चीन और रूस के बीच झोक झेलनेवाला राज्य बनाने की नीति से इस विद्रोह को भडकाया है। सिंकियाङ मे अंग्रेज़ी फौज के जिस अफसर ने यह विद्रोह खडा किया था, उसका नाम तक बतला दिया गया है।

टिप्पणी—सिंकियाङ के इस विद्रोह को चीनी सरकार के समर्थकों ने दबा दिया। मालूम होता है कि सोवियत अधिकारियो ने भी ग़ैर-सरकारी तौर पर इसमें कुछ सहायता दी थी। इसके सबब से मध्य एशिया मे रूस की प्रतिष्ठा बहुत बढ गई और अंग्रेज़ो की गिर गई।

[1] इंग्लैण्ड और रूस की यह व्यापारी लडाई बाद में दोनों देशों के बीच समझौता हो जाने पर बन्द हो गई।

: १७९ :

समाजवादी सोवियत गणराज्यों का संघ

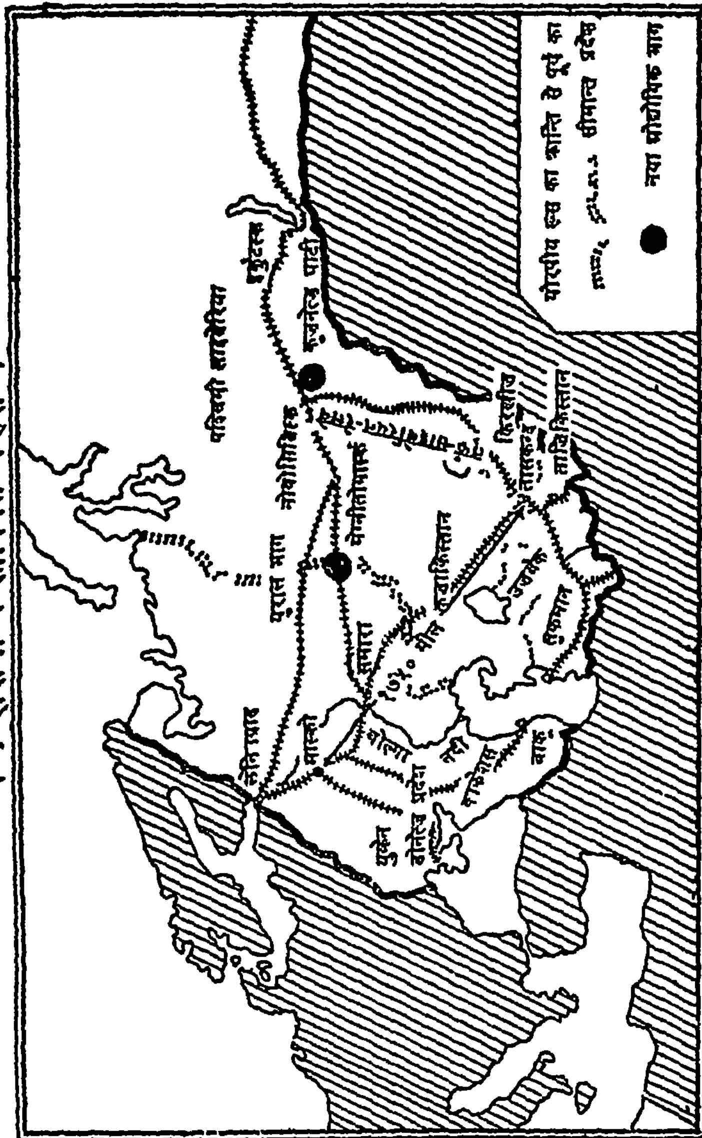
७ जुलाई, १९३३

अब हम सोवियतो के देश रूस की तरफ लौटते हैं और उसकी कहानी के सूत्र को जहाँ छोडा था, वही से फिर पकडे लेते हैं। हम जनवरी, १९२४ ई० तक आ पहुँचे थे, जबकि क्रान्ति के नेता और उसमे जान डालनेवाले लेनिन की मौत हुई थी। तबसे अबतक दूसरे देशो के बारे मे जितने पत्र मैंने तुम्हे लिखे हैं, उनमे से बहुतो मे रूस का अक्सर ज़िक्र आता रहा है। रूस की समस्याओ पर, या भारतीय सरहद पर, या तुर्की, ईरान वगैरा मध्य-एशियाई देशो पर, या दूर-पूर्व के चीन और जापान पर, गौर करते वक्त रूस का नाम बार-बार सामने आया है। यह हकीकत तुम्हे साफ दिखाई देने लगी होगी कि एक राष्ट्र की राजनीति और अर्थ-नीति को दूसरे देशो की राजनीति और अर्थ-नीति से अलग करना बहुत मुश्किल ही नही, बल्कि सचमुच नामुमकिन है। पिछले वर्षों मे राष्ट्रो के आपसी ताल्लुक़ और उनकी एक दूसरे पर निर्भरता बहुत ही ज्यादा बढ गये हैं, और सारा ससार कितनी ही बातो मे एक इकाई बनता जा रहा है। इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय, यानी विश्व-इतिहास, बन गया है और एक देश के लिहाज़ से हम भी उसे तभी समझ सकते है, जब सारे ससार को अपनी निगाह के सामने रक्खें।

यूरोप और एशिया मे सोवियत सघ जिस जबर्दस्त इलाके को घेरे हुए है, वह पूँजीवादी दुनिया से अलग खडा है। मगर फिर भी वह हर जगह इस दूसरे जगत के सम्पर्क मे आता है और अक्सर इससे टकराता भी है। सोवियत की उदार पूर्वी नीति का, तुर्की, ईरान और अफगानिस्तान को उसकी दी हुई सहायता का, चीन के साथ उसके गहरे रिश्तो का, और फिर इन रिश्तो के एकदम टूट जाने का ज़िक्र मैं अपने पिछले पत्रो मे कर चुका हूँ। मैं इग्लैण्ड के आर्कोस छापे का और उस 'ज़िनोवीफ पत्र' का हाल भी बतला चुका हूँ, जो बाद मे जाली निकला, लेकिन फिर भी जिसने इग्लैण्ड के एक आम चुनाव मे गडबडी कर दी। अब मैं तुम्हे सोवियत भूमि के बीच मे ले चलना चाहता हूँ, ताकि तुम उस अद्भुत और दिलकश समाजी प्रयोग के विकास पर निगाह डाल सको, जो कि वहाँ हो रहा था।

क्रान्ति के बाद, १९१७ से १९२० ई० तक के पहले चार साल, बहुत-से दुश्मनो से क्रान्ति की हिफाज़त करने के लिए लडाइयाँ लडने मे बीते। यह ज़माना युद्ध और क्रान्ति और घरेलू-युद्ध और भुखमरी और मौत का थर्रानेवाला और नाटकीय ज़माना था, जो जनता के जिहादी जोश और आदर्श के लिए मर मिटने के वास्ते दिखाई गई बहादुरी के प्रकाश से जगमगा उठा था। इसका फौरन कोई फल नही

मध्य एशिया में सोवियत गणराज्य



मिलनेवाला था, मगर लोगो के दिल बडी-बडी उम्मीदो और इरादो से भरे हुए थे। और इनका ख़याल करके वे अपनी ज़बर्दस्त तकलीफो को धीरज के साथ सहते थे, और कुछ ही देर के लिए सही, अपने भूखे पेटो को भूल जाते थे। यह 'जग-बाज़ साम्यवाद' का ज़माना था।

इसके बाद १९२१ ई० मे लेनिन ने जब नई आर्थिक नीति चलाई तो ज़रा आराम लेने की फुरसत मिली। यह नीति साम्यवाद को पीछे ले जानेवाली थी; देश के मध्यम-वर्गी तत्वो से समझौता था। मगर इसका यह अर्थ नही था कि बोल-शेविक नेताओ ने अपना मकसद बदल दिया हो। इसका मतलब सिर्फ यह था कि ये लोग सुस्ताने और नई ताकत हासिल करने के लिए एक क़दम पीछे हट गये थे, ताकि बाद मे वे कई कदम फिर आगे बढ सकें। बस, सोवियतो ने धीरज के साथ अपने राष्ट्र को बनाने की ज़बर्दस्त समस्या का मुकाबला किया, जो बहुत-कुछ तबाह और बर्बाद हो चुका था। निर्माण और रचना के कामो के वास्ते उन्हें रेल के इजनो और गाडियो, बोझा ढोनेवाली मोटर-गाडियो, मशीनी हलो, कारखानो का सरजाम, वगैरा-वगैरा मशीनो और सामानो की ज़रूरत पडी। ये चीज़ें उन्हें बाहर के देशो से खरीदनी पडती थी,, पर खरीदने के लिए उनके पास पैसा नही था। इसलिए उन्होने बाहर के इन देशो मे उधार खाते खोलने की कोशिश की, ताकि वे अपने खरीदे हुए माल की कीमत आसान किस्तो मे चुका सकें। मगर माल उधार तो तभी मिल सकता था जबकि देशो मे आपसी बोल-चाल होती। जब वे सरकारी तौर पर एक दूसरे को मानते ही नहीं थे तो उधार कैसा? इसलिए रूस को बडी तमन्ना थी कि बडी शक्तियां उसे तसलीम कर लें और उनके साथ उसके राज-नीतिक और तिजारती ताल्लुक कायम हो जायें। पर ये साम्राज्यशाही शक्तियां बोलशेविको और उनके सारे कामो से नफरत करती थी। उनके लिए साम्यवाद एक लानत थी, जिसे मिटा देना ज़रूरी था। वास्तव मे, दस्तन्दाज़ी की लडाइयो के दौरान उन्हो ने इसे मिटा डालने की भरसक कोशिश भी की थी, पर वे सफल नही हो पाई थी। ये शक्तियां चाहती तो यह थी कि सोवियत सघ से कोई वास्ता न रक्खें। लेकिन जिस सरकार के कब्ज़े मे दुनिया की सतह का छठा भाग हो उसकी परवाह न करना कठिन है। ऐसे अच्छे ग्राहक की परवाह न करना और भी कठिन है, जो बहुत-सी कीमती मशीनें खरीदने को तैयार हो। रूस-जैसे खेतिहर देश और जर्मनी, इग्लैण्ड व अमेरिका-जैसे उद्योगवाले देशो का आपसी व्यापार दोनो के लिए फायदेमन्द था, क्योकि रूस को मशीनो की ज़रूरत थी और बदले में वह सस्ता अन्न और कच्चा माल दे सकता था।

आखिर जेबें भरने का खिचाव साम्यवाद की नफरत से ज्यादा जोरदार साबित हुआ, और करीब-करीब सभी देशो ने सोवियत सरकार को तसलीम कर लिया।

बहुतो ने उसके साथ तिजारती सन्धियाँ भी कर ली। अकेला अमेरिका ही ऐसी शक्ति था, जिसने सोवियत सघ को तसलीम करने से बराबर इन्कार किया। मगर रूस और सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच व्यापार होने लगा है।[1]

इस तरह सोवियत रूस ने ज्यादातर पूंजीवादी व साम्राज्यवादी शक्तियो से रिश्ते कायम कर लिये, और कुछ हद तक उसने इन शक्तियो की आपसी लाग-डॉट से फायदा भी उठाया। ऐसा ही उसने तब किया था जब १९२२ ई० मे जर्मनी ने उससे सहायता मांगी थी और रापालो की सन्धि पर दोनो ने दस्तखत किये थे। मगर यह समझौता बिलकुल डॉवाडोल था, क्योकि पूंजीवादी और साम्यवादी तरीके बुनियादी तौर पर ही बे-मेल थे। बोलशेविक लोग सताई हुई और शोषित कौमो को, उपनिवेशी देशो की पराधीन कौमो व कारखानो के मजदूरो दोनो को, उन्हें चूसनेवालो के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उकसाते रहते थे। यह काम वे सरकारी तौर पर नही बल्कि कॉमिण्टर्न यानी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सघ के जरिये करते थे। उधर साम्राज्यवादी शक्तियाँ, और खासकर इग्लैण्ड, सोवियत सघ की हस्ती को ही मिटाने के लिए लगातार साजिशें कर रही थी। इसलिए झगडा पैदा होना लाजिमी था। इससे बार-बार झगडे हुए, जिनके सबब से राजनयिक सम्बन्ध टूट गये और युद्ध की हवा फैलने लगी। १९२७ ई० मे आर्कोस के छापे के बाद इग्लैण्ड से ताल्लुक टूटने का जो हाल मैं लिख चुका हूँ, वह तुम्हे याद होगा। इस रगड-झगड को समझना आसान है, क्योकि इग्लैण्ड तो सबसे बडी साम्राज्यवादी शक्ति है, और सोवियत रूस ऐसी विचारधारा पेश करता है, जो सारे साम्राज्यवाद की जड पर ही चोट करती है। पर मालूम होता है कि इन दो विरोधी देशो के बीच कोई चीज इससे भी ज्यादा है। यानी उस मौरूसी और पुरानी दुश्मनी की कोई बात है जो जारशाही रूस और इग्लैण्ड के बीच पीढ़ियो से चली आती थी।

आज इग्लैण्ड और दूसरे पूंजीवादी देशो को सोवियत फौजो का इतना डर नही है जितना सोवियत विचारो और साम्यवादी प्रचार का। ये चीजें फौजो की तरह दिखाई तो नही देती, लेकिन इनसे कही ज्यादा शक्तिशाली और खतरनाक हैं। इसकी काट करने के लिए रूस के खिलाफ लगातार झूठे प्रचार का सहारा लिया जाता रहा है और रूसी शरारत के बहुत ही हैरत-भरे किस्से फैलाये जाते हैं। इग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ सोवियत के खिलाफ ऐसी भाषा इस्तेमाल करते हैं, जैसी उन्होंने युद्ध-काल मे अपने दुश्मनो के सिवा और किसीके लिए कभी इस्तेमाल नही की। सोवियत राजनीतिज्ञो को लॉर्ड बर्कनहैड ने 'हत्यारो की मजलिस'

---

[1] सन् १९३३ ई० मे अमेरिका ने सोवियत संघ को मान लिया और दोनों देशों के आपसी कूटनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित हो गये।

और 'दम्भी मेढको की मजलिस' तक कह डाला है, और वह भी ऐसे समय मे जब कि यह माना जाता है, कि दोनो देशो के बीच सिर्फ सुलह ही नही है बल्कि आपसी राजनयिक सम्बन्ध भी हैं। ऐसी हालतो मे जाहिर है कि सोवियत सघ और साम्राज्यवादी शक्तियो मे दोस्ताना ताल्लुक कभी नही रह सकते। दोनो के आपसी मतभेद बुनियादी है। महायुद्ध के जीते और हारे देशो मे शायद मेल हो भी जाय, मगर साम्यवादियो और पूंजीवादियो मे नही हो सकता। इन दोनो की सुलह सिर्फ चन्दरोज़ा हो सकती है, यह तो सिर्फ लडाई बन्द करने की सुलह है।

सोवियत रूस और पूंजीवादी शक्तियो के बीच तकरार का बार-बार उठनेवाला एक कारण यह था कि रूस ने अपने विदेशी कर्ज़ों को रद्द कर दिया। अब यह मुद्दा मर चुका है, क्योकि आजकल के कठिन समय मे करीब-करीब हर देश कर्ज़े चुकाने मे गफलत कर रहा है। मगर फिर भी यह मसला समय-समय पर उठ खडा होता है। ज्योही बोलशेविको के हाथो मे सत्ता आई, त्योही उन्होने ज़ारशाही के समय मे दूसरे देशो से लिये हुए कर्ज़ों को रद्द कर दिया। इस नीति का ऐलान १९०५ ई० की असफल क्रान्ति से पहले ही कर दिया गया था। सोवियत सघ ने अपनी इस नीति के मुताबिक चीन वगैरा पूर्वी देशो पर उसका जो कुछ बाकी था उसका दावा छोड दिया। इसके अलावा उन्होने हर्जानो मे भी कोई हिस्सा नही माँगा। १९२२ ई० मे मित्र-राष्ट्री सरकारो ने इन कर्ज़ों के बारे मे सोवियत सघ को एक खरीता भेजा। इसके जवाब मे सोवियत सघ ने उन्हे याद दिलाई कि बीते दिनो मे कितने पूंजीवादी राज्यो ने अपने कर्ज़ों और तमस्सुको को मानने से इन्कार कर दिया था, और विदेशियो की जायदादें ज़ब्त कर ली थी। उसने कहा "क्रान्तियो से पैदा होनेवाली हुकूमते और प्रणालियाँ गिरी हुई हुकूमतो के तमस्सुको का लिहाज करने के लिए बँधी नही है।" सोवियत सरकार ने मित्र-राष्ट्रो को खासतौर पर यह याद दिलाई कि उन्हीमे से एक राष्ट्र फ्रान्स ने अपनी महान् क्रान्ति के समय क्या किया था।

> "फ्रान्सीसी परिषद् ने, जिसका जायज़ उत्तराधिकारी होने का फ्रान्स दावा करता है, २२ दिसम्बर, १७९२ ई० को ऐलान कर दिया था कि 'जनता की प्रभुसत्ता अत्याचारियो की सन्धियो को मानने के लिए पाबन्द नही है'। इस ऐलान के मुताबिक क्रान्तिकारी फ्रान्स ने पिछली हुकूमतो की विदेशो के साथ की गई सन्धियो को ही नही फाड फेंका, बल्कि अपने राष्ट्रीय कर्ज़े को भी मानने से इन्कार कर दिया।"

कर्ज़ों को रद्द करने की इस वरियत के बावजूद, सोवियत सरकार दूसरी शक्तियो के साथ समझौता करने के लिए इतनी बेताब थी कि कर्ज़ों के सवाल पर उनके साथ चर्चा करने को पूरी तरह तैयार हो गई। मगर वह इस बात पर अड

गई कि यह चर्चा तभी हो सकती है जब विदेशी सरकारें बिना किसी शर्त के सोवियत संघ को तसलीम कर लें। सच तो यह है कि सोवियत ने इंग्लैण्ड, फ्रान्स और अमेरिका को क़र्ज़ चुकाने के बारे में कई भरोसे भी दिये, मगर पूंजीवादी शक्तियों की तरफ से रूस के साथ समझौता करने की कोई ज्यादा ख्वाहिश नही दिखाई गई।

अंग्रेज़ो के दावे के मुकाबले मे सोवियत रूस ने एक मजेदार जवाबी-दावा पेश किया था। रूस के ऊपर इंग्लैण्ड के सरकारी और युद्ध-कर्ज़ों, रेलवे के बाण्डो, और व्यवसायी पूंजियों के दावों की कुल रकम ८४,००,००,००० पौण्ड के लगभग थी। बोलशेविकों ने जवाबी-दावा करके इंग्लैण्ड से उस नुकसान का हर्जाना मांगा, जो रूसी घरेलू-युद्ध मे हुआ था, क्योकि इंग्लैण्ड और उसकी फौजो ने सोवियत के दुश्मनो को मदद दी थी। इस हर्जाने की कुल रकम ४,०६,७२,२६,०४० पौण्ड आंकी गई थी, और इसमे से इंग्लैण्ड के हिस्से में २,००,००,००,००० पौण्ड आते थे। इस तरह सोवियत का यह जवाबी-दावा इंग्लैण्ड के दावे से करीब ढाई गुना था।

बोलशेविकों का यह जवाबी-दावा बहुत कमजोर भी नही था। उन्होने आलाबामा नामक गश्ती-जहाज़ की मशहूर मिसाल दी। १८५०-६० ई० के अमेरिकी घरेलू युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड ने यह गश्ती-जहाज़ दक्षिणी राज्यो के लिए बनाया था। यह जहाज़ घरेलू-युद्ध शुरू होने के बाद लिवरपूल से रवाना हुआ था, और इसने उत्तरी राज्यो के जहाजो को और व्यापार को बहुत काफी नुक़सान पहुँचाया था। इसपर इंग्लैण्ड और अमेरिका के बीच युद्ध की नौबत आ गई थी। संयुक्त राज्य की सरकार ने दावा किया था कि युद्ध-काल मे इंग्लैण्ड को यह जहाज़ दक्षिणी राज्यो को सौंप देने का कोई हक नही था। और इस जहाज़ ने जो नुकसान किया था, उस सबके मुआवजे का संयुक्त राज्य ने दावा पेश कर दिया। यह मामला पंच-फैसले के सुपुर्द किया गया, और नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड को हर्जाने के तौर पर ३२,२९,१६६ पौण्ड अमेरिका को देने पडे।

रूसी घरेलू-युद्ध मे इंग्लैण्ड ने जो हिस्सा लिया था, वह उस गश्ती-जहाज़ के भेजे जाने से कही ज्यादा महत्व का और ज्यादा असरदार था, जिसके लिए उसे भारी मुआवजा देना पडा था। सोवियत ने सरकारी तौर पर बयान दिया है कि रूस मे विदेशी हस्तक्षेपों के युद्ध मे १३,५०,००० आदमियो की जानें गई थी।

रूस के पुराने कर्ज़ों के सवाल का अभी तक कुछ हिस्सा तय हुआ है, मगर इतना वक्त बीत जाने पर अब इसका कोई महत्व नही रह गया है। उधर हम देख रहे हैं कि इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और इटली-जैसे बडे-बडे पूंजीवादी और साम्राज्य-वादी देश करीब-करीब वही हरकतें कर रहे हैं, जिनकी वजह से रूस-
उन्हें इतना सदमा पहुँचा था। यह सही है कि वे अपने कर्ज़ों को

नही करते, और न पूंजीवादी प्रणाली की बुनियाद को नामजूर करते हैं। वे तो क़र्ज़ चुकाने मे सिर्फ गफलत कर जाते हैं, और रुपया नही देते।

दूसरे राष्ट्रो के साथ सोवियत की नीति जैसे भी हो वैसे सुलह करने की थी, क्योकि वह खोई हुई ताकत हासिल करने के लिए वक्त चाहता था, और उसका सारा ध्यान अपने लम्बे-चौडे देश को समाजवादी ढग पर बनाने के बडे काम में लगा हुआ था। दूसरे देशो मे समाजी क्रान्ति का नज़दीक मे कोई आसार नही दिखाई देता था, इसलिए 'विश्व-क्रान्ति' का विचार उस वक्त तो ठण्डा पड गया था। पूर्वी देशो की तरफ रूस ने दोस्ती व सहयोग की नीति अपनाई, हालांकि उनका शासन पूंजीवादी प्रणाली के मातहत था। रूस और तुर्की और ईरान और अफग़ानिस्तान की आपसी सन्धियो के जाल का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। बडी-बडी साम्राज्यवादी शक्तियो से इन सबको एक-सा डर था और एक-सी नफरत थी, और यही चीज़ें इन्हें जोडनेवाली कडी थी।

१९२१ ई० मे लेनिन ने जो नई आर्थिक नीति चलाई थी, उसका मतलब बिचले किसान-वर्ग को समाजीकरण के पक्ष मे ले आना था। मालदार किसानो को, जो 'कुलक' कहलाते हैं (कुरुक शब्द का अर्थ घूंसा है), बढावा नही दिया गया, क्योकि वे छोटे पैमाने पर पूंजीपति थे और समाजीकरण के सिलसिले को रोकने पर उतारू थे। लेनिन ने देहाती इलाको मे बिजली पहुँचाने की भी एक बहुत बडी योजना शुरू की, और बिजली पैदा करने की ज़बर्दस्त कलें लगाई गईं। इरादा यह था कि किसानो को हर किस्म की सहायता दी जाय, और देश के उद्योगीकरण का रास्ता तैयार किया जाय। इन सब बातो के अलावा इसकी मुराद यह थी कि किसान-वर्ग मे उद्योगो की ज़हनियत पैदा हो जाय और वे शहरी मज़दूरो या सर्वहारा-वर्ग के ज्यादा नज़दीक आ जायँ। किसान लोग, जिनके गाँवो मे बिजली का प्रकाश जगमगाने लगा और जिनकी खेती का बहुत सारा काम बिजली की शक्ति से होने लगा, अपने पुराने डरों को और अन्ध-विश्वासो को छोडने लगे और नये ढग से सोचने लगे। शहरो और गाँवो के हितो के बीच, यानी शहरियो और किसानो के हितो के बीच, सदा झगडा रहता है। शहर का मज़दूर देहात से सस्ता अन्न और कच्चा माल लेना चाहता है, और कारख़ानो मे जो सामान वह बनाता है, उसकी अच्छी कीमत चाहता है। उधर किसान भी शहर से सस्ते औज़ार और कारख़ानो का बना दूसरा सामान लेना चाहता है, और अपने पैदा किये हुए अन्न व कच्चे माल की अच्छी कीमत चाहता है। रूस मे चार वर्षों के जगबाज़ साम्यवाद के नतीजे से यह झगडा तेज़ होता जा रहा था। नई आर्थिक नीति ज्यादातर इसी वजह से, और तनाव को ढीला करने के इरादे से, जारी की गई और किसानो को निजी व्यापार करने की सहूलियतें दे दी गईं।

बिजलीकरण की अपनी योजना के बारे मे लेनिन को इतना जोश था कि उसने एक गुर बनाया, जो मशहूर हो गया। उसने कहा था कि "सोवियत मे बिजली मिला दी जाय तो जोड साम्यवाद के बराबर हो जाता है।" लेनिन की मौत के बाद भी बिजलीकरण बडी तेज़ी से होता रहा। किसान-वर्ग पर असर डालने का और खेती-बाडी के तरीको मे सुधार का एक और उपाय था जुताई व दूसरे कामो के लिए मशीनी हलो का इस्तेमाल जारी करना। ये मशीनी-हल अमेरिका की फोर्ड कम्पनी बनाकर भेजती थी। सोवियत ने रूस मे मोटरें बनाने का कारखाना खडा करने के लिए फ़ोर्ड-कम्पनी को बहुत बडा ठेका भी दिया। यह कारखाना हर साल एक लाख तक मोटर-गाडियाँ तैयार कर सकता था। इसका खास काम मशीनी हल बनाना था।

सोवियत की एक और कार्रवाई, जिसकी वजह से विदेशी स्वार्थों से उसकी टक्कर हुई, मिट्टी के तेल और पैट्रोल का उत्पादन और उसका विदेशो मे बेचा जाना था। काकेशस प्रदेश के अज़रबाइज़ान और जार्जिया के इलाके मे मिट्टी के तेल का भरपूर भण्डार है। शायद यह उसी बडे तेल-क्षेत्र का हिस्सा है, जो ईरान, मोसल और इराक तक फैला हुआ है। कैस्पियन सागर के तट पर बाकू दक्षिणी रूस का बडा तेलनगर है। सोवियत ने बडी-बडी तेल-कम्पनियो के मुकाबले मे सस्ते भाव पर अपना मिट्टी का तेल और पैट्रोल विदेशो मे बेचना शुरू कर दिया। अमेरिका की स्टैण्डर्ड आॅयल कम्पनी, ऐंग्लो-पर्शियन आॅयल कम्पनी, रॉयल डच शैल कम्पनी, वगैरा तेल-कम्पनियाँ बडी ज़बर्दस्त हैं, और ससार-भर मे मिट्टी के तेल का व्यापार इन्ही के हाथो मे है। सोवियत ने जब अपना तेल इनसे सस्ते भाव पर बेचा, तो इन्हे बहुत नुकसान हुआ और ये आग-बगूला हो गई। इन्होने रूसी तेल के खिलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया और इसे 'चुराया हुआ तेल' बतलाया, क्योकि रूस ने काकेशस मे तेल के कुएँ उनके पूजीपति मालिको से छीने थे। मगर कुछ दिन बाद इन कम्पनियो ने इस 'चुराये हुए तेल' के साथ भाव-ताव कर लिया।

इस पत्र मे और इससे पहले के पत्रो मे मैंने बार-बार 'सोवियत' या 'सोवियतो' का ज़िक्र किया है। कभी-कभी मैंने यह भी लिखा है कि 'रूस' ने यह किया या वह किया। इन शब्दो का इस्तेमाल मैंने ज़रा लापरवाही के साथ एक ही अर्थ मे किया है, और अब मैं तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि यह क्या चीज़ है। अलबत्ता यह तो तुम जानती ही हो कि सोवियत गणराज्य की घोषणा, नवम्बर, १९१७ ई० मे, पैट्रोग्राड मे, बोलशेविक क्रान्ति के बाद की गई थी। ज़ारशाही साम्राज्य कोई सघन राष्ट्रीय राज्य नही था। यूरोप और एशिया की कितनी ही छोटी-छोटी पराधीन राष्ट्रीय इकाइयो पर खास रूस का प्रभुत्व था। इन छोटी-छोटी राष्ट्रीय इकाइयो की सख्या करीब दो सौ थी, और ये बिलकुल अलग-

अलग रग-ढगवाली थी। ज़ार के राज्य मे इनके साथ अधीन-कौमो-जैसा बर्ताव किया जाता था, और इनकी भाषाओ और सस्कृतियो को भी थोडा-बहुत दबाया जाता था। मध्य-एशिया की पिछडी हुई कौमो की बेहतरी के लिए कुछ भी नही किया गया था। हालाँकि कोई खास इलाका नही था, जिसे यहूदी लोग अपना कह सकें, फिर भी इन्हे तमाम अल्प-सख्यक जातियो से ज्यादा सताया जाता था, और यहूदियो के 'प्रोग्रोम' या हत्याकाण्ड बुरी तरह बदनाम हो गये थे। इसका नतीजा यह हुआ कि इन सताई हुई कौमो के बहुत लोग रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन मे शामिल हो गये, हालाँकि उनकी खास दिलचस्पी राजनीतिक क्रान्ति मे थी, समाजी क्रान्ति मे नही। १९१७ ई० मे, फरवरी की क्रान्ति के बाद जो काम-चलाऊ सरकार बनी थी, उसने इन कौमो को बहुत-से आश्वासन दिये थे, पर असल मे कुछ भी नही किया। उधर लेनिन ने, बोलशेविक दल के शुरू के दिनो मे, क्रान्ति से बहुत समय पहले ही, इस बात पर ज़ोर दिया था कि हर छोटी कौम को आत्म-निर्णय का पूरा हक दिया जाय, यहाँतक कि अगर वे चाहें तो बिलकुल अलग और स्वाधीन भी हो जायँ। पुराने बोलशेविक कार्यक्रम का यह एक अग था। क्रान्ति के फौरन बाद ही बोलशेविको ने, जिनकी अब सरकार बन गई थी, आत्म-निर्णय के इस उसूल मे अपना पक्का विश्वास फिर ज़ाहिर कर दिया।

घरेलू-युद्ध के दौरान ज़ारशाही साम्राज्य टुकडे-टुकडे हो गया था, और सोवियत गणराज्य के कब्ज़े मे मास्को व लेनिनग्राद के आस-पास के छोटे-छोटे क्षेत्र थे। पश्चिमी शक्तियो के बढावा देने पर बाल्टिक सागर के तटवर्ती फिनलैण्ड, लैटविया, ऐस्टोनिया, लिथ्युआनिया वगैरा छोटी राष्ट्रीय इकाइयाँ स्वाधीन राज्य बन गईं। पोलैण्ड भी इसी तरह स्वाधीन राज्य बन गया। जब घरेलू-युद्ध मे रूसी सोवियत की पूरी जीत हो गई और विदेशी सेनाएँ हट गईं तो साइबेरिया और मध्य एशिया मे सोवियत हुकूमतें कायम हो गईं। इन हुकूमतो के मकसद एक-से थे, इसलिए इनमे गहरे दोस्ताना ताल्लुक हो जाना लाज़िमी था। १९२३ ई० मे इन सबने मिलकर सोवियत सघ बना लिया। इसका पूरा सरकारी नाम समाजवादी सोवियत गणराज्यो का सघ[1] रक्खा गया।

१९२३ ई० के बाद सघ के गणराज्यो की सख्या कुछ बदल गई है, क्योकि कुछ गणराज्यो के दो-दो टुकडे हो गये हैं। आजकल इस सघ मे सात गणराज्य हैं

(१) रूसी समाजवादी सघीय सोवियत गणराज्य (Russian Socialist Federative Soviet Republic

[1] Union of Socialist Soviet Republics—इसका छोटा रूप—U S. S R है।

(२) श्वेत रूसी समाजवादी सोवियत गणराज्य (White Russia S S R)
(३) यूक्रेनी स० सो० ग० (Ukrainian S S R)
(४) काकेशस-पार का समाजवादी सघीय सो० ग० (Trans-Caucasian Socialist Federative S R)
(५) तुर्कमेनिस्तान या तुर्कमान स० सो० ग० (Turkeman S. S R)
(६) उजबक स० सो० ग० (Uybek S S R)
(७) ताजिकिस्तान या ताजिक स० सो० ग० (Tadjikistan or Tadjik S S R)

मगोलिया का भी सोवियत सघ से थोडा-बहुत गठ-बन्धन है।

इस तरह सोवियत सघ कई गणराज्यो का सघ है। सघ मे शामिल होनेवाले गणराज्यो मे से कुछ गणराज्य खुद भी सघ है। मसलन, रूसी स० स० सो० ग० बारह खुद-मुख्तार गणराज्यो का सघ है, और काकेशस-पार का स० स० सो० गणराज्य इन तीन गणराज्यो का सघ है ' अजरबाइजान स० सो० ग०, जार्जिया स० सो० ग० और आर्मीनिया न० सो० ग०। आपस मे जुडे हुए और एक-दूसरे पर निर्भर, इन कई गणराज्यो के अलावा, इन गणराज्यो के भीतर भी कई-एक 'राष्ट्रीय' और 'स्वशासित' प्रदेश है। हर जगह स्वशासन का इतना हक जारी रखने का मकसद यह है कि हरेक छोटी कौम को अपनी भाषा व सस्कृति कायम रखने का, और ज्यादा-से-ज्यादा आजादी भोगने का, मौका दिया जाय। जहांतक हो सका, इस बात का यत्न किया गया है कि कोई भी राष्ट्रीय या नस्ली समुदाय किसी दूसरे पर अपना प्रभुत्व न जमा सके। अल्पसख्यको की समस्या का यह रूसी हल हमारे लिए दिलचस्पी की चीज है, क्योकि हमे खुद अल्पसख्यको की कठिन समस्या का सामना करना पड रहा है। मालूम होता है कि सोवियतो की कठिनाइयां हमारी कठिनाइयो से बहुत ज्यादा थी, क्योकि उन्हे अलग-अलग तरह की १८२ राष्ट्रीय इकाइयो के मामले को सुलझाना था। इस समस्या को उन्होने बडी कामयाबी के साथ हल कर लिया है। सोवियत-सघ तो इस आखिरी हद तक चला गया कि उसने हरेक अलग कौम को तसलीम कर लिया और उसे अपना काम और अपनी शिक्षा अपनी निजी भाषा मे चलाने के लिए बढावा दिया। यह सिर्फ अलग-अलग अल्पसख्यको की जुदागाना प्रवृत्तियो को खुश करने के लिए नही किया गया, बल्कि यह महसूस करके किया गया कि जनता की सच्ची शिक्षा और सास्कृतिक प्रगति देशी भाषाओ के इस्तेमाल से ही कारगर हो सकती हैं। इसके जो नतीजे निकले हैं, वे मार्के के हैं।

सघ की यकसानियत मे फर्क दाखिल करने के इस रवैय्ये के बावजूद, उसके

जुदा-जुदा हिस्से एक-दूसरे के इतने ज्यादा नज़दीक आते जा रहे हैं जितने ज़ारो की केन्द्रीय सरकार के अधीन रहकर कभी नही आये थे। वजह यह है कि सबके मकसद एक-से हैं और सब-के-सब मिलकर सबकी भलाई की कोशिश मे लगे हुए हैं। फर्ज़ी तौर पर हर गणराज्य को हक है कि जब चाहे तब सघ से अलग हो जाय। मगर ऐसी नौबत आने का कोई योग नही है, क्योकि पूंजीवादी जगत की जगबाज़ी का मुकाबला करने के लिए समाजवादी सोवियतो के सघ मे बडा फायदा है।

इस सघ का मुख्य गणराज्य लाज़िमी तौर पर रूसी गणराज्य है। यह लेनिन-ग्राद से लगाकर साइबेरिया के ठेठ पार तक फैला हुआ है। श्वेत रूसी स० सो० गणराज्य पोलैण्ड के बाजू मे है। यूक्रेन दक्षिण मे काले सागर के किनारे-किनारे चला गया है, यह रूस का अन्न-भण्डार है। काकेशस-पार का गणराज्य, जैसा कि इसके नाम से ज़ाहिर है, काकेशस पर्वतमाला के पार कैस्पियन सागर और काले सागर के बीच मे है। काकेशस-पार गणराज्यो मे ही आर्मीनिया का गणराज्य है, जो बहुत दिनो तक तुर्कों और आर्मीनियाइयो के डरावने हत्याकाण्डो का अखाडा रहा था। अब सोवियत गणराज्य बन जाने पर यह ठण्डा पडकर अमनपसन्द कार्रवाइयो मे लग गया मालूम होता है। कैस्पियन सागर के उसपार तुर्कमेनिस्तान, उज़्बेकिस्तान और ताजिकिस्तान के तीन मध्य-एशियाई गणराज्य हैं। उजबेकिस्तान मे बुखारा और समरकन्द के मशहूर शहर हैं। ताजिकिस्तान अफगानिस्तान की उत्तरी सरहद पर है और भारत का सबसे नज़दीकी सोवियत प्रदेश है।

मध्य-एशिया के साथ हमारा युगो का सम्पर्क होने के सबब से मध्य-एशिया के ये गणराज्य हमारे लिए खास दिलचस्पी की चीज़ हैं। पिछले कुछ वर्षों में इनमे जो निराली तरक्की हुई है, उसकी वजह से हमारा दिल इनकी तरफ और भी ज्यादा खिचता है। ज़ारो के राज्य मे ये देश बहुत पिछडे हुए और अन्ध-विश्वासी थे। शिक्षा का यहां नाम भी नही था और ज्यादातर स्त्रियां परदे मे रहती थी। आज ये देश बहुत बातो मे भारत से आगे बढ गये हैं।

: १८० :

रूस की पंच-वर्षीय योजना[1]

९ जुलाई, १९३३

लेनिन जबतक जिन्दा रहा तबतक रूस का सबसे बडा नेता माना जाता रहा। उसके आखिरी फैसले के आगे सब सिर झुकाते थे। जब कभी आपसी झगडे होते थे, उसका फैसला सबको मानना पडता था और साम्यवादी दल के आपस मे

[1] रूसी भाषा मे इसे पायातिलेतका (Piatiletka) कहते हैं।

लडनेवाले धडे फिर मिलकर एक हो जाते थे। पर उसकी मौत के बाद लाजिमी तौर पर गडबडी पैदा हो गई, क्योंकि अलग-अलग धडे और अलग-अलग साथी हुकूमत पर कब्जा करने के लिए आपस मे लडने लगे। बाहर की दुनिया के लिए, और कुछ हद तक रूस मे भी, लेनिन के बाद बोलशेविको मे त्रात्स्की ही सबसे बडा व्यक्ति था। अक्तूबर की क्रान्ति मे बडा अगुआ त्रात्स्की ही था, और त्रात्स्की ही वह व्यक्ति था, जिसने जबर्दस्त कठिनाइयो का मुकाबला करके उस लाल सेना का सगठन किया था, जिसने घरेलू-युद्ध मे और विदेशियो के दखल के खिलाफ़ शानदार जीत हासिल की थी। मगर फिर भी बोलशेविक दल मे त्रात्स्की नया आया था, और लेनिन को छोडकर सारे पुराने बोलशेविक न तो उसे चाहते थे, न उसपर भरोसा करते थे। इन पुराने बोलशेविको मे से स्तालिन साम्यवादी दल का प्रधान सचिव बन गया था, और इस हैसियत से रूस के सबसे जबर्दस्त और ताकतवर सगठन की बागडोर इसके हाथो मे थी। त्रात्स्की और स्तालिन के बीच भारी बैर था। ये एक-दूसरे से नफरत करते थे और दोनो की धज बिलकुल अलग-अलग थी। त्रात्स्की तेजस्वी लेखक और वक्ता था, और अपनेको जबर्दस्त सगठन करनेवाला साबित कर चुका था। इसका दिमाग बडा तेज और सूझ-बूझवाला था, इसे क्रान्ति की नई-नई कल्पनाएँ सूझा करती थी, और अपने शत्रुओ पर यह ऐसे वचनो की चोट करता था, जो उन्हें चाबुक और बिच्छू के डक की तरह तिलमिला देते थे। इसकी तुलना मे स्तालिन एक साधारण आदमी जँचता था —खामोश, बे-रौब और कुन्द-जहन। मगर यह भी बडा भारी सगठन करनेवाला था, और बडा बहादुर सिपाही था, और लोहे जैसे मजबूत इरादेवाला आदमी था। वास्तव मे यह 'लौह पुरुष' ही कहलाने लगा है। लोग त्रात्स्की के तो गुणो की तारीफ़ करते थे, पर उनके दिलो मे विश्वास भरनेवाला स्तालिन ही था। इसका जन्म जार्जिया के एक किसान-परिवार मे हुआ था, इसलिए यह खुद भी साधारण जनता मे से ही ऊपर उठा था। साम्यवादी दल मे इन दोनो बुलन्द हस्तियो के लिए गुंजायश नही थी।

स्तालिन और त्रात्स्की की टक्कर खानगी तो थी ही, पर असल मे इससे भी कुछ और ज्यादा थी। क्रान्ति को उभारकर लाने के बारे मे दोनो जुदा-जुदा नीतियो और उपायो के नुमाइन्दे थे। क्रान्ति से बहुत साल पहले त्रात्स्की ने 'सदा रहनेवाली क्रान्ति' का मत सोच निकाला था। इस मत के मुताबिक किसी अकेले देश के लिए पूरा समाजवाद क़ायम करना मुमकिन नही है, चाहे उस देश की स्थिति कितनी ही मुवाफ़िक क्यो न हो। असली समाजवाद तो सारी दुनिया मे क्रान्ति के बाद ही क़ायम हो सकता है, क्योंकि किसान-वर्ग का असरकारक समाजीकरण तभी हो सकता है। आर्थिक विकास मे पूंजीवाद के बाद समाजवाद ही अगली ऊँची सीढ़ी है। पूंजीवादी व्यवस्था ज्यो-ज्यो अन्तर्राष्ट्रीय होती जाती है, त्यो-त्यों टूटती जाती

है, जैसा कि आज हम ससार के बहुत-से भागो मे देख रहे हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे को सिर्फ समाजवाद ही अच्छी तरह सम्हाल सकता है, इसलिए समाजवाद टल नही सकता। मार्क्स का यही मत था। पर यदि समाजवाद को किसी एक ही देश मे चलाया जाय, यानी उसका रूप अन्तर्राष्ट्रीय न होकर राष्ट्रीय ही रहे, तो इसका अर्थ होगा नीचे की आर्थिक सीढी पर उतर आना। सब तरह की तरक्क़ी, जिसमे समाजी तरक्क़ी भी शामिल है, अन्तर्राष्ट्रीयता की बुनियाद पर ही हो सकती है, और इससे पीछे हटना न तो मुमकिन है, न माकूल। इसलिए, त्रात्स्की का कहना था कि आर्थिक लिहाज़ से किसी अलग-थलग देश मे समाजवाद क़ायम करना मुमकिन नही है, सोवियत-सघ जैसे बडे देश मे भी नहीं। क्योंकि सोवियत को भी कितनी ही बातो के लिए पश्चिमी यूरोप के उद्योगोवाले देशो पर निर्भर रहना पडता है। यह चीज़ ऐसी ही है जैसे शहरो और गाँवो या देहाती क्षेत्रो का आपसी सहयोग, उद्योगोवाले पश्चिमी देश तो मानो शहर हैं, और रूस ज्यादातर देहाती है। त्रात्स्की का मत था कि राजनीतिक लिहाज़ से भी कोई अलग समाजवादी देश पूँजीवादी हवा मे ज्यादा समय तक जिन्दा नही रह सकता। ये दोनो बातें आपस मे बिलकुल बे-मेल हैं, और हम देख चुके हैं कि इसमे कितनी ज्यादा सचाई है। या तो पूँजीवादी देश मिलकर समाजवादी देश को कुचल डालेंगे, या पूँजीवादी देशो मे समाजी क्रान्तियाँ हो जायँगी, और हर जगह समाजवाद क़ायम हो जायगा। हाँ, यह हो सकता है कि कुछ वर्षों तक दोनो एक डाँवाडोल सन्तुलन की हालत मे साथ-साथ चलते रहें।

मालूम होता है कि क्रान्ति के पहले और बाद मे भी सारे बोलशेविक नेताओ का बहुत हद तक यही विचार था। वे सारी दुनिया मे क्रान्ति का, या कम-से-कम कुछ यूरोपीय देशो मे क्रान्तियो का, बडी बे-सब्री से इन्तज़ार कर रहे थे। महीनो तक यूरोप के आकाश मे बादल गरजते रहे, मगर यह तूफान बिना फटे ही टल गया। सब झगडे-टण्टों को छोडकर रूस अपनी नई आर्थिक नीति को चलाने मे लग गया और बहुत-कुछ रोज़मर्रा की मामूली ज़िन्दगी मे फँस गया। इसपर त्रात्स्की ने खतरे का बिगुल बजाया, और बतलाया कि अगर सारी दुनिया मे क्रान्ति की तरफ़ ले जानेवाली ज्यादा सरगर्म नीति नही अपनाई गई तो क्रान्ति खतरे मे पड जायगी। त्रात्स्की की इस चुनौती के सबब से त्रात्स्की और स्तालिन के बीच ज़बर्दस्त कुश्ती छिड गई, और इस मुठभेड ने साम्यवादी दल को कई वर्ष तक हिला डाला। इस मुठभेड का नतीजा यह निकला कि स्तालिन पूरी तरह जीत गया, और इसका खास कारण यह था कि दल की कल उसीके हाथो में थी। त्रात्स्की और उसके समर्थक क्रान्ति के दुश्मन करार दिए गये और दल से निकाल दिये गए। त्रात्स्की को पहले तो साइबेरिया भेजा गया, बाद मे उसे सोवियत संघ से ही देश-निकाला दे दिया गया।

स्तानिल और त्रात्स्की की मुठभेड इस वजह से शुरू हुई कि स्तालिन ने किसानो को समाजवाद के पक्ष मे झुकने के लिए खेती-बाडी के बारे मे सरगर्म नीति अपनाने का प्रस्ताव किया। यह, बिना इस बात का विचार किये कि और देशों मे क्या हो रहा है, रूस मे समाजवाद, कायम करने का प्रयत्न था। त्रात्स्की ने इसे नामजूर कर दिया और वह अपने 'सतत क्रान्ति' के मत पर अडा रहा। उसका कहना था कि इसके बिना किसान-वर्ग का पूरा समाजीकरण नही हो सकता। सच तो यह है कि स्तालिन ने त्रात्स्की के बहुत-से सुझाव अपना लिये, लेकिन उन्हें अपनाया अपने निजी ढग से, त्रात्स्की के ढग से नही। इसका जिक्र करते हुए त्रात्स्की ने आत्म-चरित मे लिखा है "राजनीति मे किसी कार्रवाई के बारे मे फैसला सिर्फ इस बात पर नही किया जाता कि वह कार्रवाई क्या है, बल्कि इसपर किया जाता है कि वह कार्रवाई कैसे की जाती है और उसे कौन करता है।"

इस तरह इन दो भीमो की ज़बर्दस्त लडाई का अन्त हुआ, और जिस रगमंच पर त्रात्स्की ने इतना बहादुराना व चमकदार पार्ट अदा किया था, उसीपर से उसे ढकेलकर नीचे गिरा दिया गया। जिस सोवियत सघ के खास-खास बनानेवालो मे उसकी गिनती थी, उसीको उसे छोडकर जाना पडा। त्रात्स्की के क्रियाशील व्यक्तित्व से लगभग सारे देश काँपते थे, इसलिए कोई उसे अपने यहाँ आने देने को तैयार नही था। इग्लैण्ड ने उसे अपने देश मे प्रवेश करने की इजाजत नही दी, और यूरोप के ज्यादातर दूसरे देशो ने भी ऐसा ही किया। अन्त मे उसे तुर्की के एक छोटे-से टापू प्रिन्किपो मे कुछ दिन के लिए बसेरा मिला, जो इस्तम्बूल के समुद्र-तट के पास है। यहाँ वह लिखने मे मशगूल हो गया, और उसने 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' लिखा, जो अपने ढग का निराला है। स्तालिन की नफरत का भूत उसके सिर पर अभी तक सवार था, और वह बडी तीखी भाषा मे उसकी आलोचना और उसपर हमले करता रहता था। ससार के कुछ भागो मे बाकायदा त्रात्स्की-वादी दल तैयार हो गया और यह सोवियत सरकार और कॉमिण्टर्न के सरकारी साम्यवाद के खिलाफ डटकर खडा हो गया।

त्रात्स्की से निबट लेने के बाद, स्तालिन खेती-बाडी की अपनी नई नीति पर अमल करने मे अनोखी हिम्मत के साथ जुट गया। उसे कठिन हालतो का सामना करना पडा। दिमाग़ी लोगो मे मुसीबत और बेकारी फैल रही थी और मज़दूरो की हडतालें हो रही थी। उसने मालदार किसानो यानी 'कुलको' पर भारी कर लगा दिये, और इस रुपये को देहाती सामूहिक खेती के फार्म खडे दिया। इस सामूहिक खेती का अर्थ था सहकारिता के आधार पर जिसमे बहुत-से किसान मिलकर काम करते थे और मुनाफा थे। कुलको और ज्यादा मालदार किसानो ने इस नीति को

और वे सोवियत सरकार से बहुत नाराज हो गए। उन्हें डर था कि उनके ढोर और खेती के औजार उनके गरीब पडौसियो के ढोरो और औजारो के साथ शामिल कर दिये जायँगे, और इस डर से उन्होंने सचमुच अपने जानवरो को मार डाला। जानवरो का ऐसा जबर्दस्त सत्यानाश हुआ कि अगले साल अन्न, गोश्त और दूध-मक्खन वगैरा की बेहद कमी पड़ गई।

स्तालिन के लिए यह ऐसी चोट थी, जिसकी उसे आशा नही थी। मगर वह जी कडा करके अपने कार्यक्रम पर अटल रहा। इतना ही नही, उसने तो इसे और भी बढ़ाया और उसे सारे सघ के लिए खेती-बाडी और उद्योग दोनो की जबर्दस्त योजना का रूप दे दिया। इस योजना का काम नमूने के बडे-बडे सहकारी खेतो और सामूहिक खेतो के जरिये किसानो को उद्योगो के नजदीक लाना था, और बडे-बडे कारखाने व पन-बिजली पैदा करने के यन्त्र डालना, और खानो की खुदाई करना वगैरा था। साथ-ही-साथ शिक्षा, विज्ञान, सहकारी क्रय-विक्रय, लाखो मजदूरो के लिए मकान बनाना और आमतौर पर उनके रहन-सहन के दर्जे को ऊंचा करना, वगैरा-वगैरा ढेरो दूसरे काम भी हाथ मे लिये जानेवाले थे। यही वह मशहूर 'पच-वर्षीय योजना' थी, जिसे रूसी लोग अपनी भाषा मे 'पायातिलेतृका' कहते थे। यह बडा जबर्दस्त कार्यक्रम था, और इतने बढे-चढे मनसूबो से भरा था कि किसी मालदार और प्रगतिशील देश के लिए भी एक पीढी मे इसे पूरा करना कठिन था। पिछडे हुए और मुफलिस रूस का तो इसमे हाथ डालना ही हद दर्जे की बेवकूफी मालूम होती थी।

यह पच-वर्षीय योजना खूब सावधानी से विचार और जाँच करने के बाद रची गई थी। वैज्ञानिको व इजीनियरो ने सारे देश की पडताल की थी, और कार्यक्रम के एक अग का दूसरे अग से मेल मिलाने की समस्या पर बहुत-से विशेषज्ञो ने आपस मे चर्चाएँ की थी। क्योकि असली कठिनाई तो सही मेल मिलाने की थी। कोई बडा कारखाना डालना बेसूद था, अगर उसके लिए कच्चा माल मुहैया नही हो सकता था। और अगर कच्चा माल सुलभ भी हुआ तो उसे कारखाने तक पहुँचाने का सवाल था। इसलिए माल ढोने की समस्या को हल करने के लिए रेलमार्गो का बनाना जरूरी था। और रेलो के लिए कोयले की जरूरत थी, इसलिए कोयले की खानो की खुदाई जरूरी थी। फिर कारखानो को चलाने के लिए शक्ति चाहिए थी। यह शक्ति कारखानो मे पहुँचाने के लिए बडी-बडी नदियो पर बाँध बनाकर जल-शक्ति से बिजली पैदा की गई, और फिर इस बिजली को तारो के जरिये कारखानो और खेतो मे, और रोशनी के लिए शहरो और गाँवो मे, पहुँचाया गया। लेकिन फिर इन सब कामो के लिए इंजीनियरो, मिस्त्रियो, और सीखे हुए मजदूरो की जरूरत थी, और थोड़े-से समय मे बीसियो हजार सीखे हुए नर-नारी तैयार कर

देना कोई आसान बात नही है। मोटर से चलनेवाले मशीनी हल हजारों की संख्या मे फ़ार्मों पर भेजे जा सकते थे, पर उन्हें चलाता कौन ?

पच-वर्षीय योजना से जो समस्याएँ उठ खडी हुई थी, उनकी चकरानेवाली पेचीदगी का कुछ अन्दाजा बताने के लिए ये थोडे-से उदाहरण मैंने दिये हैं। अगर कही जरा-सी भी भूल हो जाती तो उसका असर बडी दूर तक पहुँचता, सारे कार्यक्रम की जजीर की अगर एक भी कडी कमजोर या पिछडी हुई होती तो सारे क्रम मे ही देर हो जाती या रुकावट पड जाती। मगर पूँजीवादी देशो के मुकाबले मे रूस को एक ~~बहुत~~ बडी भारी सहूलियत थी। पूँजीवाद मे ये सब काम व्यक्तियो की सूझ-बूझ पर और इत्तफाक पर छोड दिये जाते हैं, और होड की वजह से बहुत-सी मेहनत बेकार जाती है। जुदा-जुदा माल तैयार करनेवालो या जुदा-जुदा कामो मे लगे हुए मजदूरो के बीच कोई तालमेल नही होता। अगर सयोग से तालमेल होता भी है तो वह एक बडी मण्डी मे माल बेचनेवालो और खरीदनेवालो मे पैदा होनेवाला तालमेल होता है। मतलब यह है कि व्यापक पैमाने पर कोई योजना नही बनाई जाती। अलग-अलग कम्पनियाँ अपने आगे के कामो की शायद योजना बनाती हो, और बनाती भी हैं, मगर अपनी-अपनी योजना बनाने का यह काम इस नजरिये से होता है कि दूसरी कम्पनियो से बाजी मार ली जाय या उन्हें पछाड दिया जाय। राष्ट्रीय लिहाज से इसका नतीजा योजना बनाने के काम से बिलकुल उलटा होता है, इसका अर्थ यह होता है कि बहुतायत और कमी साथ-साथ बने रहते हैं। सोवियत सरकार के लिए यह सुविधा थी कि सारे सघ के तमाम उद्योगो और कामो का सचालन उसके हाथ मे था, इसलिए वह ऐसी तालमेलवाली योजना रच सकती थी और अमल मे लाने की कोशिश कर सकती थी, जिसमे हर काम को उचित जगह मिली हुई होती थी। इसमे कोई चीज फिजूल नही जाती, हिसाब लगाने या काम करने मे गलती होने से कुछ नुकसान भले ही हो जाय। और एक जगह से सचालन मे ये ग़लतियाँ भी इतनी जल्दी सुधारी जा सकती हैं, जितनी जल्दी दूसरी हालत मे नही सुधारी जा सकती।

पच-वर्षीय योजना का मकसद यह था, कि सोवियत सघ मे उद्योगवाद की ठोस नीव पड जाय। यह इरादा नहीं था कि हरेक की जरूरत का माल, जैसे कपडा वगैरा बनाने के लिए कुछ कारखाने डाल दिये जायँ। बाहर के देशो से मशीनें मँगाकर खडी करने से यह काम बडी आसानी से हो जाता, जैसा कि भारत में किया जाता है। रोजमर्रा के काम की चीजें पैदा करनेवाले ऐसे उद्योग 'हलके उद्योग' कहलाते हैं। ये हलके उद्योग जरूरी तौर पर लोहा और इस्पात और मशीनें बनाने के 'भारी उद्योगों' पर निर्भर करते हैं। ये भारी उद्योग हलके उद्योगो के लिए मशीनें और सरजाम और इजन वग़ैरा भी तैयार करते हैं। सोवियत सरकार ने

पंच-वर्षीय योजना मे आगे की सोचकर इन बुनियादी या भारी उद्योगो पर सारा ध्यान लगाने का फैसला किया। उसने सोचा कि इस तरह उद्योगवाद की जड मजबूती के साथ जम जायगी और बाद मे हलके उद्योग चालू करना आसान हो जायगा। भारी उद्योगो से यह भी होगा कि मशीनो और युद्ध-सामग्री के लिए रूस को बाहर के देशो पर इतना निर्भर नही रहना पडेगा।

इन हालतो मे भारी उद्योगो के पक्ष मे यही फैसला सही मालूम होता था, पर इसका अर्थ यह था कि जनता को बडी कठिन मेहनत करनी थी और जबर्दस्त तकलीफें उठानी थी। भारी उद्योग हलके उद्योगो से खर्चीले भी बहुत ज्यादा होते हैं, और इन दोनो मे बुनियादी फर्क यह होता है कि भारी उद्योगो से बहुत समय तक तो कोई आमदनी ही नही होती। कपडे का कारखाना खुलते ही कपडा तैयार करने लगता है, और इसे फौरन बेचा जा सकता है। रोज़मर्रा खपत की चीजो का उत्पादन करनेवाले दूसरे हलके उद्योगो का भी यही हाल होता है। पर लोहे और इस्पात का कारखाना इस्पात की रेल-पटरियाँ और रेल के इंजन तैयार तो कर देगा, मगर इनकी खपत या इनका उपयोग तबतक नही हो सकता जबतक कि रेलमार्ग न डाला जाय। इसमे समय लगता है, और तबतक बहुत-सा रुपया इस धन्धे मे फँसा रहता है, और देश की हालत तग हो जाती है।

इसलिए ज़बर्दस्त रफ्तार से भारी उद्योग खडे करने का अर्थ था बडी भारी क़ुर्बानी। इन सारे तामीरी कामो के लिए, बाहर के देशो से आनेवाली इन तमाम मशीनो के लिए कीमत देनी पडती थी, और वह भी सोने और नकदी के रूप मे। इसका क्या उपाय था? सोवियत सघ की जनता ने अपने पेट पर पट्टी बाँध ली और भूखा रहना मजूर किया और अपनेको ज़रूरी चीजो तक से महरूम रक्खा, ताकि बाहर के देशो को सामान की कीमत का रुपया भेजा जा सके। उन्होने अपने यहाँ की खाने-पीने की चीजें विदेशो को भेजी और इनकी जो कीमत मिली, उससे मशीनो के दाम चुकाये। जितनी भी चीजें विदेशो मे बिक सकती थी, वे सब उन्होंने भेजी, जैसे. गेहूँ, कंगनी, जौ, मक्का, तरकारियाँ, फल, अण्डे, मक्खन, गोश्त, मुर्गियाँ, बतखें, शहद, मछलियाँ, मछलियो का अचार, तेल, चीनी मिठाई की गोलियाँ चाकलेट, वगैरा। इन अच्छी-अच्छी चीजो को बाहर भेजने का मतलब यह था कि वे खुद इन चीजो के लिए तरसते रह जाते थे। रूस के निवासियो को मक्खन नही मिलता था, या बहुत ही कम मिलता था, क्योकि वह मशीनो के दाम चुकाने के लिए बाहर भेजा जाता था। यही हाल बहुत-सी दूसरी चीजो का भी था।

पच-वर्षीय योजना के भीतर जबर्दस्त कोशिशें १९२९ ई० मे शुरू हुई। क्रान्ति की भावना एक बार फिर फैल गई, एक आदर्श की पुकार ने जनता के दिलो को हिला डाला और उन्हें अपनी सारी शक्ति इस नई मशक्कत मे लगाने

को उकसाया। यह लडाई किसी बाहरी या अन्दरूनी दुश्मन से नही थी। यह लडाई थी रूस की पिछडी हुई हालत से, पूंजीवाद के बचे-खुचे रूपो से और रहन-सहन के नीचे दर्जो से। लोगो ने काफी उत्साह से इन और भी ज्यादा कुर्बानियो को बर्दाश्त किया, और वे तपस्वियो-जैसी कठोर जिन्दगी बिताने लगे। उन्होंने वर्तमान को उस भविष्य पर निछावर कर दिया, जो उन्हे अपनी तरफ बुलाता हुआ दिखाई दिया और जिसे बनाने का उन्हें गौरव और सौभाग्य मिला था।

गुज़रे ज़मानो मे राष्ट्रो ने अपनी सारी शक्ति समेटकर किसी एक ही बडे काम को पूरा करने मे लगा दी है, पर यह हुआ युद्ध के ही समयो मे। महायुद्ध के दौरान जर्मनी और इंग्लैण्ड और फ्रान्स के लिए जिन्दगी का एक ही हेतु था. किसी तरह युद्ध जीतना। इस हेतु के आगे बाकी सब बातें हेच थी। मगर सोवियत रूस ने इतिहास मे यह सबसे पहली मिसाल पेश की कि राष्ट्र की सारी शक्ति को समेटकर, विनाश मे नही, बल्कि तामीर की ओर एक पिछडे हुए देश को समाजवाद के ही ढांचे मे उद्योगो के मामले मे ऊँचा उठाने की अमन-पसन्द कोशिश मे लगा दिया। पर जनता को, और खासकर ऊपर के और मध्यमवर्गी किसानो को, इसकी बडी भारी क़ीमत चुकानी पडी, और अक्सर ऐसा लगता था कि ऊँचे मनसूबोवाली यह सारी योजना ढह जायगी और शायद अपने साथ सोवियत सरकार को भी ले बैठेगी। इसपर मजबूती से जमे रहने के लिए ज़बर्दस्त हिम्मत की ज़रूरत थी। बहुत-से बोलशेविको का खयाल था कि खेती-बाडी के कार्यक्रम से लोगो पर जो ज़ोर और तकलीफें पड रही थी, वे बर्दाश्त से बाहर थी। इसलिए उन्हें थोडी देर आराम देना चाहिए। पर स्तालिन ने कभी यह नही सोचा। वह तो जी कडा करके और धीरज के साथ डटा रहा। वह बातूनी नही था· सार्वजनिक सभाओ मे भाषण देने की उसकी आदत नही थी। ऐसा लगता था मानो वह किसी अटल नियति की ऐसी लौह मूर्त्ति हो, जो अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ रही हो। और उसके साहस व पक्के इरादे का कुछ हिस्सा साम्यवादी दल के सदस्यो मे और रूस के दूसरे कार्यकर्त्ताओ मे भी फैल गया।

पंच-वर्षीय योजना के पक्ष मे लगातार प्रचार के ज़रिये जनता का जोश ठण्डा नही पडने दिया गया और लोगो को हरदम नया कदम बढाने के लिए हांका गया। पन-बिजली पैदा करनेवाले कारखानो, बांधो, पुलो, फैक्टरियो, और सामुदायिक फार्मों को तैयार करने मे आम लोगो ने बडी दिलचस्पी से काम किया। इजीनियरी का काम सबसे ज्यादा लोकप्रिय धन्धा बन गया, और अखबारो मे इजीनियरो के बडे-बडे कारनामो के तकनीकी ब्यौरे भरे रहते थे। रेगिस्तान और घास के मैदान आबाद हो गये, और हर उद्योग के गिर्द नये-नये न।
नई-नई सडकें, नई-नई नहरें, नई-नई रेलें, जिनमे ५५

थी, बनाई गई, और हवाई सेवाओ का विकास हुआ। रासायनिक उद्योग, जगी उद्योग और औज़ार उद्योग कायम किये गए, और सोवियत सघ मशीनी हल, मोटर गाडियाँ, रेल के शक्तिशाली इजन, मोटर इजन, टरबाइनें और हवाई-जहाज़ तैयार करने लगा। लम्बे-चौडे क्षेत्रो मे बिजली के तारो का जाल फैल गया, और रेडियो तो सबके साधारण उपयोग की चीज हो गया। बेरोजगारी बिलकुल गायब हो गई, क्योंकि तामीर का व दूसरी तरह का इतना काम चल रहा था कि जितने भी मज़दूर मिल सकते थे, वे सब काम मे लगा दिये गए। यहाँतक कि कई इजीनियर बाहर के देशो से आये और उन्हें खुशी-खुशी रख लिया गया। याद रखने की बात यह है कि यह वह ज़माना था जबकि सारे पश्चिमी यूरोप और अमेरिका मे मन्दी फैल रही थी और वहाँ बेरोज़गारी की सख्या बहुत ज्यादा बढ गई थी।

पच-वर्षीय योजना का काम आसानी के साथ नही चला। अक्सर दिक्कतें पैदा हो जाती थी, तालमेल मे कमी हो जाती थी, काम उलटे हो जाते थे, और मेहनत बेकार चली जाती थी। पर इनसब बातो के बावजूद काम की रफ्तार बढ़ती गई और हमेशा और भी ज्यादा की पुकार मचती रही। और तब यह नारा उठाया गया "पच-वर्षीय योजना चार वर्षों मे पूरी होनी चाहिए", मानो इस अद्भुत कार्यक्रम के लिए पाँच साल का समय भी बहुत ज्यादा था! यह योजना ज़ाहिरदारी मे ३१ दिसम्बर, १९३२ ई० को, यानी चार साल बाद ही पूरी हो गई। और फिर १ जनवरी, १९३३ ई० से फौरन ही नई पच-वर्षीय योजना चालू कर दी गई।

इस पच-वर्षीय योजना के बारे मे लोग अक्सर बहस किया करते हैं, कुछ तो कहते है कि इसे ज़बर्दस्त सफलता मिली और कुछ कहते हैं कि यह बिलकुल असफल रही। उसमे कहाँ-कहाँ कसर रही, यह बतला देना काफी आसान है, क्योंकि इससे जो उम्मीदे बाँधी गई थी, वे बहुत बातो मे पूरी नही हुई। रूस मे आज कई बातो मे बडी भारी कमी-बेशी है, और सबसे बडी कमी सीखे हुए और कुशल कर्मचारियो की है। कारखाने तो बहुत ज्यादा हैं, पर उन्हें चलानेवाले क़ाबिल इंजीनियर कम हैं, मानो भोजनालय और पाकशालाएँ तो बहुत हैं, पर कुशल रसोइये कम हैं! इसमे शक नही कि ये कमी-बेशी जल्दी मिट जायगी, या और कुछ नही तो घट जायगी। पर एक चीज साफ है: पच-वर्षीय योजना ने रूस की काया बिलकुल पलट दी है। पहले वह सामन्ती देश था, अब वह एकदम प्रगतिशील औद्योगिक देश बन गया है। यहाँ सस्कृति की अद्भुत तरक्की हुई है, और यहाँ की समाज-सेवाएँ, यानी समाजी सेहत और दुर्घटना के बीमो की व्यवस्था, दुनिया-भर मे सबसे ज्यादा पूरी व आगे बढी हुई है। ज़रूरी चीजो की तक़लीफ और कमी के बावजूद बेकारी और भुखमरी की जो भयकर तलवार दूसरे देशो के मज़दूरो के

: १८१ :

सोवियत संघ की कठिनाइयाँ, सफलताएँ और असफलताएँ

११ जुलाई, १९३३

सोवियत रूस की पंच-वर्षीय योजना एक जबर्दस्त काम था। वास्तव में यह ऐसी क्रान्ति थी, जिसमें कई बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ सम्मिलित हो रही थीं। खासतौर पर इसमें खेती-बाड़ी की क्रान्ति शामिल थी, जिसमें पुराने ढंग के छोटे पैमाने पर खेती-बाड़ी के तरीकों की जगह बड़े पैमाने पर सामूहिक और मशीनी खेती-बाड़ी के तरीकों ने ले ली थी, और औद्योगिक क्रान्ति भी इसमें शामिल थी, जिससे रूस का उद्योगीकरण बड़ी तेजी से हो गया था। पर इस योजना का सबसे ज्यादा दिलचस्प पहलू इसके पीछे काम करनेवाली भावना थी, क्योंकि राजनीतिक व उद्योगों के लिहाज से यह कल्पना नई थी। यह भावना विज्ञान की भावना थी, यानी सोचे-समझे वैज्ञानिक तरीकों को समाज की रचना में इस्तेमाल करने का यत्न था। इससे पहले किसी एक आगे बढ़े हुए देश में भी ऐसा कोई प्रयोग नहीं हुआ था, और विज्ञान के तरीकों का इस्तेमाल और समाजी मामलों में यह प्रयोग सोवियत की योजनाओं का खास पहलू था। यही वजह है कि आज सारा संसार योजनाएँ बनाने की बात सोच रहा है, लेकिन जब पूँजीवादी युग की समाजी व्यवस्था का सारा आधार ही होड़बाजी पर और मिल्कियत में निहित हितों की हिफाजत पर हो, तब कोई भी कारगर योजना बनाना कठिन है।

लेकिन जैसा कि मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, इस पंच-वर्षीय योजना में बहुत मुसीबतें और कठिनाइयाँ और उखाड़-पछाड़ पैदा हो गईं। और जनता को इसकी भयंकर कीमत चुकानी पड़ी। ज्यादातर लोगों ने तो यह कीमत राजी से चुकाई, और अच्छे दिनों के आने की उम्मीद में कुछ वर्षों के लिए कुर्बानियाँ और मुसीबतें झेलना कबूल कर लिया, कुछ लोगों ने बेमर्जी से कीमत चुकाई और सिर्फ सोवियत सरकार की जबर्दस्ती की वजह से चुकाई। 'कुलकों' या ज्यादा मालदार किसानों

की गिनती उन लोगो मे थी, जिन्होंने सबसे ज्यादा नुकसान उठाया। अपनी दौलत और खास रौब-दाब की वजह से नई योजना मे इन लोगो का मेल नही बैठा। ये ऐसे पूँजीवादी तत्व थे, जो सामूहिक खेती के समाजवादी ढग पर विकास को रोकते थे। अक्सर वे इस सामूहीकरण का विरोध करते थे, कभी-कभी ये इन सामूहिक खेतियो मे उन्हें भीतर से कमज़ोर करने के इरादे से, या अपने लिए उनसे बेजा मुनाफे वसूल करने के इरादे से घुस जाते थे। इसलिए सोवियत सरकार ने इन्हें बुरी तरह दबोच दिया। सरकार ने उन बहुत-से मध्यम-वर्गी लोगो पर भी बडी सख्ती की, जिनपर उसे यह शक था कि वे उसके दुश्मनो की तरफ से भेदियो का या तोड-फोड का काम कर रहे हैं। इसी शुबहे में बहुत-से इजीनियरो को सज़ाएँ दी गईं और जेलो मे डाल दिया गया। मगर चूँकि हाथ मे ली हुई सैकडो बडी-बडी योजनाओ के लिए इजीनियरो की खास ज़रूरत थी, इसलिए इससे खुद योजना को ही धक्का पहुँचा।

करीब-करीब हर जगह बेडौलपन था। ढुलाई की व्यवस्था पिछडी हुई थी, इसलिए कारखानो की पैदावार और खेतो की उपज ढुलाई के साधनो की कमी के सबब से महीनो पडी रहती थी, जिसकी वजह से दूसरी जगहो के काम मे गडबडी पड जाती थी। मगर सबसे बडी कठिनाई तो काबिल विशेषज्ञो और इजीनियरो की कमी की थी।

पच-वर्षीय योजना के वर्षों के बीच, सारी दुनिया मे, या यो कहो कि पूँजीवादी दुनिया मे, इतनी ज़बर्दस्त मन्दी फैल रही थी, जितनी पहले कभी नही हुई। व्यापार डूब रहा था, कारखाने बन्द हो रहे थे, बेकारी खूब बढ रही थी। अन्न और कच्चे माल की कीमतो मे गिरावट से सारी दुनिया के खेतिहरो मे त्राहि-त्राहि मची हुई थी। सोवियत सघ मे तो खूब हलचल और रोज़गारी थी, पर इसके मुकाबले दूसरे देशो मे काम ठप्प हो रहा था और बेरोजगारी फैली हुई थी। ऐसा मालूम होता था कि सारी दुनिया की मन्दी का सोवियत सघ पर कोई असर नहीं पडा था, क्योकि उसकी अर्थ-व्यवस्था का आधार ही बिलकुल अलग तरह का था। मगर सोवियत सघ भी मन्दी के नतीजो से बच नही पाया, ये पिछले दरवाज़े से चुपचाप घुस आये और इनकी वजह से रूस की दिक्कतें बहुत ज्यादा बढ़ गईं। मैं बतला चुका हूँ कि सोवियत रूस बाहर के देशो से मशीनें खरीदता था और इनके दाम चुकाने के लिए वह अपने यहाँ पैदा होनेवाली खाने की चीज़ें विदेशों मे बेचता था। जब दुनिया के बाज़ार मे खाने की चीज़ो वगैरा के भाव गिरे तो सोवियत को निर्यात से कम आमदनी होने लगी। मगर उसे अपनी खरीदी हुई मशीनो के दाम चुकाने के लिए काफी सोना जमा करना ज़रूरी था, इसलिए वह खाने की चीज़ो का दिन-पर-दिन ज्यादा निर्यात करने लगा। इस तरह व्यापार

की ससार-व्यापी मन्दी और भावो के गिर जाने से रूस को बहुत नुकसान हुआ और उसके बहुत-से हिसाव उलट-पुलट हो गये और इसके नतीजे से देश मे बहुत-सी जरूरी चीजो की और भी ज्यादा कमी हो गई और तकलीफें बढ़ गईं।

एक तरफ तो सारे सोवियत सघ मे खाने की चीजो की लगातार कमी होती जा रही थी, दूसरी तरफ आवादी मे जबर्दस्त बढोतरी हो रही थी। तेजी से होनेवाली यह बढ़ोतरी, जो खेती की उपज की इतनी ही धीमी रफ्तार के मुकावले मे बहुत ज्यादा थी, सोवियत की सबसे वडी समस्या थी। क्रान्ति से पहले सोवियत सघ के मौजूदा प्रदेश की आवादी तेरह करोड थी। घरेलू-युद्ध मे अपार जन-हानि के वावजूद पिछले वर्षों मे आवादी की वढ़ोतरी ध्यान देने लायक है·

१९१७ ई० मे आवादी	१३,००,००,००० थी
१९२६ ई० मे ,,	१४,९०,००,००० थी
१९२९ ई० मे ,,	१५,४०,००,००० थी
१९३० ई० मे ,,	१५,८०,००,००० थी
१९३३ ई० मे ,,	१६,५०,००,००० थी
	(वसन्त के आँकडे)

इस तरह पन्द्रह से कुछ ही ऊपर वर्षों मे यहाँ की आवादी मे ३,५०,००,००० की वढ़ोतरी हुई है—यानी २६ फीसदी बढोतरी हुई है, और यह गैर-मामली वात है।

आवादी की यह वढ़ोतरी सारे सोवियत सघ मे तो हुई ही, पर शहरो मे खासतौर से ज्यादा हुई। पुराने शहर दिन-पर-दिन वढने लगे, और रेगिस्तानो और घास के मैदानो तक मे नये-नये उद्योगोवाले नगर पैदा हो गये। ढेर-के-ढेर किसान, पच-वर्षीय योजना के भीतर होनेवाली तामीर के वडे-वडे उद्योगो से खिचकर अपने गाँवो को छोडकर शहरो मे चले आये। १९१७ ई० मे एक लाख से ऊपर आवादी के ऐसे इकत्तीस शहर थे, पर १९३३ ई० मे इनकी सख्या पचास से ऊपर हो गई। पन्द्रह वर्षों के भीतर सोवियत ने उद्योगोवाले एक सौ नगर खडे कर लिये थे। १९१३ से १९३२ ई० तक मास्को की आवादी दुगुनी हो गई थी, यानी १६ लाख से ३२ लाख तक जा पहुँची थी, लेनिनग्राद की आवादी १० लाख वढ गई, और तीस लाख के आस-पास पहुँच गई, काकेशस-पार के वाकू शहर की आवादी भी करीव दुगुनी होकर ३,३४,००० से ६,६०,००० हो गई। कुल मिलाकर शहरी आवादी १९१३ ई० मे दो करोड से १९३२ ई० से साढ़े तीन करोड हो गई।

जव कोई किसान शहर मे जाकर मजदूर बन जाता है, तो वह अन्न पैदा करनेवाला नही रहता, जैसाकि वह अपने गाँव मे होता था। कारखाने के मजदूर

की हैसियत से वह मशीनो के सामान और औज़ार भले ही तैयार करता हो, पर जहांतक खाने-पीने की चीज़ो का ताल्लुक है, अब वह सिर्फ खरीदार रह जाता है। इसलिए गाँव से किसानो के इस भारी निकास का नतीजा यह हुआ कि अन्न पैदा करनेवाले वर्ग का रूप बदलकर खरीदनेवाला वर्ग हो गया। अन्न की समस्या को पेचीदा बनानेवाला यह भी एक हेतु था।

एक हेतु और भी था। देश के बढ़ते हुए उद्योगो के लिए कच्चे माल की ज़रूरत दिन-पर-दिन बढ़ रही थी। मसलन कपडे के कारखानो के लिए रूई की ज़रूरत थी। इसलिए बहुत-से इलाक़ो मे अन्न की फसलो के बजाय कपास और दूसरा कच्चा माल बोया जाने लगा। इससे अन्न की उपज और भी कम हो गई।

सोवियत सघ की आबादी मे ग़ैर-मामूली बढ़ोतरी ही खुशहाली का एक ग़ौर करने लायक चिह्न था। अमेरिका की तरह यह बढ़ोतरी बाहर से आकर बसनेवालो के कारण नही हुई थी। इससे ज़ाहिर होता है कि तकलीफ़ो और महरूमियो के होते हुए भी लोगो को भूखो मरने की नौबत नही आई थी। राशन की कडी व्यवस्था के ज़रिये लोगो के भोजन की निहायत ज़रूरी चीज़ें देने का इन्तज़ाम किया गया था। अनुभवी देखनेवालो का कहना है कि बहुत करके आबादी मे तेज़ी के साथ यह बढ़ोतरी जनता मे आर्थिक इतमीनान की भावना की वजह से हुई है। अब परिवार पर बच्चो का बोझ नही पडता, क्योकि राज्य की तरफ से उनके पालन-पोषण और शिक्षा का इन्तज़ाम हो जाता है। सफाई और इलाज की सुविधाओ मे बढ़ोतरी भी आबादी बढने का एक कारण है। इससे बच्चो के मरने की तादाद २७ फीसदी से घटकर १२ फीसदी रह गई है। मास्को मे, १९१३ ई० मे, मरनेवालो की तादाद आमतौर पर हज़ार मे तेईस से ऊपर थी, १९३१ ई० मे यह घटकर तेरह फी हज़ार हो गई।

१९३१ ई० में सघ के कुछ भागो मे सूखा पड जाने के कारण अन्न की दिक्क़तें और भी ज़्यादा बढ गई। १९३१ और १९३२ ई० मे दूर-पूर्व मे युद्ध के खतरे भी पैदा हो गये थे, इसलिए सोवियत ने इस डर से कि दूसरी पूंजीवादी शक्तियो से मिलकर जापान कही हमला न कर बैठे और इससे युद्ध न छिड जाय, ज़रूरत के वक्त के लिए सेना के वास्ते नाज व खाने-पीने की दूसरी चीज़ें जमा करना शुरू कर दिया। एक पुरानी रूसी कहावत है "डर से आँखें बडी हो जाती हैं।" यह बात कितनी सही है, चाहे तो आप इसे छोटे बच्चो पर लागू कीजिये, या जातियो और राष्ट्रो पर! चूंकि साम्यवाद और पूंजीवाद के बीच सच्ची सुलह कभी नही हो सकती और साम्राज्यवादी राष्ट्र साम्यवाद को दबाने पर बहुत आमादा हैं, और इस इरादे से चालबाज़ियाँ और साज़िशें करते रहते हैं, इसलिए बोलशेविको के दिलो मे हरदम घबराहट बनी रहती है, और ज़रा-सी भी उत्तेजना मिलते ही

वे आँखें फाडकर देखने लगते हैं। बहुत बार तो उनकी इस परेशानी का कारण भी होता है। खुद अपने ही घर मे उन्हें तोड-फोड की या कारखानो व दूसरे बडे धन्धों को तबाह करने की चौतरफा कोशिशो का मुकाबला करना पडता है।

उन्नीस सौ बत्तीस का साल सोवियत सघ के लिए बहुत नाजुक साल था। बहुत-से सामूहिक फार्मों मे तोड-फोड की और सामूहिक सम्पत्ति की चोरी की जो घटनाएँ हुईं, उनके खिलाफ़ सोवियत सरकार ने बडी सख्त कारंवाइयाँ की। मामूली तौर पर रूस मे मौत की सज़ा नही है, पर उलट-क्रान्ति के अपराधो के लिए इसे जारी कर दिया गया। सोवियत सरकार ने हुक्म जारी कर दिया कि सामूहिक सम्पत्ति की चोरी उलट-क्रान्ति के बराबर है, इसलिए इसकी सज़ा मौत है। क्योकि स्तालिन कहता है . "अगर पूंजीवादियो ने निजी सम्पत्ति को पवित्र और महफ़ूज़ करार दिया है, और इस तरह अपने ही ज़माने मे पूंजीवादी व्यवस्था को मज़बूत बनाने मे सफलता हासिल कर ली है, तो हम साम्यवादियो को तो और भी ज्यादा चाहिए कि सार्वजनिक सम्पत्ति को पवित्र और महफ़ूज़ क़रार दें, ताकि इस तरह अर्थ-व्यवस्था के नये समाजवादी रूपो को मज़बूत बना दें।"

सोवियत सरकार ने लोगो की परेशानी दूर करने के लिए और तरीको से भी कारंवाइयाँ की। इनमे सबसे महत्व की यह थी कि सामूहिक व निजी फार्मों को अपनी फालतू उपज सीधी शहरो की मण्डियो मे बेचने की इजाज़त दे दी गई। यह चीज़ हमे कुछ हद तक उस नई आर्थिक योजना की याद दिलाती है, जो १९२१ ई० मे लडाकू साम्यवाद के जमाने के बाद शुरू हुई थी, पर उस वक्त के और आज के सोवियत सघ मे बहुत फर्क है। आज वह समाजवाद के राजमार्ग पर बहुत आगे बढ चुका है, उसका उद्योगीकरण हो गया है और उसकी खेती बहुत-कुछ सामूहिक बना दी गई है।

१९२९ और १९३३ ई० के बीच मे दो लाख सामूहिक फार्मों का सगठन किया गया, और क़रीब पांच हज़ार सरकारी फार्म भी थे। ये सरकारी फार्म दूसरों के लिए नमूनो की तरह हैं, और इनमे से कुछ तो बहुत ही बडे-बडे हैं। इसी काल मे १,२०,००० मशीनी-हल चालू किये गए, और करीब दो-तिहाई क़िसान इन सामूहिक खेतो के सदस्य बन गये।

सरकारी सगठन की हलचल एक और ऐसी हलचल है, जिसमे अद्‌भुत तरक्की हुई है। उपभोक्ताओ की सहकारी समिति के सदस्यो की सख्या १९२८ ई० मे २,६५,००,००० थी, १९३२ ई० मे यह सख्या ७,५०,००,००० हो गई। इस समिति के पास थोक व फुटकर बिक्री-भण्डारो का सिलसिला सघ के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, और कोने-कोने मे, फला हुआ है।

१९३३ ई० की पहली जनवरी को दूसरी पंच-वर्षीय योजना शुरू हुई। इसका मकसद हलके उद्योग क़ायम करना है, जिनसे जनता के रहन-सहन का दर्जा बहुत जल्दी ऊँचा हो जायगा। यह भी आशा है कि पहली पंच-वर्षीय योजना की सख्त मेहनत और संकट के बाद इससे लोगों को ज्यादा आराम और रहन-सहन की बेहतर हालत के रूप में कुछ इनाम दिया जा सकेगा। अब ज्यादा जरूरी मशीनें खरीदने के लिए बाहर के देशों में जाने की जरूरत नहीं रही, क्योंकि सोवियत के भारी उद्योग ये मशीनें तैयार करने लगे हैं। विदेशों में खरीदे हुए माल के दाम चुकाने के वास्ते भारी मिकदार में खाने की चीजें बाहर भेजने की ज़िल्लत से भी अब सोवियत को राहत मिल गई है।

१९३३ ई० में सामूहिक फार्मों के किसानों की एक कांग्रेस में भाषण देते हुए स्तालिन ने कहा था—

> "सामूहिक खेती में लगाये गए तमाम किसानों को आसूदा-हाल बनाना हमारा सबसे पहला काम है। हाँ, साथियो, आसूदा-हाल। .. कभी-कभी लोग कहते हैं जब समाजवादी व्यवस्था है, तो अब हम मेहनत क्यों करें? हमने पहले भी मेहनत की, अब भी मेहनत करते हैं। क्या अब वक्त नहीं आया है कि हम मेहनत करना छोड़ दें? ... हरगिज नहीं। समाजवाद की इमारत मेहनत-मजूरी पर बनती है। . समाजवाद की माँग है कि सब लोग ईमानदारी के साथ मेहनत करें, दूसरों के लिए नहीं, मालदारों के लिए नहीं, शोषकों के लिए नहीं, बल्कि खुद अपने लिए, समाज के लिए।"

काम तो हमेशा रहेगा, और रहना ही चाहिए, मगर हो सकता है कि आयन्दा वह उससे ज्यादा आसान और हलका हो जायगा, जितना कि योजना की शुरुआत के आजमायशी वर्षों में था। वास्तव में सोवियत संघ का कायदा ही यह है—"जो काम नहीं करेगा वह खायेगा भी नहीं"। पर बोलशेविकों ने काम के साथ एक नया मकसद जोड़ दिया है : समाजी बेहतरी के लिए काम करने का मकसद। गुजरे जमाने में आदर्शवादियों और इक्का-दुक्का व्यक्तियों ने इस मुराद से हरकत पाकर काम किया है, मगर ऐसी कोई पिछली मिसाल नहीं है, जिसमें सारे समाज ने इस मकसद को समझा हो और उसके मुताबिक काम किया हो। पूँजीवाद की बुनियाद ही मुकाबलेदारी और निजी मुनाफा रही है, और वह भी सदा दूसरों को नुकसान पहुँचाकर। सोवियत संघ में अब मुनाफे की नीयत की जगह समाजी नीयत लेती जा रही है और, एक अमेरिकी लेखक ने कहा कि रूस के मजदूर यह सीख रहे हैं कि "आपसी सहारे का उसूल मान लेने पर ही ग़रीबी और भय से छुटकारा मिलता है"। हर जगह जनता की छाती पर सवार रहनेवाले ग़रीबी व असुरक्षा

के इस जबर्दस्त भय को मिटाना बड़ी भारी कामयाबी है। कहते हैं, इस इतमीनान के सबब से सोवियत संघ में दिमागी रोगों का अन्त हो गया है।

इस, इन कठिन मेहनत के वर्षों में सोवियत संघ में हर जगह और हर बात में उन्नति हुई है। यह उन्नति दुखदाई और बेडौल तो है, पर शहरों और उद्योगों का, बड़े-बड़े सामूहिक फार्मों और बहुत बड़ी-बड़ी सहकारी समितियों का, व्यापार और आबादी का, और संस्कृति और विज्ञान और विद्या का भी, विस्तार तो हुआ ही है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इन वर्षों के भीतर सोवियत-संघ में बाल्टिक सागर से लगाकर प्रशान्त महासागर और पामीर और मध्य एशिया के हिन्दू-कुश पर्वतों तक निवास करनेवाली कितनी ही जुदा-जुदा कौमों में मेल-मिलाप व एकता पैदा होती दिखाई देती है।

मुझे लोभ होता है कि सोवियत रूस में शिक्षा और विज्ञान और संस्कृति की चौमुखी तरक्की के बारे में लिखूं, पर मुझे अपने ऊपर लगाम लगानी पड़ेगी। मैं कुछेक इधर-उधर के ऐसे तथ्यों का ज़िक्र करूँगा, जो शायद तुम्हें अच्छे लगें। कई अनुभवी जानकारों ने माना है कि रूस की शिक्षा-प्रणाली आज संसार-भर में सबसे बढ़िया और सबसे नई है। निरक्षरता को तो एक तरह से खतम ही कर दिया गया है, और मध्य-एशिया के उज़बेकिस्तान व तुर्कमेनिस्तान-जैसे पिछड़े हुए इलाकों में बहुत ही अद्भुत तरक्की हुई। मध्य-एशिया के एक प्रदेश में, १९१२ ई० में, १२६ स्कूल थे, जिनमें ६,२०० विद्यार्थी थे, वहां १९३२ ई० में ६,९७५ स्कूल हो गये, जिनमें सात लाख विद्यार्थी थे और इनमें एक-तिहाई से ज्यादा लड़कियां थीं। सब बच्चों के लिए लाज़िमी शिक्षा जारी कर दी गई है। इस निराली तरक्की के महत्व को समझने के लिए तुम्हें यह बात याद रखनी चाहिए कि अभी कुछ ही दिन पहले तक संसार के इस भाग में लड़कियां पर्दे में रक्खी जाती थीं, और उन्हें सबके सामने निकलने नहीं दिया जाता था। कहते हैं कि यह तेज़ तरक्की लातीनी वर्णमाला के इस्तेमाल की वजह से हुई है, क्योंकि जुदा-जुदा पुरानी वर्णमालाओं की बनिस्बत इस वर्णमाला से प्रारम्भिक शिक्षा बहुत आसान हो गई है। कमाल पाशा ने पुरानी अरबी वर्णमाला की जगह लातीनी लिपि या वर्णमाला चालू की थी, यह मैं तुम्हें बता चुका हूँ। यह सूझ, और दूसरी भाषाओं के माफिक बदली गई यह वर्णमाला, उसे सोवियत के तजुर्बे से हासिल हुई थी। १९२४ ई० में काकेशिया के गणराज्य ने अरबी लिपि को छोड़कर लातीनी लिपि अपना ली। निरक्षरता दूर करने में इससे बहुत सफलता मिली और सोवियत संघ की दूसरी छोटी-छोटी कौमों में से बहुतों ने लातीनी लिपि अपना ली। इनमें चीनी, मंगोल, तुर्क, तातारी, बूरियत, बश्कीर, ताजिक, व बहुत-सी दूसरी कौमें शामिल हैं। भाषाएँ तो मुकामी ही रक्खी गईं, जो सदा से काम में आती थीं, सिर्फ़ लिपि बदल दी गई।

यह जानकर तुम्हें दिलचस्पी होगी कि सोवियत सघ की तमाम पाठशालाओ के दो-तिहाई से ज्यादा बच्चो को पाठशालाओ मे ही दोपहर को गर्म खाना खिलाया जाता है। कहना न होगा कि यह खाना मुफ्त दिया जाता है, और शिक्षा भी बिलकुल मुफ्त है। मजदूरो के राज्य मे तो ऐसा होना ही चाहिए।

साक्षरो की तादाद बढने से और शिक्षा मे तेजी से पढनेवालो की सख्या बहुत ज्यादा बढ गई है, और रूस मे जितनी पुस्तकें और जितने अखबार छपते हैं उतने शायद किसी दूसरे देश मे नही छपते। ये पुस्तकें ज्यादातर गम्भीर और ठोस विषयो की होती हैं, दूसरे देशो की तरह के हलके उपन्यास नही। रूसी मजदूर को इजीनियरी और बिजली के बारे मे इतना कौतूहल है कि वह कहानी पुस्तको की बजाय इन विषयो की पुस्तकें पढना ज्यादा पसन्द करता है। लेकिन बच्चो के लिए परियो की कहानियो की भी बडी मजेदार पुस्तकें हैं, हालांकि मेरे खयाल से कट्टर बोलशेविक लोग परियो की कहानियां अच्छी नही समझते।

विज्ञान के क्षेत्र मे, यानी शुद्ध विज्ञान और उसके अनगिनती उपयोगो में, रूस सबसे ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुका है। विज्ञान की बहुत भारी शाखाओ की कितनी ही बडी-बडी सस्थाएँ और प्रयोगशालाएँ तैयार हो गई हैं। लेनिनग्राद मे वनस्पति उद्योग की एक बहुत बडी सस्था है, जिनके पास कम-से-कम २८,००० जुदा-जुदा किस्मो के गेहूँ हैं। यह सस्था हवाई-जहाजो के जरिये चावल बोने के तरीकों पर प्रयोग कर रही है।

जारो और अमीरो के पुराने महलो मे अब जनता के लिए अजायबघर और विश्राम-गृह और स्वास्थ्य-सदन बना दिये गए हैं। लेनिनग्राद के नजदीक एक छोटा-सा कस्बा है, जो 'जारको-सेलो' (जार का गांव) कहलाता था, क्योंकि उसमे दो शाही महल थे, और गर्मी के मौसम मे जार वहां रहा करता था। अब इसका नाम बदलकर 'देत्स्को-सेलो' (बच्चो का गाँव) रख दिया गया है, और मेरा खयाल है कि वे पुराने महल अब छोटे बच्चो और लडके-लडकियो के काम आते हैं। आज सोवियत देश मे बच्चो और लडके-लडकियो का सबसे ज्यादा ध्यान रक्खा जाता है। उन्हें अच्छी-से-अच्छी चीजें दी जाती हैं, भले ही दूसरे लोगो को इनकी कमी सहनी पडे। आज की पीढी उन्हीके लिए सारी मेहनत कर रही है, क्योंकि समाजवादी और वैज्ञानिक राज्य के वारिस वे ही बननेवाले हैं, बशर्ते कि ऐसा राज्य उनकी जिन्दगी मे कायम हो जाय। मास्को मे माताओ व बच्चो की हिफाजत रखनेवाली एक बहुत बडी केन्द्रीय सस्था है।

रूस मे स्त्रियो की जितनी आजादी है उतनी शायद किसी दूसरे देश मे नही है। साथ ही राज्य की ओर से उन्हें खास सरक्षण मिले हुए हैं। सारे धन्धे उनके लिए खुले हुए हैं, और स्त्री-इजीनियरो की सख्या तो काफ़ी बडी है। सोवियत

सरकार ने बोलशेविक दल की पुरानी सदस्या श्रीमती कोलनताइ को राजदूत के पद पर मुकर्रर किया। अभी तक किसी सरकार ने किसी स्त्री को राजदूत नही बनाया था। लेनिन की विधवा-पत्नी श्रीमती क्रुप्सकाया सोवियत शिक्षा-विभाग की एक शाखा की अध्यक्ष हैं।

हर दिन और हर घडी होनेवाले इन परिवर्तनो की वजह से सोवियत सघ कौतूहल पैदा करनेवाली भूमि वन गया है। पर उसका कोई हिस्सा इतना कौतूहल-भरा और दिलकश नही है, जितने कि साइवेरिया के घास के मैदान और मध्य-एशिया की प्राचीन घाटियाँ। ये दोनो इन्सानी तब्दीली और तरक्की की धारा से मुद्दतो से विलग थे, पर अव बडे वेग से छलांग मारकर आगे वढ रहे हैं। इन बहुत तेज़ तब्दीलियो का कुछ अन्दाज़ तुम्हे देने के लिए मैं ताज़िकिस्तान का कुछ हाल तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। यह सोवियत सघ के शायद सवसे पिछडे हुए प्रदेशो मे गिना जाता था।

ताज़िकिस्तान पामीर पर्वतमाला की घाटियो मे आवसस नदी के उत्तर की ओर, अफ़ग़ानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान की सरहद से लगा हुआ और भारत की सरहद के पास है। यह बुखारा के अमीरो के मातहत था, जो रूसी ज़ारो के माण्डलिक थे। १९२० ई० मे वुखारा मे मुकामी क्रान्ति हुई, अमीर को उखाड फेंका गया, और वुखारा जनपद सोवियत गणराज्य कायम हो गया। इसके वाद ही घरेलू-युद्ध हो गया, और तुर्की के पुराने लोकप्रिय नेता अनवर पाशा की मौत इन्ही उपद्रवो के दौरान हुई। वुखारा के गणराज्य का नाम उज़वेक समाजवादी सोवियत गणराज्य पड गया और यह सोवियत सघ के भीतर पूर्ण सत्तावारी गणराज्य बन गया। १९२५ ई० मे उज़वेक प्रदेश के भीतर स्वशासित ताज़िक गणराज्य कायम हुआ। १९२९ ई० मे ताज़िकिस्तान भी पूर्ण-सत्तावारी गणराज्य वन गया, और सोवियत सघ का सातवाँ राज्य हो गया।

ताज़िकिस्तान ने यह गौरव तो हासिल कर लिया, पर यह पिछडा हुआ इलाका था, जिसकी आवादी दस लाख से भी कम थी और जहाँ आवा-जाई के कुछ भी साधन नही थे, अगर रास्ते भी थे तो सिर्फ ऊँटो की पगडडियाँ। नई शासन-व्यवस्था मे सडको, सिंचाई और खेती-वाडी, उद्योगो, शिक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा के साधनो की तरक्क़ी के कदम फौरन उठाये गए। मोटरो के लिए सडकें वनाई गईं, और कपास की वुवाई शुरू की गई और सिंचाई का इन्तज़ाम होने से उसमे खूब सफलता मिली। १९३१ ई० के वीच तक कपास के ६० फी सदी से ज्यादा वागानो को सामूहिक वागान वना दिया गया, और नाज पैदा करनेवाले इलाके को भी ज्यादातर सामुदायिक फार्मों मे सगठित कर दिया गया। एक विजलीघर कायम किया गया, और आठ कपडा-मिलें और तीन तेल-मिलें भी डाली गईं। इस प्रदेश

को उज़वेकिस्तान के रास्ते सोवियत सघ की रेल-प्रणाली से जोडनेवाला रेलमार्ग बनाया गया, और मुख्य हवाई मार्गों से मिलान करनेवाली हवाई सेवा चालू की गई।

१९२१ ई० मे इस सारे इलाके मे सिर्फ़ एक दवाखाना था। १९३१ में इकसठ अस्पताल और सैंतीस दन्त-चिकित्सालय हो गये, जिनमें २,१२५ पलग थे और बीस डॉक्टर थे। शिक्षा की प्रगति का कुछ अनुमान नीचे लिखे आंकडो से हो सकता है:

१९२५ ई० मे : सिर्फ़ छँ आधुनिक स्कूल।

१९२६ ई० के अन्त मे : ११३ स्कूल और २,३०० विद्यार्थी।

१९२९ ई० मे . ५०० स्कूल।

१९३१ ई० मे : २,००० से ऊपर शिक्षण-सस्थाए, जिनमे विद्यार्थियो की सख्या १,२०,००० से ऊपर।

कहना न होगा कि शिक्षा पर खर्च की जानेवाली रकम भी एकदम बढ़ गई है। १९२९-३० ई० मे स्कूलो का बजट ८०,००,००० रूबल था (बरावर के भाव से एक रूवल करीब दो शिलिंग का होता है, पर असली कीमत घटती-बढती रहती है), १९३०-३१ का बजट २,८०,००,००० रूवल था। मामूली स्कूलो के अलावा, बच्चो के खेल-स्कूल, ट्रेनिंग स्कूल, पुस्तकालय, और वाचनालय भी खोले गये। जनता मे ज्ञान प्राप्त करने की जबर्दस्त प्यास थी।

इन हालतो मे स्त्रियो का पर्दे मे वना रहना मुमकिन नही था, और पर्दा बडी तेजी से हटता जा रहा था।

यह सब अनहोनी-सी बात लगती है। यह जानकारी और ये आंकडे मैंने अमेरिका के एक अनुभवी दर्शक की रिपोर्ट से लिये हैं, जिसने १९३२ ई० के शुरू में ताजिकिस्तान की यात्रा की थी। तवसे अबतक शायद वहाँ और भी बहुत-से परिवर्तन हो गये हैं।

मालूम होता है कि सोवियत सघ ने शिक्षा वग़ैरा के लिए नये ताज़िक गण-राज्य को पैसे की मदद दी, क्योंकि पिछडे हुए प्रदेशो को खीच कर आगे लाना सोवियत की नीति है। लेकिन खयाल किया जाता है कि इस देश मे खनिजो का जबर्दस्त भण्डार है। सोना, मिट्टी के तेल और कोयले की खानें तो निकल आई हैं, और लोगो का तो यहाँ तक विश्वास है कि सोने का भण्डार बहुत बडा है। पुराने ज़माने मे, चगेज़खाँ के ज़माने तक इन खानो की खुदाई होती रही, पर मालूम होता है कि तब से इनका काम बन्द पडा है।

१९३१ ई० मे ताजिकिस्तान मे उलट-क्रान्ति वालो ने बलवा कर दिया, और मालदार ज़मीदार वर्ग के जो बहुत-से लोग देश छोड कर अफ़ग़ानिस्तान भाग

गये थे, उन्होने हमला बोल दिया। मगर यह बलवा फिसफिसाकर रह गया, क्योकि किसानो ने इसका साथ नही दिया।

यह पत्र लम्बा और खिचडी बनता जा रहा है। मगर मैं अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे सोवियत सघ की हलचलो का कुछ और हाल तुम्हें बतलाना चाहता हूँ। तुम्हें मालूम होगा कि सोवियत ने उस केलॉग-करार पर दस्तखत किये थे, जो युद्ध को 'ग़ैर-कानूनी' बना देनेवाला माना जाता था। इसके अलावा सोवियत और उसके पड़ौसी देशो के बीच १९२९ ई० मे लित्वनॉफ-करार भी हुआ था। अमन रखने की इच्छा से रूस अलग-अलग देशो के साथ 'हमला-बन्दी' करार करता जा रहा था। सोवियत के पडौसियो मे अकेला जापान ही ऐसा देश था, जो इस किस्म के करारनामे के लिए राजी नही हुआ। नवम्बर, १९३२ ई० मे रूस और फ्रान्स ने आपस मे हमला-बन्दी-क़रार कर लिया। ससार की राजनीति मे यह एक महत्व की घटना थी, क्योकि इससे रूस पश्चिमी यूरोप की राजनीति के दायरे मे पहुँच गया।

चीन ने एक लम्बी मुद्दत तक तो रूस के साथ अन्दरूनी अदावत रक्खी और राजनयिक सम्बन्ध कायम नही किये, पर जब मचूरिया मे जापान उसके सिर पर चढ आया तो उसने सोवियत सरकार को फिर से मान लिया। जापान के साथ रूस का बाकायदा राजनयिक सम्पर्क तो है, पर इनके आपसी ताल्लुक बराबर बिगडे हुए रहे हैं। एशिया की मुख्य भूमि मे जापान के बुलन्द हौसलों के रास्ते मे रूस एक रुकावट बनकर खडा है, और सरहदी टक्करें अक्सर होती रहती हैं। जापानी सरकार सोवियत को बराबर गुस्सा दिलाती रहती है, और कई बार तो दोनो मे युद्ध छिडने के आसार भी हो गये। पर रूस ने युद्ध छेडने के बजाय चुपचाप अपमान सह लेना बेहतर समझा।

आंग्ल-रूसी रगडा-झगडा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक स्थायी पहलू रहा है। अप्रैल, १९३३ ई० मे अग्रेज़ इजीनियरो पर मास्को मे जो मुकदमा चलाया गया, उसकी वजह से दोनो तरफ बदला लेने की और बदले का बदला लेने की कार्रवाइयाँ हुईं, मगर अन्त मे वह तूफान टल गया, और बाक़ायदा आपसी सम्बन्ध फिर कायम हो गये। लेकिन इग्लैण्ड की अनुदार-दली सरकार सोवियत से नाराज़ है और दोनो के बीच खिचाव हमेशा बना रहता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे रूस की तरफ ज्यादा दोस्ताना भावनाएँ ज़ोर पकड रही हैं, और राष्ट्रपति रूज़वेल्ट बाकायदा सम्बन्ध कायम कर रहा है। अमेरिका और रूस के स्वार्थ दुनिया-भर मे कही भी आपस मे नही टकराते।

जर्मनी मे नात्सी सरकार के उदय से रूस के लिए नया और कट्टर हमलावर दुश्मन पैदा हो गया है। हालाँकि रूस को यह सीधा कोई नुक़सान नही पहुँचा

सकता, पर आयन्दा के लिए वडा भारी खतरा है। यूरोप मे फासीवाद की तर झुकाव जोर पकड रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे रूस का वर्ताव बहुत-कुछ अपने हाल मे मस्त व्यक्ति जैसा रहा है। वह सब तरह के झगडो से बचता रहा है, और जैसे भी हो वैसे अम रखने की कोशिश कर रहा है। यह क्रान्तिकारी नीति से उलटी वात है, क्योंकि उसका इरादा तो दूसरे देशो मे क्रान्तियाँ भडकाना है। यह अकेले एक देश मे समाजवाद कायम करने की और बाहर की सारी उलझनो से वचने की राष्ट्रीय नीति है। साम्राज्यवादी और पूँजीवादी शक्तियो के साथ समझौता, इसका लाज़िमी नतीजा है। पर सोवियत अर्थ-व्यवस्था का असली समाजी आधार क़ायम है और इसकी सफलता ही समाजवाद के पक्ष मे सबसे ज़ोरदार दलील है।

१९३३ ई० की जुलाई मे रूस की यही हालत थी। उस समय लन्दन मे विश्व आर्थिक सम्मेलन हो रहा था। इस अवसर पर दूसरे देशो की हाज़िरी से लाभ उठा कर रूस ने अपने पडौसी अफगानिस्तान, ऐस्टोनिया, लेटविया, ईरान, पोलैण्ड रूमानिया, तुर्की और लिथ्यूआनिया के साथ हमला-बन्दी का करार कर लिया पर जापान पहले की तरह अब भी इसमे शामिल नही हुआ।

: १८२ :
विज्ञान आगे बढ़ता है

१३ जुलाई, १९३३

युद्ध के बाद के वर्षो के दौरान ससार-भर मे जो राजनीतिक घटनाएँ हुई, उनके बारे मे मैंने बहुत विस्तार के साथ लिखा है, और जो आर्थिक परिवर्तन हुए उनका थोडा-सा ज़िक्र किया है। इस पत्र मे मैं दूसरी बातो के बारे मे और ख़ासकर विज्ञान और उसके असर के बारे मे, लिखना चाहता हूँ।

लेकिन विज्ञान की चर्चा शुरू करने से पहले, मैं एक बार फिर तुम्हें उस बडे परिवर्तन की याद दिलाना चाहता हूँ, जो महायुद्ध के बाद से नारी-जाति की हैसियत मे आ गया है। कानूनी, समाजी और रिवाजी बन्धनो से स्त्री-जाति की यह नामधारी 'मुक्ति' उन्नीसवी सदी मे बडे-बडे उद्योगो के साथ शुरू हुई, क्योंकि इनमे स्त्री-मज़दूरो को काम दिया जाने लगा। शुरू मे तो इसकी चाल कुछ धीमी रही, पर फिर युद्ध की हालतो ने इस सिलसिले की गति खूब तेज़ कर दी, और युद्ध के बाद तो यह करीब-क़रीब पूरी ही हो गई। आज तो ताजिकिस्तान तक मे, जिसका हाल मैं पिछले पत्र मे लिख चुका हूँ, कुछ ही वर्ष पहले पर्दे के भीतर रहनेवाली नारियाँ डॉक्टरो, अध्यापको और इजीनियरो के काम कर रही हैं। तुम और तुम्हारे ज़माने की स्त्रियाँ तो शायद इसे बिना बहस की चीज़ मानती हैं। पर

यह सिर्फ एशिया मे ही नही बल्कि यूरोप मे भी एक बिलकुल नई चीज है। सौ वर्ष से कुछ कम हुए, १८४० ई० मे, लन्दन मे 'विश्व की गुलामी-विरोधी सभा'[1] का पहला अधिवेशन हुआ था। इसमे अमेरिका से कुछ स्त्रियां भी प्रतिनिधि होकर आई थी, जहां हब्शियो की गुलामी से बहुत लोगो के दिलो मे हलचल मची हुई थी। मगर इस सभा ने इन 'नारी-प्रतिनिधियो' को इस बिना पर अधिवेशन मे नहीं बैठने दिया कि किसी स्त्री का सार्वजनिक सभा मे भाग लेना नारी-जाति के लिए अनुचित और हेठी बात है।

अच्छा तो अब विज्ञान की बात पर आयें। सोवियत रूस की पच-वर्षीय योजना का बयान करते वक्त मैंने तुम्हें बतलाया था कि वह विज्ञान की भावना को समाजी मामलो मे लागू करनेवाली चीज थी। कुछ हद तक यह भावना पिछले करीब डेढ सौ वर्षों मे पश्चिमी सभ्यता के पीछे काम कर रही है। ज्यो-ज्यो इसका प्रभाव बढा है, त्यो-त्यो खुराफात और जादू-टोने और अन्ध-विश्वास के आधार पर टिके हुए विचार अलग हटने गये हैं, और विज्ञान की भावना से मेल नही खानेवाली रीतियो व तरीको का विरोध किया गया है। पर इसका यह अर्थ नही है कि खुराफातो और जादू-टोनो और अन्ध-विश्वासो के ऊपर विज्ञान की भावना को पूरी विजय हासिल हो गई है। यह चीज तो अभी बहुत दूर है। लेकिन इसमे सन्देह नही कि विज्ञान की भावना बहुत उन्नति कर गई है और उन्नीसवी सदी मे इसने धडल्ले के साथ बहुत-सी कामयाबियां हासिल की हैं।

उद्योगो मे और रोजाना जिन्दगी मे विज्ञान के उपयोगो से जो जबर्दस्त परिवर्तन उन्नीसवी सदी मे हुए, उनका हाल मैं लिख चुका हूँ। ससार और खासकर पश्चिमी यूरोप व उत्तरी अमेरिका तो बिलकुल बदल गये, इतने बदले जितने पिछले हजारो वर्षों मे भी नही बदले थे। उन्नीसवी सदी मे यूरोप की आबादी मे भारी बढोतरी तो एक बडा ही अचरजभरा तथ्य है। १८०० ई० मे समूचे यूरोप की कुल आबादी अठारह करोड थी। यह धीरे-धीरे कई युगो मे इस सख्या तक पहुँची थी। लेकिन फिर यह तीर की तरह दौडी, और १९१४ ई० मे ४६ करोड़ हो गई। इसी समय के भीतर ही करोडो यूरोपवासी दूसरे महाद्वीपो मे, खासकर अमेरिका मे, जाकर बस गये, और इनकी सख्या हम चार करोड के करीब आंक सकते हैं। इस तरह सौ वर्षों से कुछ ही ज्यादा समय मे यूरोप की आबादी अठारह करोड से बढकर पचास करोड हो गई। यह बढोतरी यूरोप के उद्योगोवाले देशो मे खास तौर पर सामने आई। अठारहवी सदी के शुरू मे इग्लैण्ड की आबादी सिर्फ पचास लाख थी, और यह देश यूरोप के सबसे गरीब देशो मे गिना जाता था। मगर

[1] Worlds Anti-slavery Convention.

यह दुनिया का सबसे मालदार देश बन गया और इसकी आबादी चार करोड़ हो गई।

विज्ञान की जानकारी ने यह मुमकिन कर दिया था कि प्रकृति के तौर-तरीके इन्सान के ज्यादा बस मे हो जायँ, या यो कहो कि वह उनके रहस्य को समझ जाय, और वह तरक्की व धन-दौलत इसीका नतीजा थी। जानकारी मे बडी भारी बढोतरी जरूर हुई, मगर यह न समझ लेना कि इससे अक्लमन्दी भी ज़रूरी तौर पर बढ गई है। आदमियो ने प्रकृति के बलो को वश मे करना और अपने उपयोग मे लाना तो शुरू कर दिया, पर यह बात उनकी समझ मे नही आई कि जिन्दगी का लक्ष्य क्या है या क्या होना चाहिए। शक्तिशाली मोटर गाडी एक उपयोगी और अच्छी चीज़ है, पर यह तो मालूम होना चाहिए कि उसमे बैठकर कहाँ जाना है। अगर उसका सचालन ठीक तरह न किया जाय तो मुमकिन है वह खड्ड मे जा गिरे। ब्रिटिश ऐसोसिएशन ऑफ़ साइन्स के अध्यक्ष ने कुछ दिन हुए कहा था : "इन्सान ने अपने-आपको तो बस मे करना सीखा ही नही, और प्रकृति को अपने बस मे कर लिया।" दुनिया के ज्यादातर लोग रेलो, हवाई-जहाजो, बिजली, बेतार-यन्त्र और विज्ञान के हजारो दूसरे आविष्कारो का इस्तेमाल करते हैं, पर यह कभी नही सोचते कि ये आये कहाँ से हैं। हम इन्हे बिना किसी दलील के मान लेते हैं, मानो इनको काम मे लेना हमारा हक है। और हमे इस बात का बडा अभिमान है कि हम प्रगति करनेवाले युग मे रहते हैं और खुद भी बहुत ज्यादा प्रगति कर चुके हैं। इसमे तो कोई शक नही कि हमारा यह युग पिछले युगो जैसा बिलकुल नही है, और मेरे खयाल से यह कहना भी बिलकुल सही है कि यह युग पिछले युगो से बहुत ज्यादा आगे बढा हुआ है। पर इसका यह अर्थ नही है कि व्यक्तिगत या सामुदायिक हैसियत से मनुष्य ज्यादा आगे बढ गया है। यह कहना हद दर्जे की बेवकूफी होगी कि चूंकि इजन का ड्राइवर इजन चला सकता है और अफलातून या सुकरात नही चला सकते थे, इसलिए इजन का ड्राइवर अफलातून या सुकरात से आगे बढा हुआ है या बेहतर है। हाँ, यह कहना बिलकुल सही होगा कि अफलातून के रथ की बनिस्बत आज का इजन आवा-जाई का ज्यादा आगे बढा हुआ साधन है।

आजकल हम लोग बहुत-सी पुस्तकें पढते हैं, पर मुझे अन्देशा है कि इनमे से ज्यादातर पुस्तके बेहूदा होती हैं। पुराने ज़माने मे लोग गिनी-चुनी पुस्तकें पढते थे, पर वे अच्छी होती थी, और इनका ज्ञान भी उन्हें बहुत अच्छा होता था। स्पिनोज़ा, जो बडा विद्वान् और बुद्धिमान हुआ है, यूरोप के सबसे ऊँचे दार्शनिको मे गिना जाता है। यह सत्रहवी सदी मे हुआ और ऐम्स्टरडम का रहनेवाला था। कहते हैं कि इसके पुस्तकालय मे पूरे साठ ग्रन्थ भी नही थे।

इसलिए हमारा यही समझने मे भला है कि दुनिया मे ज्ञान की जो इतनी

ो हुई है उसका यह लाजिमी अर्थ नही है कि हम ज्यादा अच्छे बन गये हैं या
ा बुद्धिमान हा गये हैं। ज्ञान का पूरा लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब यह
लें कि उसका उचित उपयोग क्या है। अपनी शक्तिशाली गाडी को बेतहाशा
ने से पहले हमे यह जान लेना चाहिए कि हमे किधर जाना है। यानी हमे कुछ
ो जानना चाहिए कि हमारे जीवन का लक्ष्य और मकसद क्या होना
ए। आज अनगिनती लोगो के दिलो मे ऐसी कोई धारणा नही है, और वे इसके
मे कभी चिन्ता ही नही करते। रहते तो वे विज्ञान के युग मे हैं, लेकिन उनपर
उनके कामो पर असर डालनेवाले विचार युगो पहले के हैं। इसलिए कठि-
ाँ और रगडे-झगडे पैदा होना लाजिमी है। होशियार बन्दर शायद मोटर-गाडी
ना सीख जाय, पर उसके हाथ मे गाडी दे देना खतरे से खाली नही है।

आधुनिक ज्ञान इतना पेचीदा और फैला हुआ है कि हैरत होती है। बीसियों
र खोजी लगातार खोज करते रहते हैं। हरेक अपने-अपने विशेष विभाग में
ग करता है, हरेक अपने-अपने खित्ते मे बिल खोदता जाता है और छोटे-छोटे
डे डाल-डालकर ज्ञान के पर्वत को ऊँचा करता जाता है। ज्ञान का क्षेत्र इतना
ा-चौडा है कि हरेक को अपने-अपने क्षेत्र मे योग्य बनना लाज़िमी होता है।
मर करके वह ज्ञान के दूसरे विभागो मे अनजान होता है, इसलिए हालाँकि
ज्ञान के कुछ विभागो मे बडा पडित हो जाता है, पर बहुत-से दूसरे विभागो मे
कुल कोरा होता है। इसलिए इन्सानी हलचलो के समूचे क्षेत्र के बारे मे अक्लमन्दी
नजरिया रखना उसके लिए कठिन हो जाता है। संस्कृति शब्द के पुराने अर्थों
वह सुसस्कृत नही माना जाता।

हाँ, ऐसे कुछ व्यक्ति जरूर हैं, जो इस तग विशेषज्ञता से ऊपर उठ गये हैं,
र खुद विशेषज्ञ होते हुए भी व्यापक नजरिया रख सकते हैं। युद्धो और इन्सानी
डे-टटो से न घबराकर ये लोग विज्ञान के अनुसन्धान कर रहे हैं, और पिछले
भग पन्द्रह वर्षों के अन्दर इन्होने ज्ञान का भण्डार बढाने मे निराला हिस्सा लिया
। एल्बर्ट आइन्स्टीन नामक जर्मन यहूदी आज का महान् विज्ञानी माना जाता
और हिटलर की सरकार ने इसे जर्मनी से इसलिए निकाल दिया है कि वह
हूदियो को पसन्द नही करती।

आइन्स्टीन ने गणित के पेचीदा हिसाबो के जरिये भौतिक विज्ञान के कुछ
से नये बुनियादी नियमो की खोज की है, जो सारे ब्रह्माण्ड से ताल्लुक रखते हैं।
नसे उसने न्यूटन के कुछ नियमो मे हेर-फेर कर दिया है, जो दो सौ वर्षों से बिना
सी ननुनच के मजूर किये जाते रहे हैं। आइन्स्टीन के मत की तसदीक बडे ही
लचस्प ढग से हुई। इस मत के मुताबिक प्रकाश की किरणें एक खास ढग से
यवहार करती हैं और इसकी जाँच सूर्य-ग्रहण के समय की जा सकती है। जब सूर्य-

ग्रहण हुआ तो यह देखा गया कि प्रकाश-किरणें वास्तव मे उसी तरह व्यवहार करती है। इस तरह गणित के तर्क से निकला हुआ नतीजा प्रयोगो के जरिये जाँच करने से सही साबित हो गया।

मैं इस नियम की व्याख्या करने की कोशिश नही करूँगा, क्योंकि यह बहुत ही मुश्किल से समझ मे आनेवाली चीज है। यह सापेक्षवाद कहलाता है। ब्रह्माण्ड के बारे मे सोचते-सोचते आइन्स्टीन को पता लगा कि काल की कल्पना और आकाश की कल्पना, दोनो अलग-अलग लागू नही की जा सकती। इसलिए इसने दोनो को त्याग दिया और एक नई कल्पना पेश की, जिसमे दोनो का गठ-बन्धन कर दिया। यह आकाश-काल की कल्पना थी।

आइन्स्टीन ने तो सारे ब्रह्माण्ड पर विचार किया। दूसरे सिरे पर विज्ञानियो ने छोटे-से-छोटे पिण्डो के बारे मे पडतालें की। मिसाल के लिए सुई की नोक को ले लो। यह शायद छोटी-से-छोटी चीज है, जिसे हमारी आँख बिना किसी आले की मदद के देख सकती है। विज्ञान के तरीको मे साबित किया गया कि सुई की यह नोक एक तरह से खुद ही ब्रह्माण्ड के समान है। इसमे अणु होते हैं, जो एक-दूसरे के गिर्द वेग से चक्कर काटते रहते हैं, हर अणु मे परमाणु होते हैं, और ये भी बिना एक-दूसरे से टकराये चक्कर लगाते रहते है, और हर अणु मे बिजली के अनगिनती कण या विद्युत-आवेश या प्रोटन और इलैक्ट्रन, या जो कुछ भी कहो, होते हैं, और ये भी लगातार जबर्दस्त तेजी से घूमते रहते हैं। इनमे भी छोटे पॉजीट्रन और न्यूट्रन और डेन्टन होते हैं, और यह अदाज लगाया गया है कि एक पॉजीट्रन की औसत आयु एक सेकण्ड का अरबवाँ भाग होती है। यह सारी रचना बहुत ही छोटे पैमाने पर उन ग्रहो और ताराओ के समान है, जो आकाश मे लगातार चक्कर काटते रहते हैं। याद रखने की बात यह है कि अणु इतना छोटा होता है कि सबसे ज्यादा ताकत-वाली खुर्दबीन से भी नही देखा जा सकता। रही अणुओ और प्रोटनो और इलैक्ट्रनो की बात, सो इनकी तो कल्पना तक भी नही की जा सकती। पर विज्ञान की तकनीक इतनी तरक्की कर चुकी है कि इन प्रोटनो व इलैक्ट्रनो के बारे मे बहुत काफी जानकारी जमा हो चुकी है, और कुछ दिन हुए अणु के टुकडे भी कर दिये गए हैं।

विज्ञान के नये-नये मतो पर विचार करने मे दिमाग चक्कर खाने लगता है, और उनके महत्व को समझना बडा कठिन हो जाता है। लेकिन मैं तुम्हें इससे भी ज्यादा हैरत-भरी बात बताऊँगा। तुम जानती हो कि हमारी पृथ्वी, जो हमे इतनी बडी दिखाई देती है, उस सूर्य का एक छोटा-सा ग्रह है, जो खुद ही बहुत तुच्छ और छोटा तारा है। यह सारा सौर-मण्डल आकाश के समुद्र मे सिर्फ एक बूंद के बराबर है। ब्रह्माण्ड मे दूरियाँ इतनी बडी-बडी हैं कि उसके कुछ हिस्सो से हमारी पृथ्वी तक ।॥ को आने मे हजारो और लाखो वर्ष लग जाते हैं। मतलब यह है कि अगर हम

रात मे किसी तारे को देखते हैं तो हम उस तारे का वह रूप नही देखते, जो आज है, बल्कि वह रूप देखते हैं, जो उस समय था जब उससे चलकर आनेवाली प्रकाश-किरण ने अपनी लम्बी यात्रा शुरू की थी। और पता नही इस यात्रा मे कितने सौ या हज़ार वर्ष लगे होंगे। काल और आकाश के बारे मे हमारी जो कल्पना है, वह इससे बडी उलझन मे पड जाती है, और यही वजह है कि आइन्स्टीन का आकाश-काल हमे इन बातो पर गौर करने मे बहुत ज्यादा सहायता देता है। अगर हम आकाश का विचार न करे और सिर्फ काल का विचार करें तो भूत और वर्तमान आपस मे मिल जाते हैं। क्योंकि जिस तारे को हम देखते हैं वह हमारे लिए तो मौजूदा वक्त है, पर वास्तव मे हम गुज़रे वक्त को देख रहे हैं। क्योंकि हमे क्या मालूम कि जब प्रकाश की किरण उस तारे मे चली थी, उसके बाद शायद उसकी हस्ती मिटे हुए लम्बा ज़माना बीत चुका हो।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा सूर्य एक मामूली-सा छोटा तारा है। इसी किस्म के करीब एक लाख तारे और हैं, और इन सबका समूह आकाश-गगा कहलाता है। रात मे जितने तारे हमे दिखाई पडते है, उनमे से ज्यादातर इसी आकाश-गगा के भीतर हैं। लेकिन नगी आँख से हम सिर्फ बहुत थोडे तारो को देख पाते हैं। शक्तिशाली दूरबीनो के जरिये हम बहुत ज्यादा तारो को देख सकते है। इस विज्ञान के विशेषज्ञो ने हिसाब लगाया है कि ब्रह्माण्ड मे तारो की ऐसी कम-से-कम एक लाख आकाश-गगाएँ हैं।

एक अचम्भे मे डालनेवाला तथ्य और भी है। कहा जाता है कि यह ब्रह्माण्ड फैलता जा रहा है। सर जेम्स जीन्स नामक गणितज्ञ ने इसकी तुलना साबुन के बबूले से की है, जो फूलता जा रहा है। ब्रह्माण्ड इतना बडा है कि प्रकाश-किरण को इसके एक सिरे मे दूसरे सिरे तक पहुँचने मे करोडो-अरबो साल लग जाते हैं।

अगर तुम्हारे अन्दर अचम्मा करने की कुछ भी गुजायश बाकी रही हो, तो इस सचमुच हैरत-भरे ब्रह्माण्ड के बारे मे मैं तुम्हें कुछ और बाते बतलाता हूँ। कैम्ब्रिज के एक मशहूर खगोल-विज्ञानी सर आर्थर ऐडिङ्गटन का कहना है कि यह ब्रह्माण्ड धीरे-धीरे टूट रहा है। यह उस घडी के समान है, जो बीत चुकी है, और जिसमे अगर किसी तरह दुबारा चाबी नही भरी गई तो बिखर जायगी। अलबत्ता इसमे करोडो वर्ष लग जाते हैं, इसलिए हमे परेशान होने की ज़रूरत नही है।

भौतिक और रसायन उन्नीसवी सदी के मुख्य विज्ञान थे। इनकी सहायता से प्रकृति की या बाहरी जगत की लगाम मनुष्य के हाथ मे आ गई। इसके बाद विज्ञानी मनुष्य ने अपने भीतर नज़र डालनी शुरू की और अपना ही अध्ययन शुरू किया। तब जीव-विज्ञान का महत्व बढा। जीव-विज्ञान मे मनुष्य और पशुओ

और वनस्पतियो के जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान ने इतने ही दिनो मे अद्भुत प्रगति कर ली है। इस विज्ञान के विशेषज्ञो का कहना है कि इजेक्शन लगाकर या दूसरे उपायो से मनुष्य के गुण या स्वभाव मे परिवर्तन पैदा करना बहुत जल्दी मुमकिन हो जायगा। इस तरह शायद यह मुमकिन हो जाय कि किसी कायर मनुष्य के स्वभाव को बदलकर उसे साहसी मनुष्य बना दिया जाय, या यह भी बहुत-कुछ मुमकिन है कि कोई सरकार अपने आलोचको और विरोधियो से निबटने के लिए इस तरह उनकी विरोध मे खडे होने की शक्ति को ही कम कर दे!

जीव-विज्ञान के बाद मनुष्य ने आगे मनोविज्ञान की सीढी पर कदम रक्खा है। इस विज्ञान मे मनुष्यो के मानस का, और विचारो का, नीयतो और आकाक्षाओ का विवेचन किया जाता है। इस तरह विज्ञान नये-नये क्षेत्रो मे धावे बोल रहा है, और हमे अपने बारे मे बहुत-सी बातें बतला रहा है, और शायद हमे अपने ऊपर काबू पाने मे सहायता दे रहा हो।

प्रजनन-विज्ञान भी जीव-विज्ञान से आगे की सीढी है। यह विज्ञान मनुष्य-जाति की नस्ल के सुधार से ताल्लुक रखता है।

यह देखकर बहुत दिलचस्पी होती है कि कुछ जीवो के अध्ययन से विज्ञान के विकास मे कितनी सहायता मिली है। बेचारे मेंढक को चीर-फाडकर यह पता लगाया गया है कि नाड़ियाँ और माँस-पेशियाँ किस तरह अपना काम करती हैं। ज्यादा पके फलो पर बैठनेवाली नन्ही-सी तुच्छ-सी केला-मक्खी से आनुवशिकता के बारे मे जितनी जानकारी मिली है, उतनी दूसरे किसी साधन से नही हुई। इस मक्खी पर गौर करने से पता लगा है कि एक वश के गुण और स्वभाव सस्कारो के रूप मे किस तरह अगले वश मे आ जाते हैं। कुछ हद तक इससे यह जानने मे सहायता मिलती है कि मनुष्य-जाति मे आनुवशिकता का सिद्धान्त किस तरह काम करता है।

हमको बहुत-सी बातें सिखानेवाला एक और बेकार-सा जीव है साधारण टिड्डा। अमेरिकी प्रेक्षको ने टिड्डो का लम्बे अर्से तक और गौर से अध्ययन करके बतलाया है कि जानवरो मे और मनुष्यो मे लिंगभेद कैसे पैदा होता है। अब हम इस विषय मे बहुत-कुछ जानते हैं कि नन्हा-सा भ्रूण, ठेठ गर्भाधान के समय से ही, किस तरह नर या मादा बनता है, और धीरे-धीरे बढ़ता हुआ छोटा-सा नर या मादा पशु, या लडका लडकी बन जाता है।

चौथी मिसाल मामूली घरेलू कुत्ते की है। हमारे ही जमाने के एक मशहूर रूसी वैज्ञानिक पॉवलॉफ ने कुत्तो पर गौर से ध्यान देना शुरू किया, और खासतौर पर यह नोट किया कि खाना देखते ही उनके मुँह मे पानी कब आता है। उसने कुत्ते के मुँह मे इस तरह पैदा होनेवाली लार भी तोल ली। खाना देखते ही कुत्ते के मुँह मे पानी आना अपने-आप होनेवाली क्रिया होती है, जिसे 'अनैच्छिक

प्रतिक्रिया' कहा जाता है। छोटा बच्चा ठीक इसी तरह, बिना जाने छींकता है या जम्हाई लेता है या अंगड़ाई लेता है।

इसके बाद पॉवलॉफ ने 'ऐच्छिक प्रतिक्रिया' पैदा करने की कोशिश की। यानी उसने कुत्ते को एक खास इशारे पर खाने का इन्तजार करना सिखाया। नतीजा यह हुआ कि कुत्ते के दिमाग में यह इशारा खाने के साथ जुड़ गया और खाना सामने न आने पर भी उसी किस्म की प्रतिक्रिया पैदा करने लगा।

कुत्तों पर और उनके मुंह में पैदा होनेवाली लार पर किये गए इन प्रयोगों को मानव-मनोविज्ञान का आधार बनाया गया है। यह देख लिया गया है कि शिशु-काल में मनुष्य में बहुत-सी 'अनैच्छिक प्रतिक्रियाएं' होती हैं, और ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसमें 'ऐच्छिक प्रतिक्रियाओं' का और भी ज्यादा विकास होता जाता है। सच तो यह है कि हम इन ऐच्छिक प्रतिक्रिया के आधार पर ही सबकुछ सीखते हैं। इन्हींके मुताबिक हमारी आदतें बनती हैं और हम भाषाएं वगैरा सीखते हैं। हमारी क्रियाएं हमारी प्रतिक्रियाओं से संचालित होती हैं, और ये प्रतिक्रियाएं रचनात्मक भी होती हैं और अवरोधक भी। मामूली दहशत की ही मिसाल ले लो। जब कोई आदमी अपने नजदीक सांप को देखकर, या सांप से मिलते-जुलते रस्सी के टुकड़े को देखकर, बिना सोच-विचार किये बड़ी तेजी से उछल पड़ता है, तो इसके लिए उसे पॉवलॉफ के प्रयोगों की जानकारी की जरूरत नहीं होती।

पावलॉफ के प्रयोगों ने सारे मनोविज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है। कुछ प्रयोग बहुत ही दिलचस्प हैं, परन्तु यहां मैं इस सवाल की ज्यादा व्याख्या नहीं कर सकता। फिर भी मैं यह जरूर बता देना चाहता हूं कि मनोविज्ञान की जांच के और भी कई अच्छे तरीके हैं।

ये कुछेक मिसालें मैंने इसलिए दी हैं कि तुम्हें विज्ञान के प्रयोगों के तरीकों का कुछ अनुमान हो जाय। तत्व की खोज का पुराना तरीका यह था कि जिन बड़ी-बड़ी बातों की छान-बीन करना या पूरी तरह समझना आसान या मुमकिन नहीं था, उनके बारे में वे गोल-मोल चर्चाएं किया करते थे। लोग इनके बारे में तर्क-वितर्क किया करते थे, और उनमें गर्मा-गर्मी भी हो जाती थी, मगर चूंकि ऐसी कोई आखिरी कसौटी नहीं थी, जिसपर उनके तर्क की सचाई या गैर-सचाई की परीक्षा की जा सकती हो, इसलिए मामला सदा अधर लटका रहता था। वे परलोक की चर्चा में इतने मशगूल रहते थे कि इस संसार की मामूली चीजों पर ध्यान देना ज्ञान के खिलाफ समझते थे। लेकिन विज्ञान का तरीका इससे बिलकुल उलटा है। बहुत मामूली और तुच्छ दिखाई देनेवाले तथ्यों पर ध्यान से गौर किया जाता है, और उनसे बड़े महत्व के नतीजे हासिल होते हैं। इन नतीजों के आधार पर कल्पित

नियम रचे जाते हैं, और बाद मे फिर प्रेक्षण और प्रयोगो के जरिये इन नियमो की बार-बार जाँच की जाती है।

पर इसका यह अर्थ नही है कि विज्ञान कभी भूल नही करता। वह अक्सर रास्ता भूल जाता है, और उसे उलटे पैरो लौटना पडता है। मगर किसी सवाल पर गौर करने का सही तरीका सिर्फ विज्ञान का तरीका ही हो सकता है। उन्नीसवी सदी मे विज्ञान मे अहकार की और अपनेको कामिल समझने की जो भावना थी, वह अब सारी-की-सारी खत्म हो गई है। उसे अपनी सफलताओ पर गर्व है, पर साथ ही वह ज्ञान के उस लम्बे-चौडे और सदा फैलते हुए समुद्र के आगे सर झुकाता है, जो अभी तक अनखोजा पडा है। बुद्धिमान आदमी महसूस करता है कि उसका ज्ञान कितना तुच्छ है, सिर्फ मूर्ख ही यह समझता है कि वह सबकुछ जानता है। यही बात विज्ञान पर लागू होती है। वह जितनी प्रगति करता जाता है, उतनी ही उसकी हठधर्मी कम होती जाती है, और जो सवाल उससे पूछे जाते हैं, उनके जवाब देने मे वह उतना ही ज्यादा झिझकने लगता है। ऐडिङ्टन ने लिखा है "विज्ञान की प्रगति का नाप यह नही है कि हम कितने सवालो के उत्तर दे सकते हैं, बल्कि यह है कि हम कितने सवाल पूछ सकते है।" शायद यह सही हो, पर फिर भी विज्ञान तो दिन-पर-दिन ज्यादा ही सवालो के उत्तर देता जा रहा है, और जीवन का रहस्य समझने मे हमारी सहायता कर रहा है। और अगर हम वास्तव मे उससे लाभ उठाना चाहते हो तो वह हमे ऐसी अच्छी जिन्दगी बिताने के काबिल बनाता है, जो पाने लायक मंजिल की ओर ले जानेवाली है। वह जिन्दगी के अँधेरे कोनो को रोशन करता है, और हमे खुराफातो के गोल-मोल झमेले मे डालने के बजाय हकीकत के सामने खडा कर देता है।

: १८३ :

विज्ञान का अच्छा और बुरा उपयोग

१४ जुलाई, १९३३

पिछले पत्र मे मैंने तुम्हे विज्ञान के नये-से-नये कारनामो के विचित्र देश की झाँकी कराई थी। मैं नही कह सकता कि इस झलक से विचार और सफलता की यह दुनिया तुम्हें पसन्द आयेगी या नही और अपनी ओर खीचेगी या नही। अगर तुम्हें इन विषयो के बारे मे ज्यादा जानने की इच्छा हो, तो तुम आसानी से बहुत-सी पुस्तकें तलाश कर सकती हो। पर यह याद रखना कि मानव-विचार हमेशा आगे बढता रहता है, प्रकृति की और विश्व की समस्याओ मे सदा जूझता रहता है और उन्हें समझने की कोशिश करता रहता है, और जो बातें मैं आज तुम्हें बतला रहा हूँ वे कल ही बिळकुल अधूरी और पुरानी हो सकती है। मनुष्य के दिमाग की यह चुनौती किस तरह ब्रह्माण्ड के दूर-दूर कोनो मे उडानें भरती

है, और उसके रहस्यो का पता लगाने का यत्न करती है, और बडी-से-बडी व छोटी-से-छोटी दिखाई देनेवाली चीजो को पकडने और नापने का साहस करती है, इनसब बातो की ओर मैं बहुत आकर्षित हो जाता हूँ।

यह सब 'विशुद्ध' विज्ञान कहलाता है, यानी वह विज्ञान जिसका ज़िन्दगी पर कोई सीधा या फौरन असर नही पडता। ज़ाहिर है कि सापेक्षवाद, या 'आकाश-काल' की कल्पना, या ब्रह्माण्ड का आकार, इनका हमारी रोज़ाना ज़िन्दगी से कोई ताल्लुक नही है। इस किस्म की ज्यादातर कल्पनाएँ ऊँचे दर्जे के गणित पर निर्भर हैं, और इस अर्थ मे गणित के ये पेचीदा व ऊपरले प्रदेश विशुद्ध विज्ञान हैं। ज्यादातर लोगो को इस किस्म के विज्ञान मे ज्यादा दिलचस्पी नही है, वे तो रोज़ाना ज़िन्दगी मे विज्ञान के अमली उपयोगो की तरफ ज्यादा खिचते हैं, और यह कुदरती बात भी है। इसी अमली विज्ञान ने पिछले डेढ सौ वर्षों मे ज़िन्दगी मे क्रान्तिकारी परिवर्तन पैदा कर दिया है। सच तो यह है कि आज की जिन्दगी विज्ञान की इन शाखा-प्रशाखाओ के ही सहारे चलती और ढलती है, और हमारे लिए यह सोचना मुश्किल है कि इनके बिना ज़िन्दा कैसे रह सकते हैं। लोग अक्सर गुज़रे ज़माने के बीते हुए अच्छे दिनो की, या गुज़रे स्वर्ण-युग की बातें, चलाया करते हैं। पिछले इतिहास के कुछ ज़माने खास तौर पर दिल-कश हैं, और मुमकिन है कि कुछ बातो में वे हमारे ज़माने से बढिया भी हो। पर शायद यह खिचाव भी जितना दूरी की नज़र से या एक खास धुंधलेपन की वजह से है उतना दूसरी किसी वजह से नही है। किसी युग को हम शायद इसलिए महान् समझते हैं कि वह कुछ महान् व्यक्तियो से सजा हुआ है या जिस पर इन व्यक्तियो की छाप है। इतिहास मे शुरू से लगाकर अबतक साधारण लोगो की हालत बडी खराब रही है। विज्ञान ने उनका युगो पुराना बोझ कुछ हलका किया है। अगर तुम अपने चारो तरफ निगाह डालो तो देखोगी कि जिन चीज़ो को तुम देख सकती हो, उनमे से ज्यादातर का विज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ ताल्लुक है। हम अमली विज्ञान के साधनो से यात्रा करते हैं, इन्हीके ज़रिये एक-दूसरे को समाचार भेजते हैं, हमारे खाने-पीने की चीजें भी अक्सर इन्ही साधनो से तैयार होती हैं और एक जगह से दूसरी जगह भेजी जाती हैं। जो अखबार हम पढते हैं, या हमारी पुस्तकें, या जिस कागज़ पर मैं लिख रहा हूँ या जिस कलम से लिख रहा हूँ, ये सब चीजें विज्ञान के साधनो के अलावा दूसरी तरह से तैयार ही नही हो सकतीं। सार्वजनिक सफाई और सेहत और कुछ रोगो पर विजय, विज्ञान पर ही निर्भर हैं। आधुनिक ससार के लिए अमली विज्ञान के बिना काम चलाना बिलकुल नामुमकिन है। बाकी तमाम दलीलें छोड भी दी जायँ तो एक दलील आखिरी और नतीजे पर पहुँचानेवाली है कि विज्ञान की मदद के बिना ससार के निवासियो को काफी खुराक नही मिल सकेगी, और आधे से ज्यादा लोग भरपेट [illegible] मौत के मुंह मे चले जायँगे। मैं बतला चुका हूँ कि बीते सौ वर्षोंमे

आबादी किस तरह छलांग मारकर बढ गई है। यह बढी हुई आबादी तभी ज़िन्दा रह सकती है जब खाने की चीज़ें पैदा करने के लिए उन्हें एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए विज्ञान की सहायता ली जाय।

जबसे विज्ञान ने मानव-जीवन मे बडी-बडी मशीनो को दाखिल कराया है, तभीसे उनमे सुधार करने का सिलसिला जारी है। मशीनो को ज्यादा कारगर और मनुष्य की मेहनत पर कम निर्भर बनाने के लिए हर साल तो क्या हर महीने अनगिनती छोटे-छोटे फेर-बदल होते रहते हैं। तकनीक मे ये सुधार, या विज्ञान के उपयोग मे ये तरक्कियाँ, बीसवी सदी के पिछले तीस वर्षों मे तो खास तेज़ी के साथ हुई हैं। पिछले वर्षों मे परिवर्तन की यह रफ्तार, जो अब भी चालू है, इतनी ज़बर्दस्त रही है कि इसने उद्योगो और पैदावार के साधनो में वैसा ही क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है, जैसा कि अठारहवी सदी के पिछले हिस्से मे उद्योगो की क्रान्ति से हुआ था। पैदावार के कामो मे बिजली का लगातार बढ़ता हुआ उपयोग इस क्रान्तिकारी परिवर्तन का बडा सबब है। इस तरह बीसवी सदी मे, खासकर सयुक्त राज्य अमेरिका मे, बिजली की क्रान्ति हुई है, और इसके सबब से ज़िन्दगी की हालत ही बिलकुल बदल गई है। जिस तरह अठारहवी सदी की औद्योगिक क्रान्ति से मशीन-युग आया, उसी तरह बिजली की क्रान्ति से अब शक्ति-युग आ रहा है। उद्योगो, रेलो व दूसरे अनगिनती प्रयोजनो के लिए उपयोग मे आनेवाली बिजली अब हर चीज़ पर हावी हो रही है। यही कारण था कि लेनिन ने बडे दूर की बात सोचकर सारे रूस मे पन-बिजली के विशाल बिजलीघर बनाने का फ़ैसला किया था।

दूसरे सुधारो के साथ-साथ उद्योगो मे बिजली के इस उपयोग से बिना ज्यादा खर्च के ही बडा भारी परिवर्तन हो जाता है। मसलन, बिजली से चलनेवाली मशीनो मे ज़रा-सी फेर-बदल से पैदावार दुगनी हो जाती है। इसका बहुत बडा कारण यह है कि आदमी के तत्व को लगातार हटाया जा रहा है, क्योकि आदमी धीरे-धीरे काम करता है और कभी-कभी भूल भी कर बैठता है। इसलिए ज्यो-ज्यो मशीनो मे उन्नति होती जाती है, त्यो-त्यो उनपर काम करनेवाले मज़दूरो की सख्या कम होती जाती है। आजकल एक अकेला मनुष्य कुछ हत्थो को घुमाकर या बटनो को दबाकर बडी-बडी मशीनो को चलाता है। इसका नतीजा यह होता है कि कारखानो मे तैयार होनेवाले माल की पैदावार बहुत ज्यादा बढ जाती है, और साथ ही कारखानो के बहुत-से मज़दूर निकाल दिये जाते हैं, क्योकि अब उनकी ज़रूरत नही रहती। इसीके साथ-साथ उद्योगो मे विज्ञान का उपयोग मे इतनी तेज़ी से बढ रहा है कि कोई नई मशीन कारखाने मे लगने भी नही पाती कि नये सुधारो की वजह से वह कुछ हद तक पुराने ढग की हो जाती है।

मज़दूरो की जगह मशीन लगाने का यह सिलसिला मशीनो की शुरुआत से ही चला आ रहा है। शायद मैं तुम्हें बतला चुका हूँ कि उन दिनो बहुत दगे हुए

थे, और गुस्से मे भरे मज़दूरो ने नई मशीनें तोड-फोड डाली थी। पर बाद मे मालूम हुआ कि आखिरकार मशीनो से ज्यादा लोगो को काम मिलता है। चूंकि मशीन की सहायता से मज़दूर ज्यादा माल तैयार कर सकता था, इसलिए उसकी मजूरी की दर ऊँची हो गई और चीज़ो की कीमतें गिर गई। इससे मज़दूर और साधारण लोग इन चीज़ो को ज्यादा खरीद सकते थे। उनके रहन-सहन के ढग भी पहले से अच्छे हो गये, और कारखानो के बने माल की मांग बढने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि और भी ज्यादा कारखाने डाले जाने लगे, और उनमे और भी ज्यादा मज़दूर काम पर लगाये गए। मतलब यह कि, हालांकि मशीनो ने हर कारखाने में मज़दूरो की सख्या कम कर दी, पर कुल मिलाकर पहले से भी ज्यादा मज़दूर काम पर लग गये, क्योंकि कारखाने की सख्या बहुत बढ गई।

यह सिलसिला मुद्दत तक चलता रहा, क्योंकि औद्योगिक देशो ने पिछडे हुए देशो की दूर-दूर मण्डियो पर कब्ज़ा करके इसे मदद पहुँचाई। मगर पिछले कुछ वर्षों मे यह सिलसिला बन्द हो गया मालूम देता है। शायद मौजूदा पूंजीवादी प्रणाली मे और ज्यादा विस्तार मुमकिन नही है, और इस प्रणाली मे कुछ परिवर्तन ज़रूरी हो गया है। आज के उद्योग 'मास-प्रोडक्शन'[1] के पीछे पडे हुए है, पर यह तभी चल सकता है जब इस तरह तैयार हुआ माल जनता खरीदे। अगर जनता बहुत ग़रीब है या बहुत बे-रोज़गार है, तो वह इस माल को नही खरीद सकती।

पर इसके बावजूद तकनीको मे बराबर तरक्की हो रही है, और इसका नतीजा यह हो रहा है कि मशीनें मज़दूरो की जगह लेती जा रही हैं और बेकारो की सख्या बढ रही है। १९२९ ई० से सारी दुनिया मे व्यापार की भारी मन्दी चल रही है, मगर इतने पर भी उद्योगो मे विज्ञान का बढता हुआ उपयोग नही रुका है। कहते है कि १९२९ ई० से अबतक सयुक्त राज्य अमेरिका मे इतनी तरक्की हुई है कि जो लाखो आदमी बेकार हो गये हैं, उन्हें कभी काम पर लगाया ही नही जा सकता, चाहे पैदावार १९२९ ई० के बराबर ही क्यो न कायम रक्खी जाय।

सारे ससार मे, और खासकर आगे बढे हुए औद्योगिक देशो मे, बेकारी की बडी समस्या पैदा करनेवाले और भी कितने ही कारण है, पर यह एक बडा कारण है। यह एक निराली और उलटी समस्या है, क्योंकि नई-नई मशीनो के ज़रिये बहुत ज्यादा पैदावार का नतीजा यह होना चाहिए कि राष्ट्र ज्यादा मालदार हो जाय और हरेक मनुष्य के जीवन का स्तर ऊंचा उठ जाय। इसका उलटा नतीजा हुआ है ग़रीबी और ज़बर्दस्त मुसीबत। खयाल होता है कि इस समस्या का विज्ञान के ढग से हल कठिन नही होगा। शायद कठिन है भी नही। पर असली कठिनाई

[1] Mass Production—कारखाने मे कोई एक चीज़ बहुत भारी मिक़दार में तैयार करना।

इसे विज्ञान के और उचित ढग पर हल करने की कोशिश मे सामने आती है। क्योकि ऐसा करने मे बहुत-से जमे हुए स्वार्थों पर चोट पडती है, और ये स्वार्थ इतने ताकतवर हैं कि अपनी-अपनी सरकारो पर इनका पूरा क़ाबू है। इसके अलावा यह समस्या जड मे अन्तर्राष्ट्रीय है, और आज की राष्ट्रीय लाग-डॉट कोई अन्तर्राष्ट्रीय हल निकलने नही देती। सोवियत रूस इसी किस्म की समस्याओ का हल करने मे विज्ञान के तरीको का उपयोग कर रहा है। पर चूँकि उसे राष्ट्रीय हित मे चलना पडता है, और बाकी की दुनिया पूँजीवादी है और रूस से वैर रखती है, इसलिए रूस की कठिनाइयाँ बहुत ज्यादा हैं। अगर यह बात न होती तो ये कठिनाइयाँ इतनी ज्यादा नही होती। आज का ससार दरअसल अन्तर्राष्ट्रीय है, हालाँकि उसका राजनीतिक ढाँचा पिछडा हुआ है और तग राष्ट्रीयता से भरा हुआ है। आखिरकार समाजवाद तभी सफल हो सकता है, जब वह अन्तर्राष्ट्रीय ससारी समाजवाद बन जाय। समय को पीछे नही ढकेला जा सकता। इसी तरह आज का अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा, अधूरा होते हुए भी, राष्ट्रीय अलगाव के पक्ष मे दबाया नही जा सकता। राष्ट्रीयता को ज़ोरदार करने का यत्न, जैसा कि फासीवादी लोग कई देशो मे कर रहे हैं, अन्त मे असफल हुए बिना नही रह सकता, क्योकि वह आज की ससार-व्यापी अर्थ-व्यवस्था की बुनियादी अन्तर्राष्ट्रीय खासियत से मेल नही खाता। हाँ, यह हो सकता है कि इस तरह गिरकर वह सारी दुनिया को अपने साथ ले बैठे, और इस नामधारी आधुनिक सभ्यता को सबके साथ ले डूबे।

ऐसी आफत का खतरा न तो कोई दूर की बात है और न अनहोनी बात है। जैसा कि हम देख रहे हैं, विज्ञान अपने पीछे कई अच्छी चीज़ें लेकर आया है, पर इसी विज्ञान ने युद्धो के नतीजो को बहुत ज्यादा भयकर बना दिया है। राज्यो और सरकारो ने विशुद्ध और अमली विज्ञान की शाखाओ पर ध्यान नही दिया है। पर उन्होने विज्ञान के जगी पहलू को नही छोडा है, और अपनेको हथियारो से लैस करने के लिए और अपनी ताकत बढाने के लिए विज्ञान की नई-से-नई तकनीको का पूरा उपयोग किया है। आखिरी नतीजा यह निकलता है कि ज्यादातर राज्य ज़ोर-ज़बर्दस्ती के बल पर टिके हुए हैं, और विज्ञान की तकनीकें इन हुकूमतो को इतनी ताकतवर बना रही हैं कि वे अजामो से बिलकुल न डरकर जनता पर सरासर अत्याचार कर सकती हैं। वह पुराना ज़माना बहुत दिन हुए बीत चुका जब जनता अत्याचारी हुकूमतो के खिलाफ बलवे किया करती थी, और आम रास्तो मे नाकेबन्दियाँ करके लडा करती थी, जैसा कि फ्रान्स की महान् क्रान्ति मे हुआ था। अब किसी निहत्थी या हथियारबन्द भीड के लिए राज्य की सगठित हथियार सजी फौज से लडना नामुमकिन है। यह दूसरी बात है कि राज्य की सेना खुद ही विद्रोह कर दे, जैसा कि रूसी क्रान्ति के समय में हुआ था, पर जबतक ऐसी घटना न हो, तबतक राज्य को जबरन नही हराया जा सकता। इसलिए आज़ादी के वास्ते लडनेवाली

क़ौमों को यह ज़रूरत आ पड़ी है कि वे सामूहिक कार्रवाई के ऐसे उपायों का सहारा लें जिनमें खून-खराबी न हो।

इस तरह विज्ञान ने राज्यों की बागडोर गिरोहों या कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में दे दी है, जिनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का और उन्नीसवीं सदी के पुराने लोकतन्त्री विचारों का नाश हो रहा है। गिने-चुने लोगों की ऐसी हुकूमतें कई राज्यों में पैदा हो रही हैं। कभी तो ये हुकूमतें लोकतन्त्र के उसूलों को ताज़ीम देने का ढोंग रचती हैं, और कभी उनकी खुली निन्दा करती हैं। अलग-अलग राज्यों में गिने-चुने लोगों की ये हुकूमतें आपस में टकराती हैं, और राष्ट्रों में युद्ध छिड जाता है। आज या भविष्य में ऐसा महायुद्ध सिर्फ इन गिने-चुने लोगों की हुकूमतों को ही नहीं बल्कि आधुनिक सभ्यता तक को तबाह कर सकता है। या ऐसा हो सकता है कि इसकी राख में से वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी व्यवस्था प्रकट हो जाय, जिसकी मार्क्सवादी दर्शन उम्मीद करता है।

युद्ध और उसमें होनेवाली भयंकर हकीकतों का खयाल करना कोई सुहावनी बात नहीं है। और इसी वजह से इस हकीकत को लच्छेदार शब्दों और मारू बाजों और चमकीली वर्दियों के परदे में छिपाया जाता है। पर यह जानना जरूरी है कि आज युद्ध का क्या अर्थ है। पिछले महायुद्ध ने बहुतों को युद्ध की भयंकर मारकाट का ज्ञान करा दिया। इसपर भी यह कहा जाता है कि जो अगला महायुद्ध होनेवाला है, उसकी तुलना में पिछला महायुद्ध कुछ भी नहीं था। क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में जहाँ औद्योगिक तकनीक ने दस गुनी तरक्की कर ली है, वहाँ युद्ध के विज्ञान में सौ गुनी तरक्की हुई है। युद्ध अब महज़ पैदल सेना के हल्लों और घुड-सवार-सेना के धावों का मामला नहीं रह गया है। पुराने पैदल सिपाही और घुड-सवार आज युद्ध के लिए क़रीब-क़रीब उतने ही बेकार हो गये हैं, जितने कि तीर-कमान। आज का युद्ध मशीनी टैंकों और हवाई जहाजों और बमों का, और खासकर पिछली दो चीजों का, मसला है। हवाई जहाजों की रफ्तार व कारगर ताकत दिन-पर-दिन बढ रही हैं।

अगर युद्ध छिड जाय तो यह अन्देशा है कि लडनेवाले राष्ट्रों पर दुश्मन के हवाई जहाज़ फौरन हमला कर देंगे। ये हवाई जहाज़ युद्ध का ऐलान होते ही फौरन आ धमकेंगे, या दुश्मन को बेखबरी से फायदा उठाने के लिए युद्ध से पहले ही आ जायँगे, और बडे-बडे शहरों व कारखानों पर महा विस्फोटक बमों की बौछार कर देंगे। दुश्मन के कुछ हवाई जहाज शायद नष्ट भी कर दिये जायँ, पर बाकी बचे हुए हवाई जहाज़ शहर पर बम गिराने के लिए काफी होंगे। इन हवाई जहाजों से बरसनेवाले बमों से जहरीली गैसें निकलकर चारों ओर फैल जायँगी और उस क्षेत्र-भर में छा जायँगी, और जहाँतक ये पहुँचेंगी वहाँतक के सारे जीव दम घुट-कर मर जायँगे। इस तरह आम जनता का निहायत बेरहमी से और बहुत ही

दर्दनाक तरीको से एक साथ मौत के घाट उतार दिया जायगा, जिससे लोगो को बेहद कष्ट और मानसिक तकलीफ भुगतनी पडेगी। और मुमकिन है कि इस किस्म की कार्रवाइयाँ आपस मे लडनेवाली वैरी शक्तियो के बडे-बडे शहरो मे एकसाथ की जायँ। अगर यूरोप मे युद्ध हुआ तो लदन, पेरिस और बर्लिन कुछ ही दिनो या हफ्तो के अन्दर शायद सुलगते हुए खण्डहरो के ढेर हो जायँगे।

इससे भी ज्यादा बुरी चीज एक और है। हवाई जहाजो से गिराये जानेवाले बमो मे तरह-तरह की भयकर बीमारियो के जीवाणु भी हो सकते हैं, जिससे पूरे-के-पूरे शहरो मे इन रोगो की छूत फैल जायगी। इस किस्म की 'कीटाणुओ की जग' दूसरे तरीको से भी चलाई जा सकती है . जैसे, खाने की चीजो और पीने के पानी में बीमारियो के कीटाणु डालकर, या बीमारी फैलानेवाले जानवरो का उपयोग करके। इसकी मिसाल चूहा है, जो प्लेग के कीटाणु फैलाता है।

ये सारी बातें राक्षसी और अनहोनी मालूम होती हैं, और हैं भी ऐसी ही। कोई राक्षस भी ऐसा करना पसन्द नही करेगा। मगर जब लोग एकदम दहल जाते हैं और मौत-जिन्दगी की लडाई मे फँस जाते हैं, तो अनहोनी घटनाएँ भी हो जाती हैं। वैरी देश ऐसे अनुचित और राक्षसी उपायो का सहारा लेगा। भय ही हर देश को पहला वार करने के लिए उकसा सकता है, क्योकि ये हथियार इतने भयकर हैं कि जो देश पहले इनका इस्तेमाल करेगा, वह बहुत फायदे मे रहेगा। दहशत की आँखें बडी होती हैं।

जहरीली गैस तो पिछले महायुद्ध मे सचमुच खूब काम मे ली गई थी, और यह बात बहुत लोगो को मालूम है कि जगी कार्रवाइयो के लिए इस गैस को तैयार करनेवाले बडे-बडे कारखाने तमाम बडी-बडी शक्तियो के पास मौजूद हैं। इन सब बातो से यह निराला नतीजा निकलता है कि अगले महायुद्ध मे असली लडाई युद्ध के मोर्चों पर नही होगी, जहाँ कुछ सेनाएँ खन्दको मे पडी-पडी आपस मे लडती रहेंगी, बल्कि मोर्चों के पीछे शहरो मे और नागरिक जनता के घरो मे होगी। यहाँ-तक हो सकता है कि युद्ध के दौरान सबसे ज्यादा हिफाजत की जगह शायद लडाई का मोर्चा ही बन जाय, क्योकि वहाँपर हवाई हमलो से और जहरीली गैसो से और बीमारियो के कीडो से सिपाहियो की हिफाजत का पूरा इन्तजाम रहेगा। लेकिन पीछे रहनेवाले पुरुषो और स्त्रियो और बच्चो के लिए इस प्रकार की हिफाजत का कोई बन्दोबस्त नही होगा।

इस सबका नतीजा क्या होगा ? क्या सारी दुनिया का सर्वनाश ? क्या सदियो की कोशिशो से तैयार की गई सस्कृति और सभ्यता की सुन्दर इमारत का अन्त ?

कोई नही जानता कि क्या होने वाला है। भविष्य के पर्दे मे क्या छिपा है, उसे हम नही देख सकते। आज हम देखते हैं कि ससार मे दो तरह की हलचलें चल

रही हैं। ये दोनों हलचलें आपस में विरोधी और एक दूसरी से उलटी हैं। एक तो सहयोग व समझदारी की उन्नति की, और सभ्यता का भवन खड़ा करने की है, दूसरी हलचल सत्यानाशी है, हरेक चीज़ को फाड़ फेंकनेवाली है, मनुष्य-जाति की आत्म-हत्या की कोशिश है। दोनों की रफ़्तार दिन-पर-दिन तेज होती जा रही है, दोनों विज्ञान के हथियारों और तरकीबों से अपनेको लैस कर रही हैं। दोनों में, कौन विजयी होगी ?

१८४
महान् आर्थिक-मन्दी और संसार-व्यापी संकट

१९ जुलाई, १९३३

विज्ञान ने मनुष्य के हाथ में जो शक्तियाँ सौंप दी हैं, और मनुष्य उनका जैसा उपयोग कर रहा है, इसपर हम जितना ज्यादा विचार करते हैं उतना ही हमें ताज्जुब होता है। क्योंकि आज पूंजीवादी दुनिया की वास्तव में अजीब बुरी गत है। रेडियो के जरिये विज्ञान हमारी आवाज को दूर-दूर देशों में पहुँचा देता है, बेतार के टेलीफ़ोन से हम पृथ्वी के दूसरे छोर पर बसनेवाले लोगों से बातचीत करते हैं, और बहुत थोड़े दिनों में टेलीवीजन के जरिये उन्हें देख भी सकेंगे। अपनी अद्भुत तरकीबों से विज्ञान मनुष्य-जाति के लिए सारी जरूरी चीजें काफी मिकदार में तैयार कर सकता है, और संसार को गरीबी के प्राचीन बवाल से सदा के लिए छुटकारा दिला सकता है। इतिहास की सुबह के शुरू के दिनों से ही मनुष्य ऐसी स्वर्ग-भूमि के सपने देखते आये थे, जिसमें दूध-दही की नदियाँ बहती हों और हर चीज का भण्डार भरा हो। और इसी कल्पना में वे अपनी रोजाना जिन्दगी की उस सख्त मेहनत से राहत पाने का यत्न करते आ रहे थे, जो उन्हें दबोच रही थी और बदले में कुछ भी नहीं दे रही थी। वे बीते हुए स्वर्ण-युग की कल्पना करते आये थे, और आनेवाले ऐसे स्वर्ग की आशा लगाये बैठे थे, जिसमें कम-से-कम उन्हें शान्ति और सुख तो मिले। और तब विज्ञान आया, जिसने बहुतायत पैदा करने के साधन उनके हाथों में दे दिये। मगर इस असली और ख़याली बहुतायत के बीच में भी मनुष्य-जाति का ज्यादा भाग दुखी और नंगा-भूखा बना रहा। क्या यह एक अजीब उलटबासी नहीं है ?

हमारा वर्तमान समाज विज्ञान और उसके भरपूर तोहफ़ों से सचमुच दुविधा में पड़ गया है। ये आपस में मेल नहीं खाते, पूंजीवादी ढंग के समाज में और विज्ञान की नई-से-नई तरकीबों व पैदावार के साधनों में आपसी टकराव है। समाज ने माल पैदा करना तो सीख लिया है, पर अपनी पैदावार का वितरण करना नहीं सीखा है।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद अब हम यूरोप और अमेरिका पर फिर नजर डालते है। महायुद्ध के बाद के दस वर्षों मे इनकी मुसीबतो और कठिनाइयो का कुछ हाल मैं लिख चुका हूँ। हारे हुए देश, यानी जर्मनी और मध्य-यूरोप के छोटे देश, युद्ध के बाद की हालतो से बुरी तरह पिस गये और उनके सिक्को की कीमत बिलकुल गिर जाने से उनके मध्यम-वर्ग बरबाद हो गये। पर यूरोप की जीती हुई और कर्ज़ देनेवाली शक्तियो की हालत भी कुछ अच्छी नही थी। इनमे सारी-की-सारी शक्तियाँ अमेरिका की कर्ज़दार थी, और इनपर घरू राष्ट्रीय क़र्ज़ भी बडा भारी था। इन दोनो कर्ज़ों के बोझ से वे ठोकर खा रही थी और लडखडा रही थी। वे यह आशा लगाये बैठी थी कि जर्मनी से हर्जाने का रुपया मिलेगा और इससे वे कम-से-कम अपने विदेशी क़र्ज़ चुका सकेंगी। यह आशा बहुत वाजिब नही थी, क्योकि जर्मनी तो खुद दिवालिया हो रहा था। लेकिन यह कठिनाई इस तरह हल हो गई कि अमेरिका ने जर्मनी को रुपया उधार दिया, और जर्मनी ने इंग्लैण्ड, फ्रान्स, वग़ैरा को उनके हिस्से के हर्जाने की रकम चुकाई, और इन देशो ने इसी रकम से अपने ऊपर अमेरिका के क़र्ज़ों का कुछ भाग अदा कर दिया।

इस दशाब्दी मे सयुक्त राज्य अमेरिका ही अकेला ऐसा देश था, जो खूब खुशहाल था। उसके यहाँ तो धन की बाढ-सी आ रही थी। इसी खुशहाली की वजह से वहाँ के लोग बडी लम्बी-चौडी उम्मीदें बाँधने लगे, और सरकारी हुण्डियो व शेयरो का सट्टा करने लगे।

पूंजीवादी दुनिया मे आम धारणा थी कि यह आर्थिक संकट पिछली मन्दियो की तरह ही गुज़र जायगा, और फिर धीरे-धीरे ससार की सारी गडबडें मिटकर खुशहाली का एक और दौर आ जायगा। वास्तव मे ऐसा मालूम होता है कि पूंजीवाद की ज़िन्दगी मे खुशहाली के बाद सकट और सकट के बाद खुशहाली का हेर-फेर रहा है। यह बहुत दिन पहले ही बतलाया जा चुका था कि यह चीज़ पूंजीवाद के योजनाहीन और अवैज्ञानिक तरीको मे लाज़िमी है। उद्योगो की उन्नति से तेजी का ज़माना आया, और इससे फायदा उठाने के लिए सबने जहाँतक हो सके ज्यादा-से-ज्यादा माल पैदा करना चाहा। नतीजा यह हुआ कि पैदावार खपत को पार कर गई—यानी जितना माल बिक सकता था, उससे ज्यादा तैयार हो गया। ढेर-का-ढेर माल जमा हो गया, सकट पैदा हो गया, और उद्योग फिर ढीले पड गये। कुछ दिन तक हालत ठहरी रही, और इस समय मे इकट्ठा हुआ माल धीरे-धीरे बिक गया। और फिर उद्योग दुबारा चेत गये और खुशहाली का एक और जमाना जल्दी आ गया। सदा से यही चक्कर चलता आया था, इसलिए ज्यादातर लोगो को आशा थी कि खुशहाली का दौर कभी-न-कभी लौटकर आयगा ही।

पर १९२९ ई० मे अचानक परिवर्तन हुआ, जिससे हालत सुधरने के बजाय

बिगड गई। अमेरिका ने जर्मनी और दक्षिणी अमेरिका के राज्यो को रुपया उधार देना बन्द कर दिया, और उधार देने व कर्जों के भुगतान के काग़ज़ी ढाँचे को खत्म कर दिया। ज़ाहिर था कि अमेरिकी पूंजीपति सदा रुपया उधार देते नही चले जायँगे, क्योकि इससे उनके कर्ज़दारो की देनदारी बढती ही जाती थी, और इन क़र्ज़ों का कभी भी भुगतान हो सकना नामुमकिन होता जाता था। अभी तक वे रुपया इसलिए उधार देते रहे थे कि उनके पास नकद धन की बहुतायत थी, जो बेकार पडा हुआ था। फालतू रुपये की इस बहुतायत की वजह से ही वे शेयर-बाज़ार मे खूब सट्टेबाज़ी करने लगे। लोगो को सट्टेबाज़ी का बुख़ार-सा चढ गया, और हर आदमी जल्दी-से-जल्दी मालदार बनने की इच्छा करने लगा।

जर्मनी को दी जानेवाली उधारी बन्द होने से फौरन ही सकट पैदा हो गया, और कुछ जर्मन बैंको का दिवाला निकल गया। धीरे-धीरे हर्जानो व कर्ज़ों के भुगतान का चक्कर बन्द हो गया। दक्षिणी अमेरिका की कई सरकारें और दूसरे छोटे राज्य नादिहन्द होने लगे। अमेरिका के राष्ट्रपति हूवर ने जब यह ख़तरा देखा कि लेन-देन की सारी इमारत ही ढह रही है, तो उसने जुलाई, १९३१ ई०, तक के लिए एक साल की छूट का ऐलान कर दिया। इसका मतलब यह था कि तमाम क़र्ज़दारो को राहत देने के लिए सरकारो के सारे आपसी कर्ज़ों की और हर्जानो की अदायगी एक साल के लिए बन्द कर दी गई।

इसी बीच अक्तूबर, १९२९ ई० मे, अमेरिका मे एक मार्के की घटना हो गई। शेयर-बाज़ार मे सट्टेबाज़ी से पहले तो शेयरो के भाव बेतहाशा ऊँचे चढ़ गये, और बाद मे एकदम नीचे गिर गये। न्यूयार्क की साहूकार मडलियो मे बडा भारी सकट पैदा हो गया, और अमेरिका की खुशहाली का ज़माना बस यही खत्म हो गया। सयुक्त राज्य अमेरिका भी उन्ही राष्ट्रो की पक्ति मे आ गया, जो मन्दी की मुसीबतें भुगत रहे थे। व्यापार व उद्योग मे यह मन्दी अब 'महामन्दी' बन गई, और सारे ससार पर छा गई। यह न समझ बैठना कि अमेरिका की यह गिरावट या यह मन्दी, शेयर-बाज़ार की सट्टेबाज़ी या न्यूयार्क के अर्थ-सकट के नतीजे थे। यह तो ऊँट की पीठ पर सिर्फ आख़िरी तिनका था। असली सबब तो बहुत गहरे थे।

ससार-भर मे व्यापार घटने लगा, और चीज़ो के भाव, खासकर खेती की उपज के भाव, तेज़ी से गिरने लगे। कहा जाता था कि करीब-करीब हर चीज़ की पैदावार ज़रूरत से ज्यादा हो रही थी, पर दरअसल इसका अर्थ यह था कि तैयार माल को खरीदने के लिए लोगो के पास पैसा ही नही था, यानी जितनी खपत होनी चाहिए उतनी नही हो रही थी। जब बनी हुई चीज़ो का बिकना बन्द हो गया तो उनका ढेर जमा हो गया, और ऐसी हालत मे इन चीज़ो को बनानेवाले कारखानो को बन्द करना लाज़िमी हो गया। जिन चीज़ो की बिक्री ही नही थी, तो उन्हे बनाते

चले जाना कोई मतलब नही रखता था। इसका नतीजा यह हुआ कि यूरोप मे, अमेरिका मे और दूसरे देशो मे बेरोजगारी बे-हिसाब बढ गई। तमाम औद्योगिक देशो पर करारी चोट पडी। जो खेतिहर देश ससार की मडियो को उद्योगो के वास्ते कच्चा सामान भेजते थे, उनका भी यही हाल हुआ। भारत के उद्योगों को भी कुछ हद तक नुकसान पहुँचा, पर कीमतो के गिरने से खेतिहर वर्गों के लिए बहुत बडी मुसीबत पैदा हो गई। साधारण तौरपर अन्नो के भाव मे यह गिरावट जनता के लिए बडा भारी वरदान होनी चाहिए थी, क्योकि लोग खाना खरीद सकते थे। मगर पूंजीवादी प्रणाली की दुनिया मे उलटी गगा बहती है, इसलिए यह वरदान अभिशाप बन गया। किसान-वर्ग को ज़मीदार का लगान या सरकारी मालगुज़ारी नकद चुकानी पडती थी, और नकद रुपया पाने के लिए उन्हें अपनी उपज बेचनी पडती थी। भाव इतने ज्यादा नीचे गिर गये थे कि कभी-कभी तो किसान लोग अपनी पैदावार की सारी चीज़ बेच देने पर भी काफी रुपया इकट्ठा नही कर पाते थे। नतीजा यह होता था कि कई बार उन्हें अपनी ज़मीनो से बेदखल कर दिया जाता था और झोपडियो मे से निकाल दिया जाता था और लगान वसूल करने के लिए उनका छोटा-सा घरेलू सामान तक नीलाम कर दिया जाता था। बस, अन्न बहुत सस्ता होने पर भी उसे पैदा करनेवाले भूखो मरते थे और उन्हें बेघर कर दिया जाता था।

ससार की आपसी निर्भरता ने ही इस मन्दी को ससार-व्यापी बना दिया। मेरा खयाल है कि सिर्फ तिब्बत-जैसा देश ही, जो बाहर की दुनिया से अलग-थलग है, इस मन्दी से बचा रहा होगा। महीने-दर-महीने मन्दी फैलती गई और व्यापार गिरता गया। मानो समूचे समाजी ढाँचे को धीरे-धीरे लकवा मार रहा था और उसे अपग बना रहा था। व्यापार की इस गिरावट का अन्दाज़ा लगाने का सबसे अच्छा तरीका शायद यह है कि राष्ट्र-सघ के प्रकाशित किये हुए व्यापार के आँकडो की ही जाँच की जाय। इन आँकडो से पता लगेगा कि हर साल के पहले तीन महीनो मे कितने लाख स्वर्ण-डालर का व्यापार हुआ

पहली तिमाही	आयात मूल्य	निर्यात मूल्य	कुल
१९२९	७९७२०	७३१७०	१५२८९०
१९३०	७३६४०	६५२००	१३८८४०
१९३१	५१५४०	४५३१०	९६८५०
१९३२	३४३४०	३०२७०	६४६१०
१९३३	२८२९०	२५५२०	५३८१०

ये आँकडे बतलाते हैं कि ससार का व्यापार किस तरह बराबर कम होता गया और १९३३ ई० की पहली तिमाही मे यह चार साल पहले के व्यापार का ३५ फ़ीसदी, यानी करीब एक-तिहाई रह गया।

व्यापार के बारे मे ये कोरे आँकडे इन्सानी लिहाज़ से हमे क्या बतलाते हैं ? ये बतलाते है कि जनता के ज्यादातर लोग इतने गरीब हैं कि जो चीज़ें वे तैयार करते हैं, उन्हे खरीद नही सकते । ये आँकडे बतलाते हैं कि मजदूरो की बडी भारी सख्या बे-रोज़गार है, और सारा ससार दिल से चाहे तो भी इन्हे रोज़गार नही मिल सकता । सिर्फ यूरोप और सयुक्त राज्य अमेरिका मे ही तीन करोड बेकार मजदूर थे, जिनमे से तीस लाख इग्लैण्ड मे और एक करोड तीस लाख अमेरिका मे थे । भारत मे और एशिया के दूसरे देशो मे कितने बेरोज़गार हैं, यह कोई नही जानता । शायद भारत मे ही इनकी सख्या यूरोप और अमेरिका के कुल बेरोज़गारो से बहुत ज्यादा है । सारे संसार के इन अनगिनती बे-रोज़गारो का और इनके आसरे रहनेवाले इनके परिवारो का विचार करो तो तुम्हें उस इन्सानी मुसीबत का कुछ अन्दाज़ा होगा, जो व्यापार की इस मन्दी से हुई है । यूरोप के बहुत-से देशो मे सरकारी बीमा-प्रणाली के मातहत बेरोज़गारो के रजिस्टर मे नाम दर्ज करानेवाले तमाम लोगो को गुज़र खर्च दिया जाता था, सयुक्त राज्य अमेरिका मे उन्हें खैरात बाँटी जाती थी । मगर ये गुज़ारे और खैरातें ज्यादा राहत नही दे सके । बहुतो को तो ये मिले भी नही और भूखे लोग भूखो मरने लगे । मध्य और पूर्व यूरोप के कुछ हिस्सो मे तो बहुत ही बुरी हालत हो गई ।

ससार के तमाम बडे-बडे औद्योगिक देशो मे अमेरिका ऐसा देश था, जिसपर मन्दी की चोट सबसे पीछे पडी, पर इस मन्दी का असर यहाँ दूसरे सब देशो से ज्यादा हुआ । अमेरिका के लोगो को मुद्दत तक रहनेवाली तिजारती मन्दी और तक़लीफ़ो की आदत नही थी । घमण्डी, और पैसे का घमण्डी, अमेरिका इस चोट से सुन्न हो गया । और जब बेकारो की सख्या मे बराबर लाखो की बढोतरी होने लगी और भूखे व भूख से तडपनेवाले हर जगह दिखाई देने लगे, तो सारे राष्ट्र की हिम्मत टूटने लगी । बैंको मे और पूँजी लगाने के कामो मे लोगो का विश्वास उठने लगा और वे बैंको से रुपया निकाल-निकालकर घरो मे जमा करने लगे । बैंक तो विश्वास और साख के आधार पर ही कायम रहते हैं । अगर विश्वास उठ जाता है तो बैंक भी खत्म हो जाता है । सयुक्त राज्य अमेरिका मे हजारो बैंको के दिवाले निकल गये और ज्यो-ज्यो दिवाले निकलते गये त्यो-त्यो सकट भी बढने लगा और आमतौर पर हालत पहले से भी ज्यादा विकट हो गई ।

हज़ारो बे-रोज़गार नर-नारी आवारा बन गये और रोज़गार की तलाश मे नगर-नगर मारे-मारे फिरने लगे । वे सडको पर घूमते रहते थे, रास्ते पर गुज़रने-वाले मोटर-यात्रियो से मिन्नते करते थे कि उन्हें बिठा लें और अक्सर धीमी माल-गाडियो के पायदानो पर लटक जाते थे । इस लम्बे-चौडे देश मे अकेले या छोटे-छोटे गिरोहो मे इधर-से-उधर भटकनेवाले लडको और लडकियो और छोटे बच्चो की

सख्याएँ और भी ज्यादा चौंकानेवाली थी। इधर बडी उम्रवाले और हट्टे-कट्टे आदमी रोज़गार की बाट जोहते हुए और उम्मीद करते हुए निकम्मे बैठे थे, और नमूने के सरकारी कारखाने भी बन्द कर दिये गए थे। लेकिन पूंजीवाद की खासियत ऐसी है कि ऐसे समय मे कम मजूरी देकर कडी मेहनत लेनेवाले अँधेरे और गन्दे-काम-घर जगह-जगह खुल गये, जिनमे बारह से सोलह साल की उम्रतक के लडके-लडकियो से नाम की मजूरी पर दस-बारह घण्टे काम लिया जाता था। बडे लडकों व लडकियो पर बेकारी का जो जबर्दस्त असर पडा, उसकी मजबूरी का फ़ायदा उठाकर कुछ कारखानेदारो ने इन जवान लडके-लडकियो से अपने मिलो और कारखानो मे खूब कसकर और देर-देर तक काम करवाया। इस तरह मन्दी के सबब से अमेरिका मे बच्चो की मज़दूरी फिर शुरू हो गई, और इस बुराई को व दूसरी बुराइयो को रोकनेवाले मज़दूर-कानूनो को खुले आम अगूठा दिखाया गया।

याद रहे कि अमेरिका मे या दुनिया के दूसरे देशो मे अन्न की और कारखानो के बने माल की कोई कमी नही थी। शिकायत यह थी कि ये चीज़ें ज़रूरत से ज्यादा थी, यानी पैदावार खपत से ज्यादा थी। मशहूर अग्रेज़ अर्थशास्त्री सर हेनरी स्ट्रैकोश ने कहा था कि जुलाई, १९३१ ई० मे, यानी मन्दी के दूसरे साल मे, दुनिया के बाज़ारो मे इतना माल था कि वह सवा दो वर्ष तक ससार-भर के लोगो की गुज़र-बसर का वही दर्जा कायम रखने के लिए काफी था, जिसके वे आदी थे। चाहे इस बीच वे तिनका तक न हिलाते। मगर फिर भी इसी ज़माने मे लोगो को इतनी तगी और भुखमरी भुगतनी पडी जितनी आज की औद्योगिक दुनिया मे आज तक कभी नही हुई। इधर तो यह तगी थी और उधर अन्न को सचमुच बर्बाद कर दिया गया। फसलें काटी नही गईं और खेतो मे पडी-पडी सडने दी गईं, फल पेडो पर ही लटके छोड दिये गए, और कुछ चीज़ें तो सचमुच नष्ट ही कर दी गईं। इसकी सिर्फ एक मिसाल यहाँ देता हूँ जून, १९३१ ई०, से लगाकर फरवरी, १९३३ ई० तक ब्राज़ील मे कहवा—(काफी) की १,४०,००,००० बोरियाँ नष्ट कर दी गईं। एक बोरी मे करीब १३२ पौण्ड कहवा भरा जाता है, इसलिए १,८४,८०,००,००० पौण्ड कहवा इस तरह नष्ट कर दिया गया! अगर एक-एक आदमी को एक-एक पौण्ड कहवा भी दिया जाय, तो इतना कहवा ससार की कुल आबादी के लिए काफी होता। मगर हम जानते हैं कि लाखो आदमी, जो कहवा पीना चाहते हैं, इतने गरीब हैं कि कहवा खरीद ही नही सकते।

क़हवा के अलावा गेहूँ और कई दूसरी चीज़ें नष्ट की गईं। कपास, रबड, चाय, वग़ैरा की खेती पर पाबन्दियाँ लगाकर आयन्दा इनकी उपज कम करने के उपाय भी किये गए। यह सारी बर्बादी और पाबन्दियाँ लगाने की ये कार्रवाइयाँ खेती

की उपज के भाव बढ़ाने के लिए की गई थीं, ताकि इन चीजों की कमी से मांग पैदा हो जाय और क़ीमतें ऊँची चढ़ जायें। बाजार में अपनी उपज बेचनेवाले किसान के लिए बेशक फ़ायदे की बात हो सकती है, लेकिन खरीदार का क्या होगा? अगर पैदावार ज़रूरत से कम होती है तो कीमतें इतनी चढ़ जाती हैं कि ज्यादा लोग चीज़ें नहीं खरीद सकते और तंगी भुगतते हैं। अगर पैदावार ज़रूरत से ज्यादा हो तो कीमतें इतनी गिर जाती हैं कि उद्योगों और खेतीबाड़ी के काम नहीं चल सकते और बेकारी पैदा हो जाती है। और बे-रोजगार लोग कोई चीज कैसे खरीद सकते हैं, क्योंकि खरीदने के लिए उनके पास पैसा ही नहीं होता! चाहे तो कमी हो और चाहे बहुतायत, जनता की किस्मत में तो दोनों ओर से तंगी भुगतना ही बदा है।

मैं लिख चुका हूँ कि मन्दी के दौर में अमेरिका में या दूसरे देशों में चीजों की कोई कमी नहीं थी। किसानों के पास तो खेती की उपज थी, जिसे कोई खरीदने-वाला नहीं था, और शहरी लोगों के पास कारखानों का बना माल था, जिसे वे बेच नहीं पाते थे। मजा यह है कि दोनों को एक-दूसरे के सामानों की जरूरत थी। मगर चूँकि दोनों तरफ रुपये की कमी थी, इसलिए विनिमय का सिलसिला रुक गया। और तब निहायत औद्योगिक और आगे बढ़े हुए पूँजीवादी अमेरिका में लोगों ने चीजों की अदला-बदली का प्राचीन तरीका अपनाया, जो पुराने जमाने में सिक्कों के चलन से पहले बरता जाता था। अमेरिका में चीजों का लेन-देन करनेवाली सैकड़ों संस्थाएँ बन गईं। जब रुपये की कमी से विनिमय की पूंजीवादी प्रणाली तहस-नहस हो गई, तो लोग बिना रुपये के ही काम चलाने लगे और चीजों की व काम की अदला-बदली करने लगे। इस अदला-बदली को सर्टिफिकेट देकर सहायता करनेवाली कितनी ही विनिमय समितियाँ पैदा हो गईं। इस अदला-बदली की एक शानदार मिसाल एक डेरीवाले की है, जिसने एक विश्वविद्यालय को अपने बच्चों की शिक्षा के ऐवज में दूध, मक्खन और अंडे दिये।

दूसरे देशों में भी कुछ हद तक अदला-बदली की प्रणाली चालू हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की पेचीदा प्रणाली भंग होने से राष्ट्रों के बीच चीजों की अदला-बदली के भी बहुत-से मौके आये। मसलन, इंग्लैण्ड ने स्कैण्डिनेविया को इमारती लकड़ी के बदले में कोयला दिया, कनाडा ने सोवियत को खनिज तेल के बदले में अल्यूमीनियम दिया, संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्राजील को कहवा के ऐवज में गेहूँ दिया।

इस मन्दी ने अमेरिका के किसानों को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। उन्होंने अपने खेतों को रेहन रखकर बैंकों से जो रुपया उधार लिया था, उसे वे चुका नहीं सके। इसपर बैंकों ने यह कोशिश की कि इन खेतों को बिकवाकर अपना रुपया

वसूल करें। मगर किसानो ने इसका विरोध किया, और इस किस्म के नीलामो को रोकने के लिए सगठित होकर अपनी 'कार्रवाई समितियाँ' बना ली। नतीजा यह हुआ कि इस तरह के नीलामो मे किसानो की मिल्कियतो पर बोली लगाने की किसीको हिम्मत नही हुई, और बैंको को मजबूर होकर उनकी शर्तें माननी पडी। किसानो का यह विद्रोह अमेरिका के मध्य-पश्चिमी प्रदेशो मे फैल गया। यह विद्रोह इस बात को ज़ाहिर करनेवाला इशारा था कि सकट पैदा होने से अमेरिका की पुरानी नस्ल के वे पुराने विचारोवाले किसान, जो मुद्दत से देश की रीढ थे, किस कदर सरगर्म होते जा रहे थे और उनका नज़रिया किस कदर क्रान्तिकारी बनता जा रहा था। इनका यह आन्दोलन ठेठ देशी था, समाजवाद या साम्यवाद से इसका कोई ताल्लुक नही था। आर्थिक मुसीबतो के सबब से मिल्कियत के हकदार ये मध्यम-वर्गी किसान महज़ खेत जोतनेवाले और बे-मिल्कियत काश्तकार बनते जा रहे हैं। उनके कुछ नारे ये थे "इन्सान के हक कानूनी व-जायदादी हक़ो से ऊपर है" और "रेहन की हुई जायदाद पर सबसे पहला हक पत्नियो और सन्तानो का है।"

सयुक्त राज्य अमेरिका की हालतो को मैने कुछ विस्तार के साथ बयान किया है, क्योंकि बहुत बातो मे अमेरिका मन को लुभानेवाला देश है। पूँजी-वादी देशो मे यह सबसे ज्यादा आगे बढा हुआ है, और यूरोप व एशिया की जैसी पुरानी सामन्ती जडे हैं, वैसी इसकी नही है। इसलिए यहाँ परिवर्तन ज्यादा तेज़ रफ्तार से हो सकते हैं। दूसरे देशो की जनता को तगी भुगतने का ज्यादा अभ्यास है, पर जो कुछ बतलाया है, उससे तुम अन्दाज़ा लगा सकती हो कि मन्दी के दौर मे दूसरे देशो की क्या हालत थी। कुछ की हालत बहुत खराब थी, और कुछ की जरा अच्छी थी। कुल मिलाकर मन्दी का बुरा असर खेतिहर और पिछडे हुए देशो पर इतना नही पडा जितना उन्नत औद्योगिक देशो पर। उनके पिछडेपन ने ही एक तरह से उन्हें बचा दिया। उनकी सबसे बडी मुसीबत खेती की उपज के भावो का एकदम गिर जाना था, जिससे किसान-वर्ग को भारी कष्ट सहना पडा। आस्ट्रेलिया, जो ज्यादातर खेतिहर देश है, इग्लैण्ड के बैंको को अपना क़र्ज़ नही चुका सका, और कीमतो की इस गिरावट से उसके दिवालिया होने की नौबत आ गई। अपनी जान बचाने के लिए उसे अग्रेज़ी बौहरो की कठोर शर्तों पर रज़ामन्द होना पडा। मन्दी मे सबसे ज्यादा फूलने-फलनेवाला और दूसरो पर रौब जमानेवाला वर्ग बौहरो का ही होता है।

सयुक्त राज्य से उधार मिलना बन्द होने की वजह से और मन्दी की वजह से दक्षिण अमेरिका मे ऐसा आर्थिक सकट पैदा हुआ कि गणराज्य-वाली ज्यादातर हुकूमतो के, या यो कहो कि उनपर राज करनेवाले तानाशाहो

पर भी पडा, क्योकि खेती की जो उपज यह दूसरे देशो मे बेचता था, उसकी क़ीमतें गिर गई थी।

इस महामन्दी का, इस ससार-व्यापी सकट का, क्या सबब था, जो अपने ढग से लगभग उतना ही भयानक था जितना कि खुद महायुद्ध ? यह पूंजीवादी सकट कहलाता है, क्योकि लम्बा-चौडा और पेचीदा पूंजीवादी ढाँचा इसके बोझ से बुरी तरह तडक गया था। पूंजीवाद ने ऐसा ढग क्यो अपनाया ? और क्या यह ऐसा चन्द-रोज़ा सकट था, जिसकी मार से पूंजीवाद बच जायगा ? क्या यह एक तरह से उस बडी भारी प्रणाली की आखिरी हिचकियो की शुरुआत थी, जो इतनी मुद्दत से ससार पर छाई हुई है ? ऐसे कितने ही सवाल उठते हैं, और हमे दहला देते हैं, क्योकि इनके उत्तर पर सारी मनुष्य-जाति का, और साथ ही हमारा भी, भविष्य निर्भर है। दिसम्बर १९३२ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने अमेरिकी सरकार को एक खरीता भेजा, जिसमे मिन्नत की गई थी कि उसे युद्ध के कर्ज़ से बरी कर दिया जाय। इस खरीते मे बतलाया गया था कि किस तरह 'मर्ज़ बढता गया, ज्यो-ज्यो दवा की'। इसमे लिखा था "हर जगह टैक्स बडी बेरहमी से बढा दिये गए हैं और खर्च बुरी तरह कम कर दिये गए हैं। मगर फिर भी इलाज करने के इरादे से लगाये गए अकुशो की पाबन्दियो से यह मर्ज़ और ज्यादा बढ गया है।" आगे चलकर इसमे बतलाया गया था कि "ये नुकसान और कष्ट कुदरत की कजूसी के सबब से नही हुए हैं। भौतिक विज्ञान की सफलताएँ बढ रही हैं, और असली दौलत पैदा करनेवाली चीजो के छिपे हुए भण्डार ज्यो-के-त्यो हैं।" कसूर कुदरत का नहीं था, बल्कि मनुष्य का था, और मनुष्य की पैदा की हुई प्रणाली का था।

पूंजीवाद की इस बीमारी का ठीक-ठीक निदान करना या इसके लिए दवा का नुस्खा तजवीज़ करना आसान नही है। अर्थशास्त्रियो को इसका पूरा ज्ञान होना चाहिए पर उनमे मतभेद है और वे इसके अलग-अलग कारण और इलाज बतलाते हैं। साम्यवादी और समाजवादी ही ऐसे लोग नज़र आते हैं, जिनके दिमाग़ इस बारे मे बिलकुल साफ हैं। उनका कहना है कि पूंजीवाद की बधिया बैठना उनके विचारो और मतो को सही साबित करता है। पूंजीवाद के माहिरो ने तो साफ़ कबूल कर लिया कि वे चक्कर और उलझन मे पड गये हैं। इगलैण्ड के एक बहुत बडे और बहुत काबिल साहूकार मॉन्टेग्यू नॉर्मन ने, जो बैंक ऑफ इग्लैण्ड का गवर्नर है, एक सार्वजनिक समारोह मे कहा था "यह आर्थिक समस्या मेरे बूते की बात नहीं है। कठिनाइयाँ इतनी लम्बी-चौडी हैं, इतनी अनोखी हैं, और इतनी बे-मिसाल हैं कि इस समूचे विषय पर विचार करने का न तो मुझे ज्ञान है और न हिम्मत है। यह समस्या इतनी बडी है कि मैं इसे नही सुलझा सकता। आयन्दा की बात यह है कि शायद हम इस अंधेरी सुरग के दूसरे सिरे की उस रोशनी को देख सकें, जिसकी

तरफ़ कुछ लोग इशारा भी कर चुके हैं।" मगर यह रोशनी अगिया बैताल की तरह का मायाजाल है, जो पहले तो उम्मीदें पैदा करता है, मगर फ़ौरन ही उन्हें मिट्टी में मिला देता है। एक नामी अंग्रेज राजनीतिज्ञ, सर ऑकलैण्ड गेडीस ने कहा है "विचारवान लोगो का विश्वास है कि समाज चूर-चूर होने लगा है। हम जानते हैं कि यूरोप मे तो एक युग ही खत्म हो रहा है।"

जर्मनी के लोग यह मानते थे कि सकट का असली सबब हर्जानो की वसूली था, बहुत-से दूसरे लोग यह मानते थे कि यह मन्दी राष्ट्रो के आपसी व घरेलू जगी कर्ज़ों के कारण आई, क्योंकि इनका बोझा बर्दाश्त से बाहर हो गया है और सारे उद्योगो का गला दबा रहा है। इस तरह दुनिया की मुसीबतो का कसूर सबसे ज्यादा महायुद्ध के सिर मढा जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियो का मत था कि रुपये का विचित्र बर्ताव और कीमतों की भारी गिरावट ही सारी मुसीबत की जड थी, और ये चीजें सोने की कमी का नतीजा थी। और सोने की कमी एक तो इस वजह से हुई कि खानों मे से दुनिया की जरूरत के मुताबिक काफी सोना नही निकला, और ज्यादा इस वजह से हुई कि कई सरकारो ने सोना दबाकर रख लिया। कुछ दूसरे लोग कहते थे कि ये सारी मुसीबतें आर्थिक राष्ट्रीयता तथा आने-जानेवाले माल पर भारी चुगियो की वजह से पैदा हुई, क्योंकि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे रुकावटें पड़ती हैं। एक और सबब यह पेश किया गया कि उद्योगों मे विज्ञान का उपयोग बढ़ने से मजदूरो की जरूरत कम हो गई और इस तरह बेरोज़गारी बढ़ गई।

इन सुझावो और दूसरे सुझावो के बारे मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है, और मुमकिन है कि इन सबने ही दुनिया का मिज़ाज बिगाड दिया हो। पर सारा दोष किसी एक सबब के सिर या सारे सबबो के सिर मढ़ना न तो ठीक है और न वाजिब। सच तो यह है कि जिनको सबब कहा जाता है, उनमें से कुछ तो खुद ही इस सकट के नतीजे थे, और इनमें से हरेक ने उसे बढ़ाने मे मदद दी। लेकिन इस मुसीबत की जड बहुत गहरी थी। युद्ध मे हारना इसका सबब नही था, क्योंकि जीतनेवाले राष्ट्र भी खुद इसमें फँसे हुए थे। राष्ट्रो की ग़रीबी भी इसका सबब नही थी, क्योंकि ससार का सबसे ज्यादा मालदार देश अमेरिका भी उन देशो मे से था, जिनपर इस सकट का बहुत बुरा असर पडा था। इसमे कोई शक नही कि इस सकट को जल्द लाने मे महायुद्ध एक जबर्दस्त निमित्त हुआ है—एक तो कर्ज़ों के भारी बोझ की वजह से, और दूसरे, क़र्ज़दारो मे इनके बँटवारे के ढग की वजह से। एक और सबब यह भी था कि युद्ध के दौरान और युद्ध के कुछ वर्षों मे चीजो की ऊँची कीमतें झूठी थीं, इसलिए बधिया बैठना लाज़िमी था। लेकिन हमे इसकी गहराई मे जाना चाहिए।

कहा जाता है कि जरूरत से ज्यादा पैदावार इस मुसीबत की जड है। मगर यह गुमराह करनेवाली बात है, क्योकि जब करोडो लोग जिन्दगी के लिए निहायत जरूरी चीजो तक की तगी भुगत रहे हैं तो जरूरत से ज्यादा पैदावार का सवाल ही नही उठना। भारत मे करोडो लोगो के पास तन ढँकने को कपडा नही है, मगर फिर भी यह सुनाई देता है कि भारत की कपडा-मिलो मे और खादी-भण्डारो मे माल भरा पडा है, और कपडा जरूरत से ज्यादा तैयार हो रहा है। हकीक़त यह है कि लोगो के पास कपडा खरीदने के लिए पैसा ही नही है, न कि यह कि उन्हें कपडे की जरूरत नही है। जनता के पास पैसे की कमी ही इसका कारण है। मगर पैसे की इस कमी का यह अर्थ नही है कि दुनिया से पैसा गायब हो गया है। इसका अर्थ यह है कि दुनिया के लोगो मे पैसे का बँटवारा अस्त-व्यस्त हो गया है, और लगातार होता रहता है। दौलत का बँटवारा हमवार नही है। एक ओर तो दौलत की बहुतायत है और दौलतमन्दो को यह नही सूझ पाता है कि इसका क्या करें, वे महज उसे बचाकर रखते जाते हैं, और बैंको मे अपनी जमा-पूंजी बढा रहे हैं। यह रुपया बाजार मे सामान खरीदने के काम नही आता। दूसरी तरफ दौलत की बहुत ज्यादा कमी है, और इसकी कमी से जरूरी चीजें भी नही खरीदी जा सकती।

इस तरह घुमा-फिराकर मानो यह कहा जाता है कि दुनिया मे मालदार और गरीब हैं, हालाँकि यह चीज इतनी साफ है कि इसके लिए किसी दलील की जरूरत नही है। ये मालदार और गरीब इतिहास के शुरू से आजतक चले आ रहे हैं, फिर मौजूदा सकट के लिए इन्हें जिम्मेदार क्यो ठहराया जाता है? मेरा खयाल है कि पिछले किसी पत्र मे लिख चुका हूँ कि पूंजीवादी प्रणाली का सारा झुकाव दौलत के बँटवारे मे असमानता बढाने का है। सामन्ती सूरतो मे जमाने की हालत एक जगह ठहरी हुई थी, या बहुत धीरे-धीरे बदलती थी, पर बडी-बडी मशीनो और ससार-व्यापी मडियोवाला पूंजीवाद जोर से आगे बढ रहा था, और ज्यो-ज्यो व्यक्तियो या जमातो के पास दौलत जमा होती गई, त्यो-त्यो बडी तेजी से परिवर्तन हुए। दौलत के बँटवारे मे बढती हुई असमानता ने, कुछ दूसरे निमित्तो से मिलकर, औद्योगिक देशो मे मजदूर-वर्ग और पूंजीपति-वर्ग के बीच एक नया झगडा पैदा कर दिया। इन देशो के पूंजीपतियो ने मजदूर-वर्ग को पहले से ऊँची मजूरी की, और रहन-सहन की पहले से अच्छी हालतो की, कई रियायतें देकर खिचाव कम कर दिया, मगर ये रियायतें उपनिवेशी और पिछडे हुए प्रदेशो का शोषण करके दी गईं। इस तरह एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका और पूर्वी यूरोप के शोषण से पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के औद्योगिक देशो को दौलत जमा करने मे और इसका कुछ हिस्सा अपने मजदूरो को देने मे मदद मिली। ज्यो-ज्यो नई-नई मडियाँ तलाश होती गईं, त्यो-त्यो नये-नये उद्योग खडे हुए या पुराने उद्योगो का विकास हुआ। साम्राज्यवाद ने इन मडियो और कच्चे माल की सरगर्म तलाश का

रूप ले लिया। जुदा-जुदा औद्योगिक शक्तियो की आपसी होड से उनके स्वार्थ आपस मे टकराने लगे। जब करीब समूचा ससार पंजीवादी शोषण के दायरे मे आ गया तो किसी शक्ति को आगे पैर फैलाने की गुंजायश नही रही और शक्तियो के आपसी झगडो का नतीजा यह हुआ कि युद्ध छिड गया।

ये तमाम बातें मैं तुम्हे पहले ही बतला चुका हूँ, लेकिन यहाँ इसलिए दोहरा रहा हूँ कि दुनिया के मौजूदा सकट को समझने मे तुम्हें मदद मिले। विकास करते हुए पूंजीवाद और बढते हुए साम्राज्यवाद के इस ज़माने मे पश्चिम मे कई सकट पैदा हुए। इसका कारण यह था कि एक तरफ तो पैसा हद से ज्यादा बचाया जा रहा था, और दूसरी तरफ लोगो के पास खर्च करने तक को पैसा नही था। मगर ये सकट टल गये, क्योंकि पूंजीपतियो के पास जो फालतू रुपया था, उसे उन्होंने पिछडे हुए प्रदेशो का विकास व शोषण करने मे लगाया। इससे नये-नये बाजार पैदा हो गये और माल की खपत बढ गई। साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की आखिरी सूरत कहा जाता है। मामूली तौर पर शोषण का यह सिलसिला शायद तबतक जारी रहता जबतक कि समूचे ससार का उद्योगीकरण न हो गया होता। पर बीच मे ही कठिनाइयाँ और अटक पैदा हो गईं। सबसे बडी कठिनाई तो साम्राज्यशाही शक्तियो की ज़बर्दस्त मुक़ाबलेबाज़ी थी, क्योंकि हरेक शक्ति अपने लिए सबसे बडा हिस्सा चाहती थी। दूसरी कठिनाई थी उपनिवेशी देशो मे नई राष्ट्रीयता और उपनिवेशी उद्योगो का विकास, जिनसे वे अपने बाज़ारो मे अपना ही माल भेजने लगे। हम देख चुके हैं कि इन तमाम हवाओ के नतीजे से युद्ध छिड गया। मगर युद्ध से पूंजीवाद की कठिनाइयाँ न तो हल हुईं और न हो सकती थी। सोवियत सघ का विशाल प्रदेश पूंजीवादी दुनिया से बिलकुल बाहर निकल गया, और ऐसी मण्डी नही रहा, जिससे दूसरी शक्तियाँ फायदा उठा सकें। पूर्व मे राष्ट्रीयता ज्यादा सरगर्म बनने लगी और उद्योगीकरण फैलने लगा। युद्ध के दौरान और उसके बाद विज्ञान की तकनीक मे जो ज़बर्दस्त तरक्की हुई, उसने दौलत के असमान बँटवारे मे और बेरोज़गारी बढने मे मदद दी। युद्ध के कर्ज़े भी एक ज़बर्दस्त सबब हुए।

युद्ध के ये कर्ज़े बहुत भारी थे, और याद रखने की बात है कि वे किसी दूसरी तरह की ठोस दौलत नही थे। अगर कोई देश रेलो या नहरो या किसी दूसरी देश-हितकारी योजना के लिए रुपया उधार लेता है तो जो रुपया वह उधार लेता है और खर्च करता है उसके बदले मे उसके पास कुछ ठोस चीज़ आ जाती है। वास्तव मे इन कामो पर जितनी दौलत खर्च की जाती है, उससे कही ज्यादा पैदा हो जाती है। इसलिए ये काम 'उत्पादक काम' कहलाते हैं। पर युद्ध-काल मे उधार लिया गया रुपया ऐसे किसी मतलब पर खर्च नही हुआ। यह खर्च उत्पादक तो था ही नही, बल्कि सत्यानासी था। ज़बर्दस्त रकमें खर्च की गईं, और ये अपने पीछे

सत्यानास की निशानियाँ छोड गईं। इस तरह युद्ध के ये कर्ज़े निपट व बहुत भारी बोझ साबित हुए। युद्ध के कर्जे तीन किस्म के थे एक तो हर्जाने, जिन्हें देने के लिए हारे हुए देशो को मजबूर किया गया था, दूसरे सरकारो के आपसी कर्ज़े, जो मित्र-राष्ट्री देशो को आपस मे, और खासकर अमेरिका को, चुकाने थे, और तीसरे राष्ट्रीय क़र्ज़, यानी वह रुपया, जो हर देश ने अपने ही नागरिको से उधार लिया था।

इन तीनो किस्मो के कर्ज़ों मे हरेक कर्ज़ा बहुत ही भारी था, पर हर देश का सबसे बडा क़र्ज़ा उसका राष्ट्रीय कर्ज़ा था। मसलन, युद्ध के बाद इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय कर्ज़ा ६,५०,००,००,००० पौण्ड की विकट सख्या तक पहुँच गया था। इस कर्ज़ का ब्याज तक चुकाना बडा भारी बोझ था, और इसका मतलब था जनता पर टैक्सो का भारी बोझ। जर्मनी ने तो सिक्के का फैलाव करके, जिससे पुराना मार्क खत्म हो गया था, अपने भारी अन्दरूनी कर्ज़े को साफ कर दिया, और इस लिहाज़ से वह उन लोगो को नुकसान पहुँचाकर बोझ से बच गया, जिन्होंने उसे रुपया उधार दिया था। फ्रान्स ने भी कुछ हद तक सिक्के का यही तरीका अपनाया और अपने फ्रैन्क का मूल्य घटाकर असली मूल्य का पाँचवाँ हिस्सा कर दिया, और इस तरह एक झटके मे अपना अन्दरूनी राष्ट्रीय कर्ज़ा पाँच मे से चार हिस्से कम कर दिया। मगर दूसरे देशो को चुकाये जानेवाले कर्ज़ों (हर्जानो या सरकारो के आपसी कर्ज़ों) के साथ यह खेल नही खेला जा सकता था, क्योंकि इनका भुगतान तो ठोस सोने के रूप मे होता है।

सरकारो के ये आपसी क़र्ज़े चुकाने के लिए जब एक देश दूसरे देश को कर्ज़ अदा करता था तो इसका अर्थ यह था कि भुगतान करनेवाला देश उतना रुपया खो देता था, और वह ग़रीब होता जाता था। पर अन्दरूनी राष्ट्रीय कर्ज़ों के भुगतान से देश पर ऐसा कोई असर नही पडता था, क्योंकि देश का धन देश मे ही रहता था। मगर फिर भी इससे बहुत फर्क पडता था। इस क़िस्म के कर्ज़ों को चुकाने के लिए देश के सारे मालदार या गरीब कर-दाताओ पर टैक्स लगाकर रुपया उगाहा जाता था। राज्य को रुपया उधार देकर सरकारी हुडियाँ खरीदने वाले मालदार लोग थे। इसलिए नतीजा यह हुआ कि इन मालदारो का रुपया अदा करने के लिए मालदारो व गरीबो दोनो पर इकसार टैक्स लगाये गए। मालदार लोग तो राज्य को टैक्सो के रूप मे रुपया देते थे, वह उन्हें वापस मिल जाता था, या शायद उससे भी ज्यादा मिल जाता था, मगर ग़रीब लोग तो देते ही थे, बदले मे उन्हें कुछ नही मिलता था। इसलिए मालदार तो ज्यादा मालदार हो गये, और ग़रीब ज्यादा गरीब हो गये।

यूरोप के क़र्ज़दार देश अगर अमेरिका को अपने कर्ज़ों का कुछ हिस्सा अदा

करते थे तो यह तमाम रुपया वडे-वडे बौहरो और साहूकारो की जेवो मे जाता था। इसलिए युद्ध के इन कर्जों का नतीजा यह हुआ कि जो हालत पहले ही खराब थी, वह और भी ज्यादा खराब हो गई, और गरीबो का पेट काटकर मालदार लोग रुपये के वोझ से खूव लद गये। ये मालदार इस रुपये को धन्धो मे लगाना चाहते थे, क्योकि कोई भी व्यवसायी यह पसन्द नही करता कि उसका रुपया वेकार पडा रहे। इसलिए उन्होने इस रुपये को नये-नये कारखानो और मशीनो और दूसरे व्यवसायो मे इतना ज्यादा लगा दिया जितना कि आमतौर पर गरीब हुई जनता की हालत को देखते हुए मुनासिव नही था। इसके अलावा वे शेयर-बाज़ार मे सट्टा भी करने लगे। उन्होंने दिन-पर-दिन वडे इकट्ठा तरीके पर माल पैदा करने का ढग वैठाया, पर जव जनता के पास खरीदने के लिए पैसा ही नही था तो यह पैदावार किस काम की थी ? वस, माल का उत्पादन ज़रूरत से ज्यादा हो गया, और माल विना विका पडा रहा, और उद्योगो मे घाटा होने लगा, और बहुत-से उद्योगो को अपना कारोवार वन्द करना पडा। इन घाटो से घबराकर व्यवसायियो ने उद्योगो मे रुपया लगाना वन्द कर दिया। वे उसे पकडकर वैठ गये और वह वैंकों मे वेकार पडा रहा। वस, चारो तरफ वेरोज़गारी फैल गई और मन्दी ससार-व्यापी हो गई।

सकट के जो जुदा-जुदा सवव वतलाये गए थे, उनकी मैंने अलग-अलग चर्चा की है, पर सही वात तो यह है कि इन सबने मिलकर असर डाला और व्यापार की मन्दी इतनी वढा दी जितनी पहले कभी नही हुई थी। हकीकत मे यह मन्दी पूंजीवाद की पैदा की हुई फालतू आमदनी के असमान वँटवारे का नतीजा थी। या यो कहो कि जनता को मजूरियो और वेतनो के रूप मे इतना पैसा नही मिलता था कि लोग अपनी मेहनत से पैदा किया हुआ माल खरीद सकें। तैयार चीजो का मूल्य उनकी कुल आमदनी से ज्यादा था। अगर यह रुपया जनता के पास होता तो इन चीजो को खरीदने के काम आता, लेकिन वह मुट्ठी-भर धन-कुबेरो के पास इकट्ठा हो गया, जिनकी यह समझ मे नही आता था कि उसका क्या करें। यही फालतू रुपया अमेरिका से निकल-निकलकर कर्जों के रूप मे जर्मनी और मध्य-यूरोप और दक्षिण अमेरिका जा पहुँचा। इन्ही विदेशी कर्जों ने युद्ध से पिटे यूरोप को और पूंजीवादी ढाँचे को कुछ वर्षों तक चलाये रक्खा, मगर उधर सकट भी इन्हीके सवव से पैदा हुआ, और इन्ही विदेशी कर्जों ने अन्त मे सारी इमारत एकदम ढहा दी।

अगर पूंजीवाद के सकट का यह निदान सही है, तो इसका इलाज वही हो सकता है, जो आमदनियो को इकसार बना दे, या कम-से-कम इस दिशा मे चले। इस काम को पूरा करने के लिए समाजवाद को अपनाना होगा। मगर पूंजीपति लोग

शायद ऐसा नही करेंगे, जबतक कि जमाने की हालतें ही उन्हें मजबूर न कर दें। पिछड़े-हुए प्रदेशो के साधनो का उपयोग करने के लिए लोग-बाग योजना मे बँधे हुए पूँजीवाद की या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय-सघो की बातें सोचते हैं, पर इन बातो के पीछे राष्ट्रीय लाग-डॉट और ससार की मण्डियो के लिए साम्राज्यशाही शक्तियो की लड़ाइयाँ खूँख्वार बनती जा रही हैं। योजनाएँ किसलिए बनाई जायें? क्या एक को नुकसान पहुँचाकर दूसरे का फायदा करने के लिए? पूँजीवाद तो निजी मुनाफे कमाने से गरज़ रखता है और होड उसका नारा है, और होड का योजनाएँ बनाने से कोई वास्ता नही।

समाजवादियो और साम्यवादियो के अलावा भी कितने ही विचारवान लोग मौजूदा हालतो मे पूँजीवाद की क्षमता में सन्देह करने लगे हैं। मौजूदा मुनाफा-प्रणाली का ही नही, बल्कि रुपया देकर माल खरीदने की मूल्य-प्रणाली को ही खत्म करने के लिए कुछ लोगो ने चौंकानेवाले उपाय सुझाये हैं। ये इतने पेचीदा हैं कि यहाँ उनका बयान करना मुश्किल है, और इनमें से कुछ तो बिलकुल ही बे-सिर-पैर के हैं। मैं तो इनका जिक्र तुम्हें यह बतलाने के लिए कर रहा हूँ कि लोगो के दिमाग़ किस तरह डावाँडोल हो गये हैं, और जो लोग जरा भी क्रान्तिकारी नही हैं, वे भी क्रान्तिकारी सुझाव पेश कर रहे हैं।

जिनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-कार्यालय ने हाल ही मे एक सीधा-सादा प्रस्ताव रक्खा था कि बेरोजगारी फ़ौरन कम करने के लिए मजदूरो के काम के घण्टो की मीयाद एक सप्ताह मे चालीस घण्टे कर दी जाय। इसका नतीजा यह होता कि करोड़ो मजदूर काम पर और लग जाते, और उस हद तक बेकारी कम हो जाती। मजदूरो के तमाम प्रतिनिधियो ने इसका स्वागत किया, मगर ब्रिटिश सरकार ने इसका विरोध किया और जर्मनी व जापान की मदद से इस प्रस्ताव को खटाई में डलवा दिया। युद्ध के बाद इस सारे जमाने मे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सगठन मे इग्लैण्ड का लेखा बराबर प्रतिगामी रहा है।

आर्थिक सकट व मन्दी दोनो ससार-व्यापी हैं, इसलिए लोगो का खयाल हो सकता है कि इनका इलाज भी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वव्यापी इलाज होना चाहिए। कई देशो ने आपसी सहयोग का कोई रास्ता ढूँढने के यत्न किये हैं, पर अभी तक वे सब नाकामयाब रहे हैं। इसलिए हरेक देश ने विश्वव्यापी उपाय की उम्मीद छोड़कर आर्थिक राष्ट्रवाद मे इसका राष्ट्रीय इलाज ढूँढ़ा है। उनकी दलील यह है कि जब सारी दुनिया का व्यापार कम हो रहा है, तो वे कम-से-कम अपना व्यापार तो अपने घर मे रक्खें और विदेशी माल अपने यहाँ न आने द। चूँकि निर्यात का व्यापार बे-भरोसे होता है और घटता-बढता रहता है, इसलिए हरेक देश ने अपनी घरू मण्डियो पर ही सारा ध्यान जमाने की कोशिश की है। विदेशी माल का आना रोकने के

लिए हिफाज़ती महसूल लगाये गए हैं या बढा दिये गए हैं, और इनसे सफलता भी मिली है। इनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी चोट पहुँची है, क्योकि हर देश के महसूल विश्वव्यापी व्यापार मे रुकावट डालते हैं। यूरोप व अमेरिका, और कुछ हद तक एशिया भी, इन हिफाजती महसूलो की ऊँची दीवारो से भरे पडे हैं। महसूलो का एक और नतीजा यह हुआ कि रहन-सहन का खर्च बढ गया क्योकि खाने की चीज़ो और दूसरी जितनी चीजो को विदेशी होड से बचाने के लिए महसूल लगाये गए, उन सबकी कीमतें चढ गईं। किसी चीज पर महसूल लगाने से उसपर राष्ट्रीय-एकाधिकार कायम हो जाता है, और विदेशी होड बन्द हो जाती है या ज्यादा कठिन हो जाती है। एकाधिकार मे मुनाफो का बढ जाना लाज़िमी है। विदेशी चीज़ो पर महसूल लगाकर जिन उद्योगो को सहारा दिया जाता है, वे बहुत मुनाफा उठाते हैं या यों कहो कि उनके मालिक मुनाफा उठाते हैं। पर यह मुनाफ़ा बहुत करके उन लोगो को नुकसान पहुँचाकर होता है, जो माल खरीदते हैं, क्योकि चढे हुए दाम इन्हे ही देने पडते हैं। इस तरह महसूलो से गिने-चुने वर्गों को कुछ राहत मिलती है, और जमे हुए स्वार्थ कायम हो जाते हैं, क्योकि महसूलो मे मुनाफा कमाने-वाले उद्योग यह चाहते हैं कि ये सदा बने रहे। मसलन भारत मे कपडा-उद्योग को जापान के खिलाफ भारी सहारा मिला हुआ है। इससे भारतीय मिल-मालिको को बडा मुनाफा हो रहा है, वरना वे जापान के मुकाबले मे ठहर नही सकते थे। मगर अब वे अपना माल ऊँचे दामो पर बेच सकते हैं। यहाँ चीनी-उद्योग को भी सहारा मिला हुआ है, जिसके कारण सारे भारत मे, और खासकर सयुक्त प्रान्त और विहार मे, चीनी के बहुत-से कारखाने खडे हो गये है। इस तरह चीनी मे एक निहित स्वार्थ बन गया है और अगर चीनी पर लगाई गई चुंगियाँ हटा दी जायँ तो इस निहित स्वार्थ को नुकसान हो और चीनी के नये कारखानो मे से बहुत-से ठप हो जायँ।

दो किस्म के एकाधिकार बढे। एक तो महसूलो की दीवारोवाले राष्ट्रो के बीच बाहरी एकाधिकार, और दूसरे भीतरी एकाधिकार, जिनसे बडे-बडे व्यवसाय छोटे व्यवसायो को हडप कर गये। अलबत्ता एकाधिकारो का यह बढना कोई नया सिलसिला नही था। यह तो महायुद्ध के पहले से ही मुद्दत से चला आ रहा था। पर अब इसकी रफ्तार ज्यादा तेज़ हो गई। कई देशो मे महसूलो की दीवारें भी बहुत दिनो से मौजूद थी। बडे देशो मे इंग्लैण्ड ही ऐसा था, जो अब तक आज़ाद व्यापार के भरोसे रहा था और हिफाजती महसूलो के बिना काम चला रहा था। पर अब उसे भी हिफाज़ती चुंगियाँ लगाकर अपनी पुरानी रीति छोडनी पडी, और दूसरे देशो की बराबरी मे आना पडा। इससे उसके कुछ उद्योगो को थोडी-सी राहत मिली।

इनसब बातो से मुकामी और आरज़ी राहत तो जरूर मिली, पर हकीक़त

मे समूची दुनिया मे हालत और भी ज्यादा बिगड गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो और भी कम हुआ ही, मगर दौलत का असमान बँटवारा भी कायम हो गया और बढ गया। इससे बराबरीवाले राष्ट्रो मे लगातार रगड रहने लगी और हरेक राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र का माल रोकने के लिए महसूलो की दीवारें खडी कर दीं। इन्हें 'हिफाजती चुंगियो का जग' कहा जाता है। जब ससार की मण्डियाँ कम होने लगी और दिन-पर-दिन ज्यादा महफूज कर दी गईं, तो इनके लिए जोरदार छीना-झपटी होने लगी, और कारखानो के मालिक अपने मजदूरो की मजूरी मे कटौती करने पर जोर देने लगे, ताकि वे दूसरे देशो के साथ होड मे ठहर सकें। बस, मन्दी पैदा हो गई, और बेरोजगारो की फौज खूब बढ गई। मजूरी मे जितनी बार कटौती की गई, मजदूरो की खरीदने की ताकत भी उतनी ही घट गई।

: १८६ :

सरदारी के लिए अमेरिका और इंग्लैण्ड का संघर्ष

२५ जुलाई, १९३३

मैं लिख चुका हूँ कि मन्दी के जमाने मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटते-घटते सिर्फ एक तिहाई रह गया। जनता की खरीदने की हैसियत कम होने से घरेलू व्यापार भी कम हो गया। बेरोजगारी बढती चली गई, और इन करोडो बेरोजगार मजदूरो को रोटी देना सरकार के लिए बडा भारी बोझ हो गया। भारी-भारी टैक्सो के बावजूद भी कई सरकारो को अपना खर्च चलाना नामुमकिन-सा हो गया। उनकी आमदनी घट गई, और किफायत व वेतनो मे कटौती के बावजूद उनका खर्च ज्यादा बना रहा। क्योंकि इस खर्च का ज्यादा हिस्सा जल, थल व हवाई सेनाओ मे, और भीतरी व बाहरी दोनो तरह के कर्जों के भुगतान मे लगा हुआ था। राष्ट्रीय बजट मे घाटे होने लगे, यानी आमदनी से खर्च बढ गया। इन घाटो ने कर्जदार देशो की आर्थिक हैसियत और भी कमजोर बना दी, क्योंकि इन घाटो को या तो ज्यादा रुपया उधार लेकर या जमा-पूंजी मे से रुपया निकालकर ही पूरा किया जा सकता था।

साथ ही माल के ढेर अन-बिके पडे रह गये, क्योंकि लोगो के पास इन्हें खरीदने के लिए काफी पैसा ही नही रहा। बहुत बार तो इन 'फालतू' अन्न व दूसरी चीजो को सचमुच नष्ट कर दिया गया, हालाँकि दूसरी जगहो के लोगो को इनकी सख्त जरूरत थी। यह सकट और गिरावट ससार-व्यापी थे (सोवियत सघ को छोडकर), मगर फिर भी इनको खत्म करने के लिए सारे राष्ट्र आपस मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग नही कर पाये। हरेक देश अपनी-अपनी गुदडी सम्हाल रहा है, दूसरो से आगे बढ जाने की कोशिश कर रहा है, और यहाँतक कि दूसरे की मुसीबतो से फायदा उठाने

का यत्न कर रहा है। इस अलग-अलग और स्वार्थी कार्रवाई ने, और आज़माये गए दूसरे अधूरे उपायो ने, हालत को ज्यादा ही बिगाडा है। व्यापार की इस मन्दी से बिलकुल अलग-थलग, लेकिन इसपर काफी असर डालनेवाले दो तथ्य या हलचलें ससार के मामलो पर छाये हुए है। एक तो पूंजीवादी दुनिया की सोवियत के साथ मुक़ाबलेदारी है, दूसरी ऑग्ल-अमेरिकी मुकाबलेदारी।

पूंजीवादी सकट ने सारे पूंजीवादी देशो को कमजोर और मुफलिस बना दिया है, और एक तरह से युद्ध का अन्देशा कम कर दिया है। हरेक देश अपने घर की हालत सुलझाने मे मशगूल है, और जोखम के कामो मे खर्च करने के लिए किसीके पास रुपया नही है। मगर उलटवासी यह है कि इस सकट ने ही युद्ध का खतरा भी बढा दिया है, क्योकि इसने राष्ट्रो और उनकी सरकारो को लाचारी से दीवाना बना दिया है और जो कौमे इस तरह दीवानी हो जाती हैं, वे अपनी अन्दरूनी कठिनाइयो को हल करने के लिए बाहरी युद्धो का सहारा लेती हैं। जब किसी देश की सत्ता, तानाशाह या छोटे-से चुने हुए दल के हाथो मे होती है, तब खासतौर पर ऐसा होता है। तानाशाह अपनी सत्ता छोडने के बजाय अपने देश को युद्ध मे झोक देता है और इस तरह अपने देशवासियो का ध्यान घर के झगडो से हटा देता है। इसलिए, सोवियत सघ व साम्यवाद के खिलाफ 'जिहाद' का अन्देशा सदा बना रहता है, क्योकि आशा यह की जाती है कि इससे पूंजीवादी बहुत-से देश आपस मे मिल जायेंगे। मैं बतला चुका हूँ कि सोवियत सघ पर पूंजीवादी सकट का सीधा असर नही पडता था। वह तो अपनी पच-वर्षीय योजना मे इतना फँसा हुआ था कि सब तरह का नुकसान उठाकर भी युद्ध को टालना चाहता था।

युद्ध के बाद इग्लैण्ड और अमेरिका के बीच लाग-डॉट लाज़िमी थी। ये ससार की दो सबसे बडी शक्तियाँ हैं, और दोनो ही दुनिया के सारे कारोबारो पर हावी होना चाहती हैं। महायुद्ध से पहले इग्लैण्ड सबका सरताज माना जाता था। मगर युद्ध ने अमेरिका को सबसे मालदार और ताकतवर राष्ट्र बना दिया और तब उसने कुदरती तौर पर यह चाहा कि दुनिया मे वह अपने को जिस हैसियत का हकदार समझता है, यानी सबसे ऊँची हैसियत, उसे हासिल करे। उसने इरादा कर लिया कि आयन्दा इग्लैण्ड को हर चीज़ मे दखल नही जमाने देगा। खुद इग्लैण्ड ने भी महसूस कर लिया कि ज़माना बदल गया है, इसलिए उसने अमेरिका से दोस्ताना नाता जोडकर अपने को ज़माने के मुताबिक बनाने की कोशिश की। उसने यहाँ तक किया कि अमेरिका को खुश करने के लिए जापान की दोस्ती को धता बताई, और अमेरिका को दम-दिलासा देने के लिए कई तरह से दोस्ती का हाथ बढाया। मगर इग्लैण्ड अपने खास स्वार्थ और अपनी खास हैसियत और खासकर अपनी साहूकारी नेतागिरी छोडने के लिए तैयार नही था, क्योकि उसका

बडप्पन और उसका साम्राज्य इन्हींके साथ बँधे हुए थे। उधर अमेरिका भी ठीक यही साहूकारी नेतागिरी चाहता था। इसलिए दोनो देशो के बीच झगडा टल नही सकता था। दोनो देशो के बौहरे, जिनकी पीठ पर उनकी सरकारें थी, ऊपर से तो मीठी-मीठी और लच्छेदार बातें करते थे, पर भीतर-भीतर दुनिया की साहूकारी मे और उद्योगो मे नेतागिरी के लिए लडते थे। इस खेल मे जीत के और तुरुप के ज्यादातर पत्ते मानो अमेरिका के हाथ मे थे, और इग्लैण्ड पुराना तजुर्बेकार और अच्छा खिलाडी था।

युद्ध के कर्ज़ों की वजह से दोनो शक्तियो के बीच कडवाहट और भी बढ़ गई, और इग्लैण्ड के लोग अमेरिकावालो को पौण्ड-भर माँस माँगनेवाला शाइलाक कहकर गालियाँ देने लगे। हकीकत यह है कि इग्लैण्ड के ऊपर अमेरिका का कर्ज़ यहाँ के गैर-सरकारी बौहरो का था, जिन्होंने युद्ध के दौरान रुपया उधार दिया था या हुण्डियो का भुगतान किया था। सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने तो इसके लिए सिर्फ ज़मानत दी थी। इसलिए अमेरिका की सरकार के सामने इन कर्ज़ों को बट्टे-खाते डालने का सवाल ही नही था। अगर इग्लैण्ड के ये कर्ज़े माफ कर दिये जाते, तो अमेरिकी सरकार को चुकाने पडते, क्योंकि वह इनकी ज़मानतदार थी। अमेरिका की काग्रेस यह और ज्यादा देनदारी अपने ऊपर क्यो लेती, खासकर इस सकट के दौर मे ?

बस, इग्लैण्ड और अमेरिका के आर्थिक स्वार्थ अलग-अलग दिशाओ मे खीच-तान करने लगे, और आर्थिक स्वार्थ का खिचाव किसी भी दूसरे खिचाव से ज्यादा ज़ोरदार हुआ करता है। इन दोनो देशो के निवासियो मे बहुत-सी बातें एक-सी हैं, मगर फिर भी यह ख्वामख्वाह मुठभेड हो रही है, जिसमे अमेरिका का बल और साधन दोनो बहुत बडे हैं। स्वार्थों की इस टक्कर के सबब से-या तो झगडे की शक्ल और ज्यादा तेज़ हो जाय या दूसरी चीज यह हो सकती है कि इंग्लैण्ड की खास सहूलियतें और रौब-दाब की हैसियत धीरे-धीरे, मगर बिना रुके, अमेरिका के पास चली जाय। अग्रेज़ो को यह विचार अच्छा नही लगता कि जिन चीज़ो की वे कद्र करते है, उनमे से ज्यादातर को छोड दें, अपने प्राचीन गौरव और साम्राज्य-शाही शोषण के मुनाफो से भी हाथ धो लें, और दुनिया मे ऐसी पिछडी जगह ले लें, जो अमेरिका की मेहरबानी के भरोसे हो। इसलिए ऐसा नही लगता कि वे बिना लडे घुटने टेक दे। इग्लैण्ड की मौजूदा हैसियत की यह दुखभरी लीला है। उसकी पुरानी शक्ति के सारे सोते सूखते जा रहे हैं, और भविष्य इशारा करता दिखाई देता है कि गिरावट टल नही सकी। पर अग्रेज़ लोग, जिन्हे सदियो से हुकूमत की टेव पडी है, इस होनहार को कबूल करने के लिए तैयार नही हैं। वे बहादुरी के साथ इसके खिलाफ लड रहे है, और लडते रहेंगे।

मैंने तुम्हें आज के ससार पर छाई हुई दो होडें दिखलाई हैं, क्योंकि इनसे आजकल होनेवाली ज्यादातर घटनाओ का सबब साफ नजर आ जाता है। अलबत्ता कई तरह की होडें सदा चलती रहती हैं, समूची पूंजीवादी और साम्राज्यवादी प्रणालियां होड और मुकाबले के आधार पर ही टिकी हुई हैं।

मन्दी के जमाने मे घटनाओ के सिलसिले के बयान को हमने जहां छोडा था, वहीं अब फिर चलना चाहिए। फ्रान्सीसियो ने जून, १९३० ई० मे राइनलैण्ड खाली कर दिया था, जिससे जर्मनो को बहुत तसल्ली हुई थी। पर इसमे इतनी देर कर दी गई ~~थी कि~~ इसे नेकनीयती का चिह्न नही माना जा सकता था। दूसरे, मन्दी के अन्धेरे मे हर चीज नजर आती थी। ज्यो-ज्यो व्यापार की हालतें बिगडती गई, त्यो-त्यो कर्जदारो के पास रुपये की तगी होती गई, और हर्जानो व क़र्जों का भुगतान करना कठिन, या नामुमकिन तक होता गया। कर्जदारो की कठिनाई को दूर करने के लिए राष्ट्रपति हूवर ने एक साल की छूट का ऐलान किया था। इसके बाद युद्ध के कर्जों के समूचे सवाल पर दुबारा गौर कराने के यत्न किये गए, पर सयुक्त राज्य की कांग्रेस ने इसपर दुबारा ग़ौर करने से इन्कार कर दिया। फ्रान्सीसी सरकार जर्मनी से वसूल होनेवाले हर्जानो के सवाल पर भी इतनी ही सख्ती से अडी हुई थी। ब्रिटिश सरकार कर्ज लेनेवाली और कर्ज देने-वाली दोनो थी। इसलिए वह इस हक मे थी कि हर्जानो व कर्जों दोनो को मिटाकर हिसाब की पट्टी साफ कर दी जाय। मगर हरेक देश अपने-अपने मतलब की बात सोचता था, इसलिए कोई शामिल कार्रवाई नही हो सकी। १९३१ ई० के बीच मे जर्मनी की माली हालत खस्ता हो गई और बैंको के दिवाले निकल गये। इसके सबब से इग्लैण्ड मे सकट पैदा हो गया और वह अपनी देनदारियां नही चुका सका। इससे देश की माली हालत भी खस्ता होने पर आ गई। यह खतरा सामने आने पर मजदूर-दली सरकार को खुद उसीके नेता रैम्जे मैक्डानल्ड ने धक्का दे दिया, और अब वह 'राष्ट्रीय सरकार' का नेता बनकर सामने आया, जिसमे अनुदार दलवालो की तूती बोलती थी। मगर यह राष्ट्रीय सरकार भी पौण्ड को नही बचा सकी। इसी समय वेतन-कटौती के सवाल पर अतलान्तिक के बेडे के अग्रेज मल्लाहो ने भी बगावत कर दी। बिना खून-खराबी की इस बगावत का इग्लैण्ड और यूरोप मे ज़बर्दस्त असर पडा। रूस की क्रान्ति की और वहां के मल्लाहो की बग़ावतो की यादगारें लोगो के दिमाग़ो मे ताज़ा हो गईं, और बोलशेविकवाद आने की दहशत पैदा हो गई। इग्लैण्ड के पूंजीपतियो ने कोई आफत आने से पहले ही अपनी पूंजी बचाने का फैसला कर लिया, और भारी-भारी रकमे विदेशो को भेज दी। ऐसा मालूम होता है कि दौलतमन्दो की देशभक्ति रुपये या जमे हुए स्वार्थ पर जोखम की आंच बर्दाश्त नही कर सकती।

ज्यो-ज्यो इग्लैण्ड की पूंजी विदेशो मे जाने लगी, पौण्ड की कीमत भी गिरने लगी, और अन्त मे, २३ सितम्बर, १९३१, को स्वर्ण-मान (Gold standard) त्यागना पडा, यानी अपना सोना बचाने के लिए उसने पौण्ड को सोने से अलग कर दिया। अब इसके बाद कोई व्यक्ति, जिसके पास सोने की कीमतवाले पौण्ड थे, पहले की तरह उनके बदले मे सोना नही माँग सकता था।

ब्रिटिश साम्राज्य व इग्लैण्ड की दुनियावी हैसियत के लिहाज से पौण्ड की यह गिरावट एक जबर्दस्त घटना थी। इसका मतलब यह था कि कम-से-कम कुछ समय के लिए वह साहूकारी नेतागिरी जाती रही, जिसने लेन-देन के मामलों मे लन्दन को ससार का केन्द्र और राजधानी बना रक्खा था। इसको बचाने के लिए इग्लैण्ड ने अपने उद्योगो को हानि पहुँचाकर भी, १९२५ ई० मे, स्वर्ण-मान को फिर से अपनाया था, और बेरोजगारी, कोयला-मजदूरो की हडताल वगैरा का सामना किया था। मगर यह सब बेकार हुआ, और दूसरे देशो की कार्रवाइयो ने पौण्ड को सोने से जबर्दस्ती अलग कर दिया। बस, यही चीज ब्रिटिश साम्राज्य के खातमे की शुरुआत जतानेवाली मालूम होने लगी, और सारे ससार मे इसका यही अर्थ लगाया गया। सितम्बर १९३१ ई० की २३ तारीख इतिहास की इस बडी घटना की वजह से बहुत महत्व की तारीख बन गई है।

मगर इग्लैण्ड तो डटकर लडनेवाला ठहरा। और आडे वक्त के लिए उसके पास अब भी एक अधीन और बेकस साम्राज्य था। भारत व मिस्र, इन दो पूरी तरह से अधीन देशो के अन्दर से सोना खीचकर वह सकट की मार से फिर सम्हल गया। पौण्ड का मूल्य गिरने से उसके उद्योगो को फायदा हुआ, क्योकि अब वह विदेशो मे अपना माल सस्ते भावो पर बेच सकता था। उसका यह पुनर्जीवन सचमुच अनोखा था।

हर्जानो और युद्ध के कर्जों का सवाल फिर बाकी रह गया। यह तो जाहिर हो गया था कि जर्मनी हर्जाने नही चुका सकता था, और वास्तव मे उसने ऐसा करने से बाकायदा इन्कार भी कर दिया। आखिरकार, १९३२ ई० मे, लोजान मे बुलाये गए एक सम्मेलन मे, हर्जानो की रकम इस उम्मीद और आसरे मे घटाकर नाम मात्र कर दी गई कि सयुक्त राज्य अमेरिका भी कर्जों की रकमो को इसी तरह कम कर देगा। मगर अमेरिका की सरकार ने कर्जों को हर्जानो के साथ मिलाने से, या कर्जों को बट्टे-खाते डालने से, इन्कार कर दिया। इससे गाडी फिर लुढ़क गई, और यूरोप के लोग अमेरिका पर दान्त पीसने लगे।

सयुक्त राज्य अमेरिका की वाजिब किस्तो की अदायगी का वक्त दिसम्बर, १९३२ ई० मे आया। और हालांकि इग्लैण्ड, फ्रान्स वगैरा-देशो की ओर से बहुत

जोरदार दलीलें दी गई, परन्तु अमेरिका अपने दावे पर अड़ा ही रहा। बहुत तर्क-वितर्क के बाद इंग्लैण्ड ने अपनी किस्त चुका दी, लेकिन साथ ही कह दिया कि यह किस्त बस आखिरी थी। फ्रान्स व कुछ दूसरे देशो ने किस्तें देने से इन्कार कर दिया और वे नादिहन्द बन गये। इनके बाद भी कोई नया समझौता नही हुआ, और गये महीने, यानी जून १९३३ ई० मे कर्जों की अगली किस्त वाजिब हो गई। फ्रान्स ने फिर इन्कार कर दिया। मगर इंग्लैण्ड के साथ अमेरिका ने फैयाजी दिखाई और एक छोटी-सी रकम निशानी के तौर पर मजूर कर ली। बड़े सवाल का फ़ैसला उसने आगे पर छोड़ दिया।[1]

जब इंग्लैण्ड और फ्रान्स-जैसी बड़ी-बड़ी और मालदार शक्तियाँ, अपनी-अपनी पसन्द और रीत के मुताबिक, अपने कर्जों की जिम्मेदारी से बरी होने की कोशिश कर रही है, तो विचार करने की दिलचस्प बात यह है कि जब सोवियत ने सारे कर्जों को रद्द कर दिया तो इन्ही देशो ने उसे बुरी तरह लताड़ा। भारत मे भी जब यह कहा जाता है, जैसा कि कांग्रेस की तरफ से कहा भी गया है, कि भारत पर इंग्लैण्ड के कर्जे के समूचे सवाल की जाँच एक निष्पक्ष अदालत से होनी चाहिए, तो सरकारी क्षेत्रो मे धर्म की दुहाई मच जाती है। राष्ट्र की देनदारी चुकाने के ऐसे ही सवाल पर आयर्लेण्ड और इंग्लैण्ड के बीच गहरी सनातनी पैदा हो गई, और दोनो के बीच तिजारती युद्ध शुरु हो गया, जो अभी तक चल रहा है।

इंग्लैण्ड की साहूकारी नेतागिरी का, और उसे हासिल करने के लिए अमेरिका की दौड़-धूप का, और बैंकों के दिवालो का, और बहुत-से देशो की माली हालत बिगड़ जाने का, मैं बार-बार जिक्र कर चुका हूँ। इस सारी गपड़-सपड़ का अर्थ क्या है? यह सवाल तुम पूछ सकती हो, क्योंकि मेरा खयाल है तुम इसे नहीं समझती होगी। मगर चूंकि इसके बारे मे मैं इतनी बातें लिख चुका हूँ, इसलिए मुझे लगता है कि इसे कुछ ज्यादा अच्छी तरह समझाने की कोशिश करनी चाहिए। रुपये-पैसे की घटनाओं मे हमारी दिलचस्पी हो या न हो, पर राष्ट्रीय और व्यक्तिगत दोनो तरह से इनका हमारे ऊपर बड़ा भारी असर पड़ता है। इसलिए जो चीज हमारे वर्तमान और भविष्य को ढालती है, उसे समझ लेना अच्छा है। बहुत-से लोगो के दिलो पर पूंजीवादी दुनिया के जमा-खर्च के तरीको की रहस्यभरी हरकतो की ऐसी छाप बैठ गई है कि वे इसे हैरत और आदर की निगाह से देखते हैं। यह उन्हें

[1] अगले पाँच वर्षों मे यानी सन् १९३३ से १९३८ ई० तक इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने अमेरिका के क़र्जे की कोई अगली क़िस्त नहीं चुकाई। यहाँतक कि सांकेतिक रूप मे भी कुछ नहीं दिया। मालूम होता है कि यह मान लिया गया है कि क़र्जों से इन्कार किया जा सकता है और उन्हें चुकाने की जरूरत नहीं रही।

इतनी पेचीदा और बारीक और उलझनेवाली मालूम होती है कि वे इसे समझने तक की कोशिश नही करते, और इसे माहिरो, बौहरो, वगैरा के ऊपर छोड देते हैं। इसमे शक नही कि यह पेचीदा और उलझनदार है, और यह ज़रूरी नही है कि उलझन किसी चीज़ की अच्छाई हो। पर फिर भी, अगर हम अपनी आज की दुनिया को समझना चाहते हैं, तो हमे इसका कुछ ज्ञान होना चाहिए। मैं इस सारे ढांचे को समझाने की कोशिश नही करूँगा। यह मेरे बूते से बाहर है, क्योंकि मैं इसका माहिर नही हूँ, बल्कि महज़ नौसिखिया हूँ। मैं तुम्हें सिर्फ कुछेक बातें बतलाऊँगा, और मुझे आशा है कि इनसे तुम ससार की कुछ घटनाओ को, और अख़बारो मे छपनेवाले कुछ समाचारो को, होशियारी के साथ समझ सकोगी। शायद मुझे उन बातो को दुहराना पडे, जो मैं पहले बतला चुका हूँ, लेकिन अगर इससे तुम्हें समझने मे मदद मिले, तो मेरे दोहराने का ख़याल न करना। याद रक्खो कि यह पूंजीवादी ढांचा है, जिसमे शेयरोवाली निजी कम्पनियाँ हैं, निजी बैंक हैं और शेयर बाज़ार हैं, जहाँ शेयरो का लेन-देन होता है। सोवियत सघ का माली और औद्योगिक ढांचा बिलकुल निराला है। वहाँ इस तरह की कम्पनियाँ, या निजी बैंक या शेयर-बाज़ार नही है, करीब हरेक चीज़ पर राज्य की मिल्कियत है और कब्ज़ा है, और विदेशी व्यापार असल मे सामान की अदला-बदली के रूप में होता है।

तुम जानती हो कि हरेक देश का अन्दरूनी कारोबार बहुत-कुछ पूरी तरह हुडियो के ज़रिये, और इससे कुछ कम, नोटो के ज़रिये चलता है। सोना और चाँदी का, छोटी-मोटी ख़रीदारियो के अलावा बहुत कम उपयोग होता है (सोना तो वास्तव मे आसानी से मिलता भी नही)। यह कागज़ी रुपया साख की निशानी है, और जबतक बैंको मे, या सिक्के के नोट चलानेवाली अपने देश की सरकार मे लोगो का भरोसा जमा रहता है तबतक यह नकद रुपये का काम देता रहता है। पर यह कागज़ी सिक्का एक देश से दूसरे देश को रुपया भेजने के काम का नही है, क्योकि हरेक देश अपनी निजी राष्ट्रीय सिक्का होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का आधार सोना है, और कम मिलनेवाली धातु होने की वजह से इसकी असली कीमत होती है। इस काम के लिए सोने के सिक्को का या सोने के पासो का उपयोग किया जाता है। लेकिन अगर एक देश को दूसरे देश का रुपया चुकाने के लिए हर बार सचमुच सोना ही भेजना पडे, तो ज़बर्दस्त बवाल हो जाय, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास न होने पावे। इसके अलावा, ससार मे सोने की जितनी मिकदार मिलती है, उससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मिकदार या कीमत भी एक हद मे बँध जायगी। क्योकि इस हद पर पहुँचने के बाद दाम चुकाने के लिए ज्यादा सोना नही मिल सकेगा, तो विदेशो के साथ तिजारती लेन-देन का काम आगे तबतक बन्द हो जायगा, जबतक कि कुछ सोना निकाला न जाय और वापस न लाया जाय।

इसलिए ये सिक्के करीब-करीब अचल होते थे और इनका आपसी विनिमय हो सकता था। क्योकि उनके बदले मे सोना मिल सकता था। अगर कुछ फर्क पडता था तो वह एक देश से दूसरे देश को सोना भेजने के खर्च का ही होता था, क्योकि अगर कोई व्यवसायी देखता कि उसके देश मे सोने का भाव ऊँचा है, तो वह किसी दूसरे देश से आसानी से सोना मँगवा सकता था। यह स्वर्ण-मान प्रणाली कहलाती थी। इस प्रणाली के मातहत सारे राष्ट्रीय सिक्के अचल थे और इसलिए उन्नीसवीं सदी मे, महायुद्ध के शुरू तक, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे खूब बढोतरी हुई। आज यह प्रणाली टूट चुकी है, और नतीजा यह है कि सिक्के का वर्ताव बडा विचित्र हो गया है, और ज्यादातर राष्ट्रीय सिक्के डाँवाडोल हो गये हैं।

किसी देश का निर्यात मोटे तौर पर उसके आयात के बराबर हुआ करता है। या यो कहो कि जो माल कोई देश बाहर से मगाता है, उसके दाम अपना माल बाहर भेजकर चुकाता है। परन्तु यह बात बिलकुल सही नही है, क्योकि जब आयात के माल की कीमत निर्यात के माल की कीमत से बढ जाती है, तो अक्सर एक-न-एक तरफ कुछ बकाया रहती है। यह 'विपरीत बकाया' (Adverse Balance) कहलाती है, और उस देश को अपना हिसाब बेबाक करने के लिए कुछ भुगतान ऊपर से करना पडता है।

अलग-अलग देशो के बीच बहनेवाली माल की धारा का बहाव एक-सा हर्गिज़ नही होता। यह अक्सर बदलता रहता है, और उतार-चढाव आते रहते हैं। और जैसे-जैसे यह घटता-बढता है, उसी तरह विनिमय-हुण्डियो की माँग और आमद भी घटती-बढ़ती रहती हैं। अक्सर ऐसा होता है कि किसी देश के पास ऐसे विनिमय-बिलो की तो बहुतायत हो जाती है, जिनकी उसे उस वक्त ज़रूरत नहीं होती, और जिस तरह की विनिमय-हुण्डियो की उसे ज़रूरत होती है, उनकी उसके पास कमी पड जाती है। मिसाल के लिए मान लो कि फ्रान्स के पास जर्मनी मे मार्को की विनिमय-हुण्डियाँ तो ज़रूरत से ज्यादा हैं, और अमेरिका का हिसाब चुकता करने के लिए डालर की विनिमय-हुण्डियो की कमी है। ऐसी हालत मे फ्रान्स, जर्मनी की विनिमय-हुण्डियो को तो बेचना चाहेगा और उनके बदले मे अमेरिका के नाम के डालर की विनिमय-हुण्डियाँ खरीदना चाहेगा। ऐसा करने के लिए विनिमय-हुण्डियो के वास्ते कोई केन्द्रीय मण्डी होनी चाहिए, जहाँ ये अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय किये जा सकें। ऐसी मण्डी सिर्फ उसी देश मे हो सकती है जिसमे नीचे लिखी तीन खासियतें हो—

१ उसका विदेशी व्यापार चारो तरफ फैला हुआ और वह हर किस्म का होना चाहिए, ताकि उसके पास हर किस्म की विनिमय-हुण्डियो की खूब आमद हो।

२ वहाँ हर किस्म की सिक्योरिटियाँ सुलभ होनी चाहिए, यानी वह पूंजी की सबसे बडी मण्डी होनी चाहिए।

३ वहाँ सोने की भी सबसे बडी मण्डी होनी चाहिए, ताकि अगर विनिमय-हुण्डियो और सिक्योरिटियो दोनो की कमी हो, तो सोना आसानी से मिल सके।

उन्नीसवी सदी मे शुरू से अखीर तक सिर्फ इग्लैण्ड ही ऐसा देश था, जो इन तीनो शर्तों को पूरी करता था। उद्योग-क्षेत्र मे सबसे पहले कदम रखने की वजह से और एकाधिकारी क्षेत्र के रूप मे उसके पास बडा साम्राज्य होने की वजह से उसके विदेशी व्यापार का फैलाव ससार मे सबसे ज्यादा बढ गया। अपने बढते हुए उद्योगो पर उसने अपनी खेती को निछावर कर दिया। उसके जहाज़ हर बन्दरगाह मे सौदागरी का सामान और विनिमय-हुण्डियाँ ले जाते थे। इस भारी उद्योग-तरक्की से वह कुदरती तौर पर पूंजी की सबसे बडी मण्डी बन गया, और उसके पास विदेशी सिक्योरिटियो का ढेर लग गया। उसकी मदद करनेवाला एक और हेतु यह था कि दुनियाभर मे निकलनेवाले सोने का दो-तिहाई हिस्सा ब्रिटिश साम्राज्य—दक्षिण अफ्रीका, आस्टेलिया, कनाडा और भारत—मे मौजूद था। इनकी सोने की खानो का माल लन्दन के बाज़ार मे फौरन बिक जाता था, क्योकि बैंक ऑफ इग्लैण्ड इनमे निकलनेवाला सारा सोना एक तयशुदा भाव पर खरीद लेता था।

इस तरह लन्दन का बडा शहर विनिमय-हुण्डियो, सिक्योरिटियो और सोने की एक-केन्द्रीय मण्डी बन गया। यह ससार की साहूकारी राजधानी बन गया। हरेक सरकार या बोहरा, जो विदेशो मे अपना हिसाब चुकाना चाहता था और अपने देश मे इसके साधन हासिल नही कर सकता था, लन्दन चला आता था, जहाँ उसे हर क़िस्म की व्यवसायी और लेन-देन की हुण्डियाँ और सोना भी मिल जाता था। सोने की कीमत वाला पौण्ड व्यवसाय का ठोस प्रतीक बन गया। अगर डेनमार्क या स्वीडन दक्षिण अमेरिका से कुछ माल खरीदना चाहता, तो यह सौदा पौण्डो मे तय किया जाता, हालांकि लन्दन उस माल की शक्ल भी कभी नही देखता था।

इग्लैण्ड के लिए जबर्दस्त मुनाफे का सौदा था, क्योकि सारा ससार इस सेवा के लिए उसे कुछ खिराज देता था। इसके अलावा सीधे मुनाफे भी थे। साथ ही विदेशी व्यापारी कम्पनियाँ अगाऊ भुगतानो के लिए इग्लैण्ड के बैंको मे अपना फालतू रुपया या दूसरो से वसूल होनेवाला रुपया जमा करा देती थी। ये बैंक इस जमा को दूसरे ग्राहको को थोडे-थोडे समय के लिए उधार पर चलाकर मुनाफा कमाते थे। इग्लैण्ड के बैंको को विदेशी उद्योगपतियो के कारोबार की भी सारी बातें मालूम हो जाती थी। विनिमय की जो हुण्डियाँ इनकी मार्फत गुज़रती थी,

उनसे इन्हें जर्मनी के या दूसरे देशो के व्यापारियो के बीजको का, और विदेशो मे उनके ग्राहको के नामों तक का पता लग जाता था। यह जानकारी इग्लैण्ड के उद्योगो के लिए बहुत उपयोगी थी, क्योकि इससे वे अपने विदेशी मुकाबलेदारो की काट कर सकते थे।

इस अन्तर्राष्ट्रीय कारोबार को बढाने और मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ी बैंको ने दुनिया-भर मे शाखाएँ और एजन्सियाँ खोल दी। बाहर के देशो को ब्रिटिश उद्योगो के असर के अन्दर लाने मे मदद करने के अलावा, ये बैंक इग्लैण्ड के हक मे एक और भी बहुत उपयोगी सेवा करते थे। वे तमाम मशहूर मुक़ामी कम्पनियो और कारोबार के बारे मे पूछताछ करते थे और उनका लेखा-जोखा करते थे। इसलिए जब कोई मुकामी कम्पनी विनिमय की हुण्डी निकालती थी, तो वहाँ का अंग्रेज़ी बैंक या एजेण्ट इस हुण्डी की हैसियत जानता था, और अगर उसे बिना जोखम की समझता तो उसकी ज़मानत दे सकता था। यह उस हुण्डी को 'स्वीकारना' कहा जाता था, क्योकि बैंक उसपर 'स्वीकार किया' शब्द लिखता था। ज्योही बैंक उस हुण्डी की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता था, वह हुण्डी आसानी से बेची या दूसरे के नाम बेचान की जा सकती थी, क्योकि उसके पीछे बैंक की साख होती थी। इस तरह की ज़मानत या स्वीकारी के बिना किसी अनजान कम्पनी की विनिमय-हुण्डी को लन्दन-जैसी दूर मण्डी मे या दूसरी जगह कोई ख़रीददार नही मिलते थे, क्योकि उस कम्पनी से कोई जानकार नही होता था। हुण्डी को स्वीकारनेवाला बैंक कुछ जोखम तो उठाता था, पर ऐसा करने से पहले वह अपनी मुकामी शाखा के मार्फत पूरी तहकीकात कर लेता था। इस तरह 'स्वीकारने' की इस प्रणाली से विनिमय-हुण्डियो के बेचान और आमतौर पर कारोबार मे बहुत सहूलियत हो जाती थी। साथ ही ससार के व्यापार पर लन्दन का शिकजा मज़बूत होता जाता था। दूसरा कोई भी देश स्वीकारने का यह काम बडे पैमाने पर करने की हैसियत मे नही था, क्योकि बाहर के देशो मे और किसीकी इतनी शाखाएँ ही नहीं थीं।

इस तरह सौ वर्षों से ऊपर लन्दन ही संसार की साहूकारी और आर्थिक राजधानी बना रहा, और अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन व व्यापार की सारी नकेल उसके हाथ मे रही। यहाँ रुपये की बहुतायत थी, और इसलिए दूसरी जगहो की बनिस्बत वह ज़्यादा सुभीते की शर्तों पर मिल सकता था। इससे सारे बौहरे खिचकर यहाँ चले आते थे। बैंक ऑफ इग्लैण्ड के गवर्नर को दुनिया के कोने-कोने से व्यापार और लेन-देन के बारे मे सारी जानकारी मिलती रहती थी, और वह अपनी बहियो व कागज़-पत्रो पर सरसरी नज़र डालकर यह बतला सकता था कि किस देश की आर्थिक हालत कैसी है। सच तो यह है कि कभी-कभी तो उसे किसी देश की आर्थिक हालत का इतना पता होता था, जितना उस देश की सरकार को भी नहीं होता

था। और जिन सिक्योरिटियो को कोई विदेशी सरकार खरीदना चाहती होती, उनकी खरीद-फरोख्त मे छोटे-छोटे हथकण्डो के जरिये, या चन्दरोजा कर्ज देने की तरकीबो के जरिये, उस विदेशी सरकार की राजनीतिक हलचलो पर दबाव डाला जा सकता था। साम्राज्यशाही शक्तियाँ दूसरो का गला दबाने के लिए जो उपाय काम मे लाती हैं, उनमे यह ऊँचे दर्जे का 'साहूकारा' सबसे कारगर उपाय था और अब भी है।

महायुद्ध से पहले दुनिया की यही हालत थी। लन्दन शहर ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र था और उसकी शक्ति और खुशहाली का चिह्न था। पर महायुद्ध के बाद बहुत परिवर्तन हो गये और पुरानी व्यवस्था उलट-पुलट हो गई। युद्ध से एक बडी-जीत तो हाथ आई मगर यह जीत इग्लैण्ड और लन्दन को बहुत मँहगी पडी।

युद्ध के बाद क्या-क्या हुआ, इसका बयान मैं अगले पत्र मे करूँगा।

: १८७ ·

डालर, पौण्ड और रुपया

२७ जुलाई, १९३३

महायुद्ध ने ससार के तीन टुकडे कर दिये थे—दो टुकडे तो लडनेवाले देशो के, और तीसरा टुकडा गैर-तरफदार देशो का। लडनेवाले दुश्मन देशो के बीच किसी तरह के तिजारती या दूसरे ठहराव बाक़ी नही रहे, सिवा इसके कि एक दूसरे पर जासूसी का धन्धा जरूर चलता रहा। और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो पूरी तरह चौपट होना ही था। समुद्रो पर काबू होने की वजह से मित्र-राष्ट्र ग़ैर-तरफदार देशो और उपनिवेशो के साथ कुछ व्यापार चालू रख सके, पर जर्मन पन-डुब्बियो के हमलो ने इसे भी बहुत कम कर दिया था।

लडनेवाले देशो ने अपने सारे साधनो को युद्ध मे झोक दिया, और बहुत भारी रकमे खर्च की गईं। करीब डेढ़ साल तक इग्लैण्ड और फ्रान्स अपने कगाल साथी-देशो को रुपये की मदद देते रहे। इस काम के लिए दोनो ने अपनी जनता से रुपया उधार लिया और अमेरिका मे भी हुण्डियाँ बेची। इसके बाद फ्रान्स बीत गया और दूसरो की मदद नही कर सका। इग्लैण्ड इस बोझ को सवा साल तक और झेलता रहा, पर मार्च, १९१७ ई० मे, जब वह अमेरिका के पाँच करोड पौण्ड के कर्ज का भुगतान नही कर सका, तो उसके भी बीत जाने की बारी आ गई। इग्लैण्ड और फ्रान्स और इनके साथी-देशो की खुशकिस्मती से, इस नाजुक घडी मे, जब सबके माली साधन खत्म हो चुके थे, अमेरिका मित्र-राष्ट्रो की तरफ से युद्ध मे कूद पडा। तबसे लगातार महायुद्ध के अन्त तक, अमेरिका सब मित्र-राष्ट्रो को युद्ध के लिए

रुपये की मदद देता रहा। उसने अपने ही देशवालो से 'स्वतन्त्रता' व 'विजय' कर्ज़ों के रूप मे ज़बर्दस्त रकमे जमा की, और इन्हे खुद भी खूब खुले हाथो खर्च किया और मित्र-राष्ट्रो को भी उधार दिया। इसका नतीजा, जैसा कि मैं तुम्हे बतला चुका हूँ, यह हुआ कि युद्ध खत्म होने तक सयुक्त राज्य अमेरिका सारी दुनिया का महाजन बन गया, और सारे राष्ट्र उसके कर्ज़दार हो गये। युद्ध शुरू होने के व त अमेरिका को यूरोप के पाँच अरब डालर देने थे, युद्ध खत्म होने पर यूरोप को अमेरिका का दस अरब डालर देना हो गया।

युद्ध के दौरान अमेरिका को सिर्फ इतना ही माली फायदा नहीं हुआ। अमेरिका का विदेशी व्यापार इग्लैण्ड व जर्मनी के विदेशी व्यापारो की जगह ले-कर खूब बढा, और इग्लैण्ड के व्यापार की बराबरी का हो गया। अमेरिका ने ससार के सारे सोने का दो-तिहाई हिस्सा, और विदेशी सरकारो के शेयरो व बाण्डो का बढा ढेर भी, इकट्ठा कर लिया।

इस तरह सयुक्त राज्य अमेरिका की माली हैसियत सबके ऊपर छा गई। वह अपने कर्ज़ों की अदायगी की माँग करके किसी भी क़र्ज़दार देश को आसानी से दिवालिया बना सकता था। इसलिए लन्दन ने दुनिया की साहूकारी राजधानी के केन्द्र का जो दर्जा बहुत दिनो से ले रक्खा था, उसपर अमेरिका का डाह करना और उसे अपने लिए हासिल करने की इच्छा करना लाज़िमी था। वह लन्दन का दर्जा ससार के सबसे मालदार शहर न्यूयार्क को दिलवाना चाहता था। बस, न्यूयार्क और लन्दन के बोहरो व साहूकारो के बीच गज़ब की लडाई शुरू हो गई। दोनो की पीठ पर उनकी अपनी-अपनी सरकारें थी।

अमेरिका के दबाव ने इग्लैण्ड के पौण्ड को हिला दिया। बैंक ऑफ इग्लैण्ड अपने सिक्के के बदले मे सोना देने मे असमर्थ हो गया, और सोने की कीमतवाले पौण्ड का (जो अब स्वर्ण-मान से अलग हो गया था) भाव बदलने और गिरने लगा। फ्रान्सीसी फ्रैन्क का भाव भी गिर गया। ऐसी डाँवाडोल दुनिया मे सिर्फ अमेरिकी डालर ही चट्टान की तरह मज़बूत दिखाई देता था।

यह खयाल हो सकता है कि ऐसी सूरतो मे रुपये-पैसे का कारोबार और सोना, लन्दन से मुँह मोडकर न्यूयार्क चला गया होगा। मगर यह विचित्र बात है कि ऐसा नही हुआ और विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ और खानो से निकलनेवाला सोना फिर भी लन्दन पहुँचते रहे। इसका सबब यह नही था कि लोग डालर के मुकाबले मे पौण्ड को अच्छा समझते थे, बल्कि यह था कि डालर आसानी से नही मिलते थे।

'स्वीकारने' का जो तरीका इग्लैण्ड के बैंक अपनी शाखाओ व एजन्सियो की मार्फत दुनिया-भर मे काम मे लाते थे, उसका जिक्र मैं कर चुका हूँ, जो तुम्हे याद

होगा। अमेरिका के बैंको की ऐसी शाखाएँ या विदेशी एजन्सियाँ नही थी, इसलिए विदेशी विनिमय-हुण्डियो को 'स्वीकार' कर उन्हे हासिल करने का ऐसा कोई साधन उनके हाथ मे नही था। इसलिए इन हुण्डियो का अंग्रेज़ी बैंको की मार्फत लन्दन पहुँचना लाज़िमी था। जब यह दिक्कत सामने आई, तो अमेरिका के बौहरो ने बाहर के देशो मे झटपट शाखाएँ और एजन्सियाँ खोलना शुरू कर दिया, और कई जगह शानदार इमारतें खडी हो गईं। मगर फिर भी एक और कठिनाई थी। 'स्वीकारने' का काम ऐसे सधे हुए कर्मचारी ही कर सकते थे, जिन्हे मुकामी हालतो की और मुकामी कारोबार की पूरी जानकारी हो। इग्लैण्ड के बैंको ने अपने सौ वर्षों के विकास मे इस किस्म के कर्मचारी तैयार कर लिये थे, इसलिए इस मामले मे जल्दी-से उनके बराबर पहुँचना आसान नही था।

तब अमेरिकावालो ने लन्दन का मुकाबला करने के लिए कुछ फ्रान्सीसी, स्विस और डच बैंको से साझा किया, मगर फिर भी उन्हे ज्यादा सफलता नही मिली। हालाँकि फ्रान्स बहुत मालदार देश था, और बहुत सारी पूँजी बाहर के देशो को भेजता था, पर उसने विदेशी विनिमय-हुण्डियो का व्यापार जमाने की तरफ कभी ध्यान नही दिया था। लिहाज़ा न्यूयार्क और लन्दन शहर के बीच खीच-तान जारी रही, पर कुल मिलाकर लन्दन पर इसका कोई असर नही पडा। १९२४ ई० मे न्यूयार्क के हक मे एक नया वसीला सामने आया। ससार-व्यापी सिक्के का फैलाव खत्म होने के बाद जर्मन मार्क मजबूत हो गया और जो जर्मन पूँजी इस फैलाव के ज़माने मे स्वीज़रलैण्ड और हालैण्ड भाग गई थी, (जोखम या खतरे के समय पूँजी हमेशा इसी तरह भाग जाया करती है!) वह जर्मनी के बैंको मे वापस आ गई। अमेरिकी साहूकारी गुट्ट मे जर्मनी के शामिल हो जाने से लन्दन की हैसियत मे बहुत फर्क पड गया। क्योकि अब लन्दन से पूछे बिना ही अमेरिकी विनिमय-हुण्डियो के बदले मे चाहे जितनी यूरोपीय विनिमय हुण्डियाँ मिल सकती थी और लन्दन का सिक्का अभी तक डाँवाडोल था, यानी पौण्ड की कोई कीमत सोने के भाव पर कायम नही थी, वह स्वर्ण-मान से बँधा हुआ नही था।

अब लन्दन शहर के महाजनो के कान खडे हुए। उन्होंने देखा कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का सारा अच्छा कारोवार न्यूयार्क और उसके यूरोपीय साथी-देशो के पास जा रहा है, और लन्दन को सिर्फ जूठन मिल रही है। इस चीज़ को रोकने के लिए सबसे पहले यह काम करने का था कि सोने की निस्बत से पौण्ड की कीमत फिर कायम कर दी जाय। यानी पौण्ड की कीमत अचल कर दी जाय। इससे विनिमय का अच्छा कारोवार फिर खिच आने की उम्मीद थी। लिहाज़ा १९२५ ई० मे पौण्ड की कीमत फिर पुरानी सतह पर कायम कर दी गई। यह अंग्रेज़ी बौहरो और लेनदारो की बडी भारी जीत थी, क्योकि पौण्ड की कीमत बढ जाने का मतलब था उनकी

आमदनी बढ जाना। पर अंग्रेजी उद्योगो को इससे हानि पहुँची, क्योकि बाहर के देशो मे अंग्रेजी माल के दाम ऊँचे हो गये, और इग्लैण्ड के उद्योगपतियो को विदेशी बाज़ारों मे अमेरिका, जर्मनी व दूसरे औद्योगिक देशो का मुकाबला करना मुश्किल हो गया। मगर इग्लैण्ड ने अपनी बैंक-व्यवसाय की प्रणाली पर, या यो कहो कि ससार की विनिमय-मण्डी मे अपनी साहूकारी सरदारी पर, अपने उद्योगो को कुछ हद तक जान-बूझकर कुर्बान कर दिया। पौण्ड की साख तो एकदम बढ गई, पर तुम्हें याद होगा कि इसके सबब से कुछ हद तक उद्योगो को धक्का लगने से इग्लैण्ड मे घरेलू झगडे पैदा हो गये थे। वहाँ बे-रोजगारी बढ गई, और मुद्दत तक चलने-वाली कोयला-मजदूरो की हडताल हुई, और आम हडताल भी हुई।

पौण्ड की कीमत तो कायम हो गई, पर यही काफी नही था। ब्रिटिश सरकार को अमेरिका की भारी रकम चुकानी पडी थी। यह रकम उचन्त-खाते की थी, और इसके लिए किसी भी वक्त तकाज़ा किया जा सकता था। इस तरह का तकाज़ा करके अमेरिका इग्लैण्ड को भारी कठिनाई मे डाल सकता था, और पौण्ड की कीमत गिराने के लिए मजबूर कर सकता था। लिहाज़ा युद्ध के कर्ज़ों को किस्तो मे चुकाने[1] के बारे मे अमेरिका से समझौता करने के लिए कुछ बडे-बडे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ (जिनमे स्टैनली बाल्डविन भी था) दौडे-दौडे न्यूयार्क पहुँचे। यूरोप के सारे देश अमेरिका के कर्ज़दार थे, इसलिए उचित तो यह था कि ये सब आपस मे सलाह-सूद करके जहाँतक हो अच्छी-से-अच्छी शर्तें हासिल करने के लिए अमेरिका के पास जाते। मगर ब्रिटिश सरकार पौण्ड को बचाने के लिए और लन्दन की आर्थिक सरदारी क़ायम रखने के लिए इतनी उतावली थी कि फ्रान्स या इटली से सलाह करने का उसके पास वक्त ही नही था, और वह अमेरिका के साथ झटपट और किसी भी भाव पर कुछ तस्फिया कर लेना चाहती थी। तस्फिया तो उसने कर लिया, पर उसकी उसे भारी कीमत चुकानी पडी, और सयुक्त राज्य अमेरिका की कडी शर्तें माननी पडी। बाद मे फ्रान्स और इटली ने अपने कर्ज़ों के बारे मे अमेरिका से इनसे कही अच्छी शर्तें हासिल की।

इन ज़ोरदार कोशिशो और कुर्बानियो से पौण्ड की और लन्दन शहर की लाज तो रह गई, पर दुनिया की मण्डियो मे न्यूयार्क के साथ कशमकश चलती रही। न्यूयार्क के पास रुपये का भण्डार था, इसलिए वह कम सूद पर लम्बे-मीयादी क़र्ज़ देने को तैयार हो गया, और बहुत-से देश (जिनमे कनाडा, दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया भी शामिल थे) जो पहले लन्दन के साहूकारे मे रुपया उधार लिया करते थे, अब न्यूयार्क के जाल मे फँस गये। लम्बी मीयाद के कर्ज़ देने मे लन्दन न्यूयार्क की होड नही कर सकता था, इसलिए उसने मध्य-यूरोप के देशो को कम

[1] यह क्रिया क़र्ज़ों का एकीकरण—Funding कहलाती है।

मीयाद के कर्ज देने का यत्न किया। कम-मीयादी कर्जों के मामले मे बोहरो के तजुर्बे और साख की ज्यादा कद्र होती है, और इसमे लन्दन का पलडा भारी था। बस, लन्दन के बैंको ने वियेना के बैंको के साथ, और इनकी मार्फत मध्य व दक्षिण-पूर्वी यूरोप (डैन्यूब और बलकान के प्रदेश) के बैंको के साथ, गहरे ताल्लुक़ कायम कर लिये। न्यूयार्क भी यहाँ कारोबार चलाता रहा।

यह दीवाने लेन-देन का जमाना था, जबकि कुछ हद तक लन्दन व न्यूयार्क की आपसी होड की वजह से यूरोप मे रुपया बहा चला आ रहा था, और करोड़-पति व अरब-पति इतनी तेजी से पैदा हो रहे थे कि ताज्जुब होता था। इसका उपाय बहुत सीधा-सादा था। कोई हौसलेवाला व्यक्ति इनमे से किसी देश मे रेलमार्ग बनाने की या दूसरे सरकारी कामो की रियायत हासिल कर लेता, या दियासलाइयाँ बनाने और बेचने के काम सरीखा कोई ठेका ले लेता। इस रियायत या ठेके मे फायदा उठाने के वास्ते एक कम्पनी खडी कर ली जाती, और यह कम्पनी पूंजी या शेयर बेचती। इस पूंजी या इन शेयरो के आधार पर न्यूयार्क या लन्दन के बैंक अगाऊ रुपया दे देते। इस तरह महाजन लोग न्यूयार्क मे दो फीसदी ब्याज पर डालर उधार लेकर उन्हें बर्लिन मे छै फीसदी ब्याज पर या वियेना मे आठ फीसदी ब्याज पर उठा देते। इस तरह दूसरे लोगो के रुपये का होशियारी मे हेर-फेर करके ये महाजन बहुत मालदार हो गये। ईवान क्रूगर नामक एक स्वीडन-निवासी इनमे बहुत मशहूर हुआ। दियासलाइयो के एकाधिकार की वजह से यह 'दियासलाई का बादशाह' मशहूर था। किसी समय क्रूगर की बडी भारी साख थी। पर बाद मे पता लगा कि वह पूरा ठग था, और उसने बडी भारी-भारी रकमो का गबन किया था। जब उसकी पोल खुलने लगी तो उसने आत्म-हत्या कर ली। उस समय के और भी कई नामी साहूकार अपने खोटे कारनामो की वजह से जजाल मे फंस गये।

मध्य-यूरोप और पूर्वी यूरोप मे इग्लैण्ड और अमेरिका की इस आपसी होड से एक फायदा हुआ। जो ढेरो रुपया यहाँ आया उसने, १९२७ ई० की मन्दी शुरू होने से पहले के वर्षों मे यूरोप के फिर से उठने मे बहुत बडी मदद दी।

इसी बीच, १९२६ और १९२७ ई० मे फ्रान्स मे भी सिक्के का फैलाव हुआ था, और फ्रैन्क की कीमत बहुत गिर गई थी। जैसे ही फ्रैन्क का भाव गिरा, रुपयेवाले फ्रान्सीसियो ने—फ्रान्स के हर छोटे-मोटे मध्यम-वर्गी के पास कुछ-न-कुछ जमा-पूंजी होती है—अपना रुपया मारे जाने के डर से विदेशो मे भेज दिया। उन्होंने बेशुमार विदेशी सिक्योरिटियाँ और विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ खरीद ली। १९२७ ई० मे फ्रैन्क की कीमत फिर कम कर दी गई और सोने के सम्बन्ध से तय कर दी गई। पर यह नई कीमत पुरानी कीमत का पाँचवाँ हिस्सा थी। जिन

फ्रान्सीसियो के पास विदेशी सिक्योरिटियाँ थी, वे सारे-के-सारे अब उन्हें फ्रैन्को की क़ीमतवाली चीजो से बदलने पर आमादा हो गये। उनका कारोबार खूब चेता, क्योकि जितने फ्रैन्क उनके पास शुरू मे थे, उनके पाँच गुने अब उन्हें मिल रहे थे। इस तरह सिक्के के फैलाव से उन्हें जरा भी नुकसान नही हुआ। हाँ, अगर वे फ्रैन्को को ही पकडे बैठे रहते तो उन्हें नुकसान उठाना पडता। फ्रान्स की सरकार ने भी इस मौके से फायदा उठाने का फैसला किया। उसने ये सारी विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ या सिक्योरिटियाँ खरीद ली और उनके बदले मे फ्रैन्को के ताज़ा छापे हुए नोट पकडा दिये। इस तरह फ्रान्सीसी सरकार इन विदेशी हुण्डियो और सिक्योरिटियो पर कब्जा करके एकदम खूब मालदार बन गई। वास्तव मे उस समय जितनी हुण्डियाँ और सिक्योरिटियाँ उसके पास थी, उतनी और किसी देश के पास नही थी। साहूकारी सरदारी के लिए इंग्लैण्ड या अमेरिका से होड करने की न तो उसे इच्छा थी और न उसमे इतनी काबलियत ही थी। पर उसकी हैसियत ऐसी हो गई कि वह दोनो पर असर डाल सकता था।

फ्रान्सीसी लोग बडे चौकस होते हैं, और उनकी सरकार का भी यही हाल है। बडे-बडे मुनाफो की आशा मे गाँठ का भी गँवा देने की जोखम उठाने के बजाय वे छोटे-छोटे मुनाफे और बेफिक्री ज्यादा पसन्द करते हैं। लिहाज़ा फ्रान्सीसी सरकार ने होशियारी से देख-भाल कर अपना फालतू रुपया लन्दन की अच्छी कम्पनियो को कम सूद पर उधार दे दिया। मसलन, वह तो अंग्रेज़ी बैंको से सिर्फ दो फ़ीसदी सूद वसूल करती, अंग्रेज़ी बैंक यह रुपया जर्मन बैंको को पाँच या छै फीसदी ब्याज पर उठाते, ये जर्मन बैंक इसी रुपये को आठ या नौ फीसदी ब्याज पर वियेना को उधार देते, और अन्त मे यही रुपया बारह फीसदी ब्याज पर शायद हंगरी या बलकान जा पहुँचता। ज्यो-ज्यो जोखम बढती त्यो-त्यो सूद की दर भी बढती थी, मगर फ्रान्स का बैंक कोई जोखम नही उठाना चाहता था और बे-जोखम अंग्रेज़ी बैंको से लेन-देन करता था। इस तरह फ्रान्स (अपनी खरीदी हुई पौण्ड की विदेशी हुण्डियो के रूप मे) बडी भारी रकम लन्दन मे जमा रखता था, और इससे लन्दन को न्यूयार्क के खिलाफ लडने मे मदद मिली।

इसी बीच व्यापार का संकट और मन्दी बढते जा रहे थे और खेती की उपज के भाव गिर रहे थे। १९३० ई० के शरद मे गेहूँ के भाव इतने दिनो तक गिरे रहे कि पूर्वी यूरोप के बैंक अपने कर्जदारो से रुपया वसूल नहीं कर सके, और इस कारण वे उन पौण्डो व डालरो को नही लौटा सके, जो उन्होंने वियेना मे उधार लिये थे। इससे वियेना के बैंको पर आफत आ गई, और वियेना का सबसे बडा बैंक क्रैडिट-आन्स्टाल्ट, दिवालिया और चौपट हो गया। इससे जर्मनी के बैंक फिर हिल गये और मार्क के ग़ारत होने का अन्देशा पैदा हो गया। इसके नतीजे से जर्मनी में

अमेरिका व इंग्लैण्ड की पूंजी खतरे मे पड जाती, और इसी खतरे को टालने के लिए ही राष्ट्रपति हूवर ने क़र्ज़ों व हर्जानो की आरज़ी छूट का ऐलान किया था। अगर उस वक्त हर्जानो की अदायगी व ा तक़ाज़ा किया जाता तो जर्मनी की माली हालत बिलकुल चौपट हो गई होती। मगर हुआ यह कि इससे भी काम नही चला, और जर्मनी दूसरे देशो को अपने खानगी क़र्ज़ तक नही चुका सका। इसलिए इनके वास्ते भी उसे आरज़ी छूट देनी पडी।

इसका नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड का बहुत-सा रुपया, जो कम-मीयादी कर्ज़ों के रूप में जर्मनी को दिया गया था, वही फँस गया, यानी खटाई मे पड गया। लन्दन के बोहरो की हालत विकट हो गई, क्योंकि उन्हें अपना देना चुकाना था, और वे इस भरोसे बैठे हुए थे कि जर्मनी से उनका रुपया उन्हें मिल जायगा। फ्रान्स और अमेरिका तेरह करोड पौण्ड उधार देकर उनकी मदद को दौडे आये, पर वक्त निकल चुका था। लन्दन के साहूकारी क्षेत्रो मे घबराहट फैल गई, और जब इस तरह की घबराहट फैलती है तो हर आदमी बैंक मे से अपना रुपया निकाल लेना चाहता है। इसलिए यह तेरह करोड पौण्ड बात-की-बात मे उड गये। तुम्हें याद होगा कि पौण्ड स्वर्ण-मान से जुडा हुआ था, इसलिए जिस किसीके पास सोने की क़ीमतवाला पौण्ड होता, वह उसके बदले मे सोना माँग सकता था।

ब्रिटिश सरकार, जो उस समय मजदूर-दली सरकार थी, ज्यादा रुपया उधार लेना चाहती थी, और उसने परेशान होकर न्यूयार्क व पेरिस के बोहरों से कर्ज़ की भीख माँगी। मालूम होता है कि वे कुछ खास शर्तों पर मदद करने को राज़ी हो गये। इनमे से एक शर्त यह थी कि ब्रिटिश सरकार मज़दूरो के मामलो मे और समाज-सेवाओ मे किफायत करे, और शायद मजूरियो मे कटौती भी सुझाई गई थी। यह इंग्लैण्ड के घरेलू मामलो मे विदेशी बोहरो का सीधा दखल था। इस मौके से मज़दूर सरकार के खिलाफ बेजा फायदा उठाया गया और प्रधानमन्त्री, मज़दूर सरकार के नेता, रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने मज़दूर सरकार और अपने दल दोनो को धोखा दिया, और अनुदार दलवालो के सबसे बडे सहारे पर दूसरी सरकार बनाई। यह 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाई, जो सकट का मुकाबला करने के लिए रची गई थी। रैम्ज़े मैक्डानल्ड की यह कार्रवाई, यूरोप के मजदूर आन्दोलन के इतिहास मे ग़द्दारी की सबसे निराली मिसाल में गिनी जाती है।

राष्ट्रीय सरकार पौण्ड को बचाने के लिए बनी थी। फ्रान्स व अमेरिका ने जो कर्ज़ देने का वायदा किया था, वह मिल गया, पर इनकी मदद के बावजूद भी वह पौण्ड को नही बचा सकी। २३ सितम्बर, १९३१ ई० को उसे स्वर्ण-मान छोडने को मजबूर होना पडा और पौण्ड फिर डाँवाडोल क़ीमत का सिक्का बन गया।

पौण्ड का भाव तेज़ी से गिर गया, और उसकी कीमत चौदह शिलिंग के सोने के बराबर रह गई। यानी मोटे तौर पर पहली कीमत की दो-तिहाई रह गई।

यही वह घटना थी और तारीख थी, जिसने दुनिया पर जबर्दस्त असर डाला था। यूरोप ने इसे ब्रिटिश साम्राज्य के टूक-टूक होने का आसार समझा, क्योंकि इसका मतलब था ससार की साहूकारा मण्डी मे लन्दन की हुकूमत का खात्मा। ये उम्मीदें या मुरादे (यूरोप या अमेरिका मे ब्रिटिश साम्राज्य सबकी आँखो मे खटकता है, एशिया का तो ज़िक्र ही क्या) कुछ जल्दबाज़ी की साबित हुई।

पौण्ड की कीमत गिरने से कई देशो के सिक्के डाँवाडोल हो गये, जिन्होने सोने की कीमतवाले पौण्ड के नोटो को सोना मानकर रख छोडा था, क्योंकि उनके बदले मे कभी-भी सोना हासिल किया जा सकता था। अब, जब कि इन नोटो के बदले मे सोना नही मिल सकता था और उनकी कीमत तीस फीसदी घट गई थी, तो इनमे से कुछ देशो के सिक्को की कीमतें भी गिर गई और इंग्लैण्ड ने उन्हे भी नीचे खीचकर स्वर्ण-मान छोडने को मजबूर कर दिया।

फ्रान्स की हैसियत अब मज़बूत हो गई थी, उसकी चौकस नीति कामयाब हो गई थी। जहाँ अमेरिका की और उससे भी ज्यादा इंग्लैण्ड की जमा रकमे जर्मनी मे रोक ली गई थी, और इन देशो को रुपये की जरूरत पड रही थी, वहाँ फ्रान्स के पास विदेशी विनिमय-हुण्डियो और सोने के फ्रैन्को की शक्ल मे ढेरो रुपया था। अमेरिका सरकार और ब्रिटिश सरकार दोनो ने फ्रान्स से मोहब्बत जताई और एक के खिलाफ दूसरे का साथ देने के लिए उसे फुसलाने की खूब कोशिशे की। मगर फ्रान्स ज़रूरत से ज्यादा चौकस था, इसलिए उसने दोनो मे किसीकी चालो मे फँसने से इन्कार कर दिया, और इस तर सौदेबाज़ी का मौका हाथ से निकल जाने दिया।

१९३१ ई० के अखीर मे इंग्लैण्ड मे पार्लमेण्ट के लिए चुनाव हुए, और इनके परिणाम-स्वरूप 'राष्ट्रीय सरकार' की भारी बहुमत से जीत हुई। वास्तव मे यह जीत अनुदार-दल की थी। मज़दूर-दल का तो करीब-करीब सफाया हो गया। इन अफवाहो से डरकर कि मज़दूर-सरकार उनकी पूँजी ज़ब्त कर लेगी, और शायद वेतन-कटौती पर अतलान्तिक बेडे के अंग्रेज मल्लाहो की चन्दरोज़ा बगावत से दहलकर, इंग्लैण्ड के सारे-के-सारे मध्यम-वर्गी लोग अनुदार-दली राष्ट्रीय सरकार के पीछे हो लिये।

पौण्ड का भाव गिरने के बाद जो सकट और खतरे सामने आये, उनके बावजूद तीन बडे राष्ट्र अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रान्स, या इन देशो के बोहरे, आपस में सहयोग नही कर सके। हरेक अपनी अकेली चालें चलता था, और इस ताक मे रहता था कि दूसरो को नुकसान पहुँचाकर खुद अपनी हैसियत सुधार ले। साइ-

कारी नेतागिरी के लिए लडने के बजाय वे एक जुट होकर एक शामिल अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय-मण्डी कायम कर सकते थे। परन्तु हरेक ने अपने-अपने रास्ते चलना पसन्द किया। बैंक ऑफ इग्लैण्ड लन्दन का खोया हुआ दर्जा उसे दुवारा दिलवाने की कोशिश मे लग गया, और दुनिया को चकित करके वह इस काम मे बहुत-कुछ सफल भी हो गया, हालाँकि पौण्ड अभी तक स्वर्ण-मान से कटा हुआ था।

जब इग्लैण्ड ने स्वर्ण-मान छोडा था, उस समय और देशो के सरकारी बैंको ने (ये बैंक केन्द्रीय बैंक कहलाते हैं) अपने पास रक्खी हुई पौण्ड की विनिमय-हुण्डियाँ बेच डाली थी, ताकि उनके बदले मे सोना ले सकें। पौण्ड की ये हुण्डियाँ अभी तक उन्होंने इसलिए रख छोडी थी कि इनके बदले मे कभी-न-कभी सोना मिल सकता था, और इसलिए ये सोना ही मानी जा सकती थी। जब इन हुण्डियो की बहुत बडी तादाद एकदम बेची गई, तो पौण्ड की कीमत तेज़ी के साथ तीस फीसदी गिर गई। इस गिरावट के लालच मे आकर उन कर्ज़दारो ने, जिन्हें अपने कर्ज़े पौण्ड मे देने थे, (इनमे कुछ सरकारें और बडे-बडे व्यवसायी भी शामिल थे), सोने मे भुगतान किया, क्योकि अब उन्हें बीस फीसदी कम देना पडता था। इस तरह बहुत सारा सोना इग्लैण्ड मे आ गया।

मगर इग्लैण्ड मे सोने की असली नदी तो भारत और मिस्र से आ रही थी। इन गरीबों और पराधीन देशों को मालदार इग्लैण्ड की मदद करने के लिए मजबूर किया गया, और इनके भीतरी साधनो का इग्लैण्ड की माली हालत मज़बूत करने के लिए उपयोग किया गया। इस मामले मे इनसे कुछ नही पूछा गया, इग्लैण्ड की गरज़ के सामने इनकी इच्छाओ या हितो की गिनती ही क्या थी?

भारत के लिहाज़ से बेचारे भारतीय रुपये की कहानी बडी लम्बी और दुखभरी है। ब्रिटिश सरकार व ब्रिटिश साहूकारो के स्वार्थो की खातिर इसकी कीमत बार-बार बदली जाती रही है। यहाँ मैं सिक्के के इन मामलो मे नही जाना चाहता। सिर्फ इतना बतला देना चाहता हूँ कि सिक्के के मामले मे भारत मे ब्रिटिश सरकार की युद्ध के बाद की कार्रवाइयो से भारत को भारी रकमो का नुकसान उठाना पडा। इसके बाद, १९२७ ई० मे, सोने की कीमतवाले पौण्ड और सोने के सम्बन्ध से रुपये की क़ीमत तय करने के बारे मे भारत मे बडा-भारी वाद-विवाद उठ खडा हुआ (उस समय पौण्ड स्वर्ण-मान से जुडा हुआ था)। यह 'अनुपात का विवाद' कहलाया, क्योकि सरकार तो रुपये की कीमत एक शिलिंग छै पैन्स तय करना चाहती थी, और भारतीय जनमत लगभग एक मत से रुपये की कीमत एक शिलिंग चार पैन्स पर कायम करना चाहता था। सवाल वही पुराना था कि नकदी का मान ऊँचा करके बौहरो और उधार देनेवालो और पूंजीवालो को मुनाफा पहुँचाया जाय और विदेशी आयातो को बढावा दिया जाय, या उसकी

कीमत गिराकर कर्ज़दारो का बोझ हलका किया जाय और विदेशी उद्योगो व निर्यात को बढाया जाय। सरकार ने भारतीय लोकमत की परवाह न करके अपनी बात रहने दी, और रुपये की कीमत एक शिलिंग छै पैन्स तय कर दी। इस तरह कुछ लोगो के मत से ऊँचे भाव की वजह से सिक्का कुछ महँगा हुआ। सिर्फ इग्लैण्ड ने ही, १९२५ ई० मे पौण्ड को स्वर्ण-मान पर लाकर, महँगे सिक्के की नीति अपनाई थी। और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह इसलिए किया गया था कि उसकी वह साहूकारी नेतागिरी कायम रहे, जिसके लिए वह बहुत-कुछ कुर्बानी देने को तैयार था। फ्रान्स, जर्मनी व दूसरे देशो ने अपनी माली हालत सुधारने के लिए सिक्के का फैलाव ज्यादा अच्छा समझा था।

रुपये के ऊँचे मोल से भारत मे लगी हुई अग्रेजी पूँजी की मालियत भी बढ गई। इससे भारतीय उद्योगो पर भी बोझ पडा, क्योकि भारतीय सामानो के भाव कुछ बढ गये। सबसे बडी बात यह हुई कि जो किसान और ज़मीदार महाजनो के कर्ज़दार थे, उन सबका बोझ पहले से भी ज्यादा बढ गया, क्योकि जब रुपये का मोल बढा तो इन कर्ज़ों की मालियत भी बढ गई। अठारह पैन्स और सोलह पैन्स का फर्क, यानी दो पैन्स—साढे बारह फीसदी बढ़ोतरी ज़ाहिर करता था। मान लो कि भारत के किसानो पर कुल कर्ज़ा दस अरब रुपया है, अगर इसमे साढ़े-बारह फ़ीसदी बढोतरी हो जाती है, तो कुल कर्ज़े मे एक अरब पच्चीस करोड रुपये की भारी रक़म जुड जाती है।

रुपयो के हिसाब से तो कर्ज़ों की रकमें वही रही जो पहले थी। परन्तु खेती की उपज के भावो के हिसाब से ये कर्ज़े बढ गये। रुपये का असली मोल यह होता कि उससे कितना गेंहूँ, या कपडा, या दूसरी चीजें या सामान खरीदा जा सकता है। अगर रुकावट न डाली जाय तो यह मोल जरूरत के मुताबिक अपने-आप घटता-बढता रहता है। नकदी की खरीद-शक्ति घट जाने से सिक्के की कीमत गिर जाती है। रुपये का मोल बनावटी तौर पर बढाने का मतलब होता है, उसे ऐसी बनावटी खरीद-शक्ति देना जो वास्तव मे उसमे नही होती। इसलिए किसानो ने महसूस किया कि अब उनकी आमदनी का पहले से ज्यादा हिस्सा इनके सूद के भुगतान मे चला जाता था, और उनके पास कुछ नही बचता था। इस तरह से एक शिलिंग छै पैन्स का एक रुपया होने से भारत मे मन्दी और भी बढ़ गई।

जब सितम्बर, १९३१ ई० मे सोने की कीमतवाले पौण्ड का रिश्ता सोने से तोड दिया गया, तो रुपये का भी सोने से रिश्ता टूट गया, परन्तु फिर भी रुपये को पौण्ड के साथ बँधा रहने दिया गया। यानी एक शिलिंग छै पैन्स का भाव कायम रहा, परन्तु सोने के हिसाब से रुपये का मोल कम हो गया। रुपये को पौण्ड के साथ

इसलिए जुडा रक्खा गया कि भारत मे अंग्रेजी पूंजी को नुकसान न पहुँचे। क्योंकि अगर रुपये को छेडा न जाता, तो उसका मोल कुछ ज्यादा गिर जाता और इससे पौण्डवाली पूँजी को हानि उठानी पडती। हुआ यह है कि रुपये का सोने मे मोल कम होने से भारत मे सिर्फ अमेरिकी, जापानी, वगैरा गैर-ब्रिटिश पूंजी को नुकसान पहुँचा। रुपये का रिश्ता पौण्ड के साथ जुडा रहने से इग्लैण्ड को एक और बडा फायदा यह हुआ कि अपने उद्योगो के लिए जो कच्चा माल वह खरीदता था, उसकी अंग्रेजी सिक्के मे चुकाने की सहूलियत हो गई। सोने के सिक्के का क्षेत्र जितना ज्यादा बडा हो पौण्ड के लिए उतना ही अच्छा है।

जब पौण्ड के साथ-साथ रुपये का मोल भी गिरा तो सोने का अन्दरूनी भाव कुदरती तौर पर बढ गया, यानी सोना बेचने से ज्यादा रुपये मिल सकते थे। देश मे जो भारी मुसीबत और तगी फैल रही थी, उससे मजबूर होकर लोगो ने जेवर वगैरा के रूप मे जितना सोना पास था बेच डाला, ताकि वे अपने कर्ज चुकाने के लिए सोना बेचकर ज्यादा रुपये पा सकें। बस, देश-भर का सोना बेशुमार छोटी-छोटी नालियो मे बैंको मे पहुँचने लगा, और बैंक उसे लन्दन के सर्राफे मे बेचकर मुनाफा उठाने लगे। बस, भारत का सोना लन्दन की तरह लगातार बहता रहा, और ढेरो वहाँ जा पहुँचा। यह सिलसिला अभी तक जारी है। इसी सोने ने, और साथ ही मिस्र से जानेवाले सोने ने, बैंक ऑफ इग्लैण्ड व ब्रिटिश साहूकारे की हालत को सम्हाल लिया, और उन्हें इस काबिल बना दिया कि सितम्बर, १९३१ ई० मे उन्होंने जो रकमे अमेरिका और फ्रान्स से उधार ली थी, उन्हें लौटा सके।

यह अजीब हकीकत है कि ससार के सबसे मालदार देशो समेत सारे देश अपना सोना बचाने की और उसे बढाने की जी-तोड कोशिशें कर रहे हैं, वहाँ भारत इनसे ठीक उलटा काम कर रहा है। अमेरिका व फ्रान्सीसी सरकारो ने अपने-अपने बैंको के तहखानो मे सोने का बडा भारी ढेर जमा करके दबा रक्खा है। यह अजीब सिलसिला चल रहा है कि खानो मे से सोना सिर्फ इसलिए खोद-खोदकर निकाला जा रहा है कि बैंको के गहरे जमीदोज तहखानो मे फिर दफना दिया जाय। ब्रिटिश उपनिवेशो समेत कई देशो ने सोने की निकासी पर रोक लगा दी है, यानी इन देशो मे बाहर सोना कोई नही ले जा सकता। इग्लैण्ड ने, अपना सोना बचाकर रखने के लिए स्वर्ण-मान से नाता तोड दिया है। परन्तु भारत ऐसा नही कर सकता। क्योंकि भारत के खजाने की नीति इग्लैण्ड के हितो के मुताबिक रखी जाती है।

अक्सर कहा जाता है कि भारत मे लोग सोना-चांदी दबाकर रखते हैं और मुट्ठी-भर मालदारो के लिए यह बात किसी हद तक सही भी है। परन्तु जनता तो इतनी गरीब है कि सोना तो क्या कोई भी चीज़ दबाकर नही रख सकती। आसूदा किसान-वर्ग के पास अलबत्ता कुछ ज़ेवर वगैरा होते हैं, जो उनका 'खज़ाना'

समझे जा सकते हैं। बैंक मे जमा कराने की कोई सुविधा नही है। पर भारत के ये छोटे-मोटे गहने-पाते और सोने के भण्डार भी मन्दी से और सोने के भाव बढने की वजह से खिचकर बाहर आ गये हैं। अगर भारत मे राष्ट्रीय सरकार होती तो इस सोने को अपने देश मे ही जमा रखती, क्योकि लेन-देन का माना हुआ अन्तर्राष्ट्रीय ज़रिया सोना ही है।

अब हम फिर डालर के साथ पौण्ड की लडाई के किस्से पर आते हैं। ऊपर लिखे तरीको से, और दूसरी चालाक तरकीबो से, जिनका ज़िक्र मैं यहाँ नही करना चाहता, बैंक ऑफ इग्लैण्ड ने अपनी हैसियत बहुत मज़बूत बना ली। १९३२ ई० के शुरू के दिनो मे इस बैंक का सितारा कुछ चमका, क्योकि अमेरिका की पूंजी जर्मनी मे रुक जाने से सयुक्त राज्य अमेरिका के बैंको की हालत नाजुक हो गई। इस सकट-काल मे अमेरिका के अनेक लोगो ने अपने डालर बेच दिये और पौण्ड के ब्याजी रुक्के खरीद लिये। बस, ब्रिटिश सरकार को डालरो की ढेरो विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ मिल गईं, जिन्हें न्यूयार्क के सरकारी बैंक मे भुगतान के लिए भेज दिया और बदले मे सोना ले लिया। डालर स्वर्ण-मान से जुडा हुआ था, इसलिए उसके बदले मे सोना माँगा जा सकता था। इस तरह से किसी दुर्घटना के बिना और पौंड का भाव ज्यादा गिरे बिना इग्लैण्ड का सोना-भण्डार खूब भर गया, हालाँकि पौण्ड फिर भी डाँवाडोल और स्वर्ण-मान से कटा ही रहा। ढेरो विदेशी विनिमय-हुण्डियाँ और सिक्योरिटियाँ अपने पास होने से लन्दन शहर फिर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की बडी केन्द्रीय मण्डी बन गया। उस वक्त तो न्यूयार्क को मुँह की खानी पडी। इस जीत का खास सबब उसके बैंको पर पडनेवाला सकट था, जिसमे कि, मैं पिछले किसी पत्र मे लिख चुका हूँ, हज़ारो छोटे-छोटे बैंक खत्म हो गये थे।

· १८८

पूंजीवादी दुनिया मिलकर जोर नहीं लगा पाती

२८ जुलाई, १९३३

साहूकारी डाह और तिकडमबाज़ी का कितना लम्बा किस्सा मैंने तुम्हें सुना डाला है, और मुझे डर है कि तुम इसे पसन्द नही करोगी। अन्तर्राष्ट्रीय साज़िशो का यह जाल इतना उलझा हुआ है कि इसे सुलझाना, या इसमे घुस जाने पर बाहर निकलना, आसान काम नही है। मैंने तो तुम्हें सिर्फ उसी चीज़ की झलक-सी दिखाई है, जो बहुत-कुछ ऊपरी सतह पर नज़र आती है। दुनिया में जितनी चीज़े होती है, उनमे ज्यादातर ऊपरी सतह पर या सूरज की रोशनी में कभी नहीं आने पाती।

आधुनिक ससार मे वौहरो और साहूकारो का ज़बर्दस्त हाथ है। यहाँतक कि उद्योगपतियो के दिन भी बीत चुके, आज तो उद्योग, खेती-वाडी, रेलो और ढुलाई की, और वास्तव मे कुछ हद तक हरेक चीज़ की, यहाँतक कि सरकार की भी वागडोर वडे-वडे वौहरो के हाथो मे है। क्योकि ज्यो-ज्यो उद्योगो मे और व्यापार मे तरक्की हुई है, त्यो-त्यो इनके लिए दिन-पर-दिन ज्यादा रकमो की ज़रूरत पडती गई है और इन रकमो का इन्तज़ाम वैंको ने किया है। आजकल दुनिया का ज्यादातर काम साख पर चलता है, और साख को बढाना या घटाना और अकुश मे रखना वडे-वडे वैंको के ही हाथ मे है। उद्योगपतियो और खेतिहरो, दोनो को अपना काम चलाने के लिए रुपया उधार लेने वैंक के पास जाना पडता है। वौहरो के लिए उधार देने का यह धन्धा सहज मुनाफे का ही धन्धा नही है, वल्कि इससे उद्योगो व खेतीवाडी पर भी धीरे-धीरे उनका कब्ज़ा हो जाता है। उधार देने से इन्कार करके, या ऐन सकट के मौके पर अपने रुपये का तकाज़ा करके, ये लोग कर्ज़दार का कारोवार चौपट कर सकते हैं, या उसे किसी भी तरह की शर्तें मानने के लिए मजबूर कर सकते हैं। यह चीज़ देश के भीतर और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे, दोनो जगह लागू होती है। क्योकि वडे-वडे केन्द्रीय वैंक कितने ही देशो की सरकारो को रुपया उधार देते है, और इस तरह उन्हें अपने अँगूठे के नीचे रखते है। न्यूयार्क के वौहरे मध्य व दक्षिण अमेरिका की कई सरकारो की नकेल इसी तरीके से अपने हाथ मे रखते हैं।

इन वडे-वडे वैंको का निराला पहलू यह है कि ये अच्छे और बुरे दोनो तरह के ज़मानो मे पनपते रहते है। अच्छे ज़माने मे, कारोवार की आम तरक्की मे इन्हें भी हिस्सा मिलता है। इनके पास ढेरो रुपया आता है, और ये इसे खूब अच्छे सूद पर दूसरो को उधार देते हैं। मन्दी या सकटो के बुरे ज़मानो मे ये रुपये को पकडकर वैठ जाते हैं और उसे जोखम मे नही डालते (इस तरह ये मन्दी वढाते हैं, क्योकि उधार के विना कई कारोबार चलाना कठिन होता है)। मगर ये एक और तरीके से फायदा उठाते हैं। ज़मीनो, कारखानो, वगैरा, सव की कीमतें गिर जाती हैं और वहुत-से उद्योगो के दिवाले निकल जाते हैं। बस, वैंक फौरन आ जाता है और हर चीज़ सस्ते दामो मे खरीद लेता है। इसलिए वौहरो का हित इसीमे है कि बारी-वारी से तेज़ी और मन्दी के चक्कर चलते रहें।

मौजूदा महान् आर्थिक मन्दी के ज़माने मे वडे-बडे बैंको का कारोबार वरावर अच्छा रहा है, और इन्होंने हिस्सेदारो को अच्छे मुनाफे बाँटे हैं। यह सच है कि सयुक्त राज्य अमेरिका के हज़ारो वैंको के, और आस्ट्रिया व जर्मनी के कुछ वडे वैंको के, दिवाले निकल गये हैं। लेकिन अमेरिका के जिन वैंको के दिवाले निकले, वे सब छोटे-छोटे वैंक थे। मालूम होता है कि अमेरिका की वैंक-प्रणाली

ठीक नही है। मगर फिर भी न्यूयार्क के बडे-बडे बैंको का कारोबार काफी अच्छा रहा है। इग्लैण्ड के किसी बैंक का दिवाला नही निकला।

इसलिए आज की पूँजीवादी दुनिया मे असली हुकूमत वौहरो के हाथो में है। लोग हमारे इस जमाने को 'रुपये का युग' कहते हैं, जो निरे 'औद्योगिक युग' के वाद आया है। इन दिनो पश्चिमी देशो मे, और खासकर करोडपतियो के देश अमेरिका मे, करोडपति और अरबपति बरसाती मेढको की तरह पैदा हो रहे हैं, और उनकी वडी कद्र है। लेकिन दिन-पर-दिन जाहिर होता जा रहा है कि 'ऊँचे दर्जे के साहूकारे' के तरीके वहुत ही खोटे हैं, और जो तरीके डाकुओ व धोखेवाजो के समझे जाते हैं उनमे और इन तरीको मे सिर्फ इतना ही फर्क है कि इनकी कार्रवाइयाँ वहुत बड़े पैमाने पर होती हैं। वडे-वडे एकाधिकार तमाम छोटे-छोटे धन्धेवालो को कुचल देते है, रुपया बटोरने के वडे-वडे कारोबार, जिन्हें कोई समझ नही पाता, वेचारे भोले-भाले शेयर खरीदनेवालो को मूँड लेते हैं। यूरोप और अमेरिका के कुछ बडे-से-वडे साहूकारो का हाल ही मे भण्डाफोड हुआ है, और यह नजारा कुछ अच्छा नही रहा है।

हम देख चुके हैं कि इग्लैण्ड और अमेरिका के बीच साहूकारी नेतागिरी का झगडा उस वक्त तो लन्दन शहर की जीत के साथ खत्म हो गया था। परन्तु इस जीत का इनाम क्या मिला ? इस लडाई के वारह वर्षों के दौरान यह इनाम धीरे-धीरे गायब होता गया था। ज्यो-ज्यो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटता गया, त्यो-त्यो साहूकारी नेतागिरी मे मिलनेवाले नफे भी कम होते गये। विनिमय-हुण्डियो की कमी हो गई और साथ ही सिक्योरिटियो के भाव भी गिर गये, और नये शेयरो व सिक्योरिटियो का तो निकलना ही वन्द हो गया। मगर फिर भी, भारी सरकारी और निजी कर्जों के सूद का भुगतान वैसा-का-वैसा बना रहा, और कर्जदार देशो के लिए उनका चुकाना महाकठिन हो गया। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का कोई दूसरा जरिया मयस्सर नही था, इसलिए सोने की खपत वढ़ गई। मगर सोना तो गरीब देशो से खिच-खिचकर पुख्ता सिक्केवाले मालदार देशो मे चला गया था।

लेकिन जव मन्दी का जोर हुआ तो अमेरिका की मदद न तो सोने और दौलत के सारे ढेर ने की, और न उद्योगो की नई-से-नई तकनीक ने। रोजगार के साधनो की जिस महान् भूमि मे नर-नारी दूर-दूर से खिचकर आते थे, वह अब निराशा की भूमि वन गई। वडे-वडे व्यवसायी, जो देश पर राज करते थे, विलकुल भ्रष्ट निकले, और साहूकारी व उद्योगो के नेताओ मे लोगो का भरोसा जाता रहा। राष्ट्रपति हूवर, जो वडे-वडे व्यवसायियो का दोस्त था, वहुत बदनाम हो

गया, और नवम्बर, १९३२ ई० मे राष्ट्रपति के पद का चुनाव हुआ, उसमे फ्रैन्कलिन रूजवेल्ट ने उसे हरा दिया।

मार्च, १९३३ ई० के शुरू के दिनो मे अमेरिका के बैंको पर एक और सकट आ पडा। इसका नतीजा यह हुआ कि अमेरिका को स्वर्ण-मान छोडना पडा, और हालांकि अमेरिका के पास सब देशो से ज्यादा सोना था, फिर भी उसने डालर का मोल गिर जाने दिया। इसका मकसद यह था कि उद्योगो और खेती-बाडी के धन्धो का बोझ हलका हो जाय, और कर्जदारो को राहत मिले, बैंको और महाजनो को भले ही नुकसान उठाना पडे। अमेरिका की यह कारंवाई ब्रिटिश सरकार की उस कारंवाई से बिलकुल उलटी थी, जो इसने भारत मे, सारी भारतीय जनता के विरोध पर भी, की थी।

जून, १९३३ ई० मे इस बात का एक और यत्न किया गया कि जो समस्याएँ पूंजीवादी दुनिया का गला दबोच रही थी, उन्हें हल करने के लिए आपसी सहयोग किया जाय। लन्दन मे एक विश्व आर्थिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ और इसमे भाग लेनेवाले प्रतिनिधियो ने 'घबराहट-जदा दुनिया' के बारे मे चर्चाएँ की और चेतावनी निकाली कि "अगर यह सम्मेलन असफल रहा, तो सारा पूंजीवादी ढांचा तडाक से टूट जायगा"। मगर इन चेतावनियो और खतरो के बावजूद भी बडी-बडी शक्तियाँ आपस मे सहयोग नही कर सकी और सब अपनी-अपनी तरफ की कोशिश करती रही। सम्मेलन बेकार हुआ, और हर देश आर्थिक राष्ट्रवाद की अपनी अलग नीति पर चलने के लिए छोड दिया गया।

इंग्लैण्ड के लिए आत्म-निर्भर बनना नामुमकिन था, क्योंकि एक तो यहाँ जरूरत पूरी करने के लिए काफी अन्न पैदा नही होता था, दूसरे यहाँ के उद्योगो के लिए कच्चा माल बाहर के देशो से आता था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने सारे साम्राज्य मे आर्थिक राष्ट्रवाद फैलाने की कोशिश की, और सारे ब्रिटिश साम्राज्य को पौण्ड के भावो पर खडी हुई एक ही आर्थिक इकाई बनाना चाहा। इस विचार को सामने रखकर १९३२ ई० म ओटावा मे ब्रिटिश साम्राज्य सम्मेलन का अधिवेशन किया गया। मगर यहाँ भी कठिनाइयाँ पैदा हो गईं, क्योकि कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण अफ्रीका, इंग्लैण्ड के फायदे के लिए किसी तरह का त्याग करने को तैयार नही हुए। उलटे इंग्लैण्ड को उनकी मांगें पूरी करनी पडी। मगर भारत को सरकारी तौर पर मजबूर करके ब्रिटिश माल को खास रियायतें देने के वास्ते राजी किया गया, हालांकि भारतवासियो ने इसका कडा विरोध किया था। बाद की घटनाओ ने साबित कर दिया है कि ओटावा का समझौता सफल नही हुआ है, और इसको लेकर एक तरफ तो उपनिवेशो व इंग्लैण्ड के बीच, और दूसरी तरफ भारत व इंग्लैण्ड के बीच, काफी रगडा-झगडा रहा है।

इसी दरमियान साम्राज्य के उद्योगो और मण्डियो के लिए एक नई दहशत खडी हो गई। सस्ती जापानी चीजो की हर जगह भरमार हो गई, और ये इस हद दरजे की सस्ती थी कि महसूलो की दीवारें भी इन्हें न रोक सकी। यह सस्ताई एक तो येन[1] का मोल गिरने के सबब से थी, और दूसरे इस सबब से थी कि जापान के कारखानो मे काम करनेवाली लडकियो को बहुत कम मजूरी दी जाती थी। इसके अलावा जापानी उद्योगो को सरकार रुपया देती थी, और जापानी जहाज़ कम्पनियाँ माल ढोने का बहुत कम किराया वसूल करती थी। यह भी सच है कि जापानी उद्योग बडी होशियारी से चलाये जाते थे, इग्लैण्ड के कितने ही पुराने उद्योगो मे यह चीज़ नही थी।

जब महसूलो से जापानी माल का आना नही रुका, तो उसके लिए मण्डियाँ बन्द कर दी गई, या कोटा-प्रणाली जारी कर दी गई, जिसके मुताबिक माल की एक बँधी हुई मिकदार आने दी जाती थी। अगर जापान का माल इस तरह दूसरे देशो मे पहुँचने मे रोक दिया गया, तो जापान के भारी-भरकम उद्योगो का क्या हाल होगा ? उसकी सारी अर्थ-व्यवस्था चौपट हो जायगी, और माल पहुँचाने के रास्ते तलाश करने की कोशिशो के नतीजे से आर्थिक बदले की और युद्ध तक की नौबत आ सकती है। पूँजीवाद की बेफायदा होड के अन्दर घटनाओ का यही लाज़िमी दौर होता है।

इसी तरह अगर इग्लैण्ड की मण्डियाँ दूसरे देशो के लिए बन्द कर दी जायँ, तो इनमे से कई देश बर्बाद हो जायँगे। बस, हम देखते है कि जितनी भी कार्रवाइयाँ कोई देश अपने निजी चटपट मुनाफे के लिए करता है, उससे दूसरे देशो को और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को चोट पहुँचती है, और आखिरकार रगडे-झगडे व गडबडियाँ पैदा होती हैं।

: १८९

स्पेन में क्रान्ति

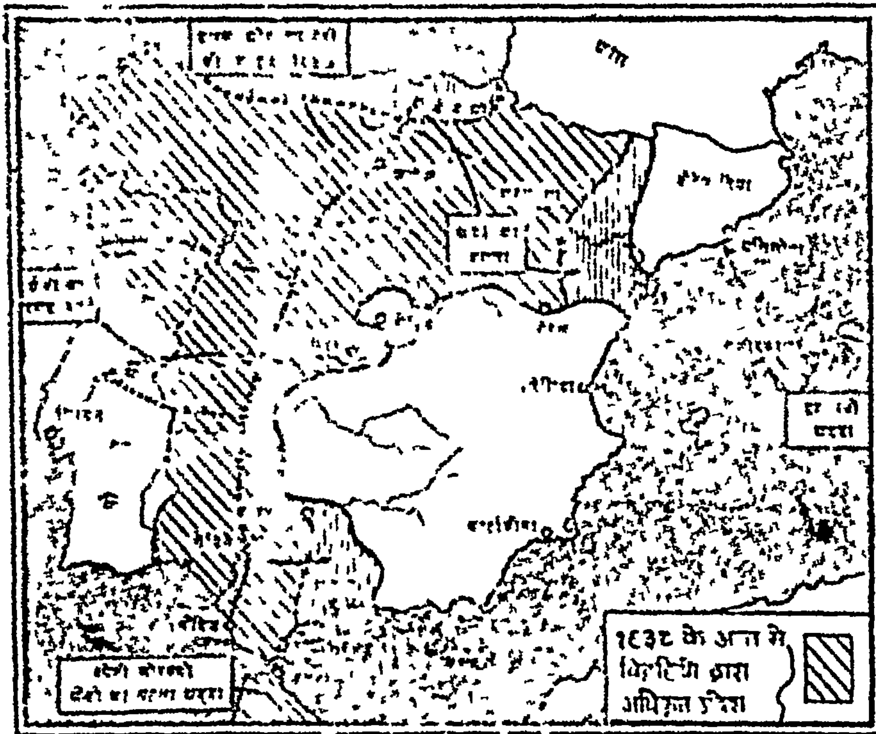
२९ जुलाई, १९३३

अब मैं तुम्हें व्यापार की मन्दी और सकट के लम्बे और दिल दुखानेवाले बयान से दूर ले चलूंगा, और हाल के ज़माने की दो मार्के की घटनाओ का ज़िक्र करूँगा। ये दो घटनाएँ हैं, स्पेन मे क्रान्ति और जर्मनी मे नात्सियो की शानदार जीत।

---

[1] जापान का सिक्का 'येन' कहलाता है।

स्पेन का गृह-युद्ध



स्पेन और पुर्तगाल यूरोप के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर हैं, और, जैसाकि हम देख चुके हैं, यूरोप के और ससार के इतिहास मे इन देशो ने बडे महत्व का हिस्सा लिया है। साम्राज्य बनाने की हौसलेवाजियो मे इन्होंने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी, और जिस समय, उन्नीसवी सदी मे, यूरोप उद्योगो मे और दूसरी वातो मे तरक्की कर रहा था, ये पिछडे हुए और पादरियो के असर मे वने रहे। राष्ट्रवादी स्पेन ने नेपोलियन के ऊपर शानदार जीत हासिल की थी, परन्तु फ्रान्स की क्रान्ति से पैदा होनेवाले विचारो से इसने फायदा नही उठाया। फ्रान्स ने तो सामन्तशाही से अपना पिण्ड छडा लिया और अपनी भूमि का वन्दोवस्त पूरी तरह वदल दिया, मगर स्पेन आधा-सामन्तशाही वना रहा। यहाँ अमीरो के पास वडी-वडी जागीरें और खास रियायतें थी। रोमन कैथलिक चर्च का सिर्फ मजहवी मामलो पर ही दखल नही था, वल्कि भूमि, व्यापार और शिक्षा के मामलो पर भी था। चर्च यहाँ का सवसे वडा जमीदार था और लम्वे-चौडे पैमाने पर व्यापार चलाता था। शिक्षा पर तो उसका पूरा कावू था।

स्पेन मे फौजी अफसरो की एक अलग ही जाति थी, जिसे खास रियायतें मिली हुई थी। फौज मे अफसरो की सख्या दूसरे सिपाहियो की सख्या के मुकावले मे वहुत ज्यादा थी, यानी सात सिपाहियो के पीछे एक अफसर था। दिमागी लोगो मे प्रगतिवादी, उदार विचारोंवाले तत्व थे, और मजदूर-आन्दोलन, जो सघवादियो,[1] समाजवादियो और अराजकतावादियो मे बँटा हुआ था, जोर पकड रहा था। लेकिन असली सत्ता चर्च, सेना और अमीरो के हाथो मे थी। कैटेलोनिया मे और उत्तर के वास्क प्रदेश मे स्वाधीनता चाहनेवाले जोरदार आन्दोलन चल रहे थे।

स्पेन व पुर्तगाल दोनो मे करीव-क़रीव निरकुश वादशाहतें थी, जिनमे वोदी पार्लमेण्टी सभाएँ थी। स्पेन की सभा का नाम 'कोर्ते' था। १८६० ई० के वाद कुछ थोडे-से वर्षो तक स्पेन मे गणराज्य रहा, पर यह सफल नहीं हुआ, और बादशाह अपनी सारी पुरानी निरकुश हुकूमत को लेकर फिर आ धमका। १८९८ ई० मे सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ स्पेन का जो युद्ध हुआ, उसके नतीजे से स्पेन अपना आखिरी उपनिवेश भी खो वैठा। उसका सारा उपनिवेशी प्रदेश पडौस मे मोरक्को के कुछ भाग मे वच गया था।

पुर्तगाल के पास अफ्रीका मे अव भी वडे-वडे उपनिवेश हैं, और इनके अलावा गोवा, वगैरा भारत के जरा-जरा-से टुकडे भी हैं। १९१० ई० मे वादशाह को गद्दी से उतार दिया गया और पुर्तगाल मे गणराज्य कायम हो गया। तवसे यहाँ बादशाहवादियो और वाम-पक्षियो दोनो के कितने ही विद्रोह होते रहे हैं।

---

[1] Syndicalists.

बादशाहवादी तो बादशाह को वापस लाने की कोशिशें करते रहे, और वाम-पक्षी लोग तानाशाही और प्रतिगामी हुकूमतो से पिण्ड छुडाने की कोशिशो मे लगे रहे। मगर फिर भी गणराज्य हुकूमत किसी-न-किसी रूप में चली आ रही है, और इसपर अक्सर फौजी गुट हावी रहा है। महायुद्ध मे पुर्तगाल ने मित्र-राष्ट्रो का साथ दिया, और इसमे से वह कर्ज का इतना भारी बोझ लेकर निकला कि उसके दिवालिया होने की नौबत आ गई। मौजूदा सरकार बहुत ही प्रतिगामी और नात्सियो की हिमायती है। गोवा मे सब तरह की सार्वजनिक हलचलो का दमन किया जाता है, और नागरिक स्वतन्त्रता-जैसी तो कोई चीज ही वहाँ नही है।

महायुद्ध मे स्पेन तटस्थ रहा, और इससे उसे बहुत फायदा हुआ। उसने लडने-वाले देशो को माल भेजा, जिससे उद्योगीकरण का विस्तार हुआ। युद्ध के बाद के वर्षों मे यहाँ मन्दी, बेरोजगारी और समाजी गडबडें रही। इसी समय के लगभग १९२१ मे, मोरक्को मे रिफ-युद्ध हुआ, जिसमे अब्दुल करीम ने स्पेनी सेना को पूरी तरह हरा दिया। पर बाद मे फ्रान्सीसी सेनाओ ने वहाँ आकर अब्दुल करीम को पूरी तरह दबा दिया, और स्पेनी मोरक्को वापस स्पेन को दिलवा दिया। मोरक्को-युद्ध के दौरान ही प्राइमो-दि-रिवेरा सामने आया और यह १९२३ ई० मे विधान को मसूख करके तानाशाह बन बैठा। यह छै साल तक बना रहा, पर धीरे-धीरे इसने सेना का विश्वास खो दिया, और १९२९ ई० के आर्थिक सकट के बाद इसे इस्तीफा देना पडा। उधर इस सारे समय मे बादशाह अल्फ़ोन्सो वही जमा रहा, और प्रतिगामी गिरोहो को मदद देता रहा और अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश मे लगा रहा।

स्पेन के निवासी घोर व्यक्तिवादी हैं, और इनके प्रगतिशील गिरोह आपस मे अक्सर लडते रहते थे। बाकुनिन के समय से स्पेन के नये मजदूर-वर्ग पर अराजकतावादी विचारधारा का असर पड गया था, और अग्रेजी या जर्मन ढग के मजदूर-सघ यहाँ लोकप्रिय नही हुए थे। अराजक-सघवादियों[1] ने एक मजबूत गिरोह बना लिया था और कैटेलोनिया मे इनका ज्यादा जोर था। उदार-लोकतन्त्रवादी दल, समाजवादी दल और छोटा-सा मगर बढ़ता हुआ साम्यवादी दल, यहाँ के दूसरे प्रगतिशील गिरोह थे। ये सारे गिरोह गणराज्य के हामी थे। प्राइमो-दि-रिवेरा की तानाशाही ने इन सारे गणराज्य-गिरोह को इकट्ठा कर दिया और वे आपस मे सहयोग करने लगे।

१९३१ ई० के म्यूनिसिपल चुनावो मे इन्हें कामयाबी मिली। इन चुनावो मे गणराज्यवादियो की जीत ने सारे विरोधियो पर झाड फेर दी। यह चीज बादशाह

[1] Anarcho-syndicalists.

को (जो बोर्बन व हैप्सबर्ग दोनो राजवशो का था) दहलाने के लिए काफ़ी थी और वह जल्दी से देश छोडकर भाग गया। गणराज्य का ऐलान कर दिया गया, और १४ अप्रैल, १९३१ ई० को कामचलाऊ सरकार क़ायम हो गई। यह क्रान्ति बिना खून-खराबी की क्रान्ति थी।

स्पेन की इस क्रान्ति मे और मार्च, १९१७ ई० की पहली रूसी क्रान्ति मे निराली समानता दिखाई देती है। रूस की ज़ारशाही-सरीखी पुरानी बादशाहत इतनी खस्ता-हाल हो चुकी थी कि विरोधियो के मुकाबले की कोशिश तक न कर सकी और गारत हो गई। दोनों क्रान्तियाँ सामन्तशाही का सफाया करने और भूमि के बन्दोबस्त को बदलने की बहुत देर से की गई कोशिशें थी, और इसके लिए खास दबाव गरीबी के मारे हुए किसान-वर्ग की तरफ से पडा था। स्पेन मे तो चर्च की सत्ता इतनी ज़बर्दस्त बोझ महसूस की जा रही थी, जितनी रूस मे भी नही थी। दोनो क्रान्तियो से ऐसी डॉवाँडोल हालतें पैदा हो गईं, जिनमें अलग-अलग वर्ग अलग-अलग दिशाओ मे खीचतान कर रहे थे। दक्षिण-पक्ष और ठेठ वाम-पक्ष दोनों की तरफ से बार-बार बलवे हुए। रूस मे इस डॉवाँडोल हालत की वजह से नवम्बर की क्रान्ति हुई; स्पेन मे यह हालत अभी तक चल रही है।

स्पेन के नये सविधान के कुछ दिलचस्प पहलू थे। इसमे सिर्फ एक सदन 'कोर्ते' रक्खा गया है और सारे बालिग़ नर-नारियों को वोट देने का हक़ है। एक निराली बात यह रक्खी गई है कि राष्ट्र-सघ की मजूरी के बिना राष्ट्रपति युद्ध का ऐलान नही कर सकता। राष्ट्र-सघ मे दर्ज़ किये जानेवाले जितने इकरार-नामो को स्पेन मान लेता है, वे सब-के-सब फौरन स्पेन के क़ानून बन जाते हैं, और अगर यहाँ कोई ऐसा साफ-साफ कानून बन भी चुका हो, जो इनके खिलाफ पडता हो, तो वह रद्द हो जाता है।

नये गणराज्य की सरकार वाम-पक्षी-उदार-नीतिवादी लोकतन्त्री सरकार मानी जाती है, जिसमे समाजवाद का भी कुछ पुट है। यहाँ का प्रधान मन्त्री और सरकार का तेज़ आदमी मन्युअल अज़ाना था। इस सरकार को फ़ौरन ही भूमि, चर्च और फौज से ताल्लुक रखनेवाली कठिन समस्याओं का सामना करना पडा था। इनके बारे मे कोर्ते ने बहुत ही महत्व के कानून पास किये थे, मगर अमल मे कुछ ज्यादा नही किया गया। मसलन कानून मे यह इन्तज़ाम था कि कोई भी व्यक्ति या कुटुम्ब आबपाशी की ज़मीन के पच्चीस एकड़ से ज्यादा का मालिक नही हो सकता था, और इस ज़मीन को भी वह तभी तक रख सकता था जबतक कि उसमे खेती करता रहे। मगर अमल मे सारी बडी-बडी जागीरें क़ायम रही। हाँ, बादशाह की और कुछेक बाग़ी सरदारो की जागीरें ज़ब्त कर ली गईं।

कोर्तें ने चर्च की जायदाद को राष्ट्र की मिल्कियत करार दिया, मगर इसपर भी अमल नही किया गया। शिक्षा के मामले मे चर्च पर लगाई गई कुछ पाबन्दियो के अलावा, उसकी आज़ादी मे कोई दखल नही दिया गया। फौजी अफसरो की कुछ रियायतें छीन ली गई, और इनमे से बहुतो को बडी अच्छी-अच्छी पेंशनें देकर घर बिठा दिया गया।

१९३२ ई० मे कैटेलोनिया मे अराजक-सघवादियो का बलवा हुआ, जिसे सरकार ने दबा दिया। इसी साल के अन्त मे दक्षिण-पक्षवालो का भी एक बलवा हुआ, जो शुरू होते ही खत्म हो गया।

शुरू के इन वर्षों मे नये गणराज्य का लेखा बहुत तारीफ के काबिल था, खासकर शिक्षा के मामले मे। भूमि की समस्या को हल करने के लिए और मज़दूरो की हालत सुधारने के लिए भी कुछ किया गया था। पर भूमि के बन्दोबस्त मे सुधार की रफ्तार बहुत धीमी रही है, और किसान-वर्ग उससे नाखुश है। इधर जमे हुए स्वार्थों-वाले और प्रतिगामी तत्व अभी तक मज़बूती के साथ डटे हुए हैं और गणराज्य के लिए खतरा बन रहे हैं। उदारवादी सरकार ने इनके साथ मुलायम बर्ताव किया है।

टिप्पणी—(नवम्बर, १९३८ ई०)

१९३३ ई० के साल मे स्पेन के प्रतिगामी तत्वो ने मिलकर अपनी हैसियत मज़बूत बना ली, और उस साल जो चुनाव हुए, उनमे इन दक्षिण-पक्षवालो के शामिल दल ने बहुमत हासिल कर लिया। इससे राज्यसत्ता एक प्रतिगामी सरकार के हाथो मे आ गई और इस सरकार ने काश्तकारी सुधार रोक दिये, चर्च की ताकत बढा दी, और पिछली सरकार ने जो कुछ किया था, उसके बहुत-से हिस्से पर पानी फेर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रतिगामी हरकतो का मुकाबला करने के लिए सारे वाम-पक्षी गिरोह एक हो गये। अक्तूबर, १९३४ ई० मे सारे स्पेन मे दगे हुए, पर सरकार इन्हें ठण्डा करने मे और वाम-पक्षियो को दबाने मे कामयाब हो गई। लेकिन वाम-पक्षी दल अपनी जडें जमाते रहे, और उन्होने उदार-पन्थियो, समाजवादियो, अराजकतावादियो और साम्यवादियो का एक मिला-जुला 'लोकप्रिय मोर्चा' खडा कर लिया। फरवरी, १९३६ ई० मे कोर्तें के चुनावो मे यह लोकप्रिय मोर्चा विजयी हुआ और एक नई सरकार कायम हो गई। अब ऐसा मालूम होने लगा कि यह सरकार भूमि की समस्या को हल करने के लिए और चर्च की ताकत पर लगाम लगाने के लिए जोरदार कदम उठायेगी, और जमे हुए स्वार्थों की तरफ इतनी नर्म नही रहेगी, जितनी कि पिछली उदार-दली हुकूमत रही थी। इसलिए विरोधी भावना जोर पकडने लगी, और प्रतिगामी दलो ने हमला करने की ठान ली। इन्होंने मुसोलिनी और जर्मनी के नात्सियो का सहारा भी ढूंढ लिया।

जुलाई, १९३६ ई० मे, जनरल फ्रैन्को ने स्पेनी मोरक्को मे मूरो की फौज की मदद से बगावत शुरू कर दी। इस फौज को यह भरोसा दिया गया था कि स्पेनी मोरक्को स्वाधीन कर दिया जायगा। फौजी अफसरो ने और ज्यादातर सिपाहियो ने फ्रैन्को का साथ दिया, और सरकार अपने बचाव मे असमर्थ नजर आने लगी। इसपर सरकार ने जनता को आदेश दिया कि अगर लोगो को और कोई चीज़ मुहैया न हो तो घूंसो से ही लडें। जनता ने, खासकर मैड्रिड और बार्सिलोना की जनता ने, इस आदेश पर मुस्तेदी से अमल किया। सरकार और गणराज्य को तो आँच नही आई, पर फ्रैन्को ने स्पेन के बडे-बडे हिस्सो पर क़ब्ज़ा कर लिया।

उस समय से यह घरेलू-युद्ध बराबर चला आ रहा है। क्योकि फ्रैन्को फ्रैंको इटली व जर्मनी से बहुत काफी मदद मिल रही है। उन्होने इसे बडी-बडी फ़ौजें, हवाई-जहाज़ और हवाबाज़, और गोला-बारूद का सामान भेजा है। गणराज्य के पास भी मदद के लिए विदेशी स्वयसेवक हैं, मगर साथ ही उसने स्पेन की एक नई शानदार फौज भी खडी कर ली है। ब्रिटिश और फ्रान्सीसी सरकारो ने कह दिया है कि वे तो बीच मे न पडने की नीति पर अमल करती है, लेकिन नतीजे मे यह नीति फ्रैन्को की मददगार हो रही है।

स्पेन का यह युद्ध दिल दहलानेवाली कार्रवाइयो से भरा हुआ है। फ्रैन्को के भाडैती जर्मन व इतालवी हवाई-जहाज़ो ने बेपनाह नगरो और नागरिको पर जो हवाई बमबारी की है, उससे बेशुमार आदमी मारे गये हैं। मैड्रिड की रक्षा की कहानी तो मशहूर हो गई है। इन दिनो फ्रैन्को ने तीन-चौथाई स्पेन पर कब्ज़ा कर रक्खा है, लेकिन गणराज्य ने, जो फौजी लिहाज़ से मजबूत है, उसे आगे बढ़ने से अच्छी तरह रोक दिया है। गणराज्य को सबसे बडी दिक़्क़त अन्न की कमी की है।

यह माना जाता है कि स्पेन का युद्ध महज़ राष्ट्रीय झगडा नही है, बल्कि कोई बहुत बडी चीज़ है। यह लोकतन्त्र और फासीवाद की लडाई का नमूना बन गया है, और सारी दुनिया के लोगो का ध्यान और हमदर्दी खीच रहा है।

: १९० :

जर्मनी में नात्सियों की विजय

३१ जुलाई, १९३३

स्पेन की क्रान्ति से कुछ लोगो को अचम्भा हुआ, पर वास्तव मे इसमे अचम्भे की कोई बात नही थी। यह तो घटनाओ के क़ुदरती सिलसिले के मुताबिक़ हुई थी, और ग़ौर से देखनेवाले जानते थे कि यह टल नही सकती थी। बादशाह-सामन्त-शाही-चर्च के पुराने ढाँचे मे घुन लग चुका था, और वह बिलकुल कमज़ोर हो गया

था। यह आज की हालतो से बिलकुल मेल नही खाता था, लिहाजा पके फल की तरह ज़रा मे तले से नीचे गिर पड़ा। भारत मे नो बीते युग के ऐसे बहुत-से सामन्ती मुर्दे अभी तक हैं; अगर विदेशी शक्ति इन्हें सहारा न लगाती रहे, तो शायद ये भी बहुत जल्दी मिट जायें।

मगर जर्मनी मे जो परिवर्तन हाल ही मे हुए हैं, वे बिलकुल जुदा किस्म के हैं, और इसमे कोई शक नही कि उन्होने यूरोप को हिला दिया है और बहुत लोगो के होश गुम कर दिये हैं। जर्मनी-जैसी सुसंस्कृत और खूब आगे बढ़ी हुई क़ौम ऐसी हैवानी और वहशियाना कार्रवाइयाँ कर सकती है, यह जानकर हैरत होती है।

हिटलर और उसके नात्सी दल की जर्मनी मे पूरी फ़तह हो गई है। इन्हें फ़ासीवादी कहा जाता है और इनकी जीत को उलट-क्रान्ति की जीत माना जाता है। यानी इनने १९१८ ई० की जर्मन क्रान्ति पर और उसके नतीजो पर पानी फेर दिया है। ये सब बातें बिलकुल सही हैं। हिटलरशाही मे तुम्हें फासीवाद के सारे लक्षण दिखाई देंगे, और साथ ही इसमें एक प्रगति का तेज़ विरोध, और तमाम उदार-पन्थी तत्वों पर और खासकर मज़दूरों पर, वहशियाना हमला भी मिलेगा। मगर फिर भी यह महज़ प्रगति के विरोध में कोई बहुत बड़ी चीज है, जो इतालवी फ़ासीवाद से ज्यादा पुख़्ता है और जो जनता की भावनाओ पर ज्यादा टिकी हुई है। यह जन-भावना मज़दूर-वर्ग की भावना नही है, बल्कि उस भूखो मरते, महरूम मध्यम-वर्ग की है, जो क्रान्तिकारी बन गया है।

इटली के बारे में एक पिछले पत्र मे मैंने फासीवाद की चर्चा की थी, और बतलाया था कि इसका उदय तब हुआ जब आर्थिक सकट के ज़माने मे पूंजीवादी राज्य को समाजी क्रान्ति का खतरा हो गया था। मिल्कियतवाले पूंजीपति-वर्ग ने निचले मध्यम-वर्ग के बीज पर जन-आन्दोलन खड़ा करके अपने बचाव की कोशिश की, और भोले-भाले किसानों व मज़दूरों को फांसने के लिए गुमराह करनेवाले पूंजीवाद-विरोधी नारे काम में लिये। लेकिन सत्ता छीनने और राज्य की बाग-डोर हथियाने के बाद वे तमाम लोकतन्त्री सस्थाओं को उखाड़ फेंकते हैं, अपने शत्रुओं को कुचल डालते हैं, और मज़दूरो के सारे सगठनो को तो खासतौर पर नष्ट कर देते हैं। इस तरह उनकी हुकूमत का सबसे बड़ा आधार डण्डे के जोर पर होता है। मध्यम-वर्गी समर्थकों को नये राज्य मे कुछ नौकरियाँ दे दी जाती हैं, और उद्योगों पर कुछ हद तक राज्य का इख़्तियार हो जाता है।

यह तमाम चीजें हम जर्मनी मे होती हुई पाते हैं, और इसके आसार भी नज़र आ रहे थे। लेकिन इसके पीछे जो ज़बर्दस्त उकसाहट है, और हिटलर के साथ जो इतने सारे लोग हो लिये हैं, यह अचम्भे मे डालनेवाली चीज़ है।

यह नाज़ी उलट-क्रान्ति मार्च, १९३३ ई० मे हुई। पर इस आन्दोलन की शुरुआत देखने के लिए मैं तुम्हें कुछ पीछे ले चलूंगा।

१९१८ ई० की जर्मन-क्रान्ति धोखे की टट्टी थी, यह तो क्रान्ति थी ही नही। कैसर चला गया और गणराज्य का ऐलान कर दिया गया, पर पुराना राजनीतिक, समाजी व आर्थिक ढाँचा ज्यो-का-त्यो रहा। कुछ वर्षों तक हुकूमत की बागडोर समाजी लोकतन्त्रवादियो के हाथो मे रही। ये लोग पुराने प्रतिगामी और निहित स्वार्थों से बहुत डरते थे, और सदा उन्हें मनाने की कोशिश मे रहते थे। अपने दल मे इनके पीछे जबर्दस्त शक्तिवालो का सगठन था, जिसके लाखो सदस्य थे, और मजदूर-सघ भी इनके पीछे थे। इसके अलावा दूसरे बहुत-से लोगो की हमदर्दी भी उनके साथ थी। मगर प्रतिगामी तत्वो के मुकाबले मे इनकी नीति सदा बचाव करने की रही, इनका हमलावर रुख तो सिर्फ अपने ही तेज़ तबके और साम्यवादी दल के लिए था। इन्होने अपने काम मे इतना घोटाला किया कि बहुत-से समर्थको ने इनका साथ छोड दिया। इन्हें पीठ दिखानेवाले मजदूर लोग तो साम्यवादी दल मे जा मिले, जो लाखो सदस्यो की वजह से बडा ताकतवर बन गया, और मध्यम-वर्गी समर्थक इन्हे छोडकर प्रतिगामी दलो मे शामिल हो गये। समाजी लोकतन्त्रवादियो और साम्यवादियो के बीच बराबर लडाई चलती रही, जिससे दोनो कमजोर हो गये।

युद्ध के बाद के वर्षों मे जर्मनी मे जब सिक्के का खूब फैलाव हुआ, तो यहाँ के उद्योगपतियो और बडे-बडे ज़मीदारो ने इसे पसन्द किया। जिन ज़मींदारो पर भारी-भारी कर्ज़ थे और जिनकी जागीरें रेहन पडी हुई थी, उन्होंने इस फूले हुए सिक्के मे, जिसकी कोई क़ीमत नही थी, अपने क़र्ज़ चुका दिये, और अपनी जागीरें फिर हासिल कर ली। बडे-बडे कारखानेदारो ने अपनी मशीनें बढा ली, और बडे-बडे शामिल कारोबार खडे कर लिये। जर्मन माल इतना सस्ता हो गया कि हर मण्डी मे हाथो-हाथ बिकने लगा, और बेरोज़गारी मिट गई। मज़दूर-वर्ग मज़दूर-सघो मे मज़बूती से बँधा आ था, और मार्क का भाव गिरने पर भी उसने अपनी मजूरियाँ कम नही होने दी। सिक्के के फैलाव की मार मध्यम-वर्ग पर पडी और वह बिलकुल मुफलिस हो गया। १९२३-२४ ई० का यही महरूम-वर्ग सबसे पहले हिटलर के साथ हुआ। बैंको के दिवालो से और बेरोज़गारी बढ़ने से ज्यो-ज्यो मन्दी ने ज़ोर पकडा, त्यो-त्यो दूसरे बहुत लोग हिटलर के साथ होते गये। वह बेज़ारो का आसरा बन गया। एक और बडा वर्ग, जिसमे हिटलर को बहुत-से चेले मिले, पुरानी फौज के अफसरो का था। यह फौज युद्ध के बाद वर्साई की सन्धि की शर्तों के मुताबिक़ तोड दी गई थी। इसलिए इसके हज़ारो अफसर बेरोज़गार हो गये थे और ठाली बैठे थे। ये उन तरह-तरह की खानगी फौजो मे भरती हो गये, जो उस वक़्त तैयार

हो रही थीं। उनमे एक तो 'तूफानी सिपाही' (Storm Troops) कहलानेवालो की नात्सी फौज थी, और दूसरी राष्ट्रवादियो की 'फौलादी टोप' (Steel Helmets) नाम की फौज थी, जो कैसर की वापसी का समर्थन करनेवाले कट्टर-पन्थियो की थी।

यह एडोल्फ हिटलर कौन था? ताज्जुब की बात है कि सत्ता हथियाने के एक-दो वर्ष पहले तक यह जर्मन नागरिक भी नही था। यह ऑस्ट्रिया-निवासी जर्मन था, जो युद्ध मे एक मामूली सिपाही की हैसियत से लडा था। इसने जर्मन गणराज्य के खिलाफ एक बेकार-से बलवे में भाग लिया था, और हालांकि इसे कैद की सजा दी गई थी, पर अधिकारियो ने इसके साथ नर्मी का बर्ताव किया था। तब इसने अपना 'राष्ट्रीय समाजवादी' दल तैयार किया, जिसका मकसद समाजी लोकतन्त्रवादियो का विरोध करना था। नात्सी शब्द राष्ट्रीय समाजवादी दल के जर्मन नाम के दो टुकडो (National Socialist) को मिलाकर बनाया गया है। हालांकि यह दल समाजवादी कहलाता था, पर समाजवाद से इसका कोई ताल्लुक नही था। समाजवाद के नाम से आमतौर पर जो-कुछ समझा जाता है, हिटलर उसका जानी दुश्मन था और है।[1] नात्सी दल ने स्वस्तिक को अपना चिह्न बनाया। यह सस्कृत का शब्द है, पर स्वस्तिक का चिह्न ससार-भर मे प्राचीन काल से खूब मशहूर है। तुम जानती हो कि इस चिह्न को भारत मे भी सब जानते हैं, और यह अच्छे सगुन का चिह्न माना जाता है। नात्सियो ने 'तूफानी सिपाहियों' का लडाकू दल तैयार किया, जिनकी वर्दी भूरा कुर्ता थी। इसलिए नात्सियो को अक्सर 'भूरे कुर्ते' भी कहा जाता है, जिस तरह कि इटली के फासीवादी 'काले कुर्ते' कहलाते हैं।

नात्सियो का कार्यक्रम न तो साफ़ था और न ठोस। यह घोर राष्ट्रवादी था, और जर्मनी व जर्मनो की महानता पर ज़ोर देता था। बाकी तो यह तरह-तरह की नफरतो की खिचडी था। यह वर्साई की सन्धि का विरोधी था, और उसे जर्मनी के लिए ज़लालत मानता था। इससे बहुत लोग खिचकर नात्सी दल मे आ मिले थे। यह कार्य-क्रम मार्क्सवाद-साम्यवाद-समाजवाद-विरोधी था और कामगरो के मज़दूर-सघो वग़ैरा के खिलाफ था। यह यहूदी-विरोधी भी था, क्योंकि यहूदियो को ऐसी अजनबी नस्ल का माना जाता था, जो 'आर्यन' जर्मन नस्ल के ऊँचे दस्तूरो को भ्रष्ट करनेवाली और गिरानेवाली थी। कुछ गोलमोल तरीके पर यह पूंजीवाद का भी विरोधी था, पर यह विरोध मुनाफाखोरो और मालदारो को गालियाँ देने

[1] तीसरे महायुद्ध में जर्मनी की हार के बाद हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

तक ही था। जिस समाजवाद की वह ज़रा ढाली-ढाली बातें करता था, उसका मतलब सिर्फ यह था कि कुछ मामलो मे राज्य का दखल हो।

इन तमाम बातो के पीछे हिंसा की एक अजीब फिलासफी थी। यही नहीं कि हिंसा की सिर्फ बडाई की जाती हो और उसे बढावा दिया जाता हो, बल्कि यह माना जाता था कि हिंसा इन्सान का सबसे बडा फर्ज़ है। ओस्वाल्ड स्पैंगलर नामक मशहूर जर्मन दार्शनिक इस फिलासफी का व्याख्याकार है। इसने लिखा है कि आदमी "बहादुर, छली और बेरहम शिकारी जानवर" है। .. "आदर्श कायरता की निशानी है।" .. "शिकारी जानवर चलने-फिरनेवाले जीवो मे सबसे ऊँचा है।" वह "हमदर्दी और मेल-मिलाप और चुप्पी की पोपली भावना" का ज़िक्र करता है, और कहता है कि "शिकारी जानवर की सारी नस्ली भावनाओ मे सबसे ज्यादा असली भावना नफरत है।" आदमी को सिंह-जैसा होना चाहिए, जो अपनी मांद मे अपने बराबरवाले को कभी नही रहने देता। उसे दब्बू गाय-जैसा नही होना चाहिए, जो झुण्डो मे रहती है और इधर-से-उधर हाँकी जाती है। ऐसे आदमी के लिए युद्ध ही सबसे आला धन्धा और आनन्द होता है।

ओस्वाल्ड स्पैंगलर आज के सबसे बडे विद्वानो मे गिना जाता है, इसकी लिखी हुई पुस्तको मे इतना ज्ञान भरा है कि ताज्जुब होता है। और इस सारे बडे भारी ज्ञान से वह इन हैरतभरे और नफरतभरे नतीजो पर पहुँचा है। मैंने इसके शब्द यहाँ इसलिए दिये हैं कि, वे हमे हिटलरशाही के पीछे काम करनेवाली भावना को समझने मे मदद करते हैं और नात्सियो के राज मे होनेवाली बेरहमी और हैवानियत पर रोशनी डालते हैं। अलबत्ता यह खयाल नहीं करना चाहिए कि हरेक नात्सी के ऐसे ही विचार हैं। पर नात्सियो के नेताओ और सरगर्म लोगो के ऐसे ही विचार हैं, और इनके पिछलग्गू इन्ही की नक़ल करते हैं। शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि औसत नात्सी तो कुछ सोचता ही नही था। उसकी भावनाएँ उसकी अपनी कम्बख्ती से और राष्ट्र के अपमान से भडक उठी थी (रूर पर फ्रान्सीसियो के कब्ज़े से सारे जर्मनी मे बहुत सख्त नाराज़ी थी), और जो कुछ हो रहा था उसपर वह गुस्से मे भरा हुआ था। हिटलर बडा ज़ोरदार बोलनेवाला है। उसने बडी-बडी सभाओ मे लोगो की भावनाओ को उभाडा, और जो कुछ हो रहा था, उस सबका इल्ज़ाम मार्क्सवादियो और यहूदियो पर थोप दिया। अगर फ्रान्स या बाहर के दूसरे देश जर्मनी के साथ बुरा बर्ताव करते थे, तो इसकी वजह से और भी ज्यादा लोग नात्सी-दल में शामिल हो जाते थे, क्योकि वे समझते थे कि जर्मनी की इज्ज़त नात्सी लोग ही बचा सकेंगे। इसी तरह जब आर्थिक सकट ज्यादा विकट हुआ, तो लोग धडाधड नात्सीदल मे भरती होने लगे।

सरकार पर समाजी लोकतन्त्रवादी दल का कब्ज़ा बहुत जल्दी जाता रहा, और दूसरे गिरोहो की आपसी लाग-डाँटो के कारण, कैथलिक केन्द्र दल के हाथो मे सत्ता आ गई। रीखस्टाग (जर्मनी की पार्लमेण्ट) मे कोई भी दल इतना ज़ोरदार नही था कि दूसरो को दरगुज़र कर सकता, इसलिए चुनाव और साज़िशें और दलगत पैंतरेबाज़ियाँ नित्य होती रहती थी। नात्सियो की ताकत बढने से समाजी लोकतन्त्रवादी तो इतने डर गये कि उन्होंने पूँजीपतियो के 'केन्द्र दल' का, और राष्ट्रपति के पद के चुनाव के लिए बूढे सेनापति फॉन हिण्डनवर्ग का समर्थन किया। नात्सियो की ताकत बढने के बावजूद मज़दूरो के दो दल, यानी समाजी, लोकतन्त्रवादी दल और साम्यवादी दल, ज़ोरदार थे, और अन्त तक इनका साथ देनेवाले बीसियो लाख लोग थे। पर ये दोनो दल समान खतरे के सामने भी आपस मे सहयोग नही कर सके। १९१८ ई० से आगे, अपनी सत्ता के दिनो मे, समाजी लोकतन्त्रवादियो ने साम्यवादियो को जिन अत्याचारो का शिकार बनाया था, और सकट की हर घडी मे उन्होंने जिस तरह प्रतिगामी गिरोहो का साथ दिया था, उसकी कडवी याद साम्यवादियो के दिलो मे बनी हुई थी। दूसरी तरफ समाजी लोकतन्त्रवादी दल, जो दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सघ मे ब्रिटिश मज़दूर दल का साथी था, इसी-जैसा मालदार और फैला हुआ सगठन था, जिसके ढेरो सरपरस्त थे। यह अपनी सलामती और अपने पद को खतरे मे डालनेवाली कोई जोखम नही उठाना चाहता था। यह दल क़ानून के खिलाफ कोई भी काम करने से, या सीधी कार्रवाई कहे जानेवाले किसी भी मामले मे फँसने से बहुत डरता था। इसने अपनी ज्यादातर शक्ति साम्यवादियो से भिडने मे खर्च कर दी थी। और तुर्रा यह है कि ये दोनो दल एक ही किस्म के मार्क्सवादी थे।

बस, जर्मनी बराबर वज़नवाली ताकतो की एक हथियारबन्द छावनी बन गया, और यहाँ हर बार दगे होते थे और हत्याएँ होती थी। नात्सियो के हाथो साम्यवादी मज़दूरो की हत्याएँ खासतौर पर होती रहती थी। कभी-कभी मज़दूर लोग भी अपना बदला निकालते थे। हिटलर बडी खूबी के साथ ऐसी बेमेल भीड को जोडे रहा, जिसके जुदा-जुदा तत्वो मे कोई भी ऐसी बात नही थी, जिसमे वे एकमत हो। यह मध्यम वर्ग का, एक तरफ तो बडे-बडे उद्योगपतियो के साथ, और दूसरी तरफ आसूदा किसान-वर्ग के साथ, विचित्र गठ-बन्धन था। उद्योगपतियो ने हिटलर को इसलिए सहायता दी तथा पैसा दिया कि वह समाजवाद को गालियाँ देता था, और बढे चले आनेवाले मार्क्सवाद या साम्यवाद के खिलाफ अकेला किला नज़र आता था। उधर गरीब मध्यम-वर्ग और किसान-वर्ग और कुछ मज़दूर तक भी इसके पूँजीपति-विरोधी नारो की वजह से इसकी तरफ खिच गये।

१९३३ ई० की ३० जनवरी को बूढ़े राष्ट्रपति ने (उस समय इसकी उम्र

छियासी वर्ष की थी) हिटलर को चैन्सलर बनाया। जर्मनी मे यह सबसे ऊंचा कार्यपालक ओहदा है, जो प्रधानमन्त्री की बराबरी का है। नात्सियो और राष्ट्र-वादियो के बीच गठ-बन्धन हो गया था, पर यह बहुत जल्दी ज़ाहिर हो गया कि सारी बागडोर नात्सियो के हाथो मे थी, और दूसरे किसी की कोई गिनती नही थी। आम चुनावो मे नात्सियो और इनके साथी राष्ट्रवादियो का रीख़स्टाग मे नाम-मात्र का बहुमत हो गया। लेकिन अगर यह बहुमत न भी होता तो भी कोई ज्यादा फर्क नही पडता, क्योकि नात्सियो ने पार्लमेण्ट मे अपने विरोधियो को गिरफ्तार करके जेल मे डाल दिया। इस तरह सारे-के-सारे साम्यवादी सदस्य और बहुत-से समाजी लोकतन्त्रवादी सदस्य रास्ते से हटा दिये गए। ठीक इसी समय रीख़स्टाग-भवन मे आग लग गई, और वह जलकर राख हो गया। नात्सियो ने कहा कि यह साम्यवादियो का काम था और राज्य की जड काटने की साज़िश थी। साम्य-वादियो ने इसका ज़ोरो से खण्डन किया। इतना ही नही उन्होने तो नात्सी नेताओ पर इलज़ाम लगाया कि इन्होने साम्यवादियो पर हमला करने का बहाना ढूंढने के लिए खुद ही आग लगाई थी।

इसके बाद सारे जर्मनी मे नात्सियो का 'भूरा आतक' शुरू हो गया। सबसे पहले तो पार्लमेण्ट भग की गई (हालांकि इसमे नात्सियो का बहुमत था), और सारी सत्ता हिटलर और उसके मन्त्रिमण्डल के हवाले कर दी गई। ये क़ानून बना सकते थे, और जो मन मे आये सो कर सकते थे। गणराज्य का वाइमार सविधान रद्दी की टोकरी मे डाल दिया गया, और लोकतन्त्र के सारे रूपो का खुला तिरस्कार किया गया। जर्मनी एक किस्म का सघ था; इसे भी खत्म कर दिया गया और सारी सत्ता सिमटकर बर्लिन मे आ गई। हर जगह तानाशाह मुकर्रर कर दिये गए, और हरेक तानाशाह सिर्फ अपने ऊपरवाले तानाशाह के प्रति जिम्मेदार था, और हिटलर तो तानाशाहो का सरताज था ही।

इधर तो ये परिवर्तन हो रहे थे, उधर नात्सी तूफ़ानी सिपाही सारे जर्मनी मे खुले छोड दिये गए थे। इन सिपाहियो ने मार-काट और आतक का निहायत वहशियाना और हैवानी राज शुरू कर दिया। यह अपने ढग की निराली चीज़ थी। आतक की कार्रवाइयां पहले भी हुई थी—मसलन 'लाल आतक', 'श्वेत आतक', वग़ैरा—पर ये तभी हुई थी जबकि किसी देश या सत्ताधारी गिरोह को घरेलू युद्ध मे अपनी जिन्दगी के लिए लडना पडा था। आतक की कार्रवाई भयकर खतरे और हर वक्त के डर की जवाबी तासीर का नतीजा होती है। पर नात्सियो के सामने ऐसा कोई खतरा नही था, न उन्हें डरने का कोई सबब था। हुकूमत की बागडोर उनके हाथो मे थी, और हथियारो से उनका विरोध या मुकाबला करनेवाला कोई नही था। इसलिए यह 'भूरा आतक' जुनून या डर की नतीजा नही था, बल्कि

उन सब लोगो का इरादतन, जल्लादाना और अनहोना-सा हैवानी दमन था, जो नात्सियो की कतार मे शामिल नही होते थे।

नात्सियो के सत्ता हथियाने के समय से जो-जो अत्याचार होते आये है, और परदे के पीछे अभी तक होते रहते हैं, उनकी सूची देने से कोई मतलब हासिल नही होगा। जर्मनी मे बडे जबर्दस्त पैमाने पर वहशियाना पिटाइयाँ और सख्त मार, और गोली-काण्ड और हत्याकाण्ड हुए है, और मर्द व औरते दोनो इनके शिकार बने हैं। बेशुमार लोगो को जेलो मे या नज़रबन्दी की छावनियो मे डाल दिया गया है, और कहते हैं कि इनके साथ बडा बुरा सलूक किया जाता है। साम्यवादियो पर सबसे खूंखार हमला किया गया है,मगर ज्यादा नर्म समाजी लोकतन्त्रवादियो के साथ भी कोई रियायत नही की गई है। नात्सी लोग यहूदियो के तो हाथ धोकर पीछे पडे हैं, और शान्तिवादियो, उदार नीतिवादियो, मजदूर-सघियो, अन्तर्राष्ट्रीयतावादियो, वगैरा पर भी वार कर रहे हैं। नात्सी लोग पुकार-पुकार कर कहते है कि यह तो मार्क्सवाद और मार्क्सवादियो को ही नही बल्कि पूरे 'वाम-पक्ष' को जड-मूल से मिटाने का युद्ध है। यहूदियो को तमाम नौकरियो और पेशो से भी हटाया जाना चाहिए। हजारो यहूदी प्रोफेसर, अध्यापक, गवैये, वकील, जज, डॉक्टर, और नर्सें निकाल बाहर किये गए हैं। यहूदी दूकानदारो का बायकाट कर दिया गया है, और यहूदी मजदूर कारखानो से निकाल दिये गए हैं। जिन पुस्तको को नात्सी लोग पसन्द नही करते, उनके ढेर-के-ढेर नष्ट कर दिए गए हैं और सरे-आम होलियाँ जलाई गई हैं। जरा-सा भी मतभेद या आलोचना करनेवाले अखबारो का बेदर्दी से गला घोट दिया गया है। आतक-राज के कोई समाचार नही छप सकते और इसके बारे मे काना-फूंसी तक करनेवालो को सख्त सजाएँ दी जाती हैं। तमाम सगठनो और दलो को दबा दिया गया है, सिवा नात्सी दल के। इसे तो दबाया ही कैसे जाता ? सबसे पहला वार साम्यवादी-दल पर हुआ, फिर समाजी लोकतन्त्रवादी-दल पर, उसके बाद कैथलिक केन्द्रीय दल का नम्बर आया, और अन्त मे नात्सियो के मददगार-साथी राष्ट्रवादियो तक को भी नही बख्शा गया। जर्मन मज़दूरो के जबर्दस्त सघ, जो मज़दूरो की कई पीढियो की मेहनत और बचत और कुर्बानियो के फल थे, तोड दिये गए, और उनके फण्ड और उनकी जायदादें ज़ब्त कर ली गईं। सिर्फ एक ही दल, एक ही सगठन, रह सकता था—यह था नात्सी-दल।

विचित्र नात्सी फिलासफी हरेक के गले मे जबर्दस्ती उतारी जाती है, और 'आतक' का डर इतना छाया हुआ है कि कोई सिर तक नही उठा सकता। शिक्षा, रग-मच, कला, विज्ञान,—सब पर नात्सी छाप लगाई जा रही है। हिटलर का एक खास आदमी हरमान गोयरिंग कहता है : "सच्चा जर्मन अपने खून से सोचता है।" एक और नात्सी नेता कहता है : "खालिस तर्क और बे-तास्सुब विज्ञान के दिन बीत

चुके।" बच्चो को सिखाया जाता है कि हिटलर दूसरा मसीहा है, पर पहले मसीहा से भी महान् है। नात्सी सरकार इस हक मे नही है कि लोगो मे, और खासकर स्त्रियो मे, शिक्षा ज्यादा फैले। हिटलरवादियो का कहना है कि नारी की जगह घर व रसोई है, और उसका सबसे बडा काम यह है कि राज्य के लिए लडनेवाले और जान देनेवाले बच्चे पैदा करे। एक और नात्सी नेता, डॉ० जोसफ गोयबल्स, जो 'जन-शिक्षण और प्रचार-विभाग' का मन्त्री है, कहता है "नारी की जगह कुटुम्ब मे है, उसका मुनासिब काम अपने देश और अपनी जाति के लिए बच्चे पैदा करना है। स्त्रियो को आजाद करना राज्य के लिए खतरा है। जो बातें मर्द के करने की हैं, वे उसे मर्द पर ही छोड देनी चाहिएँ।" इसी डॉ० गोयबल्स ने हमे यह भी बतला दिया है कि जनता के शिक्षण का उसका तरीका क्या है' "मेरा इरादा है कि अखबारो को भी उसी तरह बजाऊँ, जिस तरह प्यानो बजाया जाता है।"

इस तमाम जगलीपन, पशुता, आग और बिजली की कडक के पीछे लुटे हुए मध्यम-वर्गों की तँगी और भूख थी। वास्तव मे यह रोजगारो की और रोटी की लडाई थी। यहूदी डॉक्टरो, वकीलो, अध्यापको, नर्सों, वगैरा को इसलिए निकाल दिया गया था कि 'आर्यन' जर्मन लोग उनकी बराबरी नही कर सकते थे, और उनकी सफलता को भूखी निगाहो से देखते थे, और उनके रोजगार छीनना चाहते थे। यहूदी दूकानें इसलिए बन्द कर दी गईं कि जर्मन दूकानदार उनकी होड मे नही टिक सकते थे। बहुत-सी गैर-यहूदी दूकाने भी बन्द कर दी गईं और उनके मालिको को गिरफ्तार कर लिया गया। वजह यह थी कि इन पर मुनाफाखोरी का और चीजो के बेजातौर पर ऊँचे दाम लेने का शक किया जाता था। नात्सियो के हिमायती किसान लोग पूर्वी प्रशिया की बडी-बडी जागीरो पर ललचाई नजरें डाल रहे हैं, क्योंकि वे इनका आपस मे बँटवारा करना चाहते हैं।

नात्सियो के पहले कार्यक्रम का एक दिलचस्प पहलू यह सुझाव था कि १२,००० मार्क सालाना से ज्यादा वेतन किसी को न दिया जाय। यह ८,००० रु० साल या ६६६ रु० माहवारी के बराबर होता है। इस पर कहाँतक अमल किया गया है, यह मुझे नही मालूम। चैन्सलर का मौजूदा वेतन २६,००० मार्क सालाना है (यह १,४४० रु० माहवारी के बराबर है)। यह इरादा जाहिर किया गया है कि जिन खानगी कम्पनियो को सरकारी रुपया दिया जाता है, उनके डायरेक्टरो या मालिको तक को १८,००० मार्क सालाना से ज्यादा वेतन नही दिया जाएगा। अबतक इन लोगो को भारी रकमे दी जाती रही हैं। इन आँकडो की तुलना उन भारी-भरकम वेतनो से करो, जो कँगाल भारत अपने सरकारी कर्मचारियो को देता है। कराची-काग्रेस ने प्रस्ताव किया था कि वेतनो की हद ५०० रु० माहवारी पर बाँधी जानी चाहिए।

यह ख़याल नही कर बैठना चाहिए कि नात्सी-आन्दोलन के पीछे सिर्फ़ ज़ुल्म और आतक ही है। हाँ, ये उभरे हुए ज़रूर है। मज़दूरो की बहुत बडी तादाद के अलावा, ऐसे जर्मनो की तादाद बहुत बडी है, जिनके दिलो मे हिटलर के लिए सचमुच खरा जोश है। अगर पिछले चुनावो के आँकडो को सही माना जाय, तो मालूम होता है कि ५२ फ़ीसदी जनता उसके पीछे है। और यही ५२ फ़ीसदी लोग बाकी के ४८ फ़ीसदी लोगो पर या इनके कुछ भाग पर आतक जमा रहे हैं। इन ५२ फ़ीसदी या अब इससे ज्यादा लोगो को लेकर हिटलर बहुत लोकप्रिय बन गया है। जो लोग जर्मनी होकर आये हैं, वे बतलाते है कि वहाँ एक अद्भुत मनोवैज्ञानिक वातावरण पैदा हो गया है, मानो कोई मज़हबी ताज़गी पैदा हुई हो। जर्मन लोग महसूस करते हैं कि वर्साई की सन्धि की वजह से उनकी बेइज्ज़ती और उनपर दमन का लम्बा ज़माना बीत गया है, और अब वे आज़ादी की साँस ले सकते हैं।

मगर जर्मनी का बाकी आधा या करीब आधा हिस्सा कुछ और ही महसूस करता है। जर्मन मज़दूर-वर्ग के लोगो पर सख्त नफरत और तेज़ गुस्सा छाया हुआ है, पर ये नात्सियो के खूनी बदले के डर से छिपे और दबे हुए हैं। इन लोगो ने हारकर हिंसा व आतक के आगे सिर झुका दिया है, और जो चीज़ उन्होंने बहुत मेहनत और कुर्बानी से खडी की थी, उसीकी बर्बादी रज और बेकसी के साथ अपनी आँखो से देखी है। जर्मनी मे पिछले कुछ महीनो मे जो घटनाएँ हुई हैं, उन मे यह कुछ कम अचम्भे की घटना नही है कि इतनी बडी हैसियतवाला समाजी लोकतन्त्रवादी दल, हमला रोकने की ज़रा-सी भी कोशिश किये बिना, बिलकुल ढेर हो गया है। यूरोप मे मज़दूर-वर्ग का यह सबसे पुराना, सबसे बडा और सबसे ज्यादा सुसगठित दल था। दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सघ की तो यह रीढ था। मगर फिर भी इसने हर तरह की बेइज्ज़ती और ज़िल्लत को, और अन्त मे अपनी मौत को, चुपचाप और बिना किसी ऐतराज़ के, बर्दाश्त कर लिया (हालाँकि महज़ ऐतराज़ तो बिलकुल ही बेकार होता)। समाजी लोकतन्त्रवादी नेता पग-पग पर नात्सियो के आगे घुटने टेकते गये, और हर बार इसी उम्मीद मे रहे कि इस तरह झुकने और ज़िल्लत सहने से उनकी कोई चीज़ तो कम-से-कम शायद बच ही जायगी। मगर उनका यह घुटने टेकना ही उनके खिलाफ़ हथियार बना लिया गया, क्योकि नात्सियो ने मज़दूरों को बतलाया कि देखो, जब खतरा सामने आया तो तुम्हारे नेता किस नीचता के साथ तुम्हें छोडकर भाग गये। यूरोप के मज़दूर-वर्ग की लडाई के लम्बे इतिहास मे कुछ कामयाबियाँ और बहुत-सी शिकस्तें हैं। मगर हमले को रोकने की ज़रा भी हरकत किये बिना ऐसा शर्मनाक घुटने टेकना और मज़दूरो के हितो के साथ विश्वासघात कभी नही हुआ। साम्यवादी दल ने मुकाबले की कोशिश की और आम हडताल का नारा लगाया। पर समाजी लोकतन्त्रवादी नेताओ ने उनका साथ नही दिया और हडताल ठण्डी हो गई। हालाँकि मज़दूर-आन्दोलन तहस-नहस हो गया

है, पर एक खुफिया सगठन की तरह अब भी काम कर रहा है, और यह सगठन काफी फैला हुआ मालूम होता है। कहते हैं कि नात्सी जासूसी विभाग के बावजूद, खुफिया तौर पर निकलनेवाले अखबारो की लाखो प्रतियाँ बाँटी जाती थीं। जर्मनी से बचकर निकल भागे हुए कुछ समाजी लोकतन्त्रवादी नेता भी बाहर के देशो में बैठे-बैठे खुफिया तरीको से कुछ प्रचार की कोशिश कर रहे हैं।

वैसे तो 'भूरे आतक' से सबसे ज्यादा नुकसान मजदूर-वर्ग को सहना पडा था। लेकिन ससार का जनमत यहूदियो के साथ किये गए सलूक पर बहुत भडक उठा था। यूरोप को वर्ग-युद्धो से कुछ पाला पडता रहता है, इसलिए यहाँ के लोगो की सहानुभूति अपने-अपने वर्ग के साथ होती है। पर यहूदियो पर जो वार किया गया था, वह एक नस्ल पर हमला था। यह कुछ इस तरह की चीज थी जैसी कि मध्य-यगो मे हुआ करती थी, या हाल के जमाने मे, गैर-सरकारी तौर पर, जार-शाही रूस-जैसे पिछडे हुए देशो मे हुआ करती थी। एक समूची नस्ल पर सरकारी तौर पर किये गए अत्याचारो से यूरोप व अमेरिका को बडा धक्का लगा। इस धक्के का असर इसलिए और भी ज्यादा हुआ कि जर्मन यहूदियो की सूची मे कितने ही ससार-प्रसिद्ध व्यक्ति, नामदार विज्ञानी, डॉक्टर, वकील, सगीतज्ञ और लेखक थे, और सबसे ऊपर ऐल्बर्ट आइन्स्टीन का बडा नाम था। ये लोग जर्मनी को अपना वतन समझते थे और सब जगह के लोग उन्हें जर्मन मानते थे। इनको अपना कहने मे कोई भी देश गौरव महसूस करता, पर नात्सियो के सिर पर ऐसा नस्ली पागलपन सवार हुआ कि उन्होने इन्हें बीन-बीनकर मार भगाया। इसपर दुनिया-भर मे जबर्दस्त हो-हल्ला मच गया। तब नात्सियो ने यहूदी दूकानदारो और पेशेवर लोगो का बायकाट शुरू किया। मगर अजीब बात यह थी कि वे इन यहूदियो मे से एक को भी जर्मनी छोडकर नही जाने देते थे। इस नीति का सिर्फ यही नतीजा हो सकता था कि इन्हें भूखो मार दिया जाय। दुनिया के हो-हल्ले से नात्सियो ने यहूदियो के खिलाफ अपने जाहिरा तरीके तो नर्म कर दिये, पर नीति वही बरती जा रही है।

हालाँकि यहूदी-जाति दुनिया-भर मे बिखरी हुई है, और किसी राष्ट्र को अपना नही कह सकती, फिर भी वह इतनी बेकस नही है कि अदले का बदला चुकाने के काबिल न हो। इसके हाथो मे बहुत काफी कारोबार और रुपया है। इसलिए इसने चुपचाप और फिजूल का शोर मचाये बिना, जर्मन माल के बायकाट की पुकार मचा दी। सिर्फ इतना ही नही, बल्कि इससे भी कुछ ज्यादा किया, जैसा कि मई, १९३३ ई० मे, न्यूयार्क के एक सम्मेलन मे पास किये गए प्रस्ताव मे ऐलान किया गया था। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि "जर्मनी मे या उसके किसी भाग में तैयार किये हुए, पैदा किये हुए या सुधारे हुए सारे माल, सामान या पैदावार का

बायकाट किया जाय; सारे जर्मन जहाजो का, और माल व सवारियाँ लाने-ले जाने के साधनों का, और साथ ही जर्मनी के तमाम स्वास्थ्य-स्थलो और दूसरी सैर की जगहो का भी, बायकाट किया जाय, और आमतौर पर ऐसा कोई भी काम न किया जाय, जिससे जर्मनी की मौजूदा हुकूमत को किसी भी किस्म की माली मदद पहुँचती हो।"

बाहर के देशो मे हिटलरशाही का एक उलटा असर तो यह हुआ, इसके अलावा और असर भी हुए, जो इससे भी दूर तक पहुँचनेवाले थे। नात्सी लोग शुरू से ही वर्साई की सन्धि को खुले आम बुरी बताते आये थे, और इसे बदलने की माँग करते आये थे। पूर्वी सरहद के बदले जाने पर वे खास जोर देते थे, क्योंकि यहाँ डैनजिग को जानेवाली पोलैण्ड की गली का बेहूदा इन्तजाम किया गया है, जिसके कारण जर्मनी का एक छोटा-सा टुकड़ा बाकी देश से कट गया है। उन्होंने हथियार रखने के मामले मे पूरी बराबरी की भी जोर-शोर से माँग की। (तुम्हें याद होगा कि शान्ति-सन्धि के मुताबिक़ जर्मनी को बहुत-कुछ निहत्था कर दिया गया था)। हिटलर के संगीन और गर्जन-तर्जनभरे भाषणो से और दुबारा हथियार-बन्द होने की धमकियों ने यूरोप बिलकुल घबरा गया। फ्रान्स तो खासतौर पर घबरा गया, क्योंकि ताक़तवर जर्मनी से सबसे ज्यादा डर इसी को था। बस, कुछ दिनों तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि यूरोप मे युद्ध छिड़ने ही वाला है। इस नात्सी डर की वजह से यूरोप मे शक्तियों की एकदम नई गुटबन्दी होने लगी। फ्रान्स रूस के साथ बड़ी दोस्ती दिखाने लगा। वर्साई की सन्धि मे परिवर्तन के डर से पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, युगोस्लोवाकिया, रूमानिया, वगैरा सारे देश, जिन्हें इस सन्धि ने बनाया था या फ़ायदा पहुँचाया था, एक दूसरे के नजदीक खिंच आये, और साथ ही रूस की तरफ़ भी ज्यादा खिंच गये। ऑस्ट्रिया मे एक अचम्भे की सूरत पैदा हो गई। यहाँ डॉलफ़स[1] नामक फ़ासीवादी चैन्सलर का कब्जा हो चुका था, पर इसके फ़ासीवाद का नमूना हिटलर के फासीवाद से जुदा था। ऑस्ट्रिया मे नात्सियों का जोर है, लेकिन डॉलफ़स ने इनका विरोध किया है। इटली ने हिटलर की सफलता का स्वागत किया, पर उसने हिटलर के सारे हौसलो को बढ़ावा नही दिया। इंग्लैण्ड के लोग, जो बहुत वर्षों से जर्मन-समर्थक थे, अब जर्मन-विरोधी बन गये, और यहाँतक कि जर्मनो को फिर 'हूण' कहने लगे। हिटलर का जर्मनी यूरोप मे सबसे बिलकुल अलग-अलग था। यह जाहिर था कि अगर युद्ध होता तो फ्रान्स की जबर्दस्त फ़ौज निहत्थे जर्मनी को कुचल डालती। इसलिए हिटलर ने अपने पैंतरे बदल

---

[1] ऑस्ट्रिया का तानाशाह प्रधानमन्त्री। सन् १९३४ ई० इसकी हत्या कर दी गई।

दिये, और सुलह की भाषा मे बोलने लगा। उधर मुसोलिनी ने फ्रान्स, इग्लैण्ड, जर्मनी और इटली के बीच चार-शक्ति-करार का सझाव करके हिटलर की इज्जत बचा ली।

इस करारनामे पर आखिर जून, १९३३ ई० मे चारो शक्तियो ने दस्तखत कर दिये, हालांकि फ्रान्स पहले हिचकिचाया। जहांतक इस करार की भाषा का सम्बन्ध है, वह किसी के लिए नागवार नही है और इसमे सिर्फ इतना ही कहा गया है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे, खासकर वर्साई की सन्धि को बदलने के किसी सुझाव के बारे मे, चारो शक्तियाँ आपस मे मशविरा किया करेंगी। मगर यह करार सोवियत-विरोधी गुट बनाने का यत्न समझा जाता है। मालूम होता है कि फ्रान्स ने इसपर बहुत ही बेमन से दस्तखत किये थे। सोवियत और उसके पडौसी देशो के बीच लन्दन मे, १९३३ ई० की पहली जुलाई को एक दूसरे पर हमला न करने का जो करार हुआ, वह शायद चार-शक्ति-करार का नतीजा और जवाब था। गौर करने की दिलचस्प बात यह है कि सोवियत करार के साथ फ्रान्स ने बडी सहानुभूति और सहमति जाहिर की है।

हिटलर का बुनियादी कार्यक्रम दुनिया को यह जताना है कि वह सोवियत रूस से यूरोप को बचानेवाला सूरमा है, वैसे यह जर्मन पूंजीवाद का ही कार्यक्रम है। अगर जर्मनी को ज्यादा जमीन ही लेनी है, तो वह पूर्वी यूरोप मे, या सोवियत सघ से छीनकर ही ले सकता है। मगर ऐसा करने से पहले जर्मनी के पास हथियारो का होना जरूरी है। इसलिए उसे वर्साई की सन्धि मे इस मतलब का परिवर्तन कराना जरूरी है, या कम-से-कम यह इतमीनान कर लेना जरूरी है कि उसकी कार्रवाई मे कोई दखल नही देगा। हिटलर को इटली की मदद का भरोसा है। अगर उसे इग्लैण्ड का भी सहारा मिल जाय, तो उसे शायद उम्मीद है कि चार-शक्ति-क़रार के मातहत होनेवाली चर्चाओ मे वह फ्रान्स के विरोध को बे-सहारा कर देगा।

बस, हिटलर अग्रेजो का सहारा हासिल करने की कोशिश मे लगा हुआ है। इसके लिए उसने खुले आम यहांतक कह दिया है कि अगर भारत पर इग्लैण्ड का पजा ढीला हो गया, तो आफत आ जायगी। उसकी सोवियत-विरोधी नीति ही ब्रिटिश सरकार को पसन्द आनेवाली बात है; क्योकि, जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, ब्रिटिश साम्राज्यशाही सोवियत रूस से जितनी ज्यादा चिढती है उतनी और किसी चीज से नही। पर इग्लैण्ड के लोगो को भी नात्सियो की कार्रवाइयो से इतनी नफरत हो गई है कि हिटलरशाही को मजूर करनेवाले किसी भी सुझाव पर, उन्हें राजी करने मे कुछ वक्त लगेगा।

इस तरह नात्सी जर्मनी यूरोप मे तूफ़ान उठने की जगह बन गया है, जिससे

'घबराहट की भारी दुनिया' के डर और भी ज्यादा बढ गये है। खुद जर्मनी मे क्या होगा ? क्या यह नात्सी राज चलेगा ? जर्मनी मे नात्सियो के खिलाफ बहुत ज्यादा नफरत और विरोध है, मगर यह भी खूब साफ है कि तमाम सगठित विरोध कुचल डाला गया है। जर्मनी मे कोई दल या सगठन बाकी नही रहा है, और नात्सियो का ही बोलबाला है। मालूम होत है कि खुद नात्सियो मे ही दो दल हैं. एक दल तो पूँजीवादी लोगो और कारोबारी जमात का है, जो दायाँ पक्ष है, दूसरा दल नात्सी दल के बहु-सख्यक सदस्यो का है जिनकी सख्या हाल ही मे शामिल हुए बहुत-से मजदूरो की वजह से बढ गई है, और यह बायाँ पक्ष है। जिन लोगो ने हिटलर के आन्दोलन को क्रान्तिकारी प्रेरणा दी, उनमे पूँजीवाद-विरोधी बुनियादी परिवर्तनवादी भावना बहुत भरी हुई थी, और बाद मे इन्होने बहुत-से समाजवादियो और मार्क्सवादियो को भी अपने मे शरीक कर लिया। नात्सी-आन्दोलन के दाहिने-पक्ष और बायें-पक्ष के विचारो मे कोई मेल नही था। हिटलर की भारी कामयाबी इसीमे थी कि उसने इन दोनो को साथ बनाये रक्खा, और एक को दूसरे से भिडाकर अपना काम निकाला। जबतक दोनो का एक ही दुश्मन सामने नजर आता था, तबतक तो यह चाल चल सकती थी। मगर अब जबकि दुश्मन कुचल दिया गया है या हजम कर लिया गया है, दायें-पक्ष और बायें-पक्ष के बीच मुठभेड पैदा होना लाजिमी है।

गडगडाहट तो शुरू हो भी चुकी है। वाम-पक्षी नात्सियो ने माँग की कि जब पहली क्रान्ति कामयाबी के साथ पूरी हो चुकी है, तो अब पूँजीवाद व जमीदारशाही वगैरा को मिटाने के लिए 'दूसरी क्रान्ति' शुरू होनी चाहिए। हिटलर ने इस 'दूसरी क्रान्ति' का गला बेदर्दी से दबा देने की धमकी दे डाली है। इसलिए वह साफ़ तौर पर पूँजीवादी दक्षिण-पक्ष के साथ कन्धा भिडाकर खडा हो गया है। उसके ज्यादातर खास-खास दाहिने-हाथ ऊँचे-ऊँचे पदो पर बैठे हुए हैं, और चूँकि वे आराम से गद्दियो पर जमे हुए हैं, इसलिए कोई तब्दीली नही चाहते।

हिटलरशाही का यह हाल बहुत लम्बा हो गया है। पर याद रखना चाहिए कि नात्सियो की यह भारी कामयाबी और इसके नतीजे, यूरोप और सारे ससार के लिए बहुत महत्व रखते हैं, और बहुत दूर तक असर डालनेवाले हैं। इसमे कोई शक नही कि यह फासीवाद है, और खुद हिटलर मे फासीवादी की सारी खासियतें मौजूद हैं। लेकिन नात्सी-आन्दोलन इतालवी फासीवाद से कही ज्यादा फैला हुआ और मौलिक-परिवर्तन-वादी है। देखना यह है कि ये मौलिक-परिवर्तन-वादी तत्व कुछ रग लाते हैं या कि योही कुचल दिये जाते हैं।

नात्सी-आन्दोलन की बढोतरी ने कट्टर मार्क्सवाद को कुछ हद तक गडबड में डाल दिया है। इनका यह विश्वास रहा है कि सिर्फ मजदूर-वर्ग ही सच्चा

क्रान्तिकारी वर्ग है, और आर्थिक हालतें ज्यो-ज्यो बिगडती जाती हैं, त्यो-त्यो यह वर्ग निचले मध्यम-वर्ग के असन्तुष्ट और ग़रीब तत्वो को अपनी तरफ खीचता जायगा, और अन्त मे जाकर मजदूर वर्ग की क्रान्ति पैदा कर देगा। पर हकीक़त यह है कि जर्मनी मे जो कुछ हुआ है, वह इससे बिलकुल जुदा चीज है। जब सकट आया तो मजदूर-वर्ग मे क्रान्तिकारी भावना ही नही थी। बल्कि ज्यादातर गरीब निचले मध्यम-वर्गों और दूसरे असन्तुष्ट तत्वो को लेकर एक नया क्रान्तिकारी-वर्ग खडा हो गया था। यह चीज कट्टर मार्क्सवाद से मेल नही खाती। मगर दूसरे मार्क्सवादी कहते हैं कि मार्क्सवाद को ऐसा कोई कट्टर विश्वास, मजहब या दीन नही समझना चाहिए, जो मजहबो की तरह दावे के साथ हकीक़त (परम सत्य) का बखान करता हो। यह तो इतिहास की फिलासफी है, इतिहास को देखने का तरीका है, जो इतिहास का खुलासा करता है और उसे एक कडी मे बाँधता है। यह समाजवाद या समाजी समानता पर पहुँचने का एक असली तरीक़ा है। अलग-अलग जमानो और अलग-अलग देशो की बदलती हुई हालतो का मुकाबला करने के लिए मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलो को अलग-अलग ढगो से लागू करना होगा।

टिप्पणी (नवम्बर, १९३८ ई०)

सवा पाँच वर्ष पहले, जब ऊपर का पत्र लिखा गया था, तबसे संसार की राजनीति मे जितनी भी घटनाएँ हुई हैं, उनमे सबसे निराली घटना है हिटलर के मातहत नात्सी जर्मनी की शक्ति और प्रतिष्ठा का बढना। आज सारे यूरोप मे हिटलर का दबदबा है, और बडी-बडी शक्तियाँ, या वे शक्तियाँ जो कभी बडी थी, उसके आगे सिर झुकाती हैं और उसकी धमकियो से काँपती हैं। बीस वर्ष पहले जर्मनी हारा हुआ और कुचला हुआ था। मगर आज किसी फौजी फतह या युद्ध के बिना ही हिटलर ने इसे विजयी राष्ट्र बना दिया है। वर्साई की सन्धि मर चुकी है, और दफनायी जा चुकी है।

सत्ता हथियाने के बाद हिटलर का सबसे पहला काम था जर्मनी मे अपने विरोधियो को कुचलना और नात्सी-दल को जमाना। जर्मनी का 'नात्सीकरण' हो जाने पर उसने नात्सी-दल के सदस्यो मे फैले हुए उन वाम-पक्षी विचारो को खत्म करने का फैसला किया, जो पूंजीवाद-विरोधी दूसरी क्रान्ति की बाट देख रहे थे। १९३४ ई० की ३० जून को 'भूरे कुर्तों' का दल तोड दिया गया और उसके नेताओ को गोली से उडा दिया गया। बहुत-से और लोगो को भी मौत के घाट उतार दिया गया। इनमे सेनापति फॉन श्लेखर भी था, जो एक बार चैन्सलर रह चुका था।

अगस्त, १९३४ ई० मे राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मौत हो गई, और हिटलर उसकी जगह चैन्सलर—राष्ट्रपति बन बैठा। अब वह जर्मनी मे पूरा सत्ताधारी शा-

जर्मन जनता का 'फ्यूरर' या नेता था। उस समय जर्मनी की जनता बहुत कष्ट भोग रही थी, इसलिए इस कष्ट को मिटाने के वास्ते बडे पैमाने पर खानगी खैरातो का, करीब-करीब जबरन, इन्तजाम किया गया। लाज़िमी मज़दूर-छावनियाँ भी कायम की गईं, जिनमे बेकारो से काम लिया जाता था। जिन ढेरो यहूदियो को जबरन हटा दिया गया था, उनकी जगहे जर्मनो को दे दी गई। जर्मनी की आर्थिक हालत तो नही सुघरी, उलटे पहले से भी बदतर हो गई, पर बेकारी का नाम मिट गया। इधर खुफिया तौर पर फिर से हथियारबन्द होने का सिलसिला चलता रहा, और जर्मनी का खौफ बढता गया।

१९३५ मे सारघाटी के लोगो का जनमत-सग्रह हुआ और यह बहुत बडे बहुमत से जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष मे रहा। इसलिए यह प्रदेश जर्मनी मे मिला दिया गया। इसी साल के मई महीने मे हिटलर ने वर्साई की सन्धि की निरस्त्रीकरण-वाली धाराओ को खुले आम नाजायज़ करार दिया, और फौज मे लाज़िमी भरती की आज्ञा निकाल दी। फिर से हथियारबन्द होने का बडा लम्बा-चौडा कार्यक्रम हाथ मे लिया गया। राष्ट्रसघ की किसी भी शक्ति ने चूं नही की, इन सबको, और खासकर फ्रान्स को, दहशत ने जकड रक्खा था। फ्रान्स ने सोवियत रूस के साथ मेल करने की स ँठ-गाँठ कर ली। पर ब्रिटिश सरकार ने नात्सी-जर्मनी का साथ देने मे भला समझा, और जून, १९३५ ई० मे उसके साथ जगी-बेडे के एक करार पर दस्तखत कर दिये।

इसके अजीब नतीजे निकले। फ्रान्स ने यह महसूस करके कि इग्लैण्ड उसके साथ दगा कर रहा है, इटली को सदेसे भेजे। और मुसोलिनी ने यह सोचकर कि ठीक मौका आ गया है, अबीसीनिया पर धावा बोल दिया।

मार्च, १९३८ ई० मे हिटलर की फौजें आस्ट्रिया मे दाखिल हो गईं और 'आशलूस', यानी आस्ट्रिया को जर्मनी मे मिलाने का, ऐलान कर दिया गया। राष्ट्र-सघी शक्तियाँ इस बार भी चुप बैठी रही। नात्सियो ने आस्ट्रिया मे भी अपना हमलावर और जल्लादी यहूदी-विरोधी अभियान शुरू कर दिया।

अब चेकोस्लोवाकिया नात्सी हमलावारी का निशाना बन गया, और सूडेटनलैण्ड[1] के जर्मनो की समस्या ने यूरोप को कई महीनो तक परेशान किया। ब्रिटिश-नीति ने नात्सियो को बहुत मदद दी और फ्रान्स की हिम्मत नही थी कि इस नीति के खिलाफ जाय। नतीजा यह हुआ कि जब जर्मनी ने फौरन युद्ध छेडने की धमकी दी तो फ्रान्स ने अपने साथी चेकोस्लोवाकिया को धता बताई और इस

[1] सूडेटनलैण्ड चेकोस्लोवाकिया का प्रान्त था, जिसमें जर्मन भाषा-भाषी लोगों का बहुमत था। हिटलर इसे जर्मनी मे मिलाना चाहता था।

दगाबाजी मे इग्लैण्ड भी शरीक था। जर्मनी, इग्लैण्ड, फ्रान्स और इटली के बीच होनेवाले म्यूनिख के करार से २९ सितम्बर, १९३८ ई० को चेकोस्लोवाकिया की क़िस्मत का फैसला हो गया। सूडेटनलैण्ड पर और बहुत-कुछ दूसरे क्षेत्रो पर जर्मनी ने कब्जा कर लिया, और इस मौके से फायदा उठाकर पोलैण्ड और हगरी ने भी चेकोस्लोवाकिया के कुछ हिस्सो पर कब्ज़ा जमा लिया।

बस, यूरोप का एक नया बँटवारा शुरू हो गया। इस यूरोप मे इग्लैण्ड व फ्रान्स दूसरे दर्जे की शक्तियाँ बनती जा रही थी, और हिटलर के मातहत नात्सी-जर्मनी बड़ी कामयाबी से सबपर हावी हो रहा था।

: १९१ :

निरस्त्रीकरण

२ अगस्त, १९३३

लन्दन मे जिस विश्व-आर्थिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था, उसकी नाकामयाबी का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। इस सम्मेलन का काम बन्द कर दिया गया और इसके सदस्य अपने-अपने घर लौट गये। नेकनीयती दिखाने को सबने उम्मीद जाहिर की कि ज्यादा मुनासिब सूरतो मे वे शायद फिर मिल सकें।

सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय कोशिशो की एक और बडी नाकामयाबी की मिसाल निरस्त्रीकरण सम्मेलन ने पेश की है। यह सम्मेलन राष्ट्रसघ के इक़रारनामे का फल था। वर्साई की सन्धि मे यह तय किया गया था कि जर्मनी को (साथ ही आस्ट्रिया, हंगरी वगैरा दूसरी हारी हुई शक्तियो को) निरस्त्र किया जायगा। उन्हें जगी-जहाज, हवाई फौज या बडी खुश्की फौज नहीं रखने दी जायगी। इसके अलावा यह तजवीज़ थी कि दूसरे देश भी धीरे-धीरे निरस्त्र होते जायँ, ताकि हर देश मे युद्ध के साधन घटते-घटते सिर्फ इतने-से रह जायँ, जितने कि उस देश की राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए लाज़िमी हो। इस कार्यक्रम के पहले हिस्से पर, यानी जर्मनी के निरस्त्रीकरण पर, फौरन अमल कराया गया, दूसरा हिस्सा यानी आम निरस्त्रीकरण, सिर्फ एक बहाना रह गया, और अब भी वैसा ही है। कार्यक्रम के इस दूसरे भाग को पूरा करने के लिए ही वर्साई की सन्धि के तेरह वर्ष बाद आखिर यह निरस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाया गया था। लेकिन पूरे सम्मेलन के अधिवेशन से पहले, तैयारी कमीशनो ने इस सारे विषय की वर्षों तक छानबीन की थी।

आखिरकार १९३२ ई० के शुरू मे विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन की बैठक हुई। यह सम्मेलन महीने-दर-महीने साल-दर-साल चलता रहा। इसमे कई प्रस्तावो पर विचार किया गया और उन्हें रद्द कर दिया गया; अनगिनती रिपोर्टें पढी गईं,

और लगातार वाद-विवाद सुनाई देते रहे। निरस्त्रीकरण सम्मेलन के बजाय यह एक तरह से शस्त्रो का सम्मेलन बन गया। आपस मे कोई समझौता नही हो सका, क्योकि एक तो इस सवाल पर कोई भी देश सारे अन्तर्राष्ट्रीय नज़रिये से गौर करने को तैयार नही था, दूसरे, हरेक देश निरस्त्रीकरण का यह अर्थ लगाता था कि दूसरे देश तो बेहथियार हो जायें या अपने जगी सरजाम कम कर दें, पर वह अपनी फ़ौज बरकरार रक्खे। वैसे तो क़रीब सभी देशो ने खुदगर्ज़ी का रवैय्या अपनाया, पर जापान और इग्लैण्ड इस मामले मे सबसे आगे रहे, और इन देशो ने हरेक तरह के समझौते के रास्ते मे बडे-बडे रोड अटकाये। इधर तो यह सम्मेलन चल रहा था, उधर जापान राष्ट्रसघ को अगूठा दिखा रहा था और मचूरिया मे खूनी और सरगर्म युद्ध कर रहा था, दक्षिण अमेरिका के दो गणराज्य आपस मे लड रहे थे, और इग्लैण्ड भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के कबीलेवालो पर बराबर बम बरसा रहा था। जापान की तरफ़ ब्रिटिश सरकार का दोस्ताना रुख बराबर चला आ रहा था, इसलिए अमेरिका ने चीन मे जापान की हमलावर कार्रवाई का विरोध किया तो ब्रिटिश सरकार के रुख ने इस विरोध को बहुत-कुछ बे-असर कर दिया।

सम्मेलन मे जितने भी सुझाव रक्खे गये, उनमे सबसे ज्यादा महत्व के तीन सुझाव सोवियत रूस, सयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रान्स ने पेश किये। रूस ने सुझाव रक्खा कि जगी-सामान मे ५० फीसदी चौमुखी कटौती की जानी चाहिए। अमेरिका ने सब तरह का जगी सामान एक-तिहाई घटाने का सुझाव दिया। मगर इगलण्ड ने इन दोनो सुझावो का विरोध किया। उसने यह दलील दी कि वह अपनी फ़ौजें, और खासकर जगी बेडा, नही घटा सकता, क्योकि इनका इस्तेमाल सिर्फ़ पुलिस-कार्रवाइयो के लिए किया जाता है।

फ्रान्स, जिसके दिल मे जर्मनी की हमलावर कार्रवाइयो की पुरानी यादें बनी हुई हैं, हमेशा 'सुरक्षा' पर ज़ोर देता रहा है। यानी वह ऐसा इन्तज़ाम चाहता है, जिससे हमले की कार्रवाइयाँ नामुमकिन नही तो कठिन ज़रूर हो जायें। उसका सुझाव था कि राष्ट्र-सघ के मातहत अन्तर्राष्ट्रीय फौज तैयार की जाय, जिसका इस्तेमाल हमला करनेवाले के खिलाफ किया जा सके, सारे राष्ट्र सिर्फ छोटी-छोटी और कम हथियारोवाली फौजें रक्खें, और तमाम हवाई फौजें राष्ट्र-सघ के मातहत रहें। पर इस सुझाव पर यह ऐन्राज़ किया गया कि इससे सारी ताक़त उन बडी शक्तियो के हाथो मे चली जायगी, जिनके हाथो मे राष्ट्र-सघ की बागडोर है, और इसका नतीजा यह होगा कि फ्रान्स सारे यूरोप पर हावी हो जायगा।

हमलावर कौन होता है? यह मुश्किल सवाल था, क्योकि हरेक हमलावर राष्ट्र सदा यही दावा किया करता है कि वह तो अपने बचाव की कार्रवाई कर

रहा है। जापान ने कभी कबूल नही किया कि उसने मंचूरिया मे हमले की कार्रवाई की, न इटली ने अबीसीनिया मे अपनी हमलावर कार्रवाई कबूल की। महायुद्ध मे हरेक राष्ट्र ने अपने दुश्मन को हमलावर बतलाया। इसलिए, अगर हमलावर के खिलाफ कार्रवाई करनी हो, तो इस शब्द की कोई साफ और बिलकुल सही परिभाषा होनी चाहिए। सोवियत रूस ने यह परिभाषा सुझाई कि अगर कोई राष्ट्र अपनी सरहद को पार करके दूसरे देश मे हथियारबन्द फौज भेज दे, या दूसरे देश के तट की नाकाबन्दी कर दे, तो वह हमलावर राष्ट्र माना जायगा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट और राष्ट्र-सघ की समिति ने भी 'हमलावर' की ऐसी ही परिभाषा की। रूस और उसके पडौसी देशो के बीच एक दूसरे पर हमला न करने का क़रार हुआ था, उसमे रूस की परिभाषा मानी गई थी। इस परिभाषा पर फ्रान्स समेत ज्यादातर बडी-छोटी शक्तियाँ राज़ी हो गईं। पर इस परिभाषा ने जापान को बडी उलझन मे डाल दिया। इग्लैण्ड ने तो इसे मानने से ही इन्कार कर दिया और यह चाहा कि मामला गोलमोल ही बना रहे। इटली ने इग्लैण्ड का समर्थन किया।

निरस्त्रीकरण के बारे मे ब्रिटिश सरकार का सुझाव इस आधार पर चलता था कि इग्लैण्ड के लिए अपने जगी-सामान घटाना जरूरी नही है, निरस्त्र होना तो दूसरे राष्ट्रो का फर्ज़ है। बमबारी के मामले मे सबका यही मत था कि यह कार्रवाई बिलकुल बन्द कर दी जानी चाहिए, पर इग्लैण्ड ने एक शर्त जोड दी "दूर के प्रदेशो मे पुलिस कार्रवाइयो के सिवाय", जिसका मतलब यह था कि उसे अपने साम्राज्य मे बमबारी करने की खुली छूट रहे। यह शर्त दूसरे राष्ट्रो को मजूर नही थी, इसलिए बमबारी बन्द करने का सारा प्रस्ताव ही गिर गया।

जर्मनी के लिए दूसरी शक्तियो के साथ बराबरी का दावा करना कुदरती बात थी, या तो उसे भी दूसरो के बराबर हथियारबन्द होने का हक दिया जाय या दूसरे भी अपने को निरस्त्र करके उसकी बराबरी पर आ जायँ। इस दलील का जवाब नही था। क्या राष्ट्र-सघ के इकरारनामे मे यह नही कहा गया था कि जर्मनी को निरस्त्र करना दूसरे राष्ट्रो को निरस्त्र करने का पहला कदम है? लेकिन जिन दिनो ये चर्चाएँ चल रही थी उन्ही दिनो जर्मनी मे नात्सियो के हाथो में सत्ता आ गई। इनके हमलावर और धमकी-भरे रवैय्ये ने फ्रान्स को दहला दिया और इसके व दूसरी शक्तियो के रुख को सख्त बना दिया। जर्मनी की तरफ से, जो दो अलग-अलग रास्ते सुझाये गए थे, उनमे से एक भी मंजूर नही किया गया।

निरस्त्रीकरण की मुश्किलें बढानेवाली बेशुमार साज़िशें पर्दे के पीछे हो रही हैं, जिनमे जगी-सामान तैयार करनेवाली कम्पनियो के किराये के एजन्टो का खास हाथ है। आज की पूँजीवादी दुनिया मे जितने उद्योग चल रहे हैं, उनमें

जगी-सामान और सत्यानासी हथियार-औज़ार वनाने का कारोवार सवसे ज्यादा फूल-फल रहा है। ये जगी-सामान सभी देशो की सरकारो के लिए तैयार किये जाते हैं, क्योकि युद्ध तो सिर्फ सरकारें ही लडा करती हैं, मगर विचित्र बात यह है कि ये जंगी-सामान खानगी कम्पनियाँ तैयार करती हैं। इन कम्पनियो के प्रधान मालिक खूब मालदार वनते जा रहे हैं, और सरकारो के साथ इनका अक्सर गहरा ताल्लुक़ रहता है। इनमे से सर बेसील ज़हरॉफ का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। जगी-सामान बनानेवाली कम्पनियो के हिस्सो पर खूब मुनाफा मिलता है और लोग अक्सर इनकी टोह मे रहते हैं। इन कम्पनियो के हिस्सेदारो मे वहुत-से लोग हैं, जो सार्वजनिक कार्यों मे सवसे आगे हैं।

जब युद्ध और युद्ध की तैयारियाँ होती हैं, तभी जगी-सामान की ये कम्पनियाँ मुनाफ़े कमाती हैं। ये मौत का थोक व्यापार करती हैं, और जो इन्हें कीमत देते हैं उन सवको अपने सत्यानासी औज़ार विना किसी भेदभाव के वेचती हैं। जब राष्ट्र-सघ चीन मे हमलावर कार्रवाई पर जापान की वुराई कर रहा था, तव जगी-सामान की अग्रेज़ी, फ्रान्सीसी व दूसरी कम्पनियाँ जापान और चीन को मज़े से हथियार वेच रहीं थी। ज़ाहिर है कि अगर सच्चा निरस्त्रीकरण हो जाय तो इन कम्पनियो के दिवाले निकल जायँ। इनका व्यापार खत्म हो जाय। इसलिए इनकी निगाह मे जो चीज़ आफत ढानेवाली है, उसे रोकने का ये भरसक प्रयत्न करती हैं। सच तो यह है कि ये इससे भी आगे जाती हैं। खानगी तौर पर हथियार बनाने के मामले मे जाँच करने के लिए राष्ट्र-सघ ने जो खास कमीशन मुकर्रर किया था, वह इस नतीजे पर पहुँचा था कि इन कम्पनियो ने युद्ध की दहशतें भडकाने मे, और अपने-अपने देशो को जगवाली नीतियाँ अपनाने के लिए उकसाने मे, खूब दौड-धूप की है। यह भी पता लगा कि ये कम्पनियाँ सारे देशो के फौजी और जहाज़ी फौजी खर्चों के वारे मे झूठी खवरें फैलाती थी, ताकि दूसरे देशो को हथियारो पर अपने खर्चे वढ़ाने के लिए उकसा सकें। ये एक देश को दूसरे देश से भिडाने की कोशिशें करती थी, और दोनो के बीच हथियारो की होड वढाने के लिए जोर लगाती थी। जनमत पर असर डालने के लिए ये सरकारी कर्मचारियो को रिश्वतें देती थी और अखबारो को खरीद लेती थी। और फिर ये अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ एकाधिकार कायम करके हथियारो वगैरा के दाम वढा देती थी। राष्ट्र-सघ के कमीशन ने सुझाया कि हथियारो का खानगी तौर पर वनाना वन्द कर देना चाहिए। यही बात निरस्त्रीकरण सम्मेलन मे भी सुझाई गई थी, पर यहाँ भी ब्रिटिश सरकार ने इसका डटकर विरोध किया।

अलग-अलग देशो की इन हथियार बनानेवाली कम्पनियो मे गहरा सहयोग होता है। ये देशभक्ति की भावना से वेजा फायदा उठाती हैं और मौत से खिलवाड करती हैं। पर मज़ा यह है कि खुद इनकी कार्रवाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय होती हैं, और इन्हें

'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ' कहा जाता है। इसलिए इन लोगो का निरस्त्रीकरण पर सख्त ऐतराज़ करना लाजिमी है, और इस वारे मे इन्होने हर तरह के समझौते को रोकने की भरसक कोशिश की है। इनके एजन्ट ऊँची-से-ऊँची राजनयिक और राजनीतिक मण्डलियो मे विचरते हैं। इनकी कपटी शक्लें जिनेवा मे भी पर्दों के पीछे से डोर हिलाती हुई देखी गई हैं।

इस 'गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सघ' के साथ कितनी ही सरकारो के जासूसी विभागो या खुफिया कर्मचारियो का अक्सर गहरा ताल्लुक होता है। हरेक सरकार दूसरे देशो के वारे में छिपी हुई वातो की जनकारी हासिल करने के लिए जासूसो को नौकर रखती हैं। जव कभी ये जासूस पकडे जाते हैं तो उनकी सरकारें फौरन कह देती हैं कि वे उनके आदमी नही हैं। इन खुफिया कर्मचारियो का ज़िक्र करते हुए आर्थर पीन्सनवी ने (जो कुछ वर्ष पहले सरकार के पर-राष्ट्र-विमाग का उप-सचिव था और अव लॉर्ड पौन्सनवी है) मई, १९२७ ई० मे कामन्स-सभा मे कहा था· "जव हम अपनी ऊँची नैतिकता के घोडे पर सवार होना चाहते हैं तो हमे ईमानदारी के साथ इन तथ्यो पर विचार करना चाहिए कि जालसाज़ी, चोरी, झूठ, घूंसखोरी, और भ्रष्टाचार, ससार के हरेक पर-राष्ट्र-कार्यालय और मन्त्रालय मे मौजूद हैं। ... मैं कहता हूँ कि अगर वाहर के देशो मे हमारे प्रतिनिधि उन देशो के गुप्त कागज़-पत्रो के भेदो का पता न लगाते रहें तो माने हुए नैतिक दस्तूरो के मुताविक यह समझा जायगा कि वे अपना फर्ज़ अदा नही कर रहे हैं।"

चूंकि ये खुफिया कर्मचारी खुफिया तौर पर काम करते हैं, इसलिए इनपर कावू रखना कठिन होता है। ये लोग अपने-अपने देश की पर-राष्ट्र-नीति पर वडा असर डालते रहते है। इनके सगठन खूव फैले हुए और ताकतवर होते हैं। आजकल ब्रिटिश जासूसी विभाग ससार-भर मे सवसे ज्यादा ज़ोरदार है और इसकी शाखा-प्रशाखाएँ सबसे ज्यादा फैली हुई हैं। ऐसी मिसाल भी मिलती है कि एक मशहूर अंग्रेज़ जासूस रूस मे सोवियत का ऊँचा सरकारी अफ़सर वन गया था। ब्रिटिश मन्त्रिम डल का सदस्य सर सैम्युएल होर युद्ध-काल मे रूस में इग्लैण्ड की जासूसी और खुफिया सेवाओ का सरदार था। इसने हाल ही मे सवके सामने कुछ अभिमान के साथ यह वयान दिया है कि भेद मालूम करने की उसकी प्रणाली इतनी कारगर थी कि उसे रासपुटिन की हत्या की सूचना दूसरे सब लोगो से बहुत पहले मिल गई थी।

निरस्त्रीकरण सम्मेलन के सामने असली कठिनाई यह रही है कि सारे देश दो वर्गों मे वँटे हुए हैं—राज़ी शक्तियाँ और नाराज़ शक्तियाँ, हुकूमतवाली शक्तियाँ और दवी हुई शक्तियाँ, मौजूदा व्यवस्था को कायम रखनेवाली शक्तियाँ और परिवर्तन चाहनेवाली शक्तियाँ। इन दोनो के बीच कोई टिकाऊ सन्तुलन नहीं

फौज और हवाई फौज तैयार करने मे लग गया, और इंग्लैण्ड, फ्रान्स, अमेरिका व दूसरे देशो ने और भी ज्यादा जगी-सामानो के लिए भारी-भारी रक़में मजूर की।

। १९२ ।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट बिगड़ी को बनाता है

४ अगस्त, १९३३

यह किस्सा खत्म करने से पहले मैं चाहता हूँ कि तुम सयुक्त राज्य अमेरिका पर एक नज़र और डाल लो (और क़िस्सा पूरा होने मे अब ज्यादा देर नही लग सकती)। आजकल यहाँ एक बहुत बडा और कुछ चमत्कारी प्रयोग चल रहा है, और ससार की आँखें इसपर लगी हुई हैं, क्योकि इसके नतीजे से पता लग जायगा कि आगे चलकर पूंजीवाद किधर मुडेगा। मैं दोहरा दूं कि अमेरिका हर तरह से ससार मे सबसे ज्यादा आगे बढा हुआ पूंजीवादी देश है, और यह सबसे दौलत-मन्द भी है, और इसकी औद्योगिक तकनीक दूसरे देशो से बहुत आगे बढी हुई है। इसे किसी देश का कुछ देना नही है और जो कुछ भी कर्ज़ा है वह अपने ही नागरिको का है। इसका निर्यात-व्यापार बहुत भारी है और बढ रहा है, मगर यह उसके जबर्दस्त अन्दरूनी व्यापार का सिर्फ़ एक छोटा-सा टुकडा (करीब १५ फीसदी) है। यह देश उतना ही बडा है जितना कि एशिया का महाद्वीप। पर बडा भारी फर्क़ यह है कि जहाँ यूरोप बहुत-से छोटे-छोटे राष्ट्रो मे बँटा हुआ है, जिन्होने अपनी-अपनी सरहदो पर महसूल की भारी-भारी चुगियाँ लगा रक्खी हैं, वहाँ सयुक्त राज्य के अपने ही प्रदेश के भीतर ऐसी कोई तिजारती रुकावटें नही हैं। इसलिए अमेरिका मे भारी अन्दरूनी व्यापार का विकास जितना ज्यादा आसान था, उतना यूरोप मे नही था। यूरोप के गरीबी के मारे और कर्ज़ो से लदे देशो के मुक़ाबले में अमेरिका के पास सारी अच्छाइयाँ थी। उसके पास ढेरो सोना था, ढेरो रुपया था और ढेरो माल था।

मगर फिर भी इनसब बातो के बावजूद, पूंजीवाद के सकट ने उसे धर-दबाया और उसका घमण्ड चूर कर दिया। जिस कौम मे बेहद जीवट और तेज़ी थी वह तकदीर ठोककर बैठ गई। कुल मिलाकर देश अब भी मालदार था, रुपया ग़ायब नही हुआ था, पर इसका ढेर कुछेक जगहो मे जमा हो गया था। न्यूयार्क मे करोडो डालर अभी तक दिखाई देते थे, जे० पीयरमॉन्ट मोर्गन नामक बडा बौहरा अब भी अपने निजी ऐशमरे बजरे मे मौज करता था, जिसकी कीमत साठ लाख पौण्ड बताई जाती थी। मगर इसपर भी न्यूयार्क को

इन दिनों 'भूखा नगर' कहा जाता है। शिकागो-जैसे नगरों की बड़ी-बड़ी म्यूनिसि-पैलिटियाँ दर असल दिवालिया हो गई हैं, और अपने हज़ारों कर्मचारियों के वेतन तक नहीं चुका सकतीं। और यही शिकागो शहर इन दिनों 'प्रगति की शताब्दी' नामक शानदार नुमाइश या 'जगत मेला' लगा रहा है।

ये धूप-छाँह सिर्फ़ अमेरिका में ही नहीं हैं। लन्दन में भी इंग्लैण्ड के ऊँचे वर्गों की दौलत और ऐयाशी की हर जगह इफ़रात दिखाई देती है, ज़रूरी तौर पर गरीबों की बस्तियों के सिवाय अगर कोई लंकाशायर या इंग्लैण्ड के उत्तरी या बीच के हिस्सों में जाय, तो वहाँ उसे बेकारों की लम्बी कतारें, और पिचकी व सूखी हुई शक्लें, और रहन-सहन की बहुत बुरी हालतें दिखाई देंगी।

पिछले कुछ वर्षों में अमेरिका में जुर्मों में भारी की बढ़ोतरी हुई है, खास 'धाड़ैती' ढंग के जुर्मों में। यानी चोरों और लुटेरों के गिरोह मिलकर कार्रवाइयाँ करते हैं और अपने रास्ते में आनेवालों को गोलियों से उड़ा देते हैं। कहते हैं, जबसे शराबों की बिक्री बन्द करनेवाला कानून बना है, तबसे जुर्म बहुत बढ़ गये हैं। 'दारू-बन्दी' कहलानेवाला यह कानून महायुद्ध के बाद ही बना था। इसे बनाने की कुछ वजह यह थी कि बड़े-बड़े कारखानेदार अपने मज़दूरों को शराब पीने से बचाना चाहते थे, ताकि वे अच्छी तरह काम कर सकें। मगर ये मालदार लोग खुद ही क़ानून तोड़ते थे, और बाहर देशों से नाजायज़ तरीक़े से शराबें मँगवा-मँगवाकर पीते थे। धीरे-धीरे शराबों का ज़बर्दस्त नाजायज़ व्यापार खड़ा हो गया। यह 'बूटलैगिंग'[1] कहलाता था और दो तरह से चलता था। एक तो देश के बाहर से बढ़िया शराबें और ठर्रे चोरी-छिपे लाना, दूसरे इन्हें चोरी-छिपे तैयार करना। आमतौर पर चोरी-छिपे तैयार की हुई शराब असली शराब से खराब और ज्यादा हानिकर होती थी। जिन जगहों में ये शराबें ऊँचे दाम देकर खरीदी जा सकती थीं वे 'स्पीक ईज़ी' कहलाती थीं, और बड़े-बड़े शहरों में ऐसे खानगी मैखाने हज़ारों की तादाद में पैदा हो गये थे। यह सबकुछ गैर-कानूनी तो था ही, और इसे कायम रखने के लिए पुलिस के सिपाहियों और राजनीतिज्ञों को रिश्वतें दी जाती थीं और कभी-कभी मारने की धमकियाँ भी दी जाती थीं। कानून की इस खुली बे-इज्ज़ती से धाड़ैती खूब बढ़ गये। इस तरह दारू-बन्दी से एक तरफ़ तो मज़दूरों की और देहाती जनता की भलाई हुई, परन्तु दूसरी तरफ़ इससे बहुत बुराई फैली, और शराब का गैर-कानूनी व्यापार करनेवालों का ज़बर्दस्त स्वार्थ पैदा हो गया। सारा

[1] यह शब्द boot (जूता) और leg (टाँग) से मिलकर बना है। यह इस कारण प्रयोग में आया कि लोग शराब की कुप्पियाँ जूतों की लम्बी टाँगों में छिपाकर लाया करते थे।

देश दो दलों मे वॅट गया—एक दारुबन्दी के हामी, जो 'सूखे' (Drys) कहलाते थे, दूसरे इसके विरोधी जो 'गीले' (Wets) कहलाते थे।

मालदार लोगो के छोटे-छोटे वच्चो को उडा ले जाना और उनकी रिहाई के बदले मे वडी-वडी रकमे मांगना, इन धाडैतियो के सवसे ज्यादा वदनाम और दिल दहलानेवाले जुर्म थे। कुछ दिन हुए लिण्डवर्ग का वच्चा इसी तरह उडाया गया था, और वडी वेदर्दी से मार डाला गया था, जिससे दुनिया-भर मे तहलका मच गया था।

इन सव वातो से, और इनके साथ व्यापार की मन्दी से, और दिलो मे यह वात वैठ जाने से कि कितने ही वडे-वडे सरकारी अफसर और व्यापारी लोग भ्रष्ट और नालायक थे, अमेरिका के लोगो का धीरज छूट गया था। इसलिए नवम्बर, १९३२ ई० मे राष्ट्रपति के चुनाव के मौके पर लाखो लोग इस उम्मीद मे रूजवेल्ट की तरफ झुक गये कि वह उनकी मुसीवत कम कर देगा। रूज़वेल्ट 'गीला' था और डेमोक्रेटिक पार्टी का आदमी था। इस पार्टी के उम्मीदवार राष्ट्रपति वहुत कम चुने गये हैं।

जुदा-जुदा देशो की जुदा-जुदा खासियतो को सदा ध्यान मे रखते हुए उनकी तुलना करने मे मजा आता है और समझने मे मदद मिलती है। इसलिए अमेरिका की हाल की घटनाओ की इग्लैण्ड व जर्मनी की घटनाओ से तुलना करने को जी चाहता है। सयुक्त राज्य की जर्मनी के साथ तुलना ज्यादा नजदीकी है, क्योकि खु उद्योगोवाले होते हुए भी दोनो देशो मे खेतिहर लोगो की आवादी ज्यादा है। जर्मनी मे किसानो की सख्या उसकी आवादी की २५ फीसदी है, सयुक्त राज्य मे यह सख्य ४० फीसदी है। राष्ट्रीय नीति ढालने मे इन किसानो का वडा हाथ रहता है। इग्लैण्ड मे यह वात नही है, क्योकि वहाँ किसानो की सख्या इतनी कम है कि उनकी परवाह नही की जाती। हाँ, अव उनमे भी जान डालने की कुछ कोशिशें की जा रही हैं।

जर्मनी मे नात्सी-आन्दोलन का एक वडा सवव यह था कि वहाँ गरीव निचले मध्यम-वर्ग के लोगो की सख्या वहुत वढ गई थी, और यह वढोतरी जर्मनी मे हुए सिक्का-फैलाव के वाद तेजी से हुई थी। जर्मनी मे क्रान्तिकारी वननेवाला वर्ग यही था। ठीक यही वर्ग अव अमेरिका मे ज़ोर पकड रहा है, यह 'सफ़ेद कालर-वाला सर्वहारा वर्ग'[1] कहलाता है, ताकि इसमे और मज़दूर-वर्गी सर्वहारा-वर्ग मे फ़र्क़ किया जा सके, क्योकि मजदूर-वर्ग सफेद कालरो को वहुत कम पसन्द करता है।

तुलना की और वातें ये हैं—सिक्के के सकट, मार्क, पौण्ड व डालर के स्वर्ण-

---

[1] White Collar proletariat.

मान में गिरावट, सिक्के का फैलाव, और वैंको के दिवाले। इग्लैण्ड मे बैंको के दिवाले नही निकले, क्योकि वहाँ छोटे बैंक वहुत कम है, और वैंकिंग का सारा कारोबार कुछेक वडे-वडे वैंको के हाथो मे है। और मामलो मे इन तीनो देशो मे घटनाओ के सिलसिले एक-से हैं। जर्मनी मे सकट सवसे पहले आया, फिर इग्लैण्ड मे, और इसके वाद सयुक्त राज्य अमेरिका मे। नात्सियो के हिमायती, १९३१ ई० के चुनावो मे व्रिटिश राष्ट्रीय सरकार के हिमायती, और नवम्वर, १९३२ ई० मे राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के चुनाव के हिमायती, तीनो देशो मे वहुत-कुछ एक ही किस्म के लोग थे। ये निचले मध्यम-वर्ग के लोग थे, जिनमे वहुत-से पहले और दूसरे दलो मे शामिल थे। परन्तु इस तुलना को वहुत आगे नही वढाना चाहिए, क्योकि एक तो राष्ट्र राष्ट्र मे फर्क है, दूसरे इग्लैण्ड व अमेरिका मे वैसी सूरत अभी तक नही बनी है जैसी कि जर्मनी मे है। लेकिन मुद्दे की वात यह है कि उद्योगो मे खूब आगे वढ़े हुए इन तीनो देशो मे विलकुल एक ही जैसे आर्थिक असर काम कर रहे हैं, इसलिए इनसे पैदा होनेवाले नतीजे भी शायद एक ही जैसे होगे। फ्रान्स पर (और दूसरे देशो पर) यह वात इस हद तक लागू नही होती, क्योकि फ्रान्स अभी तक खेतिहर ज्यादा है और वहाँ उद्योगो की तरक्की अभी कम है।

रूज़वेल्ट ने मार्च, १९३३ ई० के शुरू मे राष्ट्रपति का पद सम्हाला। जो महामन्दी चल रही थी, उसके अलावा इसे फौरन ही बैंको के जवर्दस्त सकट का भी सामना करना पडा। पद सम्हालने के कुछ सप्ताह वाद इसने देश की हालत का वयान करते हुए कहा था कि इस समय "देश तिल-तिल करके मर रहा है।"

रूज़वेल्ट ने झटपट और फैसला करनेवाली कार्रवाई की। उसने काग्रेस से वैंको, उद्योगो और खेती-वाडी के मसलो को निपटाने के अधिकार माँगे, और काग्रेस ने भी सकट से घवराकर, और यह महसूस करके कि आम लोगो की भावना रूज़वेल्ट के साथ है, उसे ये अधिकार दे दिये। रूज़वेल्ट एक तरह से तानाशाह बन गया (हालाँकि वह लोकतन्त्री तानाशाह था), और सव लोग उससे उम्मीद करने लगे कि उन्हें वरवादी से वचाने के लिए वह फौरन ही कोई कारगर कार्रवाई करेगा। उसने भी विजली-जैसी तेजी से कदम उठाया, और कुछ ही सप्ताहो के भीतर उसने तरह-तरह की कार्रवाइयो से सारे सयुक्त राज्य को हिला दिया। साथ ही उसने लोगो मे अपने वारे मे और भी ज्यादा भरोसे की भावना पैदा कर दी।

रूज़वेल्ट ने जो कई फैसले किये, उनमे से कुछ ये थे

१. उसने स्वर्ण-मान से नाता तोड लिया और डालर का मोल गिर जाने दिया। इस तरह उसने कर्ज़दारो का वोझ हल्का कर दिया। यह सिक्का-फैलाव का क़दम था।

२ उसने रुपया देकर किसानो को राहत पहुँचाई, और खेती-बाडी को राहत देने के लिए दो अरब डालर का भारी कर्ज लेने की योजना जारी कराई।

३ उसने वन-विभाग के लिए और वाढ रोकने के कामो के लिए ढाई लाख मजदूर फौरन भर्ती किये। इसका मकसद कुछ बेकारी कम करना भी था।

४ बे-रोजगारो को राहत देने के लिए उसने काग्रेस से अस्सी करोड डालर की रकम मांगी। यह उसे दे दी गई।

५ लोगो को रोजगार देने के वास्ते सार्वजनिक निर्माण के कामो मे लगाने के लिए उसने तीन अरब डालर की वहुत भारी रकम अलग रख दी। यह रक़म भी उधार ली जानेवाली थी।

६ दारू-बन्दी कानून रद्द कराने की कार्रवाई उसने जल्दी पूरी करा दी।

ये तमाम भारी रकमे मालदार लोगो से उधार लेकर वसूल की जानेवाली थी। रूजवेल्ट की सारी नीति यह थी, और अब भी है, कि जनता की खरीद-शक्ति वढा दी जाय। क्योंकि अगर लोगो के पास पैसा होगा तो वे चीजें खरीदेंगे और व्यापार की मन्दी अपने-आप कम हो जायगी। इसी इरादे को सामने रखकर वह सार्वजनिक निर्माण की बडी-बडी योजनाएँ बना रहा है, जिनमे मजदूरो को काम दिया जाय और वे पैसा कमा सकें। इसी इरादे से वह मजदूरो की मजूरी बढ़ाने की और उनके काम के घण्टे कम करने की कोशिश भी कर रहा है। दिन में काम के घण्टे कम होने से ज्यादा लोगो को काम पर लगाया जा सकेगा।

यह रवैय्या उस रवय्ये से विलकुल उलटा है, जो सकट और मन्दी के जमानों मे आमतौर पर कारखानेदारो का हुआ करता है। वे तो हमेशा मजूरी घटाने की और काम के घण्टे बढाने की कोशिश किया करते हैं, ताकि उनके तैयार माल की लागत सस्ती बैठे। परन्तु रूजवेल्ट का कहना है कि अगर हमे माल की इकट्ठी पैदावार फिर बढानी है, तो हमे ऊँची मजूरी का जनता मे बँटवारा करके जनता की उस माल को खरीदने की ताकत भी वढानी चाहिए।

रूजवेल्ट की सरकार ने सोवियत रूस को भी कर्ज दिया है, जिससे कि वह अमेरिका की रुई खरीद सके। दोनो सरकारें दोनो देशो के बीच माल की अदला-बदली की सम्भावनाओ के बारे मे भी बातचीत कर रही हैं।

अभी तक अमेरिका ठेठ पूंजीवादी ढग का देश रहा है, जिसमे होड को खुली छूट है। वह वैसा राज्य है, जिसे 'व्यक्तिवादी' कहा जाता है। रूजवेल्ट की नई नीति इससे मेल नही खाती, क्योंकि वह तो कई तरह से व्यापार मे दखल दे रहा है, यानी वह उद्योगो पर एक तरह से राज्य का बहुत-कुछ अकुश लगा रहा है, हालाँकि वह इसे दूसरे नाम से पुकारता है। वास्तव मे यह कुछ हद तक सरकारी समाजवाद है, जिसमे मजदूरो के काम के घण्टो और हालतो को कानून-क़ायदे से चलाया जाता है,

उद्योगो पर अकुश लगाया जाता है, और गर्दन-काट होड रोकी जाती है। रूज़वेल्ट का कहना है कि "सब मिलकर योजनाएँ बनावें, और फिर उन योजनाओ को पूरी कराने का इन्तज़ाम करे।"

अब यह काम अमेरिका की बदस्तूर रेल-पेल और तेजी के साथ चल रहा है। बच्चो से मज़दूरी कराना खत्म कर दिया गया है। (इस बारे मे बच्चो की उम्र सोलह साल तक की मानी गई है)। अब यह नारा है कि मजूरी की दरें ऊँची हो, वेतन ज्यादा मिले, और काम के घण्टे कम हो। इस मुहिम को 'खुशहाली बढाने की जोरदार कोशिश'[1] कहा गया है, और खबर यह है कि समूचा देश भरती का प्रचार करनेवाला जबर्दस्त पोस्टर बन गया है। मालिको व दूसरे लोगो के नाम अपीलें बिखेरते हुए हवाई-जहाज इधर-उधर दौड रहे हैं। सब बडे-बडे उद्योगो पर अलग-अलग ज़ोर डाला जा रहा है कि वे ऊँची मजूरी वगैरा मुकर्रर करनेवाले 'कोड' तैयार करें, और इनपर अमल करने का इक़रार करें। अगर वे मुनासिब 'कोड' तैयार करने से इन्कार करते हैं, तो उन्हें हलकी-सी धमकी दी जाती है कि फिर यह काम सरकार करेगी। हरेक मालिक से इकरारनामा भरवाया जाता है कि वह अपने कर्मचारियो की मजूरी बढा देगा और उनके काम के घ टे कम करेगा। जो मालिक इस मामले मे आगे कदम रक्खेंगे, उन्हें सरकार सम्मान के बिल्ले देने की तजवीज़ कर रही है और ढील करनेवालो को शर्मिन्दा करने के लिए हरेक नगर के डाकखानो मे सम्मान-सूचियाँ रक्खी जायँगी।

इनसब बातो से भावो मे और व्यापार मे कुछ बेहतरी हुई है। लेकिन असली बेहतरी जो साफ़ दिखाई देती है, व्यापार के रुख मे और व्यापारियो के हौसले मे हुई है। पस्ती की भावना बहुत-कुछ चली गई है, और जनता के बडे-बडे समूहो मे, खासकर मध्यम-वर्गों मे, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट पर भरपूर ऐतबार है। लोगो ने इसकी तुलना अमेरिका की महान् विभूति राष्ट्रपति लिंकन से की है। लिंकन भी महासकट के समय यानी घरेलू-युद्ध के ज़माने मे राष्ट्रपति हुआ था।

यूरोप के भी बहुत लोग रूज़वेल्ट की तरफ़ देखने लगे हैं और उन्हें आशा हो गई है कि मन्दी का मुकाबला करने के लिए वह दुनिया-भर का नेता बनेगा। मगर विश्व-आर्थिक-सम्मेलन के मौके पर दूसरे देशो के प्रतिनिधि उससे नाराज़ हो गये, क्योकि उसने अपने प्रतिनिधियो को हिदायत दे दी थी कि वे डालर का मोल सोने के भाव पर तय करने की बात न मानें, और न दूसरी किसी ऐसी बात पर राज़ी हो, जो सयुक्त राज्य मे उसकी बडी-बडी योजनाओ मे अडचन डालनेवाली हो।

रूज़वेल्ट की नीति साफ तौर पर आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति है और वह

[1] Prosperity push.

अमेरिका की सारी गडबड सुधारने पर तुला हुआ है। यूरोप की कुछ सरकारें इस नीति को पसन्द नही करती और बौहरे लोग तो खासतौर पर झल्लाये हुए हैं। ब्रिटिश सरकार भी रूजवेल्ट की प्रगतिवादी हरकतो को पसन्द नही करती। वह तो बडे-बडे व्यवसायो की कद्र करती है।

मगर यह कहना पडेगा कि ससार के मामलो मे रूजवेल्ट जितना कारगर हिस्सा ले रहा है, उतना उसके पहलेवाले राष्ट्रपति ने नही लिया। निरस्त्रीकरण और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सवालो पर इसने जो रुख अपनाया है, वह बिलकुल साफ़ है और इग्लैण्ड के रुख से ज्यादा आगे बढा हुआ है। हिटलर को इसने जो झिडकी दी, उससे हिटलर कुछ ठण्डा पड गया। यह सोवियत रूस से भी बातचीत कर रहा है।

अमेरिका मे और दूसरे देशो मे भी, आज यह बडा सवाल उठ रहा है कि क्या रूजवेल्ट सफल होगा? वह पूंजीवाद की गाडी चालू रखने के लिए जोरदार यत्न कर रहा है। परन्तु इसकी कामयाबी का अर्थ है बडे-बडे व्यापारियो की गद्दी छिन जाना, और यह दिखाई नही देता कि ये लोग चुपचाप बर्दाश्त कर लेंगे।

अमेरिका का 'बडा व्यापार' आज के ससार का सबसे जबर्दस्त निहित स्वार्थ माना जाता है, और वह सिर्फ राष्ट्रपति रूजवेल्ट के कहने से अपनी ताकत और रियायतें छोडनेवाला नही है। अभी तो वह चुप बैठा है, क्योकि लोकमत ने और राष्ट्रपति रूजवेल्ट की लोकप्रियता ने उसे बहुत-कुछ दबा रक्खा है, लेकिन वह मौके की ताक मे है। अगर कुछ महीनो के भीतर हालत न सुधरी तो यह खयाल किया जाता है कि लोकमत रूजवेल्ट के खिलाफ हो जायगा, और तब ये बडे व्यापारी मैदान मे उतर आयेंगे।

कई योग्य दर्शको का खयाल है कि रूजवेल्ट के सामने एक असम्भव काम है और वह कामयाब नही हो सकता। उसके असफल होने से बडे व्यापारियो की फिर चढ बनेगी, और इस बार शायद वे पहले से भी ज्यादा ताकतवर हो जायेंगे, क्योकि तब रूजवेल्ट के सरकारी समाजवाद का सारा सरजाम बडे व्यापारियो के निजी फायदे मे लगा दिया जायगा। अमेरिका का मजदूर-आन्दोलन बिलकुल कमजोर है और आसानी से कुचला जा सकता है।

टिप्पणी—

सकट पर काबू पाने के लिए और पूंजीवाद को नई हालतो मे ढालने के लिए रूजवेल्ट का भारी यत्न सफल हो गया है, हालांकि बुनियादी परिवर्तन कुछ भी नही हुआ है। हां, हालत मे सुधार जरूर हुआ है। दरअसल यह यत्न जनता को

हो जाता है। मगर पिछले चार वर्षों के भीतर ऐसी चीज हुई है, जो इससे बिलकुल जुदा किस्म की है और इससे भी ज्यादा आँखें खोलनेवाली है। इन चार वर्षो मे संसार मे इतनी बडी मन्दी रही है, जितनी शायद पहले कभी नही रही। और इसके नतीजो से इन वर्षों मे मजदूरो की बुरी हालत दिन-पर-दिन ज्यादा बुरी होती गई है। मगर ताज्जुब यह है कि फिर भी इसके सबक से आमतौर पर सब देशो की मजदूर जनता मे, और खासतौर पर इग्लैण्ड व अमेरिका की मजदूर-जनता मे खास क्रान्तिकारी भावना पैदा नही हुई है।

पुराने ढग का पूंजीवाद चूर-चूर होता दिखाई दे रहा है। बाहरी तौर पर, यानी जहाँतक बाहरी बातो का ताल्लुक है, ऐसा मालूम होता है कि हालतें साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था लाने के लिए पूरी तरह तैयार हैं, परन्तु जिन लोगो को इसकी तमन्ना होनी चाहिए थी, उन्ही लोगो की बहुत बडी सख्या, यानी मजदूरो मे, क्रान्ति का इरादा नही है। इनसे ज्यादा क्रान्तिकारी भावनाएँ तो अमेरिका के पुराने विचारोवाले किसानो मे, और जैसाकि मैं बार-बार कह चुका हूँ, ज्यादातर देशो के निचले मध्यम-वर्गों मे, नज़र आ रही हैं, जो मज़दूरो की बनिस्बत बहुत ज्यादा सरगर्म हो गये हैं। यह चीज़ सबसे ज्यादा तो जर्मनी मे दिखाई दे रही है, परन्तु कुछ कम दर्जे की इग्लैण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका व दूसरे देशो मे भी दिखाई दे रही है। कमी-बेशी के ये फर्क अलग-अलग राष्ट्रीय विशेषताओ के सबब से हैं और सकट के बढने की अलग-अलग मज़िलो के कारण हैं।

जो मज़दूर-वर्ग युद्ध के बाद के वर्षों के शुरू मे इतना सरगर्म और क्रान्तिकारी था, वह इतना बे-हलचल और भाग्य के भरोसे बैठा रहनेवाला क्यो हो गया? जर्मनी का समाजी लोकतन्त्री दल बिना किसी लडाई के क्यो चूर-चूर हो गया, और उसने नात्सियो के हाथो अपनेको नष्ट क्यो करा डाला? इग्लैण्ड का मजदूर-वर्ग इतना नर्म और प्रतिगामी क्यो है? और अमेरिका के मजदूर-वर्ग की हालत इससे भी बुरी क्यो है? मजदूर-वर्ग के नेताओ को उनकी नालायक़ी के लिए और मज़दूर-वर्ग के हितो के साथ गद्दारी करने के लिए, अक्सर क़सूरवार ठहराया जाता है। इनमे से बहुत-से तो बेशक कसूरवार ठहराने लायक हैं, और जिस तरह इन लोगो ने अपने दलो को धोखा देकर दूसरे दलो को अपना लिया है, और मज़दूर-आन्दोलन को अपनी निजी हविसें पूरी करने की सीढी बनाया है, उसे देखकर रज होता है। दुःख की बात है कि इन्सान की जिन्दगी के हर मामले मे मौक़ापरस्ती होती ही है, मगर जो मौकापरस्ती लाखो रौंदे हुए और मुसीबतज़दा लोगो की उम्मीदो, आदर्शों व कुर्बानियो से फायदा उठाती है, वह इन्सानियत का बहुत ही दुखभरा पहलू है।

नेताओ को दोष दिया जा सकता है। परन्तु आखिर नेता भी तो मौजूदा

हालतो के ही फल होते है। कोई देश जिस तरह के शासको के लायक होता है, आमतौर पर उसी तरह के शासक उसे मिलते हैं। और किसी आन्दोलन को नेता भी वही मिलते हैं, जो दरअसल उसकी सच्ची मुरादो के लिए आवाज़ उठाते हैं। सच तो यह है कि इन साम्राज्यवादी देशो के मज़दूर-नेता, और इनके पीछे चलनेवाले, समाजवाद को कोई जानदार विश्वासवाली या ऐसी कोई चीज़ नही मानते थे, जिसकी अभी चाहना हो। इनका समाजवाद पूँजीवादी ढाँचे के साथ बहुत ज्यादा उलझ गया और बँध गया था। उपनिवेशो के शोषण से मिलनेवाले मुनाफ़ो का ज़रा-सा हिस्सा इन्हें मिल जाता था, और वे अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के लिए पूँजीवाद का बना रहना ज़रूरी समझते थे। समाजवाद एक दूर का आदर्श, एक सपनो की दुनिया, आनेवाला ज़माना बन गया, मौजूदा ज़माने का नही। और स्वर्ग की पुरानी कल्पना की तरह वह भी पूँजी की चेरी बन गया।

बस, मज़दूर-दल, मज़दूर-सघ, समाजी लोकतन्त्रवादी, दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय सघ, और इसी किस्म के सारे सगठन सुधार के छोटे-छोटे यत्नो मे अपनी ताकत गँवाते रहे, पूँजीवाद के सारे ढाँचे को इन्होंने साबत ही रहने दिया। अपना आदर्शवाद छोडकर ये ऐसा भारी नौकरशाही सगठन बन गये, जिसमे न तो जान थी और न असली मज़बूती।

नये साम्यवादी दल की हालत इससे जुदा थी। मज़दूरो के लिए इसके पास एक सन्देश था, जो ज्यादा ज़रूरी और दिलो को ज्यादा छूनेवाला था, और इसके पीछे सोवियत रूस की प्यारी तसवीर थी। परन्तु इतना होने पर भी इसे ज़रा भी सफलता नही मिली। यह यूरोप व अमेरिका की मज़दूर जनता के दिलो पर असर डालने मे कामयाब नही हुआ। अचम्भे की बात है कि इग्लैण्ड और अमेरिका मे तो इसका ज़रा भी ज़ोर नही था। जर्मनी व फ्रान्स मे इसका कुछ ज़ोर था। मगर हम देखते हैं कि कम-से-कम जर्मनी तक मे इसने अपनी ताकत का फायदा नही उठाया। अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से इसकी दो बडी हारें हुईं—एक तो १९२७ ई० मे चीन मे, दूसरी १९३३ ई० मे जर्मनी मे। व्यापार की मन्दी, और बार-बार के सकटो और कम मजूरी और बेकारी के इस ज़माने मे, साम्यवादी दल कामयाब क्यो नही हुआ ? इसका जवाब मुश्किल है। कुछ लोगो का कहना है कि इसकी वजह सिर्फ यह थी कि इसने ढब से काम नही किया और इसके काम के तरीके गलत थे। दूसरो की राय है कि यह दल सोवियत सरकार के साथ बहुत ज्यादा बँधा हुआ था, और इसकी नीति सोवियत की राष्ट्रीय नीति थी। जो अन्तर्राष्ट्रीय नीति होनी चाहिए थी, वह नही थी। शायद यह बात सही हो, मगर यह खुलासा तसल्ली देनेवाला नही है।

साम्यवादी दल खुद तो मज़दूरो मे नही पनपा, लेकिन साम्यवादी विचार

बहुत लोगो मे, खासकर दिमागी वर्गों में फैल गये। सब जगह, यहाँतक कि पूंजीवाद के समर्थकों मे भी, एक इन्तजारी, एक डर, मौजूद था कि सकट के नतीजे से किसी-न-किसी रूप मे साम्यवाद आना लाजिमी है। सब लोग मानते थे कि पुराने ढग के पूंजीवाद के दिन बीत चुके हैं। आपा-धापी की यह अर्थ-व्यवस्था, हडपने की यह हर आदमी की नीति, जिसमे किसी तरह की योजना नही है, और जिसमे बरबादी, झगडे और समय-समय पर सकट होते रहते है, मिट जानी चाहिए। इसकी जगह आयोजित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था या सहकारी अर्थ-व्यवस्था कायम होनी चाहिए। यह जरूरी नही कि इसका अर्थ मजदूर-वर्ग की जीत ही हो, क्योकि मिल्कियतवाले वर्गों के हितो को ध्यान मे रखते हुए राज्य का सगठन आधे समाजवादी ढग पर भी किया जा सकता है। सरकारी समाजवाद और सरकारी पूंजीवाद करीब-करीब एक-सी चीजें हैं, असली सवाल यह है कि राज्य किसके हाथो मे है और कौन उससे नफा उठाता है ? सारा समुदाय या कोई खास मालमता वाला-वर्ग।

जब दिमागी लोग इस किस्म के तर्क-वितर्क कर रहे थे, तब पश्चिमी औद्योगिक देशों के निचले मध्यम-वर्ग कार्रवाइयाँ कर रहे थे। ये वर्ग कुछ धुंधले तौर पर महसूस कर रहे थे कि पूंजीवाद व पूंजीपति उनको चूसते हैं। इसलिए इनके खिलाफ उनमे कुछ गुस्सा पैदा हो गया था। मगर उन्हें मजदूर-वर्ग का और साम्यवादियो के हाथो में सत्ता आने का और भी ज्यादा डर था। पूंजीपति लोग इस फासीवादी लहर के साथ अक्सर समझौता कर लेते थे, क्योकि वे समझते थे कि साम्यवाद को रोकने का दूसरा कोई उपाय नही है। धीरे-धीरे करीब सब लोग, जो साम्यवाद से डरते थे, इस फासीवाद के साथी बन गये। इस तरह जहाँ कहीं भी पूंजीवाद खतरे मे है, वहाँ कम या ज्यादा हद तक, फासीवाद फैलता जा रहा है, और साम्यवाद का या उसके अन्देशे का मुकाबला कर रहा है। इन दोनो के बीच मे पार्लमेण्टी हुकूमतो का कचूमर निकल रहा है।

और इससे अब हम उस दूसरी बडी बात पर आ पहुँचते हैं, जिसका ज़िक्र मैं इस पत्र के शुरू मे कर चुका हूँ, यानी पार्लमेण्टो की असफलता और उनकी गिरावट। तानाशाहो के बारे में, और पुराने ढग के लोकतन्त्र की असफलता के बारे मे, मैं अपने पिछले पत्रो मे बहुत-कुछ लिख चुका हूँ। यह चीज़ रूस, इटली व मध्य-यूरोप मे काफी सामने आ चुकी है, और अब जर्मनी मे भी सामने आ गई है, जहाँ नात्सियों के हाथो मे सत्ता आने से पहले ही पार्लमेण्टी हुकूमत ढह गई थी। सयुक्त राज्य अमेरिका मे हमने देखा है कि कांग्रेस ने राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को पूरे अधिकार किस तरह सौंप दिये हैं। यह सिलसिला फ्रान्स और इगलण्ड मे भी दिखाई दे रहा है, हालाँकि इन दोनो देशो की लोकतन्त्री परम्परा सबसे पुरानी और सबसे मजबूत है। पहले हम इगलैण्ड पर विचार करेंगे।

इग्लैण्ड का काम करने का ढग यूरोप के दूसरे देशो के तरीको से बिलकुल निराला है। इग्लैण्ड अपने पुराने चेहरे-मोहरे बनाये रखने का यत्न करता है, इसलिए वहाँ होनेवाले परिवर्तन ज्यादा नजर नही आते। मामूली तौर पर देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि पार्लमेण्ट अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रही है, परन्तु हकीक़त यह है कि वह बहुत-कुछ बदल चुकी है। गुजरे जमाने मे कामन्स-सभा सत्ता का सीधा इस्तेमाल करती थी, इसलिए एक मामूली सदस्य भी अच्छा असर रखता था। परन्तु अब सारे बडे-बडे मसलो का निपटारा मन्त्रिमण्डल करता है या यो कहो कि सरकार करती है, और कामन्स-सभा तो सिर्फ 'हाँ' या 'ना' कह सकती है। अलबत्ता, कामन्स-सभा 'ना' कहकर सरकार को हटा सकती है, परन्तु यह इतनी सख्त कार्रवाई है कि बहुत ही कम अमल मे आती है, क्योकि इससे बहुत-से झगडे पदा हो जाते हैं और नया आम चुनाव लाज़िमी हो जाता है। इसलिए अगर किसी सरकार का कामन्स-सभा मे बहुमत हो, तो वह जो चाहे सो कर सकती है और उसे सभा से मजूर करवाकर कानून की शक्ल दे सकती है। इस तरह सत्ता विधान-मण्डल के हाथो से निकलकर सरकारी अमले के हाथो मे चली गई है, और और अब भी जा ही रही है।

दूसरे, आजकल पार्लमेण्ट को बहुत ज्यादा काम करना पडता है, और उसके सामने टेढ़े-मेढ़े सवाल बहुत ज्यादा आते रहते हैं। इसलिए यह दस्तूर बन गया है कि पार्लमेण्ट किसी तजवीज या कानून के सिर्फ मोटे उसूल तय कर देती है, और उसकी तफसीलें सरकारी अमले पर या इसके किसी विभाग पर छोड देती है। इसलिए अमलदारो के हाथो मे जबर्दस्त शक्ति आ गई है, और नाजुक घडी मे वे जो चाहे सो कर सकते हैं। इस तरह राज्य की महत्ववाली कार्रवाइयो के साथ पार्लमेण्ट का लगाव दिन-पर-दिन कम होता जा रहा है। उसके खास काम अब सिर्फ ये रह गये हैं कि सरकार की तजवीजो, सवालो और जाँचो की नुकताचीनी करना, और अन्त मे सरकार की मोटी नीति को मजूरी देना। हैरल्ड जे० लास्की[1] कहता है: "हमारी सरकार अमलदारो की तानाशाही बन गई है, जिसे पार्लमेण्ट के विद्रोह का कुछ डर रहता है।"

अगस्त, १९३१ ई० मे मजदूर सरकार का अचानक खात्मा अजीब ढग से हुआ, जिससे जाहिर हो गया कि पार्लमेण्ट इस मामले मे कितनी कम जिम्मेदार थी। आमतौर पर इग्लैण्ड की किसी सरकार का पतन तब होता है जब कामन्स-सभा मे उसकी हार हो जाय। परन्तु १९३१ ई० मे कामन्स के सामने कोई मामला

[1] इंग्लैण्ड का सुप्रसिद्ध राजनीति-शास्त्र विशारद तथा लेखक। इसकी मृत्यु १९४९ ई० मे हो गई।

नही आया, किसीको मालूम नही था कि क्या हो रहा है, यहाँतक कि मन्त्रिमण्डल के ज्यादातर सदस्यो को भी कुछ मालूम नही था। प्रधान-मन्त्री रैम्जे मेक्डानल्ड ने दूसरे दलो के नेताओ से कुछ गुप-चुप बातें की, वे लोग बादशाह के पास गये, पुराना मन्त्रिमण्डल यकायक खत्म हो गया और अखबारो मे नये मन्त्रिमण्डल का ऐलान कर दिया गया। पुराने मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्यो को तो पहले-पहल यह बात अखबारो से ही मालूम हुई। कारंवाई का सारा ढग बहुत गैर-मामूली और लोक-तन्त्री दस्तूरो के बिलकुल खिलाफ था। अन्त मे कामन्स-सभा ने इसपर मजूरी की मोहर भी लगा दी, तो भी इससे इस असलियत पर कोई असर नहीं पडता। यह तो तानाशाही का तरीका था।

बस, मजदूर-सरकार के आसन पर रातो-रात 'राष्ट्रीय सरकार' बैठ गई, जिसमे अनुदार दलवालो का जोर था और जिसे कुछेक उदार-दली व मजदूर-दली लोगों ने राष्ट्रीयता का पुट दे दिया था। रैम्जे मेक्डानल्ड प्रधान-मन्त्री बना रहा, हालाँकि मजदूर-दल ने उसे गद्दार करार दिया था और दल से निकाल दिया था। ऐसी 'राष्ट्रीय' सरकारें उस वक्त कायम होती हैं, जब यह अन्देशा हो कि दूर तक असर डालनेवाले समाजवादी परिवर्तन मिल्कियतवाले वर्गो की हैसियत डांवा-डोल कर देंगे या उनपर हद से ज्यादा बोझा डाल देंगे। इग्लैण्ड मे अगस्त, १९३१ ई० मे ऐसी सूरत तब पैदा हुई जब वह सकट आया, जिसने बाद मे पौण्ड को स्वर्ण-मान से अलग कर दिया। इसका असर यह हुआ कि सारी पूंजीवादी ताक़तें समाज-वाद के मुकाबले मे एक होकर डट गई। मध्यम-वर्गी जनता को यह डर दिखलाकर कि अगर मजदूर-दल जीत गया तो उनकी सारी जमा-पूंजी छिन जायगी, राष्ट्रीय सरकार ने उन्हें बुरी तरह दहला दिया, और चुनाव मे अपने लिए बहुत भारी बहुमत हासिल कर लिया। मेक्डानल्ड और उसके समर्थकों ने कहा कि अगर राष्ट्रीय सरकार नही आई तो साम्यवाद आयेगा।

इस तरह इग्लैण्ड मे भी पुराना लोकतन्त्री ढांचा टूट चुका है, और पार्लमेण्ट की हालत गिरती जा रही है। जब जनता के जज्बो को भडकानेवाले निहायत जरूरी मुद्दे, मसलन मजहबी लडाइयाँ, या राष्ट्रीय व जातीय झगडे ('आर्यन' जर्मन बनाम यहूदी), और इन सबके ऊपर आर्थिक टक्करें (आसूदा और महरूम वर्गो के बीच), सामने आते हैं, तब लोकतन्त्र का दिवाला निकल जाया करता है। तुम्हें याद होगा कि १९१४ ई० मे आयर्लैण्ड मे जब अल्स्टर और बाकी देश के बीच ऐसा ही मजहबी राष्ट्रीय मुद्दा उठा था, तब अनुदार दल ने सचमुच पार्लमेण्ट का फैसला मानने से इन्कार कर दिया था और, वहाँ घरेलू युद्ध तक को बढावा दिया था। बस, जबतक कोई जाहिरा लोकतन्त्री कायदा मिल्कियतदार वर्गों का मतलब बनाता है, तबतक वे उससे फायदा उठाकर अपने स्वार्थों को बचाते हैं। परन्तु जब

वह उनके रास्ते मे अडचन डालता है और उनकी खास सहूलियतो और स्वार्थों को चुनौती देता है, तब वे लोकतन्त्री कायदे को घता बताते हैं और तानाशाही तरीके अपना लेते हैं। मुमकिन है कि आगे चलकर ब्रिटिश पार्लमेण्ट सब साफ करनेवाले उलट-फेरो के हक मे बहुमत हासिल कर ले। लेकिन अगर यह बहुमत जमे हुए स्वार्थों पर हमला करेगा, तो इन स्वार्थों के हकदार शायद पार्लमेण्ट को ही मानने से इन्कार कर दें, और उसके फैसले के खिलाफ विद्रोह तक भडकाने लगें, जैसाकि उन्होंने १९१४ ई० मे अल्स्टर के मुद्दे पर किया था।

बस, हम देखते हैं कि मिल्कियतवाले वर्ग, पार्लमेण्ट व लोकतन्त्र को सिर्फ तभी तक माकूल समझते हैं, जबतक कि इनके ज़रिये चालू हालतें कायम रक्खी जा सकें। अलबत्ता यह सच्चा लोकतन्त्र नही है, यह तो गैर-लोकतन्त्री गरज़ के लिए लोकतन्त्री इरादे का बेजा इस्तेमाल है। सच्चे लोकतन्त्र को कायम रखने का तो अभी तक मोल ही नही मिला है, क्योंकि पूंजीवादी ढांचे और लोकतन्त्र के बीच तो बुनियादी फर्क है। लोकतन्त्र अगर कुछ मानी रखता है तो वह है बराबरी, सिर्फ वोट की बराबरी नही बल्कि आर्थिक और समाजी बराबरी। पूंजीवाद का अर्थ इससे बिलकुल उलटा है। इसका अर्थ है मुट्ठी-भर लोगो के कब्ज़े मे माली ताकत का रहना, और उसके ज़रिये इस सत्ता का अपने निजी फायदे के लिए इस्तेमाल। ये लोग अपनी खुद की सहूलियतवाली हैसियत कायम रखने के लिए कानून बनाते हैं, और जो कोई इन कानूनो को तोडता है, वह कानून और व्यवस्था मे गडबड डालनेवाला और समाज का कसूरवार माना जाता है। बस, इस ढांचे मे किसी तरह की बराबरी नही होती, और लोगो को सिर्फ उतनी ही स्वतन्त्रता दी जाती है जितनी कि पूंजीवाद को कायम रखनेवाले कानूनो के दायरे मे आती हो।

पूंजीवाद और लोकतन्त्र की आपसी टक्कर कुदरती चीज़ है, और वह लगातार चलती रहती है। यह अक्सर झूठे प्रचार और लोकतन्त्र के ऐसे बाहरी रूपो के परदे मे छिपी रहती है जैसे पार्लमेण्टें और बहलानेवाली वे चीजें, जो मिल्कियतवाले वर्ग दूसरे वर्गों के सामने फेंका करते है, ताकि वे थोडे-बहुत राज़ी रहें। परन्तु एक वक्त ऐसा आता है जब फेंकने के लिए ये बहलानेवाली चीजें बाकी नही रहती, और तब दोनो वर्गों की आपसी टक्कर लाज़िमी हो जाती है, क्योंकि तब यह लडाई असली चीज़ के लिए, यानी राज्य मे आर्थिक सत्ता के लिए, होती है। जब यह हालत आती है, तब पूंजीवाद के सारे समर्थक, जो अबतक दूसरे दलो को आपस मे लडाते रहे थे, अपने जमे हुए स्वार्थों पर आनेवाले इस खतरे का मुकाबला करने के लिए एकजूट हो जाते हैं। उदारवादी और ऐसे ही दूसरे दल मिट जाते हैं, और लोकतन्त्र के रूपो को ताक मे रख दिया जाता है। यूरोप व अमेरिका मे अब यह हालत पैदा हो गई है, और इस हालत को बनानेवाला फासीवाद है, जो ज्यादातर

देशो मे किसी-न-किसी रूप मे हावी हो रहा है। मजदूर-वर्ग सब जगह अपना बचाव कर रहा है, पूंजीवादी ताकतो के इस नये और ज़बर्दस्त जमघट का मुकाबला करने की शक्ति उसमे नही है। मगर अजीब बात यह है कि खुद पूंजीवादी ढांचा ही लडखडा रहा है, और नई दुनिया के साथ अपना मेल नही बिठा पा रहा। बिलकुल साफ दिखाई देता है कि अगर यह किसी तरह बच भी जाय, तो इसका रूप बिलकुल बदला हुआ और ज्यादा कडा हो जायगा। और फिर यह इस लम्बी लडाई की दूसरी मंज़िल होगी, क्योकि आज के उद्योग और आज की ज़िन्दगी, चाहे ये पूंजीवाद के किसी भी रूप के मातहत हो, एक किस्म के जंगी मैदान हैं, जहां फौजें हमेशा आपस मे भिडती रहती हैं।

कुछ लोगो का खयाल है कि अगर ये सारी हुकूमतें थोडे-से समझदार लोगो को सौंप दी जायें तो यह तमाम झगडा, लडाई और मुसीबतें मिट जायें, और यह कि इन सारी चीज़ो की जड मे राजनीतिको और राजनीतिज्ञो की बेवकूफ़ी या बदमाशी है। वे समझते हैं कि अगर भले लोग किसी तरह एक होकर जुट जायें तो वे बदकारो को नीति के उपदेश देकर और उनके चाल-चलन की भूल उन्हें बतलाकर, *उनके दिल बदल सकते हैं। यह खयाल बहुत ग़लत है, क्योकि कसूर व्यक्तियो का* नही है, बल्कि भ्रष्ट ढांचे का है। जबतक यह ढांचा कायम है, तबतक ये व्यक्ति अपने मौजूद ढंग से ही चलते रहेंगे। बडे ही ताज्जुब की बात है कि हुकूमत या खास सहूलियतो की गद्दियो पर बैठे हुए गिरोह—चाहे तो वे दूसरे राष्ट्र पर राज करनेवाले विदेशी गिरोह हो और चाहे किसी राष्ट्र के अन्दरूनी आर्थिक गिरोह—खुद को धोखा देकर और मक्कारी से यह यकीन कर लेते हैं कि उनकी खास सहूलियतें उनकी खूबियो के वाजिब इनाम हैं। अगर कोई इस हैसियत को मानने से इन्कार करता है तो वह उन्हें बदमाश और गुण्डा और जमी-जमाई हालत को उलटनेवाला नज़र आता है। किसी हुकूमतदार गिरोह को यह यकीन दिलाना नामुमकिन है कि उसकी सहूलियतें नाजायज हैं, और उसे उनको त्याग देना चाहिए। अलग-अलग व्यक्तियो के दिलो मे शायद कभी-कभी यह बात बैठ भी जाय, हालांकि यह बहुत कठिन है, पर गिरोहो के दिलो मे तो कभी भी नही बैठ सकती। इसीलिए मुठभेडें, लडाई-झगडे और क्रान्तियां लाज़िमी तौर पर होते हैं और उनके साथ बेहद तकलीफें और मुसीबतें आती है।

१९४

दुनिया पर आखिरी नज़र

७ अगस्त, १९३३

जबतक कलम और काग़ज़ और स्याही ख़त्म न हो जायें तबतक पत्र

लिखने का छोर नही आ सकता। और दुनिया की घटनाओ के बारे मे लिखने का भी कोई छोर नही है, क्योकि हमारी यह दुनिया लुढकती चली जा रही है, और इसमे रहने वाले मर्द, औरतें और बच्चे हमेशा हँसते और रोते हैं, प्यार और नफरत करते है, और आपस मे लडते हैं। यह ऐसी कथा है, जो आगे बढती ही चली जाती है, और जिसका कोई छोर नही है। और आज के जिस जमाने मे हम रह रहे हैं, उसमे जिन्दगी का बहाव इतना तेज मालूम हो रहा है जितना पहले कभी नही था, इसकी रफ्तार पहले से ज्यादा तेज है, और एक के बाद दूसरे परिवर्तन बडी जल्दी-जल्दी आ रहे हैं। यह तो मेरे लिखते-लिखते ही बदल रहा है, और आज मैंने जो कुछ लिखा है, वह शायद कल ही पुराना, दूर का, और बे-जगह हो जाय। जिन्दगी की धारा कभी ठहरी नही रहती, यह तो बहती चली जाती है। आज की तरह कभी-कभी यह हमारी छोटी-छोटी इच्छाओ और तमन्नाओ को ठुकराती हुई, हमारी ना-कुछ हैसियतो की बेरहम खिल्ली उडाती हुई, और अपनी तूफानी लहरो पर हमे तिनके की तरह उछालती हुई, बेदर्दी से और शैतानी जोर के साथ तेजी से आगे दौडती है। यह धारा, पता नही किधर दौडी जा रही है—उस बडी चट्टान की तरफ जा रही है, जो टकराकर इसके हजारो टुकडे कर देगी, या किसी अपार और समझ से बाहर, रोबदार और शान्त, हमेशा बदलते हुए मगर फिर भी कभी न बदलने वाले सागर की तरफ जा रही है।

जितना लिखने का मेरा इरादा था या जितना मुझे लिखना चाहिए था, उससे मैं बहुत ज्यादा लिख चुका हूँ। मेरी कलम दौडती चली गई है। हमने अपनी लम्बी सैर खत्म कर दी है और अपनी आखिरी लम्बी मजिल भी तय कर ली है। हम आज तक आ पहुँचे हैं और कल की ड्योढी पर इस इन्तजार मे खडे हैं कि जब यह कल भी वक्त आने पर आज बन जायगा तो इसका क्या रूप होगा। अब हमे जरा-सी देर ठहरकर दुनिया पर चारो ओर नजर डालनी चाहिए। सन उन्नीस सौ तैंतीस के अगस्त महीने की सातवी तारीख को इसकी क्या हालत है?

भारत मे गाधीजी को फिर गिरफ्तार करके सजा दे दी गई है और वह वापस फिर यरवदा-जेल पहुँच गये हैं। सत्याग्रह-आन्दोलन फिर शुरू हो गया है, हालांकि इसका दायरा बहुत छोटा है, और हमारे साथी फिर जेल जा रहे हैं। मेरे एक बहादुर और प्यारे साथी और दोस्त जतीन्द्र मोहन सेनगुप्त, जिनसे पहले-पहल मेरी मुलाक़ात पच्चीस साल हुए कैम्ब्रिज मे, जब मैं वहाँ भर्ती हुआ ही था, हुई थी, अभी-अभी हमे छोडकर चल दिये हैं। उनकी मौत ब्रिटिश सरकार की क़ैद मे हुई है। जिन्दगी मौत मे डूब जाती है, पर भारतवासियो की जिन्दगी को जीने-लायक बनाने-वाला बडा काम जारी है। भारत के निहायत जिन्दा-दिल और अक्सर सबसे ज्यादा दिमागी योग्यतावाले हजारो सुपुत्र और सुपुत्रियाँ, जेलो मे या नजरबन्दी की

छावनियो मे पडे हुए अपनी जवानी और ताकत भारत को गुलाम बनानेवाले मौजूदा ढाँचे से जूझने मे खर्च कर रहे हैं। यह ज़िन्दगी और यह शक्ति नई इमारत खडी करने मे, तामीरी कामो मे, लगाई जा सकती थी। दुनिया मे कितना काम करने को पडा है! पर तामीर से पहले तोड-फोड ज़रूरी है, ताकि नई इमारत के लिए ज़मीन तैयार हो जाय। किसी झोपडी की कच्ची दीवारो पर आलीशान इमारत नही खडी की जा सकती। आज भारत मे जो हालत है, वह इस असलियत से अच्छी तरह समझ मे आ सकती है कि बगाल के कुछ हिस्सो मे लोगो की पोशाक तक भी सरकारी हुक्मो की पाबन्द है, और अगर कोई दूसरी तरह की पोशाक पहन ले तो जेलखाने भिजवा दिया जाता है। चटगाँव मे बारह साल से ऊपर की उम्र के छोटे-छोटे लडको तक को (और शायद लडकियो को भी) कही भी जाने के लिए अपने साथ शनाख्ती कार्ड लेकर चलना पडता है। मैं नही जानता कि ऐसा निराला फरमान दुनिया मे किसी और जगह भी कभी जारी किया गया हो। शायद नात्सियो के जर्मनी मे या दुश्मन के सिपाहियो से घिरे हुए युद्ध-प्रदेशो मे भी ऐसा नही हुआ होगा। आज अग्रेज़ी राज मे हमारे राष्ट्र की यह हालत है कि कही जाने के लिए भी परवाने की ज़रूरत होती है। और हमारे उत्तर पश्चिमी सीमान्त के उस पार हमारे पडौसियो पर ब्रिटिश हवाई जहाज़ बम बरसाते रहते हैं।

दूसरे देशो मे हमारे देश-भाइयो की ज़रा भी इज़्ज़त नही की जाती, कही भी उनका स्वागत नही किया जाता। और इसमे अचम्भे की कोई बात नही है, क्योकि जब उनकी अपने ही देश मे इज़्ज़त नही है तो दूसरी जगह कैसे हो सकती है? उन्हें दक्षिण अफ्रीका से निकाला जा रहा है, जहाँ वे जन्मे, पले और बडे हुए हैं, और जिसके कुछ हिस्सो को, खासकर नेटाल मे, उन्होंने अपनी गाढी मेहनत से बनाया है। रग-भेद, जातीय नफरत, आर्थिक तकरार, वगैरा ने मिलकर दक्षिण अफ्रीका के इन भारतीयो को ऐसा मर्दूद बना दिया है, जिनका न कोई घर है और न कोई आसरा। दक्षिण अफ्रीकी यूनियन की सरकार कहती है कि उन्हें तो बस दक्षिण अफ्रीका हमेशा के लिए छोडने को तैयार हो जाना चाहिए। फिर उन्हें जहाज़ो मे भरकर ब्रिटिश गायना या किसी दूसरी जगह भेज दिया जायगा, या भारत वापस भेज दिया जायगा, जहाँ जाकर वे भूखो ही क्यो न मरें!

पूर्वी अफ्रीका मे केनिया व इसके इर्द-गिर्द प्रदेशो को बनाने मे भारतीयो का बहुत बडा हाथ रहा है। पर अब वहाँ भी इनका रहना पसन्द नही किया जाता, इसलिए नही कि अफ्रीकी लोग ऐतराज़ करते हैं, बल्कि इसलिए कि मुट्ठीभर यूरोपीय बागान-मालिक ऐतराज़ करते हैं। यहाँ के अच्छे-से-अच्छे इलाके, यानी पठार के प्रदेश, इन बागान-मालिको के हक मे छोडे हुए हैं। यहाँ न तो अफ्रीकी लोग धरती के मालिक हो सकते हैं और न भारतवासी। बेचारे अफ्रीकियो की तो बहुत

बुरी हालत है। शुरू मे सारी धरती इनके कब्जे मे थी गौर उनकी गुजर-बसर का अकेला सहारा थी। सरकार ने इसके बडे-बडे टुकडे जब्त कर लिये, और यूरोपीय प्रवासियो को सौंप दिया। बस, ये प्रवासी या बागान-मालिक आज यहाँ बडे-बडे जमीदार बन गये हैं। ये लोग न तो इन्कम-टैक्स देते हैं और न कोई दूसरा टैक्स। टैक्सो का लगभग सारा बोझ बेचारे रौंदे हुए अफ्रीकियो पर पडता है। इनसे सीधे टैक्स वसूल करना तो कठिन है, क्योंकि इनके पास होता ही क्या है। इसलिए इनके रहन-सहन की कुछ जरूरी चीजो पर, मसलन आटा, कपडा, वगैरा पर टैक्स लगा दिया गया है, ताकि जब वे ये चीजें खरीदें तो उन्हें हेर-फेर से टैक्स देना पडे। पर सबसे निराला और सीधा टैक्स हर झोपडे और हर आदमी पर पोल-टैक्स था, जो सोलह साल की उम्र से ऊपर के हरेक मर्द उसके आश्रितो पर, जिनमे स्त्रियाँ भी शामिल की जाती थी, लगाया जाता था। टैक्स लगाने का नियम यह है कि लोगो की कमाई या मिल्कियत से टैक्स वसूल होना चाहिए। चूंकि अफ्रीकी के पास और कुछ तो था नही, इसलिए उसके तन पर ही टैक्स लगा दिया गया। लेकिन अगर उसके पास पैसा नही था, तो वह हर आदमी पर बारह शिलिंग सालाना का यह टैक्स किस तरह चुकाता? बस, इस टैक्स की चालाकी इसी बात मे थी, क्योंकि इससे मजबूर होकर उसे यूरोपीय प्रवासियो के बागानो मे काम करके कुछ पैसा कमाना पडता था और इस तरह टैक्स चुकाना पडता था। यह सिर्फ रुपया कमाने की ही तरकीब नही थी, बल्कि बागानो के लिए सस्ती मजूरी हासिल करने की भी थी। इसलिए पोल-टैक्स चुकाने लायक मजूरी कमाने के लिए इन कम्बख्त अफ्रीकियों को कभी-कभी बडी दूर-दूर से, देश के भीतरी भागो से, सात-आठ सौ मील की दूरी तय करके, समुद्री किनारे के बागानो मे आना पडता है (देश के भीतर रेलें नही हैं और किनारे पर भी बहुत कम हैं)।

बेचारे नित पीसे जानेवाले अफ्रीकियों के बारे मे मैं तुम्हें बहुत सारी बातें बतला सकता हूँ। ये लोग इतना तक नही जानते कि बाहर की दुनिया को अपनी पुकार कैसे सुनावें। इनकी मुसीबतो की कहानी बडी लम्बी है, और ये चुपचाप तकलीफें सह रहे हैं। अपनी अच्छी-से-अच्छी धरतियो से निकाले जाने पर इन्हें उन्ही यूरोपीय लोगो के असामी बनकर फिर वही आना पडता है, जिन्हें ये धरती अफ्रीकियो से छीनकर मुफ्त दे दी गई है। वे यूरोपीय जमीदार आधे-सामन्ती मालिक हैं, और जिन हलचलो को ये पसन्द नही करते, वे तमाम दबा दी जाती हैं। अफ्रीकी लोग सुधारो की माँग करने के लिए भी कोई समिति नही बना सकते, क्योंकि किसी तरह का चन्दा इकट्ठा करने की मनाही है। एक आर्डिनेंस के जरिये नाचो पर भी रोक लगा दी गई है, क्योंकि अफ्रीकी लोग अपने गीतो और नृत्यो मे कभी-कभी यूरोपीय तौर-तरीक़ों की नकल उतारते थे और मजाक उडाते थे। किसान-वर्ग निहायत गरीब है, और इन लोगो को चाय या कहवा उगाने की भी

इजाज़त नहीं है, क्योंकि इससे यूरोपीय बागान-मालिको के व्यापार में होड का अन्देशा है।

तीन साल हुए ब्रिटिश सरकार ने यह ईमानिया ऐलान किया था कि वह अफ्रीकियो की अमानतदार है, और आयन्दा इनकी ज़मीनें इनसे नही छीनी जायँगी। मगर अफ्रीकियो की बदकिस्मती से पिछले साल केनिया मे सोने की खान निकल आई। बस, वह ईमानी वादा भुला दिया गया। यूरोपीय बागान-मालिक इस ज़मीन पर टूट पडे, इन्होने अफ्रीकी किसानो को निकाल बाहर किया और सोने के लिए खुदाई शुरू कर दी। अंग्रेज़ो के वचनो का यह हाल हुआ। कहा यह जाता है कि आख़िरकार इस सारी कारंवाई से अफ्रीकियो का ही भला होनेवाला है, और ये लोग अपनी ज़मीनें छिन जाने से बहुत खुश हैं।

सोने की खानो के इलाके मे सोना निकलवाने का यह पूंजीवादी तरीका बडा ही निराला है। इसके लिए लोगो को एक मुकर्रर जगह से सचमुच दौडाया जाता है, और हरेक आदमी दौडकर उस इलाके के कुछ हिस्से पर कब्जा कर लेता है और वहाँ खुदाई शुरू कर देता है। उसके हिस्से मे आनेवाले टुकडे मे ज्यादा सोना निकलता है या नही, यह उसके नसीब की बात है। यह तरीका पूंजीवाद के रवैए का नमूना है। सोने की किसी खान के बारे मे फैसला करने का सबसे अच्छा तरीक़ा तो यह हो सकता है कि उस देश की सरकार उसपर क़ब्ज़ा कर ले और सारे राज्य के फायदे के लिए उसकी खुदाई करे। ताजिकिस्तान मे व दूसरी जगहो पर सोवियत-सघ अपनी सोने की खानो मे ऐसा ही कर रहा है।

ससार पर इस आखिरी निगाह डालने मे मैंने केनिया का कुछ ज़िक्र इसलिए किया है कि इन पत्रो मे हमने अफ्रीका को छोड दिया है। याद रहे कि यह बडा लम्बा-चौडा महाद्वीप है और इसमे अफ्रीकी जातियाँ भरी पडी हैं, जिनका विदेशी लोग सैकडो वर्षों से शोषण करते आये हैं और अब भी कर रहे हैं। ये बहुत ही पिछडे हुए हैं, पर इन्हें दबाकर रक्खा गया है, और आगे बढने का मौक़ा नही दिया गया है। जहाँ कही इन्हें ऐसा मौका दिया गया है, जैसाकि हाल ही मे पश्चिमी किनारे पर कायम किये गए एक विश्वविद्यालय मे हुआ है, वहाँ इन लोगो ने मार्के की तरक्क़ी की है।

पश्चिमी एशिया के देशो के बारे मे तो मैं काफी लिख चुका हूँ। इन देशो में और मिस्र में आज़ादी की जग कई शक्लो मे और अलग-अलग हालतो मे चल रही है। यही बात दक्षिण-पूर्वी एशिया मे, भारत से दूर के भाग मे, और इन्दोनेशिया मे यानी स्याम, हिंद-चीन, जावा, सुमात्रा, फिलिपाइन टापुओ वग़ैरा मे, हो रही है। स्वाधीन स्याम के सिवा बाकी सब जगह इस जग के दो पहलू हैं एक तो विदेशी

हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रीय उमग और दूसरे रौदे हुए वर्गों की समाजी बराबरी के लिए, या कम-से-कम आर्थिक बेहतरी के लिए उमग।

एशिया के दूर पूर्व मे भारी-भरकम चीन अपने हमलावरो के आगे बेकस पडा है, और अन्दरूनी फूट से बहुत-से टुकडो मे बँट रहा है। इसका एक रुख तो साम्यवाद की तरफ है, और दूसरा साम्यवाद से सख्त नफरत कर रहा है। और इस बीच जापान बे-रोक-टोक आगे बढता चला जा रहा है, और चीन के बडे-बडे इलाको पर कब्ज़ा जमा रहा है। मगर अपने इतिहास के लम्बे दौर मे चीन कितने ही ज़बर्दस्त हमलो और खतरो से जीता बच गया है, और इसमे ज़रा भी शक नही कि वह इस जापानी हमले से भी जीता बच जायगा।

साम्राज्यवादी जापान, जो आधा-सामन्ती, फौजी असर से दबा हुआ, मगर फिर भी उद्योगो मे बहुत आगे बढा हुआ, और बीते कल व आज की अजीब खिचडी है, एक विश्व-साम्राज्य की हविस के सपने सँजो रहा है। पर इन सपनो के पीछे एक तो यह असलियत है कि आर्थिक ढाँचा चूर-चूर होने का खतरा सामने खडा है, दूसरे जापान की उस बढती हुई घनी आबादी की ज़बर्दस्त मुसीबत है, जिसके लिए अमेरिका और आस्ट्रेलिया की लम्बी-चौडी गैर-आबाद जगहो के रास्ते बन्द कर दिये गए हैं। और इन सपनो के पूरा होने मे एक ज़बर्दस्त रुकावट है आज के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमेरिका की दुश्मनी। एशिया मे जापान के पैर पसारने मे दूसरी ज़बर्दस्त रुकावट सोवियत रूस है। लेकिन तीखी नज़रवालो को मचूरिया मे और गहरे प्रशान्त महासागर की सतह पर एक महायुद्ध की छाया तो अभी से उतरती हुई दिखाई दे रही है।

समूचा उत्तरी एशिया सोवियत सघ का हिस्सा है और एक नई दुनिया व नई समाजी व्यवस्था रचने व खडी करने मे मशगूल है। अजीब बात है कि ये पिछडे हुए देश, जो सभ्यता की दौड मे पीछे रह गये थे और जहाँ एक तरह की सामन्तशाही अभी तक चालू थी, आगे छलाँग मारकर ऐसे दर्जे पर पहुँच गये है, जो पश्चिम के आगे बढ़े हुए राष्ट्रो से भी आगे है। यूरोप व एशिया मे सोवियत सघ आज खडा होकर पश्चिमी जगत के लडखडाते हुए पूंजीवाद को चुनौती दे रहा है। जहाँ व्यापार की मन्दी व गिरावट, और बेकारी, और बार-बार आनेवाले सकट पूंजीवाद को बे-असर बना रहे हैं और पुरानी व्यवस्था आखिरी सास ले रही है, वहाँ सोवियत-सघ उमग, तेज़ी और जोश से भरा हुआ देश है और वह नई समाजी व्यवस्था तैयार करने व कायम करने मे सरगर्मी से जुटा हुआ है। और यह छलछलाती हुई जवानी और ज़िन्दगी, और वह सफलता जो सोवियत-सघ हासिल कर चुका है, दुनिया-भर के विचारवान लोगो पर अपनी छाप डाल रहे हैं और उनका ध्यान खीच रहे हैं।

दूसरा लम्बा-चौडा इलाका सयुक्त राज्य अमेरिका, पूंजीवाद की असफलता-

का नमूना पेश कर रहा है। चारो तरफ महान् कठिनाइयो, सकटो, हडतालो और असाधारण वेरोजगारी से घिरा होने पर भी यह देश अपनी गाडी खीचने की और पूँजीवादी व्यवस्था को बरक़रार रखने की जी-तोड कोशिश कर रहा है। देखना है कि इस बडे तजुर्बे का क्या नतीजा निकलता है। नतीजा चाहे जो हो, अमेरिका को जितनी आसाइशें मुहैया हैं, क्या तो उसके लम्बे-चौडे प्रदेश मे, जो जिन्दगी की सारी ज़रूरी चीज़ो से भरपूर है, क्या उसके तकनीकी साधनो मे, जो ससार के किसी भी देश से ज्यादा बडे हैं, और क्या उसके हुनरमन्द व खूब सीखे हुए लोगो मे, उन्हें कोई नही छीन सकता। सोवियत सघ की ही तरह सयुक्त राज्य अमेरिका भी आगे चलकर विश्व के मामलो मे बहुत ही महत्व का हिस्सा लेगा, इसमे कोई शक नही है।

और लातीनी राष्ट्रोवाला दक्षिण अमेरिका का बडा महाद्वीप तो उत्तर अमेरिका से बिलकुल ही निराला है। उत्तर अमेरिका जैसा नस्ली-तास्सुब यहाँ जरा-भी नही है, और जुदा-जुदा नस्लें खूब मिलकर एक हो गई हैं, जिनमे दक्षिण यूरोपीय स्पेनी, पुर्तगाली, इतालवी, हब्शी, और अमेरिकी महाद्वीपो के आदिम-निवासी 'रेड-इडियन'[1] वग़ैरा शामिल हैं। कनाडा और सयुक्त राज्य मे ये रेड इण्डियन करीब-करीब खत्म हो गये हैं, पर दक्षिण अमेरिका मे, खासकर वैनिज्वीला मे ये काफी सख्या मे अभी तक पाये जाते हैं। ये लोग ज्यादातर बडे-बडे शहरो से दूर रहते हैं। तुम्हें यह जानकर शायद ताज्जुब होगा कि ब्यूनस-एरस व रियो दे जनेरो वग़ैरा कुछ दक्षिण अमेरिकी शहर महज़ बहुत बडे ही नही हैं, बल्कि बहुत सुन्दर भी हैं, और इनमे सघन पेडो की कतारोवाले शानदार रास्ते हैं। अर्जेण्टाइन की राजधानी ब्यूनस एरस की आबादी पच्चीस लाख है, और ब्राज़ील की राजधानी रियो दे जनेरो की क़रीब बीस लाख।

हालाँकि यहाँ नस्लें मिलकर एक हो गई हैं, पर हुकूमत की बागडोर गोरे अमीर-वर्ग के हाथो मे है। जिस गुट्ट या गिरोह का फौज या पुलिस पर कब्जा होता है, वही आमतौर पर राज करता है। और, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, ऊपर ही-ऊपर कितनी ही बार क्रान्तियाँ हुई हैं। सारे-के-सारे दक्षिण अमेरिकी देशो मे खनिजो के बडे भण्डार मौजूद हैं, इसलिए इसके पास जमीन मे छिपी हुई बहुत दौलत है। पर इसीके बीच ये कर्जों मे डूबे हुए हैं, और चार साल पहले ज्योही सयुक्त

---

[1] अमेरिकी महाद्वीपों के आदिम निवासी 'रेड इण्डियन' कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि पुर्तगाल का मशहूर नाविक कोलम्बस जब भारत की खोज में निकला तो अमेरिका जा पहुँचा और उसने उसे ही भारत समझ लिया। इसलिए वहाँ के निवासियो को इण्डियन कहा जाने लगा; बाद मे जब यह गलती मालूम हुई तो उनका नाम 'रेड इण्डियन' रख दिया गया, क्योंकि उनका रग ताम्बे जैसा लाल होता है।

राज्य अमेरिका ने इन्हें रुपया उधार देना बन्द किया, त्योंही ये बुरे झमेले मे पड गये, और जगह-जगह क्रान्तियाँ हो गई। रुपये की तगी की वजह से दक्षिण अमेरिका के तीन मुख्य देश, अर्जेण्टाइन, ब्राज़ील और चिली भी, जो ए-बी-सी[1] देश कहलाते हैं, क्रान्तियो के शिकार हो गये।

१९३२ ई० की गर्मियो के बाद दक्षिण अमेरिका मे दो छोटे-छोटे घरेलू युद्ध हो चुके हैं, पर मचूरिया के जापानी युद्ध की तरह इन्हें बाकायदा युद्ध नही माना जाता। जबसे राष्ट्रसघ का इकरारनामा, 'केलॉग-शान्ति-क़रार' और दूसरे करार हुए हैं, तबसे युद्ध होते ही नही हैं। जब कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर धावा मारता है और उसके नागरिको की हत्या करता है, तो यह 'मुठभेड' (Conlfict) कहलाती है, और चूंकि करारो मे 'मुठभेडो' के लिए मनाही नही है, इसलिए सब मज़े मे हैं। मचूरिया के युद्ध के सिवा इन छोटे-छोटे युद्धो का दुनिया की नज़र मे कोई महत्व नही है। पर इनसे यह ज़रूर साबित हो जाता है कि राष्ट्रसघ से लगाकर अनगिनती करारो और समझौतो तक, ससार मे अमन कायम करने की सारी तरकीब, जिसकी खूब डीग हाँकी जाती है, कितनी कमज़ोर और निकम्मी है। राष्ट्रसघ का एक सदस्य दूसरे सदस्य पर धावा बोल देता है, और सघ लाचार बैठा देखा करता है, या झगडे निबटाने की बोदी और निपट बेकार कोशिशें करता है।

ऐसा ही एक युद्ध या 'मुठभेड' दक्षिण अमेरिका के जगली इलाको के चाको नामक टुकडे के लिए, बोलिविया और पैरग्वे के बीच चल रहा है। एक फ्रान्सीसी ने कहा है "चाको जगल के लिए बोलिविया और पैरग्वे का झगडा मुझे एक कघे के लिए लडनेवाले दो गजो की याद दिलाता है।" यह झगडा बेवकूफी का तो है, पर इतना बेहूदा नही है। इस लम्बे-चौडे जगली प्रदेश मे मिट्टी के तेल निकलानेवालो के स्वार्थ फँसे हुए है, और इसमे होकर बहनेवाली पैरग्वे नदी बोलिविया को अतलान्तिक महासागर मे जोडती है। दोनो देश आपस मे समझौता करने को तैयार नहीं हैं, और अबतक हज़ारो जानें झोक चुके है।

दूसरी मुठभेड, लैटीशिया नामक गाँव के लिए कोलम्बिया और पेरू के बीच हो रही है। इस गाँव पर पेरू ने नाजायज़ कब्ज़ा कर लिया है। मेरा खयाल है कि राष्ट्रसघ ने पेरू की कडी आलोचना की थी।

लातीनी अमेरिका मे (जिसमे मैक्सिको भी शामिल है) कैथलिक मज़हब फैला हुआ है। मैक्सिको मे राज्य और कैथलिक पादरियो के बीच घमासान लडाइयाँ हुई हैं। स्पेन की तरह मैक्सिको की सरकार भी शिक्षा और दूसरे सब मामलो मे रोमन चर्च के लम्बे-चौडे इख्तियारो पर लगाम लगाना चाहती थी।

---

[1] ये तीनो देशों के नामो के पहले वर्ण हैं।

दक्षिण अमेरिका मे स्पेनी भाषा बोली जाती है, सिवा ब्राज़ील के जिसकी सरकारी भाषा पुर्तगाली है। इतने लम्बे-चौडे प्रदेश के सरसब्ज़ होने की वजह से स्पेनी भाषा आज दुनिया की सबसे बडी भाषाओ मे गिनी जाती है। यह एक सुन्दर और झकारी भाषा है, जिसका नया साहित्य बडा शानदार है, और दक्षिण अमेरिका की वजह से अब तो यह बडे ही महत्व की व्यापारी भाषा भी हो गई है।

: १९५ :

युद्ध की छाया

८ अगस्त, १९३३

पिछले पत्र मे हमने एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के दोनो महाद्वीपो पर सरसरी नज़र दौडाई है। अब यूरोप बाक़ी रहता है, वह यूरोप जिसमे झझटे और आपसी झगडे हैं, पर फिर भी बहुत सारे गुण है।

इग्लैण्ड, जो इतने दिनो से विश्व की अगुआ शक्ति था, अब अपनी पुरानी व सबसे ऊँची हैसियत खो चुका है, और जो कुछ बचा है, उसे कायम रखने की भरपूर कोशिश कर रहा है। उसकी समुद्री ताकत, जिसकी वजह से वह सुरक्षित था और दूसरो के ऊपर रौब जमाता था, और जिसके सहारे वह अपना साम्राज्य बना सका था, अब पहले जैसे नही रह गई। कुछ ही दिन पहले, एक वक्त था जब इग्लैंण्ड का जगी बेडा किन्ही दो बडी शक्तियो के शामिल जगी-बेडो से भी बडा था। आज वह सिर्फ सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ बराबरी का दावा कर सकता है, और अमेरिका के पास इतने साधन हैं कि जरूरत पडने पर वह बहुत जल्दी इग्लैण्ड से ज्यादा जहाज़ तैयार कर सकता है। मगर आज समुद्री ताकत से भी ज्यादा महत्व की चीज़ हवाई ताकत है और इस मामले मे इग्लैण्ड और भी कमज़ोर है। कई शक्तियो के पास इग्लैण्ड से ज्यादा लडाकू हवाई जहाज़ हैं। व्यापार मे भी उसकी सरदारी जाती रही है और इसके फिर हासिल होने की उम्मीद नही है। उसका बडा भारी निर्यात-व्यापार भी दिन-पर-दिन गिरता जा रहा है। ऊँचे-ऊँचे महसूलो और खास तिजारती सहूलियतो के जरिये वह साम्राज्य की मण्डियाँ अपने माल के लिए बची रखने के यत्न कर रहा है। इसीका यह मतलब है कि उसने साम्राज्य के बाहर विश्व-व्यापार की हविस का ख़याल छोड दिया है। अगर इस छोटे दायरे मे उसे सफलता भी मिल जाय तो इससे उसकी पुरानी सरदारी दुबारा हासिल नही हो सकती। वह तो सदा के लिए हाथ से निकल गई, पर साम्राज्य के भीतर भी यह सीमित सफलता भी कितनी है या कितने दिन टिकेगी, यह नही कहा जा सकता।

अमेरिका के साथ ज़बर्दस्त कुश्ती के बाद भी, इग्लैण्ड अभी तक सारी दुनिया

के व्यापार का साहूकारी केन्द्र है, और लन्दन शहर इसके लिए विनिमय का केन्द्र है। पर ज्यो-ज्यो दुनिया का व्यापार सिकुडता और खत्म होता जाता है, त्यो-त्यो इस लूटी हुई चीज की सारी चमक-दमक और सारा महत्व भी छिनता जा रहा है। आर्थिक राष्ट्रीयता, रक्षात्मक चुगियाँ वगैरा की अपनी नीतियो की वजह से इग्लैण्ड व दूसरे देश दुनिया के व्यापार की इस घटोतरी मे खुद ही मददगार बन रहे हैं। अगर दुनिया का व्यापार बहुत बडी हद तक बना भी रहे, और मौजूदा ढाँचा कायम भी रहे, तो भी इसमे कोई शक नही कि दुनिया की साहूकार-नेतागिरी एक-न-एक दिन लन्दन के हाथ से निकलकर न्यूयार्क के हाथ मे चली जायगी। पर हो सकता है कि इस चीज के होने से पहले ही पूँजीवादी ढाँचे मे भारी रद्दो-बदल हो चुकेंगे।

इग्लैण्ड की यह शोहरत है कि वह अपनेको बदलती हुई हालतो के मुताबिक ढाल लेता है। पर यह शोहरत तभी तक वाजिब है जबतक कि उसके समाजी आधार को धक्का न लगे और उसके मिल्कियतवाले वर्गों की सहूलियतें बरकरार रहें। अभी तो यह देखना है कि हालतो के मुताबिक ढलने की यह गुजायश इग्लैण्ड को बुनियादी समाजी परिवर्तनो मे से पार निकालकर ले जाती है या नही। यह सम्भावना बहुत ही कम है कि इस किस्म का परिवर्तन चुपचाप और झगडे-फिसाद के बिना हो जायगा। सत्ता और सहूलियतें भोगनेवाले, इन चीजो को अपनी मर्जी से नही छोडा करते।

इसी दरम्यान इग्लैण्ड बडी दुनिया से अपने साम्राज्य मे सिकुडता आ रहा है, और इन साम्राज्य को बचाने के लिए वह इसके ढाँचे मे बडी रद्दो-बदल को तैयार है। हालाँकि उसके उपनिवेश ब्रिटिश साहूकारी ढाँचे के साथ कई तरह से बँधे हुए हैं, पर फिर भी वे कुछ हद तक स्वाधीन हैं। अपने विकासी उपनिवेशो को खुश रखने के लिए इग्लैण्ड ने बहुत-कुछ कुर्बानियाँ की हैं, पर फिर भी दोनो के बीच झगडे खडे होते रहे हैं। आस्ट्रेलिया के तो हाथ-पाँव अब इग्लैण्ड से बँधे हुए हैं, और जापानी हमले के डर से वह इग्लैण्ड के साथ और भी मजबूती से बँध गया है। कनाडा के बढते हुए उद्योग इग्लैण्ड के कुछ उद्योगो का मुकाबला करने लगे हैं, और उनके आगे घुटने टेकने को तैयार नही हैं। इसके अलावा, अपने बडे पडोसी सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ कनाडा के अनेक ताल्लुकात हैं। दक्षिण अफ्रीका मे साम्राज्य के हक मे कुछ अच्छे जज्बे नही हैं, हालाँकि पुरानी कडवाहट अब नही रही है। आयर्लैण्ड अपने बल-बूते पर खडा है, और आग्ल-आयरी तिजारती झगडा अभी तक चल रहा है। आयर्लैण्ड के माल पर इग्लैण्ड ने चुगियाँ लगाईं तो इस इरादे से थी कि वह डरकर और ज़बरन मजबूर होकर घुटने टेक देगा, पर इसका असर उलटा हुआ। इनकी वजह से आयर्लैण्ड के उद्योगो और खेती-बाडी को बडी भारी चेतना मिली है, और आयर्लैण्ड बहुत हद तक कामयाबी के साथ अपने पाँवो पर खडा होने लायक और अपनी ज़रूरतें खुद पूरी करने लायक बन रहा है नये-नये कारखाने

खुल गये हैं, और जिस ज़मीन पर पहले घास उगती थी वहाँ अब अनाज पैदा हो रहा है। खाने की जो चीज़ें पहले इग्लैण्ड भेजी जाती थी, वह अब यही के लोगो को मिल रही हैं, और उनके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है। दि वेलेरा ने अपनी नीति बडी शान के साथ सही साबित कर दी है, और आयर्लैण्ड आज इंग्लैण्ड की साम्राज्य-शाही के लिए कॉटा बन रहा है, क्योकि वह लडने और मुक़ाबला करने पर आमादा हो रहा है, और ओटावा-सरीखी साँठ-गाँठ से उसका मेल बिलकुल नही बैठ रहा।

इसलिए अपने उपनिवेशो के साथ तिजारती ताल्लुको से इग्लैण्ड ज्यादा नफा उठाने की हैसियत मे नही है। हाँ, भारत से वह बहुत-कुछ नफा उठा सकता है, क्योकि भारत उसके लिए अभी तक बडा बाज़ार बना हुआ है। पर भारत की राजनीतिक हालतें,और साथ ही यहाँ के लोगो की आर्थिक मुसीबतें,इग्लैण्ड के व्यापार के हक मे नही है। लोगो को जेलो मे ठूंसकर उन्हें अग्रेज़ी माल खरीदने को मजबूर नही किया जा सकता। स्टैनली बाल्डविन ने इन्हीं दिनो मेन्चैस्टर मे कहा था

"वे दिन लद गये जब हम भारत से अपनी बात मनवा सकते थे और कह सकते थे कि वह अपना माल कब और कहाँ खरीदे। व्यापार की हिफाज़त (भारत की) मर्ज़ी पर ही थी। हम सगीन की नोक पर कपडे की फरियाँ लगाकर भारत को अपना माल कभी नही बेच सकेंगे।"

भारत की अन्दरूनी हालतो के अलावा, इग्लैण्ड को यहाँ, और पूर्व के दूसरे देशो मे, और कुछ उपनिवेशो मे, भी जापान की ज़बर्दस्त होड का सामना करना पड रहा है।

बस, इग्लैण्ड अपने साम्राज्य को एक आर्थिक इकाई बनाकर, जो कुछ उसके पास है, उसे बचाने की भरसक कोशिश कर रहा है। इस इकाई मे डेनमार्क या नार्वे और स्वीडन वगैरा ऐसे छोटे-छोटे देशो को भी जोडता जा रहा है, जो उससे समझौते कर लेते हैं। घटनाओ का कुदरती सिलसिला ही उसे यह नीति अपनाने को मजबूर कर रहा है, दूसरा कोई रास्ता ही नही है। युद्ध के ज़मानो मे अपने बचाव के लिए भी उसे अपनी ज़रूरतें खुद पूरी करने की ज्यादा ज़रूरत है। इसलिए वह अपनी खेती-बाडी का भी विकास कर रहा है। आर्थिक राष्ट्रीयता की यह साम्राज्य-शाही नीति कहाँतक कामयाब होगी, यह आज कोई नही कह सकता। इस काम-याबी मे रुकावट डालनेवाली कई कठिनाइयाँ मैंने बतलाई हैं। अगर नाकामयाबी आई तो साम्राज्य का सारा ढांचा टूटकर गिर पडेगा, और तब अग्रेज़ो को अपने रहन-सहन का दर्जा घटाने की समस्या का सामना करना पडेगा। हाँ, अगर वे अपनी अर्थ-व्यवस्था को बदलकर समाजवादी ढग की बना लें तो बात दूसरी है। पर इस नीति की कामयाबी भी खतरे से खाली नही है, क्योकि इसके सबब से शायद कई यूरोपीय देश बरबाद हो जायें कि उनके व्यापार का निकास काफी तौर पर न हो

सके। इधर इग्लैण्ड के क़र्ज़दारो का दिवाला निकलने से खुद उसीकी हैसियत को धक्का पहुँचे विना नही रहेगा।

जापान और अमेरिका के खिलाफ भी आर्थिक टकराव पैदा होने लाज़िमी हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका के साथ तो कई मैदानो मे मुकावलेवाजी चल ही रही है। और दुनिया की आज की हालत मे सयुक्त राज्य तो अपने काफी साधनो के सहारे आगे बढेगा ही, और इग्लैण्ड गिरता जायगा। इस सिलसिले का सिर्फ़ यही अजाम हो सकता है कि इस लडाई मे इग्लैण्ड चुपचाप हार मान ले, या यह है कि जो कुछ उसके पास है, उसे बचाने की आखिरी कोशिश मे वह युद्ध की जोखिम उठावे, पेश्तर इसके कि यह भी हाथ से निकल जाय, और उसमे अपने प्रतिस्पर्द्धी का सामना करने की ताक़त भी न रहे।

इग्लैण्ड का एक और वडा प्रतिस्पर्द्धी सोवियत-सघ है। ये दोनो ज़मीन-आसमान के फर्कवाली नीतियो के हामी हैं। दोनो एक दूसरे को आँखें दिखा रहे हैं, और एक दूसरे के खिलाफ सारे यूरोप और एशिया मे साजिशें कर रहे हैं। कुछ देर तक ये दोनो शक्तियाँ आपस मे सुलह भले ही बनाये रक्खें, पर इनके आपसी मतभेद दूर करना बिलकुल असम्भव है, क्योंकि ये जुदा-जुदा आदर्शों के हामी हैं।

इग्लैण्ड आज एक सन्तप्ट शक्ति है, क्योंकि जो कुछ उसे चाहिए वह सब उसके पाम मौजूद है। उसे यह डर है कि कही यह छिन न जाय, और यह डर वाजिब है। वह मौजूदा हालत को बरकरार रखने की और इसके ज़रिये अपनी मौजूदा हैसियत को कायम रखने की भरसक कोशिश कर रहा है और इस मतलब के लिए राष्ट्र-सघ का इस्तेमाल कर रहा है। लेकिन घटनाओ के ज़ोर को रोकना उसके या दूसरी किसी शक्ति के बस की बात नही है। इसमे शक नही कि आज वह बहुत मज़बूत है, पर साथ ही इसमे भी शक नही कि साम्राज्यशाही शक्ति की हैसियत से वह कमज़ोर हो रहा है और गिर रहा है। हम उसके महान् साम्राज्य का डूबना देख रहे हैं।

इग्लैण्ड के उस पार यूरोप महाद्वीप मे फ्रान्स है। यह भी एक साम्राज्यशाही शक्ति है, जिसका अफ्रीका व एशिया मे एक बडा साम्राज्य है। फौजी ताकत के लिहाज़ से यह यूरोप का सबसे ज्यादा ताकतवर राष्ट्र है।[1] इसके पास ज़बर्दस्त फौज है, और यह पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, बेलजियम, रूमानिया, यूगोस्लाविया, वगैरा राष्ट्रो के गुट्ट का नेता है। मगर फिर भी यह जर्मनी की तेज़-तर्रारी और लडाकू मनोवृत्ति से डरता है, खासकर जब से हिटलर का राज हुआ है। वास्तव मे हिटलर ने पूंजी-

---

[1] जर्मनी के दुबारा हथियारबन्द होने के बाद फ्रान्स की यह हैसियत नहीं रही। सितम्बर, १९३८ ई० के 'म्यूनिख़ करार' के बाद फ्रान्स दूसरे दर्जे की शक्ति बन गया है। मध्य यूरोप में इसके साथी राष्ट्रो का गुट्ट भी टूट गया है।

वादी फ्रान्स और सोवियत रूस के आपसी खयालो मे मार्के की तब्दीली पैदा कर दी है। दोनो का एक ही दुश्मन होने से ये आपस मे अच्छे दोस्त बन गये हैं।

जर्मनी मे नात्सी आतक अभी तक चल रहा है, और नये-नये जुल्मो व अत्याचारो के समाचार रोज आते रहते है। यह कहना नामुमकिन है कि ये जालिमाना हरकतें कबतक चलती रहेंगी, इन्हें चलते हुए कितने ही महीने बीत गये, पर अभी तक इनमे कोई कमी नही है। ऐसा अत्याचार किसी टिकाऊ हुकूमत का चिह्न कभी नही हो सकता। हो सकता है कि अगर जर्मनी फौजी ताकत के लिहाज से काफी ताक़तवर होता तो यूरोप मे कभी का युद्ध छिड गया होता। यह युद्ध आगे भी छिड सकता है। हिटलर को यह कहने का शौक है कि वह साम्यवाद से बचानेवाला आखिरी सहारा है। शायद यह बात सही हो, क्योकि जर्मनी मे अब हिटलर-शाही की जगह सिर्फ साम्यवाद ही ले सकता है।

मुसोलिनी के मातहत इटली का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरफ रवैय्या निहायत रूखा, हकीकत के मुताबिक चलनेवाला और खुदगरज़ है। दूसरे राष्ट्रों की तरह यह अमन और आपसी मेलजोल के पाखण्डी फिकरे नही बोलता। वह तो युद्ध के लिए जी-जान से तैयारी कर रहा है, क्योकि उसे पक्का यकीन है कि एक-न-एक दिन युद्ध छिडना लाजिमी है। साथ ही वह अपनी हैसियत जमाने के दाँव-पेच भी कर रहा है। फासीवादी होने से वह जर्मनी मे फासीवाद का स्वागत करता है, और हिटलर-पन्थियो से दोस्ती का वास्ता रखता है। पर उधर वह जर्मन नीति के सबसे ऊँचे मकसद आस्ट्रिया के साथ एकीकरण[1] का विरोध करता है। ऐसे एकीकरण से जर्मनी की सरहद ठेठ इटली की सरहद से मिल जायगी, और मुसोलिनी को अपने जर्मन फासीवादी बिरादर की यह नजदीकी पसन्द नही है।

मध्य-यूरोप तो ऐसे छोटे-छोटे राष्ट्रो की खदबदाती हुई खिचडी है, जो मन्दी और महायुद्ध के असरो के पजे मे छटपटा रहे है, और अब हिटलर और उसके नात्सी-दल के डर के मारे जिनके होश बिलकुल गुम हो रहे हैं। मध्य-यूरोप के इन सारे देशो में, और खासकर आस्ट्रिया जैसे देशो मे जहाँ जर्मन लोग रहते हैं, नात्सी दलो का ज़ोर बढ रहा है। मगर नात्सी-विरोधी भावना भी ज़ोर पकड रही है, और नतीजा यह है कि दोनो मे टक्कर हो रही है। आजकल इस टक्कर का खास मैदान आस्ट्रिया हैं।

कुछ समय हुआ, शायद १९३२ ई० की बात है, मध्य-यूरोप और डेन्यूब के इलाके के तीन फ्रान्स-हिमायती राज्यो—चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और

---

[1] जर्मनी ने मार्च, १९३८ ई० मे आस्ट्रिया पर हमला करके उसे अपने में मिला लिया। हालतो से मजबूर होकर मुसोलिनी ने इसे मान तो लिया पर इस परिवर्तन का इटली ने कड़ा विरोध किया।

यूगोस्लाविया——ने अपना एक सघ या गुट्ट बनाया था। महायुद्ध के तस्फिये से इन तीनो राज्यो को फायदा हुआ था, इसलिए जो कुछ मिला था, उसे ये बचाना चाहते थे। इस इरादे से इन्होंने आपस मे मिलकर एक गुट्ट बना लिया, जो वास्तव मे युद्ध के लिए गठ-जोड था। यह 'लिटल आन्तान्त' यानी छोटे राष्ट्रो की मित्रता कहलाता है। इन तीन राज्यो का यह गुट्ट यूरोप मे एक तरह से एक नई शक्ति बन गया है, जो फ्रान्स-हिमायती और नात्सी-विरोधी है और इटली की नीति के भी खिलाफ है।

जर्मनी मे नात्सियो की शानदार कामयावी इस छोटे गुट्ट और पोलैण्ड के लिए खतरे की घण्टी थी, क्योकि नात्सी लोग सिर्फ वर्साई की सन्धि को ही नहीं पलटवाना चाहते थे (जर्मनी के सभी लोग यह चाहते थे,) बल्कि इस तरह की बातें करते थे, जिनसे युद्ध का अन्देशा बढता हुआ मालूम होता था। नात्सियो की भाषा और उनके दाँव-पेच इतने धमकी भरे और बेलगाम थे कि आस्ट्रिया, हगरी वगैरा राज्य, जो वर्साई की सन्धि मे रद्दो-बदल कराना चाहते थे, वे तक भी इनसे सहम गये। हिटलरशाही के सबब से और इसके डर के मारे, मध्य व पूर्व यूरोप के राज्य, यानी 'लिटल आन्तान्त', पोलैण्ड, आस्टिया, हगरी और बलकानी राज्य, जो एक-दूसरे से सख्त नफरत करते थे, वे सारे एक दूसरे के ज्यादा पास खिच आये। इनमे आपसी आर्थिक मेल की भी चर्चा चल रही है। जबसे जर्मनी मे नात्सी विस्फोट हुआ है तबसे ये देश, और खासकर पोलैण्ड व चेकोस्लोवाकिया, सोवियत रूस की तरफ भी ज्यादा दोस्ती दिखाने लगे हैं। कुछ सप्ताह पहले इन देशो और रूस के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने का जो क़रार हुआ था, वह भी इसी चीज़ का फल था।

मैं लिख चुका हूँ कि स्पेन मे इन्ही दिनो क्रान्ति हुई है। यह अभी जमकर बैठी नही है, और दूसरा युद्ध किनारे मँडराता हुआ मालूम होता है। यूरोप मे आजकल जो लडाई-झगडे और बैर-भाव फैले हुए हैं, और राष्ट्रो के मुकाबलेदार गुट्ट एक-दूसरे पर आँखें तरेर रहे हैं, इनकी वजह से यह हमे एक अजीब शतरज जैसा दिखाई देता है। इधर तो हथियार-बन्दी की चर्चाएँ चल रही हैं, और उधर हर जगह हथियार सज रहे हैं, और युद्ध व सत्यानास के भयानक हथियार ईजाद हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भी काफ़ी चर्चा है और अनगिनती सम्मेलन बुलाये जा चुके हैं। लेकिन ये सब बे-मतलब साबित हुए हैं। राष्ट्र-सघ खुद ही बुरी तरह असफल रहा है, और विश्व आर्थिक सम्मेलन मे मिलकर काम करने का जो आखिरी यत्न किया गया था, वह भी सफल नही हो पाया। एक सुझाव यह है कि यूरोप के सारे देश, या यो कहो कि रूस को निकालकर सारा यूरोप, आपस मे मिलकर एक किस्म का यूरोप का 'सयुक्त राज्य' बना लें। यह 'अखिल-यूरोप' आन्दोलन कहलाता है। यह सचमुच इस बात की कोशिश है कि एक तो सोवियत-विरोधी गुट्ट बन जाय, और दूसरे इतने ज्यादा

छोटे-छोटे राष्ट्रो की वजह मे जो अनगिनती कठिनाइयाँ और उलझनें पैदा हो रही हैं, वे हल हो जायँ। पर राष्ट्रीय वैर-भाव इतने ज़ोरदार हैं कि ऐसे सुझाव पर कोई ध्यान नही दे सकता।

सच तो यह है कि हरेक देश दूसरे देशो से दूर-ही-दूर वहता जा रहा है। मन्दी और अन्तर्राष्ट्रीय सकट ने सारे देशो को आर्थिक राष्ट्रीयता के रास्ते की तरफ़ धक्का देकर इस सिलसिले की रफ्तार और भी तेज़ कर दी है। हरेक देश रक्षात्मक चुगियो के ऊँचे परकोटे मे वैठ गया है, और जहाँतक हो सके विदेशी माल को अपने यहाँ न आने देने की कोशिशें करता है। कोई भी देश सारी विदेशी चीज़ो का आना तो रोक ही नही सकता। क्योंकि वह अपनी ज़रूरत की सारी चीज़ें पैदा नहीं क सकता। लेकिन कोशिश यह है कि हरेक देश अपनी ज़रूरत की तमाम चीज़ें पैदा क ले या तैयार कर ले। कुछ निहायत ज़रूरी चीज़ें ऐसी हो सकती हैं, जिन्हें वह अपन आवो-हवा मे पैदा न कर सकता हो। मसलन, इग्लैण्ड मे कपास या पटसन या चा या कहवा या दूसरी वहुत-सी ऐसी चीज़ें पैदा नही हो सकती, जिनके लिए कुछ गर्म आवो-हवा ज़रूरी होती है। इसका अर्थ यह है कि आगे चलकर व्यापार ज़्यादात उन्ही देशो के वीच रह जायगा, जिनकी आवो-हवा अलग-अलग तरह की है और जो इसलिए अलग-अलग तरह की चीज़े पैदा करते हैं और तैयार करते हैं। एक ही तरह की चीज़ें तैयार करनेवाले देशो के लिए एक-दूसरे का माल किसी काम का नहीं होगा। इसलिए व्यापार उत्तर और दक्षिण के वीच चलेगा, पूर्व और पश्चिम के वीच नही, क्योंकि आवो-हवा का फर्क उत्तर और दक्षिण के हिसाव से होता है। धरती के गर्म हिस्से का देश किसी औसत सर्द-गर्म देश से या ठण्डे देश से व्यापार कर सकेगा, पर गर्म हिस्से के दो देश या औसत सर्दी-गर्मी के दो देश आपस मे व्यापार नही कर सकेंगे। अलवत्ता इनके सिवा और भी वजहें हो सकती हैं, जैसे कि किसी देश की खनिज दौलत। पर मुख्य वात यह है कि उत्तर और दक्षिण की वात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू होगी। वाकी का सव व्यापार रक्षात्मक चुगियो की दीवारो से रुक जायगा।

आज इस तरफ़ झुकाव लाज़िमी दिखाई देता है। जव हरेक देश का काफ़ी उद्योगीकरण हो जाता है तो यह सूरत औद्योगिक क्रान्ति का आखिरी पहलू कहलाती है। यह सही है कि एशिया व अफ्रीका के उद्योगीकरण मे अभी वहुत देर है। अफ्रीका इतना पिछडा हुआ और गरीव है कि थोडा-वहुत तैयार माल भी नही खपा सकता। जिन तीन वडे देशो मे इस विदेशी माल की खपत जारी रह सकती है, वे भारत, चीन और साइवेरिया हैं। खपत की भरपूर गुजायशवाले इन तीन ज़वर्दस्त वाजारो पर वाहर के औद्योगिक देशो की लालची निगाहे पड रही हैं। चूँकि इन देशो का अपनी मामूली मण्डियो से नाता टूट गया है इसलिए अव ये अपने फालतू माल को ठिकाने

लगाने के लिए और अपने लडखडाते हुए पूंजीवाद को खपच्चियाँ लगाकर खडा रखने के लिए एशिया की ओर धावा मारने का विचार कर रहे हैं। पर अब एशिया को चूसना इतना आसान नही है। कुछ तो एशियाई उद्योगो के विकास की वजह से और कुछ अन्तर्राष्ट्रीय होड की वजह से। इग्लैण्ड भारत को अपने ही माल का बाज़ार बनाये रखना चाहता है, पर जापान और अमेरिका और जर्मनी भी इसे हथियाना चाहते हैं। यही हाल चीन का भी है, इसके अलावा वहाँ की मौजूदा हालत बहुत डाँवाडोल है और आवा-जाई के साधन भी ठीक नहीं हैं और इसीलिए व्यापार मे मुश्किलें होती हैं। सोवियत रूस को अगर उधार मिल जाय, और उससे नकद दाम न माँगे जायँ, तो वह बाहर के देशो से ढेरो माल खरीदने को तैयार है। पर कुछ समय बाद तो सोवियत-सघ अपनी ज़रूरत की करीब सारी चीज़ें बनाने लगेगा।

पिछले वर्षों मे सारा झुकाव राष्ट्रो के बीच ज्यादा आपसी तालमेल, ज्यादा अन्तर्राष्ट्रीयता की तरफ रहा है। हालाँकि अलग-अलग स्वाधीन राष्ट्रीय राज्य बने रहे, पर अन्तर्राष्ट्रीय ताल्लुको का और व्यापार का एक भारी-भरकम और पेचीदा ढाँचा खडा हो गया। यह सिलसिला इतना आगे बढा कि राष्ट्रीय राज्यो से और खुद राष्ट्रीयता से ही टकराने लगा। इससे आगे का कुदरती कदम यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे का रूप समाजवादी बना दिया जाता। अपने दिन पूरे होने के बाद पूंजीवाद उस हालत पर पहुँच गया था जब उसे समाजवाद के लिए अपनी जगह खाली कर देनी चाहिए थी। मगर अफसोस की बात है कि इस तरह अपने-आप कोई अपनी जगह से नही हट करता। चूंकि सकट का, और ढेर हो जाने का खतरा पूंजीवाद के सिर पर आ गया, इसलिए वह अपने परकोटे मे घुस गया और आपसी तालमेल की तरफ़ के झुकाव को उलटी दिशा मे मोडने की कोशिश करने लगा। आर्थिक राष्ट्रीयता इसीका फल है। पर सवाल यह है कि क्या यह सफल होगी, और अगर हो भी जाय तो कितने दिन तक?

सारी-की-सारी दुनिया आज एक अजीब गडबडघोटाला, और झगडो व डाहो की खतरनाक गुत्थी बनी हुई है। और नये झुकाव इन झगडो के दायरे को बढा ही रहे हैं। हरेक महाद्वीप मे, हरेक देश मे, निर्बल और सताये हुए लोग ज़िन्दगी के आराम की उन चीज़ो मे हिस्सा बाँटना चाहते हैं, जिनकी पैदावार मे खुद उनका ही हाथ है। वे अपने उस कर्ज़ का भुगतान माँगते हैं, जिसकी मियाद बहुत दिन हुए पूरी हो चुकी है। कही-कही तो वे यह माँग ज़ोर-शोर, सख्ती, और सरगर्मी से कर रहे है, कही ज़रा खमोशी से। इतने दिनो से उन्हे जिस बुरे बर्ताव और शोषण का शिकार बनाया गया है, उसपर नाराज़ होकर और बिगडकर अगर वे कोई ऐसी कार्रवाई करें, जो हमे अच्छी न लगे, तो क्या हम उन्हे बुरा कह सकते हैं? उनकी तरफ़ ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया और उन्हे हिकारत की निगाह से देखा गया,

किसीने उन्हे भले आदमियो मे बैठने की तमीज़ सिखाने की भी तकलीफ़ नहीं उठाई।

निर्बलो और सताये हुओ की इस उथल-पुथल से सब जगह के मिल्कियतवाले वर्ग दहशत खा रहे हैं, और इसे दबाने के लिए दल बनाकर इकट्ठे हो रहे हैं। बस, फासीवाद बढ रहा है और साम्राज्यशाही सारे विरोधियो को कुचल रही है। लोकतन्त्र और जनता की भलाई व अमानतदारी के लच्छेदार फिकरे पीछे हटते जा रहे हैं, और मिल्कियतवाले वर्गों व निहित स्वार्थों का नगा राज खूब ज़ाहिर होता जा रहा है। और कई जगह तो इसकी पूरी जीत भी होती दिखाई दे रही है। एक बहुत खरखरा युग, सख्त व हमलावर हिंसा का युग, सामने आ रहा है, क्योंकि सब जगह यह लडाई पुरानी और नई व्यवस्थाओ के बीच ज़िन्दगी-मौत की लडाई है। क्या यूरोप मे, क्या अमेरिका मे, और क्या भारत मे, सब जगह ऊँचे दाँव लगे हुए हैं, और पुराने ढग की हुकूमत का भाग्य डाँवाडोल हो रहा है, हालांकि अभी यह भले ही मज़बूती से जमी हुई हो। जबकि समूचे साम्राज्यवादी व पूंजीवादी ढाँचे की जड़ें तक हिल गई हैं, और यह इस लायक भी नही रहा है कि अपने कर्ज़े चुका सके या जो माँगें इसपर आ रही हैं, उन्हे पूरी कर सके, तो इक-तरफा सुधारो से आज की समस्याएँ न तो निबट सकती हैं और न हल हो सकती हैं।

आज ससार पर इन राजनीतिक, आर्थिक, नस्ली, वग़ैरा अनगिनती झगडो का बादल छाया हुआ है, और युद्ध की परछाईं इनके साथ-साथ चल रही है। कहते हैं कि इन झगडो मे सबसे बडा और सबसे बुनियादी झगडा वह है, जिसमे एक तरफ़ तो साम्राज्यवाद और फासीवाद है और दूसरी तरफ़ साम्यवाद। ये आज ससार-भर मे एक दूसरे के मुकाबले मे खडे हैं, और इनके बीच समझौते की कोई गुजायश नही है।

सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद, सघवाद, अराजकतावाद, साम्यवाद वग़ैरा कितने 'वाद' हैं। और इन सबके पीछे अवसरवाद लगा हुआ है। पर जो लोग आदर्शवाद चाहते हैं, उनके लिए यह भी है, यह आदर्शवाद कोरी दिमाग़ी उडानो का, या बे-लगाम खयालो का नही है, बल्कि एक महान् इन्सानी मकसद के लिए काम करने का है, यह वह महान् आदर्श है, जिसे हम असलियत का जामा पहनाना चाहते हैं। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने एक जगह लिखा है-

"ज़िन्दगी मे सच्चा आनन्द यही है कि मनुष्य अपने-आपको ऐसे मक़सद पर लगा दे, जिसे वह बहुत बडा मानता हो, घूरे पर फेंक दिया जाने से पहले अपनेको बिलकुल खपा दे, माँदगियो और शिकायतों का छोटा-सा सरगर्म और स्वार्थी ढेला बनने के बजाय और यह शिकायत करने के बजाय कि ससार उसे सुखी बनाने की तरफ ध्यान नही देना चाहता, अपनेको प्रकृति की एक शक्ति बना दे।"

इतिहास मे घुसकर हमने जो देख-भाल की है, उससे पता लगता है कि किस तरह ससार दिन-पर-दिन ज्यादा सघन होता गया है, और किस तरह उसके भाग नजदीक आ-आकर आपस मे एक-दूसरे पर निर्भर होते गये हैं। यह ससार सचमुच एक पूरी निकट की इकाई बन गया है, जिसके हरेक भाग का एक-दूसरे पर असर पडता है। अब राष्ट्रो के अलग-अलग इतिहास होना बिलकुल नामुमकिन है। हम उस अवस्था को पार कर गये हैं, और अब तो वही इतिहास उपयोगी हो सकता है, जो सारे ससार का समूचा इतिहास हो, जो तमाम राष्ट्रो से निकलनेवाले सूत्रो को जोडता हो, और जो इन राष्ट्रो को हरकत देनेवाली असली ताकतो को खोज निकालने का यत्न करता हो।

गुजरे जमानो मे भी, जबकि कितनी ही जाहिरी व दूसरी दीवारो की वजह से सारे राष्ट्र एक-दूसरे से कटे हुए थे, हम देख चुके हैं कि समान अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्महाद्वीपीय ताकतें किस तरह उन्हें ढालते रहते थे। इतिहास मे महान् व्यक्तियो का सदा महत्व रहा है, क्योकि न टलनेवाली हरेक नाजुक घडी मे इन्सान एक महत्त्वपूर्ण कारण रहता है, पर व्यक्तियो से भी महान् वे जबर्दस्त व कारगर ताकतें हैं, जो हमको इधर-उधर धकेलती हुई, अन्धे की तरह, और कभी-कभी तो बेरहमी के साथ, आगे बढती चली जाती हैं।

आज हमारा यही हाल है। करोडो इन्सानो को चलानेवाली जबर्दस्त ताकतें अपना काम कर रही हैं, और वे भूचाल की तरह, या इसी तरह की किसी और कुदरती उथल-पुथल की तरह, बढी चली जा रही हैं। हम चाहे जितनी कोशिश करें तो भी इन्हे रोक नही सकते। मगर फिर भी हम ससार के अपने-अपने छोटे-छोटे कोनो मे इनकी रफ्तार और दिशा को कुछ पलट सकते हैं। हम अपने-अपने अलग स्वभावो के मुताबिक इनका मुकाबला करते हैं, कुछ तो इनसे दहल जाते हैं, कुछ इनका स्वागत करते हैं, कुछ इनसे जूझने का यत्न करते हैं, कुछ लाचार होकर किस्मत की मार के आगे सिर झुका देते हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो तूफान पर सवार होने की और उसे कुछ काबू मे लाने और मोडने की कोशिश करते हैं। ये लोग एक जबर्दस्त प्रक्रिया मे कारगर हिस्सा लेने का आनन्द लूटने के लिए आनेवाले खतरो का खुशी से सामना करते हैं।

इस हलचल-भरी बीसवी सदी मे, जिसका युद्धो और क्रान्तियो से भरपूर एक-तिहाई जमाना बीत चुका है, हमारे लिए कोई चैन नही है। फासीवादियो का गुरु मुसोलिनी कहता है "समूचे ससार मे क्रान्ति मच रही है। घटनाएँ खुद ही जबर्दस्त ताकतें हैं, जो किसी कठोर इच्छा-शक्ति की भाँति हमे आगे धकेल रही हैं।" और महान् साम्यवादी त्रात्स्की भी हमे चेतावनी देता है कि इस सदी मे चैन और सुख की बहुत ज्यादा उम्मीद नही करनी चाहिए। वह कहता है "यह साफ

है कि जहाँतक मनुष्य-जाति को याद है, वहाँतक तो बीसवी सदी से ज्यादा उथल-पुथलवाली सदी कभी भी नही आई। मगर हमारे ज़माने का कोई व्यक्ति दूसरी सब चीज़ो से पहले चैन और सुख चाहता है, तो उसे ऐसे बुरे समय मे जन्म नही लेना चाहिए था।"

आज समूचा ससार जापे का दर्द सह रहा है, और युद्ध व क्रान्ति की गहरी छाया सब जगह पड रही है। अगर हम अपनी इस न टलनेवाली होनहार से बच नही सकते तो हमे इसका मुकाबला किस तरह करना चाहिए? क्या हम शुतुरमुर्ग[1] की तरह इसके डर से अपना सिर छिपाकर बैठ जायँ? या घटनाओ को ढालने मे दिलेरी से हिस्सा लें, और ज़रूरत पडे तो खतरे और जोखिमे भी उठाकर एक बडे और महान् हौसलाभरे काम का आनन्द उठावें और यह महसूस करे कि हमारे "कदम इतिहास के कदमो मे विलीन हो रहे हैं?"

हम सब, या कम-से-कम विचारवान लोग, बेताबी के साथ उस आनेवाले ज़माने को निहार रहे हैं, जो सामने आता जा रहा है और मौजूदा ज़माना बन रहा है। कुछ लोग तो उसके नतीजे की बाट उम्मीद के साथ जोह रहे हैं, तो कुछ डर के साथ। क्या ससार आज से ज्यादा अच्छा और सुखी होगा, जिसमे ज़िन्दगी को आराम देनेवाली चीज़ो पर सिर्फ गिने-चुने लोगो का ही कब्ज़ा नही होगा, बल्कि सारी जनता आज़ादी से उनका मज़ा लेगी। या यह ससार आज से भी ज्यादा कठोर होगा, जिसमे खूंख्वार और सत्यानासी युद्धो से आज की सभ्यता की बहुत-सी आसाइशें खत्म हो चुकी होगी? यही दो छोर हैं। इन दोनो बातो मे से एक ही बात हो सकती है। यह मुमकिन नही दिखाई देता कि कोई बीच का रास्ता कायम हो जाय।

धीरज से बाट देखने के साथ-साथ हमे वैसी दुनिया बनाने की भी कोशिश करनी चाहिए जैसी कि हम चाहते हैं। मनुष्य कुदरत के ढगो के आगे लाचारी से घुटने टेककर अपनी आदिम जगली हालत से आगे नही बढा है, बल्कि अक्सर उनका सामना करके और इन्सानी फायदे के लिए उनपर हावी होने का इरादा करके आगे बढा है।

'आज' इस तरह का है। 'कल' को बनाना तुम्हारे और तुम्हारी पीढी के लोगो के हाथ मे है, ससार-भर के उन करोडो लडको और लडकियो के हाथ मे है, जो बडे होकर इस 'कल' को बनाने मे हिस्सा लेने के लिए अपनेको तैयार कर रहे हैं।

[1] कहते हैं कि शुतुरमुर्ग जब किसी डर से भागते-भागते थक जाता है तो रेत मे अपना सिर छिपा लेता है।

१९६
आख़िरी पत्र

९ अगस्त, १९३३

प्यारी बेटी, हमारा काम ख़त्म हो चुका, इस लम्बी कहानी का छोर आ गया। अब मुझे आगे कुछ नहीं लिखना है, पर कुछ धूमधाम से ख़त्म करने की इच्छा मुझे एक पत्र और लिखने को उकसाती है—यही आख़िरी पत्र है।

वैसे भी इस सिलसिले को ख़त्म करने का वक़्त आ गया है, क्योंकि मेरी दो साल की क़ैद की मियाद पूरी होनेवाली है। आज से पूरे तैंतीस दिन बाद मैं रिहा हो जाऊँगा, बशर्ते कि इससे पहले ही न छोड़ दिया जाऊँ, क्योंकि जेलर कभी-कभी ऐसा करने की धमकी देता रहता है। पूरे दो साल अभी पूरे नहीं हुए हैं, पर जिस तरह नेकचलनवाले सब क़ैदियों को छूट मिला करती है, उसी तरह मुझे भी अपनी सज़ा में साढ़े तीन महीने की छूट मिली है। क्योंकि मैं नेकचलन क़ैदी माना गया हूँ, हालाँकि इस तारीफ़ के क़ाबिल बनने के लिए मैंने कुछ भी नहीं किया है। यों यह मेरी छठी सज़ा पूरी होगी है, और मैं फिर लम्बी-चौड़ी दुनिया में बाहर निकलूँगा। मगर किस मतलब के लिए? इससे क्या फ़ायदा होगा? जबकि मेरे ज़्यादातर दोस्त और साथी जेलों में पड़े हैं, और सारा देश मानो एक बहुत बड़ा जेलख़ाना बना हुआ है।

पत्रों का कितना बड़ा ढेर मैंने लिख डाला है! और स्वदेशी काग़ज़ पर मैंने कितनी सारी स्वदेशी स्याही बिखेर दी है! मेरे दिल में सवाल उठता है कि क्या यह सब फ़िज़ूल तो नहीं हुआ? क्या यह इतना सारा काग़ज़ और इतनी सारी स्याही तुम्हें कोई सन्देश देंगे और तुम्हारे लिए दिलचस्प होंगे? मैं जानता हूँ कि तुम इसका जवाब 'हाँ' में ही दोगी, क्योंकि तुम्हें लगेगा कि और किसी क़िस्म के जवाब से मुझे दुःख पहुँचेगा, और मेरी तरफ़ तुम्हारा इतना झुकाव है कि तुम यह जोखिम नहीं उठाओगी। तुम इनकी परवाह करो या न करो, पर इन दो लम्बे वर्षों में दिनों-दिन ये पत्र लिखते हुए मुझे जो आनन्द मिला है, वह तुम्हें अखर नहीं सकता। जब मैं यहाँ आया तब सर्दी का मौसम था। सर्दी के बाद हमारा चन्दरोज़ा बसन्त आया, जिसे गर्मियों की गर्मी ने बहुत जल्दी बदल डाला। और फिर, जब धरती झुलस गई और सूख गई और आदमियों व जानवरों का दम घुटने लगा, तब ताज़ा और ठण्डा बरसाती पानी लेकर घटाएँ आईं। इनके बाद पतझड़ आया और आसमान का चक्कर पूरा हो गया, और फिर दुबारा शुरू हो गया सर्दी, बसन्त, गर्मी और बरसात। यहाँ बैठे-बैठे मैंने तुम्हें पत्र लिखे हैं, और तुम्हें याद किया है, और

मौसमो को बदलते देखा है, और अपनी बारक की छत पर पडनेवाली बरसाती बूंदो की तडतडाहट सुनी है :

ओ वर्षा-जल की कोमल ध्वनि,
धरती पर औ' छत के ऊपर!
उत्सुक औ' प्यासे हृदयों को,
ओ वर्षा के संगीत मधुर।[1]

उन्नीसवी सदी के महान् अंग्रेज राजनीतिज्ञ बैन्जामिन डिज़रेली ने लिखा है—"देश-निकाला और कैद की सजा पाये हुए दूसरे लोग अगर ज़िन्दा निकल आयें, तो मायूस हो जाते हैं, साहित्यकार उन दिनो को अपनी ज़िन्दगी के सबसे मीठे दिनो मे गिनता है।" यह उन्नीसवी सदी के एक मशहूर डच कानूनदाँ और दार्शनिक यूगो ग्रोशिअस का ज़िक्र है, जिसे उम्र कैद की सजा हुई थी, पर जो दो साल बाद निकल भागा था। इसने जेल मे ये दो साल दर्शन और साहित्य की पुस्तकें रचने मे बिताये थे। कई मशहूर साहित्यकार जेल के पछी रह चुके हैं। इनमे सबसे नामी दो हैं ' एक तो 'डॉन क्विग्ज़ोट' का लेखक स्पेन-निवासी थर्वान्तेज़ (सर्वेण्टीज़) और दूसरा 'पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' का लेखक अंग्रेज़ जॉन बनियन।

मैं साहित्यकार नही हूँ, और न मैं यह कहने को तैयार हूँ कि जो बहुत साल मैंने जेलो मे बिताये हैं, वे मेरी ज़िन्दगी के सबसे मीठे साल हैं। पर मैं कह सकता हूँ कि इन सालो को गुज़ारने मे पढाई व लिखाई से मुझे बहुत बढिया मदद मिली है। मैं साहित्यकार नही हूँ, और इतिहासकार भी नही हूँ, तो सचमुच मैं हूँ क्या? इस सवाल का जवाब देना मेरे लिए कठिन है। मैं बहुत-सी बातो मे टाँग अडानेवाला रहा हूँ, कालेज मे मैंने विज्ञान शुरू किया, फिर कानून पढा, और फिर ज़िन्दगी मे दूसरे बहुत-से शौक पैदा करने के बाद, आखिर जेल-यात्रा का वह पेशा अपनाया, जो भारत मे खूब पसन्द किया जाता है और खूब चालू है।

इन पत्रो मे मैंने जो कुछ लिखा है, उसे तुम किसी विषय के बारे मे आखिरी सनद मत मान लेना। एक राजनीतिक आदमी हरेक विषय पर कुछ-न-कुछ कहना चाहता है, और जो कुछ वह दर-असल जानता है उससे बहुत ज्यादा जानने का ढोंग करता है। उसपर सावधानी की नज़र रखनी चाहिए। मेरे ये पत्र महज़ ऊपरी खाके हैं, जिन्हे एक बारीक डोरे से जोड दिया गया है। मैं सदियो के ऊपर और बहुत-सी बडी-बडी पूर्ण घटनाओ के ऊपर फुदकता हुआ बे-ठौर-ठिकाने घूमता रहा हूँ, और अगर कोई घटना मुझे दिलचस्प लगी तो उसपर मैंने काफी अर्से तक अपना तम्बू गाड दिया है। इन पत्रो मे तुम देखोगी कि मेरी पसन्दें और नापसन्दें काफी ज़ाहिर

[1] फ्रान्सीसी भाषा के एक पद्य का भावानुवाद।

हो गई हैं, और जेल में मेरा मिजाज भी कभी-कभी इसी तरह जाहिर हो गया है। इसलिए मैं नहीं चाहता कि तुम इन पत्रों की सारी बातों को ज्यों-की-त्यों मान लो। मेरे बयानों में यकीनन बहुत-सी भूलें हो सकती हैं। जेल में न तो पुस्तकालय होते हैं और न जानकारी देनेवाली पुस्तकें मौजूद होती हैं, इसलिए इतिहासी विषयों पर कलम चलाने के लिए यह जगह मौजूं नहीं होती। बारह साल हुए जबसे मैंने अपनी जेल-यात्राएं शुरू की हैं, तबसे जो बहुत-सी याददाश्तें मैंने लिख-लिखकर जमा कर ली हैं, उन्हींका मुझे ज्यादातर सहारा लेना पड़ा है। यहां मेरे पास बहुत-सी पुस्तकें आई भी हैं, पर वे आती-जाती रही हैं, क्योंकि मैं यहां कोई पुस्तकालय तो जमा कर नहीं सकता। इन पुस्तकों में मैंने बेशर्म होकर तथ्य और विचार उड़ा लिये हैं, इसलिए जो कुछ मैंने लिखा है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। कई बार शायद तुम्हें मेरे पत्रों की बातें समझने में कठिनाई लगे। उन हिस्सों पर सरसरी नजर डाल लेना और ज्यादा ध्यान मत देना। कभी-कभी मेरी बड़ी उम्र भी मुझपर हावी हो गई, और मैंने उस ढंग से लिख डाला जिस ढंग से मुझे लिखना नहीं चाहिए था।

मैंने तो तुम्हारे सामने एक कोरा खाका खींचा है। यह इतिहास नहीं है, हमारे लम्बे गुजरे जमाने की सिर्फ उड़ती-हुई-सी झांकियां हैं। अगर तुम्हारी इतिहास में रुचि हो, अगर तुम इतिहास के जादू को कुछ महसूस करो, तो ऐसी कई पुस्तकें मिल जायेंगी, जिनसे तुम्हें बीते युगों के उलझे हुए सूत्रों को सुलझाने में मदद मिलेगी। पर सिर्फ पुस्तकें पढ़ने से ज्यादा फायदा नहीं होगा। अगर तुम बीते जमाने की बातें जानना चाहती हो तो तुमको इसपर हमदर्दी और समझदारी के साथ गौर करना होगा। प्राचीन काल में रहनेवाले किसी व्यक्ति को समझने के लिए तुम्हें उसके आसपास के वातावरण को समझना होगा, उन हालतों को समझना होगा, जिसमें वह रहता था, और उसके दिमाग में भरे हुए विचारों को समझना होगा। अगर हम पुराने जमाने के लोगों के बारे में यह मान कर फैसला करने लगें कि मानो वे आजकल के जमाने में रहते हैं और हमारे ही ढंग में सोचते हैं, तो यह हमारे लिए नासमझी की बात होगी। आज गुलामी की वकालत कोई भी नहीं करता, मगर महान् अफलातून का यह दावा था कि इसके बिना काम चल नहीं सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका में गुलामी कायम रखने की जद्दो-जहद में जो बीसियों हजार आदमियों ने जानें दे दी थीं, उसे ज्यादा अरसा नहीं हुआ है। गुजरे जमाने को हम आज की जिन्दगी की तराजुओं में नहीं तोल सकते। यह बात सब खुशी से कबूल कर लेंगे। पर मौजूदा जमाने का गुजरे जमाने की तराजुओं पर तोलने की जो इतनी ही बेहूदा आदत है, उसे सब लोग कबूल नहीं करेंगे। विभिन्न मजहबों ने उन विश्वासों, श्रद्धाओं व दस्तूरों को पत्थर की लकीर बनाने में खास मदद दी है, जिनका शायद इन्हें जन्म देनेवाले युगों और देशों में कुछ उपयोग रहा हो, पर जिनका हमारे मौजूदा युग से जरा भी मेल नहीं बैठता।

इसलिए, अगर तुम पुराने इतिहास को हमदर्दी की निगाह से देखो तो उसकी सूखी हड्डियो मे माँस-मज्जा भर जायँगे, और तुम्हे हर युग और हर प्रदेश के जीते-जागते नर-नारियो और बालको का एक बडा भारी जुलूस-सा दिखाई देने लगेगा। ये नर-नारी हमसे जुदा किस्म के हैं, पर फिर भी बहुत-कुछ हमारे ही जैसे हैं, इनमे हमारी ही तरह की इन्सानी खूबियाँ और कमजोरियाँ है। इतिहास कोई जादू का तमाशा नही है, पर आँखें खोलकर देखनेवालो के लिए इसमे काफी जादू है।

इतिहास की चित्रशाला के ढेरो चित्र हमारे दिमाग में भरे हुए हैं। मिस्र, बेबीलन, निनेवा, पुरानी भारतीय सभ्यताएँ—आर्यों का भारत मे आना और यूरोप और एशिया मे फैलना—चीनी सस्कृति का अद्भुत लेखा—नोसास और यूनान—शाही रोम और विजैन्तियम—दो महाद्वीपो के आर-पार अरबो की शानदार कूच—भारतीय सस्कृति का फिर जागना और गिरना—अमेरिका की अनजानी 'मय' और 'अजटेक' सभ्यताएँ—मँगोलो का बडे-बडे देश जीतना—यूरोप के मध्य-युग और इनके गोथिक शैली के अद्भुत गिरजाघर—भारत मे इस्लाम का आना और मुगल साम्राज्य—पश्चिमी यूरोप मे विद्या और कला का रिनेसाँ—अमेरिका की और पूर्वी समुद्री रास्तो की खोज—पूर्व मे पश्चिम की हमलावर कारंवाइयो की शुरुआत—बडी-बडी मशीनो का आविष्कार और पूँजी-वाद का विकास—उद्योगवाद, और यूरोपीय हुकूमत और साम्राज्यशाही का फैलना और आज के जमाने मे विज्ञान के अद्भुत चमत्कार।

बडे-बडे साम्राज्य उठे और गिरे हैं और दुनिया हजारो वर्षों तक इन्हे भूली रही है। पर रेत के नीचे दबे हुए इनके खण्डहरो को अब खोजियो ने धीरज से फिर खोद निकाला है। मगर बहुत-से विचार, बहुत-से गुमान, इन साम्राज्यो के बाद भी बच गये हैं, और इनसे ज्यादा मजबूत तथा ज्यादा टिकाऊ साबित हुए हैं।

मेरी कोलरिज का एक गीत है, जिसका अनुवाद इस तरह है

"गिर गया है मिस्र का ऐश्वर्य होकर चूर-चूर
वह विचारों के महा गहरे गढ़े मे है पडा,
हो गया यूनान का और ट्राय नगरी का पतन,
छिन गया है ताज वैभवपूर्ण नगरी रोम का,
और मिट्टी मे मिली है शान वेनिस शहर की।
किन्तु इनके बाल-बच्चे देखते थे स्वप्न जो—
व्यर्थ-से, उड़ते-हुए-से, वास्तविकता-हीन-से,
और क्षण-भगुर जो छाया की तरह थे दीखते,
औ' हवा की भाँति जो निस्सार थे लगते उन्हें,
बस वही सपने रहे हैं शेष अबतक भी यहाँ।"

बीता हुआ जमाना हमारे लिए बहुत-से तोहफे छोड गया है, सच तो यह है कि सस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, या सत्य के कुछ पहलुओ की जानकारी की शक्ल मे जो कुछ आज हमारे पास है, वह सब दूर के गुज़रे ज़माने या नज़दीक के गुज़रे ज़माने की ही देन है। इसलिए, अगर हम गुज़रे ज़माने के इस अहसान को मानते हैं तो यह ठीक ही है। पर हमारा फ़र्ज़ या अहसान मानना सिर्फ बीते ज़माने के ही साथ खत्म नही हो जाता। आयन्दा के लिए हमारा कुछ फर्ज है, और यह अहसान शायद उस अहसान से भी बडा है, जो हमे गुज़रे ज़माने को चुकाना है। क्योकि गुज़रा ज़माना तो गुज़र ही चुका और खत्म हो गया, हम उसे बदल नही सकते। पर आगे का वक्त तो अभी आनेवाला है, और शायद उसे हम कुछ बना सकें। यदि गुज़रे ज़माने ने सत्य का कुछ हिस्सा हमे दिया है, तो आयन्दा वक्त मे भी सत्य के बहुत-से पहलू छिपे हुए हैं, और वह हमे उन्हे ढूंढ निकालने को बुला रहा है। लेकिन अक्सर गुज़रे ज़माने को आयन्दा वक्त से डाह होती है, और वह हमे बहुत मज़बूत शिकजे मे जकडे रहता है, और आयन्दा वक्त का सामना करने के लिए और इसकी तरफ बढने के लिए हमे गुज़रे ज़माने से लडना पडता है।

कहा जाता है कि इतिहास हमे बहुत सबक सिखाता है। दूसरी कहावत यह भी है कि इतिहास अपने-आपको कभी नही दोहराता। ये दोनो ही बातें सही हैं, क्योकि अन्धे होकर इतिहास की नकल करने से, या यह इन्तज़ार करने से कि वह अपने-आपको दोहरायेगा या अचल पडा रहेगा, हम उससे कोई बात नही सीख सकते। पर हम इतिहास के पीछे झाँककर और उसे हरकत देनेवाली ताकतो को समझकर ही उससे कुछ सीख सकते हैं। मगर फिर भी हमे सीधा जवाब शायद ही कभी मिलता है। कार्ल मार्क्स ने कहा है "इतिहास के पास तो पुराने सवालो के जवाब देने का सिर्फ एक ही तरीका है कि वह नये सवाल उठाता रहता है।"

पुराना ज़माना श्रद्धा का, अन्धी और निर्विवाद श्रद्धा का, ज़माना था। पिछली शताब्दियो के अद्भुत मन्दिर और मस्जिदें और गिरजे कभी खडे नही हो सकते थे, अगर कारीगरो और मिस्त्रियो और आम लोगो पर श्रद्धा छाई न होती। जिन पत्थरो को उन्होंने भक्ति-भाव से एक-पर-एक चुना या सुन्दर बन्दिशो मे तराशा, वे ही इस श्रद्धा को बता रहे हैं। पुराने मन्दिरो के शिखर, पतली-पतली सुर्रियोवाली मस्जिदें, गोथिक शैली के गिरजे—जो सारे-के-सारे भक्ति की आश्चर्यजनक गहराई के साथ ऊपर को इशारा कर रहे हैं, मानो ऊपरवाले आकाश को पत्थर या सगमरमर के रूप मे पूजा भेंट कर रहे हो—आज भी हमारे अन्दर थरथराहट पैदा कर देते हैं, भले ही हमारे दिलो मे वह पुरानी श्रद्धा न हो जिसके ये पुतले हैं। उस श्रद्धा के दिन अब नही रहे हैं, और उनके साथ ही पत्थर मे चमत्कार पैदा करनेवाला वह दर्द भी नही रहा है। आजकल भी हज़ारो मन्दिर और मस्जिदें और गिरजे बनते

रहते हैं, पर इनमे वह आत्मा नही है, जिसने मध्य-युगो मे इन्हे जानदार बना दिया था। इनमे और हमारे जमाने का नमूना बतानेवाले व्यवसायी दफ्तरो मे, कोई फर्क नही है।

हमारा जमाना दूसरी ही किस्म का है। आज तो खाम-खयाली दूर होने का, हर बात मे शक करने का, अविश्वास का और बहस का युग है। अब हम बहुत-से पुराने यकीनो और दस्तूरो को कबूल नही कर सकते, क्या एशिया, क्या यूरोप और क्या अमेरिका, सब जगह लोगो की श्रद्धा इनपर से हट गई है। इसलिए हम नये रास्ते खोजते हैं, और सत्य के ऐसे पहलू खोजते हैं, जो हमारे चौगिर्द से ज्यादा तालमेल रखते हो। हम आपस मे सवाल-जवाब और बहस और झगडे करते हैं, और अनगिनती 'वाद' और फिलासफियाँ निकालते रहते है। सुकरात के जमाने की तरह हम लोग भी सवाल-जवाब के युग मे रह रहे हैं, मगर सवाल-जवाब की यह आदत एथेन्स जैसे शहर मे ही बन्द नही है, यह पूरी दुनिया मे फैली हुई है।

दुनिया की गैर-इन्साफियाँ, रज और हैवानियत, कभी-कभी हमे सताते हैं और हमारा मन खराब कर देते हैं, और हमे बाहर निकलने का रास्ता नही दिखाई देता। मैथ्यू आर्नोल्ड[1] की तरह हम महसूस करते हैं कि इस ससार मे कोई आसरा नही है, और हमारे लिए सिवा इसके कोई चारा नही है कि आपस मे सच्चाई का बर्ताव करें

"क्योंकि यह संसार, जो है दीखता
फैला हुआ सन्मुख हमारे, स्वप्न की दुनिया सरीखा,
जो विविध इतना मनोरम और नूतन
पर न सचमुच हर्ष है इसमें, न सचमुच प्रेम है, न प्रकाश है,
न कहीं सुनिश्चितता है, अथवा शान्ति अथवा कष्ट का प्रतिकार ही है,
और हम बैठे हैं मानो तमाच्छादित भूमि पर,
जिसमे भरा है घोर कोलाहल लडाई और भगदड की पुकारो का,
जहाँ नादान सेनाएँ अन्धेरी रात मे टकरा रही हैं।"[2]

मगर फिर भी, अगर हम ऐसा उदासीभरा रुख अपना लें, तो कहना होगा कि हमने जिन्दगी से या इतिहास से सही सबक नही सीखा है। क्योकि इतिहास हमें विकास की और तरक्की की और मनुष्य के लिए आगे बढ सकने की बातें

---

[1] इंग्लैण्ड का एक प्रसिद्ध कवि, जिसका 'लाइट ऑफ एशिया' नामक काव्य बहुत मशहूर है।

[2] मैथ्यू आर्नोल्ड-रचित एक पद्य का भावानुवाद।

सिखाता है। जिन्दगी भरपूर और रग-बिरगी है, और हालाँकि इसमे बहुत दलदलें और डाबर और कीचड की जगहे हैं, पर दूसरी तरफ इसमे महासागर और पहाड, और बर्फ की नदियाँ, और अद्‌भुत तारो-भरी रातें (खासकर जेल मे!) हैं, और परिवार की व दोस्तो की मोहब्बत है, और एक ही मकसद की खातिर काम करनेवालो का साथ है, और सगीत है और पुस्तकें हैं और विचारो का साम्राज्य है। इसलिए हममे से हरेक को यह कहना चाहिए।

"हे प्रभो, यद्यपि रहा मैं भूमि पर, हूँ भूमि की सन्तान मैं,
किन्तु तारा-जटित नभ ने पिता बन पाला मुझे।"

दुनिया की सुन्दर चीज़ो को तारीफ करना और विचार और खयाली दुनिया मे रहना आसान है। पर इस तरह दूसरो के रजो-गम से कतराने की कोशिश करना और इस बात की फिक्र न करना कि दूसरो पर क्या बीतती है, न तो हौसले की निशानी है और न आपसी हमदर्दी की। विचार के तभी कोई मानी हो सकते हैं जब उसका नतीजा कर्म हो। हमारे दोस्त रोम्या रोला[1] ने कहा है "कर्म ही विचार का अजाम है। जो विचार कर्म की तरफ न देखे वह सब-का-सब नाकाम और धोखेबाज़ी है। इसलिए, अगर हम विचार के दास हैं तो हमे कर्म का भी दास होना चाहिए।"

लोग-बाग कर्म से अक्सर इसलिए कतराते हैं कि अजामो से डरते हैं, क्योकि कर्म का मतलब है जोखिम और खतरा। लेकिन डर दूर से ही भयकर दिखाई देता है। नजदीक से देखा जाय तो इतना बुरा नही होता। और बहुत बार तो डर ऐसा सुहावना साथी बन जाता है, जो ज़िन्दगी की लज्ज़त और खुशी बढाता है। ज़िन्दगी का मामूली दौर कभी-कभी नीरस हो जाता है, क्योकि हम यह सोच लेते हैं कि दुनिया की बातें अपने-आप होती रहती हैं, और उनमे मज़ा नही लेते। लेकिन अगर हमे ज़िन्दगी की इन्ही मामूली चीज़ो के बिना कुछ दिन रहना पडे, तो हम उनकी कितनी कद्र करने लगते है। बहुत-से लोग ऊँचे-ऊँचे पहाडो पर चढते हैं, और चढाई के आनन्द के लिए, और मुश्किल पार करने व खतरा उठाने से हासिल होनेवाली खुशी के लिए, ज़िन्दगी व तन-बदन को जोखिम मे डालते हैं। और, उनके चारो तरफ जो खतरा मडराता रहता है, उसकी वजह से उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ पैनी हो जाती हैं और अधर लटकी हुई ज़िन्दगी का मज़ा गहरा हो जाता है।

हम सबके सामने पसन्द करने के लिए दो रास्ते है। या तो हम उन निचली घाटियो मे पडे रहे, जो दम घोटनेवाले धुन्धो और कोहरो से ढँकी रहती हैं पर जो कुछ हद तक हमारे तन की हिफाज़त करती है। या हम जोखिम उठाकर और अपने

[1] नोबल पुरस्कार-विजेता फ्रान्सीसी लेखक और विचारक। इनकी १९४४ ई० में मृत्यु हो गई।

साथियो को खतरे मे डालकर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ें, ताकि ऊपर की साफ हवा में साँस ले सकें, दूर-दूर के नजारो का आनन्द उठा सकें, और उगते हुए सूर्य का स्वागत कर सकें।

इस पत्र मे मैंने कवियो और दूसरे लोगो की बहुत सारी हिदायतें या रचनाओ की बानगियाँ दी हैं। खत्म करने से पहले एक और देना चाहता हूँ। यह 'गीताञ्जलि' की रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रची हुई कविता या प्रार्थना है।

"स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे! जगे-जगे देश यह हमारा,
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर, स्वतन्त्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमे,
जहाँ घरो की न भित्तियाँ ये करें जगत खण्ड-खण्ड न्यारा,
सदैव ही सत्य के तले से जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढ़ा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा,
छिपे भटककर सुबुद्धि-धारा न रूढ़ियों के कुरुग्न मरु मे
विशाल-विस्तृत विचार-कृति में लगे जहाँ चित्त, पा सहारा,
स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे-जगे देश यह हमारा।"[1]

प्यारी बेटी, मेरा काम पूरा हो गया और यह आखिरी पत्र अब पूरा होता है। आखिरी पत्र? नही, कभी नही। मैं तो तुम्हें न जाने कितने पत्र और लिखूंगा। पर यह सिलसिला खत्म होता है, इसलिए—

तमाम शुद!

---

[1] 'गीताञ्जलि' की कविता का यह पद्यानुवाद स्व० डॉ० सुधीन्द्र ने किया था।

उपसंहार—बाद की बातें

अरबसागर,
१४ नवम्बर, १९३८

सवा-पाँच साल हुए तब मैंने देहरादून की जिला-जेल की कोठरी से इस माला का आखिरी पत्र तुम्हे लिखा था। मेरी दो साल कैद की सजा पूरी होनेवाली थी, और अकेली जिन्दगी के इस लम्बे अर्से मे (हालाँकि मन मे तो तुम हमेशा मेरे साथ रहती थी) पत्रो का जो बडा भारी ढेर मैंने तुम्हें लिखा था, उसे उठाकर रख दिया था और हलचल व हरकतभरी बाहरी दुनिया मे निकलने के लिए अपने दिमाग को तैयार कर लिया था। यह छुटकारा बहुत जल्दी हो गया था, पर पाँच ही महीने बाद मैं दो साल की दूसरी सजा भुगतने के लिए जेल के उसी जाने-पहचाने वातावरण मे फिर जा पहुँचा था। मैंने फिर कलम उठाई थी और इस बार एक ज्यादा खानगी कहानी[1] लिखी थी।

मैं फिर बाहर निकला, और हम-तुम दोनो को रज मे शरीक होना पडा—ऐसा रज जो तभीसे छाया की तरह मेरी जिन्दगी के साथ लगा हुआ है। लेकिन रज व झगडे-टण्टो की इस दुनिया मे, जिसे झँझोडनेवाली कशमकशें हमारी पूरी ताकत का तकाजा करती हैं, व्यक्तिगत आपदाओ की कोई गिनती नही है। बस, हम फिर जुदा हो गये, तुम पढ़ाई के सायादार रास्तो पर चली गई और मैं लड़ाई-झगडो के शोर-गुल और हुल्लड मे पड गया।

युद्ध और मुसीबतो का बोझ लिये हुए पाँच साल से ज्यादा बीत चुके हैं, और हमारी आज की दुनिया और हमारे सपनो की दुनिया के बीच फर्क बढ़ता जाता है। हमारा पीछा करनेवाली बुराई की गला-घोटू पकड से कभी-कभी तो आशा तक की भी साँस रुकने लगती है। मगर जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूँ, मेरे सामने अपना सारा जोर और सौन्दर्य लिये हुए अरब सागर फैला हुआ है—सपने की तरह खामोश और रुपहली चाँदनी मे झिलमिलाता हुआ।

इस नये अध्याय मे मुझे इन पाँच वर्षों की कहानी बयान करनी है, क्योंकि ये पत्र अब एक नये रूप मे छपे जा रहे हैं, और प्रकाशक चाहते हैं कि इनमे आज तक की बातें शामिल कर दी जायँ। यह कठिन काम है, क्योंकि इस दौरान

---

[1] अपनी आत्मकथा—'मेरी कहानी'—से मतलब है। यह हिन्दी में 'सस्ता-साहित्य-मण्डल' से निकली है।

इतनी ज्यादा घटनाएँ घटी है कि अगर मैं इनके बारे मे लिखने बैठूं और मेरे पास वक़्त हो तो मैं सारी सीमा को तोड दूं और एक और पुस्तक ही लिख डालूं। बडी-बडी घटनाओ का जिक्र तक भी बहुत लम्बा और बोझिल हो जायगा। इसलिए मैं इन घटनाओ का कोरा खाका ही तुम्हे बतलाना चाहता हूँ। पिछले पत्रो के अन्त मे मैंने कुछ अधिक जानकारी देनेवाले नोट जोड दिये हैं, और अब हम इन वर्षों पर कुछ सरसरी निगाह डालेंगे।

आखिरी पत्रो मे मैंने तुम्हें बताया था कि दुनिया मे सारी बातें एक-दूसरी से उलटी हो रही हैं। आपसी लाग-डाट चल रही है, फासीवाद व नात्सीवाद पनप रहे हैं, और युद्ध का अन्देशा बढ रहा है। इन पाँच वर्षों मे ये लाग-डाट और वैर-विरोध गहरे हो गये हैं, और हालांकि विश्व-युद्ध अभी टल गया है, पर अफ्रीका मे, यूरोप मे और एशिया के दूर-पूर्व मे बडे-बडे और भयकर युद्ध हो चुके हैं। हर साल, और कभी-कभी हर महीने, नई-नई आक्रामक कार्रवाइयो और दिल दहलानेवाली घटनाओ की चर्चाएँ सुनाई देती हैं। ससार दिन-पर-दिन ज्यादा बिखरता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का यह हाल है कि सब अपने-अपने रास्ते चल रहे हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय ताल-मेल के राष्ट्र-सघ जैसे यत्न बुरी तरह नाकामयाब होकर खत्म हो गये हैं। हथियार-बन्दी की चर्चा पुरानी हो गई है, और हरेक राष्ट्र अपनी पूरी शक्ति से, दिन-रात, सरगर्मी के साथ हथियारो से लैस हो रहा है। ससार पर डर छाया हुआ है, और आक्रामक और विजयी नात्सीवाद और फ़ासीवाद से पिटा हुआ यूरोप तेजी से गिर रहा है और वह बर्बरता के रास्ते पर जा रहा है।

१९१४-१८ ई० मे महायुद्ध के पीछे जो मुद्दे थे, उनका खुलासा हम पिछले पत्रो मे कर चुके है। महायुद्ध आया और उसमे से वर्साई की सन्धि और राष्ट्र-सघ का इकरारनामा पैदा हुए। पर पुराने मसले हल नही हुए, और कई नये मसले पैदा हो गये, जैसे, हर्जाने, युद्ध के कर्ज, हथियार-बन्दी, सयुक्त बचाव, आर्थिक सकट, और चारों तरफ बेकारी। सुलह से पैदा होनेवाले मसलो के पीछे वे जिन्दा समाजी मसले फिर भी बाकी रहे, जिन्होंने दुनिया का सन्तुलन बिगाड दिया था। सोवियत-सघ मे नई समाजी ताकतों की जीत साबित हो गई थी, और जबर्दस्त कठिनाइयों व दुनिया-भर के विरोध के बावजूद वे एक नई दुनिया तैयार करने की कोशिश कर रही थीं; दूसरे देशो मे गहरे समाजी परिवर्तन हो रहे थे। पर इन्हे निकलने का रास्ता नहीं मिलता था, और मौजूदा राजनीतिक व आर्थिक ढाँचा इनको आगे बढने से रोक रहा था। पैदावार बढने से ससार मे सब चीजो की बहुतायत हो गई, युगो का सपना पूरा हो गया। पर जिस गुलाम को सदियो से बेडियो की आदत पडी हुई है, वह आजादी से घबराता है। और बेवकूफ मनुष्य-जाति चीजो की कमी की इतनी आदी हो गई है कि वह दूसरी बातें सोच ही नही सकती। इसलिए नई दौलत

जान-बूझकर फेंक दी जाती है, कम की जाती है, और एक सीमा मे बाँध दी जाती है, और बेकारी और मुसीबत सचमुच पहले से भी ज्यादा बढ जाती हैं।

सम्मेलन-पर-सम्मेलन बुलाये गए, और इस हैरतभरी उलटबाँसी को हल करने के लिए और अमन कायम करने के लिए ससार-भर के राष्ट्र एक जगह जमा हुए। वाशिंगटन-करार, और लोकार्नो-करार और केलॉग-करार, वगैरा कई करार और समझौते और गठ-बन्धन हुए, पर बुनियादी समस्याओ को छुआ तक नही गया, और कठोर असलियत का हाथ लगते ही ये समझौते और करार एकदम गायब हो गये, और यूरोप की किस्मत का फैसला करने के लिए सिर्फ नगी तलवार बाकी रह गई। वर्साई की सन्धि मर चुकी, यूरोप का नकशा फिर बदल गया है और दुनिया का नये सिरे से बँटवारा हो रहा है। युद्ध के कर्ज़ो का सवाल गायब हो गया है और सबसे ज्यादा मालदार देशो ने इन्हें न चुकाने का फैसला कर लिया है।

बस, हम १९१४ ई० और उससे भी पहले के युद्ध-पहले युग मे वापस आ जाते हैं। इस युग की सारी समस्याएँ और सारे झगडे बाद मे होनेवाली घटनाओ की वजह से सौ-गुना गहरे हो गये हैं। ढहता हुआ पूंजीवादी ढाँचा आर्थिक राष्ट्रीयता लाता है, और बडे-बडे एकाधिकारो को भी बढाता है। यह हमलावर और खून का प्यासा बनता जाता है, और पार्लमेण्टी ढग के लोकतन्त्र तक को बर्दाश्त नहीं कर सकता। फासीवाद और नात्सीवाद अपनी सारी नगी पशुता लेकर उठ खडे होते हैं, और युद्ध को ही अपनी सारी नीति का मकसद और निशाना बनाते है। इसी बीच सोवियत प्रदेशो मे एक बडी नई शक्ति उठती है, जो पुरानी व्यवस्था के लिए लगातार चुनौती, और साम्राज्यवाद व फासीवाद दोनो के लिए एक-जैसी ज़ोरदार रुकावट बन जाती है।

हम क्रान्ति के युग मे रह रहे है। यह क्रान्ति १९१४ ई० मे, जब महायुद्ध छिडा था, तब शुरू हुई थी, और ससार को सब जगह रगडे-झगडो की सख्त पीडा मे डालती हुई बराबर चली आ रही है। डेढ सौ वर्ष पहले फ्रान्सीसी क्रान्ति ने धीरे-धीरे राजनीतिक बराबरी का युग शुरू कर दिया था, पर अब ज़माना बदल गया है, और आज सिर्फ यह बराबरी काफी नही है। अब लोकतन्त्र का दायरा इतना बढाना होगा कि इसमे आर्थिक बराबरी भी शामिल हो सके। यही वह क्रान्ति है, जिसमे होकर हम सब गुज़र रहे हैं। यह क्रान्ति आर्थिक बराबरी कायम करने के लिए है, ताकि लोकतन्त्र सही अर्थों मे कायम हो और हम लोग विज्ञान और टेकनोलॉजी की तरक्की के साथ-साथ चल सके।

यह बराबरी साम्राज्यवाद या पूंजीवाद के साथ मेल नही खाती, क्योकि ये असमानता और राष्ट्र या वर्ग के शोषण पर टिके हुए हैं। चुनाँचे इस शोषण से फायदा उठानेवाले समानता को रोकते हैं, और जब लडाई ज़ोर पकडती है, तब राजनीतिक

बराबरी और पार्लमेण्टी लोकतन्त्र के खयाल तक को धता बता दी जाती है। यही फासीवाद है, जो कई रास्तो से हमे मध्य-युगो मे वापस ले जाता है। यह 'नस्ल' की हुकूमत को ऊँचा दर्जा देता है, और निरकुश बादशाह के दैवी अधिकार की जगह इसमे एक नेता का दैवी अधिकार रहता है, जिसके हाथो मे सारी ताकत रहती है। पिछले पाँच वर्षों मे फासीवाद की तरक्की ने, और हर किस्म के लोकतन्त्री उसूलो और आज़ादी व सभ्यता के खयालो पर इसके हमले ने, आज लोकतन्त्र की हिफाजत का सवाल बडा जरूरी बना दिया है। दुनिया मे होनेवाली टक्कर आज एक तरफ साम्यवाद व समाजवाद व दूसरी तरफ फासीवाद के बीच नही है। यह टक्कर तो लोकतन्त्र और फासीवाद के बीच है, और लोकतन्त्र की सारी सिद्धान्ती ताकतें कन्धे भिडाकर फासी-विरोधी बनती जाती हैं। आज स्पेन इसकी सबसे बढ़िया मिसाल है।

पर इस लोकतन्त्र के पीछे लोकतन्त्र को बढाने का खयाल लाज़िमी तौर पर मौजूद है। और इसीके डर से सब जगह के प्रतिगामी लोग अपनी हमदर्दी और तावेदारी फासीवाद को दे रहे हैं, हालाँकि ऊपर से वे लोकतन्त्र के भक्त बनते हैं। फ़ासीवादी शक्तियो का रवैय्या बिलकुल साफ है और उनके मकसदो या उनकी नीति के बारे मे शक की कोई गुजायश नही है। मगर हालात को बनाने-बिगाडनेवाला सबब तो लोकतन्त्री कहलानेवाली शक्तियो का, और खासकर इग्लैण्ड का, रवैय्या है। ब्रिटिश सरकार ने शुरू से अबतक एशिया, अफ्रीका और यूरोप मे प्रतिगामी खेल खेला है, और फासीवाद व नात्सीवाद को हर तरह बढावा दिया है। सच्चे लोकतन्त्र की तरक्की का उसे इतना ज्यादा डर है, और फासीवाद के नेताओ के साथ उसकी इतनी ज्यादा वर्ग-सहानुभूति है कि उसने ब्रिटिश साम्राज्य की हिफाजत को खतरे मे डालकर भी फासीवाद की हिमायत की है। इसलिए अगर फासीवाद ज़ोर पकड गया है और ससार पर हावी होने लगा है, तो इसकी ज्यादातर नेकनामी ब्रिटिश सरकार को दी जानी चाहिए। सयुक्त राज्य अमेरिका ने, जिसमे लोकतन्त्र की भावना ज्यादा पैनी है, फासीवादियो की हमलावर कार्रवाइयाँ रोकने के लिए दूसरी शक्तियो की तरफ कई बार सहयोग का हाथ बढाया, पर इग्लैण्ड ने हाथ मिलाने से इन्कार कर दिया। फ्रान्स तो लन्दन शहर और इग्लैण्ड की विदेशी नीति का इतनी बुरी तरह दामनगीर हो गया है कि वह किसी स्वाधीन नीति पर अमल करने की हिम्मत ही नही कर सकता।

मजूरियो से ताल्लुक रखनेवाले मामलो मे भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलनो में इग्लैण्ड का रुख बराबर प्रतिगामी रहा है। जून, १९३८ ई० मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सस्था ने कपडा-उद्योग के लिए सप्ताह मे चालीस घण्टे काम का एक इकरारनामा मजूर किया था। यह चीज इग्लैण्ड के विरोध के बावजूद हुई थी। यहाँतक

कि ब्रिटिश उपनिवेशो ने भी इग्लैण्ड का साथ छोडकर अमेरिका के प्रस्ताव का समर्थन किया था। पर ब्रिटिश सरकार के नामजद भारतीय प्रतिनिधि ने तो इग्लैण्ड का ही साथ दिया। अमेरिकी प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्यो ने, जिनमे कारखानेदारो के और सरकार के प्रतिनिधि भी शामिल थे, कहा था कि "जबतक वे जेनेवा नहीं आये थे, तबतक उन्हें यह खयाल नही था कि ब्रिटिश सरकार इतनी प्रतिगामी है।" एक प्रतिनिधि ने यह भी कहा था—"इग्लैण्ड तो प्रतिगामी बर्छी की नोक बन गया है।

राष्ट्र-सघ, अपनी सारी कमजोरियो के होते हुए भी, अन्तर्राष्ट्रीय खयाल का पुतला था, और उसके इकरारनामे मे हमलावर कार्रवाइयो के लिए सजाएँ रक्खी गई थी। जब जापान ने मचूरिया पर धावा किया था तब राष्ट्र-सघ कोई कार्रवाई करने मे नाकामयाब रहा (सिवा इसके कि उसने एक जाँच-कमीशन मुकर्रर कर दिया और बाद मे इस आक्रामक कार्रवाई की बुराई कर दी)। ब्रिटिश सरकार ने तो इस हौसलेबाजी के लिए जापान को सचमुच बढ़ावा दिया था। और ब्रिटिश सरकार ने तभी से सही दिशा मे कुछ छोटी-छोटी 'भूलो' के सिवाय राष्ट्र-सघ को अँगूठा दिखाने और उसे कमजोर बनाने की नीति अपनाई है। हमले की मानी हुई नीतिवाले नात्सीवाद का उठना राष्ट्र-सघ के लिए सीधी चुनौती थी, पर इग्लैण्ड ने, और कुछ हद तक फ्रान्स ने, इस चुनौती के आगे घुटने टेक दिये, और राष्ट्र-सघ को धूल मे मिल जाने दिया। फासीवादी शक्तियो ने राष्ट्र-सघ को धता बताई—जर्मनी ने अक्तूबर, १९३३ ई० मे और जापान व इटली ने कुछ दिन बाद। सितम्बर, १९३४ ई० मे सोवियत-सघ राष्ट्र-सघ मे शामिल हो गया, और इससे राष्ट्र-सघ मे कुछ नई जान पड गई। नात्सी जर्मनी की दहशत से फ्रान्स ने तो सोवियत से गठ-जोड कर लिया, मगर इग्लैण्ड ने, राष्ट्र-सघ के इकरारनामे के आधार पर भी सोवियत-सघ से सहयोग करने के बजाय, जर्मनी का साथ देना ज्यादा पसन्द किया। हमले की हरेक सफल कार्रवाई से फासीवादी शक्तियो के हौसले बढ गये, और उन्हें भरोसा हो गया कि वे राष्ट्र-सघ को मजे से अँगूठा दिखा सकते थे, क्योकि उन्होंने समझ लिया था कि ब्रिटिश सरकार कभी उनके खिलाफ जानेवाली नही है।

फासीवादी शक्तियो के साथ ब्रिटिश सरकार का यह बढता हुआ सहयोग ही उन घटनाओ का बहुत-कुछ खुलासा कर देता है, जो चीन, अबीसीनिया, स्पेन और मध्य-यूरोप मे हुई हैं। इससे हमारी समझ मे आ जाता है कि जो राष्ट्र-सघ मनुष्य-जाति के लिए, अमन व तरक्की की इतनी उम्मीदो का नुमायन्दा था, उसकी शानदार इमारत आज खण्डहर होकर क्यो पडी है!

हम देख चुके हैं कि मचूरिया मे जापान ने राष्ट्र-सघ को कैसी कामयाबी से

अँगूठा दिखाया और वहाँ मचूकुओ के नाम से एक कठपुतली राज्य कैसे कायम कर दिया। हालाँकि वहाँ बाकायदा फौजी हमला हुआ था, पर युद्ध की कोई घोषणा नही की गई थी। वहाँ अन्दरूनी विद्रोह भडकाये गए थे, और इनका बहाना लेकर दखल दिया गया था। इस नये हुनर को बाद मे इटली और नात्सी जर्मनी ने पूरा किया, और इसके साथ अनोखे पैमाने पर विदेशो मे झूठा प्रोपेगैण्डा और जोड दिया गया। अब युद्ध के ऐलान नही किये जाते। यह तो पुराने ज़माने की वात हो गई है। जैसा कि हिटलर ने १९३७ ई० मे नूरेम्वर्ग के अपने भाषण मे कहा था "अगर मैं कभी अपने दुश्मन पर हमला करना चाहूँ, तो महीनो तक समझौते की वातचीत और तैयारी नही करूँगा, वल्कि वैसा ही करूँगा जैसा कि हमेशा करता आया हूँ, यानी मैं अंधेरे मे से विजली की-सी तेज़ी के साथ निकलकर अपने दुश्मन पर टूट पडूँगा।"

जनवरी, सन् १९३५ ई० मे जनमत-सग्रह के वाद जर्मनी ने सार नदी के प्रदेश पर कब्जा कर लिया। इसी साल के मई महीने मे हिटलर ने वर्साई-सन्धि की हथियार-वन्दीवाली धाराओ को मानने से सदा के लिए इन्कार कर दिया, और जर्मनो के लिए लाज़िमी फौजी-सेवा का फरमान जारी कर दिया। सन्धि की इस खुली और इक-तरफा अवहेलना ने फ्रान्स को दहला दिया। पर इग्लैण्ड ने इसे चुपचाप वर्दाश्त कर लिया। इतना ही नही, वह तो एक महीने वाद जर्मनी के साथ खुफिया तौर पर एक जगी-जहाज़ी करार तय करके एक कदम और भी आगे वढ गया। यह करार खुद भी वर्साई की सन्धि को तोडनेवाला था, इसलिए इस तरह खुद इग्लैण्ड ने ही सुल्ह-सन्धि को ठुकरा दिया। इसमे हैरत की वात तो यह थी कि इग्लैण्ड ने यह कार्रवाई अपने पुराने साथी-देश फ्रान्स से बिना पूछे ही कर डाली थी, और वह भी ठीक उस वक्त जवकि जर्मनी का ज़वर्दस्त पैमाने पर हथियारो से लैस होना सारे यूरोप के लिए खतरा वन रहा था। इस चीज़ से, जिसे फ्रान्स इग्लैण्ड की दगावाज़ी समझता था, उसे इतनी दहशत हुई कि वह मुसोलिनी के पास समझौता करने के लिए दौडा, ताकि उसकी इटलीवाली सरहद का खतरा तो कम हो जाय।

अबीसीनिया

इससे मुसोलिनी को वह मौका मिल गया, जिसकी ताक मे वह वहुत दिनो से था। कितने ही वर्षों से वह अबीसीनिया पर हमले की योजना वना रहा था, पर इसलिए हिचकिचा रहा था कि उसे इग्लैण्ड और फ्रान्स के रुख का भरोसा नही था। फ्रान्स और इटली के बीच वडा भारी खिचाव चला आ रहा था, और अक्तूबर, १९३४ ई० मे, यूगोस्लाविया के शाह अलेग्ज़ैण्डर को और फ्रान्स के विदेशी मन्त्री लुई वार्थो को, मार्सल्स मे शायद किसी इतालवी गुर्गे ने मार डाला।

पर अब मुसोलिनी को भरोसा हो गया कि अगर वह अबीसीनिया पर हमला करेगा, तो न तो फ़ान्स विरोध की कोई कारगर कार्रवाई करेगा और न इंग्लैण्ड। अक्तूबर १९३५ ई० में यह हमला ठीक उस वक्त शुरू हुआ जब राष्ट्र-संघ की बैठक हो रही थी। अबीसीनिया राष्ट्र-संघ का एक सदस्य राज्य था, इसलिए इस हमले ने सारी दुनिया का दिल दहला दिया। राष्ट्र-संघ ने इटली को हमलावर करार दिया, और बहुत टालमटूल के बाद उसपर कुछ आर्थिक प्रतिबन्ध लागू कर दिये यानी सदस्य-राज्यों को इसके साथ कुछ खास चीज़ों का व्यापार करने की मनाही कर दी। मगर पेट्रोल-तेल, लोहा, इस्पात, कोयला, वगैरा, असली महत्व की चीज़ें जिनपर युद्ध का दारोमदार था इस सूची में शामिल नहीं की गईं। एंग्लो-ईरानियन ऑयल कम्पनी ने इटली को तेल भेजने के लिए जमकर और ओवर-टाइम काम किया। इन पाबन्दियों से इटली को कुछ दिक्कत तो हुई, पर उसके रास्ते में कोई खास कठिनाई नहीं आई। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तेल पर रोक लगाने का सुझाव रखा था, पर इंग्लैण्ड राजी नहीं हुआ।

इंग्लैण्ड के विदेश-मन्त्री सर सैम्युएल होर और फ़ान्स के मन्त्री मोस्यू लवाल ने अबीसीनिया का एक बड़ा हिस्सा इटली के हवाले कर देने के बारे में बातचीत तय कर ली थी लेकिन ब्रिटिश जनता ने इतना शोर-हल्ला मचाया कि सर सैम्युएल होर को इस्तीफ़ा देना पड़ा। इधर अबीसीनियावाले बड़ी बहादुरी से लड़ रहे थे, मगर निचाई पर उड़नेवाले हवाई जहाज़ों के ज़रिये बड़े पैमाने पर बमबारी के आगे वे कुछ नहीं कर सकते थे। ग़ैर-फ़ौजियों, औरतों व बच्चों, घायलों की सेवा करनेवालों और अस्पतालों पर, आग लगाने वाले बम और गैस-बम बरसाये गए, और बहुत से अत्याचारी हत्याकाण्ड हुए। मई, १९३६ ई० में इतालवी फ़ौज वहाँ की राजधानी आदिस-अबाबा में दाखिल हो गई, और फिर इसने देश के बड़े हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया। तबसे ढाई साल बीत चुके हैं, पर दूर-दूर के इलाकों में अबीसीनियावासियों का मुकाबला अभी तक जारी है। अबीसीनिया को पूरी तरह जीतने में अभी बहुत कसर है, हालाँकि इंग्लैण्ड और फ़ान्स ने इसपर इटली का कब्ज़ा मान लिया है।

अबीसीनिया की रंजभरी घटना ने, और राष्ट्र-संघ की शक्तियों की धोखेबाज़ी ने दुनिया को ज़ाहिर कर दिया कि राष्ट्र-संघ बिलकुल थोथा है। अब हिटलर बेख़ौफ़ होकर इसको अँगूठा दिखा सकता था, और मार्च, १९३६ ई० में उसने अपनी फ़ौजें राइनलैण्ड में दाखिल कर दीं, जहाँ फ़ौजें रखने की मनाही थी। वर्साई की सन्धि पर यह दूसरी चोट थी।

स्पेन

१९३६ ई० के साल में फ़ासीवादियों ने यूरोप पर अपना सिक्का जमाने

की कोशिश मे एक और कदम उठाया। यह कदम आगे चलकर लोकतन्त्र व आजादी के लिए मौत व ज़िन्दगी की लडाई बननेवाला था। हम देख चुके हैं कि स्पेन मे दो मुकाबले की ताकतें हुकूमत के लिए किस तरह लडी थी और कुछ ही दिन के गणराज्य ने पादरियो और आधे-सामन्तो की प्रतिगामी कार्रवाइयो के खिलाफ किस तरह मोर्चा लिया था। आखिरकार सारे प्रगतिशील दल एक हो गये, और इन्होने फरवरी, १९३६ ई० मे 'जनता का मोर्चा' कायम किया। इससे पहले फ्रान्स मे ऐसा ही 'जनता का मोर्चा' फासीवाद की उन बढती हुई ताक़तो से लोहा लेने के लिए बन चुका था, जो फ्रान्सीसी गणराज्य को खुली चुनौती दे रही थीं, और जिन्होंने एक असफल बलवा भी खडा किया था। फ्रान्सीसी 'जनता का मोर्चा' जनता के भारी जोश की ऊँची लहर पर चढ रहा था। चुनावो मे सफल होने पर इसने अपनी सरकार बनाई, जिसने मज़दूरो को राहत देनेवाले कई क़ानून पास किये।

स्पेनी 'जनता का मोर्चा' भी कोर्ते के चुनावो मे कामयाब हुआ और इसने भी अपनी सरकार बनाई। इस मोर्चे का यह वायदा था कि जो बहुत-से और जरूरी सुधार बहुत दिन से रुके हुए थे, उन्हे पूरे करेगा, और चर्च के अधिकारो पर अकुश लगायेगा। इन सुधारो के डर से सारे प्रतिगामी तत्वो ने दलबन्दी कर ली और चोट करने का फैसला किया। इन्होने इटली और जर्मनी से मदद माँगी, जो उन्हें मिली, और १८ जुलाई, १९३६ ई० को जनरल फ्रैन्को ने स्पेनी मूरो की फौज की मदद से विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया। इस फौज को बडे-बडे लालच दिये गए थे। फ्रैन्को को बहुत आसानी से और बहुत जल्द जीत जाने की उम्मीद थी। फौज उसकी तरफ थी और दो ताकतवर देश उसकी मदद पर थे। गणराज्य लाचार नज़र आता था। मगर खतरे की इस घडी मे उसने स्पेन की जनता को अपनी आज़ादी की हिफाज़त के लिए पुकारा और लोगो को हथियार बाँटे। आम लोगो ने यह पुकार सुनी, और करीब-करीब निहत्थे ही फ्रैन्को की तोपो और हवाई जहाज़ो का मुकाबला किया। उन्होंने फ्रैन्को को आगे बढने से रोक दिया। लोकतन्त्र को बचाने के लिए विदेशो से स्वयसेवको के दल-के-दल स्पेन मे आ गये और उन्होंने एक 'अन्तर्राष्ट्रीय पलटन' बना ली। इस पलटन ने ठीक ज़रूरत के मौक़े पर गणराज्य की अनमोल सेवा की। मगर जहाँ जणराज्य की सहायता के लिए स्वयसेवक आये, वहाँ फ्रैन्को की सहायता के लिए इटली की तैयार फ़ौज बहुत बडी तादाद मे आई। साथ ही इटली और जर्मनी से हवाई जहाज और हवाबाज़ और तकनीकी जानकार और हथियार भी आये। फ्रैन्को की मदद पर इन दोनो शक्तियो के तजुर्बेकार फौजी अफसर थे, गणराज्य की तरफ जोश, हिम्मत और कुर्बानी थे। बाग़ी लोग बढते चले गये, और नवम्बर, १९३६ ई० मे मैड्रिड के दरवाज़े तक जा पहुँचे। लेकिन अब गणराज्य के आदमियो ने अपनी

पूरी जान लड़ाकर इन्हें वहीं रोक दिया। इन लोगों का नारा था 'नो पासेरा'[1]—बागी इससे आगे नहीं बढ़ेंगे। और यह मैड्रिड, जिसपर हर रोज हवाई जहाजों से और जर्मी तोपों से गोले बरसाये जाते थे, जिसकी आलीशान इमारतें खण्डहर हो गई थीं, जहाँ आग लगानेवाले बमों के गिरने से लगातार आगें लगती रहती थीं, जिसकी खातिर उसके हजारों वीर लाडले जान निछावर कर रहे थे,—वह मैड्रिड फिर भी अविजित और जयवन्त बना रहा। बागियों को मैड्रिड के किनारे पहुँचे दो साल बीत चुके हैं। फिर भी वे वहीं रुके पड़े हैं, और 'नो पासेरां' का नारा उनके कानों में पड़ता रहता है। और मैड्रिड, अपनी दुखभरी और उजड़ी हुई हालत में भी, आजादी के साथ अपना सिर ऊँचा उठाये हुए है, और स्पेनवासियों की अभिमानी व अजेय भावना का पुतला बन गया है।

स्पेन में होनेवाली यह लड़ाई हमें समझ लेनी चाहिए, क्योंकि यह सिर्फ मुकामी या राष्ट्रीय लड़ाई नहीं है, बल्कि इससे बहुत ही ज्यादा बड़ी चीज है। लोकतन्त्री ढंग पर चुनी हुई पार्लमेण्ट के खिलाफ विद्रोह से इसकी शुरुआत हुई थी। साम्यवाद का और मजहब पर खतरे का हल्ला मचाया गया था। पर 'जनता के मोर्चे' के डिपुटियों में साम्यवादी इक्का-दुक्का ही थे, बहुत ज्यादा तादाद तो समाजवादियों और गणराज्यवादियों की थी। जहाँतक मजहब का सवाल है, गणराज्य के सबसे बहादुर लड़ाके बास्क-प्रान्तों के कैथलिक ईसाई हैं। गणराज्य में मजहबी आजादी की पूरी गारंटी है—हिटलर के जर्मनी में यह बात नहीं है—मगर जमीन पर और शिक्षा में चर्च के जमे हुए स्वार्थों पर जरूर ऐतराज किया जाता है। लोकतन्त्र के खिलाफ यह विद्रोह तब हुआ जब इस बात का खतरा दिखाई देने लगा कि यह लोकतन्त्र जमीन की और बड़ी-बड़ी जागीरों की सामन्तशाही पर हमला बोलकर उसे खत्म कर देगा। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, जब ऐसा होता है तब प्रतिगामी लोग यह दिक्कत नहीं उठाते कि लोकतन्त्री कायदों पर चलें या मतदाताओं की राय बदलने की कोशिश करें। वे तो हथियार उठा लेते हैं और मारकाट व आतंक के जरिये आम लोगों को जबरन अपनी मर्जी के मुताबिक चलाने का यत्न करते हैं।

स्पेन में फौजी अफसरों और पादरियों के जिस गुट्ट ने बगावत की थी, उसे इटली व जर्मनी दो फासीवादी शक्तियों के रूप में बैठे-बिठाये साथी मिल गये, क्योंकि ये शक्तियाँ भूमध्य सागर पर अपना कब्जा रखने के लिए और वहाँ जहाजी अड्डे बनाने के लिए स्पेन पर अपनी हुकूमत जमाना चाहती थीं। स्पेन की खानों की दौलत पर भी उनके दान्त थे। इसलिए यह स्पेनी युद्ध कोई घरेलू युद्ध नहीं था, बल्कि फ्रान्स को अपंग और इंग्लैण्ड को कमजोर करने के लिए और इस तरह

[1] No Pasaran

यूरोप मे फासीवाद का दबदबा कायम करने के लिए वास्तव मे राजनीतिक चाल-बाज़ियो का यूरोपीय युद्ध था। जर्मनी और इटली के स्वार्थ कुछ हद तक टकराते थे, पर इस वक्त तो उनकी गाडियाँ साथ-साथ चल रही थी।

फासीवादी स्पेन फ्रान्स के लिए मौत का पैगाम हो जायगा, और इग्लैण्ड, के भूमध्य सागर मे होकर पूर्व जानेवाले और उत्तमाशा अन्तरीप जानेवाले, दोनो रास्तो के लिए खतरा बन जायगा। उस हालत मे जिब्राल्टर किसी काम का नही रहेगा और स्वेज़ नहर का भी ज्यादा महत्व नही रह जायगा। इसलिए उम्मीद तो यह थी कि लोकतन्त्र से मोहब्बत होने की वजह से न सही, पर कम-से-कम अपने निजी स्वार्थ की निगाह से ही, इग्लैण्ड और फ्रान्स स्पेनी सरकार को हर किस्म का वाजिब सहारा देंगे, ताकि वह बगावत को दबा सके। पर यहाँ भी हम देखते हैं कि वर्गों के स्वार्थ राष्ट्रीय हितो को नुकसान पहुँचाकर भी अपनी सरकारो को किस तरह हाँकते हैं। ब्रिटिश सरकार ने दस्तन्दाज़ी न करने की ऐसी तरकीब निकाली, जो हमारे ज़माने का सबसे बढिया ढकोसला है। जर्मनी व इटली गैर-दस्तन्दाज़ी कमेटी मे हैं, पर फिर भी वे बागियो को खुले आम मदद दे रहे हैं और उन्हें कानूनी सरकार की तरह मान रहे हैं। इनकी फौजें फ्रैन्को की मदद के लिए भेजी जा रही हैं और इनके हवाबाज़ स्पेनी नगरो पर बमबारी कर रहे हैं। बस, गैर-दस्तन्दाज़ी का मतलब यह हो गया कि सिर्फ बाग़ियो को ही मदद पहुँच सके। ब्रिटिश सरकार के उकसाने पर फ्रान्सीसी सरकार ने पिरे-नीज़ की सरहद पर पहरा बैठा दिया है, और इस तरह स्पेनी सरकार को किसी भी किस्म की मदद पहुँचाना बन्द कर दिया है।

गणराज्य के लिए खाने की चीज़े ले जानेवाले ब्रिटिश जहाज़ो को फ्रैन्को के हवाई-जहाज़ो या जगी जहाज़ो ने डुबो दिया है, और इग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री चैम्बरलेन ने फ्रैन्को की इस कार्रवाई की हिमायत की। लोकतन्त्र के विस्तार होने के डर से ब्रिटिश सरकार की ऐसी नाज़ुक हालत हो गई है। कुछ ही दिन हुए उसने इटली के साथ एक समझौता तय किया है, जिसके ज़रिये वह फ्रैन्को को तसलीम करने मे, और इटली को स्पेन मे दखल देने की छूट देने मे, एक कदम और आगे बढ गई है। अगर स्पेनी गणराज्य इग्लैण्ड और फ्रान्स के भरोसे रहा होता या इनकी सलाह पर चला होता, तो वह कभी का खत्म हो गया होता। पर अग्रेजी और फ्रान्सीसी नीति के बावजूद स्पेनी लोगो ने फासीवाद के आगे सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। उनके लिए तो यह विदेशी हमलावरो के खिलाफ स्वाधीनता की राष्ट्रीय लडाई है। यह ऐसी लडाई है, जो वीर-गाथा जैसी बन गई है, और जिसने दिलेरी व ताकत के चमत्कारो से ससार को चकित कर दिया है। फ्रैन्को की तरफ से इतालवी व जर्मन हवाई-जहाजो ने शहरो और गाँवो और गैर-फौजी आबादियो पर जो बमबारी की है, वह सबसे ज्यादा भयानक चीज़ है।

पिछले दो वर्षों से स्पेनी गणराज्य ने बहुत बढ़िया सेना तैयार कर ली है, और हाल ही में अपने सारे विदेशी स्वयंसेवकों को वापस भेज दिया है। फ्रैन्को ने स्पेन के करीब तीन-चौथाई भाग पर कब्जा कर रक्खा है और मैड्रिड व वेलेन्शिया को कैटेलोनिया से काट दिया है, मगर फिर भी नई गणराज्यी फौज ने उसे आगे बढ़ने से रोका हुआ है, और एब्रो की बड़ी लड़ाई में अपना जौहर दिखा दिया है। यह लड़ाई कई महीनों से करीब-करीब लगातार चल रही है। ज़ाहिर है, जबतक फ्रैन्को को बाहर के देशों की भरपूर मदद न मिले, तबतक वह इस फौज को नहीं हरा सकता।

इस वक्त गणराज्य के लिए सबसे बड़ी मुसीबत खूराक की कमी है, खासकर सर्दी के महीनों में। क्योंकि गणराज्य को सिर्फ अपनी फौज और अपने मातहत इलाकों की मामूली आबादी के लिए ही खूराक का इन्तज़ाम नहीं करना पड़ रहा है, बल्कि उन लाखों शरणार्थियों के लिए भी करना पड़ रहा है, जो फ्रैन्को की पलटनों के कब्ज़ेवाले इलाकों से भागकर वहां आये हैं।[1]

चीन

स्पेन की दुखभरी कहानी के बाद अब हम चीन की दुखभरी कहानी पर आते हैं।

जापान मंचूरिया में लगातार हमलावर कार्रवाइयाँ करता रहा, और जैसाकि मैं बतला चुका हूँ, उसे इंग्लैण्ड की सरकारी हमदर्दी मिली हुई थी। जापान की हमलावर कार्रवाइयों का मुकाबला करने के लिए अमेरिका ने इंग्लैण्ड के साथ सहयोग का जो हाथ बढ़ाया था, उसे इंग्लैण्ड ने ठुकरा दिया। इंग्लैण्ड ने जापान को इस तरह बढ़ावा क्यों दिया और एक ताकतवर मुकाबला करने-वाले के हाथ क्यों मज़बूत किये? बात यह है कि बीसवीं सदी के शुरू के दिनों से ही जापान बहुत कुछ इंग्लैण्ड की छत्रछाया में साम्राज्यशाही शक्ति की तरह धीरे-धीरे बढ़ता चला आया है। शुरू-शुरू में तो इसका निशाना ज़ारशाही रूस था। महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत-संघ, ये दो इंग्लैण्ड के बड़े प्रतिस्पर्द्धी हो गये, इसलिए जापान को सहारा देने की पुरानी नीति अबतक जारी रही। मगर अब तो इंग्लैण्ड के बड़े-बड़े स्वार्थों को खुद जापान से ही खतरा पैदा हो गया है। अमेरिका ने १९३३ ई० में सोवियत-संघ को जो तसलीम किया, उसकी एक वजह जापान के साथ अमेरिका की प्रतिस्पर्द्धा थी।

१९३३ ई० से आगे चीन में कई सरकारें रहीं। एक तो चांग-काई-शेक की राष्ट्रीय सरकार थी, जिसे बड़ी-बड़ी शक्तियों ने मान रक्खा था, दूसरी दक्षिण में

[1] अगस्त १९३९ में फ्रैन्को इटली व जर्मनी की मदद से गणराज्यवादी फ़ौजों को हरा कर स्पेन का तानाशाह बन गया।

कैण्टन की सरकार थी, जो कुओ-मिन-ताङ्ग के पीछे चलने का दावा करती थी, तीसरे देश के अन्दरूनी भाग मे एक बडा सोवियत इलाका था। इनके अलावा देश के भीतर कितने ही आधे-स्वाधीन लडाकू सरदार थे। पीपिंग के उत्तर मे जापान चीन को बराबर कुतर रहा था। जापान के हमले का मुकाबला करने के बजाय चाग-काई-शेक ने सोवियत इलाको को कुचलने के लिए हर साल जबर्दस्त हमलावर फ़ौजें भेजने मे अपनी सारी ताकत खर्च कर दी। इन फौजो के ज्यादातर हमले बेकार रहे, और अगर ये उन इलाको पर कभी कब्ज़ा भी कर लेती थी, तो चीनी सोवियत फौजें इनसे बचकर निकल जाती थी, और भीतर की तरफ जाकर जम जाती थी। चू तेह की सरदारी मे आठवी सेना का, चीन के एक सिरे से दूसरे तक, आठ हज़ार मील का अद्भुत कूच, फौजी इतिहास मे अव्वल दर्जे की चीज़ बन गया है।

बस, यह मुठभेड साल-दर-साल चलती रही, हालांकि सोवियत चीन ने जापानी हमले को रोकने के लिए चाग-काई-शेक के साथ सहयोग करने की तैयारी भी दिखाई। १९३७ ई० मे जापान ने बडे पैमाने पर हमला कर दिया, और इससे आपस मे युद्ध करनेवाले दल एक होकर जापान के खिलाफ शामिल मोर्चा खडा करने को मजबूर हो गये। चीन ने भी सोवियत-सघ के साथ ज्यादा गहरा ताल्लुक़ कायम कर लिया और नवम्बर, १९३७ ई० मे दोनो देशो के बीच एक-दूसरे पर हमला न करने के करार पर दस्तखत हो गये।

जापान को खूंख्वार मुकाबले का सामना करना पडा, और इसकी कमर तोडने के लिए उसने बमबारी और जगलीपन के ऐसे तरीको से ज़ालिमाना हत्याकाण्डो का सहारा लिया, जिनपर यकीन करना मुश्किल है। पर आज़माइश की इस भट्टी मे चीन का एक नया राष्ट्र ढलकर तैयार हो गया और चीनी लोगो की पुरानी सुस्ती दूर भाग गई। जापानी बमबारो ने बडे-बडे शहरो को जलाकर राख कर दिया और लाखो आदमियो को मौत के घाट उतार दिया। जापान पर इसका भारी बोझ पडा, और उसके आर्थिक ढांचे मे दरार पडने के चिह्न दीखने लगे। भारत के लोगो की हमदर्दी, कुदरती तौर पर चीन के लोगो के साथ थी, जैसीकि स्पेनी गणराज्य के साथ भी थी। भारत, अमेरिका व दूसरे देशो मे जापानी माल के बायकाट के बडे आन्दोलन ज़ोर पकडने लगे।

मगर जापान की भारी फौजी मशीन फिर भी चीन में आगे बढ़ती गई, और जापानी फौजो को तग करने के लिए चीनी लोगो ने बडे असरदार तरीके से छापामार युद्ध के दांव-पेचो का सहारा लिया। जापान ने शघाई और नानकिंग पर क़ब्ज़ा कर लिया, पर जब उसकी फौजें कैण्टन और हैन्काउ के नज़दीक पहुँचीं, तो चीनियो ने खुद ही अपने इन बडे-बडे शहरो को आग लगाकर तबाह कर दिया।

जापानी फौज ने इन शहरो के जले हुए खण्डहरो पर कब्जा कर लिया, जिस तरह कि नेपोलियन ने मास्को पर कब्जा किया था, पर जापान अभी तक चीनियो के मुकाबले को जरा भी नहीं कुचल पाया है। हर नई आफत के बाद यह मुकाबला और भी कडा होता जाता है।

आस्ट्रिया

अब हमे यूरोप लौट चलना चाहिए और आस्ट्रिया की कहानी का दुखभरा अन्त देखना चाहिए। यह छोटा-सा गणराज्य दिवालिया हो रहा था और फूट का घर बन रहा था। एक बाजू से तो इसे नात्सी जर्मनी दबा रहा था और दूसरे बाजू से फ़ासीवादी इटली। हालांकि वियेना मे तरक्की-पसन्द समाजवादी म्यूनिसिपैलिटी थी, पर देश मे वहीके खास नमूने के पादरीशाही फासीवाद का बोलबाला था। यहाँ का चैन्सलर (प्रधान-मन्त्री) दोलफुस था, जिससे मुसोलिनी का पल्ला इस भरोसे पकड रक्खा था कि वह नात्सी हमले से उसे बचायेगा। इटली ने वर्साई सन्धि को ठुकराकर दोलफुस को हथियार भिजवाये, और मुसोलिनी ने उसे समाजवादियो को दबाने की सलाह दी। दोलफुस ने वियेना के समाजवादी मजदूरो को निहत्या करने का फैसला किया, और इसकी वजह से फरवरी, १९३४ ई० की उलट-क्रान्ति हो गई। वियेना मे चार दिन तक लडाई होती रही, और मजदूरो की मशहूर इमारतो पर गोले बरसाये गए, जिससे टूट-फूट गईं। दोलफुस जीत तो गया, पर इसकी कीमत उसे यह चुकानी पडी कि वह अकेला मजबूत दल, जो बाहर के हमले का मुकाबला कर सकता था, तहस-नहस हो गया।

इस बीच नात्सियो की साजिशें होती रही, और जून १९३४ ई० मे नात्सियो ने वियेना मे दोलफुस की हत्या कर डाली। इस राजनीतिक चोट का इरादा यह था कि इसके बाद ही आस्ट्रिया पर जर्मनी के नात्सियो का हमला हो जाय। हिटलर आस्ट्रिया की सरहद के इस पार अपनी फौजें भेजने ही वाला था, पर जब मुसोलिनी ने जर्मनो के खिलाफ आस्ट्रिया की हिफाजत के लिए अपने सिपाही भेजने की धमकी दी तो वह रुक गया। मुसोलिनी नही चाहता था कि जर्मनी आस्ट्रिया को हजम कर ले, और जर्मनी की सरहद ठेठ इटली तक आ जाय। १९३५ ई० मे हिटलर ने सरकारी तौर पर ऐलान कर दिया कि वह आस्ट्रिया पर कब्जा नही करेगा या उसे जर्मनी मे नही मिलायेगा।

मगर इटली ने अबीसीनिया पर जो धावा बोला था, उसने उसे कमजोर कर दिया। और चूंकि इंग्लैण्ड और फ्रान्स से रगडा-झगडा बढ़ता जा रहा था, इसलिए उसे हिटलर के साथ समझौता करना पडा। अब हिटलर को आस्ट्रिया मे मनमानी करने की छूट मिल गई और नात्सी हरकतें जोर पकडने लगी। १९३८ ई० के शुरू में इंग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री चैम्बरलेन ने साफ़ कह दिया था कि आस्ट्रिया को बचाने

के लिए इंग्लैण्ड बीच मे नही बोलेगा। इसके बाद घटनाएँ बडी तेज़ी से हुई और जब आस्ट्रिया के चैन्सलर शुशनिग ने जनमत जानने का फैसला किया तो हिटलर ने इसपर ऐतराज़ किया और मार्च, १९३८ ई० मे आस्ट्रिया पर हमला बोल दिया। इसका कोई मुकाबला नही हुआ, और आस्ट्रिया को जर्मनी मे मिलाये जाने का ऐलान कर दिया गया। बस, यह प्राचीन देश, जो वर्षों तक एक साम्राज्य की गद्दी रहा था, खत्म हो गया, और यूरोप के नकशे पर से आस्ट्रिया का नाम मिट गया। यहाँ के आखिरी चैन्सलर शुशनिग को जर्मनो ने बन्दी बना लिया, और चूँकि वह पूरी तरह नात्सियो के कहे मुताबिक चलने को राजी नही हुआ, इसलिए उसपर मुकदमा चलाने की धमकी दी गई। अभी तक वह नात्सियो की कैद मे है।

आस्ट्रिया मे जर्मन नात्सियो के आने के बाद वहाँ के लोगो पर आतक का जो डण्डा घूमा, वह जर्मनी मे नात्सियो के शुरू के दिनो के आतक से भी बुरा था। यहूदियो को मुसीबतें उठानी पडी और अब भी उठानी पड रही है और एक ज़माने के सुन्दर और सुसस्कृत वियेना शहर मे वहशी-राज हो रहा है, और जुल्म-पर-जुल्म हो रहे है।

चेकोस्लोवाकिया

आस्ट्रिया मे नात्सियो की पूरी जीत से यूरोप के हाथ-पैर ठण्डे हो गये, पर इसका सबसे ज्यादा असर चेकोम्लोवाकिया पर पडा, क्योकि अब वह तीन तरफ नात्सियो से घिर गया था। लोगो ने सोच लिया कि इस देश पर भी हमला होनेवाला है और इसकी तैयारी के तौर पर नात्सियो की साज़िशे और सरहदी इलाको मे गडबड भडकाने के यत्न ठेठ फासीवादी ढग पर शुरू हो गये।

चेकोस्लोवाकिया के सूडेटनलैण्ड यानी पुराने बोहेमिया मे जर्मन-भाषा बोलनेवालो की आबादी थी, और आस्ट्रिया-हगरी के साम्राज्य मे इन्हीका जोर था। ये लोग चेक-राज्य बनने से खुश नही थे, और इनकी कुछ वाजिब शिकायतें भी थी। ये कुछ हद तक खुद-मुख्तारी चाहते थे और जर्मनी मे मिलने की इनकी कोई तमन्ना नही थी, इनमे कुछ जर्मन ऐसे भी थे, जो नात्सी-राज के कट्टर विरोधी थे। बोहेमिया पहले कभी भी जर्मनी का हिस्सा नही रहा था। आस्ट्रिया खत्म होने के बाद यह ख़याल किया जाता था कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर हमला करेगा। इस अन्देशे से डरकर बहुत-से लोग स्थानीय नात्सी-दल मे शामिल हो गये, ताकि पानी से पहले ही पाल बाँध लें।

अन्तर्राष्ट्रीय लिहाज़ से चेकोस्लोवाकिया की हैसियत मज़बूत थी। यह उद्योगो में आगे बढा हुआ देश था। खूब सगठित और कायदे से जमा हुआ था, और इसके पास ताकतवर और मुस्तैद फ़ौज थी। फ्रान्स व सोवियत-सघ के साथ

इसके राजनीतिक गठ-जोड थे, और यह माना जाता था कि लडाई के मौके पर इंग्लैण्ड इसका साथ देगा। मध्य-यूरोप मे यही अकेला लोकतन्त्री राज्य रह गया था, इसलिए अमेरिका-समेत ससार-भर के लोकतन्त्रवादियो की हमदर्दी इसके साथ थी। इसमे कोई शक नही था कि अगर युद्ध छिड जाय और सारी लोकतन्त्री ताकतें साथ मिलकर जोर लगायें तो फासीवादी शक्तियो को हार खानी पड़ेगी।

सुडेटनी अल्प-सख्यको का सवाल उठाया जा चुका था और यह उचित ही था कि उनकी शिकायतें दूर की जाती। मगर यह भी सच था कि चेकोस्लोवाकिया मे अल्प-सख्यक जातियो के साथ जितना अच्छा सलूक किया जाता था, उतना मध्य-यूरोप मे किसी अल्प-सख्यक जाति के साथ नहीं किया जाता था। असली सवाल-अल्प-सख्यको का नही था, बल्कि हिटलर के इस अरमान का था कि सारे दक्षिण-पूर्वी यूरोप मे उसका दबदबा कायम हो जाय और वह मारकाट से या मारकाट की धमकियो से अपनी मर्जी जबरन पूरी करा सके।

चेक सरकार ने अल्प-सख्यको के सवाल को हल करने की जी-तोड कोशिश की और उनकी क़रीब-करीब सारी माँगें पूरी कर दी। मगर एक माँग पूरी होने नही पाती थी कि दूसरी नई और उससे भी ज्यादा आगे जानेवाली माँग खडी हो जाती थी, यहाँतक कि राज्य को अपनी जान के लाले पड गये। जाहिर था कि हिटलर का यह मक़सद था कि इस लोकतन्त्री राज्य को, जो उसकी राह का काँटा था, खत्म कर दे। अग्रेजी नीति, इस मसले को बिना लडाई-झगडे के सुलझाने मे मदद देने के बहाने, हिटलर के हमलावर रवैय्ये को बढावा दे रही थी। ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड रून्सीमैन को 'बिचौलिया' का काम करने के लिए प्राग भेजा, पर अमल मे इस बीच-बचाव का नतीजा यह था कि नात्सियो की माँगे पूरी करने के लिए चेक सरकार पर बराबर दबाव डाला गया। चेक लोगो ने हारकर लॉर्ड रून्सीमैन की ही तजवीजें मान ली। ये तजवीज़ें बहुत ही दूर-व्यापी थी, पर नात्सी लोग तो अब इनसे भी ज्यादा चाहते थे, और अपनी माँगें जबरन पूरी कराने के लिए उन्होंने जर्मन फौज की कूच शुरू कर दी। इसपर चैम्बरलेन खुद ही बीच मे पडा। वह बर्खटसगाडन जाकर हिटलर से मिला, और वहाँ उसने हिटलर का आखिरी पैगाम मजूर कर लिया, जिसमे चेकोस्लोवाकिया के कुछ बडे इलाके जर्मनी के हवाले कर दिये जाने की माँग थी। तब इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने भी अपने दोस्त और साथी चेकोस्लोवाकिया को आखिरी पैग़ाम भेज दिये, जिनमे कहा गया था कि वह हिटलर की शर्ते फौरन कबूल कर ले, और धमकी दी गई थी कि अगर उसने इन्कार किया तो वे उसका साथ छोड देंगे। अपने दोस्तो की इस दग़ाबाजी से चेक लोग हैरान हो गये और उन्हें बड़ा धक्का लगा। और आखिर मे हारकर उनकी सरकार ने बडे दुख और निराशा के

साथ इस आखिरी पैगाम के आगे सिर झुका दिया। तब चैम्बरलेन फिर हिटलर के पास गया, जो इस बार राइन नदी के तीर के गॉड्सवर्ग नगर में था। उसने देखा कि हिटलर तो इससे भी बहुत ज्यादा चाहता था। इसपर तो चैम्बरलेन भी राजी नही हो सका, और सितम्बर, १९३८ ई० के आखिरी सप्ताह मे सारे यूरोप के ऊपर युद्ध की, एक विश्व-युद्ध की, काली छाया मडराने लगी। लोग गैस से बचने के टोप लेने के लिए दौड पडे और हवाई हमलो से बचने के लिए बाग-बगीचो मे खन्दकें खोदने लगे। चैम्बरलेन एक बार फिर हिटलर के पास गया, जो उस वक्त म्यूनिख मे था, और मोश्ये दलादिये और सीन्योर मुसोलिनी भी वहाँ जा पहुँचे। फ्रान्स और चेकोस्लोवाकिया के साथी रूस को नही बुलाया गया, और जिस चेकोस्लोवाकिया की किस्मत का फैसला होनेवाला था, और जो उनका साथी भी था, उससे तो सलाह तक नही ली गई। हिटलर की नई और दूरव्यापी माँगें, जिनके पीछे फौरन युद्ध और हमले की धमकी थी, एक तरह से पूरी-की-पूरी मान ली गईं, और सितम्बर की २९ तारीख को चारो शक्तियो ने 'म्यूनिख के समझौते' पर दस्तखत कर दिये, जिसमे ये माँगें मजूर कर ली गईं।

उस वक्त तो युद्ध टल गया, और सारे देशो के लोगो ने इस बला से छुटकारा पाने पर राहत की साँस ली। पर इसके बदले मे जो कीमत चुकाई गई वह थी फ्रान्स और इंग्लैण्ड की ग़ैरत और बेइज्जती, यूरोप मे लोकतन्त्र पर गहरी चोट, चेकोस्लोवाकिया का अग-भंग, अमन कायम रखने के साधन के रूप मे राष्ट्रसघ का खातमा, और मध्य व दक्षिण-पूर्वी यूरोप मे नात्सीवाद की धूमधाम के साथ पूरी जीत। और जो सुलह खरीदी गई, वह भी सिर्फ लडाई रोकने की सुलह थी, जिसमें हरेक देश आनेवाले युद्ध के लिए सरगर्मी के साथ हथियार इकट्ठे कर रहा था।

म्यूनिख का समझौता यूरोप व सारी दुनिया के इतिहास का रुख बदलनेवाला मोड था। यूरोप का नया बँटवारा शुरू हो गया था, और ब्रिटिश व फ्रान्सीसी सरकारें खुले तौर पर नात्सीवाद और फासीवाद की कतार मे खडी हो गई थी। इंग्लैण्ड ने आँग्ल-इतालवी समझौते को चट-पट तसदीक़ कर दिया, यानी उसने अबीसीनिया पर इटली का क़ब्ज़ा मान लिया और स्पेन मे इटली को पूरी छूट दे दी। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और इटली के बीच एक चार-शक्ति-क़रार की शक्ल बनने लगी। यह रूस के खिलाफ, और स्पेन मे व दूसरे देशों में लोकतन्त्री शक्तियों के खिलाफ, एक मिला-जुला मोर्चा था।

रूस

मार्के की बात यह है कि इन वर्षों और महीनो मे जहाँ एक तरफ़ साज़िशें चल रही थी और बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अपने गम्भीर वायदे तोड रही थी, वहाँ दूसरी

तरफ रूस ने बराबर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ज़िम्मेदारियाँ निभाईं, सुलह की हिमायत की और हमले की कार्रवाइयों का विरोध किया और अपने साथी-देश चेकोस्लोवाकिया का साथ आखिर तक नहीं छोड़ा। पर इंग्लैण्ड और फ़ान्स ने उसे ठुकरा दिया, और हमलावरों से दोस्ती जोड़ ली। फ़ान्स और इंग्लैण्ड की दगाबाज़ी का शिकार होकर चेकोस्लोवाकिया भी नात्सी दायरे में जा पड़ा और रूस के साथ अपनी दोस्ती ख़त्म कर बैठा। चेकोस्लोवाकिया के टुकड़े कर दिये गए हैं, और भूखे गिद्धों की तरह हंगरी और पोलैण्ड ने इस मौके से फायदा उठाया। अन्दरूनी तौर पर भी वहाँ बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये और चेकोस्लोवाकिया अब स्वाधीनता का दावा कर रहा है। चेकोस्लोवाकिया के बचे-खुचे टुकड़े अब क़रीब-क़रीब एक जर्मन उपनिवेश की तरह चल रहे हैं।

इस तरह सोवियत-संघ की विदेशी नीति को करारा धक्का लगा है। मगर फिर भी आज यह यूरोप व एशिया में फ़ासीवाद व लोकतन्त्र-विरोधी ताकतों के मुक़ाबले में ताक़तवर और अकेला ही कारगर रुकावट बना खड़ा है। हालाँकि पिछले महीनों में इंग्लैण्ड व फ़ान्स ने रूस की परवाह नहीं की है। मगर फिर भी आज वह एक ज़बर्दस्त शक्ति है। पहली पंच-वर्षीय योजना आमतौर पर सफल रही, हालाँकि कुछ ख़ास बातों में नाकामयाब रही। ख़ास बात यह है कि उसकी तैयार की हुई चीज़ें अव्वल दर्जे की नहीं थी। उसके मिस्त्री नौसिखिये थे, और ढुलाई का इन्तज़ाम भी बहुत करके पूरा नहीं हुआ। भारी उद्योगों पर सारा ध्यान लगाने से रोज़ काम आनेवाली चीज़ों की कमी हो गई, जिससे रहन-सहन का दर्जा गिर गया। पर इस योजना से रूस में तेज़ी के साथ उद्योगीकरण हो गया और सामूहिक खेती होने लगी, जिससे आयन्दा तरक्की की नींव पड़ गई। दूसरी पंच-वर्षीय योजना (१९३३-३७ ई०) में भारी उद्योगों के बजाय हलके उद्योगों पर ज़ोर दिया गया। पहली योजना की कमियाँ पूरी करना और रोज़ के काम की चीज़ें पैदा करना, इसका निशाना था। इससे बहुत तरक्की हुई, और रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो गया, और बराबर ऊँचा होता जा रहा है। सारा सोवियत-संघ संस्कृति में, शिक्षा में और बहुत-सी दूसरी बातों में ख़ूब आगे बढ़ गया है। यह तरक्की जारी रखने और अपनी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था ठोस बनाने के इरादे से रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में हमेशा सुलह की नीति पर अमल किया है। राष्ट्र-संघ में वह कारगर हथियार-बन्दी, संयुक्त बचाव और हमलों के खिलाफ संयुक्त कार्रवाई के लिए बराबर लड़ता रहा है। उसने बड़ी-बड़ी पूंजीवादी शक्तियों के साथ अपना मेल-बिठाने का यत्न किया है, और इसके नतीजे में साम्यवादी दलों ने तरक्की-पसन्द दलों को साथ लेकर 'जनता के मोर्चे' या 'मिले-जुले मोर्चे' बनाने की कोशिशें की हैं।

इस चौमुखी तरक़्क़ी और विकास के बावजूद, इस काल में सोवियत संघ

एक कठिन अन्दरूनी सकट मे होकर गुजरा है। स्तालिन व त्रातृस्की के आपसी बैर-विरोध का ज़िक्र मैं कर चुका हूँ। मौजूदा हुकूमत को नापसन्द करनेवाले कितने ही लोग धीरे-धीरे खिचकर जमा हो गये और कहा जाता है कि इनमे से कुछने तो फासीवादी शक्तियो तक से मिलकर साजिशें की। कहा जाता है कि सोवियत-खुफिया-विभाग का सरदार यागोदा भी इन लोगो से मिला हुआ था। दिसम्बर, १९३४ ई० मे सोवियत सरकार के एक बडे नेता किरकाफ की हत्या कर दी गई। सरकार ने अपने विरोधियो के खिलाफ कडी कार्रवाई की, और १९३७ ई० से मुकदमो के ऐसे सिलसिले शुरू हुए, जिनसे ससार-भर मे बडा भारी वाद-विवाद उठ खडा हुआ, क्योंकि इनमे बहुत-से मशहूर और अगुआ लोग फँसे हुए थे। जिन लोगो पर मुकदमे चले और सज़ाएँ दी गईं, वे त्रातृस्की-पन्थी कहलाते थे, और दक्षिण-पक्षी नेता (राड्काफ़, तॉम्स्की, बुखारिन) थे, और ऊँचे फ़ौजी अफसर थे, जिनमे सबसे बडा मार्शल तूचाचेवस्की था।

इन मुकदमो के बारे मे, या इनको पैदा करनेवाली घटनाओ के बारे मे कोई पक्की राय जाहिर करना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि हकीक़तें बहुत पेचीदा हैं और साफ नही हैं। मगर इसमे शक नही कि इन मुक़दमो के सबब से बहुत-से लोग, जिनमें रूस के कितने ही खैरख्वाह भी हैं, परेशान हो उठे हैं, और सोवियत-सघ के खिलाफ बुरे खयाल बढ गये हैं। घटनाओ को पास से देखनेवालो की राय है कि स्तालिन-राज के खिलाफ एक बडी साज़िश रची गई थी, और ये मुकदमे सच्चे थे। यह भी साबित हो गया मालूम देता है कि इस साजिश मे जनता का हाथ नही था, और लोगो पर जो असर हुआ, वह स्तालिन के दुश्मनो के खिलाफ़ था। मगर फिर भी जिस हद तक अत्याचार हुआ, जिसकी चपेट मे शायद बहुत-से बेकसूर भी आ गये होंगे, वह भी अन्दरूनी बीमारी की अलामत था, और इस रूस की अन्तर्राष्ट्रीय हैसियत को धक्का लगा।

आर्थिक मज़बूती

व्यापार की जो महामन्दी १९३० ई० मे मैं शुरू हुई थी, और जिसने पूंजीवादी दुनिया को कई सालो तक अपग कर रक्खा था, उसकी हालत मे आखिर सुधार के चिह्न दिखाई देने लगे। ज्यादातर देशो मे कुछ-कुछ मज़बूती आई, इग्लैण्ड की मज़बूती दूसरे देशो के मुकाबले मे ज्यादा मार्क की थी। पौण्ड का मोल गिराने से, रक्षात्मक-चुगियो से, और साम्राज्य की मण्डियो व साधनो से पूरा फायदा उठाने से, इग्लैण्ड को बहुत मदद मिली। चुगियो और सरकारी सहायताओ, और खेती के सुधारो, और होड कम करने के लिए उत्पादको के सगठन, वग़ैरा से अन्दरूनी व्यापार खूब चेत गया। पैदावार और थोक बिक्री की योजना बनाने का यत्न किया गया।

डेनमार्क और स्कैण्डिनेवियाई देशो पर ब्रिटिश माल खरीदने के लिए दबाव भी डाला गया।

हालांकि यह मजबूती खूब अच्छी थी, पर इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नुकसान पहुँचा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि पहले के मुकाबले मे ज्यादा मजबूती आई और कुछ हद तक आई। असली मजबूती तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चेतने पर होती है। यह भी याद रखना चाहिए कि इग्लैण्ड ने अमेरिका का कर्ज़ न तो चुकाया है और न वह चुकाने का इरादा रखता है। आर्थिक मजबूती की कुछ वजह यह भी है कि अलग-अलग देशों मे फिर से हथियारबन्द होने के कार्यक्रम चल रहे हैं। जाहिर है कि यह मजबूती न तो पक्की है और न टिकाऊ। जनता मे बेकारी अभी तक फैली हुई है।

ब्रिटिश साम्राज्य

फ़िलहाल इग्लैण्ड आर्थिक सकट को पार कर गया है, पर ब्रिटिश साम्राज्य की हालत बहुत खराब है, और उसे टुकडे-टुकडे करनेवाली राजनीतिक व आर्थिक ताक़तें दिन-पर-दिन जोरदार होती जा रही हैं। इग्लैण्ड का शासक-वर्ग तो साम्राज्य के बारे मे अपना विश्वास, और इसके बने रहने की आशा भी खो बैठा है। वह अपनी अन्दरूनी समस्याओ को ही नहीं सुलझा सकता। स्वाधीनता पर तुला हुआ भारत दिन-पर-दिन मजबूत होता जाता है, छोटा-सा फिलस्तीन उन्हें झझोड रहा है। पूंजीवादी दुनिया में इग्लैण्ड का सबसे बडा प्रतिस्पर्द्धी अमेरिका उसकी सरदारी को चुनौती दे रहा है, और ज्यो-ज्यो ब्रिटिश सरकार फासीवादी शक्तियो की तरफ झुकती जाती है, त्यो-त्यो वह इग्लैण्ड से दूर हटता चला जाता है। सोवियत रूस कामयाबी के साथ समाजवाद की इमारत खडी कर रहा है, जो सब क़िस्म के साम्राज्यवादो का विरोधी है। जर्मनी व इटली ब्रिटिश साम्राज्य के तर माल पर लालचभरी नज़रें डाल रहे हैं। म्यूनिख में इग्लैण्ड इनकी धमकियों के आगे झुक गया तो ये उसे दूसरे दर्जे की शक्ति की तरह समझने लगे हैं और उसके साथ ग़रूर-भरे ढग से बात करते हैं। लोकतन्त्र का विस्तार करके और सयुक्त सुरक्षा पर जमे रहकर इग्लैण्ड अपनी हैसियत मजबूत बना सकता था। पर ऐसा करने के बजाय उसने यह रास्ता छोडना और हिटलर की हिमायत करना पसन्द किया। और अब ब्रिटिश साम्राज्यशाही एक लाचारी की दुविधा मे पड गई है, और म्यूनिख की नीति से पैदा होनेवाली अनगिनती उलटी-सीधी बातो मे फँस गई है।

उपनिवेश

जर्मनी अब उपनिवेशो की माँग कर रहा है, और हमे बतलाया जाता है कि वह 'ग़रीब' और 'असन्तुष्ट' शक्ति है। दूसरी छोटी-छोटी शक्तियो के

पास उपनिवेश नही हैं, उनका क्या होगा ? और उपनिवेशो की जनता, जो वास्तव मे 'गरीब' है, उसका क्या होगा ? इस सारी दलील का आधार यह है कि साम्राज्यशाही ढाँचा ऐसा ही बना रहेगा। किसी देश की राजी या नाराजी वहाँ अमल मे आनेवाली आर्थिक नीति पर निर्भर होती है, और साम्राज्यशाही के मातहत तो नाराजी हमेशा बनी रहेगी, क्योकि इसमे सदा असमानता रहेगी। कहते हैं कि क्रान्ति से पहले जारशाही रूस नाखुश और बढती हुई शक्ति था। आज रूस का प्रदेश पहले से छोटा है, पर वह 'सन्तुष्ट' है, क्योकि उसके साम्राज्यशाही हौसले नही हैं, और वह अलग तरह की आर्थिक नीति बरत रहा है।

मैं तुम्हें गत पाँच सालो की खास-खास घटनाओ के बारे मे और उनसे पैदा होनेवाले नतीजो के बारे मे लिख चुका हूँ। मेरी समझ मे नही आता कि कहाँ पर रुकूँ, क्योकि हर जगह उथल-पुथल और फेर-फार और रगडे-झगडे हो रहे हैं, और ससार की समस्याओ का स्थानीय या राष्ट्रीय ढग पर सुलझाना तो दूर, गौर करना भी नामुमकिन हो रहा है। इनको सारी दुनिया के लिहाज से ही हल करना होगा। मगर इस बीच ससार की हालत दिन-पर-दिन बुरी होती जा रही है और इसमे युद्ध व खून-खराबी का जोर हो रहा है। आज की दुनिया का अभिमानी नेता यूरोप बौखलाकर वापस जगलीपन की तरफ जा रहा है। उसके पुराने शासक-वर्ग निकम्मे हो गये हैं, और कठिनाइयो मे से रास्ता निकालने की या उनसे बचकर निकलने की इनमे जरा भी सामर्थ्य नही रही है।

म्यूनिख के समझौते ने ससार का ढुलमुल सन्तुलन बिगाड़ दिया। दक्षिण-पूर्वी यूरोप नात्सी शक्ति के आगे घुटने टेकने लगा, और हर देश मे नात्सी साजिशें जोर पकडने लगी। यूरोप के ओस्लो-गुट के छोटे-छोटे देशो (डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड, नीदरलैण्ड, बैलजियम और लुक्समबर्ग) ने जब यह समझ लिया कि इग्लैण्ड की दोस्ती उनके किसी काम की नही, तो उन्होंने तटस्थ रहने का ऐलान कर दिया और किसी किस्म की सयुक्त जिम्मेदारी उठाने से इन्कार कर दिया। सुदूर पूर्व मे जापान की हमलावर कार्रवाइयाँ बढ गईं, उसने कैण्टन जीत लिया और हागकाग मे इग्लैण्ड के स्वार्थों से उसकी मुठभेड हो गई। फिलस्तीन की हालत तेजी के साथ बिगडने लगी। अमेरिका और इग्लैण्ड के आपसी रिश्ते इतने ठण्डे पड गये, जितने पहले कभी नही थे। इधर चैम्बरलेन फासीवादी शक्तियों की कतार मे शरीक हो रहा था, उधर राष्ट्रपति रूजवेल्ट नात्सीवाद के इरादो और तरीको की खुली मलामत कर रहा था। यूरोप के आपसी बैर-विरोध से और फासी-वादियो की हमलावर कार्रवाइयो से अमेरिका को इतनी नफरत हुई कि वह सबसे अलग हो गया, और साथ ही बहुत बडे पैमाने पर फिर से हथियारबन्द होने लगा। सोवियत-सघ ने भी यही किया। पश्चिम में गठ-बन्धनो और हमला रोकने के क़रारों

की उसकी नीति कामयाव नही हुई, और अब उसे शायद सबसे अलग हो जाने के लिए मजबूर होना पड़े। मगर अमेरिका और रूस दोनो यह जानते हैं कि आज के इस बौखलाये हुए ससार मे कोई भी अलग या तटस्थ नही रह सकता, और अगर मुठभेड हुई तो उसमे उनका घिसट आना लाजिमी है। इसके लिए वे तैयारी कर रहे हैं।

अमेरिका

सयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट की अन्दरूनी नीति के सामने बहुत रुकावटें आई हैं और सुप्रीम कोर्ट और पीछे की तरफ देखनेवाले लोग उसके रास्ते मे अड रहे हैं। हाल के चुनावो मे काग्रेस मे उसके रिपब्लिक-दली विरोधियो का जोर वढ गया है। मगर फिर भी खुद रूजवेल्ट को आम लोग अब भी पसन्द करते हैं और अमेरिकी जनता पर उसका असर कायम है।

रूजवेल्ट दक्षिण अमेरिका की हुकूमतो के साथ दोस्ती के ताल्लुक कायम करने की नीति पर भी चल रहा है। मैक्सिको मे तेल के मामले मे वहाँ की सरकार और अमेरिका व इंग्लैण्ड के स्वार्थों मे टक्कर हो रही है। मैक्सिको मे गहरा असर डालनेवाली क्रान्ति हुई है, जिससे धरती पर जनता का हक कायम हो गया है। चर्च की और तेल व धरती मे जमे हुए स्वार्थों की कितनी ही रियायतें और खास सहूलियतें छिन गई हैं, इसलिए वे इन परिवर्तनो का विरोध कर रहे हैं।

तुर्की

लड़ाई-झगडो की इस दुनिया मे आज अकेला तुर्की ही शान्तिवाला देश है, जिसका कोई भी वाहरी दुश्मन नही है। यूनान व बलकानी देशो से उसका बहुत पुराना वैर मिट चुका है। सोवियत-सघ और इंग्लैण्ड के साथ भी अच्छे ताल्लुक हैं। अलेक्जैण्ड्रेटा के वारे मे फ्रान्स से कुछ झगडा था। तुम्हे याद होगा कि सीरिया के 'फरमानी' इलाके को फ्रान्सीसी सरकार ने जिन पाँच राज्यो मे बाँटा था, यह राज्य उन्ही मे से एक था। अलेक्जैण्ड्रेटा मे तुर्की आवादी सबसे ज्यादा है, इसलिए फ्रान्स ने तुर्की सरकार की दलील मान ली और उसे स्वाधीन राज्य बना दिया।

इस तरह कमाल अतातुर्क की होशियार रहनुमाई मे तुर्की अपनी नस्ली तथा दूसरी समस्याओ से पिण्ड छुडाकर अन्दरूनी विकास के काम मे लग गया। अतातुर्क ने अपने देशवासियो की खूब सेवा की थी, और नवम्बर, १९३८ ई० मे वह इस तसल्ली के साथ मरा कि उसे अपने काम मे मार्के की कामयावी और खुशनसीबी हासिल हुई। इसके वाद इसका पुराना साथी जनरल इस्मत इन्येनू राष्ट्रपति की गद्दी पर बैठा।

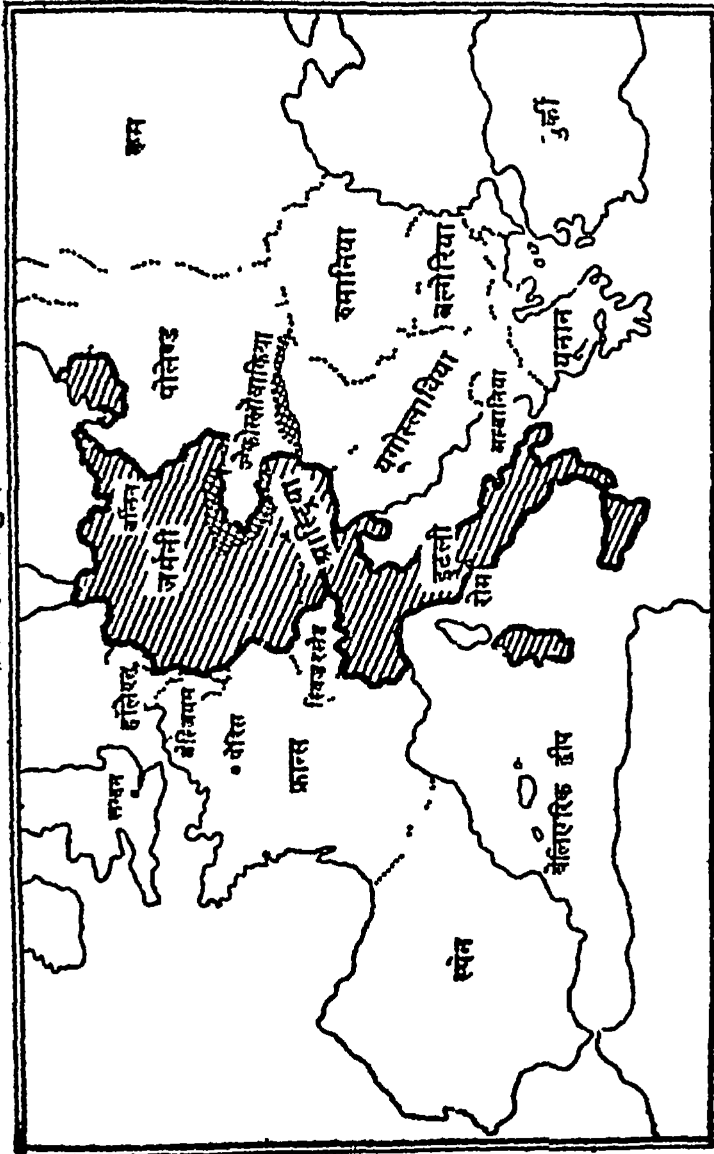
इस्लाम

कमाल अतातुर्क ने मध्य-पूर्व मे इस्लाम की जानदार रफ्तार को एक नया मोड दिया। इस्लाम ने नया जामा पहन लिया और मध्यकालीन विचारो को छोड दिया, और इस तरह अपने को आज की दुनिया के मुताबिक बना लिया। मध्यपूर्व के सारे इस्लामी देशो पर अतातुर्क की मिसाल का ज़बर्दस्त असर पडा है। यहाँ नये जमाने के राष्ट्रीय राज्य कायम हो गये हैं, जिन्होंने मजहब के बजाय राष्ट्रीयता को ही अपना पाया बनाया है। यह असर अभी तक भारत जैसे देशो मे इसी हद तक जाहिर नहीं हुआ है, क्योंकि यहाँ की मुस्लिम आबादियाँ, दूसरी आबादियो की तरह, साम्राज्यशाही हुकूमत के मातहत हैं।

दुनिया के लड़ाई-झगड़े

आज लडाई-झगडे के दो बडे अखाडे यूरोप और प्रशान्त महासागर हैं। इन दोनो मे सरगर्म फासीवाद लोकतन्त्र व आज़ादी को कुचलने की और ससार पर अपनी हुकूमत जमाने की कोशिशें कर रहा है। ससार मे एक किस्म का फासीवादी अन्तर्राष्ट्रीय सघ बन गया है, जो सिर्फ खुल्लमखुल्ला युद्ध ही नहीं कर रहा—हालाँकि इन युद्धो का ऐलान नहीं होता है—बल्कि दस्तन्दाज़ी के मौके तलाश करने के लिए सारे देशो मे सदा साजिशें करता रहता है और झगडे भडकाता रहता है। युद्ध और मारकाट की खुल्लमखुल्ला तारीफ की जा रही है और असाधारण तरीके पर झूठा प्रोपेगैण्डा किया जा रहा है। यह फासीवाद साम्यवाद-विरोधी नारों की आड मे अपने साम्राज्यशाही इरादो को पूरा कर रहा है, हालाँकि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद कही भी हमलावर नही हो रहा है, बल्कि बहुत सालो से दुनिया-भर में लडाई-झगडे बन्द करने की और लोकतन्त्र की हिमायत कर रहा है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे नात्सियो ने साजिशें की हैं और उनपर मुक़दमे चलाये गए हैं। दिसम्बर, १९३७ ई० मे फ्रान्स मे भी गणराज्य के खिलाफ़ एक साजिश का भण्डाफोड हुआ। इसका सगठन 'नकाबपोश' कहलानेवाले कागूलादो ने जर्मनी व इटली से मिलनेवाले सामान और हथियारो की मदद से किया था। इन लोगो ने बमबाजी की और हत्याएँ की। इग्लैण्ड के असरदार गिरोह सरकार की विदेश-नीति को फ़ासीवाद की तरफ धकेल रहे हैं।

यह अन्तर्राष्ट्रीय फ़ासीवाद महज़ परले सिरे का साम्राज्यवाद ही नही है, बल्कि इसने मध्य-युगो की तरह के मजहबी और नस्ली झगडे पैदा कर दिये हैं। जर्मनी मे कैथलिक व प्रोटेस्टेन्ट दोनो फिरको का गला दबाया जा रहा है। इसी जर्मनी मे, और कुछ दिनो से इटली मे भी, नस्ल के खयालो को बहुत ऊँचा चढ़ाया जा रहा है, और यहूदियो का, और यहूदियो की सन्तानो तक का, ऐसी सगदिल


रूस
पोलैण्ड
रूमानिया
बल्गेरिया
टर्की
यूनान
युगोस्लाविया
अलबानिया
चेकोस्लोवाकिया
बर्लिन
जर्मनी
आस्ट्रिया
इटली
रोम
स्विटज़रलैण्ड
हालैण्ड
बेल्जियम
पेरिस
फ्रान्स
लन्दन
स्पेन
बेलिएरिक द्वीप

रोम-बर्लिन धुरी

बेरहमी और व्यवस्थित खूँख्वारी से सफाया किया जा रहा है, जिसके जोड की मिसाल इतिहास मे नही है। नवम्बर, १९३८ ई० के शुरू मे पोलैण्ड के एक नौजवान यहूदी ने अपनी नस्ल पर किये गए बेरहम जुल्मो से पागल होकर पेरिस मे एक जर्मन राजनयिक को मार डाला। यह एक शख्स का काम था, मगर इसके फौरन बाद ही जर्मनी मे समूची यहूदी आबादी के खिलाफ आतक का सरकारी और बाक़ायदा दौर शुरू कर दिया गया। देश भर के सारे यहूदी-मन्दिर जला डाले गए, यहूदियो की दूकानें बहुत बडे पैमाने पर लूट-खसोटकर बर्बाद कर दी गईं, आम रास्तो पर और घरो के भीतर यहूदी स्त्री-पुरुषो पर बेशुमार हैवानी हमले किये गए। नात्सी-नेताओ ने इन सब बातो को वाजिब बताया, और इनके अलावा जर्मनी के यहूदियो पर आठ करोड पौण्ड का जुर्माना भी लाद दिया गया।

आत्म-हत्याएँ हो रही हैं, लोग जान बचा-बचाकर भाग रहे हैं, युगों के पुराने रंजो-ग़म के बोझ से दबे हुए, दुखी, लाचार और बे-घर-बार लोग बडी भारी तादाद में देश छोडकर जा रहे हैं—भला यह बे-छोर कतार कहाँ के लिए कूच कर रही है? आज दुनिया-भर मे शरणार्थियो की भरमार है—यहूदी, सुडेटनलैण्ड के जर्मन समाजी लोकतन्त्रवादी, फ्रैन्को के मातहत प्रदेशो से भागे हुए स्पेनी किसान, चीनी, अबीसीनियावासी, ये सब नात्सीवाद और फासीवाद के कडवे फल हैं। दहशत के मारे ससार का दम सूख रहा है, और इन शरणार्थियो की मदद के लिए कितनी ही सस्थाएँ बनाई जा रही हैं। मगर इसपर भी इग्लैण्ड व फ्रान्स की लोकतन्त्रवादी कही जानेवाली हुकूमतें नात्सीवादी जर्मनी और फासीवादी इटली के साथ दोस्ती और सहयोग की नीति बरत रही हैं। इस तरह वे फासीवादी आतक को बढावा दे रही हैं, सभ्यता और हयादारी खत्म करनेवालो के हौसले बढा रही हैं, और लाखो इन्सानो को, जिनका कोई वतन या देश या अपना कहने को नही है, शरणार्थी बनाने की कार्रवाइयो को बढावा दे रही हैं। अगर फासीवादी शक्तियो की आज यह नीति है, तो गान्धीजी के कहे मुताबिक : "जर्मनी के साथ किसी तरह का गठ-जोड हो ही नहीं सकता। जो राष्ट्र इन्साफ और लोकतन्त्र का दावा करता है, और जो राष्ट्र इन दोनो का ऐलानिया दुश्मन है, इन दोनो के बीच गठ-जोड हो ही कैसे सकता है? क्या इग्लैण्ड हथियारबन्द तानाशाही और उसके सारे अजामो की तरफ़ बह रहा है?"

जब इग्लैण्ड और फ्रान्स ही फासीवादी शक्तियो के जवाबदार और हिमायती बन गये, तो मध्य व दक्षिण-पूर्वी यूरोप के छोटे-छोटे राज्यो का पूरी तरह फ़ासी-वादी-गुट मे पड जाना कोई ताज्जुब की बात नहीं है। सच तो यह है कि ये राज्य तेजी के साथ उस फासीवाद के ताबेदार राज्य बनते जा रहे हैं, जिसमे नात्सी जर्मनी का ही बोलबाला है। क्योकि इटली को तो जर्मनी ने मात दे दी है और यह अब फ़ासीवादी गुट्ट का महज साझी रह गया है। जर्मनी व इटली दोनो ही ज्यादा

उपनिवेशो की मांग करते हैं, पर जर्मनी का असली इरादा पूर्व की तरफ़, यानी यूक्रेन और सोवियत-सघ मे, पांव फैलाने का है। और हो सकता है कि इग्लैण्ड व फ्रान्स इस झूठे भरोसे मे जर्मनी के इस ख़याल को बढ़ावा दें कि शायद इससे उनके ख़ुद के कब्ज़ेवाले उपनिवेश उनके पास बने रहे।

अलग-अलग कारणो से दोनो ही फासीवाद और नात्सीवाद के दुश्मन हैं। यूरोप मे सोवियत रूस फासीवाद के रास्ते मे अकेली दीवार है। अगर यह टूट जाय तो फ्रान्स व इग्लैण्ड समेत सारे यूरोप के लोकतन्त्र बिलकुल ख़तम हो जायँ। अमेरिका यूरोप से बहुत दूर है, और इसके मामलो मे न तो आसानी से दख़ल दे सकता है, और न देना चाहता है। पर अगर यूरोप मे या प्रशान्त सागर मे यह दख़ल हुआ, तो अमेरिका की ज़बर्दस्त ताकत कारगर तौर पर अपना असर दिखायेगी।

भारत और पूर्व के नये लोकतन्त्रवादी देश भी आज़ादी के तरफ़दार हैं, और कुछ ब्रिटिश उपनिवेश तो ब्रिटिश सरकार से भी बहुत आगे बढे हुए विचारो के हैं। आज लोकतन्त्र और आज़ादी मौत-ज़िन्दगी के गहरे ख़तरे मे पडे हुए है, और यह ख़तरा इस वजह से और भी बढ गया है कि इनके ख़ैरख्वाह कहलानेवाले इनकी पीठ मे छुरा भोक रहे हैं। पर स्पेन और चीन ने लोकतन्त्र की सच्ची भावना की अद्‌भुत और प्रेरणा देनेवाली मिसालें हमारे सामने रक्खी हैं। इन दोनो देशो मे युद्ध के जो भयकर नतीजे हुए हैं, उनके अन्दर से नया राष्ट्र पैदा हो रहा है और राष्ट्रीय ज़िन्दगी व हलचलो के सारे मैदानो मे दुबारा जान पड रही है और कला व साहित्य दुबारा चेत रहे हैं।

१९३५ ई० मे अबीसीनिया पर धावा हुआ, १९३६ ई० मे स्पेन पर हमला किया गया, १९३७ ई० मे चीन पर धावा बोला गया, १९३८ ई० मे आस्ट्रिया पर धावा बोला गया और नात्सी जर्मनी ने यूरोप के नक़शे से उसका नाम मिटा दिया, और चेकोस्लोवाकिया को तहस-नहस करके एक ताबेदार राज्य बना दिया गया। हर साल आफतो की पूरी फसल तैयार होती रही है। और आज हम १९३९ ई० की चौखट पर खडे हैं, इस साल में क्या होनेवाला है? हमारे लिए और ससार के लिए यह साल क्या लानेवाला है?

●

निर्देशिका